प्रकाशक
बगडिया हसमुखलाल दीपचंद
कार्यवाहक—विजयलावण्यसूरि ग्रन्थमाला
ज्ञानोपासकसमिति, बोटाद

वि. सं० २०३३] नेमि सं० २७ [इ. स. १९७७

कीमत रू० ३०—००

मुद्रक
श्री रामानंद प्रिंटिंग प्रेस
कांकरिया रोड
अहमदाबाद

प्रकाशकीय निवेदन

साहित्यसम्राट् स्व० पू० आचार्यदेव श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरजी म०श्रीए जैन शासनना ज्योतिर्धर प० पू० आचार्य भगवंत श्रीसिद्धसेन दिवाकर सूरीश्वरजी म०श्री विरचित संस्कृत बत्रीश बत्रीशीओ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका) पैकी एकवीश द्वात्रिंशिकाओ उपलब्ध छे ते उपर रचेली किरणावलीटीका प्रकाशित करतां अमने अनहद आनंद थाय छे। दर्शनशास्त्रमां आ ग्रंथ उच्चकोटिनो गणाय छे। आनी रचना पद्यमां करायेली छे एटले मूलकर्ता महर्षिना कवित्वनो ख्याल पण वाचकोने आवी शकशे।

कविदिवाकर पू० आ० श्रीविजयसुशीलसूरीश्वरजी म०श्रीए आ ग्रन्थनु संपादन करी अमने प्रकाशन माटे आप्यो ते अमारुं अहोभाग्य छे।

प्रस्तुत ग्रन्थना प्रकाशनमां मुद्रणालयादिने लई ने रही गयेली स्खलनाओ अंगे विद्वानो अमने जणावशे तो अमो तेमनो आभार मानीशुं अने बीजी आवृत्तिमां ए स्खलनाओ सुधारी लइशुं।

आ ग्रन्थ ऊपर अमारी विनंती स्वीकारी डॉ० पिनाकिन् दवेए विद्वत्ताथी सभर प्रस्तावना लखी आपी छे ते बदल अमो तेमनो आभार मानीए छीए। तेमणे आ ग्रन्थ उपर पीएच्० डी० नी डीग्री प्राप्त करी छे। आ ग्रन्थना प्रकाशनमां असह्य मोघवारीने

अंगे खूब खर्च संस्थाने थयेल होई तेनी कीमत रू० ३०) राखवी पडी छे ।

किरणावली टीकाकार स्व०प०पू०साहित्यसम्राट् आचार्य भगवंत श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरजी म०सा०नो स्वर्गवास थतां, बाकीनी बत्रीशीओनो के जे काचा स्वरूपमां हती, तेने सुधारवानुं कार्य घणुं मुश्केल हतुं, छतां व्याकरणतीर्थ प० श्रीअंबालाल प्रेमचंद शाहने समक्ष राखी संपादन कार्य शरू करवामां आवेल अने धीमे धीमे ए कार्य पूर्ण थयुं ।

आ प्रस्तुत ग्रन्थना प्रकाशनमां घणो समय वीती गयो छे, तेनुं कारण प्रेसनी अगवडो घणी हती ।

प्रांते विद्वानोने एक ज भलामण के विनम्र सूचन छे के बनती काळजीपूर्वक प्रुफ रीडींग आदि करवामां आवेल छे, छतां केटलीक अशुद्धिओ रही गई छे ते तरफ विद्वानोनुं अमो ध्यान दोरी विरमीए छीए ।

बगडिया हसमुखलाल दीपचंद
''ज्ञानोपासक समिति''–ना कार्यवाहक
बोटाद.

|| ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ||

वन्दे शासनसम्राट्टं श्रीनेमिसूरिं जगद्गुरुम् ।

शब्द-साहित्यसम्राट्श्रीलावण्यसूरिसद्गुरुम् ||१||

संपादकीय वक्तव्य

"द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका" एटले बत्रीश बत्रीशीओ । आना रचयिता कविसम्राट् अने तार्किकशिरोमणि सूरिशेखर श्रीसिद्ध-सेन दिवाकरजी महाराज छे। आ ग्रंथ 'बत्तीशा बत्तीशी' ना नामथी पण ख्यात छे। काळनी विषमताने लइने बत्रीस बत्रीशीओ पैकी हाल वर्त्तमान काळे २१ बत्रीशीओ उपलब्ध थाय छे, जे मूळमात्र भावनगरनी 'आत्मानंद सभा' तरफथी पूर्वे प्रकाशित थयेल छे। आ ग्रन्थ दर्शनशास्त्रमां मूर्धन्य कोटिनो होई मोखरे गणाय छे। विषय अने भाषा घणी मुश्केलीथी समजाय एवी छे, एटले एना भावना उद्घाटन द्वारा वर्त्तमानकालीन विद्वानो ने जिज्ञासुओनी जिज्ञासानी पूर्ति निमित्ते, अमारा स्व० साहित्यसम्राट्ट पूज्यपाद गुरुदेव **श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरजी म०श्रीए 'किरणावली'** नामनी टीका रची छे। आ २१ बत्रीशीओ पैकी एक एक एवी पांच पुस्तिकाओमां पांच बत्रीशीओ स्व० प० पू० गुरुदेवे सुधारीने तैयार करेली, ते आ ज ग्रंथमाळा तरफथी पूर्वे प्रकाशित थई हती। ए पुस्तिकाओ पण दुर्लभ बनी गई। एटले २१ बत्रीशीओ एक ज ग्रन्थमां सळंग एक ज ग्रन्थरूपे प्रकट थाय तो ठीक के जेथी एकी-साथे एक ज पुस्तिकाथी काम सरे। प्रांते एना संपादननुं कार्य अमारे शिरे आव्युं।

जो के स्व० पूज्यपाद गुरुदेवे न्याय, व्याकरण, साहित्य, काव्य, छंद तेमज दर्शनशास्त्र उपर कलम चलावी लगभग साडा आठ लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत साहित्यनुं अजोड ने अणमोल सुंदर सर्जन करेल छे, तेथी ज तेओश्री विश्वमां "साहित्य–सम्राट्" ना नामथी प्रख्यात थया छे। स्व० पू० गुरुदेवना स्वर्गवासने १२ वर्षनां वाणां वाई गयां। तेओश्रीए अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थो उपर टीकाग्रन्थो रच्या छे, जेनी नकलो अमारी पासे छे। तेओश्रीनी विद्यमानतामां केटलाक ग्रन्थो प्रकाशित थया परन्तु प्रेस तथा कागळ वगेरेनी अगवडता आदिना कारणे बाकीनी बधी कृतिओ अद्यापि अमुद्रित तेमज अप्रकाशित ज रही छे। आ बधी कृतिओने प्रकाशित करवानुं कार्य कठिन छे, छतां विचार करीने अमे आ० श्रीसिद्धसेन दिवाकरसूरिजी विरचित बत्रीश बत्रीशीओना प्रकाशननुं कार्य हाथमां लीधु। प०पू० गुरुदेव आ किरणावली विवृतिने बीजी वार जोई-तपासीने सुधारे, ए अगाउ तेओश्रीना पुण्य भौतिकदेहनो विलय थयो, अने ए ग्रन्थोने तैयार करवानुं कार्य अमारे शिरे आव्युं।

आ प्रस्तुत ग्रन्थने तैयार करवामां "आत्मानन्दसभा, भावनगर"थी प्रकाशित थयेल मूळ मात्र बत्रीशीओ टीकाकार महर्षि पू० गुरुदेवनी सामे हती परन्तु पूना भाण्डारकर इन्टीट्यूटनी अशुद्ध प्रतिने ध्यानमां राखीने स्व० पू० गुरुदेवे आ किरणावली टीका रची छे. एटले मूळ श्लोकना अशुद्ध पाठो तदवस्थ राखी, टीकामां ते

अशुद्ध पाठोने सुधार्या छे; अने ए सुधारेला पाठ मुजब टीकानी रचना करी छे। जो के ए सुधारेला पाठवाळी मूळ २१ बत्रीशीओना श्लोकनो सळंग पाठ अलग रीते ग्रन्थान्ते आपवामां आवेल छे। टीककार स्व०पू० गुरुदेवने अर्थसंगतिमां घणी मुश्केलीओ पडी छे, तेथी संपादन कार्यमां ते मुश्केलीओ अमने पण पडी छे। अमारी मुश्केलीओनो जवाब मेळवी शकाय एम न हतो छतां अमे अमारा क्षयोपशम अनुसार यथामति आ ग्रन्थ सुधारीने प्रकाशन संस्थाने अर्पण कर्यो। ए मुजब आ ग्रन्थ प्रकशित थयेल छे, ते सौ कोई तत्त्वजिज्ञासु माटे आनंदनो विषय छे।

प्रेसनी मुश्केलीओ अपार हती एटले केटलीक अशुद्धिओ रही जवा पामी छे, ते तरफ विद्वान् वाचकवर्गनुं ध्यान खेंचीए छीए। गमे तेम पण आ महान् ग्रन्थ प्रकट थाय छे, तेने विद्वानो वांचे अने त्रुटिओ के स्खलनाओ तरफ अमारुं ध्यान दोरे तो ते धन्यवादने पात्र गणाशे। हंसचंचू ने दुग्धना न्याये खपी विद्वान् आत्माओने आ ग्रन्थनुं वांचन-अध्ययन-अध्यापन करवानी विनम्र भलामण करी संपादकीय वक्तव्य समाप्त करुं छु.॥ शुभं भवतु ॥

श्रीवीर सं २५०३
नेमिसं० २७
वि० सं० २०३३

श्रीनेमि-लावण्य-दक्षचरणोपासक
विजयसुशीलसूरि

उपोद्घात

भारतीय दार्शनिकोमां जे जैन विचारकोनुं प्रदान सहुथी वधु महत्त्वपूर्ण गणवामां आवे छे तेमां आ० सिद्धसेन दिवाकर अग्र स्थाने छे। भारतीय तत्त्वविद्या अंगेनो कोई पण ग्रन्थ आ० सिद्धसेनना उल्लेख विना अधूरो गणावो जोईए। तेमनी बहुमुखी प्रतिभा आधुनिक विद्वानोने जरूर आकर्षी शकशे, पण आ प्रतिभाने विद्वानो सामे योग्यरीते रजू कराइ नथी एनो पूरतो अभ्यास थयो नथी। आमां एक मात्र गौरवशाळो कार्य पंडित सुखलालजी अने पंडित बेचरदासजीए कर्युं छे परन्तु तेमनुं कार्य घणुंखरु आ० सिद्धसेन कृत 'सन्मतितर्क' पूरतुं मर्यादित हतुं। आ० सिद्धसेननी बीजो महत्त्वपूर्ण कृतिओनो समुच्चय 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' छे। आ ग्रन्थ प्रमाणमां दुरूह छे अने तेथी तेना हार्द सुधी पहोंचवुं मुश्केल हतुं। आ० विजयलावण्यसूरिजीए तेना पर टीका रची कृतिओनो अर्थ अवगत कराववामां उपकारक कार्य कर्युं छे।

मारा पीएच्० डी० ना महानिबंधनो विषय पण आ० सिद्धसेननी कृतिओनो अभ्यास हतो। तेने माटे प्रथम चार द्वात्रिंशिकाओ प्रकाशित अने पांचमी अप्रकाशित द्वात्रिंशिका मने आ० श्रीविजयलावण्यसूरिजी द्वारा प्राप्त थई हती। बीजी द्वात्रिंशिकाओ पर पण तेमणे टीका तैयार करी हती पण 'काम काचुं छे' कही मने न आपी शक्या, पछी तेओ स्वर्गस्थ थया।

हवे ज्यारे आ द्वात्रिंशिकाओ परनी टीका प्रसिद्ध थाय छे त्यारे ए काचुं काम ज प्रस्तुत करायुं छे के आ०विजयलावण्यसूरिजीए तेने योग्य संमार्जन पण कर्युं हतुं ए जाणवामां आव्युं नथी पण टीका जोतां एवुं लागतुं नथी ।

मारा आ लखाणमां महद् अंशे आ० सिद्धसेननो परिचय, खास तो एमनी कृतिओना उपलक्षमां आपवा धार्यो छे ।

आ० सिद्धसेन विशे आटलां वर्षो बाद लखवानो अवसर मळ्यो ए मारा माटे आनंद तथा गौरवनी वात छे । आवो अवसर प्राप्त कराववा माटे हुं पं० श्रीअम्बालालभाई प्रे० शाहनो ऋणी छुं । मनमां अभिलाषा तो छे ज के प्रत्येक द्वात्रिंशिका पर एक स्वतंत्र ग्रंथ तैयार करवानुं सद्भाग्य मळे तो ज आ०सिद्धसेनो पूर्ण अभ्यास थई शके । अहीं तो दिङ्मात्र दर्शन कराव्युं छे, विद्वानोने ए संतर्पक न पण लागे तो क्षमाप्रार्थी छुं । आ प्रकारना लखाणनी एक मर्यादा होय छे ।

जीवन–

आ० सिद्धसेनना जीवनने आलोकित करती समकालीन कही शकाय तेवी कोई सामग्री उपलब्ध थती नथी । आपणे मुख्यत्वे प्रबन्धो पर आधार राखवो पडे छे । तेमां आ०प्रभाचंद्रकृत 'प्रभावकचरित' मेरुतुंगाचार्यकृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' अने आ० राजशेखर कृत 'प्रबन्धकोश' अथवा 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' मुख्य छे, जेनी रचना वि०सं० १३३४, १३६१ अने १४०५ मां अनुक्रमे थई हती ।

आ उपरांत बीजा बे अप्रसिद्ध प्रबंधग्रन्थो पण छे। ते सिवाय आ० भद्रेश्वरे दशमा–अगियारमा सैकामां रचेली 'कहावली' पण छे परन्तु एनो समय आटलो मोडो न होय ने सातमी सदीमां तेनी रचना थई होय ए पण संभवित छे। आ० सिद्धसेनना जीवन विशेनी ए सौथी प्राचीन सामग्री छे, आ० संघतिलक (वि० स० १३६५ थी १४२१) पण आ० सिद्धसेननुं जीवन आलेखे छे। कदाच एनुं मूळ कोई प्राचीन कृतिमां हशे।

आ बधी जीवनसामग्री चमत्कारोनी कथाओथी अतिरंजित छे अने तेनी वीगतोमां परस्पर विरोधी वातो आवे छे। मने 'प्रबंध-कोश' नी कथा प्रमाणमां व्यवस्थित लागी छे तेथी एने केन्द्रमां राखी बीजी कथाओ साथेनी भिन्नतानी नोंध लीधी छे।

आ० सिद्धसेननो जन्म ब्राह्मणजातिमां थयो हतो, तेमना पितानुं नाम देवर्षि अने मातानुं नाम देवश्री हतुं। आ० सिद्धसेने अवंतीमां शास्त्रोनो अभ्यास कर्यो। तेमने पोताना ज्ञाननो गर्व हतो अने तेनुं प्रदर्शन करता, त्यार बाद आ० वृद्धवादी साथे वादमां एमने पराजय वेठवो पड्यो अने ए जैनधर्ममां दीक्षित थया, आवुं कथानक भिन्न भिन्न ग्रंथोमां भिन्न–भिन्न रीते अपायुं छे पण आ० वृद्धवादी पासे एमणे जैन दीक्षा लीधी तेमां तथ्य जणाय छे।

केटलाक ग्रन्थो अनुसार दीक्षा समये एमने कुमुदचंद्र नाम आपवामां आव्युं, विक्रमादित्य साथे एमनो मेळाप थयो अने एनो

राजसभा केवी रीते शोभावो, तेनी वीगतो पण प्रबन्धग्रन्थोमांथी मळे छे। चित्रकूटमांथी एमने चमत्कारिक रीते एक स्तंभमांथी विद्याओ प्राप्त थई, जेनो उपयोग ए करमारना राजा देवपालना लाभार्थे करी शक्या। आ०सिद्धसेने मंत्रविद्याना बळथी एक सेना नीपजावी, तेना सामर्थ्यथी देवपाल शत्रु राजा पर विजय मेळवी शक्यो। आ चमत्कारी घटनाने कारणे एमनुं नाम 'सिद्ध-सेन' पड्युं। नामनुं सार्थक्य दर्शावनारी भारतीय परंपरा अहीं पण जळवाई छे।

एक समये आ० सिद्धसेने संघ समक्ष पोतानी भावना प्रगट करी, आगमग्रन्थोने प्राकृतमांथी संस्कृतमां रूपांतर करवानी। आने कारणे संघे एमने प्रायश्चित्त आप्युं ने संघ बहार कर्या। बार वर्ष सुधी आ० सिद्धसेनने ज्यांत्यां भटकवुं पड्युं। समय पूरो थतां एमणे उज्जैनना कुडंगेश्वरना शिवमंदिरमां एक चमत्कार कर्यो। शिवलिंगमांथी राजा विक्रमादित्य समक्ष पार्श्वनाथ भ० प्रगट थया। 'द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका' द्वारा आ बन्युं। केटलाक बीजा उल्लेखो अनुसार आ० सिद्धसेने 'कल्याणमंदिर' स्तोत्र गायुं हतुं। आ चमत्कारथी विक्रमादित्य राजा घणो अभिभूत थयो अने एणे जैनधर्म स्वीकार्यो। आ० सिद्धसेने एनी पासे एक जैनमंदिर बंधाव्युं।

आ० सिद्धसेननी जीवनकथामां अनेक मुद्दाओ अनिश्चित रहे छे। ए उत्तर भारतना हता के दक्षिणना? तेमना गुरुनुं नाम आ०

वृद्धवादी हतुं के आर्य सुहस्ति के धर्माचार्य ? एमनुं अपर नाम कुमुदचंद्र हतुं के नहीं अथवा तो एमना द्वारा थयेला चमत्कारोने वास्तविक गणवा के केम ? आ० सिद्धसेननी संस्कृत प्रत्येनी आसक्तिनुं कारण शुं ? शा माटे एमनी द्वात्रिंशिकाओनी अवगणना करवामां आवी ? आ० सिद्धसेन द्वारा करवामां आवेल महाकालना कुडंगेश्वरना मंदिरना चमत्कारो, विक्रमादित्य साथेनो तेमनो संबंध वगेरेमां तथ्य केटलुं ? आ० सिद्धसेन ए ज क्षपणक हशे ?

आ बधा विवादास्पद मुद्दाओ एम ज रहेता होवा छतां एमना जीवन विशे आटलुं स्वीकारी शकाय एम लागे छे ।

आ० सिद्धसेन एमना आरंभना जीवनमां ब्राह्मण हता । उपलब्ध तमाम शास्त्रोमां निपुण हता अने संस्कृत भाषानो उपयोग करता । पछी ए जैनधर्ममां दीक्षित थया । विचारसणीनी आरूढता अने संस्कृत भाषा प्रत्येना पक्षपातने कारणे एमने प्रायश्चित्त अपायुं । एमने राजा विक्रमादित्ये सम्मान्या अने एमणे जैनधर्मने गौरव अपाव्युं । एमणे 'सन्मतितर्क' अने 'द्वात्रिंशत्‌द्वात्रिंशिकाओ'-नी रचना करी । जैनोमां ए असाधारण प्रतिभा धरावनार कवि, तत्त्ववेत्ता हता पण एमने योग्य आदर न मळ्यो, एटलुं ज नहीं एमनी कृतिओनी महत्ता पण न अंकाई । आ० सिद्धसेन समर्थ वादी हता अने एमना स्वर्गवासथी न पूरी शकाय एवी ग्वोट पडी हती ।

समय–

आ० सिद्धसेननो समय घणो विवादास्पद रह्यो छे अने

आज सुधीमां घणा विद्वानोए एनी चर्चा करी छे। आ० सिद्ध-सेनना अन्य लेखकोए करेला उल्लेखो तेमनो समय निर्धारित करवामां बाह्य पुरवा तरीके गणी शकाय ।

१. सातमा - आठमी सदीना आ० हरिभद्रसूरि आ० सिद्धसेन अने 'सन्मतितर्क'नो उल्लेख करे छे ।

२. श्री. जिनदासगणी महत्तर (सं. ६७६) पण आ० सिद्धसेन अने 'सन्मतितर्क'नो उल्लेख करे छे।

३. श्री. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सं. ६११) आ० सिद्धसेन द्वारा प्रस्थापित अभेदवादनुं खंडन करे छे ।

४. श्री. पूज्यपाद (छट्ठी सदी) पोताना 'जैनेन्द्र व्याकरण'मां आ० सिद्धसेननो उल्लेख करे छे अने तेमना 'सर्वार्थसिद्धि'मां आ० सिद्धसेनकृत 'द्वात्रिंशिकाओ' नो उल्लेख करे छे।

५. अन्य उल्लेखो परथी लागे छे के आ० मल्लवादीए सन्मतितर्क पर टीका लखी हती एवो तेमना 'द्वादशारनयचक्र'मां तेनो उल्लेख छे। जो के आ० मल्लवादीनो समय सुनिश्चित नथी पण एटलुं चोक्कस के आ० सिद्धसेन तेमनी पूर्वे थया हशे परंपरा तेमने उज्जैनना विक्रमसंवत्संस्थापक विक्रमादित्यना समकालीन ठेरवे छे अने ते प्रमाणे तेमनो समय इ.स. पूर्वे ५७ आसपासनो ठरे।

आ० सिद्धसेन विक्रमादित्यना समकालीन हता एवुं अनेक:

प्रबंधोना उल्लेखो परथी पण जणाय छे अने मने नथी लागतुं के तेमनी वात उपजावी काढेली होय ।

परन्तु विक्रमादित्य अने तेनो समय पण एटलो ज अनिश्चित छे:—

१. विद्याभूषण एने माळवाना यशोधर्मदेव ठरावे छे (इ.स.५३०)।

२. श्री. कल्याणविजयजी एने बलमित्र माने छे ।

३. डॉ० काउझे एने समुद्रगुप्त माने छे (इ.स. ३४० थी ३७५)।

४. पं. सुखलालजी अने पं. बेचरदासजी एने चन्द्रगुप्त बीजो माने छे (इ. स. ३८० थी ४१८) ।

५. पाठक एने स्कन्दगुप्त माने छे (इ. स. ४५५—५६) ।

६. जयस्वाल एने शातकर्णी गौतमीपुत्र माने छे ।

७. विंटरनित्झ अने बीजा केटलाक विद्वानो तो विक्रमादित्यने कल्पित राजा गणे छे ।

प्रबन्धो अनुसार जेनो आ० सिद्धसेन साथे संबंध हतो ते विक्रमादित्ये विक्रमसंवत्‌नी स्थापना करेली । आना माटे पुरावा पण मळे छे ।

१. प्रस्तुत ग्रन्थनो 'गुणवचनद्वात्रिंशिका' एनो सौथी मोटो पुरावो छे ।

२. 'प्रबन्धचिन्तामणि'मांनो प्रशस्ति अने

३. आ० जिनप्रभे नाभेयमंदिरमां जोयेलो लेख ।

बीजां पण केटलाक प्रमाणो छे जे विक्रमादित्यने इ.स. पूर्वेनो पहेली सदोमां स्थापी आपे छे । इ.स. ८७ नी आसपास थयेल 'गाथासप्तशती' नो संपादक लेखक–हाल विक्रमादित्यना दाननो उल्लेख करे छे । वराहमिहिर प्राचीन गर्गनुं अवतरण आपे छे अने विक्रमादित्य ते पूर्वे हतो । आ ए ज राजा छे जेणे विक्रम (कृत) संवत् स्थाप्यो अने जाणे कृतयुगनुं पुनः अवतरण थयुं । 'गुणवचन-द्वात्रिंशिका'ना केटलाक उल्लेखो आ वातनी स्पष्ट पुष्टि आपे छे (जुओ श्लोक १७–२४) ।

डॉ० क्राउझे शिलालेखोने आधारे आ उल्लेखोने समुद्रगुप्त परक माने छे । तेमणे तारवेला २६ मुद्दाओमांथी एकेने अकाट्य प्रमाणरूपे स्वीकारी शकाय एम नथी जेमांथो स्पष्टपणे समुद्रगुप्तनो ज निर्देश मळतो होय ।

चंद्रगुप्त बीजाने विक्रमादित्य तरीके स्वीकारवामां सहुथी मोटी आपत्ति ए छे के एनुं चारित्र्य सारुं नहोतुं अने आ० सिद्धसेने जेनी 'गुणवचनद्वात्रिंशिका'मां प्रशंसा करी छे ते व्यक्ति चन्द्रगुप्त न ज होइ शके एम लाग्या करे छे । वळी, नकारात्मक प्रमाणनो विचार करीए तो परंपरामां क्यांय विक्रमादित्यनुं वधारे जाणीतुं अपर नाम चंद्रगुप्त के समुद्रगुप्त प्राप्त थतुं नथी । शा माटे आवो एकाद पण उल्लेख नथी मळतो ?

आधुनिक अत्रत्य विद्वानो हवे कालिदासने पण इ.स. पूर्वेनी प्रथम सदीमां मूकवाना पक्षना छे, ए ज कारणोसर आ० सिद्ध-

सेननो पण ए ज समय स्वीकारी शकाय आ० सिद्धसेन अने कालिदास एक ज समयनुं प्रतिनिधित्व करे छे एवुं तेमनी कृतिओना आंतर प्रमाण परथी पण जणाय छे।

प्राचीन परंपरामां समयनुं आजे आपणे मानीए छीए तेटलुं महत्त्व न हतुं अने तेथी कोईक लेखकने अकारण भिन्न समयमां मूकवानुं कोई प्रयोजन नथी जणातुं। वळी, ते समये ज्यारे आवा मिथ्या उल्लेखो थया होय त्यारे जेमनी समक्ष वास्तविकता वधारे स्पष्ट होय तेवा विद्वानो पण होवाना, जे आनो विरोध करे, आने चडावा न दे। जो आ० हेमचंद्र, राजा जयसिंह अने कुमारपालना समकालीन होय तो तेनाथी हजार वर्ष पूर्वे थयेला आ० सिद्धसेन विक्रमादित्यना समकालीन होय ए वातने शा माटे शंकानी नजरे जोवी जोईए ?

अन्यत्र समयना प्रश्नने वीगते चर्चवामां आव्यो छे तेथी अहीं एना ऊडाणमां ऊतरतो नथी पण केटलाक आंतरिक पुरावाओ नोधुं छुं जे सिद्धसेननी प्राचीनता दर्शावे छे।

१. आ. सिद्धसेन कांड शब्दनो (chapter– प्रकरणना अर्थमां) प्रयोग करे छे।

२. 'सांख्यप्रबोधद्वात्रिंशिका'मां प्राचीन सांख्यनुं आलेखन थयुं छे, जे ईश्वरकृष्ण पूर्वेना समयनुं जणाय छे।

३. एक द्वात्रिंशिकामां नियतिवादनुं आलेखन थयुं छे।

४. 'वेदवादद्वात्रिंशिका'मां प्राचीन ब्राह्मणधर्मनी मान्यताओ भिन्न रीते व्यक्त थई छे।

५. तेमनी कृतिओमां संस्कृतनां आर्ष रूपोनो प्रयोग थयो छे।

६. जैनोमां आ० सिद्धसेन न्यायशास्त्र विशे लखनार प्रथम छे।

७. तेमनी कृतिओमां परंपरा साथेना संघर्षनुं प्रतिबिंब पण पड्युं छे।

८. आ० सिद्धसेन एवा वातावरणमां जन्म पाम्या अने विचर्या जणाय छे ज्यारे आगम साहित्यने संस्कृतमां रूपांतरित करवनुं मन थाय।

आ बधा पुरावाओ दर्शावे छे के आ० सिद्धसेन इ. स. नी चोथी शताब्दी पूर्वे क्यारेक थया हशे, संभवतः इ. स. पूर्वेनी प्रथम सदीमां।

कृतिओ—

जेनुं कर्तृत्व आ० सिद्धसेनने आरोपायुं होय तेवी घणी कृतिओ मळे छे। एम लागे छे के आ नामना घणा लेखको थया हशे। बधो विचार करतां 'सन्मतितर्क' अने 'द्वात्रिंशिकाओ' आ० सिद्धसेन दिवाकरनी कृतिओ होय एम लागे छे। मूळमां तो ३२ द्वात्रिंशिकाओ हती जेमांथी अत्यारे एकवीस मळे छे अने आ एकवीस पैकी पंदरमां ज बत्रीश श्लोको छे। आ द्वात्रिंशिकाओनी गोठवणी अने तेमांना श्लोको पण विवादथी पर नथी। एकवीस द्वात्रिंशि-

काओमां 'न्यायावतार' अने 'महावीरद्वात्रिंशिका'नो समावेश थतो नथी ।

आ० सिद्धसेनना कुमुदचंद्र, क्षपणक, गंधहस्ति वगेरे उपनामो हतां एवुं दर्शाववामां आवे छे। 'कल्याणमंदिरस्तोत्र' अने 'चिकुर-द्वात्रिंशिका' कुमुदचंद्र नाम धरावे छे । गन्धहस्तिथी जेनो निर्देश करायो छे ते कोई अन्य सिद्धसेन लागे छे। 'अनेकार्थध्वनि-मञ्जरी' के 'एकाक्षरीकोश, 'उणादिसूत्रवृत्ति' अने 'शब्दानुशासन-भाष्य' आ क्षपणकनी कृतिओ छे । गणक कालिदासकृत 'ज्योति-र्विदाभरण' प्रमाणे क्षपणक ए ज आ० सिद्धसेन, परंतु आपणी पासे आ० सिद्धसेनने क्षपणक साबीत करे तेवां निश्चित प्रमाणो नथी । प्रबंधग्रंथोमां पण क्षपणकना उल्लेख नथी।

'बिषोग्रग्रहशमनविधि' नामनुं एक आयुर्वेद परनुं पुस्तक पण आ० सिद्धसेननुं रचेलुं कहेवाय छे। आ० सिद्धसेननुं आयुर्वेद विषयक ज्ञान सारुं हशे एम तो द्वात्रिंशिकाओ परथी पण जणाय छे परन्तु आ कृति आपणी समक्ष नथी अने तेथी तेना कर्तृत्वनो निर्णय करवो अशक्य छे । केशवसेनसूरि तेमना 'कर्णामृतपुराण'मां दर्शावे छे के सिद्धसेने 'नीतिसारपुराण' रचेलुं । आ० सिद्धसेननी कवि तरीकेनी असाधारण प्रसिद्धि अत्यारे तो मात्र तेमनी स्तुति परक 'द्वात्रिंशिकाओ' पर ज आधार राखे छे। आपणने सहज-रीते कोईक मोटी कृति तेमणे रची होय एवी अपेक्षा रहे छे परंतु आवा एकलदोकल उल्लेख परथी कशो निर्णय लई शकाय नहीं।

पूर्णिमागच्छना साधु रामचन्द्रसूरिरचित 'विक्रमचरित'ना अंतमां आ० सिद्धसेने 'सिंहासनद्वात्रिंशिका'नी रचना करेली एवुं जणाव्युं छे। जो आ सत्य होय तो देशभरमां जाणीती बत्रीश पूतलीओनी वार्ताओनां मूळ आ० सिद्धसेननी कृतिमां होवानां। परन्तु अन्य पुरावाओना अभावे कशुं निश्चयात्मक कही शकाय नहीं।

आ उपरांत 'बृहत्षड्दर्शनसमुच्चय' नामनो ग्रन्थ पण आ. सिद्धसेननो रचेलो कहेवाय छे, 'जैन ग्रन्थावली'मां पण तेनो उल्लेख छे। 'तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति'मां आ० सिद्धसेननी रचेली 'प्रमाणद्वात्रिंशिका'मांनो एक श्लोक उद्धृत करायो छे। 'प्रमाण-द्वात्रिंशिका'मां आ० सिद्धसेने केवलीना प्रमाण विशे लख्युं होय ए संभवित छे।

आ० सिद्धसेने व्याकरण, ज्योतिष वगेरे विषयो पर पण ग्रन्थो रच्या होय ए असंभवित नथी। ते सिवाय पण आ०सिद्धसेननी घणी कृतिओ हशे जे आपणने उपलब्ध थतो नथी परन्तु प्राचीन लेखको तेमांथी उद्धरणो आपे छे।

'कल्याणमंदिरस्तोत्र' पार्श्वनाथनी स्तुतिरूपे छे ने तेमां ४४ श्लोक छे, तेना पर ११ टीकाओ उपलब्ध छे। बधी प्रमाणमां अर्वाचीन छे। 'भक्तामरस्तोत्र' साथेनुं एनुं साम्य स्पष्ट छे। 'कल्याणमन्दिर'नी पुष्पदन्त विरचित 'शिवमहिम्नस्तोत्र' साथे पण सरखामणो करी शकाय। 'प्रबन्धकोश' 'कल्याणमन्दिर' ने द्वात्रिं-शिका कहे छे पण तेनुं आजनुं स्वरूप जोतां एम जणातुं नथो।

छेल्ला श्लोकमां कुमुदचन्द्र एवुं कर्तानुं नाम आप्युं छे। ऋषभदेवनी स्तुति करती 'चिकुरद्वात्रिंशिका' पण छेल्ला श्लोकमां कुमुदचन्द्र एवो नामोल्लेख धरावे छे। संभवतः आ कृतिओ आ० सिद्ध-सेन दिवाकरनी रचेली नथी, तेमां आ० सिद्धसेननी काव्यशक्ति अने तात्त्विक ऊंडाण जणातां नथी। विशेषतः शब्दमोह देखाय छे।

परंपरा अनुसार 'सन्मतितर्कप्रकरण' अने 'द्वात्रिंशिकाओ' आ० सिद्धसेननी कृतिओ कहेवाय छे परन्तु पंडित जुगलकिशोर मुख्तार त्रण सिद्धसेननी कल्पना करे छे। एक 'सन्मतितर्क'-ना रचयिता, दिगंबरपंथना अने श्रीसमंतभद्र पछी थयेला सिद्ध-सेन, बीजा 'न्यायावतार'ना रचयिता जेमणे केटलीक द्वात्रिंशिकाओ पण रची हशे अने त्रीजा द्वात्रिंशिकाओना रचयिता—आ वास्त-विक जणातुं नथी। प्राचीन विद्वानो आ सर्व एक ज आ० सिद्धसेननी कृतिओ माने छे।

श्री. सिंह क्षमाश्रमण आ० सिद्धसेनने 'सन्मतितर्क' अने 'न्यायावतार'ना कर्ता तरीके जाणे छे अने तेमनी 'प्रमाणद्वात्रिंशिका'-मांथी उद्धरण आपे छे। आ० जिनसेन आ० सिद्धसेननो कवि अने प्रवादी तरीके उल्लेख करे छे। कमनसीबे प्रबंधो 'सन्मतितर्क' नो उल्लेख करता नथी परंतु तेना कारणे 'सन्मतितर्क' अने 'द्वात्रिंशि-काओ'ना भिन्न भिन्न रचयिताओ कल्पवानी आवश्यकता नथी।

एकवीस द्वात्रिंशिकाओ एक ज हस्तप्रतिमां मळे छे अने तेनी पुष्पिकाओमांनुं लखाण उपयोगी गणाय। १९ मी द्वात्रिंशिकाने अंते आ०सिद्धसेनने 'द्वेष्यसितपट्ट' कह्या छे। २१ मी द्वात्रिंशिका-

आ० सिद्धसेन दिवाकरनो नामोल्लेख करे छे। 'न्यायावतार'ने अंते पण 'श्रीसितपट दिवाकर' लखेलुं छे। 'सन्मतितर्क'नी पुष्पिकाओ पण आ०सिद्धसेन दिवाकरनो उल्लेख करे छे।

आ सर्व कृतिओमां एकसरखी शैली जोई शकाय छे। आ० सिद्धसेन स्वतंत्र विचारक छे अने परंपराना अंधपूजक नथी ए 'सन्मतितर्क' अने 'निश्चयद्वात्रिंशिका' उपरथी पण देखाशे। तेथी ज कोई परंपराभक्त लहियाए एमना नाम आगळ 'द्वेष्य' शब्द मूकी दीधो छे। आ०सिद्धसेनमां कवि अने तत्त्वचिंतकनुं अजब रसायण थयेलुं छे। तेमनी स्तुतिओ पण तात्त्विक विचारणाओथी भरेली छे। तत्त्वज्ञाननी विभिन्न शाखाओनुं एमनुं ज्ञान ध्यान खेंचे एवुं छे। तेमनां काव्योमांना उपमानो पण एवां ज एकसरखां आकर्षक छे। मने 'सन्मतितर्क' अने 'द्वात्रिंशिकाओ' ना रचयिता एक ज आ० सिद्धसेन लाग्या छे।

आ० सिद्धसेननुं प्रदान—

आ० सिद्धसेने जैनोमां तर्कने सुप्रतिष्ठित कर्यो अने एक विशिष्ट दृष्टिबिंदु अर्प्युं। 'न्यायावतार'ने एक असामान्य प्रदानरूपे गणावी शकाय, जेमां आ०सिद्धसेने प्रमाणोनी व्याख्या बांधी अने बौद्धमतनुं खंडन कर्युं। अनेकान्तवाद अने अभेदवादना ए महान पुरस्कर्ता छे। तेमनां स्वतंत्र अर्थघटनो पण एटलुं ज महत्त्व धरावे छे। खास करीने मति अने श्रुतनी एकता। आ०सिद्धसेने समकालीन दर्शनो पर समर्थ रीते प्रकाश पाड्यो छे।

आ० सिद्धसेने करेलुं सांख्यशास्त्रनुं निरूपण मने ईश्वरकृष्ण पहेलांनुं जणायुं छे । तेमना मनोवैज्ञानिक वलण ने मनुष्यस्वभावनी ऊंडी सूझने कारणे वादविद्या अंगेनी तेमनी कृतिओ एटली ज महत्त्वपूर्ण गणावी जोईए। परंपरा योग्य रीते ज एमने कवि प्रभावक तरीके सन्माने छे । एमनी रचनाओमां भाषानी प्रवाहिता, कल्पनानी चमत्कृति, वक्रोक्ति, छंद पर असाधारण प्रभुत्व ने एवो ज भाषावैभव एमने महाकविओमां स्थान अपावी शके एवां छे । संस्कृत भाषाना उपयोगद्वारा एमणे जैन दर्शनने बौद्धदर्शन साथेनुं स्थान अपाव्युं हशे । जैनधर्मनी एमनी सेवाओ बदल ब्राह्मणधर्ममां जे स्थान शंकराचार्यनुं छे ते स्थान जैनधर्ममां आ० सिद्धसेननुं गणावुं जोईए ।

सन्मतितर्क—

'सन्मतितर्क' दर्शनशास्त्रनो महान ग्रन्थ छे अने श्वेतांबर तेमज दिगंबर बंने पंथोमां मानभर्युं स्थान धरावे छे । आ० हरिभद्र अने बीजा घणा विद्वानोए तेमनी प्रशंसा करी छे । प्राकृत गाथाओमां रचायेलो अने त्रण कांडमां वहेचायेलो आ दार्शनिक ग्रन्थ छे, तेनी सरखामणी आ० कुंदकुंदना 'प्रवचनसार' साथे करी शकाय । पहेलो कांड नयकांड कहेवाय छे, बीजाने जीवकांड अने त्रीजाने नाम आपवामां आव्युं नथी । श्रीवैद्य एनुं अनेकांतवादकांड एवुं नाम सूचवे छे । शक्य छे के आ० सिद्धसेने कोई नाम न आप्यां होय । जीवकांडने बदले ज्ञानकांड के उपयोगकांड नाम होय ते शक्य छे । 'सन्मतितर्क' पर बीजी टीकाओ उपरांत

आ० अभयदेवनो 'वादमहार्णव' अथवा तो 'तत्त्वबोधविधायिनी' टीका एक आकर ग्रंथ छे।

न्यायावतार—

जैन न्याय परनो आ प्रथम ग्रन्थ छे। तेना पर आ० सिद्धर्षि-रचित विवृति एक नोंधपात्र अंग छे। तेनी तुलना दिङ्नागना 'प्रमाणसमुच्चय' साथे करी शकाय। तेमां ३२ श्लोक छे छतां द्वात्रिंशिकाओमां तेनो समावेश करायो नथी। 'न्यायावतार'मां प्रमाणनी व्याख्या कराई छे अने छेल्ले अनेकान्तनी स्थापना।

स्तुति परक द्वात्रिंशिकाओ—

'द्वात्रिंशिकाओ'ना प्रगट पुस्तक प्रमाणे प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाओ भगवान् जिननी स्तुतिओ छे। अगियारमी द्वात्रिंशिकामां कोईक राजानी स्तुति छे, जे संभवतः विक्रमादित्य लागे छे। अगियारमी द्वात्रिंशिकानो अभ्यास डॉ० काउझेए करेलो छे अने ते प्रसिद्ध छे। आ द्वात्रिंशिका ऐतिहासिकदृष्टिए घणी महत्त्वपूर्ण छे।

आ द्वात्रिंशिकाओमां ज आ० सिद्धसेननी कवि तरीकेनी प्रतिभा कांईक अंशे प्रगट थाय छे अने आ० हेमचन्द्रनी उक्ति 'अनुसिद्धसेनं कवयः' नी भूमिका प्राप्त करे छे। प्रथम चार द्वात्रिंशिकाओनुं नामाभिधान करायुं नथी परंतु पांचमीने अन्ते 'स्तुतिद्वात्रिंशिका' नाम आपायुं छे। आ पांच द्वात्रिंशिकाओनुं एक गुच्छ बने छे।

'प्रबन्धचिन्तामणि' प्रमाणे आ० सिद्धसेने भगवान् पार्श्वनाथ अथवा तो ऋषभदेवनी २२ द्वात्रिंशिकाओथी स्तुति करी जेनो आरंभ

'स्वयंभुवः....' थी थतो हतो। आपणी द्वात्रिंशिकाओनो प्रतिनो आरंभ पण ए ज पंक्तिथी थाय छे। आ स्वयंभू शब्द तत्त्वज्ञानना इतिहासमां महत्त्वनुं स्थान धरावे छे। आचार्य समन्तभद्रे तेमनी स्तुतिनो आरंभ आ ज शब्द द्वारा कर्यो छे। पहेली द्वात्रिंशिकामां आ० सिद्धसेननुं कवित्व ओछुं व्यक्त थयुं छे पण बीजी, पांचमी द्वात्रिंशिकामां वधारे स्फुट बन्युं छे।

जिननी स्तुति माटे आ०सिद्धसेन पासे योग्य कारण छे। तेनुं कारण नथी तो काव्यशक्तिनुं प्रदर्शन, परस्पर ईर्ष्या, वीरनी कीर्ति फेलाववानी कामना के श्रद्धामात्र परन्तु गुणज्ञ व्यक्ति माटे भगवान वर्धमान ज पूज्य छे, तेथी आ० सिद्धसेन स्तुतिओ द्वारा आदर प्रगट करे छे। आ० सिद्धसेन अन्य मतो पर प्रहार करवानुं चूकता नथी। बौद्धो वारंवार तेमना निशान बन्या छे। कणादनुं तो नाम लईने (५–३०) लख्युं छे। तेमां वर्धमान प्रत्ये जे भक्ति तथा विनम्रता छे तेवी अन्य तरफ नथी। बीजा तरफ तो उग्र प्रहार कराया छे। अहीं युगपद्वाद (१–३२) देखाय छे पण आ० सिद्धसेन तो अभेदवादना पुरस्कर्ता छे। शक्य छे के आ मान्यता पछीथी रूढ थई होय अने द्वात्रिंशिकानी रचना ते पूर्वे थई होय।

आ० सिद्धसेननी जिन प्रत्येनी भक्ति सहुथी प्रथम ध्यान खेंचे तेवी छे। एक भक्त हृदयनुं प्रतिबिंब तेमां पड्युं छे। आवा प्रखर तार्किक आटलुं भक्तिसभर हृदय धरावे छे ते पण एक नोंधपात्र बाबत छे।

"त्वयि तु भवसहस्रदुर्लभे परिचय एव यथा तथाऽस्तु नः।"

आ द्वात्रिंशिकाओमां आ० सिद्धसेननो भाषावैभव तथा छंदो परनुं प्रभुत्व देखाय छे। कालिदासनी जेम ज एमणे अनेक छंदो सहजरीते प्रयोज्या छे क्यांय आयास देखातो नथी। छंदोनुं आटलुं स्वाभाविक वहन बहु ओछा कविओमां जोवा मळे छे। आ० सिद्धसेन स्रग्धरा, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा वगेरे छंदो तो प्रयोजे छे साथे पृथ्वी जेवा तेमना समयमां ओछा प्रचलित छंदमां आखी द्वात्रिंशिका रचे छे ते एमना शक्तिनो परिचय आपवा पूरतुं छे। एमनी भाषा धारदार अने प्रवाही छे। एमनां औचित्यपूर्ण उपमान (जेमके १-१२,२-५,२-११, १३ वगेरे) तेम ज अनुप्रास ध्यानखेंचे तेवा छे।

वाद—

आपणा देशमां वादनो प्रचार क्यारथी अने केवी रीते थयो हशे ए तो स्पष्टपणे दर्शावी शकाय एम नथी परन्तु एम लागे छे के आरंभमां वादना मूळमां जिज्ञासानुं तत्त्व रह्युं हशे पण धीरे धीरे ए तत्त्व घसातुं चाल्युं ने वादनो उपयोग सर्वोपरिता साधवाना साधन तरीके थवा लाग्यो। हजो हमणां सुधी तेनो प्रचार हतो जेने शास्त्रार्थ कहेवामां आवतो।

वेदकाळथी तात्त्विक प्रश्नो जागता अने कोईक प्रश्नना एकथी वधारे उत्तर संभवे तेमांथी वाद जागे। आगमग्रन्थो परथी जणाय छे के भगवान् महावीरनो समय वादविवादथी भरेलो हतो। घणा मत प्रचलित हता अने स्वीकृति माटे अरसपरस वाद थाय ए समजी शकाय तेवुं हतुं। न्यायशास्त्रमां वादनो उल्लेख छे, 'चरकसंहिता'मां चर्चासभानो उल्लेख छे।

ब्राह्मण पंडितो जैनधर्मनी दीक्षा लेवा मांड्या एटले वाद जैनधर्ममां पण आव्यो एम कही शकाय परन्तु ते अर्धसत्य ज होवानु । ते समयमां दरेक धर्मने पोतानो स्थिति माटे वादनो आश्रय लेवो पडे एवी स्थिति हशे ! आ० सिद्धसेन पूर्वे कोईए वाद पर ग्रन्थ रच्यो होय के तेनो शास्त्रीय चर्चा करी होय ते जाण्यामां नथी पण आवा ग्रन्थो नहीं ज होय एम न कही शकाय । वाद अंगेनो रीतसरनी व्यवस्था अस्तित्वमां होय एवी छाप तो आ० सिद्धसेननी कृतिओ परथी ऊठे छे ज ।

सातमी द्वात्रिंशिकानुं नाम 'वादोपनिषद्' छे, तेमां केवी रीते वाद करवो तेनुं व्यावहारिक दृष्टिबिंदुथी आलेखन करायुं छे । आ० सिद्धसेननुं वाद अंगेनुं प्रत्यक्ष ज्ञान तेमां छतुं थाय छे, तेनी ऊंडी समज पण तेमां देखाय छे । आटली ऊंडी समजवाळा माणसने वादमां जोतवो केटलो मुश्केल हशे ?

प्रथम तो वाद करनार व्यक्तिए प्रतिवादी अंगे माहिती मेळववी, प्रभु (राजा) विशे विचारवुं, पोताना पक्षनो विचार करवो, सभाना सामान्य वलणनो विचार करवो ने पछी वादनो आरंभ करवो, वादसभामां केवी रीते वर्तवुं तेनुं वर्णन एटलुं आवेहूब छे के आपणे प्रभावित थया विना रही न शकोए (श्लो० ८–१४) । राजसभाओमां विजयो मेळव्या विना धर्म, अर्थ, कीर्ति कशुं संपादित करी शकातुं नहोतुं-अने साध्य विना सभामां विजय पण न मळे ए पण आ० सिद्धसेन भारपूर्वक दर्शावे छे (६–२१, ७–२) ।

आठमी द्वात्रिंशिका वादने विषय बनावे छे पण मुख्यत्वे तेमां वाद पर आकरी टीका कराई छे। 'वादोपनिषद्'मां जे चतुर विलक्षण वादीनां दर्शन थतां हतां तेने स्थाने अहीं शान्तशील जैन साधुनां दर्शन थाय छे। शक्य छे के आ तेमनी पाकट वयनी रचना होय अथवा तो आमां एमनुं हृदय व्यक्त थयुं होय, ज्यारे 'वादोपनिषद्' पोताना शिष्योना शिक्षण अर्थे समयनो तथा शासननी आवश्यकतानो विचार करी रचायुं होय। आ० सिद्धसेन चोक्कस उदाहरणो आपे छे अने चित्रात्मक वर्णन आपे छे। वादीनी वर्तणूंक, तेनी उद्धताई, गर्व वगेरेनो तादृश चितार अहीं मळे छे। एक युगना दर्शन तरीके पण आ कृतिओ रस पडे तेवी छे।

जैन तत्त्वज्ञान—

उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओमां ६,१०,१७,१८,१९ अने २० जैन तत्त्वविद्यानुं आलेखन करे छे, एमां प्रथम चारनां नाम आपवामां आव्यां नथी, परन्तु तेमांना विषयवस्तुने ध्यानमां लेतां छट्ठी द्वात्रिंशिकाने आप्तविनिश्चय, दशमीने योगाचार, सत्तरमीने शिवोपाय अने अढारमीने अनुशासन नाम आपी शकाय।

आप्तविनिश्चय—

आ (छट्ठी) द्वात्रिंशिकामां आ० सिद्धसेने पुरातन मतवादीओ पर आकरा प्रहार कर्या छे। पुरातनोए जे व्यवस्था निश्चित करी छे तेने आंख मींचीने अनुसरी न शकाय एम आ० सिद्धसेन जणावे छे।

अने पुरातननी मान्यतामां स्थिरता शी रीते होई शके? आजे जे वर्तमान छे ते थोडोक समय पसार थतां पुरातन बनशे माटे पुरा-

तन एटलुं ज साचुं एवो अंधश्रद्धा न राखी शकाय। परीक्षा करीने पछी ज तेनो स्वीकार करी शकाय। जे तर्क प्रमाणित छे ते ज टकी रहे छे, ते ज उन्नति पामे छे।

वधुमां आ० सिद्धसेन परीक्षा विषय दर्शावे छे। अनेक शास्त्रकारोमां जरूर कोइक सर्वज्ञ अने जगतना हित अर्थे जेणे अनेकान्तनुं शासन आप्युं छे ते छे, तेनी शोध करवानी छे, बीजाओथी शुं?

परीक्षण पछी जेनां वचन योग्य लागे तेनो स्वीकार करवानो। परीक्षा पछी जेवां जिननां वचन युक्तिपूर्वकनां लागे छे तेवां जो बुद्ध वगेरनां लागे तो बुद्धने पण सर्वज्ञ गणवा अने जो एम न थाय तो जिनने आप्त गणवा अने तेमनां वचन स्वीकारवां, एम श्रीविजयलावण्यसूरिजी चोवीशमा श्लोकनी भूमिका बांधता लखे छे। अंतमां सिद्धसेन पोतानो आप्त विशेनो निश्चय जणावे छे —

"मया तावद् विधिनाऽनेन शास्ता।
जिनः स्वयं निश्चितो वर्धमानः॥"

के मे आम अंतिम तीर्थंकर वर्धमानने जिन तरीके निश्चित कर्या छे।

योगाचार—

जैनधर्ममां प्रारंभिक योगनुं आलेखन आ (दशमी) द्वात्रिंशिकामां करायुं छे। आ० सिद्धसेन पछी आ० हरिभद्रे 'योगबिन्दु'मां योगनुं व्यवस्थित निरूपण कर्युं छे। आ द्वात्रिंशिकामां आलेखन प्रमाणमां वीसमा श्लोक पछी शरू थाय छे।

केवो माणस तत्त्वज्ञानने योग्य छे ते आ० सिद्धसेन दर्शावे छे श्रद्धावान्, अपायनो ज्ञाता, परीषह जीतेल, भव्य अने गुरुए आदेश आपेल (अष्टांग) योगनुं आचरण करे। आजना युगमां पण आ महत्त्वनुं छे। आ० सिद्धसेन स्पष्ट करवा मागे छे के सहु कोईने माटे आ न होइ शके। गुरु ज आनो योग्य निर्णय करी शके।

त्यार बाद पण योगनी साधना गमे त्यां न करी शकाय। पवित्र अने निष्कण्टक स्थानमां देह, प्राण अने मनने समान करी स्वस्तिकासन जेवा आसननो जय करी लेवो— एकाग्रतानी सिद्धि माटे अहीं योगनी प्रारंभिक क्रियाओ दर्शावाई छे, जेमां 'भगवद्-गीता' के 'योगसूत्र' साथेनी समानता जोई शकाशे (भग०गी०-- ६-१०-११ ; योगसूत्र साधनापाद ४६, स्थिरसुखमासनम्।) पद्मासन, विरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दंडासन वगेरे सुखा-सन छे। आ बधांमां पद्मासन वधारे जाणीतुं छे पण स्वस्तिकासन वधारे सुखसाध्य छे अने शक्य छे के आ० सिद्धसेन पोताना वैय-क्तिक अनुभव परथी स्वस्तिकासनने वधारे पसंद करे छे।

पछी आ० सिद्धसेन प्राणायामनुं फल दर्शावे छे। मनु अने पंचशीख पण आवां फल बतावे छे, जे वाचस्पति मिश्रे नोंध्यां छे। जैनदर्शन प्रमाणे योगनी प्रक्रियाओनु ज्ञान के मोक्ष जेवुं फल न होय पण आ रीते ते उपयोगी छे। तेनाथी शरीरनां जाडय वगेरे दोषो नाश पामे छे।

शुक्ल ध्यान विशे सिद्धसेने प्रमाणमां ठीक लख्युं छे। आ शुक्ल ध्यान बाद केवलज्ञान उत्पन्न थाय छे। कादववाळुं पाणी ठरी--

ने छेवटे कादव वेसी जतां शुद्ध वने ते रीते केवलज्ञानमां वधा विषयोनुं प्रकाशन चाक्षुष पेठे थाय छे। आमां निर्वृत–मुक्तनी आ० सिद्धसेने करेली व्याख्यानी सरखामणी 'गीता'मांथी ब्राह्मी स्थिति साथे करी शकाय।

आ द्वात्रिंशिकामां ३४ श्लोको छे एटले के वे वधाराना श्लोको छे, शक्य छे के वे श्लोक क्षेपक होय पण ते कया ए कही शकाय एम नथी छेल्ला वे तो नथी ज। वे द्वात्रिंशिकाओना श्लोक भेगा थई गया होय तो ए पण शक्य नथी।

शिवोपाय–

सत्तरमी द्वात्रिंशिकानुं 'शिवोपाय' नाम आप्युं छे। आ द्वात्रिंशिकामां मोक्षनो मार्ग दर्शाववामां आव्यो छे। 'सन्मतितर्क'नी जेम अहीं पण आ० सिद्धसेन ज्ञान अने चारित्रना महत्त्व पर एक-सरखो भार मूके छे। व्रतो अने यमो जेम अध्यात्मविनिश्चय माटे होय छे ए ज रीते शैक्षो माटे दीक्षाग्रहण मुक्तिमार्गमां स्थिरता माटे होय छे।

पछी मिथ्या दर्शनना आलेखनपूर्वक सम्यग्दर्शननुं महत्त्व प्रस्थापित करायुं छे। कोई एवी दलील करे के मिथ्यादृष्टिथी गेर-फायदो शो ? एनाथी पाप थाय ? आ० सिद्धसेन एने उत्तर आपे छे। अलबत्त, मिथ्यादृष्टिथी पाप नथी थतुं परन्तु तेने गेरफायदो तो छे ज। मिथ्यादृष्टिथी व्यक्ति क्रोधादि कषायनो भोग बनेलो रहे छे। बीजी तरफ जे व्यक्ति सम्यग्दृष्टिवाळो छे ते व्रत–यम पाळे छे अने तेथी क्रोधादिथी मुक्त रहे छे।

आ० सिद्धसेन जणावे छे के कषायमां कशो क्रम होतो नथी एटले के एक पछी बीजुं– काम पछी क्रोध ए रीते जेम 'गीता'मां दर्शावायु छे 'ध्यायतो विषयान् पुंसः........' आचार–अनाचारनुं कारण अचिन्त्य छे (जुओ 'प्रशमरतिप्रकरण' उमास्वातिकृत-२४५ कारिका) । एना विशे कशुं निश्चित कही न शकाय । जेम के घी विशे 'आयुर्वै घृतम्' एम कहेवामां आवे छे, गमे त्यारे रोगीने एनी भलामण न करी शकाय । रोगीनुं योग्य परीक्षण करी पछी योग्य लागे तो भलामण करी शकाय । घी सामान्य रीते शरीरसंपत्ति माटे सारुं गणाय पण अमुक रोगोमां अथवा तो अमुक व्यक्ति-ओने ते आपी न शकाय, ए ज रीते अमुक शुद्ध आचार अने अमुक अशुद्ध आचार तेवो निरपेक्ष निर्णय न करी शकाय। प्रत्येक गुणनुं जे परिणाम होय छे ते बधानुं एक स्वरूप होय छे। शुद्धि आचारात्मक होय छे । "दोषेभ्यः प्रव्रजन्त्यार्यो गृहादिभ्यः पृथग्जनाः ।"

आ० सिद्धसेननुं आ महावाक्य याद रही जाय एवुं छे । आर्य पुरुषो दोषोनो त्याग करे छे ज्यारे सामान्य माणसो घर बार-नो त्याग करे छे । ते समयमां आर्यसंज्ञा उत्तम पुरुषो माटे वपराती । श्री. विजयलावण्यसूरिजी संसृतिसागरमांथी पार जवानी कामनावाळा पुरुषोत्तमोने आर्यो गणावे छे ।

पछी मननुं महत्त्व दर्शावायुं छे । मनथी विषयोथी दूर जवाय छे, मनथी ज एने पामी शकाय छे. 'मन ए ज मनुष्यो माटे बंध

અને મોક્ષનું કારણ છે' એમ । ત્યાર બાદ પુણ્ય અને પાપ વિશે આ૦ સિદ્ધસેને જણાવ્યું છે । વળી, તેઓ લખે છે કે જે રીતે દવા જાણવાથી રોગ મટતો નથી તે રીતે જ્ઞાન હોય ને ચારિત્ર ન હોય તો એનું કશું ફળ નથી । એ જ રીતે ચારિત્ર હોય અને જ્ઞાન ન હોય તો પણ ન ચાલે । અજ્ઞાનરૂપી તમોમૂળના સમુદ્ઘાતથી જ નિર્વિકલ્પ કલ્યાણ પ્રાપ્ત થાય છે ।

અનુશાસન–

આ (અઢારમી) દ્વાત્રિંશિકામાં શૈક્ષોને જ્ઞાન આપવા અંગેના નિયમો તથા સૂચનાઓની ચર્ચા કરવામાં આવી છે । આખી કૃતિ આ૦ સિદ્ધસેનની વિશિષ્ટ શૈલીની છાપ ધરાવે છે । સર્વત્ર જણાય તેમ અહીં પણ મોટા વ્યાપક વિષયને નાનકડાં સચોટ વાક્યોમાં નિરૂપાયો છે । અહીં શૈલી અલંકૃત નથી પણ ઘણાં આકર્ષક ઉપમાનો જોવા મળે છે જે એમના જ્ઞાનના વિશાલ પ્રદેશમાંથી આવે છે— ખાસ કરીને વૈદકને લગતાં ઉપમાનો ।

આ૦ સિદ્ધસેન જણાવે છે કે જે વ્યક્તિનું મન સ્થિર ન થયું હોય તેને શાસ્ત્રના ઊંડાણોનું પ્રતિપાદન દોષકર્તા બને છે, જેવી રીતે તાજા જ્વરમાં શમનીય ઔષધનો પ્રયોગ । જેને તાજો તાવ આવ્યો હોય તેને તરત શમનીય ઔષધ આપવામાં આવે તો તે દોષકર્તા બને છે । આ૦ સિદ્ધસેનનું આ કથન વૈદકીય મહત્ત્વ પણ ધરાવે છે ।

બીજી કૃતિઓની જેમ આ કૃતિમા પણ એનું વ્યાવહારિક દૃષ્ટિબિંદુ દેખાઈ આવે છે । એમણે દર્શાવેલ શૈક્ષો અને શિક્ષકો માટેની

सूचनाओ आजना युगमां पण एटलुं ज महत्त्व धरावे छे। आ युगमां ज्यारे ज्ञान कशा पण विवेक विना आपवामां आवे छे त्यारे ते शक्ति अने साधनाना विनाशरूप बनतुं होय छे। आ० सिद्धसेन प्रथम श्लोकमां ज आ तथ्य तरफ ध्यान दोरे छे। तेओ नोंधे छे के ज्ञान आपतां पूर्वे आ बधां पासां पर नजर राखवी जोईए। देश, काळ, अन्वय (कुळपरंपरा), आचार, वय, प्रकृति, शक्ति (जिज्ञासा उत्साह अथवा तो मुमुक्षा) ; आपणे जोईए छीए के 'भगवद्गीता' पण एनुं ज्ञान आपवा माटे शर्त मूके छे (१८-६७)।

त्यार बाद आ० सिद्धसेन शिक्षकनो आदर्श व्यक्त करे छे जेनामां बाह्य तेमज आंतरिक पवित्रता होय, जे सौम्य होय, तेजस्वी होय, जेनामां करुणा रही होय, जे स्वसमय अने परसमयनो ज्ञाता होय, जेनी वाणी सुमधुर होय ने जेणे मन अथवा तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जत्यां होय ते आदर्श शिक्षक छे। आवो गुरु तो शोध्यो जडे नहीं, बीजुं बधुं होय पण 'जिताध्यात्म' न होय।

आ द्वात्रिंशिकामां आ० सिद्धसेन तेमना समयनी परिस्थति तरफ निर्देश करता होय तेवुं पण देखाय छे, जेम के चोथा श्लोकमां-

"हीनानां मोहभूयस्त्वाद् बाहुल्याच्च विरोधिनाम्।"

हीन माणसोमां व्यापकपणे मोह, अज्ञान छवायेलुं छे अने अनेक प्रकारना विरोधीओनुं बाहुल्य छे, आवा संयोगो वच्चे कल्याणप्रद शिक्षण विशे आ० सिद्धसेन लखी रह्या छे।

त्यार बाद आ० सिद्धसेन शैक्षोना विभागो दर्शावे छे, तेमना आचरण विशे दर्शावे छे। अगियारमा श्लोकमां विद्यार्थी माटे

कडक पण महत्त्वनी गणाय तेवी नियमावली आ० सिद्धसेन आपे छे पंदरमा श्लोकमां ते कारणो दर्शावे छे जेनाथी शरीर अने ज्ञान पुष्ट थाय तो सोळमामां गुरुए विद्यार्थीना केवां आचरणोने निवारवां जोईए ते दर्शाव्युं छे।

पछी आ० सिद्धसेन पाश्चात्य दर्शन एटले के उत्तरकालिक ज्ञानसाधना विशे लखे छे। पहेला जे सहज रीते छोडी दीधुं होय ते प्रयत्नतः प्राप्त करवुं, कारण के बुद्धिमानो, पंडितो ग्रंथिरहित होय छे अथवा तो पहेलां जे अयत्नने कारणे छोडी दीधुं होय तेने फरीथी प्रयत्नपूर्वक साधवुं।

जे व्यक्ति जे तीर्थमां होय ते तीर्थनुं परिपालन अवश्य करवुं जोईए। आ प्रकारे शासननुं अनुष्ठान करनार छेवटे अवश्य निर्वाण पामे छे। आ द्वात्रिंशिकामां आ० सिद्धसेननी शिक्षणकार तरीकेनी प्रतिभा व्यक्त थयेली देखाशे।

निश्चय —

आ (ओगणीसमी) द्वात्रिंशिकामां आ० सिद्धसेन पोताना केटलाक निश्चयो प्रस्थापित करे छे। आ कृति तथा 'सन्मतितर्क' एमने अभेदवादना पुरस्कर्ता तरीके प्रस्थापित करे छे। तेमना नवा अभिगमना कारणे अने विशिष्ट निश्चयोने कारणे आ कृति घणी महत्त्वनी छे। आ द्वात्रिंशिकानां बे पद्यो पर श्री. यशोविजयजीए टीका रची छे जेमां मति अने श्रुत तथा अवधि अने मनः-पर्याय ज्ञाननी चर्चा करवामां आवी छे।

उपलब्ध प्रतिमां एकत्रीश श्लोक ज मळे छे अने अनुष्टुपनी बे पंक्तिओ खूटे छे ते पुनाना भांडारकर इन्स्टिटयूटनी हस्तप्रतिमां मळी आवे छे ते अगियारमा श्लोकनी बीजी पंक्ति अने बारमा श्लोकनी पहेली पंक्ति। आम छपायेल प्रतिना श्लोकनो क्रम फरी जाय छे।

आ० सिद्धसेन प्रथम पंक्तिमां ज ज्ञान, दर्शन अने चारित्रने मोक्षना उपाय तरीके दर्शावे छे। पंडित मुख्तारजी अहीं 'उपायाः' पाठ स्वीकारी बहुवचनना उपयोग सामे वांधो के छे अने एवी तारवणी करवा मथे छे के आ० सिद्धसेनने जाणे मोक्षना त्रण भिन्न भिन्न मार्ग अभिप्रेत होय। आ बराबर नथी। वळी, दर्शन पूर्वे ज्ञान मूकवाथी क्रम बदलाई जतो नथी, मात्र आ० सिद्धसेन अल्प ज्ञाण शब्दने पहेलां मूके छे एटलुं ज। अलबत्त, आ एक समाधान ज कहेवाय।

हवे आ० सिद्धसेन ज्ञाननुं आलेखन आरंभे छे। ज्ञान देहादिना विषयवाळुं होय छे अने ते अभिव्यक्तिना स्वरूपवाळुं होय छे। त्यार पछी तेनी शक्तिओ दर्शावी छे।

परस्परस्पृष्टगतिर्भावनापचया ध्वनिः।
स्पष्टग्राह्यश्रुते सम्यगर्थभाव्योपयोगतः ॥ ११ ॥
संघातभेदोभयतः परिणामाश्च संभवः।
बहुस्पृष्टगमद्रव्यादिस्नेहरौक्ष्यातिशायनात् ॥ १२ ॥

संभव माटे 'तत्त्वार्थसूत्र' संघात अने भेद बे कारण

दर्शावे छे आ० सिद्धसेन परिणामनो पण स्वीकार करता होय तेम जणाय छे ।

छपायेली प्रति प्रमाणे बारमा श्लोकमां मति अने श्रुतज्ञाननो अभेद दर्शावायो छे । आ अभेदना कारणरूपे आ० सिद्धसेन वैयर्थ्य अने अतिप्रसंग दोष दर्शावे छे । श्री. यशोविजयजीए 'ज्ञान-बिंदु' मां आनुं विस्तारथी आलेखन कर्युं छे । अलबत्त, आ० सिद्ध-सेन 'सन्मतितर्क' (५-२६)मां ज्ञानना पांच प्रकार स्वीकारे छे ज । मति, अवधि अने केवल — बीजा ज्ञान प्रकारो साथे कशुं सामान्य धरावता नथी ज्यारे श्रुत अने मनःपर्यायनो (अवधि साथे) अभेद सिद्ध थई शके एम छे । (केवल) ज्ञाननो विषय समग्र होय छे एटले के एवुं कशुं नथी के जे ज्ञाननो विषय न बनी शके । जे कोई आ ज्ञान धरावे छे तेने (कर्म) क्षय पाम्यां होई कशां आवरण होतां नथी (असति प्रतिबन्धके) ।

परिणामरूपी फलवाळुं कर्म होय छे अने ए परिणाम कर्म अनुसार कर्मात्मक ज होय छे । ए ज रीते आ० सिद्धसेन दर्शावे छे के धर्म अने अधर्मनुं शुं फल ? आकाशनी तेओ व्याख्या आपे छे–'आकाशमवगाहाय' (सरखावो जुओ : 'तत्त्वार्थसूत्र' ५–१८) आ सिवाय दिशानुं भिन्न अस्तित्व नथी ।

अनेक नवा विचारो प्रस्तुत कराया होइ आ कृति घणी महत्त्व-पूर्ण छे । आ विचारो आगमोथी अने परंपरागत विचारोथी भिन्न होइ लहियाए आ० सिद्धसेन माटे एनी पुष्पिकामां पोताना तरफथी 'द्वेष्य' शब्द उमेरी दीधो जणाय छे ।

दृष्टिप्रबोध –

तेरमी द्वात्रिंशिका दृष्टिप्रबोधनी जेम वोसमी द्वात्रिंशिकाने दृष्टिप्रबोध नाम आपवामां आव्युं छे अने आपणे तेमां दृष्टिवाद विशे आलेखन थयुं होय तेवी अपेक्षा राखी शकीए। आ द्वात्रिंशिकानुं नाम आपणने खोवायेला 'दृष्टिवाद' नामना बारमा अंगनी याद आपे छे। शक्य छे के आ० सिद्धसेनना समयमां दृष्टिवाद नामनुं बारमुं अंग जाणीतुं होय ने आ० सिद्धसेने दृष्टिवादने अहीं संक्षेपमां रजू कर्यो होय।

आ संदर्भमां में वेबर अने एम. डी. महेता द्वारा आपवामां आवेली विषयसूची तपासी। तेमां चौद पूर्वोमांनुं प्रथम छे उत्पाद। आ द्वात्रिंशिका पण ते शब्दथी ज आरंभ पामे छे। आपणी पासे माहितो पण अपूरती छे अने ते प्रमाणित नथी एटले कशुं चोक्कस कही न शकाय। शक्य छे के प्रथम पूर्वमां उत्पाद, व्यय वगेरेनुं आलेखन थयुं होय।

आ० सिद्धसेननी स्तुतिओ जेटली प्रसिद्ध छे तेटली तेनी बीजी कृतिओ नथी अने तेथी ते शुद्ध रूपमां जळवाई नथी एटले तेमांथी सुव्यवस्थित अर्थ अवगत करवानुं काम दुष्कर छे। पं० सुखलालजी अने दोशीजीए पण आ ज मुश्केली अनुभवी छे। पाठांतर पण झाझां प्राप्त थतां नथी जे मददरूप बनी शके। आ संयोगोमां श्रीविजयलावण्यसूरिजीनुं काम घणुं महत्त्व धरावे छे।

आ० सिद्धसेन भारपूर्वक जणावे छे के म० महावीर सिवाय

अन्य कोईए युक्तिपूर्वक तत्त्वविचार प्रस्तुत कर्यो नथी । आपणे जाणीए छीए के दृष्टिवादमां परमत अंगे ऊहापोह करवामां आवेलो। आ० सिद्धसेन पण तेनुं आलेखन करे छे अने तेमां रहेला दोषो तथा विरोध दर्शावे छे। बौद्ध, सांख्य अने वैशेषिकनो तो तेमां नामपूर्वक निर्देश छे। छेल्ले आ० सिद्धसेन प्रस्थापित करे छे —

"ननु श्रीवर्धमानस्य वाचो युक्तः परस्परम् ।"

जैनेतर दर्शनो—

आ० सिद्धसेन दिवाकरे जैन दर्शन उपरांत तेमना समयमां जाणीतां बीजां दर्शनोने पोतानी रीते निरूप्यां छे। तेमां वेदवाद, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, संतानवाद (बौद्ध) अने नियतिवाद (आजीविकनुं) आलेखन करायुं छे।

वेदवाद—

नवमी द्वात्रिंशिकाने वेदवाद नाम अपायुं छे। पंडित सुखलालजीए आ द्वात्रिंशिकानो विगते अभ्यास कर्यो छे। तेनी शैली वैदिक भाषानुं अनुकरण करे छे। आ द्वात्रिंशिका पर 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' अने 'भगवद्गीता'नी घणी असर देखाय छे एटलुं ज नहीं, तेमां वैदिक साहित्यना घणा शब्दो के वाक्यखंडो मुक्तपणे लेवामां आव्या छे। कदाच आ० सिद्धसेनना मनमां एनो जुदो संदर्भ होय। आमाना घणा श्लोकना अर्थघटन मुश्केल छे। केटलाक विचारोना मूळ जाणी शकाय एम छे। एवुं लागे छे के सिद्धसेन अद्वैतवादनो पुरस्कार करे छे।

'वेदवाद' शब्द आ० सिद्धसेनना समयमां प्रचलित हशे। गीतामां अने प्राचीन साहित्यमां आ शब्द घणीवार वपरायेलो जोवा मळे छे, ज्यारे ब्राह्मणदर्शन जेवी संज्ञा प्रचलित थई नहीं होय त्यारे ते दर्शाववा वेदवाद शब्द वपरातो हशे। 'गीता'मांना तेना उल्लेख परथी ज एम जणाई आवे छे के कर्मकांडपरायण ब्राह्मण-धर्म माटे आ शब्द प्रयोजातो परन्तु ते एक जुदो अभ्यास मार्ग छे छे।

न्यादर्शन--

बारमी द्वात्रिंशिकामां न्यायदर्शननुं आलेखन थयुं छे, जेनो मुख्य आधार ग्रंथ छे गौतमकृत न्यायसूत्र। बारमी द्वात्रिंशिका-मां न्यायसूत्र साथेनां अनेक साम्य दर्शावी शकाय एम छे। आ० सिद्धसेने तेमां हेतु अने हेत्वाभासनी चर्चा करी छे। अहीं तहीं गौतमनी परिभाषा करतां जुदी परिभाषा जणाशे। केटलाक सिद्धां-तोनी चर्चा पण कराई छे। केवी रीते व्यक्ति वादमां विजय प्राप्त करे छे अने तेनी निर्बलताओ कई छे ते पण दर्शाव्युं छे। एवुं जणाय छे के आ० सिद्धसेनने वादमां विशेष रस छे। नृपगोष्ठीओमां वक्तृत्वकौशल्य बतावीने धर्म, अर्थ अने कीर्ति मेळवी शकातां हशे। ते युगमां विचार पण शी रीते करी शकाय?

सांख्यप्रबोध-

तेरमी द्वात्रिंशिकानुं नाम सांख्यप्रबोध अपायुं छे अने तेमां भारतीय दर्शनोमांना एक प्राचीन सांख्य दर्शननो विचार करवामां आव्यो छे। आ० सिद्धसेन दिवाकरनी आ कृतिनुं महत्त्व बे प्रकारे

छे। एक तो तेनी प्राचीनतानी दृष्टिए अने बीजुं अन्य धर्मना लेखकनी कृति लेखे।

सांख्यप्रबोधनुं लेखन प्रमाणमां त्रुटक अने संदिग्ध छे अने ते कोई रीते आ दर्शनने मूळतः निरूपतुं नथी, छतां बीजां प्रमाणो प्राप्त थतां होय त्यारे एक विशेष प्रमाणरूपे अथवा तुलनारूपे आ ग्रन्थ घणो उपयोगी छे। ईश्वरकृष्णरचित 'सांख्यकारिका' कदाच सांख्यशास्त्रनो सर्वथी प्राचीन उपलब्ध थतो ग्रन्थ छे पण ते इशु पूर्वे होय एम लागतुं नथी, अने ते रीते पण सांख्यप्रबोधनुं महत्त्व छे।

आ० सिद्धसेन आरंभमां तो सांख्यनी परंपरा दर्शावे छे। आ० सिद्धसेने 'सन्मतितर्क'मां कपिलनुं नाम लईने उल्लेख कर्यो छे। अहीं कपिलने ऋषि तरीके उल्लेखता होय एम लागे छे। त्यार बाद आसुरि, कोईक उमावसुदेव अने व्यासनो उल्लेख करायो छे। सांख्यना आचार्योमां आसुरिनुं नाम जाणीतुं छे। 'महाभारत'-मां कपिल अने आसुरि वच्चेनो सांख्य विशेनो रसप्रद संवाद निरूप्यो छे। आ० सिद्धसेन पंचशीखनो ते नामथी उल्लेख नथी करता परंतु तेना गोत्रनामथी निर्देश करे छे अने तेने तंत्र माटे कारणभूत माने छे। तंत्र शब्दनो अर्थ अस्खलित परंपरा पण थई शके। शक्य छे के आ तंत्र 'षष्ठीतंत्र' होय, जेनो उल्लेख 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' तथा 'अनुयोगद्वार' अने 'औपपातिकसूत्र' मां सांपडे छे। पंचशीख ए ज व्यास ए दर्शावतां बीजां प्रमाणो टांकी शकाय पण एना माटेनुं आ स्थान नथी।

आ० सिद्धसेन प्रत्यक्ष तथा अनुमाननी व्याख्या वार्षगण्यनी स्वीकारता होय एम जणाय छे । अहीं सांख्यदर्शनना अमुक पासांने ज स्पर्शवामां आव्यां छे । आ कृतिमां आ० सिद्धसेने सर्ग अने अन्य तत्त्वोनी उत्पत्तिनी चर्चा करी छे । सत्त्व वगेरे गुणो ज्यारे सम अवस्थामां होय तेने प्रकृति कहेवामां आवे छे परंतु ज्यारे आ समतुला विचलित थाय छे त्यारे सृष्टिनी उत्पत्ति थाय छे । पुरुष आम तो अकर्ता छे ऐक्यने कारणे परन्तु अधिष्ठान शक्तिने लीधे कर्ता पण छे ।

'सांख्यप्रबोध'मां प्रमाणोनी व्याख्या अपाई छे अने प्रकृति तथा सर्गनुं वर्णन करायु छे । इंद्रियोनां कार्यो पण दर्शावायां छे । सिद्धि, तुष्टि अने मूलसर्गनुं पण आलेखन थयुं छे । आ० सिद्धसेन कोई चोक्कस कृतिने नजर सामे राखी आलेखन करता होय तेम जणातुं नथी अथवा तो तेमनी नजर सामे जे साहित्य हशे ते आपणने उपलब्ध थतुं नथी तेथी आ कृतिने मौलिक ग्रंथ जेटलुं महत्त्व मळे छे ।

वैशेषिकदर्शन—

चौदमी द्वात्रिंशिकामां वैशेषिक दर्शननुं आलेखन थयुं छे । कणादनां सूत्रोनी जेम ज आ कृतिमां पण धर्मनी चर्चा कराई छे । तेमां द्रव्य, प्रमाण वगेरेनुं आलेखन करायुं छे । वैशेषिकोनो परमाणु सिद्धांत पण अहीं जोवा मळे छे । द्रव्योना उद्भव काळ, दिशा ध्वनि, अविद्या वगेरेनुं पण तेमां आलेखन थयुं छे । अदृष्टथी क्रियाओ थाय छे एवुं पण दर्शावायुं छे ।

बौद्धदर्शन–

पंदरमी द्वात्रिंशिका बौद्धोना संतानवादने आलेखे छे। आ॰ सिद्धसेननी सामे कया बौद्ध ग्रंथो विद्यमान हशे ते दर्शाववुं मुश्केल छे। आ द्वात्रिंशिकामां पुद्गल, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, पदार्थ आदिनुं बौद्धमत अनुसार निरूपण थयुं छे। त्यारबाद भावना, हेतुप्रत्यय, निर्वाण वगेरेनुं आलेखन करायुं छे।

नियतिवाद–

सोळमो द्वात्रिंशिकाने नियति नाम अपायुं छे। उपनिषत्‌काळमां पण छ कारणो पैकी नियति एक मानवामां आवती। मंखलिपुत्र गोशाल नियतिवादनो पुरस्कर्ता मानवामां आवे छे। एक रीते आजीविक संप्रदायनुं आलेखन करती आ एक मात्र कृति छे एम कही शकाय।

आ कृतिमां नियतिने लगता केटलाक प्रश्नो चर्चवामां आव्या छे। नियतिवाद अनुसार स्रष्टाना विचारने नकाराय छे अने हेतु, प्रयोजन तेमज प्रयत्ननो पण स्वीकार करवामां नथी आवतो। गोशालना मत प्रमाणे आत्मानी स्थिति पूर्व निश्चित होय छे। आ कृतिमां देवो विशेनी मान्यता पण व्यक्त कराई छे। अनुमान विशे पण विचार करायो छे।

आ बधी कृतिओ प्रमाणमां त्रुटक अने अस्पष्ट होई अहीं विस्तारना भये तेनी विगते चर्चा करी नथी। दरेक कृतिनो एक आगवो ग्रंथ तैयार थाय तो ज आवी चर्चा करी शकाय।

आ० सिद्धसेनना समयनुं चित्र —

घणा लेखकोनी कृतिओमांथी तेमना समयनुं चित्र उपसतुं होय छे। आवी कृतिओ ते युगना रंगो प्रतिबिंबित करे छे जे सूक्ष्म अवलोकनथी देखाई आवे छे। आ० सिद्धसेननी कृतिओ प्रमाणमां टूंको, अर्थगर्भ अने मोटे भागे तत्त्वचिंतनने विषय बनावे छे। आम छतां तेमां आ० सिद्धसेनना युगनुं वातावरण छेक नथी आव्युं एम न कही शकाय, परंतु बीजा लेखकोनी कृतिओनी तुलनामां आ कृतिओ ओछी पारदर्शक छे। एक तो एमणे बत्रीश पद्योनुं बन्धन स्वीकार्युं होवाने कारणे क्यांय विस्तार करातो नथी, ज्यां आवी विगतनुं आलेखन वधारे संभवित बने।

एवुं जणाय छे के आ० सिद्धसेननो युग घणी उथलपाथलोनो युग हशे। पंडितोना एक सामान्य माध्यम तरीके संस्कृत भाषा हजी प्रसिद्धि पामी रही हशे, जेने लीधे अश्वघोष जेवा बौद्ध कविओ अने आ० सिद्धसेन जेवा जैन कविओ संस्कृतमां तेमनी रचनाओ करवा प्रेराया हशे। तर्क सुप्रतिष्ठित बनी रह्यो हतो अने जैनोमां आ० सिद्धसेन पछी तेनो घणो विकास थयो देखाय छे। आ० सिद्धसेननी तर्कप्रीति ए हकीकत परथी घणी जणाई आवे एम छे के आ० सिद्धसेन आगमसाहित्यमां पण जे कांइ तर्क विरुद्धनुं होय तेने स्वीकारवा तैयार नथी। आ एक युगलक्षण जणाय छे। धर्म ने तत्त्वज्ञान माटे अस्तित्वनो संघर्ष चालतो हतो अने दरेक धर्मने पोतानुं गौरव टकावी राखवा आ संघर्षमांथी पसार थवुं पडे एम हतुं। जैनधर्मने पण घणा विरोधीओ हता

(१८-४)। खास करीने ब्राह्मणपरंपराना धर्मांतर करी आवेलाओ माटे आ संयोगोमां शांत बेसी रहेवु शक्य नहोतुं । गोरव अने दान राज्याश्रय विना मेळवी शकाय तेम नहोतां, अने राज्याश्रय वाद विना संभवित नहोतो तेथी आ० सिद्धसेन नृपसभाओमां आ आह्वान स्वीकारी केवाना मार्गने अनुमोदन आपे छे। आ एक धार्मिक कार्य हतु—मिशन हतुं । पूर्वे मीमांसाने नामे चर्चासभाओ योजाती हती पण आ० सिद्धसेनना समयमां तेम रह्युं हतु ।वाद द्वारा ज विजयो हांमल कराता ने धर्मध्वजा फरकावाती । आथी गुरुजनो पोताना शिष्योने वाद माटे शिक्षण पण आपता हशे। आ० सिद्धसेन वादसभाओनु न गमे तेवुं चित्र आपे छे । तेमां निर्णायको द्वारा ताटस्थ्य जळवातुं न हतुं अने वादी-प्रतिवादी विजय माटे गमे ते छळ करता । विद्वान पंडितोने राज्याश्रय मळतो अने एने लीधे उत्तम पुरुषो पण राजाओनी स्तुतिओ करवा प्रेराता (१२- २) । आ० सिद्धसेन द्वारा अगियारमी द्वात्रिंशिकामां कोईक राजानी प्रशंसा कराई छे तेमांथी तेना समयनुं राजकीय वातावरण पण जोवा मळे छे। आ० सिद्धसेनना जीवन दरमियान ज पृथ्वी (एटले के भारत) घणा राजाओमां वहेंचायेली हती । आ राजाओ व्यर्थ राजपद धारण करता । धर्मनो ह्रास थयो हतो त्यारे आ राजाए बीजा राजाओने पोताने आधीन बनावी सार्वभौम सत्ता स्थापी अने जाणे सत्‌युगनुं अवतरण थयुं । आ राजानी तुलना विष्णु साथे करवामां आवी छे

अने तेनी पूर्वे पण तेना कुळमां पराक्रमी राजाओ थया हता । आ राजा मात्र वीर हतो, एटलुं ज नहि, राजनीतिनो पण जाणकार हतो, उदारचरित हतो अने शत्रुप्रदेशोने पण समृद्ध बनावतो । तेनी आ सिद्धिमां तेना सचिवोनुं पण सारुं एवुं प्रदान हतुं । एकंदरे तेनुं शासन शांतिपूर्ण हतुं अने लोको तेने प्रतापे समृद्ध बन्या हता ।

बे पेढीओ वच्चेनो संघर्ष सतत चाल्यो आवे छे परंतु आ० सिद्धसेनना समयमां ते वधारे प्रबळ जणाय छे । दरेक नवा विचार सामे मों फेरवी लेनार सामे (आ० सिद्धसेन ने कालिदासनी जेम) झझूमवुं पड्युं हतुं । तेमनो आ संघर्ष साहित्यनुं स्वरूप, शैली अने भाषा अंगेनो जणाय छे । आ० सिद्धसेनना समयमां दिव्य त्रिमूर्तिनो विचार प्रस्थापित थई चूक्यो हतो अने ते त्रणे देवनां कार्यो जुदां अंकाइ चूक्यां हतां । वैष्णव संप्रदाय सारो जाणीतो बनेलो हतो । मंत्रशक्तिमां विश्वास हतो । स्त्रीओ शृङ्गारनां प्रसाधनोनो उपयोग करती । राजाओ सचिवोना सहकारमां साम, दाम, दण्ड, भेद तथा गुप्तचरोनो उपयोग करता । विरोधीओने पोताना पक्षना करवा दान अपातां । आ० सिद्धसेनना समयमां नियतिवादी आजीविकोनुं सारुं एवुं चलण हतुं । आ० सिद्धसेननी कृतिओने आधारे अहीं तेमना समयनुं आछुं-झांखुं चित्र उपसाववा प्रयत्न कर्यो छे ।

बहुमुखी प्रतिभा–

आपणे जीवनमां आपणी आसपास मोटे भागे साधारण माणसो जोइए छीए पण भाग्ये ज कोई प्रतिभासंपन्न व्यक्ति साथे

आपणने संपर्क थतो होय छे अने जे कोई प्रतिभाशाली व्यक्तिने मळीए तो ते पण ज्ञानना कोई एक क्षेत्रमां विशेषता धरावतो होय। कोई वैयाकरण तार्किक न होय अने कोई तार्किक आयुर्वेद जाणतो न होय अने जाणतो होय तो ए कवि न होय, साधु न होय परंतु इतिहास एवा पण पुरुषोनी नोंध धरावे छे, जेओ अनेक मुख्य प्रतिभा धरावता होय तेवा जवल्ले जोवा मळता महानुभावोमां आ० सिद्धसेन एक हता। तेमनी कृतिओ अने तेमना जीवनपटना उल्लेखो परथी तेमनी एक मुख्य प्रतिभानो ख्याल आवी शके तेम छे। आ० सिद्धसेन महान् कवि हता एटलुं ज नहीं तार्किक; तत्त्ववेत्ता, साधुचरित प्रखर वादी अने बीजा निर्देशोनो स्वीकार करीए तो वैयाकरण, ज्योतिर्विद्, वैदकना निष्णात पण हता। तेमना स्थाननी कोई सीमा जणाती नथी। तत्कालीन भारतीय ज्ञानसमृद्धि एमना वाक्ये वाक्यमां देखाय छे तेमां अर्थशास्त्र तथा आयुर्वेदनो पण समावेश थई जाय छे।

कवि सिद्धसेन—

आ० सिद्धसेन प्रथम कक्षाना कवि हता। एमणे कोइ महाकाव्य रच्युं होत तो भारतना महाकविओमां एमने मानभर्युं स्थान प्राप्त थात। आपणे जोइए छीए के तत्त्वज्ञान एमनी कवित्वशक्तिने उभरवा देतुं नथी। आने लीधे एमनी कविता ढंकाइ गइ अने एमनी जेटली महत्ता अंकावी जोईती हती तेटली न अंकाई। आम छतां ज्यां एमनां काव्य तत्त्वज्ञानना आलेखन विना प्रगट थयां छे त्यां पूरतां आस्वाद्य बन्यां छे। 'गुणवचनद्वात्रिंशिका' अने 'स्तुतिद्वात्रिंशिका' तेनां सारां उदाहरण छे। भ० महावीरना दीक्षासमये नागरिकोनुं चित्रात्मक वर्णन अने

તેમનાં સંવેદનો કાલિદાસની સરખામણીમાં ઊભાં રહી શકે તેવાં છે (શ્લો૦ ૧૯)। વિષય પ્રસ્તુત કરવાની એમની રીત કાવ્યાત્મક છે જેમકે 'ગુણવચનદ્વાત્રિંશિકા' (શ્લો૦ ૩–૧૩)। તે જ દ્વાત્રિંશિકામાં (શ્લો ૧૪) માં યુદ્ધનું વાતાવરણ યોગ્ય શબ્દો દ્વારા ઊભું કરે છે અને (શ્લો૦ ૧૭) માં શરદ્‌ની મધુરતાને શબ્દોમાં ગુંજતી કરે છે। આ૦ સિદ્ધસેન વ્યાજસ્તુતિ અને દૃષ્ટાંત અલંકારના ચાહક લાગે છે। એ જ રીતે ઉપમામૂલક અલંકારો પણ પ્રયોજે છે પરંતુ પછીના યુગના કવિઓની જેમ એમની કૃતિ અલંકારના અતિશય ભારથી લદાઈ નથી। તેમનામાં માધુર્ય દેખાય છે અને ઘણુંખરું વૈદર્ભી-રીતિનો આશ્રય લે છે। તેમનાં ઉપમાનોમાં તાજગી છે, તે અંધકારને ભમરાના પગ સાથે સરખાવે છે, એવાં તો ઘણાં ઉદાહરણો આપી શકાય। તેમની રચનાઓમાં હાસ્ય કટાક્ષની સૂઝ પણ નોંધપાત્ર છે। આ૦ સિદ્ધસેન વાદીઓને શ્વાન, બગ અને અભિનેતા ગણાવે છે અને વાદને કુક્કટ યુદ્ધ સાથે સરખાવે છે। વાસ્તવમાં વાદ વિશે દ્વાત્રિંશિકા રમુજ ભરેલી છે। આ૦ સિદ્ધસેન કવિ અને તત્ત્વચિંતક છે અને એમના સામર્થ્યવાળા કવિઓ જૈનોમાં ઓછા છે તેથી જ એમને આઠ પ્રભાવકોમાં કવિ પ્રભાવક ગણવામાં આવ્યા છે।

વાદી—

આ૦ સિદ્ધસેનની કૃતિઓ અને એમના જીવનની રૂપરેખા એમની એક મુખે વાદી તરીકેની પ્રતિભાને પ્રકાશિત કરે છે। વાદનાં જે રહસ્યો આ૦ સિદ્ધસેને જે ઉદ્‌ઘાટિત કર્યાં છે। તેજ એમની અસામાન્ય બુદ્ધિમત્તા પ્રગટ કરવા પૂરતાં છે। જો કે આ કૃતિનું ચરકસંહિતા સાથે કંઇક સામ્ય છે પણ તેમાંનું ઘણુંખરું

मौलिक छे अने संभवतः आ० सिद्धसेने प्रथम ज आलेख्युं छे । वादनी केटलीक युक्तिओ तेमना व्यावहारिक दृष्टिबिंदुने बतावे छे । वादमां राखवो पडतो सावचेतो अने विशिष्ट वर्तणूंक तेमना जीवनभरना अनुभवोनो निचोड छे । जेम मल्लविद्यामां तेम वादमां तेना सिद्धांतो दर्शाववानुं अनुभव विना शक्य नथी ।

बीजा उल्लेखो परथी लागे छे के आ० सिद्धसेन समर्थ वादी हशे अने अनेक प्रतिवादीओना मद एमणे हर्या हशे त्यारे तो एमना अवसानवनी नोंध आ रोते लेवाई छे–

"स्फुरन्ति वादो खद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे ।
नूनमस्तंगतो भाति सिद्धसेनो दिवाकरः ॥"

तेमना देहविलय पछी ज बोजा वादीओ चमकवा लाग्या । एम पण नोंधवामां आव्युं छे के आ० सिद्धसेन युवावयमां एक हाथमां कोदाळी, बीजा हाथमां जाळ, खभे सीडी ने सूकुं घास अने पेट पर कमरपटो राखता । प्रतिवादीओ माटे आमां अतिशयोक्ति हशे पण ते आ० सिद्धसेनना वादो तरीकेना सामर्थ्यने व्यंजित करे छे । आ०सिद्धसेन खरेखरा अर्थमां दिवाकर हता ।

आ अर्थ उपरांत आ० सिद्धसेननो जैन शासनमां अपूर्व श्रद्धा हती । आ श्रद्धा तात्त्विक मूळवाळी हती ते दर्शावे छे के जिनने स्तुति द्वारा प्रसन्न करो शकता नथी पण सत्पुरुषो माटे ए ज हितकारी उपाय छे ।

१८५ सर्वोदय नगर
शाहपुर दरवाजा बहार
अमदावाद–१

–पिनाकिन् दवे

द्वात्रिंशिकानुक्रमः ।

अर्हम् ।

विक्रमादित्यनृपालप्रतिबोधकेन वादिवृन्दारकवृन्दवारणपञ्चाननेन कमनीयतमकवितालतालवालकल्पेन तुलनातीतकल्पना-शिल्पशिल्पिशेखरेण सूरिशेखरेण भगवता श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण प्रणीता—

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाः ।

[प्रथमा द्वात्रिंशिका]

तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-जगद्गुरुश्रीविजय-नेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेति-पदालङ्कृतेन विजयलावण्यसूरिणा विरचिता—

किरणावली नाम विवृतिः—

यज्ज्ञाने भाति विश्वं करतलफलवद् योगिभिर्यत्स्वरूपं
ध्येयं वाणी यदीया विलसितभुवने तत्त्वमात्रेऽप्यबाध्या ।
कामक्रोधादिवर्गो विलयमुपगतो यत्र यं पूजयन्ति
पूज्या अन्ये तमीडे जिनवरमवरं वर्धमानं वरेण्यम् ॥ १ ॥—स्रग्धरा

वाग्देवी यत्र नव्याऽमलगमकलिताऽनल्पतर्कप्रगल्भा
स्याद्वादोद्गारदक्षा जयति बुधवरैर्भाविताऽर्थाऽनवद्या ।
तं नव्यं सिद्धसेनं विमलमतिगुणं कल्पनाशिल्पिमुख्यं
नव्यस्तुत्यालिदक्षं सततमभिनये मानसेऽभीष्टसिद्ध्यै ॥ २ ॥—स्रग्धरा

यस्य व्याकृतिशास्त्रचर्वणकला कृत्या समुज्जृम्भते
शास्त्रार्थे प्रतिवादियुक्तिदलनं विद्योतते सर्वतः ।
न्यायाद्यर्थविचारणाऽपि विमला यस्य क्रियासु स्थिता
भक्त्या तं प्रणमामि हृत्कमलगं श्रीनेमिसूरिं गुरुम् ॥ ३ ॥—शार्दू०

क्व श्रीमत्सिद्धसेनस्तुतिरतितरमला गूढतत्त्वा प्रसन्ना ?
काहं व्याख्यातुकामो विगलितधिषणः शक्तिरिक्तोक्तियुक्तः ? ।
सत्यप्येवं विवृण्वन् स्तुतिततिमिमकां सूरिलावण्यनामा
न स्यां हास्यो बुधानां तदनुसृतपथं यद् यथाशक्ति यामि ॥४॥—स्रग्धरा
प्रशिष्यपं० सुशीलाय कृतेऽत्र कृतिकर्मणि ।
विवृतौ किरणावल्या सहायाऽस्तु गुरोः कृपा ॥ ५ ॥

धीमान् भगवान् श्रीमान् सिद्धसेनदिवाकरः [1]एकविंशतिभेदा द्वात्रिंशिका चिकीर्षुस्तदन्तर्गतां प्रथमा द्वात्रिंशिकामारभमाणो विघ्नविनाशाय शिष्टाचारपरम्पराप्रतिपालनाय च त्रिभिः श्लोकैश्चरमतीर्थङ्करप्रणामपूर्वकं तत्स्तुतिं प्रतिजानीते—

स्वयम्भुवं भूतसहस्रनेत्र-
मनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोक-
मनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥१॥ [उपजातिः]

समन्तसर्वाक्षगुणं निरक्षं
स्वयम्प्रभं सर्वगतावभासम् ।
अतीतसंख्यानमनन्तकल्प-
मचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥२॥ [उपेन्द्रवज्रा]

कुहेतु-तर्कोपरतप्रपञ्च-
सद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमानं
स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥ ३ ॥

[उपजातिः । त्रिभिर्विशेषकम्]

स्वयम्भुवमिति—स्वयं भवतीति स्वयम्भूस्तं स्वयम्भुवम्, एतदादि सर्वं

१ अधुनोपलभ्यमानैकविंशतिद्वात्रिंशिकापेक्षयेत्थमभिधानम् ।

द्वितीयान्तं 'जिनवर्धमानम्' इत्यस्य विशेषणम्, यतः 'जिनवर्धमानं स्तोष्ये' इत्यनेन जिनवर्धमानकर्मकस्तुतिक्रियाकर्तृत्वप्रकारकसिद्धसेनदिवाकरविशेष्यकप्रतीतौ जातायामपि कीदृशं जिनवर्धमानमित्याकाङ्क्षोत्थितैव, अप्रकृष्टस्य स्तुतिकर्मत्वासम्भवात्, अतस्तत्प्रकर्षावगमक विशेषणमुपादेयमेवेति ।

"देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥" [ ]

इति वचनात प्रथम-मध्यमोत्तमपुरुषेष्वात्मस्वविशेषेण स्वयंशब्दप्रयोगात्,

"इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यत. स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥ २ ॥" [ ]

इत्यादिवचनात स्वयम्भुवमित्यस्य आत्मभुवमित्यर्थः; "भूः सत्तायाम्" इति धातुपाठात् प्रकृते भूधातोः सत्त्वमेवार्थः, "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थ० अ० ५, सू० २९] इति सूत्राद् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्व सत्त्वम्, तत्र स्वयंशब्दार्थानुगमनाद् आत्मना यदुत्पद्यते, आत्मना यद् विनश्यति, आत्मना यद् ध्रुवं तत् स्वयम्भूशब्दवाच्यमिति, प्रतिक्षण वस्तुमात्रं केनचिद् रूपेणोत्पद्यते केनचिद् रूपेण विनश्यति केनचिद् रूपेणावतिष्ठत इति सद् भवति, जिनवर्धमानोऽपि वस्तुसामान्यान्तर्गतः केनचिद् रूपेणोत्पद्यमानत्वात् केनचिद् रूपेण विनश्यमानत्वात् केनचिद् रूपेण स्थीयमानत्वात् सन् स्यादेव, तावताऽन्यवस्तुभ्यो वैशिष्ट्यं न लभ्यत इति तद्विशेषणसामर्थ्यात् स्तुतियोग्यत्वं नायाति, अतः 'सन्तम्' इत्यनुक्त्वा 'स्वयम्भुवम्' इत्युक्तम्, राग-द्वेषादिशत्रुगणमुक्तात्मस्वरूपस्य जिनवर्धमानस्य तदवस्थायां पूर्वक्षणे वर्त्तमानक्षणेऽनागतक्षणे चोपयोगलक्षणात्मकात्मकात्मसामान्यरूपेणैव पूर्वक्षणवर्तित्वविशिष्टात्मरूपेण विलयो वर्त्तमानक्षणवर्तित्वविशिष्टात्मरूपेणोत्पादो निर्विशेषितात्मस्वरूपेणावस्थानमित्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्यावच्छेदकात्मनो विशेषणविनिर्मोकेण विशेष्यीभूतस्यात्मसामान्यरूपतयोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणसत्त्वमित्यन्यस्माद् व्यावर्त्तकत्वेन भवति तद्विशेषणस्य स्तुत्युपयुक्तवैशिष्ट्यावेदकत्वम्; यद्यप्युक्तदिशोत्पादादित्रयावच्छेदकत्वमात्मसामान्यस्य

तथापि "तत् त्वमसि" [छान्दो. ६।८।७] इति वाक्ये तत्-त्वम्पदयोर्मायावच्छिन्नचैतन्याऽन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यशक्तयोर्जहदजहल्लक्षणया शुद्धचैतन्यप्रतिपादकत्ववत् स्वयम्भूशब्दस्य ध्रौव्यलक्षणनित्यत्वप्रतिपादकत्वम्, अत एव—

"स्वयम्भुरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ॥३॥" [ ]

इत्यत्र वेदस्य नित्यत्वावगतये स्वयम्भुशब्दः प्रयुक्तः, जिनवर्धमानस्योपयोगलक्षणात्मसामान्यरूपेण नित्यत्वमपि वैशिष्ट्यावेदकं, क्षणिकविज्ञानसन्तानस्वरूपसुगततनयाभ्युपगतात्मस्वरूपतो व्यावर्तकत्वात्, उक्तं च यशोविजयोपाध्यायैर्महावीरस्तवप्रकरणे—

"आत्मा तु तादृगपि मुख्यतयाऽस्ति नित्य-
स्तद्भावतोऽव्ययतया गगनादिवत् ते ।
चिन्मात्रमेव तु निरन्वयनाशि तत्त्वं
क श्रद्दधातु यदि चेतयते सचेताः ॥४॥" इति ।

अनेन च पराभ्युपगतलोकपितामहब्रह्मरूढस्वयम्भूशब्दप्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्माभेदोऽस्य ख्यापितो भवति, तथा चेश्वरत्वेन पितामहं चिन्तयतां पौराणिकानामप्ययमुपास्य इति व्यज्यते; यद्वा सु-सर्वातिशायि, यद् अयम् इष्टफलजनकं पुण्यकर्म, तीर्थङ्करनामकर्मेति यावत्, तत् स्वयम्, तत् भवते-प्राप्नोतीति स्वयम्भूस्तं तथा, तीर्थङ्करमित्यर्थः, "भूङ् प्राप्तौ णिङ्" [सिद्धहेम० ३। ४। १९] इति वचनात् प्राप्तावपि भूधातुर्वर्तते पृषोदरादित्वान्मागमश्च; यद्वा स्वयम्-आत्मनैव, परोपदेशस्य निरपेक्षतयेत्यर्थः, भवति-अवगततत्त्वः सम्पद्यते इति स्वयम्भूः, स्वयसम्बुद्ध इत्यर्थः, तं तथा ।

पुनः कथम्भूतम्? **भूतसहस्रनेत्रमि**ति-भूतेषु-प्राणिषु, सहस्रनेत्र इव-स्वर्लोकाधिप इन्द्र इवेति भूतसहस्रनेत्रः, तम्, यथा सहस्रनेत्र इन्द्र ऐश्वर्यशालित्वेन प्राग्दिगधिपतित्वेन च प्राणिभिरुपास्यो भवति तथाऽयमपि भगवान्; एकदिक्पालाभेदाध्यासेन सर्वदिक्पालाभेदाध्यासोऽस्मिन्नभिव्यज्यते; अथवा भूतानां-प्राणिनां सहस्रं भूतसहस्रं तस्य नेत्रं-नयनमिव, यथा नेत्रेण पुरोऽवस्थितं वस्तु स्पष्टमवगच्छन्ति लोकास्तथा हितमिदमहितं चेदमित्येवं विभज्य स्पष्टमव-

गच्छन्ति भगवदुपदिष्टागमेनेत्यागमद्वाराऽखिलहिताहितमार्गप्रकाशत्वेन जिनवर्धमानोऽयं भवति भूतसहस्रनेत्ररूपस्तम्; यद्वा भूतानि—पूर्वं जातानि, सहस्रं नेत्राणि यस्य स भूतसहस्रनेत्रस्तम्, अनादौ संसारे भगवानपि स्वर्लोकाधिपतिरिन्द्रो बभूवेति, अनेन यद् यद् विभूतिमत् सत्त्व लोकेऽवलोक्यते तत्तद्रूपेणानादौ ससारे जात एव भगवानिति तत्तद्रूपेणापि स्तुत्योऽयमिति व्यज्यते; अथवा भूतः—प्रथमं जातः, सहस्रनेत्रः—इन्द्रो यस्य स भूतसहस्रनेत्रस्तम्, "उपेन्द्र इन्द्रावरजः" इति कोशादिन्द्रस्य कनिष्ठभ्रातोपेन्द्रो विष्णुस्तद्रूपोऽयमिति ये विष्णुमीश्वरबुद्धयोपासते वैष्णवास्तेषामप्युपास्योऽयमिति व्यज्यते; यद्वा भूतसहस्रस्य—प्राणिसहस्रस्य नेत्रं यस्मिन् स भूतसहस्रनेत्रस्तम्, सहस्रेत्युपलक्षणं सम्भवत्सङ्ख्यामात्रस्य, तेन सर्वेषा प्राणिना यस्मिन्नाप्तत्वदृष्टि संजाता, य सर्वेऽपि प्राणिन आप्तत्वेन पश्यन्तीति यावत्, एतावना सर्वोपास्योऽयमिति व्यज्यते, यद्वा "भैरवो भूतनाथश्च" इत्यादिवचनाद् भूतनाथं शिवमित्यर्थः, एतेन शैवानामप्ययमुपास्य इति व्यज्यते ।

पुन. किम्भूतम् ? **अनेकम्** इति—एकस्य सत उत्पाद-व्ययावनेकरूपतामन्तरेण नोपपद्येते, न च तावन्तरेणोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षण सत्त्वं सम्भवतीति-पर्यायार्थिकनयेन पर्यायरूपत्वमेव वस्तुन इति पर्यायाणामनेकत्वादनेकरूपम्, प्रकृते गुण-गुणिनोः कथञ्चिदभेदात् केवलज्ञान-दर्शन-चारित्रैतद्गुणत्रयात्मकत्वेनानेकम्, तथा धर्म-धर्मिणो. कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धस्याभ्युपगमेनानन्तस्व-परपर्यायात्मकधर्मात्मकत्वेनानेकम्, एतेन साक्षात् परम्परया वा स्वसम्बन्धिस्व-पररूपाभ्या समस्तमेव विश्व व्याप्नोत्यसौ विषयतया केवलज्ञानादिरूपेण चेति व्यापकत्वाद् यदि हरिर्विष्णुरिति गीयते तदाऽयमपि विष्णु, दशावतारादिशालित्वेनानेकरूपत्वाद् यद्युपास्यो विष्णुस्तदा सर्वदैवानेकरूपत्वात् कथं नायमुपास्य इति व्यज्यते । पर्यायदृष्टयोत्पाद-व्ययभाजनत्वेन यथाऽनेकत्वमस्य तथा द्रव्यार्थिकदृष्टया ध्रौव्यभाजनत्वेनैकत्वमप्यस्येत्याह—

एकाक्षरभावलिङ्गम् इति—एकः—अनेकानुगतः, अक्षर—अविनाशी, यो भावः—सामान्यात्मा तिर्यक्सामान्यरूप ऊर्ध्वतासामान्यरूपश्च, तदात्मनालिङ्ग्यते ज्ञायते इत्येकाक्षरभावलिङ्गस्तम्, तिर्यक्सामान्यं च विभिन्नदेशावस्थितानेक-

व्यक्त्यनुगतसमानाकारपरिणामस्वरूपम्, ऊर्ध्वतासामान्यं च पूर्वापरपर्यायानुस्यूतं द्रव्यम्, प्रकृते आत्मत्वलक्षणतिर्यक्सामान्येनात्मस्वरूपतया पूर्वापरतदीयपर्यायानुस्यूतजिनवर्धमानात्मकद्रव्येण व्यक्तिरूपतया च 'आत्मैवायं स एवायं जिनवर्धमानः' इत्येवं ज्ञायत इति, 'अनेकम्' इत्यनेनान्यतो व्यावृत्तस्वरूपत्वेन विशेषरूपत्वम्, 'एकाक्षरभावलिङ्गम्' इत्यनेनानुवृत्तस्वरूपत्वेन सामान्यरूपत्वमित्येव सामान्य विशेषोभयस्वरूपत्व तन्निमित्तं चैकानेकस्वरूपत्वं जिनवर्धमानस्योपदर्शयता सत्त्व निष्टङ्कितम्, सामान्यस्वरूपत्वमनुगतबुद्धिविषयत्वेन विशेषस्वरूपत्व व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्वेन स्वत एव वस्तुनो न त्वतिरिक्तसामान्यविशेषलक्षणपदार्थसम्भवात् तथाऽभ्युपगमस्य 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी' इति न्यायेन वस्तुन्येव सामान्यत्व-विशेषत्वोभयकल्पनेन पराहतत्वात्, तदुक्तम्—

"स्वतोऽनुवृत्ति व्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपा. ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ५ ॥"
[अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका] इति ।

"अनेकमेकात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापा· ॥६॥ [अन्य० द्वा०]"

इति च; अथवा एकाक्षरस्य भाव—परिणाम एकाक्षरत्वं यत्र स एकाक्षरभावः, अकारा ऽकारा-ऽऽकारोकारमकाररूपाण्यनेकान्यक्षराणि ओङ्काराक्षररूपेण परिणमन्ते, एकाक्षरता वोपयान्ति ओंकारे इति एकाक्षरभाव ओङ्कारः, स एव प्रतिपादकत्वेन लिङ्ग—चिह्न यस्य स एकाक्षरभावलिङ्गः, तम्, 'अर्हन्, सिद्ध·, आचार्य., उपाध्यायः, मुनिः' इति पञ्च परमेष्ठिन., पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् तत्राद्यस्यादिगतोऽकारो वाचक· द्वितीयस्याशरीरिणः सिद्धस्यादिगतोऽकारो वाचक., तृतीयस्यादित आकारो वाचक, चतुर्थस्यादिगत उकारो वाचक., पञ्चमस्यादिगतो मकारो वाचक., 'अ+अ+आ+उ+म्' इति पञ्चानां मेलनेन निष्पन्ने ओङ्कारे पञ्चपरमेष्ठिवाचकत्वम्, तथा च पञ्चपरमेष्ठिवाचकोङ्कारप्रतिपाद्यत्व पञ्चपरमेष्ठ्यन्तर्गतस्य परमात्मनो जिनवर्धमानस्य सुतरां घटते, अथवा एकाक्षरम्—ओङ्कारस्वरूप यस्य भावस्वरूपप्रतिपादकत्वेन

घटते; अथवा एकाक्षरम्–ओङ्कारस्वरूप यस्य भावस्वरूपप्रतिपादकत्वेन भावलिङ्गं स एकाक्षरभावलिङ्गः, तम् , जिनवर्धमानो हि नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन चतुर्धा, तत्र यस्य कस्यचित् जिनवर्धमान इति नाम क्रियते स नामजिनवर्धमान , जिनवर्धमानस्य प्रतिकृतिः सद्भूताऽसद्भूता या स्थाप्यते सा स्थापनाजिनवर्धमानः, योऽसौ जीवो जिनवर्धमानस्वरूपेणोत्तरकालं परिणमिष्यति स द्रव्यजिनवर्धमानः, यश्च जिनवर्धमानो घातिज्ञानावरणीयादिकर्मचतुष्टयं सर्वथोन्मूल्याऽघातिकर्मचतुष्टयमुपभोगेन क्षपयितुं तीर्थादिक्रियां कुर्वन्नास्ते स भावजिनवर्धमानः, तस्य प्रतिपादक ओङ्कार इति, एतेनाकारोकार-मकारा रजोगुणादियुक्ताना ब्रह्म-विष्णु-रुद्राणा प्रतिपादकाः, तत्सङ्घटितमूर्तिश्चोङ्कारस्तुरीयस्य निर्गुणस्य सदाशिवस्य प्रतिपादकः, तं सदाशिव शैवा ईश्वरबुद्ध्योपासते, निर्विशेषितलिङ्गस्वरूपतया च लोके प्रसिद्धत्वान्महादेवस्तथाभूत एव पूज्यते, अतो जिनवर्धमानोऽपि विशिष्टलिङ्गस्वरूपतयोपवर्णितो विशिष्टस्य शुद्धेन सह कथञ्चिदभेदाच्छुद्धलिङ्गस्वरूपोऽपीति शैवानामप्युपास्य इति व्यज्यते ।

पुनः कीदृशम् ' **अव्यक्तम्** असमदादिप्रत्यक्षागोचरम् , तेन स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-सर्वज्ञप्रत्यक्षविषयत्वेऽपि न क्षति , अस्मदादिप्रत्यक्षाविषयत्वस्य परमाण्वादिसाधारणत्वेऽपि स्वयम्भूत्वादिगुणसहकृतस्य तस्योपास्यत्वप्रयोजकोत्कर्षविशेषाधायकत्व सम्भवति, असमदादिप्रत्यक्षागोचरगुणविशेषत्व वाऽव्यक्तत्वम्, तस्य च परमाण्वाद्यगतत्वेनोत्कर्षविशेषाधायकत्वं सम्भवति' यथा परमाण्वादीनामस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वेऽपि धर्मा-ऽधर्मयोरेवादृष्टत्वं तथेदमपि जिनवर्धमानस्यैवेति, प्राकृतिकवैकृतिकादिबन्धेषु येऽव्यक्तं प्रधानमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्ध इति साङ्ख्या आमनन्ति, अव्यक्त–प्रधानमीश्वरबुद्ध्या चिन्तयता दशमन्वन्तरसमयं यावद् विगतज्वरत्वेनावस्थानम्,

"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।
बौद्धा दश सहस्राणि सहस्र त्वाभिमानिकाः ॥ ७ ॥" [ ]

इति वचनात् , बुद्ध्यहङ्कारादयः प्रकृतेर्व्यक्तीभवन्ति–आविर्भवन्तीति व्यक्तशब्दप्रतिपाद्या', प्रकृतिस्तु मूलकारण न कुतश्चित प्रादुर्भवतीत्यव्यक्तशब्दप्रतिपाद्या

तदुपासकानां प्राकृतिको बन्धो भवति, अव्ययं जिनवर्धमानमुपासतां पुनर्मुक्ति-रेवाचिरेण सम्पद्यत इति तमेवाश्रयन्तु अव्ययतचिन्तका इति व्यज्यते ।

पुन: कीदृशम् ? **अव्याहतविश्वलोकमिति**–न व्याहन्यते–आवरणेन विच्छिद्यत इति अव्याहतः, विश्वलोकः–समग्रलोकः, निखिलपदार्थ इति यावत्, अव्याहतो विश्वलोको यस्य सोऽव्याहतविश्वलोकस्तमव्याहतविश्वलोकम् , कर्मा-वरणरहितत्वेन सकलपदार्थज्ञम् ; अथवा शरीरसम्बन्धलक्षणोर्ध्वगमनस्वभाव-व्याघातकाभावाद् अव्याहतः–अप्रतिबद्धोर्ध्वगमनस्वभावोऽस्यभूतः, विश्वलोकः–सम्पूर्णधर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायावच्छिन्नाकाशो यस्य सोऽव्याहतविश्वलोकस्तम-व्याहतविश्वलोकम्, मुक्तिधामोपगतमित्यर्थः, सर्वज्ञतया मुक्ततया वा ये ईश्वर-मुपासते तेषामप्ययमुपास्य इति व्यज्यते ।

पुन. किम्भूतम् ? **अनादिमध्यान्तम्** आदिश्च मध्यं चान्तश्च आदि-मध्यान्ताः, न विद्यन्ते आदि-मध्या-ऽन्ता यस्य सोऽनादिमध्यान्तस्तम्, द्रव्यार्थिक-नयेनेदम् , जिनवर्धमानस्य परमात्मन उपयोगस्वरूपेण सर्वदावस्थायिनोऽनादि-मध्यान्तत्वं घटते, यो हि उत्पद्यते विनश्यति च तस्य य उत्पत्तिकालः स आदि , यश्च स्थितिकालः स मध्यमः, यश्च विनाशकालः सोऽन्त इति, सर्वदा-ऽवस्थितिकालश्च नादि-मध्यान्तकालो भवतीति, मूल-स्कन्ध-शाखा-प्रशाखादिस्वरूपे-णावस्थितस्य वृक्षादेरवयविनो देशत आदिमध्यान्तव्यवस्था भवति, यतो मूलं तस्यादिः स्कन्धो मध्यं, शाखा-प्रशाखादिक चान्त इति, निरवयवस्य त्वखण्डस्य परमात्मनो न देशतोऽपि तद्व्यवस्थेति भवति तथावैलक्षण्यमुत्कर्षाधायकम् . अनेन चानादि-मध्या-ऽन्त निर्गुणं ब्रह्मोपासतां वेदान्तिनामप्युपास्यत्वमस्येति व्यज्यते ।

पुन. किम्भूतम् ? **अपुण्यपापं** पुण्यं च पापं च पुण्य-पापे, न विद्यते पुण्य-पापे यस्य सोऽपुण्यपापस्तम्, पुण्य-पापरहितमित्यर्थ., पुण्यपापरहितस्य घट-पटादिजडपदार्थगतस्य नोपास्यत्वप्रयोजकत्वमत· पुण्य-पापरहितात्मत्वमनेन विव-क्षितमिति बोध्यम् । तृतीयपादस्य "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ ज-गौ ग:" इति लक्षणलक्षितत्वादिन्द्रवज्रात्वम् , प्रथम-द्वितीय-चतुर्थपादाना तु "उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा" इति लक्षणलक्षितत्वादुपेन्द्रवज्रात्वम्, उभयमिलनेन निष्पन्न-त्वादुपजातिवृत्तमिदम् ॥ १ ॥

पुनः किम्भूतम् ? **समन्तसर्वाक्षगुणं** समन्तात्–सर्वप्रकारतः, सर्वेषाम्, अक्षाणाम्–आत्मनाम्, गुणाः–ज्ञानादयो यत्र स समन्तसर्वाक्षगुणस्तम्. यद्यपि यस्य कस्याप्येकस्यात्मन एकोऽपि गुण एकेनापि प्रकारेण कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणाविष्वग्भावसम्बन्धेन नान्यात्मनि वर्त्तत इति सर्वप्रकारेण सर्वात्मसम्बन्धिगुणवत्त्वलक्षणसमन्तसर्वाक्षगुणत्व जिनवर्धमानस्य न सम्भवति तथापि मतिज्ञानादयो ज्ञानादिभेदा नात्मनो गुणाः "सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्यायाः" [ ] इति सूत्रवलात् सहभाविन एव गुणत्वेन क्रमभाविनां मतिज्ञानादीना गुणत्वाभावात्, किन्तु निर्विशेषिता ज्ञानादय एव गुणाः, जैनमते स्वतोऽनुवृत्तिस्वभावा ज्ञानादय एव सामान्यमिति तद्रूपेण सर्वेषामात्मना गुणा जिनवर्धमाने वर्तन्त इति ज्ञानादीनां सहभावित्वनिवन्धना ये च प्रकारास्तैः सर्वैरपि कर्मावरणविगमदशायां जिने ज्ञानादय. सन्ति, ते च प्रकाराः सर्वविषयावभासनादय एव न तु मतिज्ञानत्वादय इति; यदि च सामान्यरूपेणान्यात्मगुणानां तत्र सद्भावेऽपि विशेषरूपेण स्वतोव्यावृत्तिलक्षणेन न सद्भावः, सोऽपि च गुणेषु सर्वदाऽवतिष्ठमानः सहभावित्वनिबन्धन एवेति विभाव्यते तदा सर्वात्मवृत्तिगुणवृत्तिसामान्याश्रयगुणानां सर्वप्रकारेण सहभावित्वप्रयोजकेनाधारत्वमेव समन्तसर्वाक्षगुणत्वम्, तच्च जिने समस्तीति; अथवा समन्ततः सर्वेऽक्षगुणा यस्य स समन्तसर्वाक्षगुणस्तम्, तथा च जिनवर्धमानस्यैवात्मन. सर्वे ज्ञानादयो गुणा अनावृताः सन्तः समन्ताज्जिनवर्धमाने वर्त्तन्त इति समन्तसर्वाक्षगुणत्वमुपपन्नम्, अस्मदाद्यात्मना सर्वाक्षगुणा आवृतत्वान्न समन्तत इति भवत्येतदुत्कृष्टत्वनिमित्तत्वादुपास्यत्वप्रयोजकमिति ।

पुनः कीदृशम् ? **निरक्षमि**ति–इन्द्रियवाचकमक्षपदमत्राक्षव्यापारपरम्, तथा चाक्षव्यापाररहितमित्यर्थः, तेन ससारे विहरमाणस्य जिनवर्धमानस्य चक्षुरादीन्द्रियसद्भावेऽपि न क्षतिः, तदानीं सर्वेन्द्रियविषयाणा रूप-रसादीना केवलालोकेनैवालोक्यतस्तस्य प्रयोजनाभावेन चक्षुरादीन्द्रियव्यापाराभावात् मुक्तौ तु निरक्षत्वमिन्द्रियरहितत्वमेव, अनन्तराभिहितधर्मसम्वलितस्य तस्योत्कर्षप्रयोजकत्वम्, अन्यथेन्द्रियव्यापाररहितत्वस्येन्द्रियरहितत्वस्य वा घट-पटादिजडसाधारणस्योत्कर्षानाधायकत्वेनोपास्यत्वप्रयोजकत्वं न भवेत्, सर्वाक्षगुणस्य निरक्षत्वमापा-

ततो विरुद्धमाभासते, विरोधपरिहारश्चाक्षरशब्दस्यात्मपरत्वेनेन्द्रियपरत्वेन च भवत्येवेति विरोधाभासालङ्कारोऽत्र, "आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते" [ ] इति वचनात्; अथवा रक्ष्यत इति रक्षः, नितराम्—अतिशयेन रक्षो निरक्षस्तम्, यो हि यादृग्स्वभावे वर्त्तते तस्योत्तरकाल तत्स्वभावावस्थानं तत्स्वभावाप्रच्युत्या यद् भवति तद् रक्षेति निगद्यते, जिनवर्धमानो जिनवर्धमानस्वभावो यदा जातस्तदारभ्योत्तरकालमखिलमपि स स्वभावस्तत्र वर्त्तत इति तत्स्वभावस्याप्रच्युत्याऽवस्थानलक्षणा रक्षा नितरा समस्ति, अन्यप्रयुक्ता तु रक्षा प्रयोजकस्यान्यस्यापगमे विनश्यतीति न सा नितरा रक्षा, जिनवर्धमानस्तु स्वकारणादविचलिततथास्वभाव एव जातो न तस्य स्वभावस्यापगमाशङ्काऽपि स्वस्वरूपाभिन्नत्वादिति निरक्षत्वमुपपद्यते जिनवर्धमानस्य, उक्तस्वरूप च निरक्षत्वं न घट-पटादिसाधारणमिति भवत्युपास्यत्वप्रयोजकम् ।

पुन· कीदृशम् ? **स्वयम्प्रभं** स्वयम्—आत्मनैव प्रकर्षेण भातीति स्वयम्प्रभस्तम्, एवकारोपादानात् स्वभाने दीपान्तरादिप्रकाशनिरपेक्षस्यापि प्रदीपादेः स्वातिरिक्तचक्षुरादीन्द्रियप्रमात्रादेरपेक्षणान्न स्वयम्प्रभात्वम्, अस्मदाद्यात्मनामपि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थावता स्वात्मनैव भातत्वेऽपि न प्रकर्षेणानावृतस्वरूपेण भातत्वमिति भवत्येतज्जिनवर्धमानस्योत्कर्षाधायकमिति ।

तत् किं स्वकीयज्ञानलक्षणप्रभया स्वस्वरूपमेवावभासयति ? उत पदार्थान्तरमप्यवभासयतीत्याकाङ्क्षायामाह—**सर्वगतावभासमिति**- सर्वगत —सर्वपदार्थवृत्ति, अवभास·—निरावरणज्ञानविषयता यस्य स सर्वगतावभासस्तम्, निरावरणेत्युपादानान्नास्मदाद्यात्मना सर्वगतावभासत्वप्रसङ्ग·, अस्मदाद्यात्मनामप्युपयोगलक्षणत्वेनोपयोगस्य सर्वस्य सर्वविषयकत्व स्वभावत एव, किन्तु कर्मावरणाच्छादितज्ञानविषयत्वेनावभासव्यवहारो न भवति, नवा सर्वविषयकावृतज्ञानवत्त्वेऽपि सर्वज्ञत्वव्यवहार·, क्षायौपशमिकमत्यादिज्ञानविषयत्वेन घटोऽवभासत इति व्यवहारो यद्यपि भवति तथापि सर्वथा घटोऽवभासत इति न भवत्येव, एव च सर्वप्रकारेण सर्वपदार्थवृत्तिविषयतानिरूपकनिरावरणज्ञानवत्त्व सर्वगतावभासत्वं जिनवर्धमानस्योपास्यत्वप्रयोजकप्रकृष्टत्वगमकमुपपन्नम्; निरावरणस्यापि ज्ञानस्य नियमितपदार्थविषयकत्वमेव न सर्वविषयकत्वमिति न शङ्कनीयम् ।

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबाधरि ? ।
सत्येव दाह्ये नह्यग्निः क्वचिद् दृष्टो न दाहकः ॥८॥" [ ]

इति वचनात्, यथा दाहकस्वभावस्य वह्नेर्दाह्यस्वभावतृणादिसन्निधाने दाहप्रतिबन्धकमण्याद्यसमवधाने च दाहकत्वमेव स्वसम्बद्धतृणादीना नादाहकत्वम्, तथा जानातीति ज्ञः, तत्स्वभाव आत्मा, ज्ञायते-ज्ञानविषयो भवतीति ज्ञेयः, तस्मिन् पदार्थे, यत्र कुत्रापि देशे यदा कदापि काले वर्तमाने सति, अवभासप्रतिबन्धककर्मावरणविगमे च कथम् ?-न कथञ्चित्, ज्ञेयस्वभावपदार्थमात्रविषयकज्ञानरहितो भवेदित्युक्तवचनार्थः, ज्ञानस्य सर्वविषयत्वस्वभावत्वेऽपि निश्शेषत आवरणकर्मक्षयासंभवात् प्रतिबन्धके विद्यमाने सर्वविषयावभासनं न सम्भवतीति न शङ्कनीयम्, 'यदुत्कर्षे यदपकर्षस्तदतिशयितोत्कर्षगमने तदत्यन्तापकर्षः' इति व्याप्तेर्वह्नेरुत्कर्षातिशये जलस्यात्यन्तापकर्षदर्शनाज्ज्ञानोत्कर्षे दोषावरणापकर्षस्य दर्शनेन ज्ञानात्यन्तोत्कर्षे पुरुषविशेषे दोषावरणात्यन्तापकर्षस्य संभवात्, तदुक्तम्—

"दोषाऽऽवरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात् ।
यथा क्वचित् स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ॥ ९ ॥" [ ]

अत्र दोषाऽऽवरणहानितरतमभावः क्वचिद् विश्रान्तः, तरतमभावत्वात्, यो यस्तरतमभाव स क्वचिद् विश्रान्तः, यथाऽणुपरिमाणतरतमभाव परमाणौ महत्परिमाणतरतमभावो गगनादौ वा, तरतमभावश्च ज्ञाने दोषा-ऽऽवरणहानौ चेति, तस्मादस्ति तर-तमभावविश्रान्त्याश्रयो दोषावरणहानिर्ज्ञानातिशयश्चेति यस्तरतमभावविश्रान्त्याश्रयदोषावरणहानिमान् तथाभूतज्ञानवाँश्च स सर्वगतावभासस्तम्, सर्वज्ञनिराकरणपरमीमांसकमतखण्डनं विस्तरतः सम्मतितर्कादाविति ।

पुन कीदृशम् ? **अतीतसंख्यानम्** अतीतम्-अतिक्रान्त, सङ्ख्यानं-गणितशास्त्र ज्योतिश्शास्त्रं च येन सोऽतीतसङ्ख्यानस्तम्, अमुकतिथि-नक्षत्र-करणयोगाद्याकलितमुहूर्ते जातः पुमानीदृशगुणसम्पन्नो भवतीत्यावेदकं ज्योतिश्शास्त्रं यस्मिन् पुरुषधौरेये जिनवर्धमाने वचनातिक्रान्तानल्पगुणविशेषशालित्वेनावगमयितुं न प्रगल्भते, वचनविशेषसन्दर्भमयस्य ज्योतिःशास्त्रस्यानभिधेयगुणप्रतिपाद-

नासामर्थ्यादिति युज्यतेऽतीतसख्यानत्वम्; अथवा "हरः प्रसङ्ख्यानपरो बभूव" [कु० स० स० ३] इत्यत्र प्रोपसर्गपूर्वकसख्यानशब्दस्य योगविशेषात्मकध्यान· वाचकत्वेन सख्यानशब्दोऽपि ज्ञानगर्भयोगवाचक इति अतीत-स्वकर्तव्यबहिर्भूतं निरुक्तलक्षणं सख्यान यस्य कृतकृत्यस्य भगवतः सोऽतीतसख्यानस्तम्; अथवा-ऽतीतम्-उल्लङ्घित सङ्ख्यान-निरुक्तयोगात्मक येन सोऽतीतसङ्ख्यानस्तम्, सर्व-प्रकारेण योगिनोऽपि ध्यानाविषयत्वं भवत्युत्कर्षाधायकम् ।

पुनः कीदृशम् ? **अनन्तकल्पम्** अनन्तस्य-विष्णोः, कल्प-सदृशम्; अथवा अनन्तः-अनन्तसङ्ख्यकः, कल्पः-तत्तद्धर्मप्रतिपादक· पक्षो यत्र सोऽनन्त-कल्पस्तम्, शैवानामयं शिव इति, वैष्णवानामयं विष्णुरिति, पौराणिकानामयं पितामह इति, बौद्धानामयं बुद्ध इति, मीमासकानामिद कर्मेति, नैयायिकानामयं जगतः कर्त्तेति, जैनानामयमर्हन्नित्येवमनन्तसख्यकपक्षविषयत्वमनन्तकल्पत्वमुपा-सनाभेदनिबन्धनं युज्यत इति, अथवा ब्रह्मणो यावत्सृष्ट्यधिकरणकाल कल्प इति परैः परिभाषित., सोऽनन्तो यस्य सोऽनन्तकल्पस्तम्, अनन्तकल्पावच्छि-न्नस्थायित्वमनन्तकल्पत्वप्रयोजकं युज्यत इति ।

पुन· कीदृशम् ? **अचिन्त्यमाहात्म्यम्** अचिन्त्यम्-इदमित्थमस्येत्येवं चिन्तयितुं विचारयितुमशक्य माहात्म्यं यस्य सोऽचिन्त्यमाहात्म्यस्तम्, देवागम-नभोयानचामरादिविभूतीना साक्षात् तद्विहरणसमये प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाना-मन्यदा चागमगम्यानां सद्भावेऽपि चिन्तनं विशेषानाकलनतोऽशक्यमेवेति भाव· ।

पुन कीदृशम् ? **अलोकलोकम्** अलोकं-धर्माधर्मास्तिकायानवच्छिन्ना-काशं, लोकयति-प्रकाशयतीत्यलोकलोकस्तम्; अथवा लोकैः-रथ्यापुरुषसाधारण-जनै., लोक्यते-प्रत्यक्षविषयीक्रियत इति लोकलोक·, न लोकलोकोऽलोकलोकः— अस्मदादिप्रत्यक्षागोचरस्तम्, यद्वा लोक-प्रत्यक्षप्रमाणमात्रगम्यं, लोकयति-पश्य-तीति लोकलोकश्चार्वाकः स्वर्गा-ऽपवर्गाद्यपलापी, एवं-भूतो यो न भवति सोऽलोक-लोक -स्वर्गापवर्गाद्यखिलप्रत्यक्षाविषयाभ्युपगन्ता, तम्; अथवा अलोक-अस्म-दादिप्रत्यक्षाविषयं, लोकयति-साक्षात्करोतीत्यलोकलोकस्तम्; अथवा, अलोक-लोकौ-धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकायानवच्छिन्नाकाश-तद्भिन्नाकाशावस्य स्त इत्य-

लोकलोकः, अर्शआदित्वादच् प्रत्ययः, तम्, अलोक-लोकसम्बन्धित्वं चास्य तद्विषयकप्रत्यक्षवत्त्वेन । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ २ ॥

पुनः किम्भूतम् ? **कुहेतु-तर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादं** कुत्सितौ यौ हेतु-तर्कौ, हेतोः साध्याविनाभाव-पक्षधर्मतोभयशून्यत्वं कुत्सितत्वम्, यत्र पक्षधर्मता विद्यते साध्याविनाभावश्च नास्ति तत्र साध्याविनाभावराहित्यप्रयोज्यं निरुक्तोभयशून्यत्वम्, यत्र साध्याविनाभावो विद्यते पक्षधर्मता च नास्ति तत्र पक्षधर्मताराहित्यप्रयोज्य निरुक्तोभयशून्यत्वम्, तर्कस्य–जैनमते साध्यहेत्वविनाभावग्राहकोहाख्यप्रमाणरूपस्य सर्वोपसहारेण शब्दा-ऽर्थयोर्वाच्यवाचकभावसम्बन्धग्राहकस्य वा, साध्याविनाभावविरहिणि साध्याविनाभावग्राहित्व, तदवाचके शब्दे तदर्थवाचकत्वग्राहकत्व, तदवाच्येऽर्थे तच्छब्दवाच्यत्वग्राहकत्वं वा कुत्सितत्वम्, न्यायमते व्यभिचारशङ्कानिवर्तकत्वेन व्याप्तिग्रहोपयोगी तर्को व्यापकाभाववत्तया निर्णीते धर्मिणि व्याप्यारोपेण व्यापकारोपलक्षणः, यथा क्वचिद् वह्निविरहवत्यपि धूमो भविष्यतीति व्यभिचारशङ्कानिवर्तको धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यादिति, तस्य कुत्सितत्वमिष्टापादनरूपत्वमापाद्या-ऽऽपादकयोर्व्याप्त्यभावश्च, विपयपरिशोधकश्च तर्क आत्माश्रया-ऽन्योन्याश्रय चक्रका-ऽनवस्था-लाघव-गौरवादिस्तेषामपि कुत्सितत्वमिष्टापादनादिरूपत्वम्, ताभ्यां कुहेतु-तर्काभ्यामुपरतः कुहेतुतर्कोपदर्शनरहित इति यावत्, प्रपञ्चस्य–जगतो यः सद्भावः–वास्तविकसत्त्वं तेन, शुद्धः–विषयाशुद्धिरहितः, अप्रतिवादः–न विद्यते प्रतिघातको वादः–राद्धान्तो यस्य सोऽप्रतिवादः, कुहेतुतर्कोपरतः प्रपञ्चसद्भावशुद्धश्चाप्रतिवादो वादो यस्य स कुहेतु-तर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादः, तम्, वादश्च स्याद्वादसिद्धान्तो तत्र न कुहेतु–तर्कोपदर्शनम्, यश्च प्रपञ्चस्य–जगतः सद्भावावेदकत्वाच्छुद्धः, यद्विषयबाधको नापरो राद्धान्त इति ।

पुनः कीदृशम् ? **सच्छासनवर्धमानं** सत्–प्रमाणाबाध्यार्थप्रतिपादकत्वात् समीचीनम्, सतां–वा पदार्थानाम्, शास्यते–प्रतिपाद्यतेऽनेनेति शासनम्, समीचीनः–सत्पदार्थप्रदर्शको वाऽऽगमः, तेन वर्द्धमानः–तीर्थान्तरप्रणेत्रपेक्षया वृद्धिमुपगच्छस्तम् ।

पुनः कीदृशम् ? **यतीन्द्रं** यमनियमादिवतां यतीनां—मुनीनाम्, इन्द्रः—राजा तम्, एवम्भूत **जिनवर्धमानं** जिनश्चासौ वर्धमानश्च जिनवर्धमानस्तम्, राग-द्वेषादिभावशत्रुजेतृत्वाज्जिनः, अव-समन्तात्, ऋद्धं परमातिशयप्राप्तम्, मान—केवलज्ञान यस्यासौ वर्धमान., "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाऽप्योरुपसर्गयोः" इति वचनादकारलोपाद् वर्धमान इति, अनेन जिनसमुदयो विशेष्यतयोपादातुं शक्यते, स्वयभुवमित्यादीनि विशेषणानि सर्वाण्यपि जिनमात्रसङ्गतानि, किन्तु सन्निहितोपकारकत्वाद् वर्धमानसञ्ज्ञायाश्चरमतीर्थङ्करे ज्ञातनामकक्षत्रियविशेषावतंसेक्ष्वाकुवंशीयसिद्धार्थनरेन्द्रपुत्रे तद्गृहदीपे रूढत्वाच्चरमतीर्थङ्करवर्धमान एव 'जिनवर्धमान' इत्यनेन ग्राह्यः; "सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीप" [११] इत्येवं तत्त्वार्थकारिकायामसौ निर्दिष्ट., तत्र "वर्धते हीदं कोशाद्यभिवृद्धया वर्धमान इत्यतो दीप." इत्यनेन टीकावचनेन एतज्जन्मकालाद्यारभ्य कोशाद्यभिवृद्धिरिति वर्धमानसंज्ञाप्रवृत्तिरिति तं जिनवर्धमानम्, **प्रणम्य** स्वावधिकोत्कृष्टत्वप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारलक्षणं प्रणामं कृत्वा, तमेव **स्तोष्ये** तद्वृत्तिगुणातिशयप्रकटनलक्षण. स्तुतिविषयकभविष्यत्कृतिवानह सिद्धसेनदिवाकर इत्यर्थः । प्रथम-तृतीयपादयोरुपेन्द्रवज्रात्व, द्वितीय—चतुर्थपादयोरिन्द्रवज्रात्वमित्युभयमेलनादुपजातिवृत्तमिदमिति ॥ ३ ॥

स्तुतिकारो वर्धमानस्तुतिकरणप्रवृत्तौ हेत्वन्तरनिषेधपुरस्सरमसाधारणहेतुमुपदर्शयति—

न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया
न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे
गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥४॥ [वंशस्थविलम]

न काव्यशक्तेरिति—अस्य 'नूयसे' इत्यनेनान्वयः,

"शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ १० ॥" [काव्यप्रकाशे १, ३]

इति वचनात् काव्योत्पत्तौ शक्ति-निपुणता-ऽभ्यासानां त्रयाणां समुदितानामेव हेतुत्वं, न त्वेकैकस्येति काव्यशक्तेरित्यनेन काव्यशक्ति-काव्यनिपुणता-काव्याभ्यासेभ्य इति गृह्यते, काव्यशक्त्यादिकं मयि वर्त्तते, अतस्तदुपयोगो यत्र कुत्रापि विषये मया प्रकटनीय इत्यभिसन्धिमता मया काव्यशक्त्यादिबलात् हे भगवन् ! त्वं न **नूयसे** स्तूयसे इत्यर्थः । **न परस्परेर्ष्यया नूयसे** मत्सदृशो मत्तो न्यूनो वा भगवन्तं स्तौति, कथमहं न स्तवीमि तत्सदृशस्ततो वाऽधिकप्रतिभादिगुणशाल्येवमन्योऽन्येर्ष्यया मया न स्तूयसे, यथा काव्यशक्तितः स्तुतौ न यथास्थितस्तत्व्यगुणख्यापनं तथेर्ष्योद्भावितस्तुतावपीत्यर्थ. । **न वीरकीर्त्तिप्रतिबोधनेच्छया** तीर्थान्तरीयं प्रति वीरस्य-अपश्चिमतीर्थकृतो भगवतो या त्रिभुवनव्यापिनी कीर्त्तिस्तस्या यत् प्रतिबोधन-सम्यगवगमनं, तदिच्छया-तत्कामनया न स्तूयसे, **वीर !** इति सम्बोधनं वा, तत्र तवेति दृश्यम् , अथवा स्वस्य काव्यकरणकुशलताविषयकलोकव्यापिप्रख्यातिविषयकबोधेच्छयेत्यर्थः, एतत्स्तुतिमन्तरेणापि त्रिभुवनव्यापिन्या भगवतः कीर्त्तेरवगतिरस्त्येव जनानामिति तदिच्छया स्तुतिर्नानन्दनाय विदुषामित्याशयः । **न केवलं श्रद्धतयैव नूयसे** अनया स्तुत्या भगवद्गुणातिशयावगतिर्भवतु वा मा वा, केवलं-किन्तु भगद्विषयिणी भक्तिः-श्रद्धा समस्ति, तद्वत्तया स्तूयसे, स्वश्रद्धाप्रकटनफलिकेयं भवत्स्तुतिरस्माकमित्यपि नेति यावत्, एतादृशी स्तुतिर्गुणातिशयविकलस्यापि श्रद्धान्धपुरुषकृताऽज्ञानविजृम्भितेति नोपादेया विदुषामित्याकूतम् । **यतः** यस्मात्, **गुणज्ञपूज्योऽसि** गुणज्ञानां सुरेन्द्रादीनामर्चनीयस्त्वमसि, गुणज्ञा गुणातिशयवत्तया भवन्तं ज्ञात्वैव भवन्तं पूजयन्ति, यदि भवान् गुणातिशयवान्न स्यान्न गुणज्ञा भवन्तं पूजयेयुरिति गुणातिशयवति त्वयि, **अयं** स्तुतिविषयकः, **आदरः** प्रयत्नो ममेत्यर्थः । "वदन्ति वंशस्थविलं ज-तौ ज-रौ" इति लक्षणलक्षितत्वाद् वंशस्थविलवृत्तमिदम्, एवमग्रेऽपि ॥ ४ ॥

भगवत्स्तुतिविषयकप्रयत्नलक्षणादरस्यावश्यविधेयत्वमुपदर्शयति—

परस्पराक्षेपविलुप्तचेतसः

स्ववादपूर्वापरमूढनिश्चयान् ।

समीक्ष्य तत्त्वोत्पथिकान् कुवादिनः
कथं पुमान् स्याच्छिथिलादरस्त्वयि ? ॥५॥

परस्पराक्षेपेति । कुवादिनः समीक्ष्य पुमान् त्वयि शिथिलादरः कथं स्यादित्यन्वयः, **कुवादिनः** कुत्सितैकान्तवादप्रचारोद्यतान् परवादिनः, **समीक्ष्य** सम्यग् ज्ञात्वा, **पुमान्** प्रमाता पुरुषः, **त्वयि** स्याद्वादराद्धान्तोपदर्शके जिने, **शिथिलादरः** गुणस्तुत्यादौ शिथिलप्रयत्नः, **कथं स्यात्** ? न कथञ्चित् स्यात् , सततं त्वद्गुणगानादिप्रयत्नवानेव भवेदित्यर्थः । कीदृशान् कुवादिनः ? **परस्पराक्षेपविलुप्तचेतसः** अन्योऽन्यं प्रति य आक्षेपः—प्रश्नः, एकान्तनित्यवादिन एकान्तानित्यवादिनं प्रति, एकान्तानित्यवादिन एकान्तनित्यवादिनं प्रति प्रश्नः, तेन विलुप्तं—विशेषेण स्वपक्षस्थापनकुण्ठितम् , चेतः—अन्तःकरणं येषां ते परस्पराक्षेपविलुप्तचेतसस्तान् , परस्पराक्षेपव्यग्रचित्तत्वात् स्वपक्षस्थापनसामर्थ्यविकलचित्तानिति यावत् । अत एव **स्ववादपूर्वापरमूढनिश्चयान्** स्वस्य—निजस्य यो वादः—एकान्तनित्यत्वविषयक एकान्तानित्यत्वविषयको वा राद्धान्तः, तस्य यः पूर्वो भागः—पूर्वमुक्तिप्रकारः प्रश्नप्रतिविधानादिलक्षणः, यश्चापरो भागः—पूर्वोपदर्शितप्रकारोपपादनरूपस्तद्विलक्षणप्रकारोपदर्शनादिरूपो वा तयोर्मूढः—तदवधारणासमर्थः, निश्चयः—निर्णयो येषां ते तथा तान्, स्ववादे पूर्वमिदमुक्तमुत्तरत्र चेदमुक्तमिति पूर्वापरपरामर्शविकलतया स्वोक्तिविरुद्धभाषणतया स्वोक्त्यैव पराहतानिति यावत् । तथा **तत्त्वोत्पथिकान्** तत्त्वोन्मुक्तमार्गगामिनः, ईदृशानां कुवादिनामुपदेशतो दूरे तत्त्वार्थाधिगतिः, प्रत्युत सन्मार्गप्रच्यवादनन्तभवभ्रमणमेव भवेदतस्त्वय्येव निरन्तरादरः पुरुष इत्यर्थः ॥ ५ ॥

परैरेकान्तवादिभिरेकीभूय त्वद्वचसि उद्भाविता, दोषा अपि सद्विचारमुपनीता गुणा एवेति दर्शयति—

वदन्ति यानेव गुणान्धचेतसः
समेत्य दोषान् किल ते स्वविद्विषः ।
त एव विज्ञानपथागतः सतां
त्वदीयसूक्तप्रतिपत्तिहेतवः ॥६॥

वदन्तीति । गुणान्धचेतस. स्वविद्विष. किल समेत्य ते यानेव दोषान् वदन्ति त एव विज्ञानपथागता. सता त्वदीयसूक्तप्रतिपत्तिहेतव इत्यन्वयः । तव वचनगुणेऽन्धं–सर्वथाऽऽवृत चेतो–मनो येषा ते **गुणान्धचेतसः**, त्वद्वचनगुणज्ञानविकला इत्यर्थः । अत एव **स्वविद्विषः** स्वात्मानमेव विद्विषन्तः, जिनवचनमन्तरेण यथार्थात्मस्वरूपज्ञानासम्भवेनानात्मानमेवात्मानमवगच्छन्तस्ते आत्मान नरके पातयन्तीति भवन्ति स्वविद्विषः । **किलेति** सम्भावनायाम् । **ते** तव मते, अथवा **ते** एकान्तवादिनः । **समेत्य** एकीभूय । यानेव **दोषान्** विरोध-संकर–व्यतिकर–सशया–ऽनवस्थादीन् । **वदन्ति** कथयन्ति । **त एव** दोषाः, **विज्ञानपथागता** विचारमार्गोपनीता. सम्यग्विचारिताः सन्तः, **सतां** तत्त्वातत्त्वविवेककुशलानाम्, त्वदीयसूक्तस्य–त्वन्मुखाम्भोजनिर्गतस्याद्वादार्थानेकान्तस्य या प्रतिपत्तिः–ज्ञानं तस्य हेतवो भवन्ति अपेक्षाभेदेन विरोधादिदोषाणा परिहारोपपत्तेः, सर्वथाविरोधादेरभावात् कथञ्चिद्विरोधादेरिष्टत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

कृतार्थता त्वय्येव परिनिष्ठितेति [कृपास्वरूपं त्वयैव परिज्ञातमिति] तवैवान्योपरि कृपा श्लाघनीया नान्येषामित्याह—

कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु
स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं
स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ ७ ॥

कृपामिति । कृपणेषु जन्तुषु कृपा वहन्त· स्वमासदानेष्वपि मुक्तचेतसोऽमेधस·, त्वदीयं कृतार्थकौशलमप्राप्य स्वतः कृपा सञ्जनयन्तीत्यन्वय. । **अमेधसः** मेधारहिताः पुरुषाः सौगतादय., **कृपणेषु** अतिदरिद्रेषु कृपापात्रेषु **जन्तुषु** प्राणिषु, **कृपां** तद्रक्षणविषया दयाम् , **वहन्तो** धारयन्त·, **स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः** स्वमांसदानेनाप्येतद्रक्षण भवत्वित्येवचित्तव्यापाराः, हे वीर ! **त्वदीयं** त्वत्सम्बन्धि, **कृतार्थकौशलं** कृतार्थ–निष्पन्नप्रयोजन यत्

कौशल–चातुर्यम्, यद्वा **कृतार्थ** ! हे कृतकृत्य ! भगवन् ! **कौशलं** सकल-विषयक चातुर्यम्, यद्वा प्रकृते विशेषत उपयुक्त· 'कृपार्थकौशलं' इति पाठो यदि कल्प्येत तदा दयाशब्दार्थकरणचातुर्यमिति तदर्थ·, 'अनिष्टाननुबन्धिनी परदु.खप्रहाणेच्छा दया' इति दयाशब्दार्थ·, दयास्वरूपमिति भाव·, तत्र चातुर्यमिति, **अप्राप्य** अलब्ध्वा, **स्वतः** स्वस्मिन, **कृपाम्** अन्येषा दयाम्, **सञ्जनयन्ति** उत्पादयन्ति, तन्निमित्तकस्वमांसदानेन यथावत् तद्रक्षणं न जातमेव, केवल तत्र तस्य निमित्ततयाऽपायोत्पत्ति, स्वस्यापि च निषिद्धस्वमासदानाचरणजन्यप्रत्यवायोत्पत्तिश्चेति तादृशता पुरुषेष्वेव ज्ञानिनां कृपोपजायत इति, अत एव शिविनाम्नो राज्ञ —

"न कपोतकपोतक तव, स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा ।
इदमद्य मया समर्पित, भवते चारुतर कलेवरम् ॥११॥" [र· ग. आ. १]

इति वचनप्रतिपादित कपोतरक्षार्थं स्वहस्तधृतखड्गेनोत्कृत्य स्वशरीरमांसप्रदात्त श्येनपक्षिणे न समीचीनम्, इत्यावेदितम् ॥७॥

एवं स्वस्य येन केनचिदुपायेन काकतालीयन्यायेन क्लेशविनाशमनुभूय तदुपायेनैव सम्भाविताऽतिसुलभभावप्रभावितकरुणात्मकतद्गतक्लेशविनाशकत्वप्रतिपादकप्रमाणापेतवचनाडम्बरेण भवव्याधिविनाशकभवदीयवचनामृतौषधनिन्दापरायणो जन· स्वयमपि काम-क्रोधादिलक्षणभवगदपीडितो न शान्तिभाजनमिति भवद्भिन्नजनोपदेशं परित्यज्य भवदुपदेशमेव भवव्याधिविनाशाय श्रृण्वन्तु शान्त्यभिलाषुका इत्युपदिशति—

जनोऽयमन्यः करुणात्मकैरपि
स्वनिष्ठितक्लेशविनाशकाहलैः ।
विकुत्सयंस्त्वद्वचनामृतौषधं
न शान्तिमाप्नोति भवार्तिविक्लवः ॥ ८ ॥

जनोऽयमिति । अयमन्यो जनो भवार्तिविक्लवस्त्वद्वचनामृतौषधं करुणात्मकैरपि स्वनिष्ठितक्लेशविनाशकाहलैर्विकुत्सयन् न शान्तिमाप्नोतीत्यन्वय । **अयं**

रथ्यापुरुषवदितस्ततो दृश्यमानः, **अन्यः** केवलज्ञानाद्यतिशयविकलत्वाद् भवद्भिन्नः, **जनः** भवभ्रमणजन्यक्लेशादिप्रयोजनकजनिमान्, **भवार्तिविक्लवः** भवसम्बन्धिपीडापरिप्लुतचेताः, हे वीर ! त्वद्वचनरूप यत् परमानन्दमुक्त्युपायज्ञानादिसाधनत्वादमृतं तदेवौषधं भवव्याध्यपहारप्रत्यलम्, **करुणात्मकैरपि** 'अहो-मासोपवासादिवहुक्लेशजनकैरुपायैः क्लेशपरिहाणिमुपदर्शयन् जिनोऽकरुणः, भोजनादीनि कर्माणि कुर्वन्नेवाहमिव क्लेशविमुक्तो भविष्यति जनः, किमिति मुधा क्लिश्यते ?' इत्येव करुणात्मकैरपि, **स्वनिष्ठितक्लेशविनाशकाहलैः** स्वस्मिन् स्वस्य वा निष्ठा–श्रद्धामित –प्राप्तो यः क्लेशविनाशस्तस्य काहलैः–युक्तिरिक्तवचनोद्गारैः, **विकुत्सयन्** निन्दयन्, न शान्तिम्, **आप्नोति** प्राप्नोति, अत्रैव वा भवार्तिविक्लव इति हेतुः, यत इत्थ त्वद्वचनामृतौषध **विकुत्सयन्** असेवमानो भवार्तिविक्लवो भवतीति ॥८॥

अन्यतान्त्रिकप्रतारणया भवदुपदर्शितसन्मार्गप्रतिकूल गच्छन् जनो मनुष्यजन्मकार्याकरणादुत्तरभवेऽपि पूर्वभवीयसस्कारप्रावल्यतो जन्मकार्याकरणात् सुचिरजात एवेत्युपदिशति—

प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनैः
परप्रणेयाल्पमतिर्भवासनैः ।
त्वदीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः
कथं नु न स्यात् सुचिरं जनोऽजनः ? ॥९॥

प्रपञ्चितेति । परप्रणेयाल्पमतिर्जनो भवासनैः प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनैस्त्वदीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः सन् कथं नु सुचिरमजनो न स्यादित्यन्वयः । **परप्रणेयाल्पमतिः** परेण प्रणेया–नीयमाना, अल्पा–अल्पविषयिणी मतिर्यस्य स परप्रणेयाल्पमतिः, परावबोध्यमानमात्रविषयकबुद्धिरित्यर्थः । **जनः** पुरुषः । **भवासनैः** भवः–ससारः, आसन–सुदृढावस्थानास्पदं येषा ते भवासनास्तैः । **प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनैः**–प्रपञ्चितानि–स्वयंनिर्मितानि, यानि क्षुल्लकतर्कशासनानि–तर्कतयाऽऽपाततो भासमानतर्काभासप्रतिपादकशास्त्राणि, तैः–तद्द्वारेत्यर्थः । **त्व-**

दीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः–हे वीर ! त्वदुपदिष्टो यः समीचीनो मार्गः, तद्विलोमचेष्टित –तत्प्रतिकूलक्रियः, उन्मार्गगामीति यावत्, एवम्भूतो जनः, **नु** इति वितर्के, **सुचिरं** चिरकाल यावत्, **अजनः** सुजनभिन्नः, वस्तुतः स्वजनिकार्यासम्पादकत्वादजात एव, **कथं न स्यात्** ? अपि तु सुचिरमजात एवेत्यर्थः ॥९॥

अपराधरहितानप्यस्मान् स्याद्वादिनो जाल्मा एकान्तवादिनस्त्वत्प्रतिकूलवादित्वाद् दहन्तीति धिगेतानित्युपदिशति—

परस्परं क्षुद्रजनः प्रतीपगा-
निहैव दण्डेन युनक्ति वा नवा ।
निरागसस्त्वत्प्रतिकूलवादिनो
दहन्त्यमुत्रेह च जाल्मवादिनः ॥१०॥

परस्परमिति । क्षुद्रजनः परस्पर प्रतीपगान् इहैव दण्डेन युनक्ति वा, नवा युनक्ति, त्वत्प्रतिकूलवादिनो जाल्मवादिनो निरागस इहामुत्र च दहन्तीत्यन्वयः । **क्षुद्रजनः** क्षुद्रस्वभावो रथ्यापुरुषादिः, **परस्परं प्रतीपगान्** अन्योऽन्य स्वपक्षविरुद्धपक्षावलम्बिन, **इहैव** अस्मिन्नेव लोके, **दण्डेन** प्रतिघातकयष्ट्यादिना, **युनक्ति वा** सम्बन्धयति वा, **नवा युनक्ति** नवा दण्डेन सम्बन्धयति, चिरकालिकक्रोधादिदोषाविर्भावे तदुपशान्तये प्रतीपगानिहैव दण्डादिना घातयति, आविर्भूतस्याप्यचिरकालिकस्य क्रोधादे स्वयमेवोपशान्तौ न घातयत्यपीत्यर्थः । हे वीर ! **त्वत्प्रतिकूलवादिनः** त्वदभ्युपगतस्याद्वादविरुद्धैकान्तवादिनः, **जाल्मवादिनः** जाल्मा –मूर्खाश्च ते वादिनो जाल्मवादिन, **निरागसः** अपराधरहितान् भवच्छिष्यानस्मान्, **इह** अस्मिन् लोके, इहैव तावज्जिनवचननिन्दामुपश्रुत्य क्रोधाविष्टमानसा वयं दह्यामहे, जिनभक्ता वय परभवेऽपि जैना एव भविष्याम इति, **अमुत्र** परलोकेऽपि, दहन्ति ॥ १० ॥

सर्वं वस्त्वाविद्यकमेव अविद्याया द्वे शक्ती–आवरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिश्च, तत्र विक्षेपशक्तिर्नाम सर्जनशक्ति, यतः आकाशादिक्रमेण वस्तुन सृष्टिः, आवरणशक्तिर्द्विधा–असत्त्वापादिकाऽऽवरणशक्ति, सा च परोक्षज्ञानतो नश्यति, तन्नाशे

सति घटोऽस्ति वह्निरस्तीत्येवमस्तित्वेन वस्तुनः स्फुरणम्, अभानापादिकाऽऽवरणशक्तिश्च, सा च प्रत्यक्षज्ञानतो नश्यति. तन्नाशे सति घटो भाति वह्निर्भातीत्येव स्पष्टतया वस्तु प्रतिभासते, प्रत्यक्षस्थले विषयदेशेऽन्तःकरण गत्वा विषयाकारेण परिणमति, स एव वृत्तिरुच्यतेऽन्त.करणपरिणाम., तादृशवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य प्रमाणचैतन्यमिति गीयते, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य च प्रमातृचैतन्यम्, विषयावच्छिन्नचैतन्यं प्रमेयचैतन्यम्, उपाधीनामन्त'करणतद्वृत्तिविषयाणामेकदेशस्थत्वादुपधेयानामपि चैतन्यानामेकदेशस्थत्वम्, ततश्चाभेद इति चैतन्यत्रयाणामेकलोलीभावे प्रमेयचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्याभेद एव प्रत्यक्षत्वम्, प्रमातृचैतन्य-प्रमेयचैतन्ययोरैक्यात् प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभाव एव विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्, विषयस्य स्वावच्छिन्नचैतन्ये कल्पितत्वादधिष्ठानसत्तैव कल्पितस्य सत्तेति विषयावच्छिन्नचैतन्यसत्तैव विषयस्य सत्ता, विषयावच्छिन्नचैतन्य च प्रमातृचैतन्याभिन्नमिति प्रमातृसत्तैव प्रमेयस्य सत्तेति प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्तत्र सुव्यवस्थितः परोक्षस्थले चान्त करणस्य न बहिर्निर्गमनमिति न तत्र विषयाकारान्त करणवृत्ति किन्तु स्वदेशे विषयाकारा वृत्तिरिति वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमेयावच्छिन्नचैतन्याभेदाभावान्न ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, प्रमातृचैतन्यस्यापि विषयदेशस्थत्वाभावान्न प्रमेयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति विषयस्यापि प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वस्य भावेन न तदभावलक्षणप्रत्यक्षत्वमित्येतन्मतमुपहसति—

अविद्यया चेद् युगपद्विलक्षणं
क्षणादि कृत्स्नं न विलोक्यते जगत् ।
ध्रुवं भवद्वाक्यविलोमदुर्नयां-
श्चिरानुगांस्तानुपगूह्य शेरते ॥११॥

अविद्यया चेदिति । अत्रान्वयो यथाश्रुत एव । **अविद्यया** ब्रह्मनिष्ठया सत्त्व-रजस्तमोलक्षणया मायया, उत्पन्नमात्रतं च, यदि, **चेद् युगपत्** समकालम्, **विलक्षणं** परस्परभिन्नम्, **क्षणादि** क्षणस्थितिकादि, **कृत्स्नं** समग्रम्, **जगत्** विश्वम्, **न विलोक्यते** युगपदित्यस्यात्राप्यन्वयात् समकालं न प्रत्यक्ष-

विषयो भवति, किन्तु यदा यद्विषयावच्छेदेनावरणस्य प्रतिबन्धो विनाशो वा तदा स विषयो विलोक्यत इति, हे भगवन् ! **ध्रुवं** निश्चितम्, तदेति शेषः, **भवद्वाक्यविलोमदुर्नयान्** भवतः–महावीरस्य, यदनेकान्ततत्त्वप्ररूपकं स्याद्वाद-वाक्यं तद्विलोमा–तत्प्रतिकूलस्वभावा ये दुर्नया.–एकान्ताद्वैताद्यवगाहिनया-स्तान्, **चिरानुगान्** चिरकालात स्वानुसरणशीलान्. **तान्** एकान्ताद्वैतादि-वादिमततया प्रसिद्धान्, **उपगूह्य** समन्तादालिङ्ग्य, **शेरते** एकान्ताद्वैतादि-वादिनः शयनमनुभवन्ति, 'भवद्वाक्यविलोमदुर्नयाश्चिरानुगा तामुपगूह्य शेरते" इति पाठान्तरे तु भवद्वाक्याद् विलोमा दुर्नया येषां ते एकान्ताद्वैतादिवादिनः, **चिरानुगां** चिरकालात् सलग्नाम्, **ताम्** अद्वैतवादप्रसिद्धामविद्याम्, **उपगूह्य** आलिङ्ग्य, **शेरते** शयनमनुभवन्ति, आविद्यकमखिलं जगदिति मन्यमानो वादी यथेष्टमाचरन्ननन्तसमारो भवति न कदापि मुच्यत इति हृदयम् ॥ ११ ॥

नन्वेकान्तवादिनोऽपि निश्चिततत्त्वनिश्चया अन्ते स्याद्वादतत्त्वावगमनतो मुक्ता भविष्यन्तीत्यत आह—

समृद्धपत्रा अपि सच्छिखण्डिनो
यथा न गच्छन्ति गतं गुरुत्मतः ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा
न ते मतं यातुमलं प्रवादिनः ॥१२॥

समृद्धपत्रा अपीति । यथा सच्छिखण्डिन. समृद्धपत्रा अपि गरुत्मतो गतं न गच्छन्ति तथा प्रवादिनः सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्ते मतं यातु नाल-मित्यन्वय । **सच्छिखण्डिनः** समीचीना मयूरा., **समृद्धपत्रा अपि** परि-पूर्णपक्षा अपि, **गरुत्मतः** गरुडस्य, **गतं** गमनं, **यथा न गच्छन्ति** परि-पूर्णाङ्गा अपि गमनसामग्रीसम्पन्ना अपि मयूरा गरुडगमनसमानगमना यथा न भवन्तीत्यर्थः । **तथा** तद्वत् **प्रवादिनः** अद्वैताद्येकान्तवादिन., **सुनिश्चित-ज्ञेयविनिश्चयाः** सुष्ठु निश्चितः सुनिश्चितः, ज्ञेयस्य विनिश्चयो ज्ञेयविनि-श्चय., सुनिश्चितो ज्ञेयविनिश्चयो यैस्ते सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयाः परैर्यथा ज्ञेय-

विनिश्चयः कृतः तथा ज्ञेयस्य विनिश्चयो यथार्थो न भवति, परे त्वेवमभिमन्यन्ते–यथाऽस्माभिर्ज्ञेयविनिश्चयः कृतस्तथैव ज्ञेयविनिश्चयो नान्यथेत्येवं सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयाः, अपीत्यत्राप्यनुषङ्गेण योजनीयः, हे वीर ! **ते** तव, **मतं** सप्तसप्तनयसंयोजनाकलितस्याद्वादप्रमाणराजोपपादितमनेकान्ततत्त्वम्, **यातुं** ज्ञातुम्, 'य गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः' इति वचनात् ज्ञातुमिति वक्तव्ये यातुमिति यदुक्तं तद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तियोः सादृश्याधिगतये, **नालं** न समर्थाः ॥१२॥

न केवलं भक्त्यैव किन्तु पराविज्ञातार्थागमप्रवक्तृत्वेन सर्वज्ञतया परीक्षिते त्वयि प्रसादोदयाकाङ्क्षिणः स्याद्वादिनः स्थिता इति भवतः प्रसादादचिरेणैवावाप्तरत्नत्रया आसादयिष्यन्ति मुक्तिलक्ष्मीमित्याह–

य एष षड्जीवनिकायविस्तरः
परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमा-
स्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥

य एष इति । त्वया परैरनालीढपथो य एष षड्जीवनिकायविस्तर उदितः, अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमाः प्रसादोदयसोत्सवास्त्वयि स्थिता इत्यन्वयः । हे वीर ! **त्वया** केवलज्ञानशालिना, **परैः** एकान्तवादिभिः, **अनालीढपथः** अपरामृष्टमार्गः, **य एष** परीक्षकजनैः प्रत्यक्षीक्रियमाणः, अध्ययनाऽध्यापनाभ्यां प्रत्यक्षवद् व्यवह्रियमाण इति यावत्, **षड्जीवनिकायविस्तरः** उपयोगलक्षणो जीवः, स च संसारि-मुक्तभेदेन द्विविधः, तत्र–संसारी त्रस-स्थावरभेदेन द्विविधः । तत्र त्रसजीवः–तेजो-वायु-द्वीन्द्रियादिभेदेन त्रिविधः, त्रि-चतुरिन्द्रियादयो द्वीन्द्रियादित्वेन सङ्गृहीताः, स्थावरजीवोऽपि पृथिव्यम्बु वनस्पतिभेदेन त्रिविधः, यद्वा पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय–वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकायभेदेन षड्विधा जीवाः, अत्र त्रसपदेन द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां ग्रहणम्, तेजो-वाय्वोर्गतिमात्रतया त्रसत्वेनाविवक्षणात् पृथगुपादानम्, इत्यादिदिशा षण्णां जीवनिकायानां विस्तरः–अवान्तर-तदवान्तरभेदप्रपञ्चः, **उदितः**

कथितः, **अनेन** षड्जीवनिकायविस्तरकथनेन, **सर्वज्ञपरीक्षणक्षमाः** सर्वज्ञस्य परीक्षणे क्षमा. समर्था' प्रमातारः, ईदृशं षड्जीवनिकायविस्तरं सर्वज्ञ एव वक्तुं प्रगल्भ इत्येतद् वक्तृत्वाज्जिन एव सर्वज्ञो नान्य इत्येवं परीक्षाविदग्धा इति यावत्, **प्रसादोदयसोत्सवाः** भवतः प्रसादस्य—अनुग्रहस्य—य उदय आविर्भावस्तेन सोत्सवा इव—'प्रसन्नोऽस्मासु भगवान् येनास्माकं तत्त्वज्ञानार्थमीदृग शास-सुपदिष्टम्' इत्यानन्दतरङ्गिणीनिमग्नहृदया इव, **त्वयि** भगवति, **स्थिताः** भवन्तमेव ससारसागरोत्तारक वरिष्ठ मन्यमानाः सुव्यवस्थिता इत्यर्थ. ॥ १३ ॥

यस्यापि त्वयि सर्वज्ञविनिश्चयो नास्ति तस्याप्यन्यजनविलक्षणोऽयमिति बुद्धिर्भवति, तद्बुद्ध्या च तदर्चनीयतामासादयत्येव भवानित्याह—

वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं
परानुकम्पासफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञविनिश्चयस्त्वयि
द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥ १४ ॥

वपुरिति । यस्य त्वयि सर्वज्ञविनिश्चयो न स्वभावस्थमरक्तशोणित वपु. 'परानुकम्पासफल च भाषितमेतद्द्वयम, असौ न मानुष', करोतीत्यन्वय. । **यस्य** प्रमातु', हे वीर ! **त्वयि** केवलज्ञानवत्यपि षड्जीवनिकायविस्तरवक्तर्यपि, **सर्वज्ञविनिश्चयो न** अय सर्वज्ञ इति विशेषेण निश्चयो नास्ति, तस्या **स्वभावस्थं वपुः** स्वस्वभावे व्यवस्थित तव शरीरम्, एवं सत् **अरक्तशोणितं** रक्तशोणितरहितम्, अर्थात् क्षीरधवलशोणितसवलितम्, एतदनन्यजनसाधारणम् **परानुकम्पासफलं च भाषितं** पर प्रति याऽनुकम्पा तया सफल—फलवत् परानुकम्पाप्रत्यल च, तव **भाषितं** वचनम्, **एतद् द्वयं** इत्थम्भूतं शरीर-वचनद्वयम्, **असौ** वीरः, न मानुषः किन्तु देव इति बुद्धि करोति देवत्वाच्चार्चनीयोऽयमित्यपि बुद्धिस्तस्य जायत एवेति, वस्तुत. "न यस्य सर्वज्ञविनिश्चयस्त्वयि" इत्यस्य स्थाने "न यस्य सर्वज्ञविनिश्चयं त्वयि" इति पाठो युक्त स्वभावस्थमरक्तशोणित वपु. परानुकम्पासफल भाषित चैतद द्वय त्वयि यस्य

सर्वज्ञविनिश्चयं न करोति **असौ** त्वयि सर्वज्ञत्वनिर्णयकर्तृत्वविकलः पुरुषः, **न मानुषो** मनुष्यो न भवति, सर्वज्ञत्वसाधकहेतुज्ञानसद्भावेऽपि सर्वज्ञत्वज्ञानाभावात्, किन्तु शृङ्ग-पुच्छविकलः पशुरेवासाविति हृदयम् ॥ १४ ॥

तव तत्त्वप्रकाशनप्रभवत्रिभुवनव्यापियशःकथाऽस्तु नाम, तव प्रशिष्याणामपि स्वविद्योद्गारप्रभाविता यादृशी यशःप्रथा, तादृशी यशःप्रथा परवादिप्रकाण्डैरेकत्र सम्मिलितैरपि प्रथयितुमयोग्यैवेत्युपदिशति—

अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतस-
स्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद् यशः ।
न तावदप्येकसमूहसंहताः
प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥ १५ ॥

अलब्धनिष्ठा इति । अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः यद् यशः प्रथयन्ति, एकसमूहसंहताः परवादिपार्थिवास्तावदपि न प्रकाशयेयुरित्यन्वयः । हे वीर ! **तव** भवतः, **प्रशिष्याः** शिष्यस्य शिष्याः, पारम्पर्येण शिष्या इति यावत्, कतिसंख्यकाः ? **अलब्धनिष्ठाः** न लब्धा—अलब्धा, निष्ठा—विश्रान्तिः, अलब्धा निष्ठा यैस्ते अलब्धनिष्ठाः, प्रभूतसङ्ख्यका इत्यर्थः, किम्भूताः ? **प्रसमिद्धचेतसः** प्रकर्षेण समिद्ध—समित्यादिगुणसम्पन्नं चेतोऽन्तःकरणं येषां ते प्रसमिद्धचेतसः, एवंविधास्तव प्रशिष्याः, **यद् यशः प्रथयन्ति** यादृशं जगद्विख्यातं यशः-जैनमतगौरवविषयकगुणगानसमुल्लसितं यशः, प्रथयन्ति—विस्तारयन्ति भव्यजनहृदयव्यापि कुर्वन्ति, **एकसमूहसंहताः** सर्वैरैकमत्यमत्याश्रित्यैकं समूहं स्वीयमनेकान्तवादिविनिर्मुक्तमारचय्य तत्र संहताः—सम्मिलिताः, **परवादिपार्थिवाः** एकान्तवादिनां राजानः—एकान्तवादिनामग्रेसराः, **तावदपि** भवत्प्रशिष्ययशस्समानमपि यशः, **न प्रकाशयेयुः** न लोकज्ञानविषयं कुर्युः, दूरे भवद्यशस्समानयशःप्रकाशनसंभावना परवादिष्विति हृदयम् ॥ १५ ॥

त्वयि संसारविकारोत्पादनपराङ्मुखा दुर्जना यदा भवन्ति तदा दुर्जनजनितोपद्रवभयरहितैस्तव प्रशिष्यैः लोकेऽस्मिन् सज्जनमनोज्ञं न किञ्चिन्न च तदुत्सवो न्याय्य इत्येवं सौकर्येण लोकः प्रबोधितो भवतीत्याह—

यदा न संसारविकारसंस्थिति-
र्विगाह्यते त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः ।
शठैस्तदा सज्जनवल्लभोत्सवो
न किञ्चिदस्तीत्यभयैः प्रबोधितः ॥१६॥

यदेति । हे वीर! त्वत्प्रतिघातनोन्मुखै शठै संसारविकारसंस्थितिर्यदा न विगाह्यते तदाऽभयै. सज्जनवल्लभोत्सवो न किञ्चिदस्तीति प्रबोधितो लोको भवतीति शेष इत्यन्वय । **त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः** तव-जिनस्य, यत् प्रतिघातनम्-आत्मन प्रतिघातासम्भवात् तपश्चरणादिक्रियाविध्वंसोपायानुष्ठानम्, तदुन्मुखै-तत्परायणैः, **संसारविकारसंस्थितिः** ससारस्य य. कामिन्यादिदर्शन-नृत्याद्यवलोकतद्गीतादिश्रवणादिप्रभव. कायिक-वाचिक-मानसिकविकारस्तस्य त्वयि संस्थिति-सम्यग् व्यवस्थानम्, **न विगाह्यते** न विशेषेण सम्श्लेषिता भवति, भगवच्छरीरादिकमुद्दिश्य शठै क्रियमाणोऽपि सासारिकसुख-दु:खादिसाधनोपायो विक्रियालेशस्याप्यजनकत्वान्न साफल्यमञ्चति, तदा ससारविकारोपायस्य त्वयि वैफल्ये सति, **अभयैः** सर्वेषा जन्तूनामभयप्रदातृत्वेनाजातशत्रोस्तवाभयस्य प्रशिष्यैरपि भयरहितै, **सज्जनवल्लभोत्सवः** सज्जनस्य सासारिकमनोज्ञवस्तुप्राप्तिजनितानन्द:, **'न किञ्चिदस्ति'** अस्य स्थाने 'न कश्चिदस्ति' इति पाठो युक्त, यदेदृशशठोपनातानेकमनोहरवस्तुभिरपि जिनस्य न विकारसमुल्लासस्तदा तदाज्ञानुवर्तिपुरुषाणा सज्जनाना कुतस्तत आनन्द इति स नास्त्येव, **इति** एवं लोक प्रबोधितो भवति—

"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जन. ।
स यत् प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १२ ॥"

इत्यादिवचनात्, अथवा तपोविघ्नोपायं विदधतोऽपि शठान् प्रत्यभयदानपरायण एव त्व तदाऽभयैस्तैरेव शठैरुपदेशमकुर्वद्भिरपि अर्थादेव सज्जनवल्लभोत्सवो यदि कश्चिद भवेत् तदा वीरस्यापि मनोहरविषयसन्निपाते स स्यात्, न भवति स इति नास्त्येव स इति प्रबोधित इत्यर्थ. ॥१६॥

मात्सर्यदोषाभिभूताः परवादिशिष्या यदि भवदीयसूत्रार्थयथार्थवक्तारो न भवन्ति तदाऽत्र विस्मयो न कार्य इत्याह—

स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा
यथान्यशिष्याः स्वरुचिप्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो
न तत् तथा यत् तव कोऽत्र विस्मयः ॥१७॥

स्वपक्ष एवेति । यथाऽन्यशिष्याः प्रतिबद्धमत्सरा निरुक्तसूत्रस्य स्वपक्ष एव स्वरुचिप्रलापिनः, तत तथा यथार्थवादिनो न यत, अत्र तव को विस्मय इत्यन्वयः । **अन्यशिष्याः** अन्यवादिनः शिष्याः, प्रतिबद्धो मत्सरोऽन्यपक्षे द्वेषो यैस्ते **प्रतिबद्धमत्सराः** सन्तः, **निरुक्तसूत्रस्य** त्वदीयनिरुक्तसूत्रस्य, **स्वपक्ष एव** स्वाभ्युपगतपदार्थतत्त्व एव, **स्वरुचिप्रलापिनः** योऽर्थः स्वस्मै रोचते तदर्थस्य येन केनचित् प्रकारेण भाषिणो यथा, **तत्** तदा, **तथा** तेन रूपेण, **यथार्थवादिनो न** तेन रूपेण तथार्थस्याभावात् . अत्र अज्ञानविजृम्भितेऽस्मिन् विषये, **तव** राग-द्वेषादिरहितस्यास्य भवतः, **को विस्मयः** ? न किञ्चिदप्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ १७ ॥

जिनस्य वचनद्वारा सर्वरक्षकत्वगुण स्तौति—

नयप्रसङ्गापरिमेयविस्तरै-
रनेकभङ्गाभिगमार्थपेशलैः ।
अकृत्रिमस्वादुपदैर्जनं जनं
जिनेन्द्र ! साक्षादिव पासि भाषितैः ॥ १८ ॥

नयेति । अन्वयोऽत्र यथाश्रुतपदसमभिव्याहारानुसार्येव । हे जिनेन्द्र ! **साक्षादिव** साक्षाद् यथा स्यात तथा, **जनं जनं** प्रतिजनम् , **भाषितैः** वचनैः, **पासि** रक्षसि, कथम्भूतैर्भाषितैरित्याकाङ्क्षायामाह—**नयप्रसङ्गापरिमेयविस्तरैः** नयाना—सङ्ग्रहादीनाम् , प्रसङ्गेन—प्रकृष्टसङ्गतया, अपरिमेयः—परितः

सर्वतोभावेन मातुमशक्य., विस्तर –विस्तारो येषु तानि नयप्रसङ्गापरिमेयविस्तराणि, तै· प्रसङ्गागतानेकनयविचारशालिभिरित्यर्थः, पुनः किम्भूतैः ? **अनेकभङ्गाभिगमार्थपेशलैः** अनेकैर्भङ्गैरभितो गम्यन्त इति अनेकभङ्गाभिगमाः, एवम्भूता ये अर्था –पदार्थास्तै पेशलानि-मनोज्ञानि तै.. पुनः कीदृशैः ? **अकृत्रिमस्वादुपदैः** अकृत्रिमस्वादूनि–अनाहार्यमाधुर्याणि पदानि–नामिकादीनि येषु तै., स्वच्छ-स्वादुमृदुप्रभृतयो हि गुणमात्रवचना अपि दृश्यन्ते, अथवा अकृत्रिमाणि–असस्कृतानि, अत एव स्वादूनि–मन्दधियामपि पेशलानि, पदानि येषु तैरिति विग्रह., उक्त हि—

"बाल-स्त्री-मूढमूर्खाणा नृणा चारित्रकाङ्क्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थ तत्त्वज्ञै सिद्धान्तः प्राकृत कृत ॥ १३ ॥" [ ]

हे जिन ! तव वचनत सुनयस्वरूपमभिगम्य सन्नयलक्षणविकल दुर्नयाकलितशास्त्रप्रतारणाजनितदुरन्तससारादिफलककर्मानुष्ठानाद्यकरणात् तदनुष्ठानजनितनरकादितो रक्षितो भवति, अनेकभङ्गजनितज्ञानादनेकधर्माणा परस्परविरोधपरिहारज्ञानवान् भवति, यतो विरोधप्रसङ्गभयान्मुच्यते, अकृत्रिमस्वादुपदश्रवणतोऽत्यन्तानन्दकन्दोल्लासो भवतीत्यर्थ. ॥ १८ ॥

भगवतो महावीरस्य सर्वजन्तुभाषासाधारणीं भारतीं स्तौति—

विलक्षणानामविलक्षणा सती
त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली ।
मनांसि वाचामपि मोहपिच्छला-
न्युपेत्य तेऽत्यद्भुत ! भाति भारती ॥ १९॥

विलक्षणानामिति । हे अत्यद्भुत ! विलक्षणानामपि वाचामविलक्षणा सती त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली ते भारती मोहपिच्छलानि अपि मनासि अभ्युपेत्य भातीत्यन्वय. । हे **अत्यद्भुत !** सर्वजनातिशाय्यतिशयवत्त्वादत्यन्ताश्चर्यस्वरूप ! भगवन् ! **विलक्षणानां** मिथोविजातीयानामपि, **वाचां** तत्तज्जन्तुवाचाम्, **अविलक्षणा सती** सर्ववचनानुगतस्वरूपतया अविलक्षणा सती,

एकरूपापि हि भगवतोऽर्धमागधी भाषा वारिदविमुक्तवारिवदाश्रयानुरूपतया परिणमति, यदाह--

देवा देवी नरा नारीं शवराश्चापि शावरीम् ।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ १४ ॥" [ ]

त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली त्वदीय यन्माहात्म्यं तत्विशेषसंभली-तद्विशेषान्तर्भूता, तव येऽतिशयास्तेषु मध्ये भारतीस्वरूपोऽप्यतिशय इति यावत्, मोहेन-अज्ञानेन, पिच्छलानि-कस्यापि विचारपदस्यादृढावस्थानानि **मोहपिच्छलानि**, अपि मनांसि, **अभ्युपेत्य** अभित-सर्वतः भावेनोपगम्य, **ते** तव, **भारती** वाणी, **भाति** प्रकाशते इत्यर्थ ॥१९॥

परस्परविद्विषा प्रवादिनामन्योऽन्यपीडाजनकैरेकान्तवाग्विषकण्टकैरनेकान्तकल्याणकन्दोक्तिर्भवान् न पीडितो भवतीति स्तुतिपात्रमित्याह--

असत् सदेवेति परस्परद्विषः
प्रवादिनः कारणकार्यतर्किणः ।
तुदन्ति यान् वाग्विषकण्टकान्न तै-
र्भवाननेकान्तशिवोक्तिरर्यत ॥२०॥

असत् सदेवेतीति । परस्परद्विषः, असत् सदेवेति कारणकार्यतर्किणः प्रवादिनो यान् वाग्विषकण्टकान् तुदन्ति तैरनेकान्तशिवोक्तिर्भवान् न अर्दित इत्यन्वय । **अर्यत** इति मूलपाठस्तु चिन्तनीयार्थः, **परस्परद्विषः** अन्योऽन्यद्वेषशालिनः, **असत् सदेवेति कारणकार्यतर्किणः** कारणे उत्पत्तेः प्रागसदेव कार्यमिति तर्किणो नैयायिकादय, कारणे उत्पत्ते प्राक् सदेव कार्यमिति तर्किणः साङ्ख्या, **प्रवादिनः** नैयायिकसाङ्ख्यादय, **यान् वाग्विषकण्टकान् तुदन्ति** साङ्ख्याः कारणेऽसदेव कार्यमिति वाग्विषकण्टकान् तुदन्ति-खण्डयन्ति, नैयायिकाः कारणे सदेव कार्यमिति वाग्विषकण्टकान् तुदन्ति-खण्डयन्ति, ते तु वाग्विषकण्टका यथावत् खण्डिता न भवन्त्येवेति नैयायिकोक्तिविषकण्टका साङ्ख्यमतार्दनप्रवणा पीडयन्त्येव साङ्ख्यान्, एवं साङ्ख्योक्तिविष-

कण्टका नैयायिकमतार्दनप्रवणः पीडयन्त्येव नैयायिकान्, तैः असत् सदेवेति वाग्विषकण्टकैः **भवान्** सर्वज्ञ, **अनेकान्तशिवोक्तिः** अनेकान्ततत्त्वलक्षणस्य शिवस्योक्तिर्वचनं यस्य सोऽनेकान्तशिवोक्तिः कारणे स्यादसदेव कार्यं, कारणे स्यात् सदेव कार्यमिति ब्रुवन् भवान्, **न अर्दितः** न पीडितः, स्यात्पदौषधिसान्निध्यतो विषकण्टका निर्विषाः सम्पद्यन्त इति न तेषां स्यात्पदौषधिसन्निहितानां पीडाजनकत्वमित्याशयः ॥ २० ॥

अनेकान्ततत्त्वमुपदर्शयता भवताऽनेकान्तप्रकारान्यप्रकारेणार्थमुपदर्शयतां तथा जानतां वा न सम्यङ्मतित्वमित्यावेदितं भवतीत्युपदर्शयति—

निसर्गनित्यक्षणिकार्थवादिन-
स्तथा महत्-सूक्ष्मशरीरदर्शिनः ।
यथा न सम्यङ्मतयस्तथा मुने !
भवाननेकान्तविनीतमुक्तवान् ॥ २१ ॥

निसर्गेति । हे मुने ! तथा भवान् अनेकान्तविनीतमुक्तवान्, यथा निसर्गनित्यक्षणिकार्थवादिन, तथा महत्सूक्ष्मशरीरदर्शिनो न सम्यङ्मतय इत्यन्वयः । हे **मुने !** सत्यमात्रवक्तृत्वेन मिथ्यावचनोच्चारणकर्तृत्वाभावलक्षणमौनव्रतधारिन् ! । **तथा** तेन प्रकारेण, भवान्, **अनेकान्तविनीतम्** अनेकान्तेन—नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तधर्मशबलितवस्तुतत्त्वेन, विशेषेण नीतं—प्रापितमर्थम्, **उक्तवान्** कथितवान्, **यथा** येन प्रकारेण, **निसर्गनित्यक्षणिकार्थवादिनः** अर्थाः स्वभावत एव नित्या इति, अर्थाः स्वभावत एव क्षणिका इति च वादिनः, **तथा** तद्वत्, **महत्-सूक्ष्मशरीरदर्शिन** यदेव महदौदारिकं शरीरमवलोक्यते तदेव शरीरं ततोऽन्यच्छरीरं नास्तीति,

"ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १५ ॥" [ ]

इति वचनात् सूक्ष्मशरीरमपि परलोकयात्राक्षममस्तीतिदर्शिनः, **न सम्यङ्मतय**, भवदुक्तानेकान्तप्रकारकमतिशून्यत्वान्न सम्यग्ज्ञातय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अन्योपदेशप्रकारविलक्षणप्रकारोपदेशदातृत्वेन भगवन्त स्तौति—

मुखं जगद्धर्मविविक्ततां परे
वदन्ति तेष्वेव च यान्ति गौरवम् ।
त्वया तु येनैव मुखेन भाषितं
तथैव ते वीर ! गतं सुतैरपि ॥२२॥

मुखमिति । परे मुख जगद्धर्मविविक्तता वदन्ति तेष्वेव च गौरवं यान्ति, हे वीर ! त्वया तु येनैव मुखेन भाषित तथैव ते सुतैरपि गतमित्यन्वय. । **परे** एकान्तवादिन, **मुखं** एकान्तनित्यत्वैकान्तक्षणिकत्वादिप्रकारम्, **जगत्** तत्तदेकान्तधर्मविशिष्टं विश्वम्, **धर्मविविक्ततां** धर्माणामन्योऽन्यभिन्नता विरुद्धतां च **वदन्ति** कथयन्ति, **च** पुनः, **तेष्वेव** मुखजगद्धर्मविविक्ततास्वरूपेष्वेव, एवकारेण स्वस्मिन् गौरवस्य व्यवच्छेदः, **गौरवं** गुरुत्वम्, **यान्ति** प्राप्नुवन्ति, हे **वीर ! त्वया तु** त्वया पुन॰, **येनैव मुखेन** येनैवानन्तधर्मात्मकत्वलक्षणप्रकारेण, **भाषितम्** उपदर्शितम्, **तथैव** तेनैव प्रकारेण, **सुतैरपि** भवच्छिष्यप्रशिष्यैरपि, **गतं** गमनं कृतम्, न तु भवदुक्तमार्गविलोमगमन भवच्छिष्यप्रशिष्याणामित्यर्थः ॥ २२ ॥

ये त्वद्वचनार्थं यथावदनवबुद्ध्यैव तपोनुष्ठानादिकमाचरन्ति ते मुक्ति नैवाप्नुवन्तीत्यतो मुक्तिमभिलषद्भिस्त्वदीयवाक्यार्थसम्यगवबोध करणीय एवेत्युपदिशति—

तपोभिरेकान्तशरीरपीडनै-
र्व्रतानुबन्धैः श्रुतसंपदापि वा ।
त्वदीयवाक्यप्रतिबोधपेलवै-
रवाप्यते नैव शिवं चिरादपि ॥ २३ ॥

तपोभिरिति । अत्रान्वयो यथाश्रुतशब्दानुगतिक एव । **एकान्तशरीरपीडनैः** एकान्तेन—सर्वथा, शरीरपीडनै—शरीरपीडामात्रफलकैः, **तपोभिः** मासोपवासादिभि॰, तथा **व्रतानुबन्धैः** अहिंसादिपञ्चमहाव्रतपरिपालनैः, **वा** अथवा, **श्रुतसंपदाऽपि** द्वादशाङ्गयध्ययनादिसमृद्ध्यापि, **त्वदीयवाक्यप्रति-**

बोधपेलवैः हे वीर ! त्वदीयवाक्यस्य—त्वच्छासनस्य यः प्रतिबोधस्तत्र पेलवैः—असमर्थैः, त्वद्वाक्यार्थपरिज्ञानशून्यैरिति यावत्, **शिवं** मोक्षसुखम्, **चिरादपि** चिरकालेनापि, **नैवाप्यते** नैव प्राप्यते ॥ २३ ॥

रागतर्जनोपायोऽपि भवदीयो मान्यैराचरित इति नान्येषां रागाभावलक्षणं वैराग्यं सम्भवति, तदन्तरेण तत्प्रभवस्य सुखस्य सम्भावनाऽपि परेषां कुत इति पद्यद्वयेनाह—

न रागनिर्भर्त्सनयन्त्रमीदृशं
त्वदन्यदृग्भिश्चलितं विगाहितम् ।
यथेयमन्तःकरणोपयुक्तता
बहिश्च चित्रं कलिलासनं तपः ॥२४॥

न रागनिर्भर्त्सनयन्त्रमिति । त्वदन्यदृग्भिः, रागनिर्भर्त्सनयन्त्रमीदृशं चलितं न विगाहितम्, यथा इयमन्तःकरणोपयुक्तता बहिश्च चित्रं कलिलासनं तप इत्यन्वयः । हे वीर ! **त्वदन्यदृग्भिः** त्वत्तोऽन्यस्मिन् कपिल-कणादादौ दृग्—दृष्टिः पूज्यत्वाप्तत्वादिबुद्धिर्येषां ते त्वदन्यदृशः, तैस्त्वदन्यदृग्भिः, कपिल-कणादादिमतावलम्बिभिरित्यर्थः, **रागनिर्भर्त्सनयन्त्रं** रागस्य नितरां भर्त्सनं—तर्जनं गञ्जनं यस्मात् तद् रागनिर्भर्त्सनम्, रागभर्त्सनं च तद् यन्त्रं च रागनिर्भर्त्सनयन्त्रम्, **ईदृशम्** अनन्तरमेव निर्दिश्यमानम्, **चलितं** चरितम्, **न विगाहितं** न विशेषेण शीलितम्, चरितमेव भावयति—**यथेति**, **इयं** भवच्छिष्यप्रशिष्यगतत्वेनोपलभ्यमाना **अन्तःकरणोपयुक्तता** अन्तःकरणस्य-मनसः, कर्त्तव्येऽनुष्ठाने ध्येये परमात्मनि चैकाग्रता, **च** पुनः, **बहिः** बाह्यम्, **चित्रम्** अनेकप्रकारम्, **कलिलासनम्** कलिल—पापम्, अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियतेऽनेनेति कलिलासनम्, पापशोधनसाधनमित्यर्थः, **तपः** मासोपवासादिकम्, ईदृशचरिताभावात् त्वदन्योपासकेभ्यो रागो न व्यपगत इत्यर्थः ॥२४॥

विरागहेतुप्रभवं न चेत् सुखं
न नाम तत् किञ्चिदिति स्थिता वयम् ।

स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति न
त्वदन्यतः स त्वयि येन केवलः ॥२५॥

विरागहेतुप्रभवमिति । 'सुखं विरागहेतुप्रभवं न चेत् [तदा] तद् न नाम किञ्चित्, इति वयं स्थिताः, चेत् स निमित्तं, स्फुटमेव नास्ति [त्वदन्यत्र] येन [यतः] केवलः स न त्वदन्यतः, [किन्तु] त्वयि' इत्यन्वयः । सुखं **विरागहेतुप्रभवं** रागाभावलक्षणहेतुजन्यम्, **न चेत्** यदि न तदा, **तत्** सुखत्वेनाभिमतम्, **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **न किञ्चित्** न किमपि, सुख-स्वरूपं न भवत्येवेत्यर्थः । **इति** एवम्, **वयं** हे वीर ! तव भक्ता जैनाः, **स्थिताः** व्यवस्थिताः, जैना एवं निर्णीतवन्तः, यदुत—विरागहेतुप्रभवमेव सुख-मिति, **चेत्** यदि, **स** विरागः, **निमित्तं** सुखकारण तदा, **स्फुटमेव** प्रकटमेव, **नास्ति** त्वदन्यत्र सुखं नास्ति, **येन** यतः **केवलः** शुद्धः, **स** विरागः, **त्वदन्यतः** त्वद्भिन्नबुद्ध-कपिलादिषु, **न** नास्त्येव, किन्तु **त्वयि** जिन एवेत्यर्थः ॥२५॥

कर्म–कर्तृ-फलादिसम्बन्धप्ररूपणाऽपि यथा भवता क्रियते न तथाऽन्येन सा कर्तुं शक्येत्याह—

न कर्म कर्तारमतीत्य वर्तते
य एव कर्ता स फलान्युपाश्नुते ।
तदष्टधा पुद्गलमूर्ति कर्मजं
यथाऽऽत्थ नैवं भुवि कश्चनापरः ॥२६॥

न कर्मेति । कर्तारमतीत्य कर्म न वर्तते, य एव कर्ता स फलान्युपाश्नुते, पुद्गलमूर्तिकर्मजं तदष्टधा यथाऽऽत्थ, भुवि कश्चनापरो नेत्यन्वयः । **कर्ता-रमतीत्य** कर्तारमतिक्रम्य, **कर्म न वर्तते** कर्म न संभवति, **य एव कर्ता** य एव यत् कर्म करोति, **स** कर्ता, **फलानि** स्वकृतकर्मफलानि, **उपाश्नुते** उपभुङ्क्ते, **पुद्गलमूर्त्ति कर्मजं** पौद्गलिकं मनो-वचन-कायव्यापारजन्यं च, **तत्** फलजनक कर्म, **अष्टधा** ज्ञानावरणीय–दर्शनावरणीय–मोहनीया–ऽन्तरायादि-

भेदेनाष्टप्रकारम्, **यथा** येन प्रकारेण, **आत्थ** हे भगवन् ! त्वं कथयसि, **भुवि** जगति, **एवम्** अमुना प्रकारेण, **कश्चनापरः** कोऽपि त्वदन्य, कथयितुमसमर्थत्वान्न कथयतीत्यर्थः ॥२६॥

यथा त्वं कथयसि तथैव कुर्वन्त. समीक्ष्यकारिणो नान्यथेत्याह—

न मानसं कर्म न देहवाङ्मयं
शुभाशुभज्येष्ठफलं विभागशः ।
यदात्थ तेनैव समीक्ष्यकारिणः
शरण्य ! सन्तस्त्वयि नाथबुद्धयः ॥२७॥

न मानसमिति । विभागशो मानस कर्म न शुभाशुभज्येष्ठफल, देह वाङ्मयं कर्म न शुभाशुभज्येष्ठफल विभागशः, इति यत् त्वमात्थ हे शरण्य ! त्वयि नाथबुद्धयः सन्तः तेनैव समीक्ष्यकारिण इत्यन्वयः । **विभागशः** विभजनया, **मानसं कर्म** मनोजन्यं कर्म, मनसा कृत कर्मेति यावत्, **न शुभाशुभज्येष्ठफलं** शुभा-ऽशुभयोर्मध्ये ज्येष्ठं फलं यस्य तत् शुभाशुभज्येष्ठफलम्, इत्थं नियमो नेत्यर्थ·, शुद्धेन मनसा कृत कर्म शुभफल भवति, काम-क्रोधाद्युपप्लुतमनसा कृतं कर्माशुभफल भवति तत्रापि विशिष्टतरशुद्धमनसा कृत कर्म प्रकृष्टफलं भवतीत्येव मानसिककर्मणा फलानियमोपलब्धे·, तथा **देह-वाङ्मयं** देहेन कृतं कर्म, वचसा च कृत कर्म विभागश शुभाशुभज्येष्ठफलं न, उक्तयुक्ते·, हे **शरण्य !** शरणागतवत्सल ! इति यत् त्वम् **आत्थ** कथयसि, **त्वयि** जिने **नाथबुद्धयः** मम नाथो जिन इत्याकारकबुद्धिमन्तः, **सन्तः** सज्जनाः, **तेनैव** त्वदुक्तप्रकारेणैव, **समीक्ष्यकारिण** आलोचनपुरस्सरं कर्म कर्त्तार इत्यर्थः ॥२७॥

परिणामलक्षण जीवमुपदर्शयंस्त्व विबुद्धोऽसीत्यवगम्यतेऽस्माभिरित्युपदर्शयति—

यदा न कोपादिवियुक्तलक्षणं
न चापि कोपादिसमस्तलक्षणम् ।

त्वमात्थ सत्त्वं परिणामलक्षणं
तदैव ते वीर ! विबुद्धलक्षणम् ॥२८॥

यदेति । हे वीर ! यदा सत्त्वं न कोपादिवियुक्तलक्षणं न चापि कोपादिसमस्तलक्षणं त्वमात्थ, किन्तु परिणामलक्षणमात्थ, तदैव ते विबुद्धलक्षणमित्यन्वयः । हे वीर ! **यदे**त्यस्य **आत्थे**त्यनेन सम्बन्धः, "औपशमिक–क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वम्, औदयिक-पारिणामिकौ च" [२–१] इति तत्त्वार्थसूत्रात् औपशमिकादिभावयुक्तो जीव इति, तत्र **सत्त्वमा**त्मानम्, **कोपादिवियुक्तलक्षणं** कोपादिभिर्वियुक्तो जीव इत्येवलक्षणकम्, त्वं **न आत्थ** न कथयसि, कोपादिवियोगस्य निश्चैतन्ये जडेऽपि भावात् कामक्रोधादिदशाया चाभावात्, **च** पुनः, **नापि** नेव, **कोपादिसमस्तलक्षणं** कोपाद्यखिलभावयुक्तो जीव इत्येवं लक्षणकमपि सत्त्व त्व न कथयसि, कोपादिसकलभावयुक्तत्वस्य क्वपि जीवे कदाप्यभावेनासम्भवदोषाक्रान्तत्वात्, किन्तु परिणामलक्षणं जीवत्व-भव्यत्वाऽभव्यत्वान्यतरा-ऽस्तित्वा-ऽन्यत्व कर्तृत्व-भोक्तृत्वगुणवत्त्वा-ऽसर्वगतत्वा–ऽनादिकर्मसन्तानबद्धत्व–प्रदेशवत्त्वा–ऽरूपत्व--नित्यत्वाद्यनादिपरिणाम-लक्षणं 'निरुक्तानादिपरिणामयुक्तो जीव' इत्येवलक्षणकं सत्त्व यदा त्वं कथयसि **तदैव** तदानीमेव, **ते** जिनस्य, **विबुद्धलक्षणं** विशेषेण बुद्ध'--समस्तपदार्थज्ञाता जिन इति लक्षणमावेदित भवतीत्यर्थः, विबुद्धत्वमन्तरेणेदृशसत्त्वलक्षणोक्तेरसम्भवादित्याशयः ॥ २८ ॥

ज्ञान-क्रिययोरन्योऽन्यसहकृतयोरेव फलवत्त्वं न त्वन्योऽन्यवियुक्तयोस्तत्त्वमिति ब्रुवता भवता मुक्तिमार्गः स्पष्टीकृत एवेत्यावेदयति—

क्रियां च संज्ञानवियोगनिष्फलां
क्रियाविहीनां च विबोधसंपदम् ।
निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये
त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥ २९ ॥

क्रियां चेति । सञ्ज्ञानवियोगनिष्फला क्रिया च क्रियाविहीना विबोधसम्पद् च क्लेशसमूहशान्तये निरस्यता त्वया शिवाय पद्धतिरालिखितेवेत्यन्वयः । **संज्ञानवियोगनिष्फलां** सज्ञानस्य–सम्यग्ज्ञानस्य, वियोगेन–अभावेन, निष्फला–फलरहिताम् , **क्रियां** चारित्रम् , **च** पुनः, **क्रियाविहीनां** सम्यक्चारित्ररहिताम्, **विबोधसम्पदं** सम्यग्ज्ञानसम्पत्तिम् , **क्लेशशान्तये** काम-क्रोधादिक्लेशशान्त्यर्थम् , **निरस्यता** निराकुर्वता, **त्वया** जिनेन सम्यग्ज्ञानरहिता क्रिया न क्लेशशान्तये, सम्यक्क्रियारहितं च ज्ञानं न क्लेशशान्तये' इत्येवं केवला क्रिया केवल ज्ञानं चापाकुर्वता जिनेनेति यावत् , **शिवाय** परमानन्दप्राप्तिलक्षणमोक्षाय, **पद्धतिः** मार्ग., **आलिखितेव** समन्तादुपदर्शितेव, सम्बलितयोर्ज्ञान-चरणयोर्मोक्षकारणतयाऽनभिधानेऽपि केवलस्यैकैकस्य मोक्षकारणत्वप्रतिक्षेपात सम्बलितयोस्तयोर्मोक्षकारणत्वमर्थादागतमेव, अत **एव** "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग" [तत्त्वार्थे, अ० १, सू० १] इति सूत्र वाचकप्रवर. प्रणिनायेत्यर्थः ॥ २९ ॥

एकान्तवाद्यागमेष्वपि विशिष्टाः सूक्तसपद उपलभ्यमानास्तवैव पूर्वमहार्णवोत्थिता , इति जिनवाक्यविन्दव एव प्रमाणमित्युपदर्शयति—

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥ ३० ॥

सुनिश्चितमिति । न. सुनिश्चित परतन्त्रयुक्तिषु या काश्चन सूक्तसम्पद. स्फुरन्ति तास्तवैव पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुष इत्यन्वय । **नः** अस्माक जैनानाम् , **सुनिश्चित** सम्यगवधारितम् , कि सुनिश्चितमित्याकाङ्क्षायामाह–**परतन्त्रयुक्तिष्विति**–परशास्त्रोपदर्शितयुक्तिष्वित्यर्थः, **याः काश्चन** एतावत्य एवेत्येव निर्धारणाविषयाः, **सूक्तसम्पदः,** समीचीनोक्ति-

समृद्धयः; **स्फुरन्ति** प्रकाशन्ते, हे जिन !, **ताः**, सूक्तसम्पदः, **तवैव** जिनस्य भवत एव, **पूर्वमहार्णवोत्थिता वाक्यविप्रुषः** पूर्वग्रन्थात्मको यो महार्णवः; तरङ्गा इव तत उत्थिता वाक्यविप्रुषः–वाक्यबिन्दवः, **जगत्प्रमाणं** जगतः–विश्वजन्तोः, प्रमाण–न कस्यचिदप्रमाणमित्यर्थः ॥ ३० ॥

ईदृशी दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मकयोगेन सुदुस्तरतपश्चरणादिना वा विशिष्टातिशयाप्तिर्जिनस्य भवतो मनुष्यजन्मन्येव नान्यत्रेति शक्राद्याः सुरर्षभाः स्वस्य महत्त्वाभिमानं त्यजन्तीत्युपदर्शयति—

शताध्वराद्या लवसप्तमोत्तमाः
सुरर्षभा दृष्टपरापरस्त्वया ।
त्वदीययोगागममुग्धशक्तय-
स्त्यजन्ति मानं सुरलोकजन्मजम् ॥ ३१ ॥

शताध्वराद्या इति । शताध्वराद्या लवसप्तमोत्तमाः सुरर्षभास्त्वया दृष्टपरापरास्त्वदीययोगागममुग्धशक्तयः सुरलोकजन्मजं मानं त्यजन्तीत्यन्वयः । **शताध्वराद्याः** इन्द्राद्याः, **लवसप्तमोत्तमाः** लवसप्तमाः–अनुत्तराभिधानेषु पञ्चसु विमानेषु निवसन्तो देवाः, ते उत्तमाः–सर्वश्रेष्ठा येषु तादृशाः, सुरर्षभाः देवानामधिपतयः, **त्वया** जिनेन, **दृष्टपरा-ऽपराः** 'अयमेतस्मात् परोऽयं चास्मादपरः' इत्येवं दृष्टः परा-ऽपरभावो येषां ते दृष्टपरापराः, परा-ऽपरशब्दावत्र भावप्रधानत्वात् परत्वा-ऽपरत्वे प्रतिपादयतः, एवम्भूतास्ते सुरर्षभाः **त्वदीय-योगागममुग्धशक्तयः** त्वदीयः–तव सम्बन्धी यो योगः–दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मकः, तस्य आगमे–प्राप्तौ, यद्वा त्वदीयौ–भवतो महावीरस्य सम्बन्धिनौ यौ योगा-ऽऽगमौ–मोक्षकारणदर्शन ज्ञान-चारित्रात्मको योगः, द्वादशाङ्गीरूपं जिन-प्रवचनमागमः, तयोः, तत्प्राप्तावित्यर्थः । मुग्धा–कुण्ठिता शक्तिर्येषां तादृशाः सन्तः, **सुरलोकजन्मजं** सुरलोके-देवलोके, यद् जन्म–स्वोत्पत्तिः, ततः संजातम् , **मानं** अभिमानं, **त्यजन्ति** मुञ्चन्ति ॥ ३१ ॥

उपजातिवृत्तेनैकत्रिंशत् पद्यानि रचितानि, अथाद्यस्तुतिसमाप्तिसूचनाय शिखरिणीवृत्तेन द्वात्रिंशत्तमपद्य ग्रथ्नाति—

जगन्नैकावस्थं युगपदखिलानन्तविषयं
यदेतत् प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाचिन्त्यप्रकृतिरससिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद् द्वारं तव गुणकथोत्का वयमपि ॥ ३२ ॥

[शिखरिणी]

जगन्नैकावस्थमिति । हे जिन ! यदेतद् युगपदखिलानन्तविषयं नैकावस्थ जगत् तव प्रत्यक्षं, च [पुन] भवान् कस्यचिदपि न, अनेनैव तु विदुषाम् अचिन्त्यप्रकृतिरससिद्धेरेतद् द्वारं समीक्ष्य वयमपि तव गुणकथोत्का इत्यन्वयः । **यदेतत्** लोकप्रसिद्धम्, **युगपत्** समकालम्, **अखिलानन्तविषयम्** अखिल च तदनन्तविषय चाखिलानन्तविषयम्, अनन्तविषयमित्यत्र अनन्ता विषया उपभोगसाधनपदार्था यस्मिंस्तदनन्तविषयमिति बहुव्रीहिः, यद्वा अखिलाः—सकलस्वपर्यायोपेता', अनन्ता विषया यत्रेति समासः । **नैकावस्थम्** एकावस्थ, **न** भवतीति नैकावस्थमनेकावस्थमिति यावत्, ईदृशं **जगत्** विश्वम्, हे जिन ! तव **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षज्ञानविषयः, **च** पुन, **भवान्** त्वम्, **कस्यचिदपि** केवललोकरहितस्य कस्यापि प्रमातु, **न** लिङ्गविपरिणामेन प्रत्यक्ष इति सम्बध्यते, प्रत्यक्षविषयो नेत्यर्थ, **अनेनैव** यदि भवानस्मादृशा प्रत्यक्षस्तदा तु दर्शनेनापि अचिन्त्यप्रकृतिरससिद्धिं लभेमहि, अपितु नेत्यनन्तरोपदर्शितहेतुना, **तु** पुनः, **विदुषां** पण्डितानाम्, **अचिन्त्यप्रकृतिरससिद्धेः,** अचिन्त्या प्रकृतिः स्वभावो यस्य तादृशो यो रसः—भवद्विषयक आनन्दस्तस्य सिद्धे.—निष्पत्ते, यद्वा अचिन्त्यप्रकृति'—अचिन्त्यस्वरूपो रसः—आनन्दो यत्र तादृश्या सिद्धे—मोक्षस्य, **एतद् द्वारं** जिनगुणस्तुतिलक्षण द्वारम्, **समीक्ष्य** सम्यक् परिभाव्य, **वयमपि** अस्मत्प्रमुखा जिनभक्ता अपि, **तव** जिनस्य, **गुणकथोत्काः** गुणवर्णनोत्कण्ठिता इत्यर्थ' । "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला ग शिखरिणी" इतिलक्षणलक्षितत्वात् शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३२ ॥

क्व स्तुतिः श्रीजिनेन्द्रस्य सिद्धसेनविनिर्मिता ।
क्व तदर्थैकदेशार्था व्याख्या लावण्यनिर्मिता ॥ १ ॥

तथापि मननादस्या वर्धमानो जिनः स्वयम् ।
हृदयस्थोऽचिरं भूयाद् भक्तस्यामितकामदः ॥ २ ॥

एतद्व्याख्याविभातार्था आद्या द्वात्रिंशिका स्तुतिः ।
दिवाकरकृता नित्यं पठ्यमानाऽस्तु भूतये ॥ ३ ॥

इति श्रीतपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेतिपदालङ्कृतेन श्रीविजयलावण्यसूरिणा विरचिता किरणावलीनाम्नी प्रथमद्वात्रिंशिकाव्याख्या समाप्ता ॥



द्वितीया द्वात्रिंशिका ।

व्यक्ताव्यक्तमनाद्यनन्तमनघं श्रीवीतरागं जिनं
नुत्वा सूरिवरं प्रणम्य महितं श्रीनेमिसूरिं गुरुम् ।
स्मृत्वा न्यायविशारदादिविबुधव्याख्यातग्रन्थव्रजं
लावण्यो वितनोति चाल्पधिषणो व्याख्यां द्वितीयस्तुतेः ॥ १ ॥

हे जिन ! भवत्स्वरूपज्ञातैव स्वहितवेत्ता नान्य इति स्वहितजिज्ञासुः पुरुषो भवन्तमेव प्रथमं जानातु, भवति अहिता गुणा न सन्त्येवेति यादृशगुणवत्तया भवन्तं वेद त एव गुणा हितानीति ततो हितवेत्ता स स्यादेवेत्याह—

व्यक्तं निरञ्जनमसंस्कृतमेकविद्यं
विद्यामहेश्वरमयाचितलोकपालम् ।
ब्रह्माक्षरं परमयोगिनमादिसाङ्ख्यं
यस्त्वां न वेद न स वीर ! हितानि वेद ॥१॥

[वसन्ततिलका]

व्यक्तमिति–अत्रान्वयो यथाश्रुतानुपूर्वीक एव, हे वीर ! यः प्रमाता, **त्वां** जिन, **न वेद** न जानाति, **स** प्रमाता, **हितानि** स्वेष्टानि, **न वेद** न जानाति, कीदृशं त्वाम् ? **व्यक्तमिति**–पूर्वं कर्मावृतत्वादव्यक्तं कर्मावरणविगमे च व्यक्तिम्–आविर्भावमापन्नम्, अनन्तज्ञानादिगुणशालितया प्रकटमिति भावः । तत्रैव हेतुमाह–**निरञ्जनम्** अष्टविधकर्मक्षयाद् रागद्वेषाद्यञ्जनरहितम् । **असंस्कृतं** संस्कृतं–संस्कारः, न विद्यते संस्कृतं यस्य तं तथा, स्वतःस्फुरत्प्रकाशस्वरूपे न किञ्चित् संस्कारकृत्यं समस्तीति भावः । **एकविद्यम्** एका विद्या यस्य स एकविद्यस्तम्, विद्या–ज्ञानम्, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञानेषु पञ्चसु मध्ये एककेवलज्ञानवानेव भगवान्, तथा च केवलज्ञानवन्तमित्यर्थः । **विद्यामहेश्वरं** विद्यया–ज्ञानेन, महानीश्वरो विद्यामहेश्वरस्तम्, लोके व्रीह्यादिधनेन सुवर्ण-रजतादिधनेन च महेश्वर इति गीयते, तच्च धनं तस्करा-

ऽग्नि-राजादिना यदाऽपहृतं भवति भोगदानादिना वा क्षीयत इति तदपहारे क्षये वा सति तत्स्वामित्वप्रयुक्त महेश्वरत्वमपि नावतिष्ठते, भगवाँस्तु तस्कराद्यन-पनेय-भगदानाद्यविनाशिविद्याधनेन महेश्वरः सर्वदाऽवतिष्ठत एवेति; अथवा अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्य जीवोऽविद्यावच्छिन्न चैतन्यमीश्वर इति वेदान्तनये महेश्वरोऽविद्यालक्षणोपाधिसत्तासमकालीनसत्ताकत्वादविद्याविलये विगच्छतीत्यविद्या-महेश्वरो भवति, जैनमते तु जिनो विद्यामहेश्वरो न कदाचिद् विलय गच्छति, विद्यायाः केवलोपयोगलक्षणाया निधनाभावात्; अथवा द्वैततत्त्वावगाहिन्यो-ऽद्वैततत्त्वावगाहिन्यो वा याः काश्चिद् विद्याः सन्ति ता निखिला अपि जिनोक्त-पूर्वमहार्णवसमुद्गता एवेति सर्वविद्यामूलागमप्रवक्तृत्वाज्जिनो विद्यामहेश्वरस्तमि-त्यर्थः । **अयाचितलोकपालं** न याचितोऽयाचितः, लोक पालयतीति लोक-पालः, अयाचितश्चासौ लोकपालश्चायाचितलोकपालस्तम्, इन्द्रादयो दश दिक्पालाश्च याचिताः सन्तो लोकपालाः, जिनस्तु भगवान् 'दुःखमयससार-सागरे पततोऽस्मान् रक्ष' इत्येवं लोकैरयाचितोऽपि ससारमूलाज्ञाननिवर्त्तककेवल-ज्ञानादिप्रभवापवर्गलक्षणपरमपुरुषार्थोपदेशदानेन लोकान् पालयतीति । **ब्रह्माक्षरं** ब्रह्म च तदक्षरं च ब्रह्माक्षरं तद्रूपम्, शुद्धचैतन्यं ब्रह्म परैरुपगीयते, तच्च कर्मावरणविगमे जिनो भवत्येव, न क्षरति—न विनश्यतीत्यक्षर', स चैकान्तः कोऽपि न भवति, वस्तुमात्रस्योत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणसत्त्वस्य प्रतिक्षणं भावात्, किन्तु कथञ्चिद्विनाशेऽपि द्रव्यार्थतो ध्रौव्यशालित्वेनोपयोगात्मना न विनश्यत्येव, जीवद्रव्यात्मकव्यक्तिस्वरूपेण च न विनश्यति, एतादृश चाक्षरत्वं संसारिणो-ऽपीति न विशेषप्रतिपक्तिकरम्, इदं तु स्याद् वर्त्तमानजिनपर्यायविजातीयपर्या-योत्पत्तिलक्षणविनाशरहितत्वमक्षरत्वम्, ईदृश चाक्षरत्वं न मनुष्यादेः, तस्य मनुष्यादिपर्यायविजातीयदेवादिपर्यायोत्पत्तिलक्षणविनाशशालित्वादिति । **परं** सर्वो-त्कृष्टः परस्तम्, **अयोगिनं** कायवाङ्मनोयोगरहितम्, चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगोऽपि सम्प्रज्ञाताऽसम्प्रज्ञातभेदशाली मुक्तिधाम गतस्य जिनस्य नास्तीत्ययोगिनम्; अथवा **परमयोगिनम्** आत्मतत्त्वसाक्षात्कारवन्तम्—

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥१॥" [ ]

इति वचनादात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य परमयोगत्वं प्रसिद्धम्, "अयं हि परमो योगो यद्योगेनात्मदर्शनम्" [ ] इति वचनं च तत्र प्रमाणम्, आत्म-तत्त्वसाक्षात्कारश्च केवलज्ञानलक्षणो जिनस्य सर्वदा विद्यते। **आदिसाङ्ख्यम्**—

"साङ्ख्य-योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ २ ॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ३ ॥"
[गीता० अ० ५, श्लो-४,५]

इत्यादिवचनेन मुक्तिफलकज्ञानविशेष एव साङ्ख्यम्, आदिः—प्रथमं, साङ्ख्य—ज्ञानं यस्य स आदिसाङ्ख्यस्तम्। उक्ताखिलविशेषणविशिष्टं **त्वां** जिनं यो न जानाति स हितान्यपि न जानाति, अहितपरित्यागिजिनगृहीतधर्माणामेव हितत्वादित्यभिसन्धिः। "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति लक्षण-लक्षितत्वाद् वसन्ततिलकावृत्तम्, एवमग्रेऽपि ॥ १ ॥

मुक्तिधाम गतस्यापि जिनस्य प्रवृत्त्यतिशयो विद्यत एवेत्युपदर्शयति—

दुःखार्दितेषु न च नाम घृणामुखोऽसि
न प्रार्थितार्थसखिषूपनतप्रसादः ।
न श्रेयसा च न युनक्षि हितानुरक्तान्
नाथ ! प्रवृत्त्यतिशयस्त्वदनिर्गतोऽयम् ॥ २ ॥

दुःखार्दितेष्विति—'हे नाथ ! दुःखार्दितेषु न च नाम घृणामुखोऽसि, प्रार्थितार्थसखिषूपनतप्रसादो न, हितानुरक्तान् श्रेयसा च न युनक्षि न, अयं प्रवृत्त्य-तिशयस्त्वदनिर्गतः इत्यन्वयः'। हे **नाथ !** त्रिभुवनस्वामिन् भगवन् ! त्वं **दुःखार्दितेषु** दुःखपीडितेषु जनेषु, **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **न च** नैव, **घृणा-मुखोऽसि** घृणा—सत्त्वानुकम्पा, मुखं—प्रधानं यस्य स घृणामुखः, दयाप्रधानो दयार्द्रचेतास्त्वमसि—भवसि, **प्रार्थितार्थसखिषु** प्रकर्षेणार्थना—ममेदं भवत्वितीच्छा, तद्विषयं प्रार्थितं, प्रार्थितश्चासावर्थश्च प्रार्थितार्थः, प्रार्थितार्थे सखा—मित्रं

स्नेहपात्रं येषां ते तथा तेषु प्रार्थितार्थसखिषु, प्रार्थितमेवार्थं मित्रवदतिस्निग्धतया मन्यमानेषु; **उपनतप्रसादः** उपनतः-प्राप्तः, प्रसादः-अयमिष्टप्राप्त्या वर्धतामितीच्छाविशेषो यस्य स उपनतप्रसादः **न** न भवसि, यतः पूर्वजन्मार्जितदुष्कृतकर्मोदयात् तदुपभोगनिष्पत्तये दुःखार्दिता जना भवन्ति—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥४॥"

इत्यादिवचनेन फलोपभोगमन्तरेण कर्मक्षयासम्भवप्रतीत्या तदुपभोग आवश्यक इति तत्र दया तत्प्रतिबन्धजननी न योग्येति घृणामुखो न भगवान्, ये खलु येन केनचित् प्रकारेण प्रार्थितमेवार्थं कामयन्ते तेषां प्रार्थितार्थप्राप्तिजन्योपभोगविशेषः स्वकृततदनुकूलपूर्वकर्मोदयत एव भविष्यति, तादृशकर्मोदयाभावे कस्य सहकारित्वमासादयिष्यति प्रसादः, न तु स्वकृतसुकृतमन्तरेण प्रार्थितार्थप्राप्तिरिति न तेषु भगवान् उपनतप्रसाद इति । **हितानुरक्तान्** अनन्तकामिन्यादिविषयपरिपूरिते जगति यत् परमार्थतो हितं तदनुरक्तान्—तदेव कामयमानान् भगवद्भक्तान्, श्राद्धान्, **श्रेयसा** परमकल्याणेन मोक्षसुखेन, **न युनक्षि** न संयोजयसि, इति न, किन्तु श्रेयसा युनक्ष्येव, आप्तजिनोपदिष्टमार्गमेवानुसरन्तो हितानुरक्ता हितं मोक्षानन्दमासादयन्त्येव, **अयम्** अनन्तरमेवोपदर्शितः, **प्रवृत्त्यतिशयः** दुःखार्दितेषु न घृणा, प्रार्थितार्थसखिषु प्रसादाभावः, हितानुरक्तेषु श्रेयस्संयोजनमित्येवं, प्रवृत्त्यतिशयः, **त्वदनिर्गतः** मुक्तिधाम गतादपि त्वत्तो न निर्गतः-न पलायितः, किन्तु त्वय्यवतिष्ठत एवेति ॥ २ ॥

शरणागतवत्सल ! भयाद्वितेऽपि तव चरणशरणमुपगतो जन्तुरुपशान्तमना रिपोरमोघमपि शस्त्रं कुण्ठितं करोतितरामित्युपदर्शयति—

कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं
दैत्याधिपः शतमुखभ्रुकुटीवितानः ।
त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता
लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार ॥३॥

कृत्वेति–'शतमुखभ्रकुटीवितानो दैत्याधिपो नवं सुरवधूभयरोमहर्षं कृत्वा त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता हरेः कुलिशं लज्जातनुद्युति चकार' इत्यन्वयः । **शतमुखभ्रकुटीवितानः** शतानां मुखानां भ्रकुटीनां वितानो विस्तारो यस्य स शतमुखभ्रकुटीवितानः, **दैत्याधिपः** चमरनामा दैत्यानामधिपतिः, **नवं** कदापि पूर्वमजातत्वादभिनवम्, **सुरवधूभयरोमहर्षं** सुरवधूनां–देवाङ्गनानां, भयात्–क्रुद्धदैत्याधिपतिदर्शनजन्यभयात्, **रोमहर्षं** रोम्णामुद्गमम्, कृत्वा हे जिन ! **त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेताः** त्वत्पाद एव–त्वच्चरण एव, शान्तिगृह–भयाद्युपशमधाम, तस्य यः संश्रयः–आश्रयणं तेन लब्धचेता.– उपशान्तमनस्क, **हरेः** इन्द्रस्य तद्दमनायोद्यतस्य, **कुलिशं** वज्रम्, **लज्जा-तनुद्युति** यच्छिरःप्रहारार्थमहमिन्द्रेण परिगृहीतोऽस्मि स दैत्याधिपः वीर-शरणगत इति तं प्रति मम प्रक्षेपोऽयुक्त इति समुद्भूतलज्जयेव, तनुद्युति– अल्पतेजस्कम्, **चकार** कृतवानित्यर्थः । अभिनवोत्पन्नश्चमरनामाऽसुरेन्द्रः शिरस्थं शक्रं विलोक्य कोपाविष्ट सन् परिघं गृहीत्वा श्रीवीरं च शरणीकृत्य कृतविकरालकायः समुत्पत्य शक्रविमानवेदिकायां पादं निधायामराङ्गनागणं भापयन् शक्रमाक्रोशयामास, ततो रुष्टेन शक्रेण तं प्रति वज्रमक्षेपि, तेन भीतः सोऽधोऽवतीर्य वीरचरणयोर्लीन, अनुगामि वज्रं च चतुरङ्गुलदूरं परितो बभ्राम, ज्ञातवृत्तान्तेन शक्रेणागत्य वज्रं गृहीतम्, अभिहितश्च चमरः–चरमजिन-शरणीकरणान्मुक्तस्त्वं ससुखं व्रज स्वावासमिति दैत्याधिपवृत्तम् ।। ३ ।।

हे भगवन् ! तव वाक्यामृतं सुरपीतामृततो वरमिति तदेव पातव्यमित्यु-पदिशति—

पीतामृतेष्वपि महेन्द्रपुरस्सरेषु
मृत्युः स्वतन्त्रसुखदुर्ललितः सुरेषु ।
वाक्यामृतं तव पुनर्विधिनोपयुज्य
शूराभिमानमवशस्य पिबन्ति मृत्योः ।।४।।

पीतामृतेष्वपीति–'पीतामृतेष्वपि महेन्द्रपुरस्सरेषु सुरेषु स्वतन्त्रसुखदुर्ल-लितो मृत्युः, तव पुनर्वाक्यामृतं विधिनोपयुज्यावशस्य मृत्योः शूराभिमानं

पिबन्ति' इत्यन्वयः। **पीतामृतेष्वपि** पीतममृतं सुधा यैस्ते पीतामृतास्तेष्वपि, **महेन्द्रपुरस्सरेषु** महेन्द्र पुरस्सरोऽग्रेसरो येषा ते महेन्द्रपुरस्सरास्तेषु, **सुरेषु** देवेषु, **स्वतन्त्रसुखदुर्ललितः** स्वतन्त्रे–स्वाधीन, यत् सुखम्–आनन्दः, तेन दुर्ललितः–अमनोहरचेष्टितः. **मृत्युः** यमः, अमृतपानं कुर्वन्तु नाम सुराः, किन्तु मृत्युस्तान् न मुञ्चति—

"अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मतिः ॥५॥"

इत्यादिवचनेन मृत्योर्दुर्ललितत्व प्रसिद्धमेव । हे वीर ! **तव पुनर्वाक्यामृतं** भवन्मुखनिर्गतमनेकान्तवादामृतम् , **विधिना** शास्त्रोक्तोत्सर्गापवादप्रकारेण, **उपयुज्य** तदर्थानुष्ठानलक्षणोपभोगविषयं कृत्वा, **अवशस्य** अन्यानधीनस्य स्वतन्त्रस्य, **मृत्योः** यमस्य, **शूराभिमानं** 'अहं सर्वतो बलवान् वीरः' इत्यभिमानम् , **पिबन्ति**, मृत्योः शूराभिमानं विनाशयन्ति, मृत्युभयं तेषां न भवतीति यावदित्यर्थः ॥ ४ ॥

हे जिन ! भवद्दर्शनविनष्टजननन्दुःखमूलकर्मपादपाना पुनर्जन्माभावात् तत्प्रभवं दुःखं न भवतीत्यहो भवद्दर्शनमाहात्म्यमिति स्तौति—

अप्येव नाम दहनक्षतमूलजाला
लक्ष्मीकटाक्षसुभगास्तरवः पुनः स्युः ।
न त्वेव नाथ ! जननक्लममूलपादा-
स्त्वद्दर्शनानलहताः पुनरुद्भवन्ति ॥५॥

अप्येवेति— दहनक्षतमूलजाला लक्ष्मीकटाक्षसुभगास्तरवः पुनरपि स्युरेव नाम. हे नाथ ! त्वद्दर्शनानलहता जननक्लममूलपादाः पुनरुद्भवन्त्येव न तु' इत्यन्वय. । **दहनक्षतमूलजालाः** दहनेन–अग्निना, क्षतानि–विनष्टानि, मूलजालानि येषा ते दहनक्षतमूलजालाः, **लक्ष्मीकटाक्षसुभगाः** लक्ष्म्याः–पत्र–पुष्प-फलसमृद्धिलक्षणलक्ष्म्या यः, कटाक्ष –कटाक्षेणेक्षणं, तेन सुभगाः–मनोहराः,

तादृशा· पुनरुद्भवन्ति, येन पत्रपुष्पफलसमृद्धिलक्ष्मीकटाक्षितास्ते सर्वजनानन्द-सन्दोहजनकसौन्दर्यशालिनः, **तरवो** वृक्षाः, पुनरपि **स्युरेव** भवन्त्येव नाम, हे **नाथ!** हे स्वामिन्! **त्वद्दर्शनानलहताः** त्वद्दर्शनमेवानलोऽग्निस्तेन हताः—दग्धा, **जननक्लममूलपादाः** जननेन—जननीगर्भनिस्सरणेन यः, क्लमो—दुःखं तस्य मूल पादाः—अंशा येषां ते जननक्लममूलपादा., तरव इत्यनुवर्त्तते, ते च तरव· प्रकृते कर्मस्वरूपा ज्ञेया., **पुनः** विनाशानन्तरम्, **उद्भवन्त्येव** आविर्भवन्त्येव, **न तु** नैवेत्यर्थः ॥५॥

हे जिन! विविच्य हितमहितमुपदिशतो भवतो दु·सहनानाविधनारकीय-दु.खसाधनहिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्माभक्ष्यभक्षणादिपापकर्माचरणाकर्त्तव्यत्वबोधकनरका·द्युपदर्शकानि वचास्युपशृण्वतां नारकादिदु·खभय भवदप्यन्ते तद्विरमण-तोऽभयस्थानावाप्तिरवश्य भाविनीत्युत्त्रासनमेव वरम्, न तु नरकादिदुःखापला पकपरवचनान्यापाततो यथेष्टाचरणकर्त्तव्यत्वाववोधफलकानि, आदावभीष्टसांसारिक-सुखसाधने विश्वासजनकान्यप्यन्ते दुःखसाधनयथेष्टाचरणाद्यवबोधकत्वेन स्वश्रद्धा-परायणान् नरके पातयन्त्येवेत्युत्त्रासकमपि भवद्वचनमेवादरणीयमित्युपदिशति —

उत्त्रासयन्ति पुरुषं भवतो वचांसि
विश्वासयन्ति परवादिसुभाषितानि ।
दुःखं यथैव हि भवानवदत् तथा तत्
तत्सम्भवे च मतिमान् किमिवाभयः स्यात्? ॥६॥

उत्त्रासयन्तीति—'भवतो वचासि पुरुषमुत्त्रासयन्ति. परवादिसुभाषितानि विश्वासयन्ति, हि यथैव दु ख भवान् अवदत्, तत् तथा, तत्सभवे च मति-मान् किमिव अभयः स्यात्?' इत्यन्वय.। हे भगवन्! **भवतः** तव, **वचांसि** नरकादिप्रतिपादकवचनानि, **पुरुषं** लोकम्, **उत्त्रासयन्ति** अवश्यंभाविनरकादि-भयभीतं कुर्वन्ति, **परवादिसुभाषितानि** एकान्तवादिनश्चार्वाकादेः सुभा-षितानि—

"एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे! वृकपद पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ ६ ॥

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृत पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥ ७ ॥" [ ]

इत्यादिवचनानि, तथा, कः पुनः परलोकादागतः ? मूढप्रवादोऽयम्, एतावदेवेन्द्रियगोचरान्तर्वर्त्ति वस्तु नोर्ध्वमित्यादिवचनानि च, **विश्वासयन्ति** परलोक-नरकादि-तदुपभोग्यदुःखाद्यभावे विश्वासमुत्पादयन्ति, किन्तु **हि** यतः, भवान् **यथैव** येनैव प्रकारेण, **दुःखं** अभक्ष्यभक्षणादिनिषिद्धकर्माचरणजन्यनारकादिजन्मप्रभवदुःखमसातावेदनीयम्, **अवदत्** उक्तवान्, **तत्** दुःखं, **तथा** तेनैव प्रकारेण भवति, **तत्सम्भवे च** तथाविधदुःखसम्भवे पुनः, **मतिमान्** ज्ञानवान् पुरुषः, **किमिवे**त्यसम्भावनाया, न कथमपि, **अभयः स्यात्** नरकयातनाभयरहितो भवेदित्यर्थः ॥६॥

भगवतो निन्दाव्याजेन स्तुतिमुपदर्शयति—

स्थाने जनस्य परवादिषु नाथबुद्धि-
द्वेषश्च यस्त्वयि गुणप्रणतो हि लोकः ।
ते पालयन्ति समुपाश्रितजीवितानि
त्वामाश्रितस्य हि कुतश्चिरमेष भावः ? ॥७॥

स्थान इति–'परवादिषु जनस्य नाथबुद्धि', यश्च त्वयि द्वेषः [एतदुभय] स्थाने, हि गुणप्रणतो लोकः, समुपाश्रितजीवितानि ते पालयन्ति, त्वामाश्रितस्य हि एष भावश्चिरं कुत. ?' इत्यन्वय । **परवादिषु** एकान्तनित्याऽनित्यादिपदार्थप्ररूपककपिल-गौतमादिषु, **जनस्य** लोकस्य, **नाथबुद्धिः** यथार्थतत्त्वोपदेशेन मा सम्यग् मार्गे प्रवर्तयतीत्यय मम नाथ इति बुद्धिः, **यश्च** यः पुनः, **त्वयि** जिने, **द्वेषः** ममानिष्टमयमुपदिशतीति क्रोधः, तदेतदुभयं **स्थाने** योग्यस्थले, **हि** यत, **लोकः** जन, **गुणप्रणतः** गुणे नम्रीभूत, यत्र गुणं पश्यति तमेव नमस्करोति आश्रयति च, परवादिषु गुणाः ततस्तेषु सन्ति नाथबुद्धिः, त्वयि तु दोष एव विद्यत इति द्वेषस्त्वयि युक्ता इत्युपदर्शयति–**ते** इति–परवादिन इत्यर्थः, **समुपाश्रितजीवितानि** सम्यक् स्वचरणोपासकाः समुपाश्रिताः

शरणागता इति यावत्, तेषां जीवितानि–भूयो भूयः संसारे जन्मासादनेन निर्विघ्नतदवस्थानलक्षणजीवितानि, **पालयन्ति** रक्षन्ति, हि यत., **त्वामाश्रितस्य** त्वा–जिनं शरण्यमाश्रितस्य त्वच्छरणागतस्येति यावत्, **एष भावः** समुपलभ्यमानो भवसम्बन्धिराग-द्वेषादिकः सकलोऽपि, **चिरं** चिरकाल, **कुतः ?** न कुतश्चित् तथा च परवादिषु गुणसद्भावाद् गुणप्रणतजनस्य तेषु नाथबुद्धिर्युक्ता, आश्रितजनभावविनाशकत्वलक्षणदोषवति त्वयि द्वेषश्च युक्तः, अनया च निन्दया भगवतः स्तुतिर्व्यक्तैव, परवाद्युपासका अनन्तकालं भवेषु भ्राम्यन्ति, त्वदुपासकस्तु भवपाशबन्धनापगमाच्छीघ्रमेव मुच्यत इति ॥ ७ ॥

चित्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि चित्रत्वाभावमचित्रत्वेन प्रतीयमानस्य च चित्रत्वं भगवद्विषये दर्शयन् स्तौति—

चित्रं किमत्र यदि निर्वचनं विवादा
न प्राप्नुवन्ति ननु शास्तरि युक्तमेतत् ।
उक्तं च नाम भवता बहु नैकमार्गं
निर्विग्रहं च किमतः परमद्भुतं स्यात् ॥ ८ ॥

चित्रं किमत्रेति–'शास्तरि सति विवादा निर्वचनं न प्राप्नुवन्ति [इति चित्रत्वेन प्रतीयते, किन्तु] अत्र चित्रं किम् ?, ननु युक्तमेतत्, भवता च बहुना एकमार्गमुक्तं च निर्विग्रहं स्यात् [नेदं चित्रम्] भवता च बहु नैकमार्गं चोक्तं निर्विग्रहं स्यात्, [परमञ्चित्रमिदमत आह] अत परम् अद्भुतं किम् ?' इत्यन्वयः । **शास्तरि** वादिप्रतिवादिभ्यामभ्युपगतकथासमयस्य प्रतिपालनकर्तृत्वावबोधनलक्षणशासनकर्तरि तटस्थस्वरूपे च भवति सति, **विवादाः** एकान्तनित्यत्वैकान्तानित्यत्वादिविषया विविधा वादा मतानि, **निर्वचनं** निर्णीतवचनम्, निर्णयमित्यर्थं, **न प्राप्नुवन्ति** नाधिगच्छन्ति, एतद् यद्यपि चित्रं, यतः शास्तरि सत्यवश्यं विवादाना निर्णयेन भाव्यम्, अन्यथा लोकविप्लवः स्यात्, तथाप्यत्र **चित्रम्** आश्चर्यम्, **किम् ?** किमपि नाश्चर्यम, तथाहि–**ननु** कोमलालापे, **शास्तरि** साधुमतानुशासनकर्तरि सति, विवादाना–परस्परविरुद्धानां

निर्मूलाना प्रलापानाम्, निर्वचनस्य—निरुक्तेः सम्यक्तया प्रतिपादनस्येति यावत्, योऽभावः स युक्त एव, असति साध्वनुशास्तरि यथाकथञ्चित् परस्परविरुद्धा अपि प्रलापा निर्वक्तु शक्यन्ते, सति तु तस्मिस्तदग्रतस्तथाप्रलापात्मकस्य स्वपक्षस्य निर्वचनाभावो युक्त एव । **च** किञ्च, **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, यद्वा **नाथे**ति पाठे हे त्रिभुवनस्वामिन् ! **भवता** जिनेन, **बहुना** भावप्रधाननिर्देशाद् बाहुल्येन, **एकमार्गम्** एकः—मुख्यः, मार्गः—प्रतिपादनपद्धतिर्यस्य तादृशम्, **उक्तं** प्रतिपादनम्, "वचंक् परिभाषणे" इत्यतो भावे क्लीबे क्तः, 'वा क्लीबे" [२. २. ९२.] इति षष्ठीविकल्पनात् कर्तरि तृतीया च, तथा च भवतो जिनस्य प्रतिपादनमित्यर्थः, **च** पुनः, **निर्विग्रहं** निर्विवादं विगतविरोधं तत्, **स्यात्** भवेत्, एकेन भवतैकया पद्धत्या बाहुल्येन प्रतिपादित निर्विरोधं स्यादिति यद्यपि नाद्भुतम्, एकव्यक्तिप्रतिपादितस्यैकविषयस्य तथात्वौचित्यात्, तथाप्यस्ति परमाश्चर्यमित्याह—**अतः परम् अद्भुतम्**—आश्चर्यं **किम्** ? यतः **बहु** प्रचुरम्, **नैकमार्ग** न एको नैक, नित्यत्वानित्यत्वादिविविधधर्मावलम्बनेन नानाप्रकारः एवंविधो मार्गः—प्रतिपादनशैली यस्य तादृशम्, **उक्तं** वचनम्, **निर्विग्रहं** निर्विरोध स्यात्, एतदवश्यमेव परमद्भुतमिति भावः । यद्वा **भवता** महावीरजिनेन, **च**कारादन्यजिनगणेन, कीदृशेन ? **बहुना** प्रचुरेण, देशान्तरितकालान्तरिततत्तज्जिनेनेत्यर्थः, **एकमार्गं** कथञ्चिन्नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मैकैकवस्तुप्रतिपादकत्वलक्षण एको मार्गः प्रतिपादनशैली यस्य तादृशं **निर्विग्रहं च** विरोधरहित च, **उक्तं** प्रतिपादनम्, **नामे**ति प्रसिद्धौ, प्रसिद्धमेवैतद्—यदुत, अखिलेनापि जिनेनानन्तधर्मात्मकवस्तुतत्त्वप्रतिपादकं विवादरहितं शासनमेकमेवोक्तमिति प्रवाहतोऽनाद्यनन्त चेद शासनम्, **अतः परम्** इतोऽधिकम्, **अद्भुतम्** आश्चर्यम्, **किं स्यात्** न किञ्चिद् भवेत्, अनेकेऽपि वक्तारो भिन्नसमयव्यवस्थिता अनाद्यनन्तसमयेऽप्येकमेव राद्धान्तं विवादविनिर्मुक्तमुक्तवन्त इति महदाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

त्रिभुवनातिशायिनि भगवति जिने निरीक्षितेऽपि यो भवविरक्तो भवसन्तापरहितश्च न भवति नासौ जनो न वाऽतिगुणदोषज्ञ इत्याह—

मां प्रत्यसौ न मनुजप्रकृतिर्जिनोऽभू-
च्छङ्के च नातिगुणदोषविनिश्चयज्ञः ।
यत् त्वां जिन ! त्रिभुवनातिशयं समीक्ष्य
नोन्मादमाप न भवज्वरमुन्ममाथ ॥ ९ ॥

मां प्रत्यसाविति-अत्र पद्ये **'जिनोऽभूत्'** इत्यस्य स्थाने 'जनोऽभूत्' इति **'यत् त्वाम्'** इत्यस्य स्थाने 'यस्त्वाम्' इति च पाठः सम्यगाभाति । 'हे जिन ! यस्त्रिभुवनातिशयं त्वां समीक्ष्य उन्मादं न आप, भवज्वरं न उन्ममाथ, असौ जनो मां प्रति मनुजप्रकृतिर्नाभूत्, अतिगुणदोषविनिश्चयज्ञश्च नाभूत्, इति शङ्के' इत्यन्वयः । हे **जिन !** जितरागादिरिपो !, यो जनः, **त्रिभुवनातिशयं** त्रिभुवनं-त्रिलोकीम्, अतिशेते-महिम्नाऽतिक्रामतीति त्रिभुवनातिशयस्तथाभूतम्, त्वां **समीक्ष्य** प्रत्यक्षीकृत्य, उन्मादं लौकिकदृष्ट्या उन्मत्तभावं सांसारिकविषयानासक्तिमिति यावत्, **न आप** न प्राप्तवान्, तदा **भवज्वरं** सांसारिकसंतापम्, **न उन्ममाथ** न उन्मूलयामास, **असौ** तथाभूतः, **जनः** मनुष्यः, **मां प्रति** मम दृष्ट्या, **मनुजप्रकृतिर्न** मनुष्यस्वभावो न, अभूत्, किन्तु पशुस्वभाव एवेति भावः, अस्तु वा तस्य पामरमनुजसाधारणस्वभावत्वं, किन्तु **अतिगुणदोषविनिश्चयज्ञः** अति-अत्यन्तम्, गुण-दोषयोः-कर्तव्याऽकर्तव्ययोः साधुत्वासाधुत्वयोर्वा, विनिश्चयं-विनिर्णयं जानातीति तादृशः, **नाभूत्** नैवाभवत्, इति **शङ्के** सम्भावयामीत्यर्थः; तस्य मनुजप्रकृतित्वे तत्रापि साधुत्वासाधुत्वविवेचनरूपमनुष्यासाधारणगुणयुक्तत्वे च सति स त्वद्दर्शनानन्तरमवश्यमेव विषयेभ्यो वैचित्त्यं भवतापशान्तिं च प्राप्नुयादिति भावः ॥९॥

हे जिन ! अन्येऽपि वादिनोऽन्ते त्वामेव शरणीकृत्य शिवं गता नान्यथेत्याह —

अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षा-
मभ्युत्थितास्त्वयि विरूढसमानमानाः ।
अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसाना-
स्त्वामेव वीर ! शरणं ययुरुद्वहन्तः ॥१०॥

अन्येऽपीति—'अन्येऽपि त्वयि विरूढसमानमाना. कक्षां निपीड्य मोहविजयायाभ्युत्थिताः, कृपणावसनास्ते तव गतिमप्राप्य हे वीर ! त्वामेव शरणमुद्वहन्तो ययु.' इत्यन्वय. । **अन्येऽपि** तीर्थान्तरीया अपि, **त्वयि** जिने, **विरूढसमानमानाः** विशेषेण रूढः–परिगृहीतः, समानो मानो यैस्ते विरूढसमानमानाः, यथा जिनो विषयासक्त्यादिकं परित्यज्य गृहीतवैराग्यदण्डोऽनशनादितपस्यया मोहं जितवान्, तथाऽहमपीत्येव विरूढसमानमानाः, **कक्षां निपीड्य** मोहविजयोपायसामग्रीसम्पादनलक्षणकक्षां नितरां पीडयित्वा–तद्गतविघ्नादिक्षुद्रोपद्रवशान्ति कृत्वा, यो हि समकक्षं–शत्रुं पराजयितुमिच्छति स स्वबलाधानाय कक्षां निपीडयतीत्युत्सर्ग., **मोहविजयाय** मोहलक्षणशत्रुविजयार्थम्, **अभ्युत्थिताः** सर्वप्रकारेण सम्भृतविजयसामग्रीकाः, एवमपि **कृपणावासनाः** कृपणं भावप्रधाननिर्देशात् कार्पण्यम्, अवसाने–अन्ते येषां ते कृपणावसानाः अथवा कृपणस्यावसानं पर्यवसानं–परिसमाप्तिर्येषु ते कृपणावसानाः, तथाविधपत्यादिकरणसामर्थ्याभावादत्यन्तकृपणा. सन्तः, ते परवादिन., **तव** जिनस्य, **गतिं** मोहविजयादिपूर्वकमुक्तिधामगमनादिलक्षणां गतिम्, **अप्राप्य** अनासाद्य, हे वीर !, **त्वामेव शरणं** जिनमेव शरणभूतम्, **उद्वहन्तः** आश्रयन्तः, **ययुः** ते गतिं प्राप्तवन्तः ॥१०॥

हे जिन ! ग्रन्थरचनाद्यभिमानमपि परेषां त्वद्वचोव्याख्यानोद्यमारम्भाभाव एवेत्युपदर्शयति—

तावद् वितर्करचनापटुभिर्वचोभि-
र्मेधाविनः कृतमिति स्मयमुद्वहन्ति।
यावन्न ते जिन ! वचःस्वभिचापलास्ते
सिंहासने हरिणबालकवत् स्खलन्ति ॥११॥

तावदिति। वितर्करचनापटुभिर्वचोभिः कृतमिति स्मयं तावन्मेधाविन उद्वहन्ति, हे जिन ! ते वचःस्वभिचापलास्ते यावन्न स्खलन्ति सिंहासने हरिणबालकवत्' इत्यन्वय. । **वितर्करचनापटुभिः** विशिष्टा या तर्कस्य रचना तस्या पटुभिः समर्थैः, **वचोभिः** वचनै., **कृतं** रचितमेतत् प्रकरणम्, **इति**

स्मयम् इत्याकारकाभिमानम्, **तावत्** तावत्कालम्, **मेधाविनः** धारणावज्ज्ञानशालिनः, **उद्वहन्ति** धारयन्ति, हे जिन ! **ते** तव, **वचस्सु** अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकनयनिक्षेपाद्याकलित-प्रतिधर्मव्यापिसप्तभङ्ग्यात्मकवचनेषु **अभिचापालाः** अत्यन्तचापल्ययुक्ताः, **ते** मेधावित्वाद्यभिमानिनोऽभिनवग्रन्थकर्त्तारः, **यावत्** यावत्कालम्, **न स्खलन्ति** त्वद्वचस्तात्पर्यानभिज्ञत्वात् तद्व्याख्यानासामर्थ्यलक्षणस्खलना नाप्नुवन्ति, तत्र निदर्शनं-**सिंहानने** केसरिणो मुखे, **हरिणबालकवत्**, मृगशिशुरिव, यावत् सिंहानने न प्रविशति मृगशिशुस्तावदेव गतिचापल्याभिमानस्तस्य यथेत्यर्थः ॥११॥

हे जिन ! त्वद्भाषितापमानपरायणाना बालानामज्ञानान्धकारोत्तीर्णत्वाभावान्न सौख्यमतः सुखस्पृहयालवो भवद्भाषितान्यनुसरेयुरेवेत्याह—

त्वद्भाषितान्यविनयस्मितकुञ्चिताक्षाः
स्वग्राहरक्तमनसः परिभूय बालाः ।
नैवोद्भवन्ति तमसः स्मरणीयसौख्याः
पाताललीनशिखरा इव लोध्रवृक्षाः ॥१२॥

त्वद्भाषितानीति—'अविनयस्मितकुञ्चिताक्षाः स्वग्राहरक्तमनसः स्मरणीयसौख्या बालाः त्वद्भाषितानि परिभूय तमसो नैवोद्भवन्ति, पाताललीनशिखरा लोध्रवृक्षा इव' इत्यन्वयः । **अविनयस्मितकुञ्चिताक्षाः** अविनयेन—आप्तप्रवरजिनादिकं प्रति विनयभावेन औद्धत्येन यत् स्मितम्—ईषद्धास्यं, तेन आकुञ्चितानि—ईषत्सकुञ्चितानि, अक्षीणि—चक्षूंषि येषां ते अविनयस्मितकुञ्चिताक्षाः, **स्वग्राहरक्तमनसः** स्वं ग्राहवत्—मकरवत् स्ववशे स्थापयन्ति ये ते स्वग्राहाः परतैर्थिकाः, तेषु, रक्त-हितोपदेष्टृत्वेनासक्तं मनो येषां ते स्वग्राहरक्तमनसः, **स्मरणीयसौख्याः** ग्राहासक्तचेतसां यदा कदाचिद् ग्राहमुखनिपतनात् सम्भावितमरणानां सौख्यं न भवत्येवेति स्मरणीयं सौख्यं येषां ते स्मरणीयसौख्याः, परतैर्थिकस्वरूपग्राहसन्निहितानां तद्विश्वसितानां यदा कदाचिद् दुःखमेव सन्निहितं न तु सुखलेशोऽपीति, एवंभूता बालाः अज्ञानिनः, हे जिन ! **त्वद्भाषितानि** त्वद्वचनानि, **परिभूय** तदर्थाननुष्ठानलक्षणपरिभवास्पदं कृत्वा, **तमसो**ऽज्ञानलक्षणान्धकारात्, **नैवोद्भवन्ति** न

पृथग्भूय प्रकटीभवन्ति, अज्ञानान्धकार एव निमज्जन्तीति यावत्, अत्र निदर्शनं– **पातालनीनशिखराः** पाताले पातालसदृशे गिरिगुहादिगतनिम्नतमप्रदेशे लीनं– निमग्नं, शिखरं-स्वोपरितनभागो येषां ते पाताललीनशिखराः, **लोध्रवृक्षा** इव वृक्षविशेषा इव, यथा लोध्रवृक्षोऽल्पपरिमाणः सुगन्धरहितानल्पपुष्पभाराक्रान्तो वयसा नाढ्यो भवति किन्तु गिरिगुहान्धकारपरिगत एव भवतीत्यर्थः ॥१२॥

हे जिन ! सकलजनसाधारण्येनोपदेशं कुर्वतोऽपि भवतो यः कश्चिदभव्यो गाढमिथ्यात्वी भव्यो वा नोपदेशं गृह्णाति तत्र तस्यैव जीवस्य कर्मविस्फुरित- मित्युपदिशति—

सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य
यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु
सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१३॥

सद्धर्मेति–'हे लोकबान्धव ! सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य तवापि यत् खिलान्यभूवन् तत् अद्भुतं न, इह तामसेषु खगकुलेषु मधुकरीचरणावदाताः सूर्यांशवः' इत्यन्वयः । हे **लोकबान्धव !** लोकानां त्रिभुवनवासिनाम्, अविशेषेण हितार्थं प्रवर्त्तमानत्वाद् बान्धव इव, **सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य** सद्धर्म एव–परमपुरुषार्थमोक्षावन्ध्यकारणज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणस्तत्कारणब्रह्मचर्याऽस्तेयादिलक्षणो वा सद्धर्म एव, बीजं–मोक्षानन्दकन्दजनकत्वेन बीजमिव, तस्य यदुपदेशद्वारा जीवात्मकक्षेत्रेषु वपनं तत्रानघ–निष्पापं विघ्नरहितमिति यावत्, कौशलं–नैपुण्यं यस्य स सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्तस्य, **तवापि** जिनस्यापि, **खिलानि** कानिचिदभव्यजीवक्षेत्राणि अकृष्टभूसमानि, यत्रोप्तं बीजं नाङ्कुरायालमिति, **खिलानि** सद्धर्मबोधरहितानि, **अभूवन्** अभवन्, यदेतत् तत् **अद्भुतं** आश्चर्यं न, अत्र निदर्शनम्–इह अस्मिन् लोके **तामसेषु** तमः– प्रधानेषु रात्रावेवान्धकारनिरन्तरापूरितप्रदेशे विहरमाणेषु घूकादिषु, **खगकुलेषु** पक्षिगणेषु, **सूर्यांशवः** सर्वजीवान् प्रत्यविशेषेण प्रकाशकारित्वैकस्वभावाः

सूर्यकिरणा, **मधुकरीचरणावदाताः** मधुकरीणा–भ्रमरीणा, येऽत्यन्तकृष्णवर्णाः चरणाः–पादा, तेषामिवावदाता.–अत्यन्तप्रकाशप्रतिरोधकनीलिमाभाज इत्यर्थः ॥१३॥

हे जिन ! ये खलु त्वच्छासनार्थमनवबुद्ध्यैव पुरुषकारमास्थाय मुक्तिमभिलषन्ति ते पतन्त्येवाधो न तु मुक्तिमन्यदप्यभीष्टं वाऽऽसादयन्तीत्याह–

त्वच्छासनाधिगममूढदिशां नराणा-
माशास्महे पुरुषमप्यनुपत्तमेव ।
उन्मार्गयायिषु हि शीघ्रगतिर्य एव
नश्यत्यसौ लघुतरं न मृदु प्रयातः ॥१४॥

त्वच्छासनेति—'त्वच्छासनाधिगममूढदिशा नराणा पुरुषमप्यनुपन्नमेवाशास्महे, हि [यत.] उन्मार्गयायिषु य एव शीघ्रगति., असौ लघुतरं नश्यति, न मृदु प्रयात' इत्यन्वय । हे जिन ! **त्वच्छासनाधिगममूढदिशां** त्वच्छासनस्य–अनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वदीयस्याद्वादराद्धान्तस्य, अधिगमे–सम्यगर्थावगतौ, मूढदिशा–मूढा मोहाक्रान्ता दिक्–उपायप्रकारो येषा ते मूढदिगस्तेषा स्याद्वादार्थाधिगमोपायातिरिक्तोपायज्ञानलक्षणदिग्भ्रमशालिनामिति यावत्, **नराणां** जनानाम्, **पुरुषमपि** पुरुषकारमपि, प्रयत्नमपीत्यर्थ, **अनुपन्नमेव** अनु–पश्चात् समीपे वा, पन्न–पतन ततस्तादृशमेव, **आशास्महे** मन्यामहे, अत्र "**अनुपत्तमेव**" इति स्थाने "अनुपन्नमेव" इति पाठ स्वीकृत., यद्वा "**पुरुषमप्यनुपत्तमेव**" इति स्थाने "ऽपरुषमप्यनुयत्नमेव" इति पाठ', तथा च **अनुयत्नमपि** स्वानुरूपतया स्वीकृत यत्नमपि, **अपरुषमेव** मृदुमेव, प्रयत्नाभावमेति गूढाभिप्राय. **आशास्महे** अभिलषाम., यदीदृश प्रयत्नो न स्यान्न स्यादेषामनिष्टमिति प्रयत्नाभाव एव श्रेयानितीच्छाम इति भावः । **हि** यत., यस्मात् करणात्, **उन्मार्गयायिषु** अभीष्टग्रामावाप्तिमार्गमुल्लङ्घ्यान्यमार्गगमनशीलेषु पथिकेषु, **य एव** पथिक., **शीघ्रगति**. शीघ्र यथा स्यात् तथा गतिः–गमनं यस्य स शीघ्रगतिः, शीघ्रगमनानुकूलप्रयत्नवान्, **असौ** शीघ्रगमनप्रयत्नवान् पथिक', **लघुतरं** शीघ्रमेव, **नश्यति** अभीष्टस्थानमनासाद्य चौराद्युपद्रुतस्थानं प्राप्य नश्यति, **न मृदु प्रयातः** यो मन्द मन्दं गच्छति स न नश्यति, मार्गभ्रष्टस्यापि तस्य दूरगमनाभावेन सन्नि-

हिततया दैवयोगात् सन्मार्गज्ञपुरुषस्य तन्मध्य एव सम्मेलनतस्तदुपदिष्टाभीष्टदेशप्राप्तिमार्गज्ञानात् तन्मार्गानुसरणतोऽभीष्टदेशावाप्त्या विनाशाभावसम्भवादित्यर्थः ॥१४॥

हे जिन ! मा भवतु त्वच्छासनाधिगमः, त्वद्रूपज्ञानमपि रागविनाशद्वारा भवोच्छेदप्रत्यलमित्याह—

तिष्ठन्तु तावदतिसूक्ष्मगभीरगाधाः
संसारसंस्थितिभिदः श्रुतवाक्यमुद्राः ।
पर्याप्तमेकमुपपत्तिसचेतनस्य
रागार्चिषः शमयितुं तव रूपमेव ॥१५॥

तिष्ठन्त्वति—'अतिसूक्ष्मगभीरगाधाः श्रुतवाक्यमुद्राः संसारसंस्थितिभिदः तावत् तिष्ठन्तु, उपपत्तिसचेतनस्य रागार्चिषः शमयितुं तव रूपमेवैकं पर्याप्तम्' इत्यन्वयः । **अतिसूक्ष्मगभीरगाधाः** अतिसूक्ष्म—स्थूलधियामगोचरं क्षयोपशमविशेषशालिपुरुषगम्यं, गभीरं—गूढं, गाधं—हृदयं तात्पर्यं येषां ते अतिसूक्ष्मगभीरगाधाः, **श्रुतवाक्यमुद्राः** श्रुतस्य—द्वादशाङ्गीलक्षणशासनस्य, यानि वाक्यानि तेषां मुद्राः—अनेकान्तद्योतकतत्तद्धर्मावच्छेदबोधकतत्तन्नयभेदगर्भार्थाः स्याच्छब्दाः, स्यात्पदाङ्कितास्तित्व-नास्तित्वादितत्तन्नयाभिमतावच्छेदभेदनियन्त्रितानेकान्तधर्मप्रतिपादकश्रुतवाक्यानीति यावत्, **संसारसंस्थितिभिदः** संसारस्य—चतुर्विधगतिभ्रमणलक्षणसंसरणस्य संस्थितीनाम्—ईदृशकर्मकर्तुरीदृशं संसरणमित्यादिस्थितीनाम्, भिद्—भेदो याभिस्ताः संसारसंस्थितिभिदः, **तिष्ठन्तु तावत्** सन्तु तावत्, जैनागमार्थं सम्यग् जानन्तः संसारस्वरूपाभिज्ञाः सन्तस्ततो विरक्ताः स्युरेवेत्यभिसन्धिः **उपपत्तिसचेतनस्य** युक्तियुक्तविशिष्टज्ञानशालिनः पुंसः, **रागार्चिषः** पुत्र-कलत्र-धनादिकामनाग्नीन्, **शमयितुं** विनाशयितुम्, हे जिन ! तव **रूपमेव** शस्त्रादिहीनकरादिघटितशरीरस्वरूपमेव, **एकं** केवलम्, **पर्याप्तं** समर्थम्, यदाह—

"प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत् ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥१॥"

तव शस्त्रवस्त्रालङ्करणहीनविग्रहमात्रदर्शनमपि कुर्वन् कः सचेता रागविमुक्तो न स्यादिति हृदयम् ॥१५॥

हे जिन ! रे त्वत्स्वरूप न जानन्ति ते वस्तुतोऽविरक्ताः एव स्वसमीपगतानन्धश्रद्धयैव विश्वासयन्तो व्यसने पातयन्तीत्युपदर्शयति—

वैराग्यकाहलमुखा विषयस्पृहान्धा
ज्ञातुं स्वमप्यनधिया हृदयप्रचारम् ।
नातः परं भव इति व्यसनोपकण्ठा
विश्वासयन्त्युपनतांस्त्वयि मूढसंज्ञाः ॥१६॥

वैराग्यकाहलमुखा इति–'त्वयि मूढसंज्ञा वैराग्यकाहलमुखा विषयस्पृहान्धाः व्यसनोपकण्ठा. स्वमपि हृदयप्रचारमपि ज्ञातुमनधिया उपनतान् नातः पर भव इति विश्वासयन्ति' इत्यन्वयः । हे जिन ! **त्वयि** त्वत्स्वरूपे, **मूढसंज्ञाः** मूढा–अनवगाहिनी, संज्ञा–मतिर्येषा ते तथा, त्वत्स्वरूपाभिज्ञानरहिता इत्यर्थः, **वैराग्यकाहलमुखा** अहं विरक्तोऽहं विरक्त इति कोलाहलमात्रकारिणो न तु वस्तुतो विरक्ता', **विषयस्पृहान्धाः** कलत्रं मे भवतु पुत्र-धनादयो मे भवन्त्विति विषयस्पृहया–विषयकामनया अन्धा–मुक्तिमार्गानवलोकिनः, **व्यसनोपकण्ठाः** द्यूतादिकव्यसनपरिगता., **स्वमपि** आत्मीयमपि, आस्तामन्येषा **हृदयप्रचारं** हृदयस्य प्रचारमभिप्रायम्, **ज्ञातुं** बोद्धुम्, **'अनधिया'** इति स्थाने 'अनधिपा' इति पाठ सम्यक्, अनीशा असमर्था इति तदर्थः, **उपनतान्** आश्रितान, **अतः परं** वर्त्तमानभवाद् अनन्तर, **न भवः** न संसारः, **इति** एव, **विश्वासयन्ति** श्रद्धापयन्तीत्यर्थ. ॥१६॥

मनोगतजिनवागुद्द्योतप्रकाशविकला जनाः सत्त्वोपघातपरायणा एकान्तवाद्युपढौकितवाङ्मयपानोन्मत्ता अन्धं तमः प्रविशन्तीत्याह—

सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि
वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा ।
अद्वारकं जिन ! तमस्तमसो विशन्ति
येषां न भान्ति तव वाग्द्युतयो मनस्सु ॥१७॥

सत्त्वोपघातेति–'हे जिन ! येषां मनस्सु तव वाग्द्युतयो न भान्ति [ते] सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा तमसस्तमोऽद्वारकं विशन्ति' इत्यन्वयः । हे **जिन !** राग-द्वेषाद्यखिलभावारातिजयावाप्तकेवलज्ञानशालिभगवन् ! **येषां** परवादिविप्रतारितानां मूढानाम्, **मनस्सु** अन्तःकरणेषु, **तव** जिनस्य, **वाग्द्युतयः** अनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकस्याद्वादोद्द्योताः, **न भान्ति** समीहितार्थतत्त्वतात्पर्यवत्तया न प्रकाशन्ते, यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इति येषामिति पदोक्तिबलात् ते इति पदमनुक्तमप्युपस्थितं भवति, ते जिनवाक्यद्युतिप्रकाशानाचान्तहृदयाः, **सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि** सत्त्वाः–प्राणिनस्तेषामुपघातो–वध-पीडादिस्तत्र निरनुग्रहाणि–अनुकम्पादिरक्षणानुग्रहरहितानि, राक्षसानि–राक्षससदृशानि 'रक्षस्'शब्दो नपुंसके वर्तते, रक्षांसि एवेति स्वार्थेऽणि राक्षसानि, "प्रकृतेर्लिङ्गवचने बाधन्ते स्वार्थिकाः क्वचित्" इत्यत्र क्वचिद्ग्रहणाद् यथा प्रकृता यवागुः–'यवागुमयी, यवागुमयम्' इत्यत्र विकल्पेन लिङ्गातिवर्तनं भवति तथा प्रस्तुतेऽपि विकल्पेन लिङ्गपरिवर्तनान्नपुंसकत्वं पुंस्त्वं च, तत्र नपुंसकत्वादरोऽत्रेत्याभाति, **वक्तृप्रमाणरचितानि** वक्तैव प्रमाणं वक्तृप्रमाणं तेन रचितानि, अथवा वक्तुः प्रमाणं–वक्तृमात्रानुमतं प्रमाणं वक्तृप्रमाणं तेन रचितानि, अस्मिन्नप्यर्थे वक्तैव प्रमाणं वक्त्रभिमतप्रमाणमिति कृत्वा वक्तृकल्पनामात्ररचितानीति यावत्, **अहितानि** न विद्यते प्रतिपाद्यत्वेन हितं येषु तान्यहितानि हितप्रतिपादकत्वाभाववन्ति, अथवाऽहितप्रतिपादकवचनमहितमित्युच्यत इत्यहितप्रतिपादकानि वचनानि, वक्ष्यमाणपानक्रियाद्यनुरोधात् तादृशवचनरूपाणि मद्यानीत्यर्थः, **पीत्वा** यथा हृदयं तदार्द्रं भवति तथा निपीय, **तमसस्तमः** अत्यन्तनिबिडमन्धकारं महामोहान्धकारमिति यावत्, **अद्वारकं** न विद्यते द्वार–वहिर्निर्गमनमार्गो यत्र तदद्वारकम्, तदन्तः प्रविष्टस्य बहिर्निर्गमनं न भवतीति यावत्, **विशन्ति** प्रविशन्ति, अन्धे तमसि प्रविष्टास्ते तत्रैवावतिष्ठन्ते न पुनर्महामोहविमुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥१७॥

जिनशासनविमुखेषु परवादिषु महामोहविजृम्भितमसाधारणमित्युपदर्शयति—

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य

॥१ **भीरुनिष्ठम्** ।

मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरः
त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१८॥

दग्धेन्दन इति–'हे जिन ! इह त्वच्छासनप्रतिहतेषु मोहराज्यम् , दग्धेन्धनः निर्वाणमपि प्रमथ्य अनवधारितभीरुनिष्ठं भवं पुनरुपैति परार्थशूरः स्वयं मुक्तः कृतभवश्च' इत्यन्वयः । हे जिन ! इह अस्मिन् संसारे, **त्वच्छासनप्रतिहतेषु** जिनाज्ञामुल्लङ्घ्य क्रियानुष्ठानोपदेशपरायणेषु परेषु, **मोहराज्यं** मोहस्य–ममेदमिति ममताभिमानस्य साम्राज्यम् , कीदृशं तदित्याकाङ्क्षायामाह–**दग्धेन्धनः** दग्धानि–ज्ञानाग्निना दग्धानि, इन्धनानि–पुण्यपापलक्षणकर्माणि यस्य स दग्धेन्धनः, सर्वथा पुण्यपापविनिर्मुक्तः. **निर्वाणमपि** निर्वृतिमपि मुक्तिमपीति यावत् , **प्रमथ्य** प्राप्तमपि निर्वाणं परित्यज्य, **अनवधारितभीरुनिष्ठम्** अवधारिता–अवधारिता–इयतीति निर्णीता, न तथेत्यनवधारिता, प्रचुरेति यावत् , एतादृशी भीरुणा–भयग्रस्तानां स्वानुयायिनां निष्ठा–विनाशो यत्र तादृशं भवम् , यद्वा अनवधारिता गणनातीता ये भीरवस्तेषां निष्ठा–याचना यस्मिंस्तादृशं यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम् ; **भवं** संसारम् , **पुनः** क्षयानन्तरमपि, **उपैति** प्राप्नोति, एवंभूतो जनः कीदृश ? **पदार्थशूरः** परस्य भयादिनिर्वृत्तिलक्षणार्थनिष्पत्तये पराक्रमशाली, **स्वयंमुक्तः** स्वयं निर्वाणमवाप्तोऽपि सन् , **कृतभवश्च** परोपकारार्थं गृहीतजन्मादिश्चेत्येव मोहराज्यम् , तदुक्तम्—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥८॥

इति, मोहराज्यतादाढर्यायात्र–

"अज्ञानपांशुपिहितं पुरातनं कर्मबीजमविनाशि ।
तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥९॥ [ ]
दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न भवति भवाङ्कुरः ॥१०॥"[ ]

इत्यादिकमनुसन्धेयम् ॥१८॥

अन्ये पुण्य-पापयोर्यथार्थस्वरूपानभिज्ञा पापानभिलाषिणः पुण्याभिलाषिणश्च,

जिनस्तु भगवान् पुण्य-पापयोर्यथार्थस्वरूपाभिज्ञोऽपि पाप-पुण्योभयमपि ज्ञानाग्निना-ऽधाक्षीदिति वैशिष्ट्यमुपदर्शयति–

पापं न वाञ्छति जनो न च वेत्ति पापं
पुण्योन्मुखश्च न च पुण्यपथः प्रतीतः।
निःसंशयं स्फुटहिताहितनिर्णयस्तु
त्वं पापवत् सुगत ! पुण्यमपि व्यधाक्षीः ॥१९॥

पापं न वाञ्छतीति—'जनः पापं न च वाञ्छति पापं न च वेत्ति, पुण्योन्मुखश्च न च पुण्यपथ. प्रतीतः, सुगत ! निस्संशय स्फुटहिताहितनिर्णयस्त्वं तु पापवत् पुण्यमपि व्यधाक्षीः' इत्यन्वय.। **जनः** अनधीतजिनशासनो लौकिकपरीक्षकसाधारणः पुरुषः, **पापं** नरकादिदुःखनिमित्तमशुभं कर्म तत्प्रभवमहितसाधनमदृष्टं च, **न वाञ्छति** नेच्छति, पापं मे भवत्वितीच्छावान् न भवतीति यावत, **च** पुन, **पापं** निरुक्तस्वरूपमदृष्टम्, **न वेत्ति** न जानाति, **च** पुनः, **पुण्योन्मुखः** पुण्यं मे भवत्वित्यभिलाषावान् पुरुष., **च** पुन., **न** नैव, **पुण्यपथः प्रतीतः** तेनेत्यध्याहार्यम्, तथा च निरुक्तजनेन पुण्यमार्गो नैव ज्ञात, यद्वा "न च पुण्यपथप्रतीत." इति पाठ, प्रतीत–ज्ञातः पुण्यपथो येन स तथा, एवंविधो न आहिताग्न्यादिपाठात् पुण्यपथशब्दस्य प्राग् निपातः, यद्वा "न च पुण्यपथं प्रतीत" इति पाठ पुण्यमार्गं प्रति न इतः–गत इति तदर्थः, यदि पापस्वरूप सम्यग् जानीयात् तदैव पापमकामयमानो जन पापप्रवृत्तिको न भवेत्, तथा च पापफलभुगपि न भवेत्, अन्यथा पापस्वरूपानिष्टत्वाप्रतिसन्धानात् अपरित्यक्तपापकर्मा तत्फलमश्नीयादेव, एवं पुण्यमार्गाभिज्ञ एव यथावत् पुण्यमार्गानुष्ठानतः पुण्यफलं स्वर्गादिकं प्राप्नुयात्, अन्यथा तु पुण्यमार्गमजानन् यथावत् पुण्यकर्माननुष्ठानात पुण्याभिलाष्यपि पुण्यफल नाश्नीयादेवेत्याशय, **सुगत !** गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वाद् वर्तमाने कर्तरि क्त., तथा च पुण्यपापयोः सम्यग्ज्ञाता सुगत, तत्सम्बोधने हे सुगत ! जिन !, **निस्संशय** संशयरहितं यथा स्यात तथा, **स्फुटहिता-ऽहित-**

निर्णयः स्फुटः स्पष्ट, हिताऽहितयो., निर्णयो निश्चयो यस्य स स्फुटास्फुटहिताहितनिर्णय., **त्वं तु** वीतरागो भगवान् जिनः पुनः, **पापवत्** पापं विज्ञातं यथा दग्धवान् तथा, **पुण्यमपि** सम्यग्विज्ञात पुण्यमपि, **व्याधाक्षीः** विशेषेण–निरवशेषेण दग्धवानित्यर्थः, शुभं कर्माशुभ च कर्म स्वस्वफलोपभोगार्थं भवे पुन.पुनर्जन्मापादयत्येव जीवमिति न तदुभयं हितम्, पापवत् पुण्यस्यापि भव भ्रमणहेतुत्वात्, किन्तु मोक्षसुखमेव परमानन्दस्वरूप हितमिति स्पष्टहिताहितनिर्णयवान् जिनः पापवत् पुण्यमप्यहितसाधनत्वादहितमिति तदुभय परित. शाटयित्वा मोक्षसुखमेवैकं हितमुपादत्त इति हृदयम् ॥१९॥

तीर्थ्यान्तरीयेभ्यः सत्कारलाभावाप्त्यादिफलोपदर्शकोपदेशवचनद्वारा दु.खद्विड्जनहृदयानुप्रविष्टेभ्यो दु खद्विषं जन श्रेयोमार्गं प्रति कर्षन् जिन एव वैशिष्ट्यमवाप्तवानित्याह—

सत्कार-लाभपरिपक्तिशठैर्वचोभि-
र्दुःखद्विषं जनमनुप्रविशन्ति तीर्थ्याः ।
लोकप्रपञ्चविपरीतमधीरदुर्गं
श्रेयःपथं त्वमविदूरसुखं चकर्ष ॥२०॥

सत्कारेति—'तीर्थ्या. सत्कारलाभपरिपक्तिशठैर्वचोभिर्दु.खद्विष जनमनुप्रविशन्ति, हे जिन ! त्व लोकप्रपञ्चविपरीतमधीरदुर्गमविदूरसुखं श्रेय.पथं चकर्ष' इत्यन्वय. । **तीर्थ्या** परतैर्थिका, **सत्कार-लाभपरिपक्तिशठैः** सत्कारः स्वागतवचनपादप्रक्षालनादिकम्बलाद्यासनोपवेशनादिः लाभ.—गोभूमिरत्नादिप्राप्ति., सत्कारलाभयो. परित. पक्ति·—पाक परिपूर्णता, तत्कृते शठै—मिथ्याविश्वासकत्वलक्षणकपटयुक्तैः **वचोभिः** वचनै', इत्थमनुष्ठिते सति तव लोके सत्कारो भविष्यति गोभूम्यादिप्राप्तिर्भविष्यतीत्येव प्रतारकवचनैरिति यावत् यद्वा अस्मादृशा सत्कारे कृते गोभूम्यादिदाने च विहिते तवापि लोके लाभसत्कारौ सुतरा भविष्यत इत्येवंरूपै. प्रतारणावचनै. । **दुःखद्विषं** दु.ख द्वेष्टीति दुःखद्विद्, त दु खद्विष दु.खविषयकद्वेषवन्तम्, **जनं** प्राणिनम्, **अनुप्रविशन्ति** तद्धृदयप्रविष्टा भवन्तीति, सत्कारलाभपूजाख्यात्यादितो मम सुख भविष्यति दु.ख

च विनङ्क्ष्यतीति, तीर्थ्यान्तरीयोपदेशसन्तुष्टो जनस्तीर्थ्यान् स्वहृदयस्थान् करोति, किन्तु प्रतारणफलकैर्वचनैर्जनस्य तात्कालिकदुःखाभावेऽपि सत्कारलाभाद्यसत्प्रवृत्तितोऽशुभकर्मबन्धत उत्तरकाले दुःखं स्यादेवेति, यद्वा तीर्थान्तरीयाः प्रतारणोपदेशदानेन पापकर्मबन्धतः स्वयमपि प्रान्ते दुःखिनो भवन्तीति तेऽपि दुःखद्वेषिजनान्तर्गता भवन्तीति भाव. । हे जिन ! त्वं, **लोकप्रपञ्चविपरीतं** लोकाना य. सत्कारलाभपूजाख्यात्याद्यवाप्तिप्रयोजनकः प्रपञ्चः, ततो विपरीतं लोकप्रपञ्चरहितम्, **अधीरदुर्ग** धीराः—धैर्यवन्तः, न धीरा अधीरा धैर्यविकलाः, तेषा दुःखेन गन्तु शक्यम्, सुखेनाधीरगमनायोग्यम्, **अविदूरसुखं** विशेषेण दूर विदूरम्, न विदूरमविदूरं समीपमिति यावत्, अविदूर सुख यस्य तदविदूरसुखम्, एतादृश **श्रेयःपथं** श्रेयसः—मोक्षस्य, मार्ग—ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणमोक्षसाधनम्, **चकर्ष** दुःखद्विष जन निरुक्तश्रेय पथ प्रत्याकृष्टवान्, जिनस्तथोपदिदेश येनोपदेशेन दुःखद्विट् जनो मोक्षमार्ग जिनोपदिष्टमेवानुसरति, ततो नातिचिर ससारदुःखविमुक्तो मोक्षसुखमनुभवतीत्यर्थः । अथ 'चकर्ष' इति स्थाने मध्यमपुरुषत्वात् 'चकर्षिथ' इति प्रयोगेण भाव्यम्, कथ स न इति चेत् ? वेदावाक्यवत् पुरुषव्यत्ययादरात्, यद्वा 'त्वम्' इति स्थाने 'तम्' इति दुःखद्विषमित्यस्य परामर्शकः पाठः, भवानिति चाध्याहार्यम्, तदपेक्षया तृतीयपुरुषः, यथा भवान् गच्छतीति, यद्वा 'ह्यकर्षः' इति पाठः, **हि** निश्चयेन त्वम् **अकर्षः** आकृष्टवान्, यद्वा 'च कर्षन्' इति पाठः, असीति शेषः, सर्वत्रापि दुःखद्विषो मुक्तिमार्ग प्रति नयनं जिनकृतमिति फलति, यद्वा 'च कर्ष' इति विश्लेषः; **कर्ष** नय, दुःखिनां मुक्तिं प्रति जिनकृतं नयन प्रार्थयामहे इत्यर्थः ॥२०॥

हे जिन ! त्वद्वाक्यपवित्रितान्तःकरणाना जनाना सुरेन्द्रे तिर्यक्षु च स्वोपार्जितकर्मकृतोत्कृष्टापकृष्टभेददर्शनजन्यः खेदो न भवति, परसिद्धान्तालीढहृदयाना च "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा" इत्यादिवचनादीश्वर एव कञ्चन जीव नरके पातयति कञ्चन स्वर्गं नयतीतीश्वरकृतैतद्वैलक्षण्यं ज्ञात्वा सुखिन एव सर्वान् विधातुं समर्थोऽपीश्वरः कथं दुःखिनमपि विदधाति, एवं विषमं विदधतस्तस्य रागद्वेषौ स्यातामित्येवं विकल्पजनितः खेदः स्यादेवेति जिनवचनमेवादेयमित्युपदर्शयति—

गुणफलानि निर्विघ्न भुङ्क्ते इति गुणफलोपभोगजनक भवद्वैमुख्यमेव कान्त, न तु गुणविनाशक भवत्सामुख्यमित्यापातभासमाननिन्दामुखेन भगवन्त स्तौति—

एकान्तनिर्गुण ! भवन्तमुपेत्य सन्तो
यत्नार्जितानपि गुणाञ्जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्बणानि
भुङ्क्ते चिरं गुणफलानि हि तापनष्टः ॥२३॥

एकान्तनिर्गुणेति—'हे एकान्तनिर्गुण ' सन्तो भवन्तमुपेत्य यत्नार्जितानपि गुणान् क्षणेन जहति, त्वयि क्लीबादर: पुन . तापनष्टो हि व्यसनोल्बणानि गुणफलानि चिर भुङ्क्ते' इत्यन्वय· । हे **एकान्तनिर्गुण** ! एकान्तेन–नियमेन, निर्गुण !–परकल्पितसत्त्व-रजस्तमोगुणरहित ! अथवा परोपाधिकगुण-रहित ! तेन स्वाभाविकज्ञानादिगुणवत्त्वेऽपि न क्षतिः, **सन्तः** सज्जना भव्याः, **भवन्तं** गुणरहित त्वाम्, **उपेत्य** स्तुत्यर्चनादिभक्त्या प्राप्य, **यत्नार्जितानपि** तप -स्वाध्यायप्रणिधानादिप्रयत्नोपार्जितानपि, **गुणान्** तिर्यग्-नरामराधिपत्यादि-लक्षणगुणान् , **क्षणेन** अल्पसमयेन, **जहति** त्यजन्ति, भवद्भक्तिप्रभावादवाप्त-केवलालोका· कर्माष्टकविमुक्ता मुक्तिधामोपगच्छन्ति, तत्रस्थाना न कोऽप्यौपाधिको गुण इति, **त्वयि** वीतरागे भगवति, **क्लीबादरः** क्लीबो–नपुंसक· फलदाना-समर्थ आदरो भक्तिर्यस्य स क्लीबादर:, भगवति गतादरो यद्वा यथाकथञ्चिद्-भक्त्या कर्मानुष्ठाता पुन·, **तापनष्टः** तापेन–स्त्री-पुत्र धनाद्यनवाप्त्यादिजनित-परितापेन, नष्टो–गृहाद् बहिर्गतः, विषयानवाप्तिजनितवैराग्यवान् न तु विषय-दोषदर्शनजनितभवविरागवान्, **हि** यतः, **व्यसनोल्बणानि** व्यसनोपबृंहितानि व्यसनप्रधानानि, **गुणफलानि** औपाधिकगुणफलानि स्वाराज्यादीनि, **चिरं** यथा स्यात् तथा, भुङ्क्ते पुन· पुनर्जन्म गृहीत्वा स्वर्गादिगुणफलं भुङ्क्ते, अनेन तपोऽनुष्ठानादि कुर्वन्नपि विषयानवाप्त्यादिजनितवैराग्यवानपि जनो भगवद्यथा-वद्भक्तिविकलो भवे भ्राम्यत्येव, भगवद्यथावद्भक्तिभाक् तु क्षिप्रमेव मुक्तिधाम प्रयातीत्यर्थ·, यद्वा गुणशब्दो रज्जावपि वर्तते, तथा च जीवबन्धनहेतुतया रज्जुस्थानापन्नानि अष्टविधकर्माणि गुणा·, तदनुसारेण शेष बोध्यम् ॥२३॥

आत्मनो यथार्थस्वरूपाभिज्ञो नष्टकामवासनः कृतकृत्यत्वान्न वनवासादिषु पुनः प्रवर्तत इत्याह—

कुर्वन् न मारमुपयाति न चाप्यकुर्वन्
नास्यात्मनः शिवमहर्द्ध्यबलं निधानम् ।
वेदन् तमेवमवसादितवेदमत्त्वाद्
भूयो न दुःखगहनेषु वनेषु शेते ॥२४॥

कुर्वन्निति—'कुर्वन् मारं नोपयाति, च अकुर्वन्नपि न, अस्यात्मनः शिवमहर्द्धि निधानमबलं न, तमेवं वेदन् अवसादितवेदमत्त्वाद् भूयो दुःखगहनेषु वनेषु न शेते' इत्यन्वयः। **कुर्वन्** यः कर्माणि कुर्वन् सन्, **मारं** कामम्, **नोपयाति** न प्राप्नोति, **च** पुनः, **अकुर्वन्नपि** कर्माण्यकुर्वन् अपि, **न** नैव, मारमुपयातीति सम्बध्यते, एवंविधस्य **अस्य** प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य, **आत्मनः** जीवस्य, **शिवमहर्द्धि** शिव–मोक्षसुखं तदेव महर्द्धिर्यत्र तच्छिवमहर्द्धि, **निधानं** ज्ञानादिरत्ननिधि, **अबलं** दुर्बलम्, **न** सर्वतोऽन्यनिधानात् प्रबलं न कदाप्यपक्षीयते, **तमेवं वेदन्** शिवमहर्द्धिनिधिकमात्मानं जानन् पुरुषः, विदिण् चेतनादौ चुरादिः, चुरादिणिचोऽनित्यत्वात् शतरि शवि सौ च वेदन्, यद्वा विद्वानिति पाठः, **अवसादितवेदमत्त्वात्** अवसादिता–प्रक्षीणा, वेदस्य–पुंवेदादेः, मा–लक्ष्मीर्यस्य सोऽवसादितवेदमत्त्वात्, यद्वा "मत्त्वाद्" इति स्थाने "सत्त्वाद्" इति पाठः, दूरीकृतकामवासनाप्रयोजकवेदाख्यकर्मसत्तात इति तदर्थः। **भूयः** पुनरपि, **दुःखगहनेषु** व्याघ्रादिनिवासेन दुःखप्रचुरेषु, **वनेषु** कण्टकवृक्षादिसमुदायाकीर्णवनेषु, **न शेते** न तपःपरिश्रमोपजातनिद्रासुखमनुभवति, आत्मस्वरूपावस्थितिसुखमनुभवन् कृतकृत्यो न गिरिकन्दरगहनवनादिषु तपस्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

हे जिन ! तीर्थान्तरीयानधिगतनीतिस्वामित्वेन स्तुत्यस्त्वमेवेत्युपदिशति—

कर्त्ता न कर्मफलभुग् न च कर्मनाशः
कर्त्रन्तरेऽपि च न कर्मफलोदयोऽस्ति ।

दैत्याङ्गनातिलकनिष्ठुरवज्रदीप्तौ
शक्रे सुरौघमुकुटार्चितपादपीठे ।
तिर्यक्षु च स्वकृतकर्मफलेश्वरेषु
तद्वाक्यपूतमनसां न विकल्पखेदः ॥२१॥

दैत्याङ्गनेति–'दैत्याङ्गनातिलकनिष्ठुरवज्रदीप्तौ सुरौघमुकुटार्चितपादपीठे शक्रे स्वकृतकर्मफलेश्वरेषु तिर्यक्षु च तद्वाक्यपूतमनसा विकल्पखेदो न' इत्यन्वयः। **दैत्याङ्गनातिलकनिष्ठुरवज्रदीप्तौ** दैत्यानाम्–असुराणाम्, या अङ्गनाः–स्त्रियः, तासां सौभाग्यसूचके सिन्दूरकुङ्कुमादिकृते भालस्थे तिलके–बिन्दुविशेषाकारे, निष्ठुरा–दयारहिता, वज्रस्य दीप्तिर्यस्य स दैत्याङ्गनातिलकनिष्ठुरवज्रदीप्तिस्तस्मिन्, तथा **सुरौघमुकुटार्चितपादपीठे** सुराणां–देवानाम् ओघः–समुदायः सुरौघः, तस्य यन्मुकुटं–शिरोभूषणं तत् सुरौघमुकुटम्, तेनार्चितं पूजितं पादपीठं यस्य स सुरौघमुकुटार्चितपादपीठस्तस्मिन्, **शक्रे** इन्द्रे; **स्वकृतकर्मफलेश्वरेषु** स्वकृतं यत् कर्म तस्य यत् फलं–सुखं दुःखं वा, तस्येश्वराः–स्वामिनः स्वकृतकर्मफलेश्वरास्तेषु **तिर्यक्षु** तिर्यग्योनिजातेषु पशुपक्ष्यादिषु च, **तद्वाक्यपूतमनसाम्** अत्र 'त्वद्वाक्यपूतमनसाम्' इति पाठो युक्तः, हे जिन! त्वद्वाक्येन पूतं–पवित्रमज्ञानमलरहितं मनो येषां ते त्वद्वाक्यपूतमनसस्तेषाम्, **विकल्पखेदः** किं कालकृतोऽयं भेदः–एकः सुरलोकाधिपतिः, अन्यो भारादिवहनादिजन्यदुःखभाजनम्, किंवा स्वभावकृतोऽयं भेदः, उत ईश्वरकृत इत्यादिर्यो विकल्पस्तज्जनितः–तत्र दूषणाद्युद्भावनप्रभवो यः खेदः, स **न** नैव, भवतीति शेषः; पुराचीर्णस्वस्वकर्मवैचित्र्यप्रभव एव देवेन्द्र-तिर्यगादिभेदो न कालकृत इत्यहमपि जिनोदितविहितकर्मानुष्ठानं कुर्यां तदोत्तरभवे इन्द्रादिभवमवमाप्स्यामि, यदि जिनोदितनिषिद्धकर्मानुष्ठानं करोमि तर्हि क्षुद्रयोन्यादिषु जन्मादिकं दुःखकार्यमवाप्स्यामीत्यलमत्रोत्तप्ततयेति खेदो न भवतीत्यर्थः ॥२१॥

परेषां यैरेव हेतुभिः संशयदोलाधिरोहणं जन्तुनिवहेऽनर्थपरिभावनं करुणात्मकं च कथनं तैरेव हेतुभिर्हे जिन! तव वाणीप्रभावतो निखिलतत्त्वनिर्णयो माध्यस्थ्यमण्डितं मनो निर्वाणाधिगतिश्च भवतीत्याह—

यैरेव हेतुभिरनिश्चयवत्सलानां
सत्त्वेष्वनर्थविदुषां करुणापदेशः ।
तैरेव ते जिन ! वचस्स्वपरोक्षतत्त्वा
माध्यस्थ्यशुद्धमनसः शिवमाप्नुवन्ति ॥२२॥

यैरेवेति–'यैरेव हेतुभि', अनिश्चयवत्सलानाम्, सत्त्वेषु अनर्थविदुषा करुणापदेश', हे जिन ! तव वच सु [समधिगतेषु] तैरेव अपरोक्षतत्त्वा माध्यस्थ्यशुद्धमनसः शिवमाप्नुवन्ति' इत्यन्वयः । यैरेव **हेतुभिः** मिथोविरोधमापन्नैरेकान्तवादोपदर्शितैर्हेतुभूतैर्युक्तिजालै', **अनिश्चयवत्सलानाम्** अनिश्चयः–निश्चयाभावः संशय इति यावत्, स वत्सल· प्रियो येषा तादृशानाम्, स्वाभ्युपगतैकान्तनित्यत्वादिवादे पराभ्युपगतैकान्तानित्यत्ववादिवादोपदर्शितयुक्तिकलापविरोधतो न निर्णयं कर्तुं प्रगल्भन्ते, एव स्वानभ्युपगतैकान्तानित्यत्ववादमपि स्वाभ्युपगतैकान्तनित्यत्वादिवादोपदर्शितयुक्तिकलापविरोधतो न निर्णेतु प्रभवन्ति, तथा च किमिदं तथ्यमिद वेति सशयदोलामधिरूढानामेकान्तादिनामित्यर्थ, पुनः कीदृशानाम् ? यैरेव **हेतुभिः** इष्टवियोगानिष्टसयोगादिभि·, **सत्त्वेषु** विषमदशामापन्नेषु जीवेषु, **अनर्थविदुषाम्** अनिष्ट परिभावयताम्, **करुणापदेशः** अरे ! किमस्य पामरस्याभूद् भवति भविष्यति चेत्यादिकरुणात्मकं वचनमात्रं भवति, हे जिन ! **तव** भवत· **वचःसु** 'स्यान्नित्य स्यादनित्यः, इष्टवियोगादिसम्पादिता विपदावली स्वकृतकर्मण एव फलम्' इत्यादिप्रतिपादकेषु जिनवचनेषु समधिगतेषु सत्सु, **तैरेव** स्यात्कारसस्कृतै', दु खं स्वकृतकर्मण एव फलमित्यादिवचनानुसंहितै· पूर्वोक्तैरेव हेतुभि·, **अपरोक्षतत्त्वाः** साक्षान्निर्णीततत्त्वा', पुन· **माध्यस्थ्यशुद्धमनसः** माध्यस्थ्येन–तटस्थभावेन, राग-द्वेषराहित्येन शुद्ध–शोकाद्यनाकुलतया पवित्र मनो येषा तादृशा जिनभक्ताः, **शिवं** मोक्षसुखम्, आप्नुवन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थ· ॥ २२॥

हे जिन ! भवन्तमाश्रितानामनेकजन्मार्जितानामपि गुणाना क्षणेन विनाश एव भवति, कुतस्तत्फलोपभोग ? त्वद्विमुखस्तु जनो व्यसनोपबृंहितानि

कर्त्ता च कर्मफलमेव स चाप्यनाद्य-

स्त्वद्वाक्यनीतिरियमप्रगताऽन्यतीर्थ्यैः ॥२५॥

कर्त्तेति— कर्मफलभुक् कर्ता न, कर्मनाशो न च, कर्त्रन्तरेऽपि कर्मफलोदयो न चास्ति, कर्मफलमेव च कर्त्ता, सोऽपि चानाद्य., इयं त्वद्वाक्यनीतिरन्यतीर्थ्यैरप्रगता' इत्यन्वयः । **कर्मफलभुग्** कर्मणो-विहितनिषिद्धोपवासाभक्ष्यभक्षणादिकृतस्याष्टविधकर्मणोऽदृष्टादिपदवाच्यस्य, फल-सुखदुःखादिक भुनक्तीति कर्मभुक् कर्मफलभोक्ता उत्तरकालिकः, **कर्त्ता** कर्मानुकूलकृतिमान् पूर्वकालिक, **न** नैव, विभिन्नकालीनयोः कर्मफलभोक्तृत्वविशिष्ट-कर्मकर्तृत्वविशिष्टयोरैकान्तिकाभेदासम्भवात्, **कर्मनाशः** कर्मण.-ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणः सर्वथा नाश., **न च** नैव, कर्मनाशककारणोपनिपाते सति क्षीरनीरन्यायेनात्मप्रदेशै. सममपृथग्भावापन्नस्य कर्मपुद्गलस्य पृथग्भाव एव भवति न तु विनाशः, **कर्त्रन्तरेऽपि च** कर्मकर्तृभिन्नपुरुषेऽपि च, **कर्मफलोदयः** अन्यकर्तृककर्मफलाविर्भाव., **नास्ति** न भवति, नाहि चैत्रकर्तृकस्य कर्मणः फलं मैत्रे भवतीति, **च** पुन. **कर्ता** कर्मानुकूलवर्त्तमानकालीनकृतिमान्, **कर्मफलमेव** पूर्वजन्मकृतस्य कर्मणः साध्यभूतप्रयत्नवत्त्वात् फलमेव, पूर्वबद्धकर्मोदयत एवैतद्भवीयकर्मानुकूलयत्नवान् भवति पुरुषो नान्यथा, कर्माभावे तज्जन्यप्रयत्नाभावात् तदाश्रय. कर्त्ता न स्यादेव दण्डाभावे दण्ड्यभाववत्; **सोऽपि च** कर्मफलस्वरूपः कर्त्ताऽपि च, **अनाद्यः** आद्यरहित प्रवाहत. कर्मकर्तृपरम्पराया आदिरहितत्वात्, यस्मिन् काले कर्त्ता न स्यात् तदनन्तर कर्मापि तत्प्रयत्नबद्ध न भवेत्, कर्माभावे उत्तरकर्मानुकूलप्रयत्नवान् कर्त्ताऽपि न स्यादित्येवं कर्मकर्तृपरम्परोच्छित्तिरेव स्यात्, हे जिन ! **इयम्** अनन्तरमुपवर्णिता **त्वद्वाक्यनीतिः** त्वदुक्तानेकान्ततत्त्वोपदर्शकस्याद्वादनीति', **अन्यतीर्थ्यैः** एकान्तवादिभि., **अप्रगता** प्रकर्षेणावगता नेत्यर्थः, यद्वा कर्ता कर्मफलभुग् न तर्हि किं कर्म फलमदत्त्वैव नश्यतीत्यत आह-**न च कर्मनाशः**, तर्हि कि कर्त्रन्तरे फलोदयोऽस्ति ? इत्यत आह— **कर्त्रन्तरेऽपि च न फलोदयोऽस्ति**, तर्हि कर्मणः कि फलमित्याह-**कर्ता च कर्मफलमेवे**ति व्याख्येयम्, अन्यत् समानम् ॥२५॥

हे जिन ! भीतस्य तव वीरेति नामकरणममरेन्द्रस्याबोधविजृम्भितमेवेति निन्दाव्याजेन स्तुतिमाह—

भीरोः सततस्तव कथं त्वमरेश्वरोऽसौ
वीरोऽयमित्यनवधाय चकार नाम ।
मृत्योर्न हस्तपथमेत्य बिभेति वीर-
स्त्वं तस्य गोचरमपि व्यतियाय लीनः ॥२६॥

भीरोरिति–'हे जिन ! असौ त्वमरेश्वर., भीरो. सतस्तवानवधाय वीरोऽयमिति नाम कथ चकार, वीरो मृत्योर्हस्तपथमेत्य न बिभेति, लीनस्त्वं तस्य गोचरमपि व्यतियाय' इत्यन्वय· । हे जिन ! **असौ** सर्वलौकिकपरीक्षकप्रसिद्धः, **अमरेश्वरः** शक्रेन्द्रः, **भीरोः सततस्तव** भयशालिनः सततस्तव, **अनवधाय** तव स्वभावमविज्ञाय, **वीरोऽयमिति** अयं वीरपदवाच्य इत्येवं, **नाम** संज्ञाम्, **कथं चकार** केन हेतुना कृतवान्, अह भीरुरित्येव त्व कथं ज्ञातवानसि येन भीरो. सत इति कथयसीति भगवता पृष्ट इवाह—**मृत्योरि**ति–यमस्येत्यर्थः, **हस्तपथं** हस्तमार्गम्, **एत्य** प्राप्य, **वीरः** पराक्रमशाल्युत्साहवान् पुरुष , **न बिभेति** न जातुचिद्भयवान् भवति, **लीनस्त्वं** अत्यन्तविदूरं यत्र मृत्युरपि न यातुमल तादृशलोकाग्र्यवस्थित मुक्तिधाम गतस्त्वम्, **तस्य** मृत्योः, **गोचरमपि** चक्षुरादिप्रचारप्रदेशमपि, **व्यतियाय** व्यतिक्रान्तवानसि, यो यतो भीतः स तथा गुप्तस्थान गत्वा लीनो भवति यथा तस्य दृष्टिगोचरोऽपि न भवतीति लोकस्थितिरित्यर्थ· ॥२६॥

हे जिन ! रवि-शशिप्रकाशातिशायिप्रकाशस्त्वमसीति स्तूयसे विज्ञैरित्याह–

नादित्यगर्वजमहस्तव किञ्चिदस्ति
नापि क्षपा शशिमयूखशुचिप्रहासा ।
रात्रिंदिनान्यथ च पश्यसि तुल्यकालं
कालत्रयोत्पथगतोऽप्यनतीतकालः ॥२७॥

नादित्यगर्वजमह इति—'हे वीर ! तव आदित्यगर्वजमहः किञ्चिन्नास्ति शशिमयूखशुचिप्रहासा क्षपा न, अथ च रात्रिदिनानि तुल्यकालं पश्यसि, कालत्रयोत्पथगतोऽप्यनतीतकाल' इत्यन्वय । **तव भवतो** जिनस्य, **आदित्यगर्वजम्** आदित्यस्य—सूर्यस्य, यो गर्वः—स्पष्टप्रकाशजनकत्वविषयकः 'अहमेव लोके सर्वस्य जनस्य स्पष्टप्रकाशकः' इत्यभिमानलक्षणः, तस्माज्जातम्, **अहः** प्रत्यक्षजनकसामग्र्यन्तर्गतसूर्यालोकविशिष्टं दिनम्; **न किञ्चिदस्ति** तुच्छ निष्प्रयोजनमित्यर्थः, ज्ञानावरणीयकर्मात्यन्तक्षयजनितस्य त्वत्प्रत्यक्षस्य चक्षुरादीन्द्रियाजन्यत्वेन तत्सहकारिसूर्याद्यालोकानपेक्षत्वात, दिनजातप्रत्यक्षे सूर्यालोक इन्द्रियसहकारितया कारणम्, निशाप्रभवप्रत्यक्षे चन्द्रालोकस्तथा कारणम्, अतो निशाऽपेक्षणीया स्यादित्यपि न वाच्यम्, तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियाजन्यत्वेन यथा न सूर्यालोकापेक्षा, तथा चन्द्रलोकापेक्षाऽपि न भवतीत्याह—**नापि क्षपे**ति । **शशिमयूखशुचिप्रहासा** शशिनः चन्द्रस्य, ये मयूखाः—किरणाः, तैः शुचिः—श्वेतवर्णः, प्रहासः प्रहसनं यस्याः सा तथा, हास्यस्य श्वेतवर्णत्वमामनन्ति काव्यविदः, **क्षपा रात्रिः, नापि** नैव, तवेति सम्बध्यते । **अथ च** स्वप्रत्यक्षकारणतया दिन-रजन्योरभावेऽपि च, **रात्रिदिनानि** रजनिदिनानि, **तुल्यकालं** समकालम्, **पश्यसि** त्वं साक्षात्करोषि, लोकालोकात्मकाखिलविश्वविषयकस्य त्वत्प्रत्यक्षस्य युगपदेव सर्वविषयकत्वात्, कीदृशस्त्वम् । **कालत्रयोत्पथगतोऽपि** कालत्रयमुलङ्घ्यान्यमार्गं गतोऽपि, **अनतीतकालः** अनतीत. अनुल्लङ्घित. कालो येन स तथेति विरोधः, तत्परिहारे कालत्रयेण उत्सृष्ट पन्था यस्य तत् कालत्रयोत्पथम्, यत्रस्थाना कालत्रयकृतविशेषो नास्ति तादृश मुक्तिधामेत्यर्थ, तद्गतः तत्प्राप्तः, पुन न विद्यतेऽतीतकालो यस्य स तथा, स्वप्रागभावाधिकरणकालोऽनागतकालः, स्वाधिकरणकालो वर्तमानकाल, स्वध्वंसाधिकरणकालोऽतीतकाल, सर्वदावतिष्ठमानो भगवान् न कदापि विनाशमुपयातीत्यनतीतकाल इत्यर्थ ॥२७॥

कमल-कुमुदविकाशकाभ्यां चन्द्र-सूर्याभ्यां सर्वत्रास्खलितप्रकाशस्य जिनस्य वैशिष्ट्यावबोधनेन स्तुतिं विदधाति—

चन्द्रांशवः कमलगर्भविषक्तमुग्धाः
सूर्योऽप्यजातकिरणः कुमुदोदरेषु ।

वीर ! त्वमेव तु जगत्यसपत्नवीर-
स्त्रैलोक्यभूतचरिताप्रतिघप्रकाशः ॥२८॥

चन्द्रांशव इति–'कमलगर्भविषक्तमुग्धाश्चन्द्रांशव , कुमुदोदरेष्वजातकिरणः सूर्योऽपि, हे वीर ! त्रैलोक्यभूतचरिताप्रतिघप्रकाशो जगत्यसपत्नवीरस्त्वमेव तु' इत्यन्वयः । **कमलगर्भविषक्तमुग्धाः** कमलगर्भे सङ्कुचितपद्मपत्रनिचये, विषक्ते–मध्ये विशेषेण सम्बन्धे, मुग्धाः–असमर्थाः कातरा , अन्तः प्रविश्य कमल प्रकाशयितुमनिपुणा इति यावत्, **चन्द्रांशवः** चन्द्रकराः, **कुमुदोदरेषु** रात्रौ विकाशिनि दिवसेऽविकाशिनि पुष्पविशेषे कुमुदसंज्ञा, कुमुदस्य पुष्पविशेषस्य उदरेषु–गर्भभागेषु, **अजातकिरणः** एतत्स्थाने 'अयातकिरण ' इति पाठः सम्यगाभाति, अयाता अप्रविष्टाः किरणा यस्य सोऽयातकिरण . कुमुदोदरप्रवेशपराङ्मुखकिरणः, **सूर्योऽपि** दिनकरोऽपि, हे वीर ! **त्रैलोक्यभूतचरिताप्रतिघप्रकाशः** त्रैलोक्ये त्रिभुवने यानि भूतानि तेषा चरितेषु--हिताहिताचरणेषु, अप्रतिघ. प्रतिबन्धरहित. प्रकाशो यस्य स त्रैलोक्यभूतचरिताप्रतिघप्रकाशः, त्रैलोक्यगताशेषभूताचरणप्रकाशक इत्यर्थः, **जगति** ससारे **असपत्नवीरः** सपत्न. प्रतिपक्षो वीरो यस्य स सपत्नवीरः, न विद्यते सपत्नवीरो यस्य सोऽसपत्नवीरः, अन्यानभिभवनीयपराक्रमशालीत्यर्थः, तुर्विशिनष्टि–**त्वमेव** भवानेव, त्वत्तोऽन्य ईदृशो नास्तीत्यर्थः ॥२८॥

चन्द्र सूर्यप्रकाश्यप्रकाशकजिनप्रकाशविभव मातुं न कोऽपि समर्थ इत्यमेयप्रकाशविभवस्त जिनस्तौति इति—

यश्चाम्बुदोदरनिरङ्कुशदीप्तिरर्क-
स्तारापतिश्च कुमुदद्युतिगौरपादः ।
ताभ्यां तमोगुपिलमन्यदिव प्रकाश्यं
कस्तं प्रकाशविभवं तव मातुमर्हः ॥२९॥

यश्चेति–अन्वयो यथाश्रुतानुसार्येव । **यश्च** यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इति ताभ्यामित्युत्तरस्यतच्छब्दाभिसम्बद्धो य इति–य. पुन', **अम्बुदोदरनिरङ्कुशदीप्तिः**

अत्र '**अम्बुजोदरनिरङ्कुशदीप्तिः**' इति पाठः सम्यगाभाति, अम्बुजस्य–भस्य, उदरे–अन्त., निरङ्कुशा–अप्रतिघा, दीप्ति –प्रकाशो यस्य सोऽम्बुजोदरनिरङ्कुशदीप्तिः, **अर्कः** सूर्यः, **च** पुन, **तारापतिः** चन्द्र., **कुमुदद्युतिगौरपादः** कुमुदस्य–चन्द्रविकाशिपुष्पविशेषस्य द्युत्या–कान्त्या, गौरा–श्वेताः, पादः–किरणा यस्य स कुमुदद्युतिगौरपाद, कुमुदद्युत्यत्यन्तसम्बन्धोपजातातिश्वेतकिरणश्चन्द्र., **ताभ्यां** रविचन्द्राभ्याम्, **प्रकाश्यं** प्रकाशनीय वस्तु, **तमोगुपिलम्** अनावृतबाह्यभागमात्रे प्रकाश्यतया तदन्येपु चावृतान्तरस्थप्रचुरभागेष्वप्रकाश्यतया अज्ञातप्रचुरभागपर्यवसितान्धकारगहनम्, उत्तरत्रोपात्ततच्छब्दसामर्थ्याद् 'यतः' इति लभ्यते; तेन **यतोऽन्यदिव** यत सकलदेशावच्छेदेन वीरप्रकाशविभवप्रकाश्यादन्यदिव वर्तत इति शेष., अतः **तव** जिनस्य, **तं** चन्द्र सूर्यप्रकाशविलक्षणं तमोलेशासस्पृष्टतया वस्तुमात्रविषयकम्, **प्रकाशविभवं** प्रकाशैश्वर्यम्, **मातुम्** इयदेतदित्येव परिच्छेत्तुम्, **कोऽर्हः** ?–कः समर्थ ?–न कोऽपि समर्थः ॥२९॥

किञ्चिद्विषयक ज्ञान वर्त्तमान, किञ्चिद्विषयक ज्ञानं भावि, किञ्चिद्विषयकं ज्ञान भूतमित्येव विभजन, किञ्चिद् वस्तु ज्ञातं इति, किञ्चिच्च ज्ञातव्यमित्येवं वा विभजनं न भगवन्तमधिकृत्य सम्भवति युगपदेव नित्यविषमस्वभावविश्वविषयकसाक्षात्कारज्ञानवत्त्वाद्, अत सर्वोत्कृष्टतया नमस्यो भगवान् वीर इति तस्मै भगवते महावीरायाचिन्त्यचरिताय नित्यं नमस्कारोऽस्त्वित्याह–

नाथान् विवित्ससि न वेत्स्यसि नाप्यवेत्सी-
न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैलोक्यनित्यविपमं युगपच्च विश्वं
पश्यस्यचिन्त्यचरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥३०॥

नार्थानिति––'अर्थान् न विवित्ससि न वेत्स्यसि नाप्यवेत्सी न ज्ञातवानसि, हे अच्युत ! ते वेद्य नास्ति, त्रैलोक्यनित्यविषम विश्वं युगपच्च पश्यसि, अचिन्त्यचरिताय तुभ्यं नमोऽस्तु' इत्यन्वयः। हे वीर ! त्वम् **अर्थान्** पदार्थान्, **न विवित्ससि** न वेत्तुमिच्छसि, **न वेत्स्यसि** अर्थानित्यनुवर्त्तते, अर्थविपयकभविष्यत्कालीनज्ञानवान्न त्व, **नाप्यवेत्सीः** अर्थविषयकभूतकालीनज्ञानवान्न

त्वम्, **न ज्ञातवानसि** वर्तमानकालिकज्ञानवांस्त्व न, हे **अच्युत** ! सर्वदा अविनाशिस्वरूप ! **ते** तव, **वेद्यं** ज्ञातव्यम्, **नास्ति** न विद्यते, अच्युतेति सबोधनसामर्थ्यादेव नार्थान् विवित्ससीत्यादिनिषेधाना समन्वयो भगवत्युपपद्यते, अविनाशिनि भगवति विनाशिवर्त्तमान भविष्यदतीतज्ञानसम्बन्धस्य तादात्म्यलक्षणस्याम्भवादिति बोध्यम्, **त्रैलोक्यनित्यविषमं** त्रयाणा लोकाना समाहार एव त्रैलोक्यं तस्मिन् नित्य–सर्वदा, विषमं–किञ्चिदिष्ट किञ्चिदनिष्टं किञ्चदुपेक्ष्यं यदेवैकस्य दुःखसाधन तदेवान्यस्य सुखसधन यदेवैकस्य मित्र तदेवान्यस्य शत्रुरित्येव विषमम्. **विश्वं**–निखिलं वस्तु, **पश्यसि** साक्षात्करोषि, ततः **अचिन्त्यचरिताय** अचिन्त्यं चिन्तयितुमशक्यम्, चरितमाचरणं यस्य सोऽचिन्त्यचरितस्तस्मै, **तुभ्य** भगवते वीराय, **नमः** स्वावधिकोत्कृष्टत्वप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारलक्षणो नमस्कार., **अस्तु** भवत्वित्यर्थ. ॥३०॥

अद्भुतोऽप्यशेषपदार्थस्वभावो जिनज्ञानसमुद्रान्तर्गतः समान एवेति जिनेनाद्भुतो भवतीत्याह—

शब्दादयः क्षणसमुद्भवभङ्गशीलाः
संसारतीरमपि नास्त्यपरं परं वा ।
तुल्यं च तत् तव तयोरपरोक्षगाप्सु
त्वय्यद्भुतोऽप्ययमनद्भुत एव भावः ॥३१॥

शब्दादय इति—'शब्दादयः क्षणसमुद्भवभङ्गशीला., अपर परं वा ससारतीरमपि नास्ति, तव अपरोक्षगाप्सु तयोस्तत् तुल्यम्, अद्भुतोऽप्ययं भावः, त्वयि अनद्भुत एव' इत्यन्वय. । **शब्दादय** इति—आदिपदादन्यपदार्थानामुपग्रहः, बौद्धदिशैलीमनरुध्यादौ शब्दोपन्यास, **क्षणसमुद्भवभङ्गशीलाः** क्षणे–एकैकस्मिन् अविभाज्यकालांशे, यः समुद्भवः- वर्तमानपर्यायापेक्षया समुत्पत्तिः, यश्च भङ्गः–पूर्वपर्यायापेक्षया विनाश., तौ शीलं—स्वभावो येषा ते तथा, यद्वा क्षणे–वर्तमानक्षणे वर्तमानपर्यायापेक्षया यः समुद्भवः, यश्च क्षणे–तदव्यवहितोत्तरक्षणे वर्तमानपर्यायस्य भङ्गः, तौ शीलं येषा ते तथा, यद्वा क्षणेन

समुद्भवो यस्य तादृशो यो भङ्गः, स शीलं येषां ते तथा, क्षणिकत्वमुद्भवस्येद-मुपलक्षणम्, वस्तूनां प्रतिक्षणं पर्यायाः परिवर्तन्ते, तत्र पूर्वपूर्वपर्यायापेक्षया नाशः, उत्तरोत्तरपर्यायापेक्षया चोत्पत्तिरिति सन्स्थितिः, एतावता समुद्भवस्य भङ्गस्य च क्षणमितः काल इति दर्शितम्, **अपरम्** आदिभूतम, **च** पुनः, **परम्** अन्तभूतम्, **संसारतीरमपि नास्ति** संसारः–जीवाजीवादिपदार्थ-समूहात्मकं जगत्, तीरपदसमभिव्याहारात तदात्मको यः सागरस्तस्य तीरम्–अवधिभागः, अपिस्त्वर्थे, नास्ति–न विद्यते, समारसागरस्यादिरन्तश्च नास्तीत्यर्थः, अद्भुतोऽयं भावः, यदुत–उत्पाद-विनाशयोः क्षणेन कालनियमनम, संसारसाग-रस्य तु सर्वथा न, हे जिन! **नच** सर्वविदो भवतः, **अपरोक्षगाप्सु** अपरोक्षं–प्रत्य-क्षात्मकं यत् केवलज्ञानम्, तद् गच्छन्ति तद्रूपसागरे निज्जन्तीति अपरोक्षगाः, एवंविधा ये निखिलाः पदार्थास्तद्रूपासु अप्सु–जलेषु, जलतरङ्गवदनुपल नवनव-दशामापद्यमाना ये निखिलाः पदार्थास्तेषु तव ज्ञानादर्शे संक्रान्तेषु सत्सु, **तयोः** उत्पाद–विनाशयोः 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा'' 'दर्शेते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः'' इत्यादिवद् गौणयोरपि परामर्शोऽत्र। **तुल्यं** समानम्, **तत्** संसारतीरम्, यथा भवान् समुद्भव-भङ्गौ व्यक्त्यपेक्षया सावधिकौ प्रवाहापेक्षया निरवधिकौ पश्यति तथा संसारमपि व्यक्त्यपेक्षया सावधिकं प्रवाहापेक्षया निरवधिकं पश्यतीत्यर्थः, अतः **अद्भुतोऽपि** आश्चर्य-जनकोऽपि, **अयं भावः** अधुनोपवर्णनेन हृदि वर्तमानो भावः, **त्वयि** सकल-लोकालोकावलोकिनि जिने भवति, **अनद्भुत एव** नाश्चर्यजनकः ॥३१॥

वसन्ततिलकावृत्तेनैतावत्स्तुतिपद्यकदम्बकं विरच्य द्वितीयां द्वात्रिंशिकां परिपूर्णां कर्तुकामोऽन्तिमपद्यं पृथ्वीवृत्तेन विरचयति—

अनन्यमतिरीश्वरोऽपि गुणवाक् समाः शास्वती-
र्यदा न गुणलोकपारमनुमातुमीशस्तव ।
पृथग्जनलघुस्मृतिर्जिन! किमेव वक्ष्याम्यहं
मनोरथविनोदचापलमिदं तु नः सिद्धये ॥३२॥

[पृथ्वी]

अनन्यमतिरिति—' जिन ! यदाऽनन्यमतिरीश्वरोऽपि, शाश्वतीः समाः, गुणवाक् तव गुणलोकपारमनुमातुमीशो न, [तदेति शेषः] पृथग्जनलघुस्मृतिरहं किमेव वक्ष्यामि, इदं तु मनोरथविनोदचापलं न सिद्धये' इत्यन्वयः। हे **जिन !**, यदा **अनन्यमतिः** अन्या–अन्यविषया जिनगुणव्यतिरिक्तपदार्थविषयेति यावत् ; मतिः–ज्ञानं यस्य सोऽन्यमतिः, नान्यमतिरनन्यमतिः, यद्यपि सर्वदा सर्वविषयकज्ञानवानीश्वरः कदाप्यनन्यमतिर्न भवत्येव तथाप्युत्प्रेक्ष्यते— शङ्के अनन्यमतिरिति, जिनगुणैकतानचित्तः, **ईश्वरोऽपि** ऐश्वर्यशाल्यपि पुरुषोत्तमः, **शाश्वतीः समाः** असङ्ख्येयवर्षं यावत् , **गुणवाक्** गुणवचनतत्परः, **तव** जिनस्य, **गुणलोकपारं** गुणनिकरान्तम् , **अनुमातुम्** एतावन्तो जिनस्य गुणा इत्येवं परिच्छित्तिविषयं कर्तुम् , **ईशः** समर्थः, **न** नैव, यदेश्वरोऽपि तव गुणनिकरपरिच्छित्तिकरणे न समर्थस्तदा, **पृथग्जनलघुस्मृतिः** रथ्यापुरुषादिसाधारणजनवदल्पविषयकस्मरणवान् यावदनुभूतं तावदपि स्मर्तुमसमर्थः कतिपयानुभवविषयविषयकस्मरणवानिति यावत्, **अहं** सिद्धसेनदिवाकरः, **किमेव वक्ष्यामि** न वक्तु योग्योऽस्मि, तर्हि किमिदं क्रियत इत्याकाङ्क्षायामाह–**इदं त्वि**ति— प्रस्तुतजिनगुणवर्णनं पुनरित्यर्थः, **मनोरथविनोदचापलं** मनोरथः त्वद्गुणगानकरणाभिलाषः, विनोदः–त्वद्गुणगानजन्यानन्दोल्लासः, तत्सम्पादनाय, चापलं बालचेष्टितम् , **नः** अस्माकम् , **सिद्धये** मोक्षसुखाय, क्रीडया कृतमपि जिनस्तवनं भक्तिभरोल्लसितं परम्परया मोक्षप्राप्तये स्यादेवेत्यर्थः । "जसौ जसयला वसु-ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु" इति लक्षणलक्षितत्वात् पृथ्वीवृत्तमिदम् ॥३२॥

गम्भीरार्थसमष्टिमात्रखचिता क्वेयं स्तुतिर्दुर्ग्रहा
क्वाहं मन्दमतिस्तदर्थकरणे वैषम्यमेतत् परम् ।
व्याख्यानाज्ञतया तु खेलतुतरां वीरो मनोमन्दिरे
भावं मन्दतरोऽवगच्छतु ततो यत्नो ममायं फली ॥१॥

इति श्रीतपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेतिपदालङ्कृतेन श्रीविजयलावण्यसूरिणा विरचितायां किरणावलीनाम्न्यां विवृतौ द्वितीया द्वात्रिंशिकाव्याख्या समाप्ता ॥

तृतीया द्वात्रिंशिका ।

भक्त्या श्रीनेमिसूरेरधिगतविविधव्याकृतिप्रक्रियोऽथा-
नेकग्रन्थार्थसारो जिनमतनिरतोऽधीतसिद्धान्तसारः ।
सूरिर्लावण्यनामा स्वजनिसफलतैकान्तसिद्ध्यै तृतीये
भागे द्वात्रिंशिकानां विवृतिमिह शुभां गूढसारे तनोति ॥१॥

पुरुषोत्तमत्वाऽचिन्त्यगुणतादात्म्यापन्नत्वादिधर्मवतो जिनस्य स्तुतिमारभते—

अनन्यपुरुषोत्तमस्य पुरुषोत्तमस्य क्षिता-
वचिन्त्यगुणसात्मनः प्रभवविक्रियावर्त्मनः ।
प्रसादविजितस्मृतिर्गणयितुं मतिप्रोद्गमं
स्तवं किल विवक्षुरस्मि पुरुहूतगीतात्मनः ॥१॥

[पृथ्वी]

अनन्यपुरुषोत्तमस्येति । "क्षितौ अनन्यपुरुषोत्तमस्य पुरुषोत्तमस्य अचिन्त्यगुणसात्मनः प्रभवविक्रियावर्त्मनः पुरुहूतगीतात्मनः स्तवं मतिप्रोद्गमं गणयितुं प्रसादविजितस्मृतिः विवक्षुरस्मि किल" इत्यन्वयः । **क्षितौ** पृथिव्याम्, **अनन्यपुरुषोत्तमस्य** अन्येषामन्यो वा पुरुषोत्तमोऽन्यपुरुषोत्तमः, न अन्यपुरुषोत्तमोऽनन्यपुरुषोत्तमस्तस्य, वेदान्त्याद्यभिमतपुरुषोत्तमभिन्नस्य जीवभिन्नेश्वरस्वरूपपुरुषोत्तमभिन्नस्य वा—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥३॥"

[गीता—अ० १६, श्लो० १६, १७, १८]

इत्यादिगीतावचनेभ्योऽन्यपुरुषोत्तमस्वरूपावगतिर्भवति, तत्र द्वाविमाविति श्लोकत्रयव्याख्यानं मधुसूदनस्येत्थम्—

एवं सोपाधिकमात्मानमुक्त्वा क्षराऽक्षरशब्दवाच्यकार्य-कारणोपाधिद्वयवियोगेन निरुपाधिकं शुद्धमात्मानं प्रतिपादयति कृपया भगवानर्जुनाय त्रिभिः श्लोकैः—

द्वाविमौ-पृथग्राशीकृतौ, पुरुषौ-पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ, लोके-संसारे, कौ तावित्याह-क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः, न क्षरतीत्यक्षरो विनाशरहितः, क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं भगवतो मायाशक्तिर्द्वितीयः पुरुषः, तौ पुरुषौ व्याचष्टे स्वयमेव भगवान्-'क्षरः सर्वाणि भूतानि'-समस्त कार्यजातमित्यर्थः, कूटस्थः-कूटो यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थ-वस्तुप्रकाशन वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरम्, तेनावरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितः कूटस्थः, भगवान् मायाशक्तिरूपः कारणोपाधि संसारबीजत्वेनानन्त्यादक्षर उच्यते, केचित् तु-क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यनेन जीव-माहुस्तन्न सम्यक्, क्षेत्रज्ञस्यैवेह पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपाद्यत्वात्, तस्मात् क्षराऽ-क्षरशब्दाभ्या कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येवमुक्तम् ॥ १६ ॥(१)

आभ्यां क्षराऽक्षराभ्या विलक्षणः क्षराऽक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पष्टो नित्यशुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव उत्तमः-उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्य —अन्य एवात्यन्तविलक्षणः, आभ्या क्षराऽक्षराभ्या जडराशिभ्यामुभयभासकस्तृतीयश्चेतनराशिरित्यर्थः, परमा-त्मेत्युदाहृतः-अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमया-ऽऽनन्दमयेभ्य पञ्चभ्योऽविद्या-कल्पितात्मभ्यः परमः-उत्कृष्टोऽकल्पितो "ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" [तैत्ति. २।५] इत्युक्त आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु, यः परमात्मा लोकत्रय-भूर्भुवःस्वराख्य, सर्व जगदिति यावत् आविश्य-स्वकी-यया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति-सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च, कीदृशः ? अव्ययः-सर्वविकारशून्यः, ईश्वरः-सर्वस्य नियन्ता नारायणः, स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्युदाहृत इत्यन्वयः, "स उत्तमः पुरुषः" [छा. ८।१२।३] इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ (२)

इदानीं यथाव्याख्यातेश्वरस्य क्षराऽक्षरविलक्षणस्य पुरुषोत्तम इत्येतत्प्रसिद्ध-नामनिर्वचनेन ईदृशः परमेश्वरोऽहमेवेत्यात्मानं दर्शयति भगवान् "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं तद्धाम परमं मम" इत्यादिप्रागुक्तनिजमहिमनिर्धारणाय-यस्मात् क्षर-कार्यत्वेन विनाशिनं मायामयं संसारवृक्षमश्वत्थाख्यम्, अतीतः अतिक्रान्तः, अहं परमेश्वरः, अक्षरादपि-मायाख्यादव्याकृतात् "अक्षरात् परतः परः" इति पञ्चम्यन्ताक्षरपदेन श्रुत्या प्रतिपादितात् संसारवृक्षबीजभूतात् सर्वकारणादपि,

चोत्तमः—उत्कृष्टतमः, अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यामध्यासेन पुरुषपदव्यपदेश्याभ्यामुत्तमत्वात्, अस्मि—भवामि, लोके वेदे च प्रथितः—प्रख्यातः, पुरुषोत्तम इति, स उत्तमः पुरुष इति वेदे उदाहृत एव लोके च कविकाव्यादौ "हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः" इत्यादि प्रसिद्धम् इति ॥१८॥ (३)

पुरुषोपाधित्वेन कल्पितपुरुषपदव्यपदेश्याभ्यां क्षराऽक्षराभ्यामुत्तमत्वेन पुरुषोत्तम इति पराभिमतो हरिरन्यपुरुषोत्तमो न वस्तुतः पुरुषोत्तम इति तदन्योऽनन्यपुरुषोत्तमस्तस्येत्यर्थः: **पुरुषोत्तमस्य** पुरुषेषु—जीवेषु, केवलज्ञानादिमत्त्वेनोत्कृष्टस्य, कर्मावरणापगमानन्तरं शुद्धबुद्धमुक्तत्वान्यथ्यस्येति तद्वत्त्वेनाप्युत्कृष्टस्य. **अचिन्त्यगुणसात्मनः** अचिन्त्याः—चिन्तयितुमशक्या गुणा अचिन्त्यगुणास्तैः सात्मनः—ऐक्यमापन्नस्य, एवं च अचिन्त्यगुणैक्यमापन्नस्याचिन्त्यत्वं सिद्धं भवति; **प्रभवविक्रियावर्त्मनः** प्रभवाः—जन्मपरंपरा, तेषां या विक्रिया—विरुद्धा क्रिया, दर्शन-ज्ञान चारित्रपरिशीलनमित्यर्थः, तस्या वर्त्मनः—मार्गस्य, प्रवर्तकस्येत्यर्थः, **पुरुहूतगीतात्मनः** पुरुहूतः—पुरन्दरः, तेन गीतः—स्तुतः आत्मा यस्य स पुरुहूतगीतात्मा, तस्य. **मतिप्रोद्गमं** मतेः—प्रतिभायाः, प्रकर्षेणोद्गमः—आविर्भावो यत्र तत् मतिप्रोद्गमं, **स्तवं** तद्गुणगौरवोपवर्णनम्, **गणयितुं** भूयः परावर्तयितुम्, **प्रसादविजितस्मृतिः** भगवतः प्रसादेन—'अयमविचलिताशेषानुभूतविषयकस्मृतिमान् भवतु' इत्याकारकेच्छालक्षणेनेव भगवत्सांमुख्येन, विजिता—स्ववशे स्थापिता स्वाधीनेति यावत्, स्मृतिः—स्मरणं यस्य स प्रसादविजितस्मृतिः, यदा यं गुणमुपादाय भगवन्तं स्तोतुमिच्छति तदा तद्गुणस्मृतिर्भगवत्प्रसादाद् भवत्येव, भगवत्प्रसादाभावे तु तद्गुणस्मरणाभावात् कथं तं गुणमुपादाय भगवत्स्तुतिं प्रोल्लसेदित्यभिसन्धिः, **विवक्षुः** वक्तुमिच्छुः, भगवतः स्तवनं तु स्वमहिम्नैव सुप्रतिष्ठितं, केवलं स्ववचननिर्मलीकरणाय तद् वक्तुकामोऽहमित्याशयः, **अस्मि** अहं सिद्धसेनदिवाकरः, **किले**ति सम्भावनायां, सम्भावयाम्यहमित्थम्, स्तववचनोद्गमस्तु तत्प्रसादैकलभ्य इत्यर्थः ॥ 'जसौ जस-य-लावसु-ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।' इति लक्षणलक्षितत्वात् पृथ्वीवृत्तमिदम्, एवमग्रेऽपि ॥ १ ॥

हे वीर ! त्वदाश्रयणकृतादरा अनेकान्तवादिन एकान्तवादिभिः शठैरपाकृता अपि सुखमध्यासत इति लोकानां त्वमेव शरणमसीत्याह—

व्यलीकपथनायकैर्हितपरिश्रमच्छद्मभि-
र्निरागसि सुखोन्मुखे जगति यातनानिष्ठुरैः ।
अहो ! चिरमपाकृताः स्म शठवादिभिर्वादिभि-
स्त्वदाश्रयकृतादरास्तु वयमद्य वीर ! स्थिताः ॥२॥

व्यलीकपथनायकैरिति । "हे वीर ! व्यलीकपथनायकैर्हितपरिश्रमच्छद्मभिर्निरागसि सुखोन्मुखे जगति यातनानिष्ठुरैः शठवादिभिर्वादिभिः, चिरमपाकृताः स्म वयम्, अद्य अहो त्वदाश्रयकृतादरास्तु स्थिताः" इत्यन्वयः । **व्यलीकपथनायकैः** व्यलीकः—अभीष्टप्राप्त्यजनकत्वाच्छशशृङ्गादिकल्पः, पन्थाः—सुखत्याद्युपायोपदर्शनमार्गो येषां ते एकान्तवादिनो व्यलीकपथास्तेषां नायकाः—तत्तद्दर्शनोपदेष्टारो व्यलीकपथनायकाः, तत्तद्दर्शनोपदिष्टपदार्थतत्त्वप्ररूपका अपि तथा, तैर्व्यलीकपथनायकैः; **हितपरिश्रमच्छद्मभिः** हिताय—पश्वादीनां स्वर्गादीष्टवस्तुप्रापणाय, परिश्रमः—यज्ञीयवधादिकोऽस्माकं प्रयत्नः, इति छद्म—माया येषां तादृशैः **निरागसि** अपराधरहिते, **सुखोन्मुखे** सुखं मे भवत्विति कामनया सुखोपायान्वेषणप्रवणे, **जगति** जगदन्तर्गतजडपदार्थस्य सुखोन्मुखत्वाभावाज्जगत्पदमत्र चेतनमात्रपरमिति जीवे, **यातनानिष्ठुरैः** पीडाजनने दयालवरहितैः, निष्करुणैः, अत एव यज्ञादावजादिजीवघातपरायणैः; **शठवादिभिः** शठाः—साधुजनद्वेषशालिनश्च—वादिनश्च—युक्तिहीनवचनलम्पटाश्च शठवादिनस्तैः; **वादिभिः** एकान्तवादिभिः, **चिरं** यावन्न जिनमतपरिज्ञातं तावत्कालम्, **अपाकृताः** कुयुक्तिभिर्निराकृताः स्म, **वयं** जैनाः, **अद्य** जिनमतसुदृढनिरूढश्रद्धाकाले, **अहो** आश्चर्यं, **त्वदाश्रयकृतादरास्तु** जिनाश्रयणकृतभक्तयः पुनः, यदेव जिनेनोक्तं तदेव सत्यमित्येवं जिनं प्रति बहुमानेन जिनैकसेवानिरताः, **स्थिताः** परानभिभवनीयस्वस्वरूपव्यवस्थिताः, परैरेकान्तवादिभिश्चालयितुमशक्या इत्यर्थः ॥ २ ॥

"हे जिन ! भवता यथा ससारोऽस्मान् प्रति उपदर्शितस्तथैव स सत्ताम वलम्बते, अन्योपवर्णितस्तु व्यलीक एवेत्युपदर्शयति—

अनादिनिधनः क्वचित् क्वचिदनादिरुच्छेदवान्
प्रतिस्वमविशेषजन्मनिधनादिवृत्तः पुनः ।
भवव्यसनपञ्जरोऽयमुदितस्त्वया नो यथा
तथाऽयमभवो भवश्च जिन ! गम्यते नान्यथा ॥३॥

अनादिनिधन इति । "अय भवव्यसनपञ्जर क्वचिदनादिनिधन , क्वचिद-नादिरुच्छेदवान्, पुन प्रतिस्वमविशेषजन्मनिधनादिवृत्तः, हे जिन ! त्वया यथा न. उदित. तथाऽयमभवो भवश्च गम्यते, अन्यथा न" इत्यन्वय. । **अयं** सर्वेषा प्रत्यक्षविषय केनाप्यपलपितुमशक्यः, अनुभूयमानस्यापलापासम्भवात् **भवव्यसन-पञ्जरः** भवति-उत्पद्यतेऽस्मिन् जीवोऽजीवश्चेति भव.—ससार. स एव पुनः पुनरुपादीयमानत्वाद् व्यसन, तदेव स्वान्तर्जीवावस्थानहेतुत्वाद् बहिर्निगमनरोध-कत्वाच्च पञ्जर , स कीदृश. ? **क्वचित्** अनन्तससारे अभव्यजीवे, **अनादिनिधनः** आदिश्च निधन च आदिनिधने, न विद्येते आदि-निधने यस्य सोऽनादिनिधन आद्यन्तरहित इत्यर्थ ; **क्वचिद्** भव्यजीवविशेषे, **अनादिः** आदिरहित. प्रवाहत आदिरहित , पूर्वं ससाराभावे पश्चादपि ससारो न स्यादेव, **उच्छेदवान्** केवल-ज्ञानाद्यवाप्तौ कर्माष्टकविगमे सत्यत्यन्तमुच्छिद्यते ससारः; एव वैलक्षण्ये सत्यपि पुनः **प्रतिस्वं** प्रतिव्यक्ति, **अविशेषजन्मनिधनादिवृत्तः** अविशेषेण-सामान्येन, जन्मनिधनादिभिः—उत्पत्ति-मरणादिभि. वृत्त.—पूर्णः ससारपञ्जरगतानामशेषप्राणिना प्रतिव्यक्ति जन्म-मरणदु.खमविशिष्टं भवत्येव, तदुक्तम्—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥४॥

जरा तु अल्पायुषो न भवति, अतो न तस्या उपादानम् अविशेषेण प्रति-व्यक्ति तस्या अप्रवृत्ते , तत्र—

"जन्म-जरा-मरणकृतं दु.खं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्यापि निवृत्तेस्तस्माद् दु.खं स्वभावेन ॥५॥

इति सांख्याचार्यवचनं तु यस्य पूर्णायुषो न कस्यचिद् रोगादेः सम्भवस्तस्यापि कारणान्तरजन्यदुःखाभावेऽपि जन्मादिजन्य दुःखं भवत्येवेत्येतदभिप्रायकम् । हे जिन ! एवंस्वरूपो भवव्यसनपञ्जरः, **नः** अस्माकं, **यथा येन** प्रकारेण, **अयं** भवव्यसनपञ्जरः **अभवः** न विद्यते स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपो भवः- उत्पादो यस्य सोऽभवः, प्रवाहतोऽनादित्वात् संसारस्य स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षण एव नास्तीति तत्सम्बन्धलक्षणभवोऽपि न विद्यते इति युज्यते—अभवः, **भवश्च** भवत्यस्मिन्निति भवश्च ससारो भवति, यतो जायन्त एवास्मिन् प्राणिन इति **गम्यते** ज्ञायते, **अन्यथा** जिनोक्तप्रकारव्यतिरिक्तप्रकारेण, **न** न ज्ञायते, एकान्तरूपस्य तत्प्रकारस्य व्यलीकत्वेन तद्रूपेण ससारस्यापि व्यलीकत्वादित्यर्थः ॥३॥

जिनोक्तप्रकारेणैवाभ्युदयादिकं समीचीनं, तत्र प्रतिवादिनो मूकीभवनमेव न्याय्यमन्यथाऽलीकतैव तत्रापीत्याशयेनाह—

जगत्यनुनयन् यथाभ्युदय-विक्रियावन्ति च
स्वतन्त्रगुणदोषसाम्यविषमाणि भोज्यान्यपि ।
क्रियाफलविचित्रता च नियता यथा भोगिनां
तथा त्वमिदमुक्तवानिह यथा परे शेरते ॥४॥

जगतीति—"जगति यथाऽनुनयन् भोज्यान्यपि अभ्युदय-विक्रियावन्ति स्वतन्त्रगुण-दोषसाम्यविषमाणि च. भोगिनां यथा च क्रियाफलविचित्रता नियता तथा त्वमिदमुक्तवान्, यथा इह परे शेरते" इत्यन्वयः । हे भगवन् ! **जगति** संसारे, **यथा** येन प्रकारेण, **अनुनयन्** भक्तशिष्य-प्रशिष्यादीन् स्वोपदर्शितमार्गानुसारिणो विदधत्, **भोज्यान्यपि** स्वकृतकर्मफलात्मकभोज्यान्यपि, **अभ्युदय-विक्रियावन्ति** अभ्युदयः–स्वर्गादि धन–पुत्र–समृद्ध्यादि च. विक्रिया-नरकादि दारिद्र्यादि च' तदन्यतरवन्ति, विहितानुष्ठानेनाभ्युदयवन्ति निषिद्धाचरणेन विक्रियावन्ति, **च** पुनः, **स्वतन्त्रगुण-दोषसाम्य-विषमाणि** स्वतन्त्रौ–ईश्वरप्रेरणानपेक्षौ स्वाभाविकाविति यावत्, एतेन—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ ९ ॥

इत्यादिरूपाकृतिः, यौ गुण-दोषौ—भोज्यगतौ भोज्यकारणतावच्छेदकौ गुण-दोषौ, तयोः साम्य-विषमाणि-कानिचिद् भोज्यानि स्वतन्त्रगुण-दोषसाम्यानुगतानि कानिचित् स्वतन्त्रगुण-दोषवैषम्यानुगतानि, **भोगिनां** कर्मफल भोक्तॄणां पुरुषाणाम्, **यथा च** येन प्रकारेण च, **क्रियाफलविचित्रा** अस्याः क्रियाया इदं फलम्, एतस्याश्चेदमित्येवं क्रियाफलवैचित्र्यम्, **नियता** येन पुरुषेण या क्रिया कृता तस्यैव पुंसस्तस्याः क्रियायास्तदेव फलं भवति नान्यस्येत्येवं नियता, **तथा** येन प्रकारेण, **त्वं** केवली त्वम्, **इदं** भोज्यक्रियाफलवैचित्र्यादिकम्, **उक्तवान्** कथितवान्, यथा इह अस्मिन् विषये, **परे** एकान्तवादिनः, **श्रान्ते** एतत्प्रतिपक्षप्रकारस्य युक्तस्यास्फुरणेनैतत्खण्डनाशक्त्यात्मकीभवनमेवात्र न्याय्यमित्यालोच्य सुप्ता इव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! भवदुपदिष्टोऽपि स्वभावतो मोक्षसुखावाप्तिफलक उत्कृष्टो मार्गोऽयथावदनुसृतो न हितावहः किन्तु विध्यनुष्ठित एवेत्युपदर्शयति —

अतीत्य नियतव्यथौ स्थितिविनाशमिथ्यापथौ
निसर्गशिवमात्थ मार्गमुदयाय यं मध्यमम् ।
स एव दुरतिष्ठितोऽयमभिधानरूक्षाशया-
न्मधाविव महोरगो दशति दुर्गृहीतोद्धतः ॥५॥

अतीत्येति—"नियतव्यथौ स्थितिविनाशमिथ्यापथौ अतीत्य यं मध्यमं निसर्गशिवं मार्गमुदयाय आत्थ, स एवायमभिधानरूक्षाशयाद् दुरतिष्ठितो मधौ दुर्गृहीतोद्धतो महोरग इव दशति" इत्यन्वयः । '**दुरतिष्ठितो**' इत्यस्य स्थाने 'दुरनुष्ठित' इति पाठो युक्तः प्रतिभाति, हे भगवन् ! **नियतव्यथौ** नियता—अवश्यम्भाविनी, व्यथा—नरकादिपीडा ययोस्तौ नियतव्यथौ, **स्थितिविनाशमिथ्यापथौ** स्थितिश्च सर्वेषां पदार्थानामैकान्तिकी स्थितिरेव, विनाशश्चैकान्तेन विनाश एवेति स्थिति-विनाशौ, तयोरभ्युपगमात्मकौ मिथ्यापथौ—मिथ्यामार्गौ स्थिति-विनाशपथौ, तौ **अतीत्य** अतिक्रम्य, एकान्तस्थितिवादैकान्तविनाशवादौ साङ्ख्य-

बौद्धसम्भवावपाकृत्येति यावत्, यं **मध्यमं** सर्वं वस्तु प्रतिक्षणमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं, सर्वेषां पदार्थाना पूर्वपर्यायात्मना विनाश उत्तरपर्यायात्मनोत्पादः पूर्वापरपर्यायानुगामिद्रव्यात्मना ध्रौव्यमित्येवस्वरूपम्, **निसर्गशिवं** निसर्गेण-स्वभावेन, शिव–कल्याणत्मक, **मार्ग** मोक्षसुखप्राप्तिपदम्; एतत्स्पष्टाधिगतये–**उदयाय** आत्मस्वरूपाविर्भावनाय, **आत्थ** कथितवानसि, **स एवायम्** अनन्तरोपवर्णित-भवदुपदिष्ट एव मार्ग., **अभिधानरूक्षाशयात्** तुष्यतु दुर्जन इत्यपशब्दाकलि-ताभिप्रायात्, **दुरनुष्ठितः** कि करोमि ममैकान्ताभ्युपगमोऽनेनानेकान्तवादनिपुणेन सर्वथाऽपाकृत इति दु.खेनान्तर्गतेनानुष्ठितो–लोकयात्रानिर्वाहायासेवितो न तूदयायेति, **मधौ** वसन्तसमये, **दुर्गृहीतोद्धतः** दु.खेन–अतिपरिश्रमेण, गृहीतश्चासावुद्धतश्च आविर्भावितफणाडम्बरश्च दुर्गृहीतोद्धत, **महोरग**. महान् सर्पः, **इव दशति** स यथा दुर्गृहीतारं दशति तद्दष्टश्च पुरुषो- म्रियते तथा दुरभिधानाभिप्रायेणानुष्ठितो जिनोपदिष्टमध्यममार्गोऽपि दशतीव, दुरभिमानाभिप्रायेण तदनुष्ठानादनुष्ठाताऽकल्याण-भाजनं भवतीत्यर्थ. । **'दुर्गृहीतो यतः'** इति पाठे तु **यतः** यस्मात् कारणात्, **दुर्गृहीतः** मन्त्रसंदशनादिविधिमन्तरेण यथाकथञ्चिद् गृहीतः, शेष पूर्ववत् ॥५॥

अनेकविधबाह्यवञ्चनप्रकारकुशलेभ्य. परेभ्यो जिनस्य वैशिष्ट्यमुपदर्शयति—

जगद्धितमनोरथाः स्वयमनावृतप्रीतयः
कृतार्थनिवृत्तादराश्च विवृतोग्रदुःखे जने ।
गुणज्ञ ! परिमृग्यमाणलघवः स्वनीतेः परे
त्वमेव तु यथार्थवादशुचिरर्थविद्भिर्वृतः ॥६॥

जगद्धितमनोरथा इति–"जगद्धितमनोरथाः स्वयमनावृतप्रीतय· विवृतो-ग्रदुःखे जने कृतार्थनिवृत्तादराश्च स्वनीतेः परिमृग्यमाणलघवः परे, हे गुणज्ञ ! त्वमेव तु यथार्थवादशुचि अर्थविद्भिर्वृतः" इत्यन्वयः । **जगद्धितमनोरथाः** जगत जन्तुमात्रस्य, हित–कल्याणं जगद्धित जगद्धितस्य मनोरथ.- कामना येषां ते जगद्धितमनोरथा, जन्तुमात्रस्य कल्याण भवत्वेव कामयमाना इत्यर्थः, **स्वय-मनावृतप्रीतयः** स्वयं–स्वात्मनि, अनावृता–आवरणरहिता, प्रीति.–स्त्रीपुत्रधना-दिविषयक स्नेहो येषा ते स्वयमनावृतप्रीतयः, स्वात्मनि निरावृतस्त्रीपुत्र-धनादि-

विषयकप्रीतिसन्तः, अथवा मयि सर्वेऽपि स्त्री–पुत्र–भ्रातृ-मातुलादयः प्रकटितप्रीतिभाज इति निराकृतस्त्रीपुत्रभ्रात्रादिगतप्रीतिविषया इत्यर्थः, **विवृतोग्रदुःखे** स्वयं विवृत–उपवर्णितमात्मगतम्, उग्रदुःखं दुस्सहदुःख येन स विवृतोग्रदुःख', तस्मिन्–विवृतोग्रदुःखे, **जने** लोके **कृतार्थनिवृत्तादराश्च** कृतस्य–कर्मणः, योऽर्थ'–सुख दुःख वा स कृतार्थः, तत्र निवृत्तः–नितरां वृत्तः स्वीकृत', आदर'–बहुमानो यैस्ते कृतार्थ निवृत्तादराः ।

"अवश्यंभाविभावाना प्रतीकारो भवेद् यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नल-राम-युधिष्ठिराः ॥७॥"
"अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम् ।"

इत्यादिवचनोपबृहितमेव कृतकर्मक्षयो भविष्यति तदालमुत्तमतयेत्येवं कृतार्थनिवृत्तादराश्च; **स्वनीतेः** स्वानुकूलनीतिवचनतः, **परिमृग्यमाणलघवः** परितो मृग्यमाणः अन्विष्यमाण., लघुः–तुच्छप्रकृतिर्यैस्ते परिमृग्यमाणलघवः, स्वयं तुच्छप्रकृतिकत्वात् तथाविधमेव सतत गवेषयन्त ; **परे** अन्यवादिन., तथा चोक्तविशेषणै. परेषा मायावित्वमेव प्रकटितं भवति, हे **गुणज्ञ** ! सर्वविदो भगवतो गुणज्ञत्वमिव दोषज्ञत्वमप्यस्त्येव, तथापि परोपदर्शितपदार्थवादे पराचरणे च दोषं जानन्नपि जिनो न दोष वक्ति किन्तु सर्वेषामेव मुक्त्यभिलाषुकाणां यथार्थ तत्त्वज्ञानाय तत्साधनमागममेव प्रमाणवरेण्यमुपदिशति, आगमस्य प्रामाण्य च गुणवद्वक्तृकत्वत एव, वक्तरि आगमप्रामाण्ययोगि गुणज्ञानमावश्यकमिति गुणज्ञेति संबोधनम्, **त्वमेव** जिनेन्द्र एव, तुर्विशिनष्टि–**यथार्थवादशुचिः** यथार्थस्य-अनेकान्ततत्त्वस्य, वादः–वचनं–यथार्थवाद., तेन शुचिः पवित्रं–यथार्थवादशुचि, **अर्थविद्भिः** अर्थ पदार्थतत्त्वं, विदन्ति–जानन्तीति अर्थविदस्तैः अथवा अर्थं परमपुरुषार्थं मोक्षं विदन्तीति अर्थविदस्तैः, **वृतः** अर्थतत्त्वोपदर्शकत्वेनाश्रित इत्यर्थः ।.६॥

परेभ्य. स्व-परपरायणेभ्य· स्वयं सर्वतो निवृत्तो निजाश्रितानन्यानपि प्रवृत्तिविरहितान् कुर्वन् जिनो विशिष्टत्वादाश्रयणीय इत्युपदर्शयति—

प्रवृत्त्यपनयक्षतं जगदशान्तजन्मव्यथं
निरामलघुलक्षणस्त्वमकरोस्तदन्तःक्षणम्

जनानुमुखचाटवस्तरुणसत्कृतप्रातिभाः
प्रवृत्तिपरमार्थमेव परमार्थमाहुः परे ॥७॥

प्रवृत्त्यपनयक्षतमिति––"प्रवृत्त्यपनयक्षतमशान्तजन्मव्यथं जगद् विरामलघुलक्षणस्त्वं तद् अन्तःक्षणमकरोः जनानुमुखचाटवस्तरुणसत्कृतप्रातिभाः परे प्रवृत्तिपरमार्थमेव परमार्थमाहुः" इत्यन्वयः । **प्रवृत्त्यपनयक्षतं** प्रवृत्त्या–सांसारिकविविधविषयोपभोगानुगुणप्रवृत्त्या, अपनयः कुमार्गगमनादिलक्षणः–प्रवृत्त्यपनयः, तेन क्षतम्, अत एव **अशान्तजन्मव्यथं** न शान्ता–न निवृत्ता–अशान्ता, जन्मव्यथा–भूयोजन्मग्रहणपीडा यस्य तदशान्तजन्मव्यथं, **जगत्** जन्तुजातं, अस्तीति शेषः, हे वीर ! **विरामलघुलक्षण.** विरामः–सर्वकर्मतो विरमणमेव, लघु विशेषणान्तरराहित्याल्लघुभूतं, लक्षणम्–अन्यतो व्यावर्तकं चिह्नं यस्य स विरामलघुलक्षणः त्वं जिनः, **तत्** निरुक्तस्वरूपमपि जगत्, **अन्तःक्षणम्** अन्तः–मध्ये, निवृत्तिप्रधानधर्मशासनप्रवर्तनकाले इत्यर्थः, क्षणः–परमानन्दपदप्राप्तिलक्षण उत्सवो यत्र तादृशम्, **अकरो** कृतवान्, **जनानुमुखचाटवः** जनानां लोकानाम्, अनुमुख–सम्मुखं–जनानुमुखं, जनानुमुखं चाटु मनोहरवचनं येषां ते जनानुमुखचाटवः स्वसमीपवर्तिजनहृदयङ्गमवचनवक्तारः, **तरुणसत्कृतप्रातिभाः** तरुणैः युवजनैः सत्कृताः बहुमानपुरस्कृताः–तरुणसत्कृताः, प्रातिभाः–नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा, तयोत्प्रेक्षिताः पदार्थाः प्रातिभाः, तरुणसत्कृताः प्रातिभा येषां ते तरुणसत्कृतप्रातिभाः, युवजनानुमोदितप्रतिभाशालिनः एतादृशाः सन्तः, **परे** जिनव्यतिरिक्ताः–एकान्तवादिनः, **प्रवृत्तिपरमार्थं** प्रवृत्तिरेव परमः–उत्कृष्टः, अर्थः–प्रयोजनं यत्र स प्रवृत्तिपरमार्थस्तं, **परमार्थं** तात्त्विकार्थम्, आहुः कथयन्ति, ते च प्रवृत्तिप्रधाना अन्यानपि कर्मणि प्रवर्तयन्त्येव येन तदुपदेशस्थितानां जनानां चिरकालं भवभ्रमणमेव भवति दूरे तेषां निर्वाणमित्याशयः ॥७॥

नियति-स्वभाव–काल-पौरुष-कर्मणां पञ्चानां कार्यमात्रे कारणानां परस्परसहकारिणामपि सतां क्वचित् कार्ये कस्यचित् प्राधान्यमाश्रित्य कारणत्वविविक्षया सकलनयमये जिनसमये नियतिवादादयः पञ्च वादास्तुल्यकक्षा विराजन्ते, एवमपि तथाविधसमयप्रणेतुर्भगवतो जिनस्य प्रतिपक्षवादोपदर्शितेन स्वान्यवादगतदोषेण न मालिन्यमित्यश्चर्यमस्माकमित्युपदर्शयति––

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः
स्वभावनियताः प्रजाः समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित् ।
स्वयंकृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विशदवाद ! दोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः ॥ ८॥

क्वचिदिति । "विशदवाद ! ते वचः क्वचित् नियतिपक्षपातगुरु गम्यते, क्वचित् स्वभावनियताः प्रजाः, क्वचित् समयतन्त्रवृत्ताः, क्वचित् स्वयंकृतभुजः, क्वचित् पुनः परकृतोपभोगाः, अहो विस्मयः, न वा दोषमलिनोऽसि" इत्यन्वयः । **विशदवाद !** विशदः-एकान्तवादापन्नदोषमालिन्यरहितत्वेन निर्मलः वादः-स्याद्वादसिद्धान्तो यस्य तत्सम्बोधने तथा, एवंविध हे जिन ! **ते** तव, **वचः** वचनं समयमहोदधिः, **क्वचित्** स्वस्यैव प्रसङ्गे विषये वा, एवमग्रेऽपि, **नियतिपक्षपातगुरु** नियतिबलादेव प्रतिनियतसमय-प्रतिनियतदेश-प्रतिनियतस्वभावाद्याकलितं वस्तूत्पद्यत इत्येवं कार्यमात्रे नियतिरेव कारणमित्यस्मिन् यः पक्षपातः-आग्रहः, तेन गुरु गौरवशालि-नियतिपक्षपातगुरु, **गम्यते** ज्ञायते, **स्वभावनियताः प्रजाः** क्वचिदित्यस्यात्रापि सम्बन्धः, ते वचो गम्यत इत्यस्यापि सम्बन्धः, एवमग्रेऽपि क्वचित् **स्वभावनियताः** स्वभावेन नियताः-स्वभावेनैव सर्वे पदार्था भवन्तीति, प्रकर्षेण जायन्त इति, **प्रजाः** कार्यमात्रम्, इति ते वाचो गम्यत इत्यर्थः, क्वचिदित्यस्य पूर्ववद् व्याख्यानम्; **समयतन्त्रवृत्ताः** समयस्य-कालस्य, तन्त्रेण अधीनत्वेन, वृत्ताः-सम्पन्नाः, प्रजा इति सम्बन्धः, सर्वे पदार्थाः काल एव जायन्ते इत्यर्थः, क्वचित् **स्वयंकृतभुजः** स्वयंकृतेन-स्वक्रियया स्वप्रयत्नेन स्वपुरुषकारेणैवेति यावत्, भुञ्जन्ते-ये फलमनुभवन्तीति स्वयंकृतभुजः, पुरुषकारेणैव सर्वं कार्यजातमुद्भवतीति, ते वचो गम्यत इत्यर्थः; क्वचित् पुनः **परकृतोपभोगाः** परस्मिन् जन्मनि कृतं कर्म-परकृतं, तस्योपभोगः-तज्जन्यसुखदुःखानुभवो येषां ते परकृतोपभोगाः, न नियत्या, न स्वभावेन, न कालेन, नवा पुरुषकारेण फलनिष्पत्तिः किन्तु पूर्वजन्मकृतशुभाशुभकर्मलक्षणादृष्टादेव सर्वं भवतीति ते वचो गम्यत इत्यर्थः, एवं परस्परविभिन्ननयाश्रितपञ्चवादभावेऽपि, **न वा** नैव, **दोषमलिनोऽसि**

दोषः—अन्योऽन्यं वादेनोद्भावितो यो दोषः, तेन मलिन—जिनप्ररूपितेषु नियत्यादिवादेषु परस्परोद्भाविता इमे दोषा इत्येवमेकान्तवाद्याम्रेडितापवादजनितमालिन्यवान् नैव भवसि, विभिन्ननयाकलितापेक्षाभेदेन पञ्चानामपि वादाना निर्दुष्टत्वात्, इति अहो **विस्मयः** आश्चर्यमस्माकं मन्दमतीनामित्यर्थः । नियत्यादिवादाश्च शास्त्रवार्तासमुच्चये सम्यक् प्ररूपिता विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावधार्याः ॥ ८ ॥

निमीलितलोचनस्य जगत उन्मीलितलोचनत्वं त्वयैव सम्पादितमित्याह—

परस्परविलक्षणाश्च न च नाम रूपादयः
क्रियापि च न तानतीत्य न च ते क्रियैकान्ततः ।
निरोधगतयस्त एव न च विक्रिया निश्चया
निमीलितविलोचनं जगदिदं त्वयोन्मीलितम् ॥ ९ ॥

परस्परविलक्षणाश्चेति । "नामरूपादयः परस्परविलक्षणाश्च न, तानतीत्य क्रियाऽपि न च, ते क्रियैकान्ततो न च, त एव न च निरोधगतयः, विक्रिया निश्चया न च निरोधतयः, निमीलितविलोचनमिदं जगत् त्वयोन्मीलितम्" इत्यन्वयः । **नामरूपादयः** नामाऽऽकृति-द्रव्य-भावाः, **परस्परविलक्षणाः** अन्योऽन्यं सर्वथा वैलक्षण्यभाजः, **न च**-नैव, नाम्नोऽपि घटादिस्वरूपस्य घकारोत्तराकारोत्तरटकारोत्तराऽत्वरूपानुपूर्वीलक्षणाकृतिमत्त्वात्, उत्तरघकाराद्यक्षरपर्यायापेक्षया द्रव्यरूपत्वात्, वर्तमानघटस्वरूपभावरूपत्वात्; कम्बुग्रीवादिसंस्थानलक्षणाकृतेरपीयमाकृतिरिति नामकरणेन नामत्वात् उत्तरपर्यायकारणत्वेन द्रव्यरूपत्वात्, वर्तमानाकृतिस्वरूपत्वेन भावत्वात्, घटादिकारणमृद्द्रव्यस्यापि मृदिति नामकरणेन नामत्वात्, पिण्डरूपेण मृदोऽवस्थानलक्षणाकृतित्वात्, वर्तमानमृत्स्वरूपतया भावत्वात्; घटादिलक्षणभावस्यैव घटोऽयमिति नाम क्रियत इति नामत्वात्, पृथुबुध्नोदराकृतिमत्त्वात्, उत्तरपर्यायकारणत्वेन द्रव्यत्वात्, कथञ्चिदविष्वग्भावलक्षणसम्बन्धस्य सम्बन्धमात्रव्यापकत्वेन नामाकृत्यादीना यत्किञ्चित्सम्बन्धसद्भावे तादात्म्यस्यावश्यम्भावादिति नामरूपादीना सर्वथा वैलक्षण्यं नास्तीत्यर्थः । **तान्** नामरूपादीन्, **अतीत्य** अतिक्रम्य, नामरूपादिक विहायेत्यर्थ, **क्रियापि** आगमविहितानुष्ठानादिकमपि, **न च** नैव, भगवन्नामरूपादिक परित्यज्य तदर्चनस्तुति-

वन्दनादिक्रियाऽपि नोपपद्यत इत्यर्थः । ते सत्क्रिया नामक्रियाः, क्रियैकान्ततः क्रियामात्रतः, न च नैव, ते सिद्धिसाधनक्रियादयस्ते भिन्नरूपा नैव किन्तु ज्ञानादिसहकृतक्रियात एव, उपादानप्रत्यक्षेच्छा... चिकीर्षाजन्यप्रवृत्तित एव घटोत्पत्तेः परिदृष्टत्वात्, सम्यग्ज्ञानदर्शनसम्यक्चारित्रादेव मोक्षोद्भवस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् सम्यग्ज्ञानादिसहकृतस्य सम्यक्त्व... तपःस्वाध्यायादेरेवोत्पत्तेः, न तु क्रियामात्रत इत्यर्थः । ते पद फलाम रूपादयः क्रिया चैव, न च नैव, **निरोधगतयः** कर्मपुद्गलादाननिरोधस्य गतयः—साधनानि, किन्तु ज्ञानसहकृता एव, **निश्चयाः** निश्चयात्मकज्ञानान्यपि, **विक्रियाः** क्रियाविकलाः, निरोधगतयः, न च नैव ।

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥८॥"

इति गीतावचनं चात्र संवादकम् । त्वदुपदेशेन **निमीलितविलोचनं** निमीलितं–पक्ष्मपुटकाच्छादितं, विलोचनं–नेत्रं यस्य तन्निमीलितविलोचनम्, अज्ञानात्मकपक्ष्मपुटकाच्छादितज्ञानात्मकलोचनकमिति यावत्, इदं परिदृश्यमानं, **जगत्** प्राणिकदम्बकं, हे भगवन् ! त्वया, **उन्मीलितं** उद्घाटितपक्ष्मपुटकनेत्रं कृतमित्यर्थः ॥९॥

अपरमप्युपदेशस्वरूपं भगवतो वचनमालस्यपराङ्मुखैर्विशेषैर्मनसि सुव्यवस्थापितमित्याह—

न कश्चिदपि जायते न च परत्वमापद्यते
प्रतिक्षणनिरोधजन्मनियताश्च सर्वाः प्रजाः ।
य एव च समुद्भवः स विलयः प्रतिस्वं च तौ
तवापरमिदं मनःस्वलसैर्निखातं वचः ॥१०॥

न कश्चिदपि जायत इति । "कश्चिदपि न जायते, परत्वमापद्यते न च, सर्वाः प्रजाः प्रतिक्षणनिरोधजन्मनियताश्च, य एव च समुद्भवः स विलयः, तौ

च प्रतिस्वं, तव इदमपरं वचः, अनलसैर्मनस्सु निखातम्" इत्यन्वयः । **कश्चिद्पि** कोऽपि पदार्थः, **न जायते** सर्वथा स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धात्मकोत्पादवान्न भवति, पूर्वं सर्वथाऽसत उत्पादोपगमे शशशृङ्गादेरप्युत्पाद. प्रसज्येतेत्यतः पूर्वं कथञ्चित् सत एवोत्पादोऽभ्युपेयः, एवं च तस्य सर्वेऽपि क्षणाः स्वाधिकरणस्वपूर्ववर्तिक्षणध्वंसाधिकरणा एवेति स्वाधिकरणक्षणध्वसानधिकरणक्षणाप्रसिद्धया तत्सम्बन्धरूपोत्पादस्याप्यप्रसिद्धेः, एतेनासत्कार्यवादः प्रतिक्षिप्तः । सर्वथापरिणामवाद पूर्वस्वभावं सर्वथा परित्यज्योत्तरस्वभावरूपेण परिणमत इत्येवंस्वरूपं प्रतिक्षिपति–**परत्वं** पूर्वस्वभावात्यन्तभिन्नस्वभावत्वम्, **आपद्यते** आप्नोति, **न च** नैव, पूर्वस्वभावविनाशे स्वभावस्वभाववतोरभेदात् स्वभाववतोऽपि विनाशेनासतस्तस्य परस्वभावावाप्त्यसम्भवात् ; तर्हि पदार्थाः कीदृशाः ? **सर्वाः प्रजाः** सर्वाणि वस्तूनि, **प्रतिक्षणनिरोधजन्मनियताश्च** प्रतिक्षणं निरोधः–विनाशः, जन्म–उत्पादश्चेति–प्रतिक्षणनिरोधजन्मनी, प्रतिक्षण–निरोध-जन्मभ्यां नियताः–व्याप्ताः–प्रतिक्षणनिरोधजन्मनियताः, प्रतिक्षण. केनचिद्रूपेण नश्यन्ति केनचिद्रूपेणोत्पद्यन्ते, निरन्वयोत्पादविनाशयोरसम्भवात, केनचिद्रूपेण तिष्ठन्ति चेत्यर्थः, एतेन सदसत्कार्यवादः केनचिद्रूपेणावस्थित एव पूर्वरूप परित्यज्य रूपान्तरेण परिणमत इत्येव कथञ्चित्परिणामवादश्च जैनानामभ्युपगमपथं नीत इति । उत्पत्ति–विनाशयोः कथञ्चिदभेदोऽपीत्याह–**य एव च** य एव पुनः, **समुद्भवः** उत्पाद., **स** उत्पादः, **विलयः** विनाशः, **तौ च** उत्पाद विनाशौ च, **प्रतिस्वं** प्रतिव्यक्ति, हे जिन !, तव इद अनन्तरोपवर्णितम्, **अपरं** पूर्वोक्तवचनभिन्नं **वचः** वचनम् , **अनलसैः** आलस्यरहितैः, यथासमय स्वाध्यायव्यसनपरायणैः, **मनस्सु** अन्तःकरणेषु, **निखातं** तथाऽवस्थापितं यथा बहिर्न गच्छति, भूमौ निखात रत्नादिक यथा तत्रैवावतिष्ठते, कार्यकाले चावाप्यते तथेदमपीत्यर्थः ॥१०॥

कार्यकारणभावेन भवहेतु-भोक्त्रादीनां विभिन्नतया सत्त्वमनासादयतां गुम्फनमन्याकर्तृक जिनेनैव कृतम्, अन्योपदिष्टभवहेत्वादिस्वरूपस्याव्यवस्थितत्वाज्जिनोपदिष्टभवहेत्वादिस्वरूपस्यैव स्याद्वादमर्यादया व्यवस्थितत्वादित्याह—

पृथङ् न भवहेतुरस्ति न च भोक्तुरन्यो भवो
प्रसूतिरपि जायमानमतितोऽस्ति नान्या न च ।
स्थितिर्गमनमुन्नतिर्व्यसनमिष्टयो बुद्धय-
स्तथेत्यनवबद्धपूर्वमपरैः प्रबद्धं त्वया ॥११॥

पृथङ्न भवहेतुरस्तीति । "भवहेतुः पृथङ् नास्ति, भोक्तुरन्यो भवो न च, प्रसूतिरपि जायमानमतितोऽन्या नास्ति, ['जायमानमतिना' इत्यस्य स्थाने जायमानमतितो, इति पाठो युक्तः] स्थितिर्गमनमुन्नतिर्व्यसनमिष्टयो बुद्धयस्तथा, न च, अपरैरित्यनवबद्धपूर्वं त्वया प्रबद्धम्" इत्यन्वयः । **भवहेतुः** भवस्य-संसारस्य हेतुः, **पृथग्** एकान्तेन भवाद् भिन्नो **नास्ति** न विद्यते, प्रवाहतो भवस्यानादित्वेन तदन्तःपातिनो भवस्य कारणतया यदभिमतं तस्यापि भवत्वेन भवभिन्नतयाऽस्तित्वाभावात्, पदार्थसमूहात्मकस्य भवस्य समूहसन्निविष्टैकैकस्य समूहिनो भवत्वाभावे तत्समूहस्यापि भवत्वासंभवात्, प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायावृत्तित्वात् **भोक्तुः** सुखदुःखाद्युपभोगकर्तुरात्मनः, **अन्यो** भिन्नः, **भवः** संसारः, **न च** न विद्यते, भोक्तृ-भोग्य-तदुपादानादिसमष्टिरेव संसारः, समुदायस्य च समुदायात्मन एव भावो न तु तद्भिन्नस्येति, भवति-उत्पद्यत इति व्युत्पत्त्या भवस्योत्पत्तिरूपत्वेऽपि तद्बुद्धिरेव तत्सत्तेति ततो व्यतिरिक्तत्वं तस्य नास्तीत्याह-**प्रसूतिरपि** उत्पत्तिरपि, **जायमानमतितः** जायमानस्य-उत्पद्यमानस्य, मतितः-ज्ञानात् **अन्या** भिन्ना, **नास्ति** न विद्यते **स्थितिः** अवस्थानम्, **गमनं** उत्तरदेशसंयोगानुकूला क्रिया, **उन्नतिः** उत्कर्षः, **व्यसनं** द्यूताद्यासेवनं संकटं वा, **इष्टयः** यागादयः, **बुद्धयः** प्रत्यक्षादिज्ञानानि, **तथा न च** तद्बुद्धितो भिन्ना नैव, **अपरैः** अन्यवादिभिः, **इति** एवं प्रकारेण, **अनवबद्धपूर्वं** पूर्वं-पूर्वकाले, अनवबद्ध-न अवबद्ध-भवहेतुभोक्त्रादिरूपेण, न संघट्टितम्, **अनवबुद्धमि**ति पाठे तु पूर्वमज्ञातमित्यर्थः, हे जिन ! त्वया **प्रबद्धं** प्रकर्षेण सङ्कलितम्, स्याद्वादावलम्बनेन कथञ्चिद् भवाद् भवहेतुः पृथग्, भवोऽपि भोक्तुः कथञ्चिदन्य इत्येवं दिशा सङ्घटितमिति यावदित्यर्थः, **प्रबुद्धमि**ति पाठे तु प्रकर्षेण ज्ञातमित्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वं परमार्थतत्त्वस्पृहयालूना परमः सुन्दरः त्वदुपदिष्टप्रकारेणैवात्मनः परमात्मतेत्याह—

स्वभावनियतस्त्वया जिन ! न कश्चिदात्मोदित-
स्त्वमेव च परं ललाम परमार्थतत्त्वार्थिनाम् ।
असम्भवमनाशमेकममितक्षयस्थानिनं
यथैनमवदस्तथैव परमात्मताऽस्यात्मनः ॥१२॥

स्वभावनियत इति । "हे जिन ! कश्चिदात्मा स्वभावनियतस्त्वया नोदितः, च-पुनः परमार्थतत्त्वार्थिना त्वमेव परं ललाम, असम्भवम् अनाशम् एकम् अमितक्षयस्थानिनम् एनं यथाऽवदः तथैवाऽस्याऽऽत्मनः परमात्मता" इत्यन्वयः। **कश्चिदात्मा** कोऽप्यात्मा, **स्वभावनियतः** अयमात्मा किञ्चिज्ज्ञस्वभावः, अयमात्मा सर्वज्ञस्वभावः अयमात्मा परमात्मस्वभाव इत्येवं विभिन्नस्वभावे नियतः—अवस्थितः **त्वया** जिनेन, **न** नैव, **उदितः** कथितः, **च** पुनः, **परमार्थतत्त्वार्थिनां** परमश्चासावर्थश्च परमार्थः, परमार्थ एव तत्त्वं—परमार्थतत्त्वं, परमार्थतत्त्वमर्थयन्त, इति परमार्थतत्त्वार्थिनस्तेषां परमार्थतत्त्वार्थिनां, परमार्थतत्त्वेच्छूनामित्यर्थः, **त्वमेव** जिन एव, **परं** उत्कृष्टं, **ललाम** भूषणम्, अतिसुन्दर इत्यर्थः, **असंभवं** न विद्यते संभवः—उत्पादो यस्य सोऽसंभवस्तम्, उत्पादरहितम्, **एकम्** अद्वितीयम् **अमितक्षयस्थानिनं** अमित—एतावदिदमिति मातुमशक्यं, क्षय—गृहम्, अमितक्षयमेव स्थानम्—अमितक्षयस्थानं, तदस्यास्तीति अमितक्षयस्थानी, तं अमितक्षयस्थानिनम्; **एनं** आत्मानं, **यथा** येनोक्तप्रकारेण, **अवदः** हे जिन ! त्वं गदितवान्, **तथैव** तेनैव प्रकारेण, **अस्य** स्वसंविदितप्रत्यक्षसिद्धस्य, **आत्मनः** जीवस्य, **परमात्मता** परमात्मस्वरूपता, जीव एवासम्भवत्वादिधर्मवत्त्वात् परमात्मा, न तु अन्यैरात्मानं जीवेश्वरभेदेन द्विधा विभज्य तत्रेश्वरस्य परमात्मत्वं प्रतिपादितं युक्तमित्यर्थः ॥१२॥

हे जिन ! तव वचनं सूक्ष्मबुद्धिविभवैकगम्यं, न साधारणजनवेद्यमित्युपदर्शयति—

पृथङ्न चयनादयो न च परस्परैकात्मका
न बुद्धिरपिताननतीत्य न च तद्गता बुद्धयः ।
अतीत्य न च चेतनाऽस्ति सुखदुःखमोहोदया
न युक्तमिव नाम ते जिन ! विगाहधीरं वचः ॥१३॥

पृथङ्न चयनादय इति । 'चयनादयो न पृथङ्, परस्परैकात्मका न च, ताननतीत्य बुद्धिरपि न, तद्गता बुद्धयो न च, सुख-दुःख-मोहोदयाननतीत्य चेतना न चास्ति, हे जिन ! ते विगाहधीरं वचोऽयुक्तमिव नाम'' इत्यन्वयः । **चयनादय** चयनं–पुञ्ज आदिर्येषामवयव्यादीना ते चयनादयः परमाणुपुञ्जावयविप्रभृतयः, **पृथग्** प्रत्येकपरमाण्ववयवादिभ्य एकान्तेन भिन्न, **न** नैव, **परस्परैकात्मकाः** अन्योऽन्यमेकात्मकाः–एकान्तेनैकस्वरूपा , **न च** नैव, **तान्** चयनादीन्, **अतीत्य** अतिक्रम्य, **बुद्धिरपि** ज्ञानमपि, **न** न सम्भवति, भिन्नाभिन्नस्वरूपाणां चयनावयव्यादीनामभावे घट–पटादिज्ञानमपि निरालम्बनं कथ स्यात् , **बुद्धयः** ज्ञानानि, **तद्गता** चयनावयव्यादिगता, **न च** नैव, यदि चयनावयव्यादिगता बुद्धय स्युस्तर्हि तेऽपि चेतना एव प्रसज्येरन्निति जडाजडविभाग एवोच्छिद्येत, **सुखदुःखमोहोदयाननतीत्य** सुख दुःख मोह–ममतां चातिक्रम्य, **चेतना** चैतन्यं, **न चास्ति** न विद्यते, तथा च मुक्तावस्थायां वैषयिकसुख-दुःखादीनामभावे कुतश्चैतन्यं, चैतन्याभावे च मुक्तस्य घटपटादिभ्योऽवैलक्षण्यप्रसङ्ग, हे जिन ! ते तव, **विगाहधीर** विशेषेण गाहनेन–गूढाशयान्वेषणेन, धीर–निर्णयास्पदं, **वचः** वचनम्, **अयुक्तमिव** नयविवक्षाभेदेन युक्त प्रमाणापन्नमेवापाततोऽयुक्तसदृश गम्भीराशयानभिज्ञानामवभासते, नयविचाराभिज्ञानां तु भवद्वचनगूढरहस्य युक्तमेवावभाति **नामे**ति कोमलामन्त्रण इत्यर्थः ॥१३॥

सर्वं वस्तु विरुद्धस्वभावं वदन् निषेधयश्च भवानेव विद्वद्भिराद्रियते भवदभिमते स्याद्वादे सर्वस्योपपन्नत्वादित्याह—

क्षमैव परुषं रुषश्च न विजातिरभ्युन्नति-
र्न मानमतिमार्दवं न निकृतिर्न नामार्जवम् ।

ऋतं वितथमेव गुप्तिरथ वा तपः किल्बिषं
विमुक्तिमपि बन्धमात्थ न च तत् तथा नान्यथा ॥१४॥

क्षमैवेति । 'पुरुषं रुषन् क्षमैव [इति], च [पुनः] अभ्युन्नतिः विजातिर्न [इति], अतिमार्दवं मानं न न [इति], आर्जवं निकृतिः न न [इति], ऋतं वितथमेव [इति], गुप्ति अथवा तपः किल्बिषम् [इति], विमुक्तिमपि बन्धं [च], आत्थ, [यत्] न अन्यथा तत् न तथा" इत्यन्वयः ।

पुरुषं रुषन् जीवं प्रति क्रोधं कुर्वन् **क्षमैव** क्षमागुण एव, शुभाशयेन शिष्यादौ क्रियमाणः कोपः फलतः क्षमागुण एव, क्षमावानिति पाठस्य योग्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयप्राधान्यविवक्षया क्षमैव इति निर्देशः, **इति त्वमात्थ**, एवं हे भगवन् ! भवान् कथयति, वाक्यार्थगतकर्मत्वप्रतिपादनाय इतिशब्दोऽध्याहार्यः, अत एव–

'जानामि सीता जनकप्रसूता, जनामि रामो मधुसूदनश्च ।
जानामि मृत्युर्मम तस्य हस्ते, तथापि सीता न परित्यजामि ॥१॥"

इत्यादौ कर्मत्ववाचकद्वितीयाविभक्तिमन्तरेणैव वाक्यार्थस्य कर्मत्वमुररीकृतम्, अध्याहृतेन इतिशब्देनाभिहितं च, एवमग्रेऽपि विज्ञेयम् । "**पुरुषं रुषंश्च**" इति स्थाने '**परुषं रुषञ्च**" इति पाठो ज्ञेयः, **परुषं** कठोरं यथा स्यात् तथा, **रुषं** रुष्शब्दस्य द्वितीयैकवचनं, कोपक्रियामिति तदर्थः, तथा च कठोरं यथा स्यात् तथा क्रियमाणं कोपम्, **क्षमैव** शुभाशयेन क्रियमाणतया क्षमागुण एव इति भवान् कथयतीति फलितार्थः, क्षमाशब्दश्चाव्ययेऽपि पठितोऽस्ति, तस्येह ग्रहणे द्वितीयायामपि 'क्षमा' इति स्वरूपान्न इतिशब्दाध्याहारापेक्षा, क्षमामेवात्थ इति तदर्थः, अस्मिन् पक्षे न पर्यायनयप्राधान्याश्रयणापेक्षा, न वा शतृप्रत्ययोत्पादन-विडम्बना, तथाहि–"रुष हिंसायाम्" "रुषच् रोषे" "रुषण् रोषे" इति त्रयाणामपि धातूनां शतृप्रत्यये क्रमशो 'रोषन् रुष्यन् रोषयन्' इति रूपाणि भवन्ति, 'रुषन्' इति न कस्यापि एतदर्थं तुदादिपाठकल्पना कर्तव्या भवति, माऽपि नेदानीं कर्तव्येत्यर्थः । **अभ्युन्नतिः** अभितः उत्कर्षः, **विजातिः** विकृतिः, **न** नैव, इति त्वमात्थ, अयं भावः–अभ्युन्नतिः किलात्मनः कैवल्यस्वरूपावाप्तिः, सा सहजैव, केवलमावरणापगमादाविर्भूतेति न विकृतिरिति । **अतिमार्दवं**

अतिरेकशालिनी मृदुता–नम्रता, **मानम्** अभिमानं, **न** अर्थात् मानमेव, इति त्वमात्थ, 'सर्वतो नम्रीभूय मया कीदृक् कार्यं साध्यते" इत्याशयादिना यत्र तत्र क्रियमाणा मृदुता स्वाभिमानमेवेति भाव·, यद्वा अनुप्रासानुरोधेन **"न मानमतिमार्दवम्"** इति स्थाने **"न नाममतिमार्दवम्"** इति पाठादरे तु–अतिमार्दवम् **नामं** नमनं नम्रीभाव मानाभावमिति यावत्, **न** न त्वमात्थ इति व्याख्येयम् । एवम्–**आर्जवं** ऋजुता सरलता, **निकृतिः** दम्भः, **न न नाम** अर्थात् दम्भ एव, इति त्वमात्थ, स्वकार्यसाधनाय केवलं बहिर्वृत्त्या दर्श्यमाना ऋजुता दम्भ एवेत्यर्थ । **ऋत** सत्यम् । **वितथमेव** असत्यमेव, यदि परपीडाकर भवेत् तदा तद् असत्यमेवेत्यर्थः, **गुप्तिः** कायादिचेष्टापरिहारः, अथवा **तपः** आहारत्याग , **किल्बिषं** पापमेव, इति त्वमात्थ, बकस्य मत्स्य-ग्रहणार्थ कायगुप्तिः पापमेव, एव शत्रुमारणादिशक्तिसम्पादनकृते क्रियमाणं तपः पापमेवेत्यर्थ , क्वचित् **"गुप्तिरयतिस्तप"** इति पाठ·, तत्र **अयति·** यमा-भावः गुप्तिर्यमाभाव एव इति त्वमात्थेत्यर्थ·, **विमुक्तिमपि** विशिष्टत्यागमपि, **वन्ध** वन्धनमेव, त्वमात्थ, अङ्गारमर्दक-विनयरत्नादीनां विशिष्टत्यागमयी प्रव्रज्यापि दुष्टाशयाद् कर्मबन्धनफलैव जातेत्यर्थ , **नान्यथा** यद् वस्तु साधारण-जनेन प्रतीयमानस्वरूपतो विवक्षाभेदेनान्यथा–विपरीत न भवति; **तद्** तद् वस्तु, **न तथा** प्रतीयमानस्वरूपमपि न भवितुमर्हति स्वद्रव्यादित· सत्त्वेन परद्रव्यादितोऽसत्त्वेनाकलितस्यैव वस्तुत्वादिति, भगवन् ! भवदभिहित चारुतर-मेवेति भाव ॥१४॥

एकान्तेन कर्तृ-भोग्यादेरभावप्रतिपादन भवतो निश्चयापेक्ष युज्यत एवेत्याह—

न कश्चन करोति नापि परिभुज्यते केनचि-
न्न वेद्यमपि किञ्चिदस्ति न च न क्रियाभूतयः ।
भवन्न च भवान्तरं व्रजति कश्चिदभ्येति वा
गतिं न च विना भवोऽस्त्यभव ! निश्चितं ते वचः ॥१५॥

न कश्चनेति । 'कश्चन न करोति, नापि केनचित् परिभुज्यते, वेद्य-मपि न, न च किञ्चिदस्ति क्रियाभूतयो न, भवन् भवान्तर न व्रजति, वा

किञ्चिन्नाभ्येति, न च गतिं विना भवोऽस्ति, हे अभव ! ते वचो निश्चितम्" इत्यन्वयः । **कश्चन** कोऽपि पुरुषः, **न** नैव, **करोति** किञ्चिदपि कार्यं करोति, तस्मान्नास्ति कर्ता; **नापि** नैव, **केनचित्** केनापि पुरुषेण, **परिभुज्यते** किञ्चिदपि भोगकर्म भवति, तस्मान्नास्ति भोक्ता भोग्याभावाद् भोक्तुरभावः, **वेद्यमपि** ज्ञेयमपि, **न** नास्ति, वेद्याभावाद् वेदकस्याप्यभाव इति नास्ति ज्ञाता; **न च** नैव, **किञ्चित्** किमपि वस्तु, **अस्ति**–सत्त्वाश्रयः, तथा चाश्रयाभावात् सत्तापि नास्ति; **क्रियाभूतयः** पचन-पठनादिलक्षणक्रियोत्पत्त्यादयः, **न** नैव, तथा च पाचक-पाठकाध्यापकादीनामप्यभावः, **भवन्** पूर्वकृतकर्मबलाज्जन्म गृह्णन्, **भवान्तरं** परभव, **न व्रजति** न गच्छति, भवन्नित्यस्य स्थाने भवादिति पाठो युक्तः, प्रेत्यभावो नास्तीत्यर्थः; **वा** अथवा, **कश्चित्** कोऽपि, **नाभ्येति** भवान्तराद् भवान्तर नागच्छति, मरणानन्तर जन्म जन्मानन्तरं मरणमित्येव जन्ममरणानुगमनस्वरूप ससरण संसारो नास्तीत्यर्थः; **गतिं** मनुज-तिर्यक्-सुर नरक-चतुष्टयगतिं विना, **भवः** ससारः, **न च** नैव, **अस्ति** विद्यते; भवः–ससारो यस्य नास्ति सोऽभवस्तस्य सबोधने–हे अभव ! **ते** तव, **वचः** वचन, **निश्चितं** निश्चयनयसमुत्थम्, कर्तृ-भोक्त्रादेर्व्यावहारिकत्वात, निश्चयनये सर्वस्य स्वात्मन्येव प्रतिष्ठितत्वान्नान्यस्यान्येन सम्बन्ध, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिधर्माश्च नान्यसम्बन्धमन्तरेण सम्भवन्तीत्याशयः ॥१५॥

यदा परवादिनो निश्चयनयं परपीडनप्रवणतया योजयति तदा हे जिन ! भवता प्रशमहेतुतया स योजित इत्युपदर्शयति—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते ।
वधाय नयमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्द्योतितः ॥१६॥

वियोजयतीति । "असुभिर्वियोजयति च, वधेन सयुज्यते न च, परोपमर्दपुरुषस्मृते शिव न च विद्यते, परान् निघ्नन्नपि च वधाय नयं नाभ्यु-

पैति, हे भगवन् ! अतिदुर्गमोऽयं प्रशमहेतुः त्वयोद्द्योतितः" इत्यन्वयः । **असुभिः** प्राणैः, **वियोजयति च** प्राणिनं विघटयति च, न च **वधेन** हिंसया, **संयुज्यते** संयुक्तो भवति, यागादौ छागादिकं प्राणिनं यज्ञकर्ता पुरुषः खड्गप्रहारेण घातयति–

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टा यज्ञार्थे पशुघातनम् ।

अतस्त्वां घातयिष्यामि यस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥१०॥"

इत्यादि वचनं प्रमाणीकुर्वन् वधेन–हिंसादोषेण संयुक्तो न भवति, "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति श्रुतिवचनेन यज्ञाङ्गहिंसातिरिक्तहिंसाया एव प्रतिषेध इति दर्दुरमीमांसकमते चेदम्, **परोपमर्दपुरुषस्मृतेः** परस्य–द्वितीयस्य, उपमर्देन–निषेधेन, या पुरुषस्मृतिः–अद्वितीयब्रह्मज्ञानं तस्मात्, स्मरणस्यात्र विशिष्टज्ञानरूपत्वात्, **शिवं** कल्याणं मोक्षसुखं वा, न विद्यते, अद्वितीयब्रह्मण एव पारमार्थिकत्वात्, बन्धमोक्षादिकं किमपि नास्तीति वेदान्तिनः सङ्गिरन्ते, **परान्** परप्राणिनः, **निघ्नन्नपि** मारयन्नपि, **वधाय** वधार्थं, **नयं** नीतिवचनं, **न** नैव, **अभ्युपैति** स्वीकरोति, काशीमरणान्मुक्तिरित्यादिवचनं प्रमाणीकुर्वन् काश्यां यन्त्रविशेषेण प्राणिनं निघ्नन् अनेनायममृत एवेत्यध्यवस्यन् न घातको भवतीति हे भगवन् ! **अतिदुर्गमः** अतिशयेन दुःखेनावबोद्धुं शक्यः अतिगम्भीर इत्यर्थः, **अयम्**, अनन्तरोपवर्णितो निश्चयनयवादः, । **प्रशमहेतुः** प्रशमकारणं, **त्वया** सर्वनयमयप्रमाणमूर्द्धाभिषिक्तकेवलज्ञानवता भवता, **उद्द्योतितः** उद्घोषितः । अयं भावः–प्रणयिजनमरणादिजनितशोकादिसंकुलान् लोकान् निजनिधनभयभीतान् वा जनान् 'अयमात्माऽविनाशी, न कदाचन म्रियते, केवलं देहपरावर्तनादिकं भवतीत्यलं शोकादिना' इत्यादिनिश्चयनयवचनेन शोकादीनपाकृत्य परमोपशमभावं नयति जिन इति जिनेन निश्चयनयः प्रशमहेतुतया समुद्घोषितः ॥१६॥

जिनवचनविमुखाः पापभीरव आदृतसत्याः परहितेच्छवोऽप्यकल्याणमेवानुभवन्ति, हे जिन ! तव वचननिरता एव कल्याणमनुभवन्तीत्याह—

अपुण्यपथभीरवो वचनसत्य ! सत्यादराः

पतन्त्यशिवमेव सत्यवचनार्थमूढा जनाः ।

परप्रियहितैषिणश्च बहुयातनापाणयः
समन्तशिवसौष्ठवं तव न ये वचः संनताः ॥१७॥

अपुण्यपथभीरव इति । "हे *वचनसत्य ! ये अपुण्यपथभीरवः सत्या-* दराः सत्यवचनार्थमूढाः परप्रियहितैषिणश्च बहुयातनापाणयो जनाः, तव समन्त-शिवसौष्ठवं वचो न संनताः, अशिवमेव पतन्ति" इति सम्बन्धः । हे **वचन-सत्य !** वचनं सत्यं यस्य स वचनसत्यः. यद्वा वचने–प्रतिपादने, सत्यः–यथार्थः, सत्यवक्तेत्यर्थः, तत्सम्बोधने–वचनसत्य !, **ये** अनिर्दिष्टनामनः केऽपि, **सत्यादराः** सत्ये आदर.–बहुमानो येषा ते सत्यादराः; **सत्यवचनार्थमूढाः** सत्यवचनस्यार्थे मूढाः–ज्ञानविकलाः, अस्य सत्यवचनस्यायमर्थः सत्य इत्येवंनिर्णे–यात्मकज्ञानरहिताः; **च** पुनः, **परप्रियहितैषिणः** परस्य यत् प्रिय–मनोऽनु-कूल, हितम्–आयत्यामानन्ददायक–परप्रियहित, तदैषिणः-तच्चिन्तकाः, केनोपा-येन परस्य प्रियं हित स्यादित्यनवरतं तदुपायान्वेषणव्यग्राः; **बहुयातना-पाणय** बहवो यातनाः–परभयोत्पादका· खड्गादयः पाणौ येषा ते बहुयातना-पाणय., एवंविधा **जनाः** लोकाः, **तव** जिनस्य, **समन्तशिवसौष्ठवं** अत्यन्त-कल्याणैकमनोहरं **वचः** वचनम्, **संनताः** *सम्यक् प्रणताः*, **न** नैव; *वस्तुगत्या* अपुण्यपथभीरवो यदि किमिति हिंसादिप्रधानयज्ञादिक्रियामनुतिष्ठन्ति ?, यदि च सत्यादरास्तर्हि वचनसत्यस्य जिनस्य सत्ये वचस्येवादर. समुचितस्तेषा, जिनवचनातिरिक्तवचनादराच्च न वस्तुत. सत्यादराः, जिनवचनातिरिक्तवचना–र्थाभिज्ञाश्च सत्यवचनार्थमूढा एव, अन्यवचनार्थस्य सत्यवचनार्थत्वाभावात् , यदि च वस्तुगत्या परप्रियहितैषिण· किमिति परक्षोभकरं खड्गादिकं पाणौ धारयन्ति ?, खड्गादिपाणयश्च न वस्तुतः परप्रियहितैषिणः, कल्याणैकनिकेतनजिनवचनप्रणाम-विमुखानामकल्याणैकनिकेतननरकादिगतिनिपातो युक्त एवेत्याशय· ॥१७॥

हे जिन ! गदपराहतजनैर्गदवारणाय भवदीयवचनामृतं पीयते इत्याह—

य एव रतिहेतवः समफलास्त एवार्थतो
न च प्रशमहेतुरेव मतिविभ्रमोत्पादकः ।

य एव च समुद्भवः स विलयः प्रतिस्वं च तौ
तवामृतमिदं वचः प्रतिहतैर्गदः(दैः) पीयते ॥१८॥

य एवेति । "य एव रतिहेतवस्त एव शमफला॰, प्रशमहेतुरेव मति-विभ्रमोत्पादको न च, य एव समुद्भव स विलयश्च, तौ च प्रतिस्वम्, हे वीर ! गदै॰ प्रतिहतैस्तवेद वचोऽमृत पीयते" इत्यन्वयः । **य एव** ये केचन कामिनीप्रमुखा पदार्था, **रतिहेतवः** रागजनका॰, **त एव** निरुक्तकामिनीप्रमुखाः पदार्था एव, **अर्थत॰** फलभूतकार्यंत फलत इत्यर्थ॰, **'समफला'** इति स्थाने 'शमफला' इति पाठ॰ सम्यगाभाति, तथा च **शमफलाः** कालविशेषादिकं व्यक्तिविशेष वा समाश्रित्य वैराग्यादिना प्रशमरसजनका भवन्ति; नन्वेवं सति रागहेतूना शमहेतूना च सांकर्याद् भवदुपवर्णित॰ प्रशमहेतुरेव मतिभ्रमणाकारको भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—**न च प्रशमहेतुरि**त्यादि । **प्रशमहेतुरेव** प्रशम-जनकत्वेनाभिमतो रागादिजनकपदार्थ एव, **मतिविभ्रमोत्पादकः** यदि राग हेतुरेव शमहेतुस्तदा वस्तुगत्या क शमहेतुः को रागहेतुरिति निर्णयाभावात् मतिभ्रमणाजनक इति, **न च** नैवाशङ्कनीयमित्यर्थ॰; कुत एतदित्याह—**य॰ एव समुद्भवः** य एव रागादीनामुत्पाद॰, **स विलय॰** विशिष्टो लयो विनाशो यस्य स तथा, उत्पत्तिमतोऽवश्यं विनाश इति नियमात् समुत्पन्नस्य रागस्य विनाशे सति वैराग्यात् प्रशमो भविष्यतीत्यर्थ॰, ननूक्तनियमे किं बीजमित्याह—**प्रतिस्वं** प्रतिव्यक्ति, **तौ** उत्पाद-विनाशौ, भवत इति शेष, हे **वीर ! तव** जिनस्य, **इदं** अनन्तरोक्तम्, **वचोऽमृतं** अमृतवद् रस्यमानं सद् आनन्दकन्दो-ल्लासकत्वाद् वचनरूपममृतम्, **प्रति** प्रतीत्य, **हतैः** हतभाग्यै॰, त्वद्वचनामृतपान-जनकभाग्यशून्यै, **गदः** विष पीयते, यद्वा **'गदः'** इति स्थाने 'गदै॰' इति पाठ॰, **गदैः** गदशब्द –कृष्णानुजे रोगे कथने विषे च वर्तते, आवृत्त्या च रोगमयैर्विषमयैश्च, परवादिवचनै॰, **प्रतिहतैः** सजातज्ञानस्वरूपाघातै, **पीयते** ज्ञानस्वरूपावाप्तिलक्षणरोगनिवर्तनकृते हृदयगत क्रियत इत्यर्थ॰ ॥१८॥

अहन्त्व-ममत्वाद्यभिमाने विद्यमाने सति यमास्यपतितस्य न प्रशान्त्युदयो न वा भेदकारणराग-द्वेषनिवृत्तिरित्याह—

ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः
कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः ।

यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः
परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ? ॥१९॥

ममेति । "ममेति अहमिति चैषोऽभिमानदाहज्वरो यावत् तावत् कृतान्तमुखमेवेति प्रशान्त्युन्नयो न, यशःसुखपिपासितैरनर्थोत्तरैः परैरयमसावपसदः, कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ?" इत्यन्वयः । **ममेति**–मम कलत्रं, मम बान्धवः, मम पुत्रः, मम माता, मम पिता, मम मातामहः, मम मातुल इत्याद्याकार इत्यर्थः, **अहमिति**–अहं ब्राह्मणोऽहं, श्रोत्रियोऽहं, धनिकोऽहं, ग्रामाधिपतिरहं राजेत्याकार इत्यर्थः, **एषः** प्रत्यक्षात्मकः, **अभिमानदाहज्वरः** अभिमान एव दाहज्वरः–शरीरसंतापकारी ज्वरोऽभिमानदाहज्वरः, **यावत्** यावत्कालं वर्तते, **तावत्** तावत्कालं, **कृतान्तमुखमेवेति**–कृतान्तस्य–मृत्योः, मुखमेव–मुखप्रविष्टत्वमेवेत्येतस्मात् कारणात्, **प्रशान्त्युन्नयः** प्रकर्षेण शान्तेरुन्नतिः, **न** नैव; **यशःसुखपिपासितैः** यशश्च सुखं च यशःसुखे तयोः पिपासा–यशो मे स्यात्, सुखं च मे स्यादित्याकारिकेच्छा, तदाश्रयैः, यशःसुखकामुकैरित्यर्थः, **अनर्थोत्तरैः** अनर्थमनिष्टमुत्तरकाले येषां तेऽनर्थोत्तरास्तैः, उत्तरकालेऽवश्यमनिष्टप्राप्तिमद्भिः, **परैः** जैनभिन्नैर्जैनै रागद्वेषाक्रान्तैः, **अयमसावपसदः** देवदत्तोऽयं मम शत्रुरत्यन्तापकारकारी, असौ मम छिद्रान्वेषी इत्यादिस्वरूप आभासः, यद्वा **अपसदः** अधमः, **अयमसौ** सोऽयमभिमानज्वरः, **कुतोऽपि** कस्मादपि देशकालादेः, **कथमपि** केनापि प्रकारेण, **अपाकृष्यते** ? दूरीक्रियते ? काक्वा न कुतोऽपि न कथमप्यपाकर्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥१९॥

हे जिन ! यथा त्वमुपदिशसि तथैव हितपरीक्षकैरुपेयते प्रकारान्तरस्य हितत्वाभावादित्याह–

न दुःख-सुखकल्पनामलिनमानसः सिद्ध्यति
न चागमसदादरो न च पदार्थभक्तीश्वरः ।
न शून्यघटितस्मृतिर्न शयनोदरस्थो न वा
यथात्थ न ततः परं हितपरीक्षकैर्मन्यते ॥२०॥

न दुःख-सुखाकल्पनेति । "सुख-दुःखकल्पनामलिनमानसो न सिध्यति, आगमसदादरो न न सिध्यति, पदार्थभक्तीश्वरो न च सिध्यति, शून्यघटित-स्मृतिः न सिध्यति, शयनोदरस्थो न सिध्यति, परं यथात्थ ततः हितपरीक्ष-कं मन्यते न वा" इत्यन्वयः । सुख-दुःखकल्पनामलिनमानसः सुखं च दुःखं च सुख-दुःखे तयोः कल्पना सुख-दुःखकल्पना, सुख-दुःखकल्पनया मलिनं मानसं यस्य स सुख-दुःखकल्पनामलिनमानसः, अयमनुष्ठितो मम स्वर्गादिसुखं भविष्यति, अभक्ष्यभक्षणादिनिषिद्धाचरणे नरकादिदुःखं भविष्यतीत्यादिकल्पनैकनिरतान्तःकरणः पुरुष इत्यर्थः, न नैव, **सिद्धयति** सुखी भवति, **आगमसदादरः** आगमे-जिनवचने; आप्तपरम्पराप्रणीतराद्धान्तसन्दर्भे न, सदा-सर्वदा, आदरः-बहुमानो यस्य स आगमसदादरः, निरन्तरमागमाध्ययना-ध्यापनैकदत्तचित्त इत्यर्थः, न नैव, सिद्धयतीत्यनुकर्षणीयं पूर्ववद् व्याख्येयम्, **पदार्थभक्तीश्वरः** एते पदार्था इत्थमुपपत्तिपद्धतिं यन्ति नान्यथैत्येव या पदार्थोपपादनलक्षणा पदार्थभक्तिस्तया तस्या वा ईश्वरः-लोकानां बुधसुकुधानां परीक्षकाणां मध्ये प्रधानः-पदार्थभक्तीश्वरः, न च नैव सिद्धयतीत्यनुकर्षणीयम्, **शून्यघटितस्मृतिः** शून्येन शून्यलक्षणविषयेन, घटिता-युक्ता, स्मृतिः-स्मरणं यस्य स शून्यघटितस्मृतिः, सर्वदा निराकारं ब्रह्म शून्यं वा स्मरन् पुरुषः **न** नैव, सिद्धयतीत्यर्थः, **शयनोदरस्थः** शयनस्य-सुषुप्तेः, उदरे तदवस्थाक्रान्त-समये, स्थितः-शयनोदरस्थः, सर्वदा सुषुप्तिमेव परमं निर्वाणं मत्वा सेवमानः, **न** नैव, सिद्धयतीत्यर्थः, **परं** केवलं, हे भगवन् ! त्वं **यथा** येन प्रकारेण, आत्थ कथयसि, **तत** तस्माद् भवत्कथितप्रकारात्, **हितपरीक्षकं** इदमेव हितं नान्यदित्येव परमतनिराकरणपूर्वक-स्वमतव्यवस्थापनप्रगल्भे., **न मन्यते** हितं न मननविषयीक्रियत इति, **नवेत्यस्य** निषेधमात्रार्थकत्वान्निषेधद्वयेन प्रकृ-तार्थदार्ढ्याद् हितं मन्यत एवेति भवदुपदिष्टाचरणाचान्तान्तःकरणः सिद्धयती-त्यर्थः, अथवा **हित** इति पृथक्, हे **हित !** निखिलजन्तुहितकारक !, **न वा** इत्यत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः, नकारद्वयेन च प्रस्तुतार्थदार्ढ्यं ज्ञेयम् । **'मन्यते'** इति स्थाने **'गम्यते'** इति पाठेऽपि गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् प्रागुक्त एवार्थः फलति ॥२०॥

उत्कृष्टास्तिकत्वादिधर्मवत्त्वेन सर्वोत्कृष्टतया भगवन्तं स्तौति—

त्वमेव परमास्तिकः परमशून्यवादी भवान्
त्वमुज्ज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुनः ।
परस्परविरुद्धतत्त्वसमयश्च सुश्लिष्टवाक्
त्वमेव भगवन्नकम्प्यसुनयो यथा कस्तथा ॥२१॥

त्वमेवेति । अन्वयो यथाश्रुतानुपात्येव, हे भगवन् ! **त्वमेव** विशेष्यसङ्गतैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकार्थकत्वाज्जिनभिन्ने परमास्तिकत्वं व्यवच्छिनत्ति, **परमास्तिकः** अस्ति स्वर्गः, अस्ति नरकमित्येव परलोकविशेष्यकास्तित्वप्रकारकनिर्णयवान् आस्तिकः, स च जैना-ऽक्षपाद-कणाद-साङ्ख्य-मीमांसक-बौद्ध-भेदेन षोढा प्रसिद्धः, सांख्यस्य सेश्वराऽनीश्वरभेदेन द्विविधतया तत्रैवेश्वराभ्युपगन्तृपातञ्जलेश्वरानभ्युपगन्तृकापिलयोरन्तर्भाव, मीमांसायाः पूर्वोत्तरमीमांसाभेदेन द्विविधत्वेन तत्र कर्मकाण्डप्रधानपूर्वमीमांसामननप्रवणस्य जैमिनिमुन्यनुयायिनो मीमांसकस्य ज्ञानकाण्डप्रधानोत्तरमीमांसामननप्रवणस्य व्यासानुयायिनो वेदान्तिनश्च मीमांसकान्तर्भावः, एवं षण्णामास्तिकाना मध्ये धर्मास्तिकायादीनामप्यस्तितास्वीकारेणोत्कृष्टतमत्वात् परमास्तिकस्त्वमेव, त्वदन्यावृत्तिपरमास्तिकत्ववान् त्वमित्यर्थः; **परमशून्यवादी** ब्रह्मातिरिक्तं नास्तीत्येवं ब्रह्मातिरिक्तस्य शून्यत्वम्—अभावं ब्रुवन् ब्रह्माद्वैतवादी भवति शून्यवादी, सौत्रान्तिक-वैभाषिक-योगाचार-माध्यमिक-भेदेन चतुर्विधेषु बौद्धेषु बाह्यमाभ्यन्तरं च किमपि वस्तु युक्त्या नोपपद्यत इति नास्तीत्येव सर्वं शून्यं ब्रुवन् माध्यमिकः शून्यवादी, सर्वं वस्तु स्वद्रव्यादिरूपेण सदपि परद्रव्यादिरूपेणासदेवेत्येवमसत्त्वलक्षणशून्यत्वमेव सर्वस्य वस्तुनोऽभिदधत् जिनोऽपि शून्यवादी, तेषु भवान् जिन एव परमशून्यवादी, **त्वं** जिनः, **उज्ज्वलविनिर्णयोऽपि** उज्ज्वलः—अत्यन्तप्रकाशमानो विशेषेण निर्णयो यस्य स उज्ज्वलविनिर्णयः, एवंस्वरूपोऽपि, **पुनः** तथा, **अवचनीयवादः** वचनीयः—गर्हितो न भवतीत्यवचनीयोऽनिन्दितः, अथवा अवचनीयः—गुणातिरेकतो वर्णयितुमशक्यः, यद्वा 'स्यादवक्तव्य एव' इति भङ्गाकलितः वादः—राद्धान्तो यस्य सोऽवचनीयवादः, अनिन्दितपरमोच्चस्याद्वादराद्धान्तः, त्वमेव, **च** पुन, **परस्परविरुद्ध-**

तत्त्वसमयः परस्पर विरुद्धानि-एकावच्छेदेनैकत्राधिकरणेऽवर्तमानानि, तत्त्वानि सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्वादीनि परस्परविरुद्धतत्त्वानि तेषां समयः-एकत्र विभिन्नावच्छेदेन वृत्तिप्रतिपादक आगमो यस्य स परस्परविरुद्धसमय, त्वमेव **सुश्लिष्टवाक्** सुश्लिष्टा-परस्परं सङ्गताः, वाचो यस्य स सुश्लिष्टवाक्, अन्योऽन्यसङ्गतपूर्वापरीभावापन्नवाक्यवक्ता, **त्वमेव** जिन एव, हे भगवन्! त्वं यथा **अकम्प्यसुनयः** अकम्प्या-बाधाद्युद्भावनेन परेण कम्पयितु-स्वविषयात् प्रच्यावयितुम् शक्याः, सुनयाः-सग्रह-व्यवहारादयो यस्य स अकम्प्यसुनय, **तथा** अकम्प्यसमयः, **कः** भवदन्यः न कोऽपीत्यर्थः ॥२१॥

भवदुपदिष्टागम-तदर्थौ सुनयनिष्प्रकम्पावित्युपदर्शयति—

न किञ्चिदुपलक्ष्यते गगन-काष्ठयोरन्तरं
न चापि न पृथक् तयोस्तदुपलक्षितं लक्षणम्।
न चास्ति नियमो दिशां न च हितोचितैषा स्थिति-
स्त्वदीयमिव शासनं सुनयनिष्प्रकम्पाः स्थिताः ॥२२॥

न किञ्चिदिति। गगन-काष्ठयोः किञ्चिदन्तर नोपलक्ष्यते, तयोस्तदुपलक्षितं लक्षण पृथक् नेति न चापि, दिशां नियमो न चास्ति एषा स्थितिर्हितोचिता न च, त्वदीय शासनमिव सुनयनिष्प्रकम्पाः स्थिता" इत्यन्वयः। **गगनकाष्ठयोः** आकाश-दिशो, "दिशस्तु ककुभ काष्ठा" इति कोशात् काष्ठाशब्दो दिग्वाचकः, **किञ्चित्** अण्वपि, **अन्तरं** भेदो विरुद्धधर्मवत्त्वलक्षणः, **न** नैव, **उपलक्ष्यते** उपलभ्यते, तत् किं तयोर्भेद एव नास्ति विभिन्नं वा लक्षण न समस्तीत्यत आह-**तयोः** गगन-दिशोः, **तदुपलक्षितं** लक्ष्यभेदोपलक्षित, लक्ष्यभेदे सति लक्षणभेद आवश्यक इति लक्षणस्य लक्ष्यभेदोपलक्षित, नियतम्, **लक्षणं** विभिन्नव्यवहार-लक्ष्येतरभेदान्यतरानुमापकं लक्ष्यातावच्छेदकसमनियतधर्मवत्त्वरूप, **पृथक्** भिन्न, **न** नैव इति, **न चापि** निषेधद्वयस्य प्रकृतार्थावधारणपर्यवसितत्वेन भिन्नमेवेत्यर्थः, 'अयमस्मात् पूर्वः, अयमस्मात् पश्चिम.' इत्यादिव्यवहारकारण क्षेत्र पूर्वादिदिक्, एतादृशव्यवहारानपेक्षं क्षेत्रमाकाशमिति भिन्नलक्षणसत्त्वादित्यर्थः। **दिशां** वस्तुस्वरूपनिरूपणप्रकाराणाम्, **नियमः**

अयमेव नातोऽन्यथेति नास्ति, शिष्यादिबुद्धिवैशद्यार्थं कश्चिद् गुरुभूतोऽपि निरूपणप्रकार आदृतो भवति, ग्रन्थगौरवपरिहारार्थं च कुत्रचिल्लघुभूतप्रकार एवोपदर्श्यते, मन्दमतिप्रबोधनाय कुत्रचिल्लक्षणस्याव्याप्त्यादिदोषापनयनमपि क्रियते इत्येवं दिशां नियमाभाव एव, **एषा** अनन्तरोपवर्णिता, **स्थितिः** लक्ष्यलक्षणादिव्यवस्था, **हितोचिता** स्वस्वसमीहितानुसारिणो, **न च** नैव, लक्ष्यैकचक्षुषो हि शास्त्रकारा लक्ष्यानुरोध्येव लक्षण प्रणयन्ति, न तु हितानुसारीत्यभिसन्धिः । यद्वा **दिशां** पूर्वादिकाष्ठानां, **नियमः** इयमेव प्राची, इयमेव प्रतीची, इयं प्रतीच्येव इत्यादिनियमः, **न** नैव, एकापेक्षया प्राच्यपि परापेक्षया प्रतीची भवतीत्यर्थः । हे भगवन् ! **त्वदीयं** जिनोदितं, **शासनमिव** श्रुतमिव, त्वदीयं शासनं यथा सुनयनिष्प्रकम्पं तथा लक्ष्यलक्षणादिपदार्था, **सुनियनिष्प्रकम्पाः** विषय-विषयिणोरभेदोपचारात् सुनयाश्च ते निष्प्रकम्पा. सुनयनिष्प्रकम्पा, सुनयविषयत्वादेव बाधादिलक्षणकम्परहिताः, अथवा सुनयो निष्प्रकम्पो येषु ते सुनयनिष्प्रकम्पाः अबाधितसुनयविषया इत्यर्थ., **स्थिताः** व्यवस्थिता ॥२२॥

जिनस्य रागद्वेषमलाकलुषितराद्धान्तनिकषोपले सर्वाऽपि परीक्षा परीक्ष्यतत्त्वनिर्णये समर्थेत्येतद् व्ययचयविषयपरीक्षोपवर्णनेन समर्थयति—

व्ययोऽपि पुनरुद्भवे भवति कर्मणां कारणं
चयोऽपि च परं ललाम भवनिर्जराबोधने ।
करोति मलमर्जयन्नपि च निष्कृतिं कर्मणां
न वा क्व तव तीर्णसङ्गनिकषे परीक्षा क्षमा ॥२३॥

व्ययोऽपीति । "कर्मणा पुनरुद्भवे कारणं व्ययोऽपि भवति, भवनिर्जराबोधने चयोऽपि च पर ललाम, च-पुन मलमर्जयन्नपि कर्मणा निष्कृतिं करोति, हे जिन ! तव तीर्णसङ्गनिकषे परीक्षा क्व वा न क्षमा" इत्यन्वय । **कर्मणां** ज्ञानावरणीयादिकर्मणा, **पुनरुद्भवे** पुनरुत्पत्तौ, आत्मप्रदेशैः समं कर्मपुद्गलाना क्षीरनीरन्यायेन सम्बधने, **कारणं** निमित्त, **व्ययोऽपि** उपभोगेन पूर्वबद्धकर्मणा विनाशोऽपि जीवप्रदेशेभ्यो पृथग्भवनलक्षणः भवति, वैशेषिकमते च "कर्म कर्मसाध्य न विद्यते" इति कर्मण कर्मप्रतिबन्धकत्वेन तद्ध्वसस्य प्रतिबन्धका-

भावविधया कर्मकारणत्वमिति, एतावता व्ययस्य बन्धकारणत्व प्रतिपादितं भवति, **भवनिर्जरावोधने** भवस्य—ससारस्य, जीवप्रदेशसम्पृक्तकर्मणि सति ससार इति तन्नियतत्वाज्जोवप्रदेशसश्लिष्टकर्मणः, निर्जरा—निर्जरण जीवप्रदेशेभ्यः पृथग् भवनं, तद्बोधने—तज्ज्ञापने, **चयोऽपि** कर्मपुद्गलसचयोऽपि, **परं** उत्कृष्टं, **ललाम** मनोहर स्पृहणीय वस्तु, परं स्पृहणीयमित्यर्थ., **च** पुन , **मलं** कर्ममलम्, **अर्जयन्नपि** काय-वाङ् मनोयोगै सञ्चिन्वन्नपि, कर्मणा **निष्कृति** विनाश, **करोति** उत्पादयति, एतावता चयस्येष्टत्वमर्थादावेदितम् , हे जिन ! **तव** जिनस्य, **तीर्णसङ्गनिकषे** तीर्ण·—पारमित·, सङ्ग —राग-द्वेषसम्बन्धो यत्र स तीर्णसङ्ग , माध्यस्थ्यमित्यर्थः, तीर्णसङ्गश्चासौ निकषश्च तीर्णसङ्गनिकष., स्वर्णादिपरीक्षा-निमित्तमुपलविशेषो निकष , तत्तादात्म्यारोपात् तीर्णसङ्गोऽपि निकष·, तत्र, **क्व वा** कस्मिन् विषये वा, **परीक्षा** इदमित्थ भवितुमर्हतीति विचारणा, **न क्षमा** न समर्था ?, सर्वस्मिन विषये परीक्षा समर्था वेत्यर्थ ॥२३॥

भव्यजनान्त करण विशति जिनमतमित्युपदर्शयति—

न कर्मफलगौरवाद् व्रजति नाप्यकर्मा क्वचित्
न चापि मरणादपेत्य न च सर्वथैवामृतः ।
न चेन्द्रियगणं विहाय न तनुं न चैवान्यथा
मतं तव निरञ्जनं विशति भव्यधीरं जनम् ॥२४॥

न कर्मेति । "कर्मफलगौरवान्न क्वचिद् व्रजति, अकर्मा क्वचिन्नापि व्रजति, मरणादपेत्यापि न च व्रजति, तनु विहाय न व्रजति, अन्यथैव न च व्रजति, हे जिन ! तव निरञ्जन मतं भव्यधीर जन विशति" इत्यन्वय । **कर्मफलगौरवात्** कर्मणः फल—कर्मफल तस्य गौरवात्—विशिष्टत्वात्, **न** नैव, **क्वचित्** स्वर्गादौ, **व्रजति** गच्छति, वर्तमानवसत्यपेक्षया विशिष्ट कर्मफल स्वर्गादौ भविष्यतीत्येतस्मात् कारणादेतल्लोक परित्यज्य परलोकं गच्छतीति न, अस्वतन्त्रस्य—कर्मकालादि-पराधीनस्य कर्मफलगौरवमात्रेण परलोकादिगमनासम्भवात्, **अकर्मा** कर्मरहित. पुरुषः, **क्वचित्** कुत्रापि **नापि** नव, व्रजति, ऊर्ध्वगमनस्वभावस्य जीवस्य यत् तिर्यगादिदेशगमन परलोकगमन वा, तत्र कर्मसम्बन्धस्यैव कारणत्वेन तदभावे

तिर्यगादिदेशगमनासम्भवात्, **मरणात्** शरीरप्राणादिवियोगात्, **अपेत्यापि** अन्यदेशं गत्वापि, **न च** नैव, व्रजति, गन्तव्य देशं प्राणवियोगानन्तरमेव जीवो गच्छति न तु प्राणवियोगानन्तर कश्चित् कालमन्यत्र स्थित्वा, ततो गमनस्यासम्भवात्, पूर्वापरभवयोरानन्तर्यस्यैव कर्मकृतत्वात्, **सर्वथैव** सर्वप्रकारेणैव, **अमृतो** मरणरहितो मुक्तो वा, न च व्रजति, पूर्वशरीरप्राणवियोगस्योत्तरशरीरप्राणाद्यसंयोगं प्रति कारणत्वेन मरणाभावे उत्तरशरीरपरिग्रहार्थं गमनासम्भवात्, मुक्तस्य च तिर्यगादिदेशगमनकारणकर्माभावेन यद्वा परलोकगमनकारणकर्माभावेन तथागमनासम्भवात्; **इन्द्रियगणं** द्रव्येन्द्रिय–भावेन्द्रियलक्षणद्विविधमिन्द्रियं, **विहाय** परित्यज्य न च व्रजति; द्रव्येन्द्रियत्यागेऽपि उपयोगलक्षणभावेन्द्रियाभावे उपयोगात्मकजीवस्यैवाभावप्रसक्त्या तत्परित्यागेन गमनासम्भवात्; **तनुं** शरीरं, **विहाय** परित्यज्य, न च व्रजति, औदारिकादिशरीरत्यागेऽपि आससार कार्मणशरीरसम्बन्धस्यावश्यम्भावेन तत्परित्यागे ऊर्ध्वगमनस्वभावस्य जीवस्य लोकान्तरव्यवस्थितमुक्तिशिलागमनावश्यम्भावेन परलोकगमनासम्भवात्; **अन्यथैव** जिनोदितगमनप्रकारव्यतिरिक्तैकान्तवाद्युपदर्शितप्रकारेणैव, **न च** नैव, व्रजति; तादृशप्रकारस्य समयाम्बुधावपाकृतत्वात्; हे जिन ! तव, **निरञ्जनं** दोषाञ्जनविमुक्तं मतं कर्तृ, **भव्यधीरं** मुक्तिगमनयोग्यसूक्ष्मशेमुषीशालिनं, **जनं** प्राणिनं, **विशति** तदन्तःप्रविष्टं भवति, भव्यधीरजन एव निरुक्तजिनमतं सम्यगवबोद्धुमीश इत्यर्थः ॥२४॥

जिनेन्द्रोपदिष्टशासनस्य बुधैराश्रयणे निमित्तमुपदर्शयति—

चराचरविशेषितं जगदनेकदुःखान्तिक-
मनादिभवहेतुगूढदृढशृङ्खलाबन्धनम् ।
उदाहृतमिदं जिनेन्द्र ! सविपर्ययं यत् त्वया
ह्यनेन भवशासनं तव स्मृता बुधाः शासनम् ॥२५॥

चराचरविशेषितमिति । "हे जिनेन्द्र ! चराचरविशेषितम् अनेकदुःखान्तिकम् अनादिभवहेतुगूढदृढशृङ्खलाबन्धनम् इदं जगत् सविपर्ययं यत्

त्वयोदाहृत हि अनेन तव भवशासन शासन स्रुता. बुधाः" इत्यन्वयः। हे जिनेन्द्र ! **चराचरविशेषितं** चर चाचर च चराऽचरे, ताभ्या विशेषित जङ्गम-स्थावर-स्वरूपम्, **अनेकदुःखान्तिकम्** अनेकानि दु खानि अनेकदुःखानि, अनेक-दु.खानि अन्तिके समीपे यस्य तदनेकदु.खान्तिक, समीपतरवर्त्यनेकदु खम्, **अनादिभव-हेतुगूढदृढशृङ्खलाबन्धन** न विद्यते आदिः-स्वक्षणध्वसानधिकरणक्षणसम्बन्धो यस्य सोऽनादि., अनादित्व च प्रकृते प्रवाहापेक्षया बोध्यम्, भवति-पुन पुन-र्जायते प्राणी अस्मिन् स भव. ससार, अनादिश्चासौ भवश्चानादिभव, तस्य हेतवः निमित्तानि अनादिभवहेतव., तेषा गूढं चर्मचक्षुषामदृश्य दृढ त्रोटयितुमशक्य, शृङ्खलया-अन्योऽन्यसन्नद्धानेकलोहाङ्गुलीयकमय्या रज्ज्वा, बन्धनमिव बन्धनं यत्र तत् अनादिभवहेतुगूढदृढशृङ्खलाबन्धनम्, एतादृशम् इद प्रत्यक्षविषयीभूत, **जगत्** त्रिभुवनम्, **सविपर्ययं** विपर्ययेण स्वविपरीतेन सह वर्तत इति सविपर्यय, **यत्** यस्मात **त्वया** जिनेन, **उदाहृतम्** उपदर्शितम्, **हीति** आश्चर्ये कथमिदमित्थ-मुपदर्शितमित्येतत् परिभावयितुमप्यशक्यमस्मदादिभिरित्याश्चर्यम्, **अनेन** सविपर्यय-जगत्स्वरूपोपदर्शनेन **तव** जिनस्य, **भवशासनं** भवस्य-ससारस्य, शासनं-सम्यगवबोधक, **शासनं** स्याद्वादराद्धान्त, **स्रुताः** आश्रिता, **बुधाः** पण्डिता इत्यर्थ ॥२५॥

क्रिया क्रियावतोर्गुण-गुणिनो. कथञ्चिदभेदवादो जिनस्य सिंहनादो वादान्तरा-प्रतिहत इत्याह—

क्रिया भवति कस्यचिन्न च विनिष्पतत्याश्रयात्
स्वयं च गतिमान् व्रजत्यथ च हेतुमाकाङ्क्षते ।
गुणोऽपि गुणवच्छ्रितो न च तदन्तरं विद्यते
त्वयैष भजनोर्जितः सुगद ! सिंहनादः कृतः ॥२६॥

क्रियेति । "कस्यचित् क्रिया भवति, आश्रयान्न च निष्पतति, स्वयं च गतिमान व्रजति, अथ च हेतुमाकाङ्क्षते, गुणोऽपि गुणवच्छ्रितः, तदन्तरं न च विद्यते, हे सुगद ! त्वयैव भजनोर्जितः सिंहनादः कृतः" इत्यन्वय ।**त् कस्यचि**

यत्किञ्चिद्वस्तुनः, **क्रिया** कर्म, न **भवति** जायते, एतेन न वस्तुत्वव्यापिका नापि निराश्रिता क्रियेति नापि निर्हेतुकेति प्रतिपादितम्, **कस्यचिदि**ति षष्ठीसम्बन्धप्रतिपादिका, सम्बन्धश्च सम्बन्धिनोर्भेदे सत्येव भवति, अभेदे घटस्य घट इति सम्बन्धाप्रतीतेः, यश्च यस्माद् भिन्नः स तमतिक्रम्यत्यपि, यथा पटो घटाद् भिन्नो घटमतिक्रम्यापि वर्त्तते, तथा च क्रिया यदि आश्रयाद् भिन्नैव तर्हि आश्रयं विहायाऽपि स्यात्, न चाश्रयं विहाय क्रिया व्यवतिष्ठत इत्यतस्ततोऽभिन्नाऽपीत्याह- **न च विनिष्पतत्याश्रयात्** आश्रयात् आधारात, न च नैव, विनिष्पतति-अन्यत्र गच्छति, गतिमत्स्वभावस्यैव वस्तुनो गमनं भवति नागतिमत्स्वभावस्येत्याह- **स्वयं च गतिमान् व्रजति** स्वमेव गतिक्रियावान् गच्छति, यदि च गतिक्रिया-तद्वतोरभेदो न स्यात् तर्हि स्वयं गतिमान्न भवेदतस्तयोरभेद उपेयः, यदि च गति-तद्वतोः सर्वथैवाभेदस्तर्हि स्वकारणेभ्य उत्पद्यमानो गतिमान् गत्या सहैवोत्पद्येत, न चैव किन्तु पूर्वं स्वकारणेभ्यो गतिविकल एवोत्पद्यते, गतिहेतुमपेक्ष्य च तत्र गतिरुत्पद्यत इत्यतस्तयोर्भेदोऽपीत्याह- **अथ च** स्वयं गतिमत्त्वेऽपि च, **हेतुं** गत्युत्पत्तौ कारणम्, **आकाङ्क्षते** अपेक्षते, इत्थं क्रिया-क्रियावतोरर्थतः कथञ्चिद्भेदाभेदौ समर्थ्य गुण-गुणिनोस्तौ समर्थयति-**गुणोऽपि** यथा स्वाश्रयाश्रिता क्रिया तथागुणः, **गुणवच्छ्रुतः** गुणवदाश्रितः, आश्रयाश्रयिभावस्य भेदनियतत्वाद् गुण-तद्वतोर्भेद एतावता सिद्ध्यति, संयुक्तयोर्भिन्नयोरङ्गुल्योरन्तरं समस्ति, न च गुण-गुणिनोर्भिन्नयोरपि सतोरन्तरं समस्तीत्यतस्तयोरभेदोऽपीत्याह-**तदन्तरं** गुण-गुणवतोरन्तरं, **न च** नैव, **विद्यते** समस्ति, हे सुगद ! सुष्ठु गदनं-वचनं वाग्विलासो यस्य स सुगदः, तत्सम्बोधने -हे सुगद !, **त्वयैव** जिनेनैव, **भजनोर्जितः** केनचिद्रूपेण भेदः केनचिद्रूपेणाभेद इत्येवं यः स्याद्वादः, तेनोर्जितः-परिपुष्टः, **सिंहनादः** वादिगजेन्द्रवित्रासनहेतुत्वात् सिंहनादसमो वादः कृतः, त्रस्यन्ति सर्वेऽपि वादिप्रवरा भवत्कृतस्याद्वादोद्गारलक्षणसिंहनादेनेत्यर्थः ॥२६॥

अतिमनोहरस्य वीरवाक्यस्य दोषासम्पृक्तत्वमुपदर्शयति—

न जातु नरकं नरो व्रजति सागसोऽप्यन्तसो
न चापि नरकादपायमनवेत्य संवेद्यते ।

कदाचिदिह वैरमाप्य नरकोपगं मुच्यते
न चापि तव वीर ! वाक्यमतिपेशलं दोषलम् ॥२७॥

न जात्विति । "सागसोऽपि नरो जातु अन्तसो नरकं न व्रजति, नरकादपायमनवेत्य न च संवेद्यते, इह कदाचित् नरकोपगं वैरमाप्य मुच्यते, हे वीर ! तवातिपेशलं वाक्यं न चापि दोषलम्" इत्यन्वयः । **सागसोऽपि** प्राणिघाताद्यपराधनिकरसहितोऽपि, **नरः** प्राणी, **जातु** कदाचित्, **अन्तसः** एतत्स्थाने 'अन्तशः' इति पाठः सम्यग्भाति, अनुप्रासानुरोधेन तादृशपाठे वा स-शयोरैक्यमाश्रयणीयम्, अन्तशः प्रान्ते, एतद्दर्शनगर्जीवनसमाप्तौ सत्यामि-त्यर्थः, नरकं न व्रजति, अपराधकार्यपि पुरुषोऽनन्तरं अपराधक्षमायाचनादिना पापविलयीकरणतः शुभाचरणादिना पुण्योपार्जनतश्च नरकं न गच्छति, उत्तरोत्तरं पुण्यपरम्परोपनिपातप्रभवस्वर्गादिफलोपभोगस्यैवावाप्तेः, **नरकात्** नरकगतितो जायमानम्, **अपायं** पीडादिकम्, **अनवेत्य** अज्ञात्वा, **न संवेद्यते** न सम्यक्-प्रकारेण वेद्यते–उपभुज्यते, अयं भावः–घोरतरं नरके दुःखं, तज्जनकं च कर्म मया कृतम्, अथ पापप्रायश्चित्तादिना विमुक्तो भवामीति धिया पापप्रायश्चित्ता-दिना तत् कर्म स्थितिघात-रसघातादिना प्रकारेण ह्रस्वीकृत्य नीरसीकृत्य च भुङ्क्ते नान्यथा, यद्वा नरकभवतः पीडादिकमवाप्यैव तत् कर्म भुज्यते नान्यथा भोगसाधनमन्तरेण भोगाभावात् , **इह** अस्मिन् भवे, कदाचित् , **नरकोपगं** नरक-समीपगं, नरकगतिप्रायकमित्यर्थः, **वैरं** शत्रुभावम् , **आप्य** प्राप्य, प्रसन्नचन्द्र-राजर्षिवत् तदानीमेव केवलज्ञानोत्पत्त्या, **मुच्यते** मुक्तो भवति, हे **वीर** ! तव एवम्भूतार्थप्रतिपादकम्, **अतिपेशलम्** अत्यन्तमनोहरं, **वाक्यं** वचनम्, **न चापि** नापि च, **दोषलं** दोषं लाति–गृह्णातीति दोषलं दोषग्रस्तमित्यर्थः ॥२७॥

एकस्मिन् परस्परविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपादकं वचनं दुरुक्तं यो न मन्यते स जिनमतं मन्यते, अथवा दुरुक्तं यो मन्यते स जिनमतं न मन्यत इत्याह—

शयानमतिजागरूकमतिशायिनं जागरं
ससंज्ञमपि वीतसंज्ञमथ मोमुहं संज्ञिनम् ।

विकत्थनमभाषिणं वचनमूकमाभाषिणं
दुरुक्तमिव मन्यते न तव यो मतं मन्यते ॥२८॥

शयानमिति । अन्वयो यथाश्रुतानुसार्येव । **अतिजागरूकम्** अत्यन्तजाग्रदवस्थम्, **शयानं** सुषुप्त्यवस्थम्, जागरण-सुषुप्तयो॰ परस्परविरोधेन विरुद्धधर्मद्वयस्यैकदैकत्र सम्भवाभावेन तथोक्तेर्दुरुक्तत्वम्, **अतिशायिनम्** अत्यन्तसुषुप्त्यवस्थं, **जागरं** जाग्रदवस्थम्, अत्रापि दुरुक्तत्वं पूर्ववदेव, **ससंज्ञमपि** संज्ञानाम ज्ञानं वा, तेन सहितमपि **वीतसंज्ञं** सज्ञारहितम्, अत्रापि विरोधाद् दुरुक्तता, **अथ** एवम्, **मोमुहं** मूर्च्छावस्थम्, **संज्ञिनं** सचेष्टम्, मूर्च्छितो हि निश्चेष्टस्तदैव न सचेष्ट इति दुरुक्तता, **विकत्थनम्** आत्मश्लाघावाचालम्, **अभाषिणं** किञ्चिदपि वक्तुमसमर्थम्, वाचालत्वावक्तृत्वयोरेकदैकत्रासम्भवात् तद्वचनस्य दुरुक्तत्वं स्यादेव, **वचनमूकं** वचनेति विशेषणसामर्थ्यादत्यन्तमूकम्, **आभाषिणम्** अत्यन्तवचनप्रगल्भम्, अत्रापि दुरुक्तत्वं पूर्ववदेव । अपेक्षाभेदेनैकत्रैकदा शयानत्वातिजागरूकत्वादीना सम्भवाद् वस्तुतो नास्ति दुरुक्तता, तथापि दुरुक्तमिव इवशब्दस्यैवकारार्थकत्वाद् दुरुक्तमेव **मन्यते** जानाति, क एवं मन्यते? इत्याकाङ्क्षायामाह—हे जिन ! **यः** पुरुष एकान्तवादकदाग्रहगृहीतः, **तव** जिनस्य, **मतम्** अनन्तधर्मात्मकत्वप्ररूपकानेकान्तवादम्, **न** नैव, **मन्यते** स्वीकरोति, बाह्येन्द्रियवृत्तिनिरोधेनात्मस्वरूपं भावयन्त योगिन बाह्यार्थज्ञानसाम्मुख्याभावाच्छयानम्, आत्मस्वरूपात्यन्तप्रकाशमयज्ञानवत्त्वादतिजागरूकम् । अतिशायिनं बहिरिन्द्रियवृत्तिनिरोध-मनोवृत्तिनिरोधोभयवत्त्वेन बाह्यान्तरिकज्ञानसाम्मुख्याभावादतिशायिन, शुद्धात्मैकतानत्वेन परमयोगकाष्ठोपगतत्वेन जागरं, तत्तच्छरीरावच्छिन्नात्मस्वरूपत्वेन पित्रादिसङ्केतितदेवदत्तादिसञ्ज्ञावाच्यत्वात् ससञ्ज्ञमपि, वस्तुस्थित्याऽखण्डानन्दस्वरूपत्वेन पारिभाषिकसञ्ज्ञाविकलत्वात् वीतसंज्ञम्, एवं पुत्र-कलत्र-धनादिषु ममतालक्षणमोहवत्तया मोमुह, तत्परिपालनादिचेष्टावत्त्वेन सञ्ज्ञिनम्, आत्मश्लाघित्वेन विकत्थन परश्लाघापराङ्मुखत्वेनाभाषिणम्, यत्र यद्वचनसमुचितं तन्न वक्तीति वचनमूकम्, परव्यामोहार्थमुच्चै॰ स्वरैर्यद्वा तद्वा वक्तीति आभाषिणमित्येव प्रकारान्तरेण वापेक्षाभेदेनानन्तधर्मात्मकवस्तुनि सर्वं वचनं सूक्तमेव न दुरुक्तमिति जैनमत विजयत इत्यर्थ ॥२८॥

कर्मणामतिकुटिला गतिर्जिनैनैवोपदर्शितेत्याह—

न मोहमतिवृत्त्य बन्ध उदितस्त्वया कर्मणां
न चैकमपि बन्धनं प्रकृतिबन्धभावो महान् ।
अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नासकृत्
त्वयाऽतिकुटिला गतिः कुशल ! कर्मणां दर्शिता ॥२९॥

न मोहमतिवृत्त्येति । "हे जिन ! मोहमतिवृत्त्य कर्मणां बन्धस्त्वया नोदाहृत', च पुन', बन्धनमपि एकं न, प्रकृतिबन्धभावो महान्, एष असकृत् न बध्यते इति न च, हे कुशल ! त्वया कर्मणा अतिकुटिला गतिः दर्शिता" इत्यन्वयः । **मोहम्** अहङ्कार-ममकारावलीढचित्तपरिणाम यद्वा मोहनीयकर्मजनित मिथ्यात्वपरिणाममविरतिपरिणाम कषायपरिणामं च, **अतिवृत्त्य** अनाश्रित्य, **कर्मणां** ज्ञानावरणीयादीनामष्टविधकर्मणाम्, **बन्धः** दर्शितस्वरूप, **त्वया** जिनेन, **न** नैव, **उदाहृतः** प्रतिपादितः, मिथ्यात्वा-ऽविरतिकषाय-योगैः किल जीवः कर्म बध्नातीति जिनोपदेशः, अत्र योगस्याग्रहणं केवलयोगजन्यबन्धस्य परमनिकृष्टस्थितिकत्वादविवक्षा, यद्वोपलक्षणभावेन योगोऽपि विज्ञेयः, **च** पुनः, **बन्धनमपि** कर्मबन्धोऽपि, **नैकविधं** न एकप्रकारक, अयभाव.—न एकप्रकारक एव बन्ध, किन्तु चतुर्धा, प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्ध-रसबन्ध-प्रदेशबन्धभेदाद् बन्धाना चातुर्विध्यात्, **कर्मणां** ज्ञानावरकत्वादिस्वभाव.—प्रकृति', स्थितिः—कालावधारणम्, रस—अनुभाग, प्रदेशः—दलसंचय', यदुक्तम्—

"प्रकृतिः स्वभाव. स्यात्, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेय, प्रदेशो दलसचयः ॥११॥"

सर्वत्र कर्मणामिति सम्बन्धनीयम, एषु चतुर्विधबन्धेषु मध्ये को महानित्याकाङ्क्षायामाह—**प्रकृतिबन्धभावो महानिति**—प्रकृतेः—ज्ञानाद्यावारकत्वादि—स्वभावस्य बन्धभाव—कर्मभि आत्मसात्करणम्, महान्—प्रबल, कुतो महत्त्वमित्याकाङ्क्षायामाह—**अनादी**त्यादि—एष अनन्तरोपवर्णित' प्रकृतिबन्धभाव., अनादेः, भवस्य—संसारस्य हेतु, कर्मणा ज्ञानाद्यावारकत्वस्वभावे सति जीवगुणाना व्याघातस्ततश्च ससार., स च प्रवाहापेक्षयाऽनादि., ननु कथं सकृद्बन्धेऽनादिभवहेतुता

संभवेदित्यत आह—**न चे**त्यादि । **असकृत्** वारवारं, **न बध्यते** कर्मभिस्तादृग्शक्तिरात्मसात् न क्रियते इति, **न च** नैव, अर्थात् वारवारं प्रकृतिबन्धो भवतीति जिनेन, **गदिता** कथितेत्यर्थः ॥२९॥

जिनदर्शितकर्मोदयप्रकारानुपदर्शयति—

इहैव परिपाकमेति विहितं परे वा भवे
भवोऽपि न भवेऽस्ति नैव न भवत्यसौ प्रागपि ।
क्वचिच्च कृतमन्यथा फलति सर्वथैवान्यथा
अवन्ध्यमिह चोदित सुकृतमष्टसङ्ख्यं त्वया ॥३०॥

इहैवेति । "विहितमिहैव परिपाकमेति, वा परे भवे [परिपाकमेति] भवे भवोऽपि नास्ति, असौ प्रागपि न भवति नैव, क्वचिच्चान्यथा कृतं सर्वथैवान्यथा फलति च, [पुनः] त्वया इह सुकृतमष्टसङ्ख्यमवन्ध्यमुदितम्" इत्यन्वय· । **विहितं** मिथ्यात्वादिना कृतं कर्म, **इहैव** यस्मिन् भवे कृत तस्मिन्नेव भवे, परिपाकं फलप्रदानसाम्मुख्यम् , उदयमिति यावत, **एति** प्राप्नोति, एतद्भव एव फलोपभोगो भवतीत्यर्थः, अत एवोच्यते—"अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ।" इति, **वा** अथवा, **परे** परस्मिन् , भवे, जन्मान्तरे परिपाकमेतीति सम्बन्धः, कुतः ' बन्धोदयमध्यवर्तिकालात्मकाबाधाकालस्य नानाविधत्वात् , यद्वा इह जन्मनि कृतामायुष्कर्म परभव एवोदयमायाति नास्मिन् भवे इति तदपेक्षया परभवे एव परिपाकमेतीति सावधारणतयापि व्याख्येयम्, नन्वेतावता कृतस्यैव कर्मण· फलमुपवर्णितम् एवं सति ससारस्य प्राथमिकोत्पत्तौ पुरा कर्मणोऽकृतत्वात् कथं तदुपभोग इत्याशङ्कायामाह—**भवे** ससारे, **भवोऽपि** प्राथमिक उत्पादोऽपि, **नास्ति** न विद्यते, तत्र हेतुः—प्रवाहतोऽनादित्वं, तदेव दर्शयति—**असौ** ससार·, **प्रागपि** पूर्वकालेऽपि, **न भवति** न विद्यते इति नैव, तथा चानादिरय कथं प्रथमत एवोत्पादभाक् स्यात् , ननु यादृश कर्म कृतं तादृशमेव भुज्यते उतान्यथापि ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**क्वचित्** क्वचित् स्थले, मनुष्यभवादावित्यर्थ., **अन्यथा कृतं** अशातादिरूपेण भोग्यतया बद्ध कर्म, **सर्वथैव**

सर्वप्रकारेणैव भवपरिवर्तनादिना भिन्नेनैव प्रकारेणेत्यर्थः, **अन्यथा** बन्धकालीन-प्रकारभिन्नप्रकारेणैव, **फलति** शुभाशुभफलान्यतरफलोपभोगं जनयति, यथा नरभवादौ बद्धमशातावेदनीयं कर्म देवभवे शातारूपेण भुज्यते, एवं शाता-वेदनीयं कर्म नरकभवेऽशातारूपेण भुज्यते, अथवा निकाचितावस्थामप्राप्तं कर्म सामग्रीवशादन्यथापि भुज्यत इत्यर्थः, **च** पुनः, **इह** कर्मविचारे, **सुकृतं** उत्कर्षतः कृतं कर्म, उत्कर्षो ह्यत्र कर्मणा मूलभेदगणनया गाढतमबन्धनात्मकनिकाचितावस्थया च बोध्यः, तत्र प्रथमे-**अष्टसङ्ख्यं** ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुर्नाम-ऽन्तरायभेदात् अष्टविधं कर्म भवति, नातोऽधिकम्, कर्मणा बद्धं तादृशमेव फलं तद् ददाति, नान्यथेत्यर्थः, एवं स्वरूपेण, **त्वया** हे जिन ! भवता, **उदितं** निरूपितम् , एतादृशकर्मफलोपदर्शने जिनमन्तरेण कः प्रभुरित्यर्थः ॥

हे वीर ! यथातुराश्चतुराः कटुतरमप्यौषधं रोगोपशमननिदानमिति धिया तदुपदर्शकं वैद्यावतंसकं सेवन्ते तथा घोरमपि तपो भवरोगशान्तयेऽद इति धिया तदुपदर्शकं भजन्ति भवरोगरुग्णा भव्या इत्युपदर्शयति —

कृपाकृश इवोक्तवान् यदसि वीर ! घोरं तपो
भवार्तिपरिविक्लवैस्तदिति शान्तये सेव्यसे ।
असारभवबुद्धयस्तु भवरोगशान्तौ परे
निदानमिव दृष्टदोषमवधीरितास्त्वत्सुतैः ॥३१॥

कृपाकृश इवेति । "हे वीर ! कृपाकृश इव [त्वं] यद् घोरं तपः उक्तवान् असि तत् शान्तये इति भवार्तिविक्लवैः सेव्यसे, भवरोगशान्तौ दृष्टदोषं निदानमिव असारभवबुद्धयः परे तु त्वत्सुतैः अवधीरिताः" इत्यन्वयः । हे **वीर** !

"विदारयति यत् कर्म, तपसा च विराजते ।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥१२॥"

इत्यादिना निरुच्यमान ! वर्तमानतीर्थप्रणेतृतयासन्नोपकारिन् ! भगवन् ! **कृपाकृश इव**-कृपा-दया, तया कृश इव-सूक्ष्म इव दयाशून्य इवेत्यर्थः, यथा निर्दयो जनो दुःखसकुलतया, कष्टकरणीयं करणीयमुपदिशति तथेत्यर्थः, **यद्**

बुद्धिविशेषगोचरम्, **घोरं** अतिकष्टसाध्यं, **तपः** मासोपवासादिकम्, **उक्तवानसि** कथितवानसि, **तद्** यच्छब्देनोद्दिष्टं तपः, **शान्तये** भवरोगोपशमनाय भवति; **इति** इत्येवंधिया, **भवार्तिपरिविक्लवैः** भवस्य–संसारस्य, संसारात्मकरोगस्य या आर्तिः–पीडा, तया परितः विक्लवैः व्याकुलीभूतान्तःकरणैर्भव्यजनैः, **सेव्यसे** स्तव–पूजादिभिस्त्वं सेवितो भवसि; तुशब्दो विशेषावगमनाय, तदेवाह–**भवरोगशान्तौ** संसारात्मकरोगोपशमनविधौ, **दृष्टदोषं** ज्ञातदोषं, **निदानमिव** यथा रोगोपशमनविधौ वर्ण्यमानमपि दोषग्रस्तं निदानं निराकृतं भवति तथा, **असारभवबुद्धयः** असारः–विविधपीडाजनकत्वेन रोगसदृशो यः, भवः–संसारः, तत्र बुद्धिः–यज्ञादिकं कृत्वा स्वर्गादिकं प्राप्स्यामः इत्यादिका मतिर्येषां ते तथा, रोगसदृशभवरसिका इत्यर्थः, **परे** परे तैर्थिकाः, **त्वत्सुतैः** जिनशिष्यप्रशिष्यादिभिः, **अवधीरिताः** निराकृता भवन्ति स्म, भवरोगरसिका भवन्तः कथंकारमन्यान् तादृशरोगरहितान् कुर्युरिति पराजिता इत्यर्थः ॥३१॥

अनन्तगुणनिधानस्य जिनप्रधानस्य कतिचिदपि गुणाः सर्वथा स्तोतुमशक्याः, अथापि ममायमायासः फलेग्रहीत्यावेदनाय पृथ्वीवृत्तोद्ग्रथितां तृतीयां द्वात्रिंशिकां शिखरिणीवृत्तानुरञ्जितान्तिमपद्यहृद्यां विदधाति—

अविदितगुण ! स्तोतुं कः स्यात् प्रमेयगुणानपि
त्रिभुवनगुरुः किन्त्वेवाहं तव स्तवचापलः ।
न तु गणयितुं चान्यापातं नय स्वहितैषिणां
त्वयि समुदितानन्दं चेतो मयेत्यनुवर्तितुम् ॥३२॥

अविदितेत्यादि । 'हे अविदितगुण ! तव प्रमेयगुणानपि स्तोतुं त्रिभुवनगुरुः कः स्याद्' इत्यन्वयः, हे **अविदितगुण** ! अविदिताः परिपूर्णतया यथार्थतया च न ज्ञाता गुणा यस्य सोऽविदितगुणः; तत्सम्बोधने हे अविदितगुण ! जिन !, **तव** भवतो जिनस्य, **प्रमेयगुणानपि** चारुतया गणनीयान् गुणानपि, कतिपयानपि गुणानिति भावः, आस्तामप्रमेयगुणगण इत्यपिना सूच्यते, **स्तोतुं** सर्वाङ्गतया स्तुतिविषयान् कर्तुम्, **त्रिभुवनगुरुः** भुवनत्रये गौरवशाली, **कः**

स्यात् कोऽसर्वज्ञो जन स्यात् ? अर्थात् कश्चिदपि न । यद्वा—"**अविदित-गुण.**" इति प्रथमास्यन्तम् "व्यत्यये लुग् वा" [१३.५८] इति सैद्धे, **त्रिभु-वनगुरुः**' इत्यस्य स्थाने **त्रिभुवनगुरोः**' इति वा पाठ., तथा च "हे त्रिभुवनगुरो ! तव प्रमेयगुणानपि अविदितगुणः कः स्तोतु स्यात्' इति चान्वयः, हे **त्रिभुवनगुरो** ! अविशेषेण सर्वेषां हितोपदेशकत्वेन भुवनत्रयशिक्षक ! हे जिन ! यद्वा तीर्थङ्करत्वेन भुवनत्रयेऽपि गुणगणगरिष्ट ! हे भगवन् ! तव प्रमेयगुणानपि, **अविदितगुणः** अविदिताः—असर्वज्ञत्वेन सपूर्णतया न ज्ञाताः, गुणा येन तादृश., **कः** कोऽसर्वज्ञो जनः स्तोतुम्, **स्यात्** प्रभवेत् कश्चिदपि नेत्यर्थ., चरमान्वये—हे जिन ! इति प्रकरणप्राप्तम्, 'त्रिभुनगुरो' इति 'तव' इत्यस्य विशेषणमन्यत् समानम्, तथा च जिनस्य प्रमेयगुणस्तवनेऽपि यदि न कोऽपि समर्थस्तर्हि अप्रमेयगुणस्तुतिसमर्थस्य चर्चैव केत्यर्थ । नन्वेव तर्हि भवता क्रियमाणेयं जिनस्तुतिरपि न यथार्था तद्गुणस्तुतिरिति वृथा प्रयासोऽयमिति तटस्थाशङ्का मनसिकृत्य पृच्छति—**किन्त्विति** । उत्तरयति—**अहमेव** सिद्धसेन-दिवाकर एव, **स्तवचापलः** स्तवे—जिनगुणस्तुतौ, चापल·—बालवद् बलाबलमवि-मृश्य प्रवृत्तिकारी । ननु किमियं चपलता जिनस्य गुणान् गणयितुमादृता ? आहो-स्वित् किमप्यन्यत् कर्तुमित्याकाङ्क्षायामुत्तरार्धमाह—**न तु गणयितुमित्यादि** ।

'स्वहितैषिणा चेतोऽन्यापात समुदितानन्द च [यथा स्यात् तथा] त्वयि नय इति मया अनुवर्तितु [चापलोऽस्मि] , न तु [जिनगुणान्] गणयितुम्' इत्य-न्वय. । **स्वहितैषिणां** आत्मकल्याणाभिलाषुकाणा जनानां, **चेतः** मनः, **अन्या-पातं** जिनभिन्ने गमनाभाववत्, **समुदितानन्दं** समुदितः—समुत्पन्न आनन्दो यस्य तादृश च यथा स्यात् तथा, **त्वयि** भवति जिने, **नय** प्रापय, **इति** एतस्मात् कारणात्, **मया** सिद्धसेनदिवाकरेण, **अनुवर्तितुं** अनुसरणार्थं मत्कर्तृक-भवदनुसरणार्थमित्यर्थः, **न तु गणयितुं** न तु जिनगुणान् गणयितुम् । अनया स्तुत्या जिनगुणगणनं भवतु वा मा , मम मनस्तु तदेकतानत्वाज्जिनानुवृत्त्या परम्परया परमहितमवाप्स्यतीत्यर्थ. । हरिणीवृत्तमिद च तल्लक्षणम्—"नसमरसला ।. षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता" इति ॥३२॥

अर्थप्राचुर्यकान्ता स्तुतिरियमनघा सिद्धसेनप्रणीता
द्वात्रिंशत्पद्यमानाविभजनघटना चैकविंशत्युपेता ।
तत्रेयं या तृतीया बहुगुणकलिता श्रीजिनेन्द्रस्य तस्या
व्याख्या लावण्यसूरेर्मननपरिणता मोददा स्याद् बुधानाम् ॥१॥

इति तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेति पदालङ्कृतेन श्रीविजयलावण्यसूरिणा विरचिता किरणावलीनाम्नी तृतीयद्वात्रिंशिकाव्याख्या समाप्ता ॥

चतुर्थी द्वात्रिंशिका

श्रीमन्त नेमिसूरिं गुरुवरमवरं सर्वसिद्धान्तविद्यं
नत्वा स्मृत्वा च तत्तद्बुधवररचितानेकशास्त्रार्थसारम् ।
धीमाँल्लावण्यसूरिर्जिनगुणविमला सिद्धसेनप्रणीतां
व्याख्यातीज्यां तुरीयां स्तुतिममलपदां स्पष्टभावार्थकान्ताम् ॥ १ ॥

भगवत्स्तुत्यर्थप्रयासहेतुमुपदर्शयति —

परिचिन्त्य जगत् तव श्रिया
न विरोधस्तिमितेन चेतसा ।
परुषं प्रतिभाति मे वच-
स्त्वदृते वीर ! यतोऽयमुद्यमः ॥१॥ [वैतालीयम्]

परिचिन्त्येति । "हे वीर ! विरोधस्तिमितेन चेतसा तव श्रिया जगत् न परिचिन्त्य त्वद् ऋते वचः परुषं यतो मे प्रतिभाति अतोऽयमुद्यमः" इत्यन्वयः । हे वीर !, **विरोधस्तिमितेन** सत्त्वा-ऽसत्त्वादिधर्माणां यो विरोधस्तेन स्तिमितं–कुण्ठितं विरोधस्तिमितं तेन, **चेतसा** चित्तेन, **तव** जिनस्य, **श्रिया** अनन्तधर्मात्मकत्वाभ्युपगमलक्षणानेकान्तलक्ष्म्या, उपलक्षणे तृतीयेति तव लक्ष्म्युपलक्षितं, **जगत्** विश्वं, **न परिचिन्त्य** अविचार्य, **त्वदृते** त्वामन्तरेण त्वत्स्याद्वादपरिशीलनमन्तरेति यावत्, **वचः** 'सदसत्, नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न वस्तु' इत्यादि वचनं, **परुषं** कठिनमसह्यं, **यतः** यस्मात्, **मे** मम **प्रतिभाति** भासते, अत इति शेषः, अस्मात् कारणाद्, **अयं** भवद्गुणस्तुतिविषयकः **उद्यमः** प्रयत्नः, अनेन प्रयत्नेन सर्वं त्वद्वचनममृतमिवास्वाद्यमानमानन्दोल्लासकमेव भविष्यतीत्यर्थः ॥ वैतालीयवृत्तमिदम्, तल्लक्षणं तु–"ओजे षण्मात्रा लँगन्ता युज्यष्टौ न युजि षट् सततं ला न समः परेण गो वैतालीयम्" इति छन्दोऽनुशासने, तद्वृत्तिश्च–"ओजपादयोः षण्मात्रा लँगन्ताः–रगणलघुगुर्ववसानाः, युक्पादयोरष्टौ मात्रा लँगन्ता एव यत्र तद् वैतालीयं नाम च्छन्दः । अपवादमाह —न युजो पादयोः षड् लघवो निरन्तरा भवन्ति, न च समो लः सर्वपादेषु परेण गुरुर्भवति" इति । एवमग्रेऽपि ॥ १ ॥

भवदालम्बनमन्तरेण मम मनो न रन्तुमीहत इत्याह—

यदि वा कुशलोच्चलं मनो
यदि वा दुःखनिपातकातरम् ।
न भवन्तमतीत्य रंस्यते
गुणभक्तो हि न वञ्च्यते जनः ॥२॥

यदि वेति । "मनो यदि कुशलोच्चलं वा, यदि दुःखनिपातकातरं वा मनः, भवन्तमतीत्य न रंस्यते, हि गुणभक्तो जनो न वञ्च्यते" इत्यन्वयः । **मनः** अन्तःकरणं, **यदि** संभावनायां, **कुशलोच्चलं** कुशलेन—कल्याणलक्षणविषयेण, उच्चलम्—उच्चस्थानं लाति—अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् प्रापयतीति—उच्चलं, कल्याणानुध्यानत उत्कृष्टस्थानस्य सुखमयस्य प्रापकं, यद्वा कल्याणतत्परं, **वा** भवेद् वा, **यदि** संभावनायां, **दुःखनिपातकातरं** दुःखस्य—आध्यात्मिका-ऽऽधिभौतिका-ऽऽधिदैविकभेदेन त्रिविधस्याशातावेदनीयस्य, यो निपातः—नितरां प्राप्तिः, तेन कातरं—भयग्रस्तं वा भवेत् , उभयथाऽपि **भवन्तं** जिनम्, **अतीत्य** आलम्बनमकृत्वा, **न** नैव, **रंस्यते** रतिं प्राप्स्यति, **हि** यतः, **गुणभक्तः** गुणाश्रयपुरुषानुरक्तः, **जनः** पुरुषः, **न वञ्च्यते** न प्रतारितो भवति, भवांस्तु गुणवानिति भवदालम्बनकं मनोऽसंशयं कल्याणमासादयिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥

अज्ञानान्धकारनिवारको भवानेवाश्रयणीय इत्याह—

कुलिशेन सहस्रलोचनः
सविता चांशुसहस्रलोचनः ।
न विदारयितुं यदीश्वरो
जगतस्तद् भवता हतं तमः ॥३॥

कुलिशेनेति । "कुलिशेन सहस्रलोचनः, अंशुसहस्रलोचनः सविता च, यद् जगतस्तमो विदारयितुं न ईश्वरः, तद् भवता हतम्" इत्यन्वयः । **कुलिशेन** वज्रेण, **सहस्रलोचनः** सहस्रसंख्यकं लोचनं नयनं यस्य स सहस्रलोचनः—

सहस्राक्ष इन्द्रः, **अंशुसहस्रलोचनः** अंशूनां–किरणानां सहस्रम्–अंशुसहस्रं, तदेव लोचनं–नयनं यस्य सोऽंशुसहस्रलोचनः–सहस्रकिरणः, **सविता** सूर्यश्च, यद् **जगतो** विश्वस्य, **तमः** अन्धकारमज्ञानं, **विदारयितुं** विनाशयितुं, **न ईश्वरः** न समर्थो भवति, **तत्** विश्वस्याज्ञानलक्षणं तमः, **भवतां** जिनेन, **हतं** विनाशितम् ॥३॥

सर्वतो विरक्त एव जनो जिनेऽनुरक्तो भवति, न तु विषयाशाग्रहगृहीत इत्याह—

निरवग्रहमुक्तमानसो
विषयाशाकलुषस्मृतिर्जनः ।
त्वयि किं परितोषमेष्यति ?
द्विरदः स्तम्भ इवाचिरग्रहः ॥४॥

निरवग्रहमुक्तमानस इति । "निरवग्रहमुक्तमानसो विषयाशाकलुषस्मृतिः जनः त्वयि परितोषं किमेष्यति ? अचिरग्रहो द्विरदः स्तम्भ इव" इत्यन्वयः । **निरवग्रहमुक्तमानसः** निरवग्रहं–प्रतिबन्धरहितं यथा स्यात् तथा, मुक्तं–विषयान् प्रति प्रहितं, मानसं–मनो येन स निरवग्रहमुक्तमानसः, प्रतिबन्धरहितसर्वविषयपरिक्षिप्तचित्त, **विषयाशाकलुषस्मृतिः** विषयस्य–धन-पुत्र-कलत्रादेः, आशा–अभिलाषा, धनं मे भवतु, कलत्रं मे भवत्वितीच्छत्यर्थः, तया कलुषा–मलिना स्मृतिर्यस्य स विषयाशाकलुषस्मृतिः, विषयस्पृहाधीनतत्त–द्विषयोपादानविषयकस्मरणवान्, **जनः** पुरुषः, **त्वयि** राग-द्वेषादिरहिते जिने, **परितोषं** सन्तोषं, किम् ? **एष्यति** प्राप्स्यति, न प्राप्स्यति, **अचिरग्रहः** चिरं–बहु व्यतीतकालं, ग्रहः–ग्रहणं यस्य स चिरग्रहः, न चिरग्रहोऽचिरग्रहः, कतिपयदिवसाभ्यन्तर एव गृहीतः, **द्विरदः** हस्ती, **स्तम्भे** तद्बन्धनार्थं गृहमध्य-व्यवस्थापिते स्थूलकाष्ठे, **इव** यथा, परितोषं नैति, यथा वने स्वच्छन्दमितस्ततो वनकरिणीभिः समं बहुकालं विहरणानन्दानुभवनशीलो द्विरदो बलाद् वनादानीय स्तम्भे बद्धो न तत्र परितोषमेति तथेत्यर्थः ॥४॥

अभिमानग्रहिलो जनो हितकामोऽप्यत्यन्तहितावहे जिने न प्रीतिमाप्नोत्यहो मानकलेश्चेष्टितमित्याह—

हितयुक्तमनोरथोऽपि सं-
स्त्वयि न प्रीतिमुपैति यत् पुमान् ।
अतिभूमिविदारदारुणं
तदिदं मानकलेर्विजृम्भितम् ॥५॥

हितयुक्तमनोरथोऽपीति । "यत् हितयुक्तमनोरथोऽपि सन् पुमान त्वयि प्रीतिं न उपैति, तदिद *मानकलेरतिभूमिविदारदारुणं विजृम्भितम्*" इत्यन्वयः । **यत्** यस्मात् कारणात्, **हितयुक्तमनोरथोऽपि सन्** हितेन—अभीष्टेन, विषयतया युक्तो हितयुक्तः हितयुक्तो मनोरथः—मनःकामना यस्य स हितयुक्तमनोरथः, हितविषयककामनावान् , एवम्भूतोऽपि, सन् भवन्, अपिना किं पुनस्तथाकामनाविकलः, हितविषयककामनारहितो मूढत्वादेव जिने प्रीतिविकलो भविष्यतीति न तत्र मानकलेर्विचेष्टितमित्यपिग्रहणप्रयोजनम् । **त्वयि** जिने, **प्रीतिं** भक्तिबहुमानाकलितं स्नेहम् , **उपैति** प्राप्नोति, **तत्** तस्मात्, **इदं** जिने भक्त्यनासादनम् , **मानकलेः** मानस्य-स्वोच्चत्वाभिमानस्य, कलिः—स्वच्छन्दं क्रीडा तस्य, **अतिभूमिविदारदारुणं** अतिशयेन भूमेर्विदारः—विदारण खनन, तद्वद् दारुण-भयङ्करम्, अतिशयेन भूखाते कृते तत्र पतनभीत्या न कोऽपि तत्समीपमुपगच्छति तथेदम्, **विजृम्भितं** चेष्टितम्, यथा रत्नभ्रान्त्याऽतिभूमिखननं निष्फल तथा जिनप्रीतिविमुखस्य जनस्य हितयुक्तो मनोरथो निष्फल एव भवतीत्यर्थ. ॥५॥

त्वद्विद्यामधिगन्तुमशक्तस्य त्वय्येवासूया भिषग्वरे मूर्खातुरेश्वरासूयासदृशीत्याह—

भवमूलहरामशक्नुवं-
स्तव विद्यामधिगन्तुमञ्जसा ।
भवतेऽयमसूयते जनो
भिषजे मूर्ख इवेश्वरातुरः ॥६॥

भवमूलहरामिति । "भवमूलहरा तव विद्यामधिगन्तुमञ्जसाऽशक्नुवन्नयं जनो भवतेऽसूयते, भिषजे मूर्ख ईश्वरातुर इव" इत्यन्वयः । **भवमूलहरां** भवस्य-ससारस्य, मूलं-कारण कर्माष्टकलक्षणमज्ञान भवमूल हरति-विनाशयतीति भवमूलहरा, भवमूलविनाशिका, ताम्, **तव** जिनस्य, **विद्याम्** अनन्तधर्मात्मका-नेकान्ततत्त्वविषयककेवलज्ञानस्वरूपाम्, **अधिगन्तुं** प्राप्तुम्, **अञ्जसा** झटिति, **अशक्नुवन्** तथाविधसामर्थ्यविशेषाभावादशक्त , **अयं जनः** भवद्विद्याप्राप्त्य-शक्तो जन., **भवते** जिनाय, **असूयते** गुणेषु दोषाविष्करणरूपामसूया करोति, **भिषजे** भिषग्वराय, **मूर्खः** वैद्यविद्यास्वपण्डित , **ईश्वरातुरः** ईश्वरो धनाढ्य-श्चासावातुरो व्याधिपीडितः-ईश्वरातुर., **इव** स यथा यथावद्वैद्योपदिष्टौषधोप-योगमकुर्वन् रोगोपशान्तिमलभमानो भिषग्वरायासूयते तथेत्यर्थः ॥६॥

जिनस्य गुर्वननुसरणत एवानुपमपाण्डित्यावाप्तविश्वाचार्यविजयित्वं स्तौति—

> **न सदःसु वदन्नशिक्षितो**
> **लभते वक्तृविशेषगौरवम् ।**
> **अनुपास्य गुरुं त्वया पुन-**
> **र्जगदाचार्यकमेव निर्जितम् ॥७॥**

न सदःस्विति । "सदःसु अशिक्षितो वदन् वक्तृविशेषगौरव न लभते, हे वीर ! त्वया पुन गुरुमनुपास्यैव जगदाचार्यकं निर्जितम्" इत्यन्वयः । **सदःसु** वादि-प्रतिवादि-मध्यस्थ-सभापतिमण्डितासु सभासु, **अशिक्षितः** गुरुवरादप्राप्तशिक्षः, **वदन्** यत्किञ्चित् प्रलपन्, **वक्तृविशेषगौरवं** वक्तृ-विशेषस्य—न्यायादिदर्शनप्रतिपादकवक्तृविशेषस्य, गौरव—गुरुत्वं, **न** नैव, **लभते** प्राप्नोति, महानय वक्तेत्येवं लोके न गीयते, हे वीर !, **त्वया** भवता जिनेन पुन, **गुरुं** स्वशिक्षाविशारदमध्यापकम्, **अनुपास्य** उपास्तिमकृत्वा, गुरुमुखा-च्छास्त्रण्यनधीत्यैव, **जगदाचार्यकं** विश्वाचार्यकदम्बकम्, **निर्जितं** पराजितम्, विश्वाचार्यपरमाचार्य· स्वयमेव सवृत्तो न तु तवापि कोऽप्याचार्यो विद्यते, सभासु स्वस्वदर्शनपाण्डित्यप्रकटनार्थं विजयाय चोपस्थितानेकान्तवादिप्रकाण्डान् निर्जित्य तेषामाचार्यो वीर ! त्व जात इत्यर्थ ॥७॥

वीरं जगन्नायकतया स्तौति—

वितथं कृपणः स्वगौरवाद्
वदति स्वं च न तेऽस्ति किञ्चन ।
वितथानि सहस्रशश्च ते
जगतश्चाप्रतिमोऽसि नायकः ॥८॥

वितथमिति । "कृपणः स्वगौरवाद् वितथं वदति, हे वीर ! च–पुनः, ते किञ्चन स्वं नास्ति, च–पुनः, ते सहस्रशो वितथानि, जगतश्चाप्रतिमो नायकोऽसि" इत्यन्वयः । **कृपणः** कदर्यः ।

"आत्मानं च कुटुम्बं च पुत्रान् दारांश्च पीडयन् ।
लोभाद् यः प्रचिनोत्यर्थान् स कदर्य इति स्मृतः ॥१॥"

इति वचनात् सत्यपि कुटुम्बादिप्रतिपालनप्रत्यये धने तदुपयोगक्षयसंभावनया कुटुम्बादिप्रतिपालनमकुर्वन् लोभाद् धनप्रचयतत्परः, **स्वगौरवात्** स्वस्य–धनस्य सर्वापेक्षया गुरुत्वात्, समागतमतिथ्यादिकं याचकं वा प्रति, **वितथं** किं ददामि ते, नास्ति मम सन्निधौ तव भोजनार्थं परितोषार्थं वा दातुं योग्य धनमित्येवमनृतम्, **वदति** भाषते, वीर ! **च** पुनः, **ते** तव, **किञ्चन** किमपि, **स्वं** धनं, **नास्ति** न विद्यते, राज्यं सपरिकरं परित्यज्य प्रव्रज्यां गृहीतवतो वीरस्य स्वमात्रस्यैवाभावात्, **च** पुनः, **ते** तव, **सहस्रशः** सहस्रपदमनन्तोपलक्षकम्, अनन्तानि **वितथानि** परमानन्दज्ञानात्मकात्मव्यतिरेकेण किञ्चनापि जगति न सारमिति निश्चयदृष्ट्या अनृतानि, वस्तुमात्रमनन्तधर्मात्मकमिति जिनमते यत्र सत्यत्वं तत्रासत्यत्वमपि, अपेक्षाभेदेन विधि-निषेधयोरेकत्र धर्मिण्यविरोधादित्यनन्तानि वस्तूनि किञ्चिदपेक्षया वितथानीति, हे भगवन् ! **च** पुनः, त्वं **जगतः** विश्वस्य, **अप्रतिमः** न विद्यते प्रतिमा–उपमा यस्य सोऽप्रतिमः, अनन्यसदृश., **नायकः** नयति–हिते प्रवर्तयतीति नायकः, यस्य यद्धितं तं तत्र प्रवर्त्तयति, तदीयागमलक्षणाज्ञया हितमाचरन्ति लोका इति, **असि** भवसि ॥८॥

भवस्वरूपानभिज्ञस्य त्वदाज्ञाबाह्यस्य न भयाद् विमुक्तिः, परेषामभये भयशङ्कानिमित्तं त्वद्गुणभूतिमत्सर एवेत्युपदर्शयति—

भयमेव यदा न वुध्यते
स कथं नाम भयाद् विमोक्ष्यते ।
अभये भयशङ्किनः परे
यदयं त्वद्गुणभूतिमत्सरः ॥९॥

भयमेवेति । "यदा भयमेव न वुध्यते कथं नाम स भयाद् विमोक्ष्यते, यत् परे अभये भयशङ्किनः, अयं त्वद्गुणभूतिमत्सरः" इत्यन्वयः । **यदा** यदि, यः पुरुषः, **भयमेव** भयस्वरूपमेव, **न वुध्यते** न जानाति, **कथं** केन कारणेन केन प्रकारेण वा, **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **स** भयस्वरूपानभिज्ञः पुमान्, भयात्, **विमोक्ष्यते** विमुक्तः स्यात् ? यो भयस्वरूपाभिज्ञः स भयं ज्ञात्वा तत्कारणं पर्यालोच्य परिहरन् भयाद् विमुक्तो भवति, भयस्वरूपानभिज्ञस्तु तत्कारण परि· हर्तुं न शक्नोतीति तदुपनिपाताद् भयमाप्नोत्येवेत्यर्थः, **यत्** यस्मात् , **परे** एकान्त- वादिन , **अभये** निर्वाणादौ, **भयशङ्किनः** तत्र भयं स्यान्न वेति शङ्काशालिनो भवन्ति, **अयं** भयस्वरूपज्ञानाभावप्रयुक्तो भयविमुक्त्यभावः, परेषामभये भयशङ्का च **त्वद्गुणभूतिमत्सरः** हे जिन ! त्वद्गुणस्य या भूतिरैश्वर्यं तत्र मत्सरो—मात्सर्यम् , कारणे कार्योपचारात् कारण जिनगुणभूतिमत्सरो निरुक्तकार्याभेदेनोक्त इति ॥९॥

बलसाध्य बलवानेव विनियोक्तुं प्रतिषेद्धुं चार्हति, दुर्बलो नेति नियता व्यवस्था परमर्षेर्भवतो नात्मवैरिणो लोकस्य चेत्युक्तव्यवस्थामुल्लङ्घयन् पुमान् न फलसिद्धिमाप्नोति, शत्रुश्चात्मनोऽहितकरणात् सम्पद्यत इत्याशयेनाह—

बलसाध्यमलं न दुर्बलः
प्रतिषेद्धुंविनियोक्तुमेव वा ।
नियतेयमृषेर्व्यवस्थिति-
स्तव लोकस्य च नात्मवैरिणः ॥१०॥

बलसाध्यमिति । "बलसाध्य प्रतिषेद्धु वा विनियोक्तुं दुर्बलो नवालम्, इयमृषेस्तवानात्मवैरिणो लोकस्य च नियता व्यवस्था" इत्यन्वयः । **बलसाध्यं** कर्तुं प्रतिषेद्धु वा यत् सामर्थ्य तदेव बलं, तेन साध्यं—निष्पाद्यं, **प्रतिषेद्धुं** निषे-

धयितुं, **वा** अथवा, **विनियोक्तुं** यत्र यदा यदुपयुक्तं तत्र तदा तस्य विनियोगं-फलविषयमर्षणं कर्तुं **दुर्बलः** निषेध-विनियोगसामर्थ्यरहितः पुमान, **न** नैव, **अलं** समर्थः, **इयम्**-अनन्तरोपवर्णिता, **ऋषेः** सर्वज्ञस्य, **तव** जिनस्य, **च** पुनः, **नात्मवैरिणः** यः खलु विहितमकुर्वन् निषिद्धं च कुर्वन् आत्मनोऽहितमेवानवरतं करोति न तु हितं सोऽनात्मज्ञ आत्मशत्रुः एतादृशो यो न भवति स नात्मवैरी तस्य निषेधार्थक-नशब्देन समास, **लोकस्य** व्यवहारकुशलस्य जनस्य, **नियता** योग्यदेशकालावस्थाद्यनुसारिणी, **व्यवस्थितिः** व्यवस्थेत्यर्थः । यद्वा ऋषेस्तव नियतेयं व्यवस्था, न चात्मवैरिणो लोकस्येत्यन्वयः । अत्र लोकस्य जनस्येत्यर्थ ॥१०॥

येनैव रक्तो रक्तमनाश्च यत् स्वयं करोति, तदेव तेनाचरितव्यम्, एवं सति तद्विपर्ययेण भगवति जिने नानन्दोल्लासस्तस्येत्याह—

यदि येन सुखेन रज्यते
कुरुते रक्तमनाश्च यत् स्वयम् ।
प्रविचिन्त्य जनस्तदाचरेत्
प्रतिघातेन रमेत कस्त्वयि ॥११॥

यदीति । "यदि येन सुखेन रज्यते, रक्तमनाश्च यत् स्वयं कुरुते जनः, प्रविचिन्त्य तदाचरेत्, प्रतिघातेन त्वयि को रमेत" इत्यन्वयः । यस्मै यद् रोचते तदेव स्वबुद्धिविकल्पनयाऽऽचरन्त जनं प्रति भगवतो जिनस्य कष्टसाध्यतपः-स्वाध्यायादिविधायकागमस्यानर्थक्यं प्रसज्येतेति न स्वच्छन्दाचरण युक्तमित्या-वेदनाय-**यदीति**, **येन** विषयोपभोगादिप्रभवेन, **सुखेन** आनन्देन, **रज्यते** रक्तो भवति, तदानन्दनिमग्नान्तःकरणस्तदेव बहुमन्यते, **च** पुनः, **रक्तमनाः** तद्विषयासक्तान्तःकरणः, **यत्** यदेव विषयोपभोगादिक, **स्वयं** आत्मनैव, न तु परप्रेरणया, **कुरुते** करोति, **प्रविचिन्त्य** प्रकर्षेण विचार्य, **जनो** लोकः, **तत्** स्वाभिलषितं स्वयमेव प्रतिभावित च, **आचरेत्** कुर्यात्, तर्हि **प्रतिघातेन** स्वकीयस्वच्छन्दाचरणविनाशेन, **त्वयि** कष्टतपःप्रभृतिविधायकागमोपदेष्टरि भग-वति जिने, **कः** कः पुरुषः, **रमेत** आनन्दक्रीडां विदधीत ? न कोऽपि-त्वयि रमेतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वन्नाथवत्त्वेनैव जनाः सुखिनः सञ्जाता इत्युपदर्शयति—

अविकल्पमनःस्विदं वच-
स्तव यैरेव मनःसु संभृतम् ।
समतीतविकल्पगोचराः
सुखिनो नाथतयैव ते जनाः ॥१२॥

अविकल्पेति । "अविकल्पमनःसु मनःसु तवेदं वचो यैरेव सम्भृतम्, ते जनाः समतीतविकल्पगोचरा नाथतयैव सुखिनः" इत्यन्वयः । **अविकल्पमनःसु** विशेषेण विरुद्धा वा कल्पना येषु तानि विकल्पानि, मन्यते यैस्तानि मनांसि विकल्पानि च तानि मनांसि विकल्पमनांसि, न विकल्पमनांसि अविकल्पमनांसि, तेषु अविकल्पमनःसु, विकल्पमनोभिन्नेष्वित्यर्थः, **मनःसु** अन्तःकरणेषु, **यैरेव** यैरेव पुरुषैः, **तव** जिनस्य, **इदं** स्याद्वादोपदेशलक्षणं, **वचः** वचनं, **संभृतम्** एकत्रीकृतम्, **ते** मनस्सु सङ्गृहीतत्वद्वचनाः, **जनाः** लोकाः, **समतीतविकल्पगोचराः** समीचीनातीतविकल्पविषयाः, **नाथतयैव** त्वद्गता या नाथता स्वामिता तयैव, **सुखिनः** सुखवन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हे वीर ! समानदृष्ट्याऽविशेषेण सर्वानुपदिशतो भवतः सर्वस्वामित्वं वस्तुगत्या समस्त्येव, एवमपि भवदुपदेशममन्यमाना न भवन्तं स्वामित्वेनाभ्युपयन्ति ये तेषां भवो भविष्यत्येव, तन्निवृत्तिकारणतत्त्वज्ञानराग-द्वेषादिनिवृत्तेरभावादित्याह—

परिवृद्धिमुपैति यद् यथा
नियतोऽस्यापचयस्ततोऽन्यथा ।
तमसा परिचीयते भव-
स्त्वदनाथेषु कथं न वर्त्स्यति ॥१३॥

परिवृद्धिमिति । "यद् यथा परिवृद्धिमुपैति, ततोऽन्यथा नियतोऽस्यापचयः, भवस्तमसा परिचीयते, त्वदनाथेषु कथं न वर्त्स्यति" इत्यन्वयः । **यद्** वस्तु **यथा** येन प्रकारेण स्ववृद्धिकारणादिसन्निधानेन, **परिवृद्धिं** परितः—सर्वप्रका-

रेण, वृद्धिम्-उपचयम्, **उपैति** प्राप्नोति, **ततः** तस्मात्, **अन्यथा** उपचयकारणविपरीतप्रकारेण, **नियतः**-अवश्यम्भावी, **अस्य** वस्तुनः, **अपचयः** ह्रासः, एवं च यदभिमतं सिध्यति तदाह-**तमसा** अज्ञानलक्षणान्धकारेण, **भवः** संसारः, **परिचीयते** वृद्धिमुपैति, हे जिन ! **त्वदनाथेषु** येषां न नाथः स्वामी त्वमसि तेषु, **कथं** कस्मात्, **न दत्स्यति** भवो न स्थास्यति ? भवोपचयकारणाज्ञानविरुद्धस्य ज्ञानस्य भवापचयकारणस्याभावाद् भवोऽनुवर्त्तत एवेत्यर्थः ॥१३॥

हे वीर ! जिनमतज्ञानमन्तरेण तत्खण्डनं सम्भवतीत्यतस्तन्मतखण्डनार्थमध्येयं तद्वचनमिति बुद्ध्या ये वादिनस्त्वद्वचनं पठन्ति तेषां त्वद्वचनाविर्भूतवस्तुतत्त्वज्ञानाच्चिरसञ्चितान्यसंशयक्षयतोऽनर्थसंचयोऽपि, दूरीभवत्येवेत्याह—

यदि नाम जिगीषयापि ते
निपतेयुर्वचनेषु वादिनः ।
चिरसंगतमन्यसंशयं
क्षिणुयुर्मानमनर्थसंचयम् ॥१४॥

यदि नामेति । "यदि नाम जिगीषयाऽपि ते वचनेषु वादिनो निपतेयुः, चिरसङ्गतमन्यसंशयं मानमनर्थसंचयं च क्षिणुयुः" इत्यन्वयः । यदि **नामेति** कोमलामन्त्रणे, **जिगीषयाऽपि** भवन्तं जेतुमिच्छयाऽपि; ते तव, **वचनेषु** अनेकान्तवादेषु, **वादिनः** एकान्तवादिनः, **निपतेयुः** तद्रहस्यमवबोद्धुं तदन्तः प्रविशेयुः, तर्हि **चिरसङ्गतं** बहुकालादविच्छिन्नमन्तःकरणे सुदृढनिरूढम्, **अन्यसंशयमपि** जिनमतं यथार्थं न वेत्यादिसंशयस्तु तद्ग्रन्थावलोकनतोऽनेकान्ततत्त्वनिर्णयादेव दूरीभूतः, स्वस्वाभ्युपगतग्रन्थार्थविषयकं संशयमपि स्वमतविरुद्धैकान्तमतावलोकनसमुद्भूतं, ग्रन्थतात्पर्यानवबोधजनितं वा, तथा **मानं** मदाप्तप्रणीतवाद एव यथार्थो नान्य इत्यभिमानम्, तथा **अनर्थसंचयं** जीवहिंसादिप्रधानयज्ञादिविधायकशास्त्रप्रामाण्यग्रहप्रभवतदाचरणजनितानिष्टनिकुरम्बं च, **क्षिणुयुः** विनाशयेयुरित्यर्थः । '**चिरसंगतमप्यसंशयम्**' इति पाठे तु चिरसंगतं मानम्, अनर्थसंचयं च, असंशयं निश्चयतः क्षिणुयुः, अत्रापिशब्दः समुच्चयार्थकः ॥१४॥

सर्वनयमये भगवत्प्रवचने सर्वाणि दर्शनानि सन्निविष्टानि, एवमपि ततः भक्तेष्वेकान्तताकलुषितेषु तेषु न भवतो दर्शनं समुद्रान्तःसन्निविष्टानां नदीनां ततः प्रविभक्तावस्थायां तासु समुद्रादर्शनमिवेत्याह—

उदधाविव सर्वसिन्धवः
समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥१५॥

उदधाविवेति । "उदधौ सर्वसिन्धव इव त्वयि सर्वदृष्टयः समुदीर्णाः, प्रविभक्तासु तासु भवान् न चोदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्सु उदधिरिव" इत्यन्वयः । **उदधौ** समुद्रे, **सर्वसिन्धवः** सर्वा नद्यः **इव** यथा, **समुदीर्णाः** सम्मिलितास्तथा, **त्वयि** हे वीर ! तवागमे आगमरूपवार्य-जिनरूपकारणयोरभेदोपचारात् **सर्वदृष्टयः** सर्वदर्शनानि, **समुदीर्णाः** सम्यग् मिलिताः, अपेक्षाभेदेन सर्वदर्शनविषया भवदागमे प्रसङ्गत उपदर्शिताः, एवं सत्यपि **प्रविभक्तासु** पृथग्भूय तत्तन्नयावलम्बनेन तत्तद्वादिपरिगृहीतासु, **तासु** दृष्टिषु, **भवान्** भवदभिमतानेकान्तवादः, **न च** नैव **उदीक्ष्यते** अवलोक्यते, **प्रविभक्तासु** पृथक् पृथक् प्रवाहचलितासु, **सरित्सु** सिन्धुषु, **उदधिः** समुद्रः, इव यथा न दृश्यते तथा । सर्वदृष्टय इत्यस्य स्थाने '**नाथदृष्टयः**' इति पाठेऽपि ग्रन्थान्तरे दृश्यते ॥१५॥

विधि-निषेधैकैककोट्यभ्युपगन्तारो वादिनो विधि-निषेधोभयकोट्यभ्युपगन्त्रा भवता समं विवदन्ते, भवांस्तु न तैः समं विवदते इति सर्वाभ्युपगमविषयविषयकाभ्युपगमो भवान् परानतिशेते इत्युपदर्शयति—

वचनैर्विवदन्ति वादिनो
भवता नोभयथापि तैर्भवान् ।
महता विपरीतदर्शनो
वितथग्राहहतो विरुध्यते ॥१६॥

वचनैरिति । "वादिनो महता भवता वचनैर्विवदन्ति, तैर्भवान् नोभयथाऽपि, वितथग्राहहतो विपरीतदर्शनो विरुध्यते" इत्यन्वयः । **वादिनः** सत्त्वा-ऽसत्त्वाद्येकान्तवादिनः, **महता** सत्त्वा-ऽसत्त्वाद्यनन्तधर्माभ्युपगन्तृत्वलक्षण-महत्त्वयोगिना, **भवता** जिनेन, **वचनैः** सत्त्वा–ऽसत्त्वाद्येकैकधर्ममात्रप्रतिपादक-वचनैः, **विवदन्ति** विरुद्धवादं युक्तिरिक्तवादलक्षणविवाद वा कुर्वन्ति, युज्यते च भवता समं तेषा विवादः, यतोऽनेकान्तमभ्युपगच्छता भवताऽस्तित्वमर्थं प्रतिपादयता 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यादि वचन प्रतिपाद्यते, वादिभिस्तु अस्तित्वमर्थं प्रतिपादयद्भिः स्यादिति वचनासमभिव्याहृतमेव 'अस्त्येव घटः' इति वचनं प्रतिपाद्यते, तत्र अस्तित्वं नास्तित्वं वैकान्तमभ्युपगच्छतां नापेक्षावचनप्रयोजनम् , अनेकान्तमभ्युपगच्छता पुनः स्यात्पदमन्तरेणास्त्येवेति नास्त्येवेति अस्तित्व-नास्तित्वोभयधर्माक्रान्ते वस्तुनि नास्तित्वप्रतिषेधोऽस्तित्वप्रतिषेधश्चा घटमानक इत्यपेक्षाबोधकस्यात्पदादिसमभिव्याहार आवश्यक इति वचनैर्विवादः सम्भवत्येव, **तैः** एकान्तवादिभिः समं, **भवान्** जिनो, **उभयथापि** वचनेनार्थतश्च, **न** नैव, वचनव्यत्यासेन विवदन्तीत्यस्यानुकर्षः, कथाया भवन्तं वादीकृत्यैकान्तवादिनः प्रतिवादिनः सम्भवन्ति, यतो भवानेवं ब्रूयात्–घटोऽस्ति नास्ति च, तत्र ये एकान्तेनास्तित्वमभ्युपगच्छन्ति, ते नास्तित्वमनभ्युपगच्छन्त 'अस्तित्ववति घटे नास्तित्व विरोधान्न सभवति' इत्येव प्रतिवदेयुः, ये एकान्तेन नास्तित्वमभ्युपगच्छन्ति, तेऽस्तित्वमनभ्युपगच्छन्तो 'नास्तित्ववति घटे विरोधादस्तित्व न सम्भवति' इत्येवं प्रतिवदेयुरित्येवमनेकान्तवादिन वादीकृत्य सर्वेऽप्येकान्तवादिनः प्रतिवादित्वमात्मन्युररीकृत्य कथा प्रवर्त्तयितु मुत्सहन्ते, एकान्तवादिनस्तु वादीकृत्य न भवान् प्रतिवादी भवितु मर्हति यतः अस्तित्वाभ्युपगन्तैकान्तवादी घटोऽस्त्येवेति ब्रूयात्, घटास्तित्वं च भवानभ्युपगच्छत्येवेति कथं तत्प्रतिषेधोद्यत. प्रतिवादी स्यात् ? एव नास्तित्वाभ्युपगन्तैकान्तवादी घटो नास्त्येवेति ब्रूयात्, घटनास्तित्व भवानभ्युपगच्छत्येवेति कथं तत्प्रतिषेधोद्यत. प्रतिवादी स्यात्, किन्तु स्यात्पदासमभिव्याहृतमेकान्तवादिवचनं स्यात्पदोपादानेन सस्कुर्यात्, तदर्थोऽपि च कथञ्चिदर्थानुगमनेनोपपत्तिपद्धतिमानयेदिति, इदं तु स्यात्-**वितथग्राहहतः** वितथ–मिथ्यात्व, तदेव ग्राह-

मकरः—वितथग्राहः, तेन हृतः कवलितो मारितः, **विपरीतदर्शनः** अनेकान्तस्य विपरीतमेकान्तं दर्शनं यस्य स विपरीतदर्शनः, **विरुध्यते** विशेषेण रुध्यते न प्रसरति, लोकप्रसिद्धिश्चैव—ग्राहसमुखदर्शनो न ग्राहहतो भवति, किन्तु तद्विमुखदर्शन एवेति, अस्त्येवेत्याद्येकान्तदर्शन विपरीतदर्शनं तत्र एकान्तत्वं मिथ्या नास्तित्वादि-द्वितीयकोटिव्यवच्छेदाद् , तद्घटितत्वलक्षणतत्कवलितत्वादनेकान्तवादिवचनप्रचा-रानन्तर न प्रवर्त्तत इत्यर्थः ॥१६॥

यः खलु राग-द्वेषादिकलुष. स राग-द्वेषादिरहितोच्चनरस्थानमन्यान् प्रापयितुं न समर्थ., प्रतारकाप्तप्रतारितस्तु मूर्खः स्वाप्तासमानदृष्टौ जिने स्खलनामुपैतीत्याह—

स्वयमेव मनुष्यवृत्तयः
कथमन्यान् गमयेयुरुन्नतिम् ।
अनुकूलहृतस्तु बालिशः
स्खलति त्वय्यसमानचक्षुषि ॥१७॥

स्वयमेवेति । "स्वयमेव मनुष्यवृत्तय', अन्यानुन्नतिं कथ गमयेयु , अनु-कूलहृतस्तु बालिश , असमानचक्षुषि त्वयि स्खलति" इत्यन्वयः । **स्वयमेव** परापेक्षामन्तरेणैव, मनुष्यस्य—मनुजस्य, वृत्तिः स्वोपकारिणि पुरुषे राग. स्वाप-कारिणि पुरुषे द्वेषो येषा ते **मनुष्यवृत्तयः** एवविधा पुरुषाः, **अन्यान्** स्वभिन्नान्, **उन्नतिं** राग-द्वेषादिरहितत्वेनात्मस्वरूपावाप्त्यादिलक्षणामुन्नतिं, **कथं गमयेयुः**? न कथञ्चिद् गमयेयुरित्यर्थः, **अनुकूलहृतस्तु** तु—पुनः, अनु-कूलेन—स्वेष्टेन पुरुषेण, हृत·—स्वाभ्युपगनमार्गे आनीतः, **बालिशः** मूर्खः, हे वीर! **असमानचक्षुषि** राग-द्वेषाधारपुरुषनेत्रविपरीतनेत्रे, **त्वयि** जिने, **स्खलति** स्खलनामुपैति, त्वदुपदेशमाप्यापि तत पततीत्यर्थः ॥१७॥

सम्पूर्णानन्दस्वरूप सुख त्वय्येवेत्युपदर्शयति—

अविकल्पसुखं सुखेष्विति
ब्रुवते केवलमल्पमेधसः ।

त्वयि तत् तु यथार्थदर्शनात्
सकलं वीर ! यथार्थदर्शनम् ॥१८॥

अविकल्पसुखमिति । "अल्पमेधसः केवलं सुखेष्वविकल्पसुखमिति ब्रुवते, हे वीर ! तत् तु त्वयि यथार्थदर्शनात् सकलं यथार्थदर्शनम्" इत्यन्वयः । **अल्पमेधसः** अल्पा–अल्पविषयिणी स्वल्पकालस्थायिनी वा, मेधा–धारणावती बुद्धिर्येषां ते अल्पमेधसः, स्वल्पविषयकधारणावन्त. स्वल्पकालस्थायिधारणावन्तो वा केचित्, **केवलं** केवलज्ञान, **सुखेषु** अनेकप्रकारसुखेषु मध्ये, **अविकल्पसुखं** विकल्पज्ञानागोचरसुखम्, **इति** एवं, **ब्रुवते** कथयन्ति, हे वीर ! **तत्** तु केवलं पुनः, **त्वयि** जिने, **यथार्थदर्शनात्** अर्थानुसारिसाक्षात्कारात्, भावप्रधाननिर्देशाद् यथार्थसाक्षात्कारत्वात्. **सकलं** प्रत्यक्षं साव्यवहारिक-पारमार्थिकभेदेन द्विविधम्, तत्रेन्द्रियजन्यमनिन्द्रियजन्यमित्येवं द्विविधं सांव्यवहारिकम्, चक्षुर्घ्राण-रसन-त्वक्-श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि, तज्जन्यमिन्द्रियजन्यम्, अनिन्द्रिय–मन., तज्जन्य मानस-प्रत्यक्षम्, पारमार्थिकमपि विकल-सकलभेदेन द्विविधम्, तत्र विकलमवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं च, सकलं सर्वपदार्थसाक्षात्कारिकेवलज्ञानम्, तच्च **यथार्थदर्शनं** प्रमात्मकमेव प्रत्यक्षम्, एतद्बलादेव यथार्थदर्शी भवानिति व्यपदिश्यते ॥१८॥

एकान्तवादिमते यो महान् स महानेव नाणुः, अणुश्च न विभुः, तव मते त्वपेक्षाभेदेन सर्वं समञ्जसमित्याह—

न महत्यणुता न चाप्यणौ
विभुता सम्भवतीह वादिनाम् ।
भवतस्तु तथा च तन्न च
प्रतिबोधावहितैर्विनिश्चितम् ॥१९॥

न महतीति । "इह वादिना महति अणुता न, अणौ विभुताऽपि न च सम्भवति, भवतस्तु प्रतिबोधावहितैः तथा च, तन्न च विनिश्चितम्" इत्यन्वयः । इह वस्तुतत्त्वविचारे, **वादिनाम्** एकान्तवादिनां, मत इति शेषः, **महति** महत्पदार्थे, **अणुता** अणुभाव., **न सम्भवति** महत्त्वा-ऽणुत्वयोर्विरो-

धादेकत्र न सम्भवः, **अणौ** अणुपदार्थे, विभुता न च सम्भवति, अणुत्व-विभुत्वयोरपि विरोधात्, **भवतस्तु** जिनस्य मते पुनः, **प्रतिबोधावहितैः** प्रत्येकपदार्थावबोधावधानैः, **तथा च** महति अणुता, अणौ विभुता च, **तन्न च** महदणु न, अणु च विभु न, इत्येवं **विनिश्चितं** विशेषेण—अपेक्षाभेदेन निर्णीतम्, यदेवैकापेक्षया महत् तदेवान्यापेक्षयाऽणु, यदेवैकापेक्षयाऽणु तदेवान्यापेक्षया विभ्वित्येवमनेकान्तवादे सर्वं समञ्जसमित्यर्थः ॥१९॥

यदेवेद तीर्थं भवता दर्शितं तत् सर्वदा तथैव तद्विषयस्य नान्यथा भावः, न च तद्विरुद्धं शासनमित्याह—

सुख-दुःखविवेकसाधनं
विहितं तीर्थमिदं जिन ! त्वया ।
न च सोऽस्त्यपयाति यस्तयो-
रथवाऽस्य प्रतिषिद्धशासनः ॥२०॥

सुख-दुःखविवेकसाधनमिति । "हे जिन ! त्वया इदं तीर्थं सुख-दुःखविवेकसाधनं विहितम्, यस्तयोरपयाति स न चास्ति, अथवाऽस्य प्रतिषिद्ध-शासनो न चास्ति" इत्यन्वयः । हे जिन ! **त्वया** भवता, **इदं** परिदृश्य-मानं, **तीर्थं** द्वादशाङ्गीरूपशास्त्रसन्दोहः, तदाधारभूतचतुर्विधसङ्घो वा, **सुख-दुःख-विवेकसाधनं** सुख-दुःखयोः—सातावेदनीया-ऽसातावेदनीययोः, विवेकस्य—विविच्य ग्रहस्य, साधनं कारणं, **विहितं** प्रकाशितं निर्मितम्, यः कश्चित्, **तयोः** सुख-दुःखयोः, तत्साधनयोर्वा, **अपयाति** अपगच्छति, न समवतरतीत्यर्थः, स न चास्ति, अयं भावः—यः किल सुखे दुःखे तत्साधने वा न सम-वतरति तादृशो जगति न कोऽपि जीवः पदार्थो वाऽस्ति । अथवा, यः **अस्य** प्रवर्तमानभवत्तीर्थस्य, **प्रतिषिद्धशासनः** प्रतिषिद्ध—निषिद्धं, शासनम्—अनुशा-सनं कथनं वा यस्य तादृशः, स **न चास्ति** न विद्यते अयमाशयः—भवदीय शासने यस्य निषेधोऽलीकता वा तादृशो न कोऽपि जीवः पदार्थो वाऽस्ति, **"प्रतिषिद्धशासनम्"** इति पाठे तु—भवदीयशासनस्य यद् यद् निषिद्धं

तस्य तस्य विधायकं शासनम्, न चारित, यच्चैकान्तवादिना तथा निर्मितं तद् वस्तुप्ररूपकत्वाभावात् शासनमेव न भवतीत्यर्थ. ॥२०॥

अज्ञानलक्षणान्धकार-केवलज्ञानयो. ससर्गाभावमामनन्त्यन्ये पण्डिता: जिने तूक्तान्धकारभाजन एव केवलज्ञानाविर्भाव इत्याश्चर्यमित्युपदर्शयति—

तमसश्च न केवलस्य च प्रतिसंसर्गमुशन्ति सूरयः ।
त्वयि सर्वकषायदोपले जिन ! कैवल्यमचिन्त्यमुद्गतम् ॥२१॥

तमसश्चेति । "तमसश्च केवलस्य च प्रतिसंसर्ग सूरयो न उशन्ति, हे जिन ! सर्वकषायदोपले त्वयि अचिन्त्यं कैवल्यमुद्गतम्" इत्यन्वयः । तमसश्च अज्ञानलक्षणान्धकारस्य, केवलस्य च केवलज्ञानस्य च, प्रतिसंसर्गम् अन्योऽन्यसम्बन्धम्, सूरयः पण्डिता:, न उशन्ति न इच्छन्ति, हे जिन ! सर्वकषायदोपले सर्वे च ते कषायाश्च सर्वकषाया: काम-क्रोधाद्या:, त एव दोपा सर्वकपायदोषाः तान् लाति सङ्गृह्णातीति सर्वकषायदोपलः, तस्मिन्, पूर्वावस्थाया सर्वकपायदोपमये, त्वयि जिने, अचिन्त्यं चिन्तयितुमप्यशक्यं कैवल्यं केवलज्ञानवत्त्वम् उद्गतम् आविर्भूतमित्यर्थ ॥२१॥

कैवल्यस्याचिन्त्यत्वमुपदर्शयति—

पुरुषस्य न केवलोदयः पशवश्चाप्यनिवृत्तकेवला: ।
न च सत्यपि केवले प्रभुस्तव चिन्त्येयमचिन्त्यवद्गतिः ॥२२॥

पुरुषस्येति । "पुरुषस्य केवलोदयो न; च—पुनः पशवोऽपि अनिवृत्तकेवला', तव सत्यपि केवले प्रभुर्न च, इयमचिन्त्यवद् गतिश्चिन्त्या" इत्यन्वय: । पुरुषस्य कार्यमात्रं प्रयत्नऽसगपौरुषसाध्यमिति पौरुषवतो जनस्य केवलोदयः केवलज्ञानाविर्भावो, न न भवति, कृतेऽपि महति प्रयत्ने घातिकर्मचतुष्टयक्षयाभावे केवलज्ञानोदयाभवात्, च पुनः, पशवोऽपि तिर्यञ्चोऽपि, अनिवृत्तकेवलाः निवृत्त केवलज्ञान येपा ते निवृत्तकेवला:, न निवृत्तकेवला', अनिवृत्तकेवला: पशुभावावस्थायामपि कैवल्यसद्भावात्, हे जिन ! तव सत्यपि केवले विद्यमानेऽपि केवलज्ञाने, प्रभु' तत्स्वामी तद्रक्षको, न च, स्वयमेव तदवतिष्ठते, न च तस्य कदाचिदपि नाश सम्भाव्यते, यतस्तद्रक्षणार्थ कश्चिन् तत्प्रभुरपेक्ष्येतापि,

इयम् एवंस्वरूपा; अचिन्त्यवत् अचिन्त्यपदार्थस्येव, गतिः केवलप्रक्रिया चिन्त्या चिन्तनीया इत्यर्थः ॥२२॥

तव चेष्टितं न त्वद्विरोधिनो दृष्टिपथमेतीत्याह–

वपुषो न बहिर्मनःक्रिया मनसो नापि बहिर्वपुःक्रिया ।
न च तेन पृथक् न चैकधा द्विषतां तेऽयमदृष्टिगोचरः ॥२३॥

वपुष इति । 'वपुषो बहिर्मनःक्रिया न नापि मनसो बहिर्वपुःक्रिया ते, पृथग् नेति न च, च–पुनः एकधा न चेति तेऽय द्विषतामदृष्टिगोचरः" इत्यन्वयः । हे वीर ! तव मते मनःक्रिया मनसः प्रवृत्तिः, वपुषः शरीरस्य, बहिः शरीरादन्यत्र, न नैव, भवता मनसा यत् किमपि क्रियते तच्छरीरान्तरे एव, नापि न पुनः, मनसः अन्तःकरणस्य बहिः वपुःक्रिया शरीरस्य क्रिया शरीरचेष्टितं सर्वं मनःप्रविष्टमेव एवं वपुर्मनःक्रिययोरन्योऽन्यमविनाभावेऽपि, ते वपुर्मनःक्रिये पृथग्, विभिन्ने, न नैव, इति न च निषेधद्वयस्य विधिदार्ढ्यार्थत्वाद् वपुर्मनःक्रिये पृथगेव पृथक्त्वे सति तयोरेकत्वं नेत्यपि न च वाच्यं तयोरेकत्वस्यापि सद्भावादित्याह–च पुनः, वपुर्मनःक्रिययोः, एकधा एकप्रकार एकत्वं न चेति न च, अत्रापि निषेधद्वयेन विधिदार्ढ्यमिति तयोरेकत्वमपि, एतेन स्याद्वादे वपुर्मनःक्रिययोः कथञ्चिद्भेदाभेद एव न सर्वथा भेदो नापि सर्वथाऽभेद इत्यावेदितम्, ते तव सम्मत इति शेषः, अयम् अनन्तरः प्रदर्शितः प्रकारः, द्विषतां त्वन्मतानभ्युपगन्तॄणामेकान्तवादिनाम्, अदृष्टिगोचरः दृष्टिविषयो न भवति स्याद्वादरहस्यानभिज्ञत्वात्, एकान्तकदाग्रहग्रहिलत्वादित्यर्थः ॥२३॥

विदुषा सांसारिकदुःखं स्वकर्मकृतत्वादेव नियतं नान्यथेति भवतैव निष्टङ्कितमित्युपदर्शयति–

न च दुःखमिदं स्वयं कृतं न परैर्नोभयजं न चाकृतम् ।
नियतं च न चाक्षरात्मकं विदुषामित्युपपादितं त्वया ॥२४॥

न चेति । इदं दुःखं स्वयं कृतं न च, परैः कृतं न उभयजं न अकृतं न च, च पुनः नियतम् अक्षरात्मकं च न, इति विदुषा त्वयोपपादितम्" इत्यन्वयः । इदम् आध्यात्मिका-ऽऽधिभौतिका-ऽऽधिदैविकभेदेन त्रिविधं सर्व-

प्राणिनां प्रत्यक्षसिद्धम्, **दुःखम्** अशातम्, **स्वयं कृत** यदात्मगतं तेनैवात्मना कृतं, **न च** प्रवृत्ति प्रतीष्टसाधनताज्ञानस्य कृतिसाध्यताज्ञानस्य चिकीर्षायाश्च कारणत्वेन अनिष्टे दुःखे उक्तानां त्रयाणामभावेन स्वप्रवृत्तेरनुत्पत्त्या तज्जन्यत्वासम्भवात्, **परैः** यत्र दुःखोत्पादस्तद्भिन्नैः **कृतं न च** अन्यात्मगुण प्रति उपादानत्वाद्यभावेन परेषा तत्कारणत्वासम्भवात्, प्रत्येक स्वकृतत्वस्य परकृतत्वस्य चाभावादेव **उभयजं** स्वपरोभयजन्यं, **न** नैव, स्वकृतत्व-परकृतत्व-स्वपरोभयकृतत्वानामभावे दुःखं केनापि कृतत्वाभावादकृतमेवेत्यपि न वाच्यमित्याह—**अकृतं न चेति**, यद्यकृतं तदाऽऽकाशादिवत् स्यादेव, गगनकुसुमादिवन्न स्यादेव न तु कदाचित् स्यात्, दुःखं चेदं सासारिकं कादाचित्कमिति कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या केनापि कृतमेव तन्न त्वकृतम्, भवतु कादाचित्कत्वा न्यथानुपपत्त्या येन केनापि कृतमेव तत्, विशेषतस्तस्य वक्तुमशक्यत्वेऽपि प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वादित्यत आह—**नियतं च** च पुनः, नियतं—देवदत्तस्य दुःख देवदत्तात्मन्येव न यज्ञदत्तात्मनि, यज्ञदत्तस्य दुःखं यज्ञदत्तात्मन्येव न देवदत्तात्मनीत्येव नियतं दुःख नानियतकारणकमित्यर्थः, ननु परमाणोरणुपरिमाणस्याकाशादेः परममह त्परिमाणस्य यथा नित्यत्वादेव नियतत्व तथा दुःखस्यापि नित्यत्वादेव नियतत्वं भविष्यतीत्यत आह—**अक्षरात्मकं न च** न क्षरति—न विनश्यतीत्यक्षर नित्य तदात्मकं दुःख न च, अनिष्टसंप्रयोगेष्टवियोगादिना तदुत्पादस्य स्वसाक्षात्कारानन्तर तद्विनाशस्यानुभूयमानत्वेन तस्य नित्यत्वासम्भवात्, **इति** एवप्रकारेण, **विदुषां** पण्डितानां, हे वीर ! त्वया **उपपादित** युक्त्या प्रतिपादितमित्यर्थः ॥२४॥

तव भक्तः समदृष्टिर्भवति, जीवहिंसानिवृत्त्यर्थं सम्यगवलोक्योच्चावचमार्गगणनपुरस्सरं पदातिर्गच्छतीत्याह—

न परोऽस्ति न चापरस्त्वयि
प्रतिबुद्धप्रतिभस्य कश्चन ।
न च तावविभज्य पश्यति
प्रतिसंख्यानपदातिपूरुषः ॥२५॥

न परोऽस्तीति। "त्वयि प्रतिबुद्धप्रतिभस्य कश्चन परो नास्ति, कश्चनापरो न चास्ति, प्रतिसख्यानपदातिपूरुषस्तावविभज्य न च पश्यति" इत्यन्वयः। हे वीर ! **त्वयि** जिनस्वरूपे, **प्रतिबुद्धप्रतिभस्य** प्रतिबुद्धा–सम्यगाविर्भूता, प्रतिमा–प्रातिभ ज्ञानं, यत परोपदेशादिकमन्तरेणैवासाधारणरूपेण यथावज्जिनमवगच्छति' इति यस्य स प्रतिबुद्धप्रतिभस्तस्य, जिनस्वरूपविषयकाविर्भूतप्रातिभज्ञानवतः, पुस., **कश्चन** कोऽपि, **परः** अन्यापेक्षयोत्कृष्ट, **नास्ति** न विद्यते, तथा कश्चन **अपरः** अन्यापेक्षयाऽपकृष्ट. **न चास्ति** न विद्यते, जिनस्वरूपमवगच्छन् निश्चयदृष्ट्याऽविशेषेण तथाविधमेव सर्वं जानन् विरुद्धधर्मस्य भेदसाधकस्यावगतत्वभावादगृहीतभेद एव सर्वत्रेत्यर्थ.; नन्वेव परापरविवेकाभावात् कञ्चन योग्यं न मूर्धानमधिरोहयेत्, अयोग्यमपि कञ्चन प्रणमेदित्युन्मत्तता स्वस्य प्रकटिता स्यादत आह–**प्रतिसंख्यानपदातिपूरुषः** प्रतिपदमेतत् स्थानं सजीवमेतत् स्थानं निर्जीवमिति गणनपुरस्सरमग्रे पदं निदधाति यः स प्रतिसख्यानपदाति, स चासौ पूरुषश्च प्रतिसंख्यानपदातिपूरुषः, एतादृशो जिनभक्त पुमान् परमपर च विभज्यैव पश्यतीत्याह–**तौ** परापरौ, **अविभज्य** विभागं–विवेकमकृत्वा, **न च** नैव, **पश्यति** साक्षात् करोति, एव च विविच्य परापरसाक्षात्कारमन्तरेण लौकिकव्यवहार. समीचीनो न सम्भवति, विहरणमपि पदेनैव जिनभक्तस्य सजीवनिर्जीवादिमार्गप्रदेशावगममन्तरेण न सम्भवति, एतादृशो जिनभक्तो व्यवहारोपयोगिपरापरज्ञ एव, किन्तु निश्चयतस्तस्य परापरौ न विद्येतेत्यर्थ. ॥२५॥

पुरुषविशेषैरेव ज्ञातो जिन इत्युपदर्शयति—

गतिमानथ चाक्रियः पुमान्
कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते ।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो
विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने ! ॥२६॥

गतिमानिति। 'पुमान् गतिमान् अथ चाक्रिय कर्म कुरुते फलैर्न युज्यते, फलभुक् च अर्जनक्षमो न च, यैर्विदित., हे मुने तैर्विदितोऽसि' इत्यन्वयः। **पुमान्** पुरुष. **गतिमान्** कार्मणशरीरसवन्धादूर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिक्रियावान्, **अथ**

च एवं सत्यपि पुनः, **अक्रियः** स्वभावत ऊर्ध्वैकगतिस्वभावो न स्वभावतोऽधस्तिर्यगादिक्रियावान्, **कुरुते कर्म** पुमान् मनुजशरीरावच्छिन्नः स्वर्गादिफलजनकं कर्म कुरुते, किन्तु **फलैः** स्वर्गादिफलैः, **न युज्यते** न सम्बध्यते, मनुजशरीरनाशे तदवच्छिन्नस्यात्मनोऽपि नाशान्न स तै. फलैः सम्बध्यते किन्तु देवादिशरीरावच्छिन्नो अन्य एवात्मा तत्कर्मणोऽकर्तैव तत्फलैः सम्बध्यते, **च** पुनः, **फलभुक्** तत्कर्मफलोपभोक्ता देवादि., **अर्जनक्षमः** तत्कर्मोपार्जनसमर्थः, **न च** नैव, एवप्रकारेण **यैर्विदितः** यैरपेक्षाभेदावगतिनिपुणैर्ज्ञातः, हे मुने ! तैः पुरुषैः, त्वं **विदितोऽसि,** ज्ञातोऽसि त्वदुपदिष्टतत्त्वाभिज्ञ एव तथाविधतत्त्वोपदेष्टारं भवन्त ज्ञातु विदग्ध इत्यर्थः ॥२६॥

यया दिशा भगवत्सदृशो भगवानिवाभवो भवति तां दिशमुपदर्शयति—

स्वत एव भवः प्रवर्तते
स्वत एव प्रविलीयतेऽपि च ।
स्वत एव च मुच्यते भवा-
दिति पश्यंस्त्वमिवाभवो भवेत् ॥२७॥

स्वत एवेति । "भवः स्वत एव प्रवर्त्तते, च–पुन॰ स्वत एव प्रविलीयतेऽपि, च–पुन. स्वत एव भवान्मुच्यते, इति पश्यंस्त्वमिवाभवो भवेत्' इत्यन्वय. । **भवः** ससारः यस्माद् भवस्वाभान्यात प्रवर्त्तते सोऽपि स्वभावः स्वभावस्वभाववतोरभेदाद् भव एवेति कृत्वा, **स्वत एव** स्वस्मादेव, **प्रवर्त्तते** भवति, **च** पुन॰, **स्वत एव** यस्माद् विनाशमुपयाति भवः स स्वभावोऽपि संसारादभिन्न एवेति कृत्वा, **स्वत एव** स्वस्मादेव, **प्रविलीयतेऽपि** विनश्यत्यपि, **च** पुनः, **स्वत एव** औपाधिकोऽस्य बन्धो न स्वाभाविक इत्युपाधिनिवृत्तौ स्वस्मादेवादयं पुरुषः, **भवात्** संसारात्, **मुच्यते** मुक्तो भवति, **इति** एवं, **पश्यन्** जानन्, **त्वमिव** त्व जिनो यथा, **अभवः** ससाररहितस्तथा, **अभवः** भवरहितः, **भवेत्** स्यात् , इत्थं ज्ञाता केवल्येव संपद्यते, केवली च भवरहित इति युक्त एवेति ॥ २७ ॥

असमीक्ष्य वक्ता महान्न भवति, जिनस्त्वसमीक्ष्य वक्ताऽपि महानित्यहो विभूतिरस्येत्युपदिशति—

असमीक्षितवाङ्महात्मसु
प्रचयं नैति पुमान् महात्मसु ।
असमीक्ष्य च नाम भाषसे
परमश्चासि गुरुर्महात्मनाम् ॥२८॥

असमीक्षितवागिति । "पुमान् महात्मसु असमीक्षितवाग् महात्मसु प्रचयं नैति, च–पुनः नाम असमीक्ष्य भाषसे महात्मनां परमो गुरुश्चासि" इत्यन्वयः । **पुमान्** पुरुषः, **महात्मसु** महनीयगुणवत्स्वात्मसु, **असमीक्षितवाग्** अपर्यालोचितवचनः, महात्मसु **प्रचयं** वृद्धिं, **नैति** न प्राप्नोति, महात्मनां गणनाप्रसङ्गे तस्य गणनं न भवति, **च** पुनः, **नाम**ेति कोमलामन्त्रणे, हे **वीर** ! त्वं केवलज्ञानवान् यथादृष्टमेव भाषसे, न तत्र तव पर्यालोचनं किञ्चिदिति, **असमीक्ष्य** पर्यालोचनमकृत्वैव, **भाषसे** वक्षि, एवमपि **महात्मनां** योगिनां, **परमः** उत्कृष्टः, गुरुश्च, **असि** भवसि इत्यर्थः ॥ २८ ॥

सर्वदा व्यवस्थितसमतास्वभावेन भगवन्तमभिष्टौति—

भवबीजमनन्तमुज्झितं
विमलज्ञानमनन्तमर्जितम् ।
न च हीनकलोऽसि नाधिकः
समतां चाप्यनिवृत्त्य वर्तसे ॥२९॥

भवबीजमिति । "अनन्तं भवबीजमुज्झितम्, अनन्तं विमलज्ञानमर्जितम्, हीनकलो न चासि, अधिको नासि, च–पुनः, समतामप्यनिवृत्त्य वर्त्तसे" इत्यन्वयः । हे वीर ! भवता **अनन्तम्** अनन्तसङ्ख्यं, **भवबीजं** भवस्य–संसारस्य, बीजं–कारणं कामक्रोधादिजनितं प्रत्यात्मप्रदेशसम्पृक्तं कर्म, **उज्झितं** परित्यक्तं, शुक्लध्यानादिना विनाशितम्, **अनन्तम्** अन्तरहितमविनाशि, अनन्तविषयकत्वाद् वाऽनन्तम्, **विमलज्ञानम्** अशेषज्ञानावरणीयकर्ममलक्षणमलरहित-

ज्ञान, केवलज्ञानमिति यावत्, **अर्जितं** सङ्गृहीतमुत्पादितमिति यावत्, एवं सत्यपि **हीनकलः** पूर्वकलाव्यपगमजनितन्यूनकल', **न चासि** न च भवसि, **अधिकः** पूर्वकलाधिककलः, **नासि** न भवसि, **च** पुनः, **समतामपि** पूर्वस्वभावावस्थानान्यूनानधिकस्वभावावस्थानलक्षणसमतामपि, **अनिवृत्त्य** निवृत्तिमकृत्वा, **वर्त्तसे** यथावस्थितात्मस्वरूपेणावतिष्ठस इत्यर्थः ॥२९॥

अन्यत्र दोषतयाऽवभासमानोऽपि पदार्थो भगवति त्वयि गुणरूपत्वात् तत्कथनं स्तुतिरेवेत्याह—

सति चक्षुषि तत्प्रयोजनं
न करोषीत्यभिशप्यते पुमान् ।
भवतस्त्वलमेष संस्तवो
विदुषामन्यपथान्निवृत्तये ॥३०॥

सति चक्षुषीति । 'पुमान् 'चक्षुषि सति तत्प्रयोजन न करोषि' इत्यभिशप्यते, भवतस्तु विदुषामन्यपथान्निवृत्तये एषोऽल संस्तव" इत्यन्वयः । **पुमान्** य· कश्चित् पुरुष., **चक्षुषि सति** नेत्रे विद्यमाने, **तत्प्रयोजनं** चक्षुषः प्रयोजनं चाक्षुषप्रत्यक्ष, चक्षुषाऽवलोक्य कार्यकरणादिकं वा, **न करोषि** न कुरुषे, चक्षुष्मान् त्व चक्षुषा सम्यगवलोक्य प्रवृत्त्यादिक किमिति न करोषि, एवं सति जन्मान्ध एव त्वं युक्तः स्यात्, **इति** एव प्रकारेण, **अभिशप्यते** परकृताभिशापभाग् भवति, **भवतस्तु** हे वीर ! भवतः पुन, **विदुषां** पण्डितानाम्, **अन्यपथात्** केवलज्ञानावलोकितमार्गव्यतिरिक्तमार्गात्, **निवृत्तये** चर्मचक्षुषा एकान्तवाद्यवलोकितमार्गतो विहिताचरण-निषिद्धानाचरणक्रियावैमुख्यसम्पत्तये, **एषः** सति चक्षुषि तत्प्रयोजन न करोषीत्ययम्, **अलम्** अत्यर्थं, **संस्तवः** स्तुतिः ॥३०॥

जन्मजन्माभावयोर्महाभयत्वोत्तमाभयत्वे अपि वीरोपासनाजन्यसस्कारसहितचक्षुष एव सम्यग् विमृशन्ति, तदुपासनामन्तरेण तयोर्दर्शनासम्भवादित्याह—

जननं च यथा महद् भयं
तदभावश्च यथोत्तमोऽभयम् ।
विमृशन्तु विनीतचक्षुषो
यदि पश्यन्त्यनुपास्य ! ते वचः ॥३१॥

जननं चेति । "यथा च जनन महद् भयं, यथा चोत्तमस्तदभावोऽभयं [तथा], हे अनुपास्य ! यदि ते वच पश्यन्ति [तदा] विनीतचक्षुषो विमृशन्तु, यद्वा ते वचोऽनुपास्य यदि पश्यन्ति [तदा] विनीतचक्षुषो विमृशन्तु" इत्यन्वयः । **यथा च** येन प्रकारेण च, **जननं** जन्म, **महद् भयं** संसाराविनाभावितया ससारस्य च नानाभयसकुलत्वाद् महाभयकारणम्, **यथा च** येन प्रकारेण पुनः, **उत्तमः** मोक्षाविनाभावितया उत्कृष्ट., **तदभावः** जन्माभाव', **अभयं** सकलभयाभावकारणम्, **'उत्तमाभयम्'** इति पाठे तु उत्तमं–मोक्षसुखसहचारितया उत्कृष्टम्, अभयम्–सकलभयाभावः, परमं सकलभयाभावकारणमित्यर्थ., अयमाशय -जन्मनि सति ससार', ससारे च विविधदु खोपनिपात., स च महाभयकारणम्, एव जन्माभावे सति मोक्षः मोक्षे च सकलकर्माभाव., स च सकलभयाभावसम्पादको निरुपमसुखसम्पादकश्च । **तथा** तेन प्रकारेण, तत्स्वरूपेणेत्यर्थ. । हे **अनुपास्य !** न विद्यतेऽन्य उपास्य सेव्यो यस्य तादृश ! हे वीरविभो ! **यदि** सम्भावयामि, यदुत–**ते** तव, **वचः** वचनं, **पश्यन्ति** श्रवणादिना साक्षात् कुर्वन्ति जीवास्तदा, **विनीतचक्षुषः** विशेषेण नीत–सन्मार्गं प्रापित, चक्षुर्येषा तादृश' सन्त, **विमृशन्तु** पूर्वार्धोक्तं सुखेन विचारयन्तु, नान्यथेति भाव. । पातनिकान्तरे–हे वीरविभो ! ते वच **अनुपास्य** सम्यग् अनवधार्य, यदि **पश्यन्ति** पूर्वार्धोक्त यदि जानन्ति केऽपि तदा ते **विनीतचक्षुषः** विनीत–केवलित्वादनादृत, चक्षुः–चक्षुर्व्यापारो यैस्तादृशा सन्त, केवलिन सन्त., **विमृशन्तु** पूर्वार्धोक्त सम्यग् जानन्तु, अयमाशय –हे वीरविभो ! तव वचनावलम्बनेन केवलज्ञानेन वा जीवा पूर्वार्धोक्त सम्यग् जानन्ति नान्यथा ॥३१॥

एतावता वैतालीयच्छन्दसा भगवतः स्तवनं विधायाथोपजातिवृत्तेन तत्समाप्तिपर्यं निगमयति—

स्तवमहमभिधातुमीश्वरः
क इव यथा तव वक्तुमीश्वरः।
त्वयि तु भवसहस्रदुर्लभे
परिचय एव यथा तथास्तु नः ॥३२॥ [उपजाति.]

स्तवमहमिति। "वक्तुमीश्वरः क इव यथा तव स्तवमभिधातुमीश्वरोऽहम्, भवसहस्रदुर्लभे त्वयि तु यथा तथा नः परिचय एवास्तु" इत्यन्वयः। **वक्तुं** ज्ञातमर्थं सम्यगभिधातुम्, **ईश्वरः** समर्थः, **क इव** विशिष्य निर्देष्टुमशक्यः पुरुष इव, **यथा** येन प्रकारेण, हे वीर! तव **स्तवं** स्तोत्रम्, **ईश्वरः** समर्थः, **अहं** सिद्धसेनदिवाकरः स्याम्, वक्ता कोऽपि पुरुषो भवत्स्तुतिकरणसमर्थो यदि स्यात् तदा तदुपमानेनाहमपि त्वत्स्तुतिकरणप्रत्यल इति सम्भाव्येत, न चैवम्, यदि त्वया मत्स्तुतिकरणमसंभावितमेव तर्हि किं प्रयोजनं—कोऽयमुद्यमस्तवेति भगवता पृष्ट इवाह- **भवसहस्रदुर्लभे** जन्मसहस्रेणाप्यवाप्तुमशक्ये, **त्वयि** जिने, **तु** पुनः, **यथा तथा** येन केनचित् प्रकारेण, **नः** अस्माकं, **परिचय एव** उत्तरोत्तर त्वद्विषयकस्मृतिदार्ढ्यार्थं स्वरूपपरिज्ञानमेव, **अस्तु** भवत्वित्यर्थः। इह प्रथमतृतीयपादयोः "नौ रलगा भद्रिका" इति भद्रिकालक्षणलक्षितत्वात्, द्वितीय-चतुर्थपादयोः 'न्जौ ज्रौ मालती" इति मालतीलक्षणलक्षितत्वात् साङ्कर्येण उपजातिवृत्तमिति ॥३२॥

धीव्यापारविशेषभव्यमननाऽनेकान्ततत्त्वोद्गता
श्रीवीरस्तुतिभावमात्रतनुता श्रीसिद्धसेनोद्भवा।
तुर्याऽमेयप्रमेयसारकलिता द्वात्रिंशिकेयं स्तुति.
व्याख्याता वितनोतु मोदमखिलं लावण्यबुद्ध्यांऽशतः ॥१॥

इति तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेति पदालङ्कृतेन श्रीविजयलावण्यसूरिणा विरचिता किरणावलीनाम्नी चतुर्थद्वात्रिंशिकाव्याख्या समाप्ता ॥

पञ्चमी द्वात्रिंशिका ।

यद् यत् तत्त्वमुशन्ति सूरिप्रवरा. कुत्रापि शास्त्रे परं
तत् सर्व जिनदेशनापरिगत निर्दुष्टमाभासते ।
स्तोतव्योऽपि जिनस्तदन्तरगतः स्तोत्रं तथा नान्यथा
शुद्धयै केवलमात्मवाचि यतना लावण्यसूरेरियम् ॥ १ ॥

कृतकृत्यस्त्वं राग-द्वेषरहितत्वात् । स्तुतिभिराराधितो न भवसि, तथापि तव स्तुतिकरणं सतां हितसाधनं, सद्भिराचरितं चेत्यहमपि त्वन्नामकीर्त्तनपवित्रयत्न-स्तन्मार्गमनुसरामीति स्तुतिकार आह—

आराध्यसे त्वं न च नाम वीर !
स्तवैः सतां चैष हिताभ्युपायः ।
त्वन्नामसंकीर्तनपूतयत्नः
सद्भिर्गतं मार्गमनुप्रपत्स्ये ॥१॥ [उपजाति]

आराध्यसे इति । "हे वीर ! स्तवैस्त्व न च नाम आराध्यसे, एष च सतां हिताभ्युपायः, त्वन्नामसंकीर्तनपूतयत्न· सद्भिर्गत मार्गमनुप्रपत्स्ये" इत्यन्वयः। हे वीर ! **स्तवैः** स्तुतिभि , **त्वं** राग-द्वेषरहितो जिन., **न च** नैव । **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **आराध्यसे** आराधितो भवसि, कृतकृत्यस्य भवतः स्तवैरिष्टस्य कस्यचिदवाप्तेरनिष्टस्य कस्यचिन्निवृत्तेरभावेनाऽऽराधनाफलस्य प्रीत्यादेरभावात्, तर्हि मत्स्तुत्यर्थ प्रयत्नो निष्फलो न करणीयो भवद्भिरित्याक्षिप्त इव भगवता स्तुति-कार आह—**एष च** स्तुतिप्रयत्नश्च, **सतां** सज्जनानाम्, **हिताभ्युपायः** इष्टस्य साधनम्, 'अभ्यर्चनाद् भगवत इत्यादिना तत्त्वार्थे पूजादे' परम्परया मुक्ति-साधनत्व प्रतिपादितम्, **त्वन्नामसंकीर्तनपूतयत्नः** तव वीरस्य, नाम—त्वन्नाम, त्वन्नाम्नः सकीर्त्तन त्वन्नामसकीर्त्तनं, त्वन्नामसकीर्त्तनेन पूत·—पवित्रो यत्न—प्रयत्नो यस्य स त्वन्नामसकीर्त्तनपूतयत्नः, इत्थभूतोऽह, **सद्भिः**

सज्जनैः, **गतं** गमनकर्मभूतं, **मार्गं** पन्थानं मोक्षसाधनं भगवतः स्तुतिकरणादिकम्, अनुप्रपत्स्ये अनुसरामीत्यर्थः । इदमुपजातिवृत्त, तल्लक्षणं प्रागुक्तम्, एवमग्रेऽपि ॥ १ ॥

मत्कर्तृका भवतः स्तुतिर्यथा तथा भवतु, भवद्भक्त्याऽन्यानपेक्षोऽहं भवन्तं प्रति स्वदोषान् क्षमयितुमवकाशमासादयाम्येवेत्याह—

जाने यथाऽस्मद्विधविप्रलापः
क्षेपः स्तवो वेति विचारणीयम् ।
भक्त्या स्वतन्त्रस्तु तथापि विद्वन् !
क्षमावकाशानुपपादयिष्ये ॥२॥

जाने इति । "यथाऽस्मद्विधविप्रलापः क्षेपः स्तवो वेति विचारणीयम्, हे विद्वन् ! तथापि भक्त्या स्वतन्त्रस्तु क्षमावकाशानुपपादयिष्ये इति जाने" इत्यन्वयः । **यथा** येन प्रकारेण, इय मत्कर्तृका भवतः स्तुतिः, **अस्मद्विधविप्रलापः** अस्मद्विधानाम्—अस्मादृशानां विप्रलापः—यद्वा तद्वा भाषणं, **क्षेपः** अनादरः, **स्तवः** गुणप्रकथन वा भवेदिति, **विचारणीयं** सम्यक् पर्यालोचनीयम्, हे **विद्वन् !** सर्वान्तर्यामिन् ! **तथापि** एवं सत्यपि, **भक्त्या** त्वयि भक्तिभरेण, **स्वतन्त्रस्तु** अन्याप्रेरित एव त्वां स्तोतुं प्रवृत्तोऽहं, पुनः **क्षमावकाशान्** यथायथोपवर्णनासामर्थ्यप्रयुक्तन्यूनोक्त्यधिकोक्त्यनवसरोक्त्यादिवक्तृदोषक्षमावकाशान्, **उपपादयिष्ये** उपपादन करिष्ये, अय दोष एव भवता क्षन्तव्यः, प्रमादादन्यगतचित्तत्वादज्ञानाद् वाऽयमापतितो दोष इत्थं क्षन्तव्य इत्येवमर्थादिव समर्थयिष्ये, गुरूणां समीपे बालानां दोषसमष्टिस्तद्भक्तिप्रभावप्रीत्यैव विनिवर्त्तेत इत्यतो यथातथेयं स्तुतिरनिवृत्तप्रसरैवेत्यभिसन्धिः ॥ २ ॥

भगवतो गुणानां वर्णनं न सभवतीत्युपदर्शयितु यस्य यदुपमया वर्णनं सुसङ्गत तदुपदर्शयति—

गम्भीरमम्भोनिधिनाऽचलैः स्थिरं
शरदिवा निर्मलमिष्टमिन्दुना ।

भुवा विशालं द्युतिमद् विवस्वता
बलप्रकर्षः पवनेन वर्ण्यते ॥३॥

गम्भीरमम्भोनिधिनेति—गम्भीरमम्मभोनिधिना वर्ण्यत इत्येव प्रत्येकं 'वर्ण्यते' इत्यनेन सम्बन्धः, **गम्भीरं** गाम्भीर्यगुणवद् वस्तु, **अम्भोनिधिना** समुद्रेण, **वर्ण्यते** समुद्रो यथा गम्भीरस्तथाऽय गम्भीर इत्येवं वर्ण्यते, **अचलैः** पर्वतैः, **स्थिरं** स्थिरताशालिवस्तु वर्ण्यते- पर्वतवत् स्थिरोऽयमिति, **शरद्दिवा** शरदाकाशेन निर्मल नैर्मल्यवद् वस्तु वर्ण्यते—शरद्दतुगगनमिव निर्मलमिदमिति, **इन्दुना** चन्द्रेण, **इष्टं** सुन्दर वस्तु वर्ण्यते, चन्द्रवन्मुख सुन्दरमिति, यद्वा—**इष्टम्** अतिप्रियं वस्तु वर्ण्यते—चन्द्रमिव चकोरीति, **भुवा** पृथिव्या, **विशालं** महत्त्व-दीर्घत्वादिशालि वस्तु वर्ण्यते —पृथिवीव विशालमिदमिति **विवस्वता** सूर्येण, **द्युतिमत्** प्रकाशवद् वस्तु वर्ण्यते—रविरिव द्युतिमानयमिति, **पवनेन** वायुना, **बलप्रकर्षः** प्रकृष्टबलवत्वं वर्ण्यते—वायुरिव बलवानयमिति ॥३॥

इत्थं भगवति गुणवर्णनं संभवतीत्याह—

गुणोपमानं न तवात्र किञ्चि-
दमेयमाहात्म्य ! समञ्जसं यत् ।
समेन हि स्यदुपमाभिधानं
न्यूनोऽपि ते नास्ति कुतः समानः ॥४॥ [युग्मम्]

गुणोपमानमिति "हे अमेयमाहात्म्य ! तव अत्र गुणोपमान किञ्चित् समञ्जस न, यत् समेन हि उपमाऽभिधानं स्यात् ते न्यूनोऽपि नास्ति कुतः समान." इत्यन्वय । हे **अमेयमाहात्म्य** ! मातु शक्य—मेयं, न मेयम्—अमेयम् अमेयं माहात्म्य यस्य सोऽमेयमाहात्म्य., तत्सम्बोधने—हे अमेयमाहात्म्य ! **अत्र** अस्मिन् ससारे, **तव** भवतो महावीरस्य, **गुणोपमानं**—गुणानामुपमानं—साधारण-धर्मवत्तया सदृशं, **किञ्चित्** किमपि, **समञ्जसं** युक्त्युपपन्न, **न** नैव विद्यते, **यत्** यस्मात् कारणात्, **समेन** तुल्यगुणेन, **ही**ति पादपूरणे, **उपमाऽभिधानं**

उपमायाः-सादृश्यस्य अभिधानं-कथनं, स्यात् , यो येन समः स तेनोपमीयते, यथा मुख चन्द्रेण सममिति मुखं चन्द्रसदृशमित्येवमुपमीयते, अस्मिन् ससारे मया सह समानगुणः कश्चिद् भविष्यति तेन सह ममोपमाऽभिधान भवतु-महावीर एतद्-वदवभासत इति भगवता पृष्ट इव स्तुतिकार आह-**ते** तव जिनस्य, **न्यूनोऽपि** यज्जातीयगुणवान् जिनः तज्जातीय एव तदपेक्षया कतिपयाशेन न्यूनो यो गुण-स्तद्वानपि, **नास्ति** न विद्यते, **कुतः** कस्मात्, **समानः** अन्यूनानतिरिक्तधर्म-वान् तथा च केनापि गुणेन केनापि सममुपमानोपमेयभावेन स्तुतिर्भवतो न शक्यते इत्यर्थः ॥४॥

पित्रुपनीता वसुधां गृहीत्वा परित्यक्तवतो महावीरस्य निर्ममत्वं समाश्रित्य स्तुतिं विदधाति—

अमोह ! यत्तां वसुधावधूं य-
न्मानानुरोधेन पितुश्चकर्ष ।
ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथोऽपि
तत्कारणं कोऽच्युत ! मन्तुमीशः ? ॥५॥

अमोहेति । "हे अमोह ! ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथोऽपि पितुर्यन्मानानुरोधेन यत्तां वसुधावधू चकर्ष, हे अच्युत ! तत्कारण मन्तुं क ईश' इत्यन्वयः । हे **अमोह !** न विद्यते मोह' मूर्च्छा यस्य सोऽमोहः, तत्सबुद्धौ-हे अमोह ! मोहरहित ! **ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथोऽपि** ज्ञानत्रयेण-मति-श्रुता-ऽवधिलक्षणज्ञानत्रयेण, उन्मीलितः- प्रकटित , सत्पथ -सम्यग्ज्ञान दर्शन-चरित्रलक्षणसमीचीनमोक्षमार्गो यस्य स ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथ , एवभूतोऽपि सन्, **पितुः** जनकस्य सिद्धार्थनृपस्य, **यन्मानानुरोधेन** यादृशाज्ञापरिपालनादिमानरक्षणसाम्मुख्येन, **यत्ताम्** आयत्ताम्, अधीनामिति यावत् , **वसुधावधूं** वसुधैव वधू'-स्त्री -वसुधावधू. ता, **चकर्ष** आकृष्टवान्, हे **अच्युत !** अविनाशिपरमात्मन् ! **तत्कारणं** तन्माननिमित्तं, **मन्तुं** मननविषयीकर्तुम्, **ईशः** समर्थः, **कः** [2] न कोऽपीत्यर्थः, मोहरहितोऽपि पितुर्मानरक्षार्थं तत्प्रदत्ता भूमिं कञ्चित् काल गृहीत्वा परित्यज्य तां प्रव्रज्या गृहीत-वानसीत्येवं व्यतिकरे मननसमर्थो न कोऽपीत्यर्थः ॥५॥

यद्वा—"ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथोऽपि यन्मानानुरोधेन पितुः चकर्ष, तां वसुधावधूम्, अमोहयत्, हे अच्युत! तत्कारण मन्तुं क ईशः" इत्यन्वयः। **ज्ञानत्रयोन्मलितसत्पथोऽपि** ज्ञानत्रयेण देवभवादेव सहायातेन मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणेन ज्ञानत्रयेण उन्मीलितः—प्रकाशितः सत्पथः-मोक्षमार्गो यस्य एवंविधोऽपि भवान् वीरः, **यन्मानानुरोधेन** यस्याः-वसुधावध्वाः, मानस्य शासनप्रार्थनाजनितवहुमानस्य, अनुरोधेन-अनुसारेण, तादृशमानमाश्रित्येत्यर्थः, **पितुः** जनकस्य सिद्धार्थनृपस्य सकाशात्, **चकर्ष** आकर्षणेनेव ता प्रत्यागता कृतवान्, **तां** यच्छब्दोद्दिष्टां, **वसुधावधूं** वधूवदनुरूपा वसुधा-वसुधावासिजनताम्, **अमोहयत्** अरञ्जयत्, हे **अच्युत** स्वस्वभावादविचलितपरमात्मन्! **तत्कारणं** ज्ञानत्रयप्रकाशितमोक्षमार्गत्वेऽपि वसुधाया यदाकर्षण मोहन च तन्निमित्त, **मन्तुं** मननविषयीकर्तु, **कः** भवादृशातिरिक्तः को जनः, **ईशः** समर्थः, चारित्रावरणीय-कर्मसद्भावावलोकनेन गृहवासितया वसुधाशासनमिति गूढाभिसन्धिः। अत एव भगवतो वीरस्य राज्याभिषेकविध्यपेक्षयेति प्रतीमः ॥५॥

हे वीर! अनेकजन्मनि त्वयि ब्रह्मव्रतभङ्गकरणासमर्थत्वाद् व्यपगन्मानोऽपि कामस्त्वदग्रे स्वोत्तेजकललनादिलक्षणशराकलितकरो व्यपगतलज्जश्चचार, सर्वज्ञत्वात् त्वमेव तमर्थं जानासीत्यनिर्वचनीयं भवतो माहात्म्यमिति स्तौति—

अनेकजन्मान्तरभग्नमानः
स्मरो यशोदाप्रिय! यत् पुरस्ते।
चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं
त्वमेव विद्याः सुनयज्ञ! कोऽन्यः? ॥६॥

अनेकेति। हे यशोदाप्रिय! सुनयज्ञ! अनेकजन्मान्तरभग्नमान स्मरो निर्ह्रीकशरः सन् ते पुरो यच्चचार, तमर्थं त्वमेव विद्या, अन्य क" इत्यन्वयः। हे **यशोदाप्रिय!** यशोदाया-यशोदाभिधानाया भार्यायाः, प्रिय!-परमस्नेह-पात्र! तथा **सुनयज्ञ** सुष्ठुनयज्ञानशालिन् भगवन्!, **अनेकजन्मान्तरभग्न-मानः** अनेकेषु जन्मान्तरेषु सम्यक् स्वशरव्यापार प्रयुञ्जानोऽपि त्वयि सुदृढचारित्र-शालिनि साफल्यमनासाद्य भग्न-नष्टम्, अहं सर्वविजयीति मानमभिमान यस्य

सः, **स्मरः** कामः, **निर्ह्रीकशरः** निर्गता ह्री लज्जा यस्य स निर्ह्रीकः, निर्ह्रीकः शरः–बाणो यस्य स निर्ह्रीकशरः, शरस्य जडत्वात् स्वभावत एव नास्ति लज्जा तादृशलज्जात्यन्ताभावेन लोके निर्लज्जत्वं न व्यवह्रियते, तथापि स्मरगतमेव निर्लज्जत्वं तच्छरे आरोप्यते स्वकार्याकरणात् एवभूतोऽपि हे वीर! **ते** तव, पुरः यत्–**चचार** भवदीयं यशोदापरिणयनमधिगम्य स्वप्रचारं प्राप्तवान्, **तमर्थं** अनेकजन्मान्तरेषु कामापाकरणेऽप्यस्मिन् जन्मनि कामप्रचारदानवृत्तम्, **त्वमेव** भवान् वीर एव, तमर्थं त्वमेव, **विद्याः** जानीहि, **अन्यः** त्वद्भिन्नः, **कः**? न कोऽपि तमर्थं जानातीत्यर्थः, भोगावलिकर्मसद्भावावलोकनेन तथाविधासक्तिपरिहारेण कामप्रचार दत्तवानिति गूढाभिसन्धि ॥६॥

राजानः स्वयमेवागत्य त्वत्पादपीठे लुठन्तीत्यादिना माहात्म्यातिशयो वर्णयितुमशक्य इत्याह—

अबुद्धखेदोपनतैरनेकै-
रसाध्यरागाविषमोपचारैः।
नरेश्वरैरात्महितानुरक्तै-
श्चूडामणिव्यापृतपादरेणुः ॥७॥

अबुद्धखेदोपनतैरिति। "हे असाध्यराग! अबुद्धखेदोपनतैरविषमोपचारैरात्महितानुरक्तैरनेकैर्नरेश्वरैश्चूडामणिव्यापृतपादरेणुः, त्वमसीति शेषः" इत्यन्वयः। **चूडामणिव्यापृते**त्यस्य स्थाने **चूडामणिव्यापृते**ति पाठो युक्तः, साध्यः–साधयितुं शक्यो रागो यस्य स साध्यराग, साध्यरागो यो न भवति सोऽसाध्यरागः, तत्संबोन्धने हे **असाध्यराग!**, **अबुद्धखेदोपनतैः** न बुद्धः–अबुद्धः खेदः–आगमनादिपरिश्रमजन्यदुःखं यैस्ते अबुद्धखेदाः, अबुद्धखेदाश्च ते उपनताः–स्वयमेव समीपमागताः–अबुद्धखेदोपनतास्तैः, **अविषमोपचारैः** विषमः–अन्योऽन्य विसदृश., उपचारः–अर्चास्तुत्यादिलक्षणो येषा ते विषमोपचाराः, न विषमोपचाराः–अविषमोपचारा. समोपचाराः–अहमिहमिकया समकालमेव सदृशार्चादिकरणप्रवृत्ताः, तैः, **आत्महितानुरक्तैः** आत्मनो हितम्–अभीष्टम्–आत्महितम्, आत्महितेऽनुरक्ताः आत्महितानुरक्ता -स्वस्वाभीष्टसिद्धिकामुकाः, **तैः** **अनेकैः**

बहुभिः, **नरेश्वरैः** नरपतिभिः, चूडामणिव्यापृतपादरेणुः चूडामणिः—शिरोमुकुटं तेन व्यापृतः—तत्सम्बन्धप्रयोज्यक्रियाविशेषतत्प्रभवपादविभागादिव्यापारवान्, पादरेणुः—चरणलग्नधूलिकणा यस्य स चूडामणिव्यापृतपादरेणुः, एतादृशस्त्वमसि, यत्पादकमले राजानः स्वस्वहितेच्छवो लुठन्ति तस्य महावीरस्य माहात्म्यवर्णनमस्मदृशामशक्यमिति भावः । '**चूडामणिर्व्यापृत**°' इति पाठप्रामाण्ये तु 'असाध्यराग !' इत्यत्र असाधि अराग ! इति विश्लेषः, 'हे अराग ! नरेश्वरैः चूडामणिः व्यापृतपादरेणुः असाधि' इत्यन्वयः । हे **अराग** हे रागरहित ! भगवन् **नरेश्वरैः** नृपैः, **चूडामणिः** निजनिजमुकुटः, **व्यापृतपादरेणुः** व्यापृता—व्यापारयुक्ता-संलग्ना, पादरेणुः—भवदीयचरणधूलिकणा यत्र तादृशः, असाधि निष्पादितः, विहित इत्यर्थः ॥७॥

यस्य राज्यपरिपालनकाले कुबेरोऽपि भक्त्युद्रेकात् प्रजानां हितकर आसीत् तस्य कियान् महिमेत्याह —

स्वयं प्रभूतैर्निधिभिर्निवृत्तैः
प्रत्येकमम्भोनिचयप्रसूतैः ।
आशासनं सर्वजनोपभोग्यै-
र्धनेश्वरः प्रीतिकरः प्रजानाम् ॥८॥

स्वयं प्रभूतैरिति। "धनेश्वरः आशासनं स्वयं प्रभूतैः, प्रत्येक निवृत्तैः अम्भोनिचयप्रसूतैः सर्वजनोपभोग्यैः निधिभिः, प्रजानां प्रीतिकरः आसीत्" इत्यन्वयः। **धनेश्वरः** धनाधिपतिः कुबेरः, **आशासनं** यावद् भगवतो वीरस्य शासनं—राज्यपरिपालनं तावत्कालं, **स्वयं** स्वयमेव, न तु भगवदादिप्रेरणया, **प्रभूतैः** बहुभिः, **प्रत्येकम्** एकैकशः, **निवृत्तैः** निशब्द आवृत्तावपि वर्तते, यथा—निवृत्तः सूर्यः, तथा च—आवृत्ति गतैरित्यर्थः, **अम्भोनिचयप्रसूतैः** अम्भोनिचयः—समुद्रः, ततः प्रसूतैः—उत्पन्नैः, अथवा वारिवाहवर्षणद्वारा स्खलितजलनिचयेन सह प्रसूतैः, जलवर्षणं निधिवर्षणसहितमित्यर्थः, जलवृष्ट्या सह वसुवृष्टिरपि कुबेरेण कृतेति भावः, **सर्वजनोपभोग्यैः** सर्वेषां जनानां—राज्यस्थित-

लोकानाम्, उपभोग्यै: उपभोक्तुं योग्यै:, **निधिभिः** प्रसिद्धैः, **प्रजानां** देशवासिजनानाम्, **प्रीतिकरः** आनन्दकन्दोल्लासकः आसीदित्यर्थः ॥८॥

भगवतो राज्यकार्यपरित्याग–प्रव्रज्याग्रहणपूर्वकालीनाऽवस्थोपस्थितेति वृत्तमुपादाय वर्णनमधिकरोति—

दिक्पालभुक्त्या वसुधां नियच्छन्
प्रबोधितो नाम सुरैः समायः ।
लक्ष्म्या निसर्गोचितसङ्गतायाः
सितातपत्रप्रणयं व्यनौत्सीत् ॥९॥

दिक्पालभूक्त्येति । "सुरैः समायः प्रबोधितो नाम दिक्पालभुक्त्या वसुधां नियच्छन् निसर्गोचितसङ्गताया लक्ष्म्या सितातपत्रप्रणयं व्यनौत्सीत्" इत्यन्वयः । **सुरैः** लौकान्तिकदेवैः, **समायः** मायासहितः, मायाया उपलक्षणत्वात् सकषायः सम्पूर्णवीतरागभावमप्राप्तो भगवानिति भावः, अथवा राग-द्वेषाविषमस्यात्मस्वरूपस्य आयो लाभो यस्य तादृश, **प्रबोधितः** भगवन् ! धर्मतीर्थं प्रवर्तयस्वेति स्वकर्तव्यसम्मुखीनता नीतः, **नामे**त्यैतिह्ये, इदं किल सम्प्रदायानुसारिवृद्धपरम्परागतं वृत्तमित्यधिगतये, **दिक्पालभुक्त्या** पूर्वादिक्रमेणेन्द्रादीनां दशानां दिक्पालाना, **भुक्त्या** 'भुजप् पालनाभ्यवहारयोः" इति वचनात् **वसुधां** पृथ्वीं, **नियच्छन्** नियमयन् पूर्वदिग्व्यवस्थितभूभागपरिरक्षक इन्द्रः, पूर्वदक्षिणमध्यावस्थिताग्नेयकोणव्यवस्थितभूभागपरिरक्षकोऽग्निरित्यादिक्रमेण व्यवस्थां कुर्वन्, **निसर्गोचितसंगतायाः** निसर्गेण–स्वभावेन, उचितसगता–योग्यसङ्गतिमिता–निसर्गोचितसङ्गता पितुरनन्तरं लक्ष्मीस्तत्पुत्र स्वामित्वेन वृणोति तत् समुचितमिति तस्याः, **लक्ष्म्याः** राज्यलक्ष्म्याः, **सितातपत्रप्रणयं** श्वेतपत्रस्नेहं, राज्ञश्चिह्नं श्वेतच्छत्रधारणमिति राज्ञा श्वेतच्छत्रधारणमवश्यमेव विधेयं, तस्यात्यन्तप्रियत्वादन्यस्मै दान न समुचितम्, अत एव—

"अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभ छत्रमुभे च चामरे ।"

इति कालदासेनोक्तम्, **व्यनौत्सीत्** त्यक्तवान्, अर्थाद् राज्य परित्यक्तवानित्यर्थः ॥९॥

तदानीं तत्रत्याना स्त्रीणां पौराणां शोकप्रकोशकानेकप्रकारसद्भावेऽपि प्रव्रज्या-ग्रहणोन्मुखं भगवतश्चित्त नाशतोऽप्यन्यथाभूतमिति त्रिभि· पद्यैरुपदर्शयति—

अपूर्वशोकोपनतक्लमानि·
नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि ।
विविक्तशोभान्यबलाननानि
विलापदाक्षिण्यपरायणानि ॥१०॥

मुग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्टवाक्य-
संदिग्धजल्पानि पुरःसराणि ।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि
प्रलम्बवस्त्रान्तविकर्षणानि ॥११॥

अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घ-
दीनेक्षणाः साश्रुमुखाश्च पौराः ।
संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो !
न भावशुद्धं जगृहुर्मनस्ते ॥१२॥ [त्रिभिर्विशेषकम्]

अपूर्वशोकोपनतक्लमानीति। सर्वाणि विशेषणानि 'अबलाननानि' इत्यस्य । **अपूर्वशोकोपनतक्लमानि** पूर्वं कदापीदृशो नाऽभूदित्यपूर्वः, अपूर्वश्चासौ शोकश्चापूर्वशोकः, 'अपूर्वशोकेनोपनतः–प्राप्त , क्लम परिश्रमो ग्लानिर्येषु तानि–अपूर्वशोकोपनतक्लमानि, अतिशयितरोदनकरणेन परिश्रम आननस्य युज्यत एव, **नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि** नेत्रस्योदकम् अतिरोदनोपजात बाष्प, तेन क्लिन्नम्–आर्द्रं, विशेषक–मुखशोभाय ललाटे कृत तिलकं येषु तानि नेत्रोदक-क्लिन्नविशेषकाणि, **विविक्तशोभानि** ; विविक्ता–विगता शोभा सुन्दरता येभ्यस्तानि विविक्तशोभानि, **विलापदाक्षिण्यपरायणानि** विलापस्य-विलपनस्य यद् दाक्षिण्य–पाडित्य तत्परायणानि–तदेकतानानि, **अबलानां** स्त्रीणाम्, आननानि मुखानि इत्यर्थ ॥१०॥

पुनः, स्त्रीमुखानि कथम्भूतानि ? **मुग्धोन्मुखाक्षाणि** मुग्धानां–मोह-ग्रस्ताना जनानाम्, उन्मुखे–अवलोकनार्थं सम्मुखे उत्सुके, 'अक्ष' इति, अक्षिणी–नयने येषु तानि, समान्तेऽटि, **उपदिष्टवाक्यसन्दिग्धजल्पानि** उपदिष्टवाक्य-मान्यजनोपदिष्टं यद्वाक्य–प्रव्रजन्तं भगवन्त त्वयेद वक्तव्यमित्येवमुपदेशविषयीभूतं वाक्य, तस्य सदिग्ध. अव्यक्तगद्गदाक्षरत्वेनास्पष्टतया अनेनेदमुक्तमिदं वोक्तमित्येवं सन्देहविषयीभूत., जल्पः जल्पनमुच्चारणं येषु तान्युपदिष्टवाक्यसदिग्धजल्पानि । झटिति व्रजतीनामबलाजनानामुन्मुक्तबन्धा केशा अप्यन्यादृशा एव सञ्जाता इत्याह–**पुरस्सराणि** अग्रदेशावच्छिन्नगमनानि, पुनः **मार्गाचरणक्रियाणि** मार्गे-पथि, यदाचरण–भूतलव्यवस्थितकचवरादिदूरीकरणलक्षणसशोधनं, तदेव क्रिया–व्यापारो येषा तानि मार्गाचरणक्रियाणि, अबलाजनकेशानामतिदीर्घत्वाद् बन्धनरहितानां तेषां मस्तकादारभ्य पादपर्यन्तव्यापित्वेन मार्गभूभागसंस्पर्शित्व युज्यत एव, अत एव **प्रलम्बवस्त्रान्तविकर्षणानि** मस्तकादारभ्य पादपर्यन्त यावच्छरीरावयवा-च्छादक कुलाङ्गनाना परिधानवस्त्र भवतीति प्रलम्ब यद् वस्त्र तस्यान्तेन विक-र्षणम्–उत्तरोत्तरदेशे सञ्चरण येषा तानि–प्रलम्बवस्त्रान्तविकर्षणानि, **बालानि** तदानीमिदृशान्यबलाजनबालानि सञ्जातानीत्यर्थः ।

केशार्थे बालशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि बाहुलकान्नपुसकत्वम् ।

यद्वा बालशब्दस्य शिशावर्थे त्रिलिङ्गत्वात् पद्यमिद शिशुपरतया व्याख्येयम्, तथा च तदानीं कीदृशाः शिशव इत्याह–**मुग्धोन्मुखाक्षाणि** मुग्धाया–सौन्दर्य-युक्ताया किंकर्तव्यतामूढाया वा स्वजनन्यादौ, उन्मुखे–साम्मुख्येन व्यापृते, अक्षीणि नयने येषा तादृशानि, पुनः **उपदिष्टवाक्यसंदिग्धजल्पानि** उपदिष्ट-वाक्य–प्रव्रजन्तं भगवन्त निरोद्धु जनन्यादिना सदिष्ट 'मा गा ' इत्यादिरूप, तस्य संदिग्ध·–शिशुतयोच्चार्यमाणत्वान् 'किमिदयुक्तमिद वा' इति सदेहयुक्त , जल्पः जल्पनमुच्चारण येषा तादृशानि, पुनः **पुरःसराणि** स्वजनन्यादितोऽग्रगामीनि, पुन. **मार्गाचरणक्रियाणि** मार्गे- पथि, आ–ईषत् चरणक्रिया–पादक्रिया पादाभ्यां गमनं येषा तादृशानि, पुनः **प्रलम्बवस्त्रान्तविकर्षणानि** प्रलम्बस्य, प्रकर्षेण लम्बमानस्य, वस्त्रस्य–जनन्यादिपरिहितवस्त्रस्य, योऽन्तः–प्रान्तभागः, तस्य विकर्षणं–विशेषेण आकर्षणं यैस्तादृशानि, **बालानि** शिशवः ॥११॥

पौराः तत्पुरनिवसिनो जना., **अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घदीनेक्षणा** कृत्रिमः–औपाधिक'. न कृत्रिमोऽकृत्रिम'–अनुपचरितः स्वाभाविक इति यावत्, अकृत्रिमश्चासौ स्नेहश्च–अकृत्रिमस्नेहः, तन्मयं तद्रूपात, प्रकृष्टं दीर्घ–प्रदीर्घं, दीन –शोकव्यकुलम् ईक्षणं–अवलोकनं–दीनेक्षणं.प्रदीर्घं च तद्दीनेक्षणं–प्रदीर्घदीनेक्षणम्, अकृत्रिमस्नेहमय प्रदीर्घदीनेक्षण येपा ते अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घदीनेक्षणाः, यद्वा अकृत्रिमस्नेहमये–वास्तविकानुरागसकुले. प्रदीर्घे–अत्यन्तमायते, दीने शोकव्याकुलतया दीनताभाने, ईक्षणे–नयने येषां तादृशाः, **च** पुन., **साश्रुमुखा** अश्रु–नेत्रजल बाष्पम्, अश्रुणा सहितं–साश्रु साश्रुमुखम्–आननं येपा ते साश्रुमुखः, भगवद्राज्यपरित्यागजन्यशोकप्रभवनेत्रजलप्लावितमुख., हे **संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो !** ससरणं चतुर्गतिभ्रमण ससारः, तेन सात्म्यम्–ऐक्यं, तज्जानातीति ससारसात्म्यज्ञ., य' स्वात्मान ससारेण सहाभिन्नं जानाति, संसारनिमग्न इति यावत्, ससारसात्म्यज्ञश्चासौ जनश्च–ससारसात्म्यज्ञजनः, तस्य ससारसागरादुद्धारकत्वेन एक –अद्वितीयः, बन्धु' –मित्रं, तत्सबोधने–हे ससारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो ! भगवन् ! महावीर !, **ते** तव, **भावशुद्धं** राग-द्वेपादिकलुपितानेकदु खमयससारस्वरूपावलोकनेन ततोऽत्यन्तव्यावर्तमानत्वात् परमार्थतः शुद्ध - राग–द्वेषादिमलरहित, **मनः**—अन्त करण, **न** नैव **जगृहुः** पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टाबलाननबालपौरा आकृष्टवन्त , एव सत्यपि. ससारादत्यन्तविरक्त एव भगवानित्यर्थः ॥१२॥

भगवत. प्रव्रज्यार्थयात्रामाश्रित्य महिमान स्तौति–

सुरासुरैर्विस्मृतदीर्घवैरैः
परस्परप्रीतिविषक्तनेत्रैः ।
त्वद्यानधूःसद्यवहैर्बभासे
संदिग्धसूर्यप्रभमन्तरिक्षम् ॥१३॥

सुरासुरैरिति । "विस्मृतदीर्घवैरै' परस्परप्रीतिविषक्तनेत्रै' त्वद्यानधूःसद्यवहै सुरासुरै' सन्दिग्धसूर्यप्रभमन्तरिक्ष बभासे" इत्यन्वय । विस्मृत–स्मरणा-

विषयीकृतं, दीर्घवैरं–बहुकालीन वैरं–शत्रुत्वं यैस्ते विस्मृतदीर्घवैरास्तैः, **विस्मृतदीर्घवैरैः** परस्परम्–अन्योऽन्यं, प्रीतिः–स्नेहः–परस्परप्रीतिः, परस्परप्रीत्या–विषक्तानि सम्बद्धानि नेत्राणि येषां ते परस्परप्रीतिविषक्तनेत्रास्तै –**परस्परप्रीतिविषक्तनेत्रैः, त्वद्यानधूःसद्यवहैः** तव हे वीर ! भवदीय भवदधिष्ठित यद्यानं–शिविका, तस्य धुरः–तदीयधुरायाः सद्यवहैः–शीघ्रवहनकरणशीलैः, **सुरासुरैः** सुराश्च–देवाश्च सुराश्च–दैत्याश्च–सुरासुरास्तैः सुरासुरैः, **सन्दिग्धसूर्यप्रभं** सन्दिग्धा–तेजोमयदेहभाजां सुरासुराणां देहप्रभायाः सर्वतः प्रसृतत्वेन पृथक्तयाऽनुपलभ्यमानत्वात् 'सूर्यप्रभा विद्यते न वा' इति सन्देहविषयीकृता, सूर्यप्रभा–रविप्रकाशो यत्र तादृशम्, **अन्तरिक्षम्** आकाशम्, **बभासे** प्रकाशते स्म ॥१३॥

हे वीर ! एतादृशं भवदीयदीक्षायात्रामहोत्सवसम्मीलितजनवृन्दं निरीक्ष्य योऽय विस्मयः सोऽयं विस्मय इत्याह—

संकीर्णदैत्यामरपौरवर्ग-
मत्यद्भुतं तन्महिमानमीक्ष्य ।
भवाभवाभ्युत्थितचेतसस्ते
यद्विस्मयो नाम स विस्मयोऽयम् ॥१४॥

संकीर्णदैत्यामरपौरवर्गमिति । "हे वीर ! भवाभवाभ्युत्थितचेतसस्ते संकीर्णदैत्यामरपौरवर्गमत्यद्भुतं तन्महिमानमीक्ष्य यद्विस्मयो नाम सोऽयं विस्मयः" इत्यन्वयः । **भवाभवाभ्युत्थितचेतसः** भवः–जन्म, अभवः–तत्प्रतिपक्षभूत मरणं, ताभ्याम्, अभ्युत्थित–विमुखं, चेतः–अन्तःकरणं यस्य तादृशस्य, यद्वा भवः–संसारः, तस्य अभवः–अभवनमभावः, तत्र अभ्युत्थितम्–उद्युक्तं चेतो यस्य तादृशस्य, **ते** तव वीरविभो., अस्य 'तन्महिमानम्' इत्यनेनान्वयः, **संकीर्णदैत्यामरपौरवर्ग** दैत्याश्च–असुराश्च, अमरा सुराश्च पौराश्च–पुरजनाश्चेतिदैत्यामरपौराः, तेषां वर्गः–समूहः–संकीर्णदैत्यामरपौरवर्गः संकीर्णः–अन्योऽन्यात्यन्तसम्पृक्तया संकलितः, दैत्यामरपौरवर्गो यत्र तादृशम्, पुनः **अत्यद्भुतं** अत्यन्ताश्चर्यजनकम्, **तन्महि-**

मानं दीक्षायात्रामहिमानम् , **ईक्ष्य** अवलोक्य, अत्र समासाभावात् क्त्वाया यवादेशाभावे 'ईक्षित्वा' इति प्रयोगेण भवितव्यमित्याभाति, अथापि क्वचन प्राच्यप्रयोगे समासाभावेऽपि यवादेशो दृश्यते, यदुक्त पाणिनिनैव—"सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भुङ्क्ते" इति **यद्विस्मयः** लोकानां यो विस्मय –आश्चर्य समभवत् , **नामेति** ऐतिह्ये 'आप्तपरम्परागतमेतद् वृत्तम्' इत्येतदर्थकम् , **सोऽयं विस्मयः** स्वर्लोक-भूलोकादिजनसमुच्चयावलोकन नान्यत्र कुत्रापीत्यन्यविस्मयापेक्षयोत्कृष्टत्वात् पारमार्थिको विस्मयः । यद्वा 'भवाभवाभ्युत्थितचेतसः' इत्यस्य 'यद्विस्मयः' इत्यनेनान्वय. , तथा च भवः–ससारः अभवः–भवप्रतिपक्षः, मोक्ष इत्यर्थ , ताभ्याम् अभ्युत्थित–विरक्तं तत्रौत्सुक्यरहितं चेतः–अन्त करणं यस्य तादृशस्य, "मोक्षे भवे च निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इत्यभियुक्तोक्तित', **ते** तव वीरस्य, **यद्विस्मयः** विस्मृतदीर्घवैर–मिथोऽनुरागरक्त–विभिन्नलोकवासिजनवृन्दवन्धुरमीदृश दीक्षायात्रामहिमान निरीक्ष्य योऽय विस्मय –आश्चर्यम् , **सोऽयं विस्मयः** मोक्षे भवे च समचित्तस्याश्चर्य न भवेत् , अथापि यदाश्चर्यं जातं तदेवाश्चर्यं कारणाभावेऽपि कार्यसद्भावात्, समचित्तस्यापि चित्त चालयेदीदृशोऽयं दीक्षायात्रामहोत्सवमहिमेति तात्पर्यं स्तुतिकारस्य । यद्वा **यद्विस्मयः** स्मयः–ईषद् हास्यं गर्वो वा, विगत स्मय–विस्मय. स्मयाभावः, स्मयकारणसद्भावेऽपि भवतो वीरस्य न स्मयो जातः, **सोऽय विस्मयः**–योऽय स्मयाभावः सोऽयं विस्मय.– आश्चर्यजनक समचित्तत्वाद् ईषदपि हास्यं गर्वो वा न जात इति गूढाभिसन्धि. ॥१४॥

निरुक्तदीक्षायात्रयोद्यान गतो भगवान् परिहृत्यालङ्कारादीन् पञ्चभिर्मुष्टिभि. केशोल्लुञ्चनं करोति, सुरेन्द्रश्च तान् लुञ्चितकेशान् गृहीत्वा क्षीरसमुद्रे निक्षिपतीति वर्णयितुमाह—

प्रतीच्छतस्ते सुरपस्य केशान्
क्षीरार्णवोपायनलब्धवुद्धे ।
प्रसादसायामतरं तदाभू-
दक्ष्णां यथार्थानिमिषं सहस्रम् ॥१५॥

प्रतीच्छत इति । "क्षीरार्णवोपायनलब्धबुद्धेः, ते केशान्, प्रतीच्छतः, सुरपस्य, तदा प्रसादसायामतरम् अक्ष्णा सहस्र यथार्थानिमिषमभूत्" इत्यन्वयः । **क्षीरार्णवोपायनलब्धबुद्धेः** क्षीरार्णवः—क्षीरसमुद्रः, तस्मै यद् उपायनम्—उपहारः, तत्कृते लब्धाप्राप्ता, संजातेति यावत्, बुद्धि. विचारणा यस्य तादृशस्य, क्षीरसमुद्रायोपहाररूपेणैतान् केशान् समर्पयिष्यामीति मतिमतः, पुनः **ते** हे वीर ! तव, **केशान्** 'पञ्चभिर्मुष्टिभि सर्वात्मनाऽपनीयमानान् शिरः-श्मश्रुकेशान्, **प्रतीच्छतः** सादरं गृह्णतः, **सुरपस्य** सुरेन्द्रस्य, **तदा** लुच्यमानकेशग्रहणावसरे, **प्रसादसायामतरम्** आयामः—दैर्घ्यम्, आयामेन सह वर्तत इति सायामं, दीर्घमित्यर्थ., अतिशयेन सायाम सायामतरं प्रसादेन—प्रसन्न-तया सायामतर—प्रसादसायामतरम्, प्रसन्नतयाऽतिदीर्घमित्यर्थः, एवंविध यद् **अक्ष्णां सहस्रं** सहस्र सहस्रसंख्यामितानि नयनानि, **यथार्थानिमिषम्** निमिष.—स्वाभाविक चक्षु स्पन्दनं, तदभाव —अनिमिष', यथार्थः—वास्तविकः, अनिमिषो यस्य तादृशम्, **अभूत्** जातम् । देवाना चक्षुःस्पन्दनं न भवतीत्या-गमवचनम्, सुरेन्द्रस्य यत् सहज चक्षुषोऽस्पन्दन तत् लुच्यमानकेशग्रहणावसरे वास्तविकं जातम्, यतो भगवत केशा आकुञ्चिताः श्यामलाः श्लक्ष्णा' सूक्ष्माश्च भवन्ति, तद्दिदृक्षारसेन, भूतलमनागतानेव सर्वान् केशान् गृह्णामीति जिघृक्षारसेन चैकाग्रतया तानिन्द्रः पश्यति गृह्णाति च, अत्र निमेषो यदि स्यात् तदोक्तरसो न पूर्येतेति वास्तविकत्वमिति भावः ॥१५॥

दीक्षाङ्गीकारानन्तर भगवान् वीरोऽज्ञातचर्यया नानाजनपदादिषु विचरति, तत्र च योगिजनोपसेव्यविविधासनादिना ध्याननिमग्नो भवति, दुर्जनाश्च तं न पराभवितु प्रभवन्तीति वर्णयितुमाह—

अज्ञातचर्यामनुवर्तमानो
यद् दुर्जनाधृष्यवपुस्त्वमासीः ।
नानासनोच्चावचलक्षणाङ्क-
मूर्तेस्तदत्यद्भुतमीहितं मे ॥१६॥

अज्ञातचर्यामित्यादि । "हे वीर ! अज्ञातचर्यामनुवर्तमानस्त्वं दुर्जनाधृष्य-वपुः, यद् आसीः, नानासनोच्चावचलक्षणाङ्कमूर्तेः, [ते], तद् अत्यद्भुतम्, मे ईहित [च]" इत्यन्वय । **अज्ञातचर्याम्** अमुकं देशं नगरं ग्रामादिकं वा विचरिष्यामीति कमप्यज्ञापयित्वा नानाजनपदादिषु यद् विचरणं सा अज्ञातचर्या ताम्, **अनुवर्तमानः** अनुसरन्, कुर्वाण इत्यर्थः, **त्वं** भगवान् वीरः, **दुर्जनाधृष्यवपुः** दुर्जनैः–दुष्टजनैः, अधृष्यम्–अपराभवनीयं, क्रियमाणोपद्रवशतेनापि पराभवितुमशक्यमित्यर्थः, वपुः–शरीरं यस्य तादृश, **यद् आसीः** यद् अभवः, **नानासनोच्चावचलक्षणाङ्कमूर्तेः** नानासनाना–योगाभ्यासाङ्गतया प्रसिद्धाना विविधासनाना, यानि उच्चावचानि उच्चनीचभेदभिन्नानि लक्षणानि तेषाम्, अङ्कमूर्ते–चिह्नभूतदेहस्य, येन विविधानि आसनानि सेवितानि तादृशदेहवतो भवत इत्यर्थः, **तद्** दुर्जनाधृष्यवपुःस्वरूपेण भवनम्, **अत्यद्भुतम्**, अत्यन्ताश्चर्य-जनकम्, भवति हि अज्ञातस्थले गमने दुर्जनकृतोपद्रवः, तत्राप्यासननिश्चलस्य तु सुतरा भवेत् एव सत्यप्यधृष्यवपुस्त्वमासीस्तदतीवाश्चर्यजनकमिति भावः, यस्य प्रतीकाररहितस्य शरीरमपि पराभवितु, न शक्यते तस्यात्मा तु कथङ्कारं पराभव-नीयः स्यादिति महदाश्चर्यमिति फलितार्थ, किं स्तुतिकारस्य तवेदमिष्टं नवेत्याह–**मे** सिद्धसेनस्य, **ईहितम्** इष्टम् ॥ १६ ॥

अज्ञातचर्यामेव भगवत उपदर्शयति पद्याभ्याम्—

शिवाशिवव्याहृतनिष्ठुरायां
रक्षःपिशाचोपवनान्तभूमौ ।
समाधिगुप्तः समजागरूकः
कायं समुत्सृज्य विनायकेभ्यः ॥१७॥

वन्ध्याभिमानं कृतवानसि ह्री-
संसर्गपात्रं जिन ! संगमं यत् ।
प्रीतत्रिनेत्रार्चित ! नृत्तपुष्पै-
स्तेनासि लोकत्रयवीर ! वीरः ॥१८॥ [युग्मम्]

शिवेति । "हे जिन ! शिवाशिवव्याहृतनिष्ठुरायां रक्षःपिशाचोपवनान्तभूमौ समाधिगुप्तः समजागरूकः [त्व] विनायकेभ्यः कायं समुत्सृज्य यत् सगमं वन्ध्याभिमान ह्रीसंसर्गपात्र [च] कृतवानसि तेन नृत्तपुष्पैः प्रीतत्रिनेत्रार्चित्त ! लोकत्रयवीरवीरोऽसि" इत्यन्वयः । हे जिन ! काम-क्रोधादिभावशत्रुजयशालिन् भगवन् ! **शिवाशिवव्याहृतनिष्ठुरायां** शिवाना श्रृगालाना यद् अशिवम् अकल्याणसूचकत्वादकल्याणं, व्याहृतं—शब्दकरण तेन निष्ठुरायां—कठोरायाम् , अत्यन्तभीषणायामित्यर्थः. **रक्षःपिशाचोपवनान्तभूमौ** रक्षांसि पिशाचाश्च रक्षःपिशाचाः, तेषा निवासस्थानत्वेन सम्बन्धि यदुपवनं तदन्तभूमौ—तत्प्रान्तपृथिव्यां, **समाधिगुप्तः** चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणसमाधिसुरक्षितः, **समजागरूकः** समेन—सर्वत्र शत्रु—मित्रादौ समभावेन, जागरूकः—जागृतिमान, त्वम् , **विनायकेभ्यो** विघ्नेभ्यः **कायं** शरीर, **समुत्सृज्य** त्यक्त्वा कायोत्सर्ग कृत्वेति यावत्, विघ्नोपनिपातद्वारा कर्मणा विशेषक्षपणाय केनापि योगासनेन काय स्थिरीकृत्य ध्यानमग्नो भूत्वेति भावः ॥१७॥

यत् यस्मात्, **संगमं** संगमाभिधमभव्यसुर विघ्नकरणायोद्यत, वन्ध्याभिमानं वन्ध्यं निष्फलम्, अभिमान—वीरं कायोत्सर्गादितो भ्रष्टमहं करिष्यामीत्याकारक यस्य स वन्ध्याभिमानस्तं, **ह्रीसंसर्गपात्रं** ह्रिया—लज्जया सह ससर्गः— सम्बन्धो—ह्रीसंसर्गः तत्पात्र तदाधार, **कृतवानसि** अकरोः, **तेन** संगमाभिमानविध्वंसकत्वेन, **नृत्तपुष्पैः** नृत्त-तालमानयुक्त सविलासाङ्गविक्षेपरूपं नर्तन, पुष्पाणि—कुसुमानि तैः , **प्रीतत्रिनेत्रार्चित !** प्रीताः—दुरात्मना सगमेन षण्मासीं यावत् सततोपनीते श्रवणमात्रहृदयकम्पिनि घोरोपसर्गेऽपि मनागप्यविचलितचित्त ध्यानसागरनिमग्नं भगवन्तं निरीक्ष्य सजातहर्षा ये, त्रिनेत्राः—त्रिभुवननायकाः सुरासुर-मनुजेश्वरास्तै., अर्चितः—पूजितः, तत्सबोधने हे प्रीतत्रिनेत्रार्चित ! **तेन** संगमाभिमानविध्वंसकत्वेन, **लोकत्रयवीर !** —लोकत्रये ये वीरा· सन्ति तेभ्योऽपि वीरः—पराक्रमशाली, असि वर्तसे, यद्वा हे लोकत्रयवीर ! **वीरोऽसि** परक्रमशाल्यसीत्यर्थ. ॥१८॥

भगवतो महावीरस्यापायापगमातिशयं दर्शयितु तस्य सर्वथा मोहापगमे जगति यदाश्चर्यं जातं तत पद्यद्वयेनाह—

आनन्दनृत्तप्रचलाचला भूः
प्रत्युद्धतोद्वेलजलः समुद्रः ।
सौम्योऽनिलः स्पर्शसुखेऽभिजातः
शुभाभिधाना मृगपक्षिणश्च ॥१९॥

सर्वावतारः सुरदैत्यनाग-
गरुत्मतां प्रोषितमत्सराणाम् ।
बभूवुरन्यानि च तेऽद्भुतानि
त्रैलोक्यविघ्नेश्वरमोहशान्तौ ॥२०॥ [युग्मम्]

आनन्देति । हे वीर ! ते त्रैलोक्यविघ्नेश्वरमोहशान्तौ अन्यानि अद्भुतानि बभूवु -आनन्दनृत्तप्रचलाचला भू प्रत्युद्धतोद्वेलजलः समुद्रः, स्पर्शसुखेऽभिजात सौम्योऽनिलः शुभाभिधाना मृगपक्षिणश्च प्रोषितमत्सराणा सुर-दैत्यगरुत्मता सर्वावतारः'' इत्यन्वय. । हे प्रभो . महावीर ! ते भवतो जिनस्य **त्रैलोक्यविघ्नेश्वरमोहशान्तौ** त्रयाणा लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, त्रिलोकी एव त्रैलोक्यं, तस्य-त्रिलोकीगतजीवानामित्यर्थः, यानि विघ्नानि विघ्नभूतानि कर्माणि, तेषामीश्वरे ईश्वरसदृशो यो मोहः-मोहजनक मोहनीयं कर्म ईश्वरत्वं च मोहनीयकर्मणस्तन्नाशेऽपरकर्मणामवश्यं नाशात् तदेकयोगक्षेमतया, तस्य मोहनीयकर्मण शान्तौ विरामे विलये सतीत्यर्थः, मोहनीयकर्मनाशे सति ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयान्तरायाभिधानानां त्रयाणामपि कर्मणा किलान्तर्मुहूर्तमध्य एव नाशात् तन्नाशोऽप्युपलक्षणीय. तथा च यतः समयान्तरे केवलज्ञानमाविश्चकास्ति तादृशानां घातिसंज्ञकाना ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीयान्तरायाभिधानानां चतुर्णां कर्मणां विलये सतीत्यर्थ., अनेनापि केवलज्ञानाविर्भावकालोऽप्युपलक्षणीयः, तस्य च कल्याणकत्वादभिधीयमानोऽर्थः सुसगत इति निर्गलितार्थः । **अन्यानि** पूर्ववर्णनातिरिक्तानि, यद्वा अन्यानि-आश्चर्यान्तरतो विभिन्नानि असाधारणानीति यावत्, **अद्भुतानि** आश्चर्यजनकवर्णनानि, **बभूवुः**

संजातानि, तान्येवाह—**आनन्दनृत्तप्रचलाचला** यथा निदाघे घर्माभिभूतानां शयानानां जागरूकाणां वा नराणां सुरभिशीतलानिललहरीसङ्गे व्यक्तोऽव्यक्तो वाऽऽन्तरिकसुखानुभवलक्षण आनन्दो भवति, तथा विश्वबन्धूनां तीर्थङ्करदेवानां च्यवन-जन्म-दीक्षा-केवल-निर्वाणकलक्षणेषु पञ्चसु कल्याणकेषु किलैला-जलानला-निल-वनस्पतिस्वरूपैकेन्द्रियपर्यन्तानामखिलजीवसमूहाना सुखानुभवलक्षण आनन्दो भवतीति विदितं जिनागमवादिनाम्, तथा चानन्देन—निरुक्तस्वरूपेण, यद् नृत्तं—नृत्तमिव नृत्त देहस्फुरण तेन प्रकर्षेण चलाचला चलनशीला, भू·—पृथिवी जातेत्यर्थः, अनेन पृथिवीकायजीवानामानन्दोदय आवेदितः । यद्यपि चात्रापाया-पगमातिशयवर्णनार्थं साक्षात् केवलज्ञानोत्पत्तिर्न दर्शिता तथापि मोहोपशमाचिर-भावित्वात् केवलोत्पत्तिमाश्रित्य वेदितव्य, तस्या एव कल्याणकत्वाद्, मोह-विलयस्तदानीमप्यस्त्येव, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । **प्रत्युद्धतोद्वेलजलः** प्रत्युद्धतं सर्वतस्तदङ्गाणामतिवेगेनाविर्भावादत्यन्तौद्धत्यशालि, उद्वेलं वेलामतिक्रान्त प्रवर्ध-मान जलं यत्र तादृशः, समुद्र· सागरो जात इत्यर्थ·, अनेनाप्कायजीवानामा-नन्दोदय आवेदितः । स्पर्शसुखे स्वकीयशीतस्पर्शेन सुखप्रदाने, **अभिजातः** निपुण·, **सौम्यः** सुरभिशीतलत्वाद् मनोज्ञश्च, **अनिलः** वायुर्जात·, अनेन वायुकायजीवानामानन्दोदय आवेदितः । एषा शेषैकेन्द्रियोपलक्षणत्वात् तेजो-वनस्पतिजीवानामपि ग्रहणम् । एतेषा स्थावराणा यद्यानन्दोदयस्तदान्येषामङ्गिना किमुत वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनाखिलाङ्गभाजामानन्दोदय इति गम्यते । **शुभाभिधानाः** शोभनं शुभसूचकमभिधान शब्दनं येषा तादृशा जयजयशब्दं प्रयुञ्जाना इत्यर्थ·, **मृगपक्षिणः** मृगाः शृगालादयः पशव, पक्षिणः काकोलूक-दुर्गादयः पतत्त्रिण, **प्रोषितमत्सराणाम्** दूरीकृतवैरभावानाम्, **सुर-दैत्य-नाग-गरुत्मतां** सुरा·-ज्योतिष्क-वैमानिका देवाः, दैत्या·—सुरप्रतिपक्षिणो भुवन-पति-व्यन्तरदेवा·, नागाः—नागकुमारजातीया देवा, गरुत्मतः-गरुडकुमारजातीया देवाः, तेषा तथा **सर्वावतारः** सामस्त्येन युगपद् भगवत्समीपे आगमनम्, यद्यपि सर्वजातीया भुवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क वैमानिकलक्षणा देवा भगवत्समीपे सहागच्छन्ति तथापि भगवन्महिम्ना वैरस्वभावत्यागो मैत्रीस्वभावाविर्भावो भवतीति ज्ञापनाद् न तथोपादान कृतमपि तु वैरभावकलितानां सुरासुराणां

नागनाकदानाम्, तथापि न चतुर्विधा देवा [illegible], सह सुरासुरा नाग-गरुडाश्च पूर्ववैरं त्यजन्ति मित्रीभावं च भजन्तीति भगवतो महिमेति भावः।

अथवा पद्यद्वयमपि भगवज्जन्माभिषेकप्रसङ्गाश्रितम् व्याख्येयम्, भगवतो जन्माभिषेककरणाय सेन्द्राश्चतुर्विधा देवा हर्षिता भगवन्तमादाय मेरुशिखरे गताश्च तत्र सौधर्मेन्द्रस्य शङ्का समुत्पन्ना, यद्बहु-इयतां कलशानां जलसम्भारं कथमयं लघुर्देहो भगवान् सहिष्यत इति तां शङ्कामपनेतुं भगवता तदा वामपादाङ्गुष्ठाग्रनिपीडनेन मेरुः कम्पितः, ततः मही, ततो जगच्च चलितः तदानीन्तनमिदं वर्णनम्। यदुक्तं योगशास्त्रवृत्तौ—

'अथ जन्माभिषेकाय कृत्वोत्सङ्गे जगत्प्रभुम्।
मेरुमूर्ध्नि सुधर्मेन्द्रः सिंहासनमशिश्रियत् ॥७॥१॥
इयन्तं वारिसम्भारं कथं स्वामी सहिष्यते?।
इत्याशशङ्के शक्रेण भक्तिकोमलचेतसा ॥८॥२॥
तदाशङ्कानिरासाय लीलया परमेश्वरः।
मेरुशैलं वामपादाङ्गुष्ठाग्रेण न्यपीडयत् ॥९॥३॥
शिरांसि मेरोरनमन्नमस्कर्तुमिव प्रभुम्।
तदन्तिकमिवायातुमचलश्च कुलाचलाः ॥१०॥४॥
अतुच्छमुच्छलन्ति स्म स्नात्रं कर्तुमिवार्णवाः।
विवेपे सत्वरं तत्र नर्तनाभिमुखेव भूः ॥११॥५॥" इति।

अस्मिन् पक्षे आनन्दनृत्तेन प्रचला अचला कुलाचलाः प्रचलोऽचलो मेरुर्वा यत्र तादृशी भूरित्यर्थः। 'त्रैलोक्यविघ्नेश्वरमोहशान्तौ' इति तु केवल-ज्ञानाप्तावुत्तरत्र निमित्ततया योज्यम्, यद्यत्रैवास्याभिसम्बन्धोऽभिप्रेतस्तदा "मोह-शान्तौ" इत्यस्य मोहस्य शान्तौ-उद्रेकाभावे मोहप्रतनुतायामित्यर्थः, अत एव मोहनाश, इत्यनुक्त्वा 'मोहशान्तौ' इत्युक्तिः ॥१९-२०॥

मोहोपशान्तिश्चापायापगमातिशयावाप्तिः, सा च सकलसावद्यत्यागात्म-रमणयोः प्रतिज्ञया भवति, भवति च ततः केवलज्ञानप्राप्तिरिति पद्ययुगलेन ज्ञाना-तिशयं स्तोतुमाह—

उत्साहशौण्डीर्यविधानगुर्वी
मूढा जगद्व्यष्टिकरी प्रतिज्ञा ।
अनन्तमेकं युगपत्त्रिकालं
शब्दादिभिर्निष्प्रतिघातवृत्तिः ॥२१॥

दुरापमाप्तं यदचिन्त्यभूति
ज्ञानं त्वया जन्मजरान्तकर्तृ ।
तेनासि लोकानभिभूय सर्वान्
सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥२२॥ [युग्मम्]

उत्साहेति । परेषां जगद्व्यष्टिकरी प्रतिज्ञा मूढा, यत उत्साहशौण्डीर्यविधानगुर्वीति प्रथमवाक्यार्थसंक्षेप. । **प्रतिज्ञा** 'इदं मयोत्तरकाले कर्तव्यम्' इत्यव्यवहितोत्तरकालीनकर्तव्यत्वप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारः, का सा ? **जगद्व्यष्टिकरी** समष्टिरूपस्य जगत. प्रत्येकश एकैककरणशीला "एकोऽहं बहु स्यामिति तेषामेकैकं करवाणि" इति परेषां श्रुतेः, सेयं प्रतिज्ञा, **मूढा** मोहोपगता, ईदृशकार्यकरणासामर्थ्यात् यत —**उत्साहशौण्डीर्यविधानगुर्वी** उत्साह उद्यमः, शौण्डीर्यं पराक्रमः, ताभ्यां विधानं कार्यकरणं तेन गुर्वी, कर्मवैचित्र्यनिबन्धनायां जगद्व्यष्टौ केवलपुरुषप्रयत्नसाध्यत्वप्रतिज्ञायाः कर्तुरुत्साहादिमात्राभिव्यक्तिफलकत्वेन निष्प्रयोजनकर्तृपुरुषकल्पनगौरवग्रस्तत्वात् ।

मूढास्थाने **'व्यूढा.'** इति पाठस्वीकारे त्वयमर्थः—हे सर्वज्ञ ! त्वया प्रतिज्ञा व्यूढा, कीदृशी ? उत्साहशौण्डीर्यविधानगुर्वी, जगद्व्यष्टिकरी च, **प्रतिज्ञा** सर्वसावद्यत्यागात्मरमणतानियमः, उत्साह. संयममार्गे उद्यमः, शौण्डीर्यं सिंहवत्पराक्रमस्तयोर्विधानेन गुर्वी गौरवशालिनी, **जगद्व्यष्टिकरी** संसारत आत्मसन. पृथग्भावजननशीला मुक्तिप्रापणशीलेति यावत् । **व्यूढा** विशेषेण कृतवहना नितरां स्वीकृतेति यावत् ।

निरुक्तप्रतिज्ञया भगवता महावीरेण केवलज्ञानमाप्तं, तदेव सविशेषणमाह— **अनन्तं** विनाशरहितम्, अथवा विषयाणामानन्त्यादनन्तविषयकत्वेनानन्तम्, **एकं** उपयोगस्वरूपत्वेनैकम्, **युगपत्** त्रिलोकीगताना सर्वेषा विषयाणा समकालमेवावगाहित्वेन युगपत्, **त्रिकालं** अतीतानागत-वर्त्तमानलक्षणकालत्रयेऽप्यविशेषेण सर्वपदार्थग्राहित्वेन त्रिकालम्, **शब्दादिभिः** शब्दादिभि. पौद्गलिकैर्मूर्त्तैः **निष्प्रतिघातवृत्ति** निष्प्रतिघाता—प्रतिघातरहिता, वृत्ति —वर्त्तनं यस्य तन्निष्प्रतिघातवृत्ति, क्वचिदपि न प्रतिहन्यत इति। **दुरापं** प्राप्तुमशक्यम्, **अचिन्त्यभूति** अचिन्त्या—चिन्तयितुमशक्या, भूतिः—विभूतिर्यस्य तदचिन्त्यभूति, **जन्मजरान्तकर्तृ** जन्म च जरा च जन्म-जरे, जन्म-जरयोरन्त करोतीति जन्मजरान्तकर्तृ यद्भावे पुनर्जन्म जरा च न भवतीति, ईदृश **ज्ञानं** केवलज्ञानं, **त्वया** वीरजिनेन्द्रेण, आप्तं प्राप्त, हे सर्वज्ञ! सर्वविषयकज्ञानशालिन्! **तेन** केवलज्ञानेन, **सर्वान् लोकान्** त्रिभुवनवर्त्यखिललोकान्, **अभिभूय** स्वगुणापकृष्टगुणवत्त्वलक्षणमभिभवं कृत्वा, **लोकत्तमतां** लोकाना मध्ये उत्कृष्टगुणवत्त्वलक्षणोत्तमता, **उपेतः** प्राप्तः, **असि** भवसीत्यर्थ· ॥२१–२२॥

भगवत सर्वज्ञतामनन्यागामिनीं स्तौति—

अन्ये जगत्संकथिकाविदग्धाः
सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्याः।
यथार्थनामा तु तवैव वीर!
सर्वज्ञता सत्यमिदं न रागः॥२३॥

अन्ये इति। "अन्ये जगत्सकथिकाविदग्धाः तीर्थ्या. सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति, हे वीर! तवैव तु यथार्थनामा सर्वज्ञता, इदं सत्य, रागो न" इत्यन्वयः। **अन्ये** अनेकान्तवादिभिन्ना, **जगत्संकथिकाविदग्धाः** जगत· सकथिकायां—पामरसाधारणक्षुद्रकथानिकाया, विदग्धा.—पण्डिताः, **तीर्थ्याः** तीर्थान्तरीया एकान्तवादिन, **सर्वज्ञवादान्** 'बुद्ध. सर्वज्ञ, कपिल सर्वज्ञ., गौतमः सर्वज्ञ', जैमिनि. सर्वज्ञः, व्यासः सर्वज्ञः' इत्येवं सर्वज्ञवादान; तत्तच्छास्त्रानुरागात्, **प्रवदन्ति** न तु

ते वस्तुतः सर्वज्ञाः, किन्तु हे वीर ! **तवैव तु भवत** एव तु, **यथार्थनामा** यथार्थं नाम यस्याः सा यथार्थनामा, **सर्वज्ञता** सर्वं जानातीति सर्वज्ञस्तस्य भावः सर्वज्ञता, सर्वविषयकज्ञानवत्ता; **इदं** एतत्कथनमस्माकं **सत्यं** यथार्थम्, **रागः** भवन्तं प्रति भक्तिवचनं, **न** नैव, यथार्था भवतः सर्वज्ञतेति भक्तिमात्रख्यापकं नेदं वचनं, किन्तु सत्यमेवेत्यर्थः ॥२३॥

कतिपयलोकप्रकाशककरनिकरशालिसूर्यादशेषवस्तुप्रकाशकाऽनावृतागमप्रणेतुर्भगवत उत्कर्षं स्तौति—

रविः पयोदोदररुद्धरश्मिः
प्रबुद्धहासैरनुमीयते ज्ञैः ।
भवानुदारातिशयप्रवादः
प्रणेतृवीर्योच्छिखरप्रयत्नैः ॥२४॥

रविरिति । "पयोदोदररुद्धरश्मिः रविः प्रबुद्धहासैः ज्ञैरनुमीयते उदारातिशयप्रवादो भवान् प्रणेतृवीर्योच्छिखरप्रयत्नैः अनुमीयते" इत्यन्वयः । **पयोदोदररुद्धरश्मिः** पयोदो—जलदः, तस्योदरे—अन्तः, रुद्धाः, रश्मय—किरणा यस्य स पयोदोदररुद्धरश्मिः, **रविः** सूर्यः, **प्रबुद्धहासैः** ज्ञातकमलादिविकासैः, **ज्ञैः** ज्ञातृभिः, **अनुमीयते** 'उदितः सूर्यः कमलादिविकासात्' इत्यनुमितिविषयो भवति, **उदारातिशयप्रवादः** सर्वान् प्रमातॄन् प्रति अविशेषेणावबोधदानलक्षण उदारातिशयः, प्रवादः प्रकृष्टः सर्वोत्कृष्टः, वादः-अनेकान्तागमः, उदारातिशयः प्रवादो यस्य स उदारातिशयप्रवादः, **भवान्** वीरः, **प्रणेतृवीर्योच्छिखरप्रयत्नैः** प्रणेतुः—अभिनवशास्त्ररचयितुः, वीर्यं—सामर्थ्यं, तदुच्छिखरः प्रयत्नो येषां ते प्रणेतृवीर्योच्छिखरप्रयत्नाः, प्रणेतॄणामग्रगण्याः, तैः **अनुमीयते** 'वीरः सर्वज्ञ एतदृशागमप्रणेतृत्वान्यथानुपपत्तेः,' इत्यनुमितिविषय इत्यर्थः ॥२४॥

केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भगवानागमं कृतवानिति ज्ञानातिशयं स्तुत्वा वचनातिशयं स्तौति—

नाथ ! त्वया देशितसत्पथस्थाः
स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम् ।
नैवान्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां
प्राचीं यियासुर्विपरीतयायी ॥२५॥

नाथेति । "हे नाथ ! त्वया देशितसत्पथस्थाः स्त्रीचेतसोऽपि मोहमाशु जयन्ति, अन्यथा नैव यथा शीघ्रगतिः प्राचीं गां यियासु विपरीतयायी, नैव प्राचीम्" गच्छतीति शेषः इत्यन्वयः । हे **नाथ !** हे स्वामिन् ! **त्वया** जिनेन्द्रेण महावीरेण, **देशितसत्पथस्थाः** देशितः—आगमलक्षणदेशनयोपदिष्टो यः, सत्पथः—सन्मार्गः, तत्रस्थाः भवदागमविहितक्रियाचरणकुशला इत्यर्थः, **स्त्रीचेतसोऽपि** अङ्गनान्त-करणस्यापि अथवा पाणिगृहीतीचित्तस्यापि, **मोहं** स्वगतानुरागादिलक्षणम्, **आशु** शीघ्रम् ! **जयन्ति** स्वसम्बन्ध्यत्यन्तासक्तिलक्षणमूर्च्छां समूलकाषं कषित्वाऽत्यन्तकष्टसाध्यपरिपालना जैनीं दीक्षां गृह्णन्तीत्यर्थः, **अन्यथा** त्वदागमविहितमार्गावस्थानमन्तरेण, **नैव** स्त्रीचेतसो मोहं नैव जयन्ति, एतदर्थोपोद्बलनायाह—**यथा शीघ्रगतिः** शीघ्रगमनशीलः पुमान्, **प्राचीं गां** पूर्वां दिशं, **यियासुः** गन्तुमिच्छुः, **विपरीतयायी** पश्चिमदिक्सम्मुखगमनकर्ता, नैव प्राचीं गच्छति स्वाभीष्टप्राचीदिग्व्यवस्थितग्रामादिप्राप्तिमान् न भवतीत्यर्थः ॥२५॥

अन्यागमतो वैशिष्ट्यं जैनागमस्य प्रकटयति—

अपेतगुह्यावचनीयशाठ्यं
सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञम् ।
शमाभिजातार्थमनर्थघाति
सच्छासनं ते त्वमिवाप्रधृष्यम् ॥२६॥

अपेतगुह्यावचनीयशाठ्यमिति । "ते सच्छासनं त्वमिवाप्रधृष्यम्, अपेतगुह्यावचनीयशाठ्यं, सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञं शमाभिजातार्थमनर्थघाति" इत्यन्वयः । हे भगवन् ! **ते** तव, **सच्छासनं** समीचीनार्थप्रतिपादकागमः, **त्वमिव** त्व यथाऽन्याप्रधृष्यस्तथा, **अप्रधृष्यम्** अन्यैः प्रधर्षयितुं—बाधयितुमशक्यम्,

कथम्भूतं सच्छासनमित्याकाङ्क्षायामाह–**अपेतगुह्यावचनीयशाठ्यं** गुह्यं चावचनीयं च शाठ्यं च–गुह्यावचनीयशाठ्यानि अपेतानि–निर्गतानि गुह्याऽवचनीयशाठ्यानि यस्मात्–तदपेतगुह्यावचनीयशाठ्यम्, जिनागमे परो ज्ञात्वा न खण्डयेदित्यर्थं गोपनीयं–परज्ञानाविषयीभूतं किमपि नास्ति जिनाभिमतस्यार्थस्य कस्यापि खण्डयितुमशक्यत्वात् तद्गोपनं नास्ति, सर्वस्य तद्विहितस्यार्थस्यानिन्दनीयस्यैव सद्भावादवचनीयं- निन्दनीयं वस्तु प्रतिपादकतया न तत्र समस्ति, अन्यनिन्दापरायणार्थप्रतिपादकत्वलक्षणं यच्छब्दगतं शाठ्यं तदत्र न विद्यत इति गुह्यं–गोपनीयं यदवचनीयं वक्तुमशक्यं शाठ्यं शठभावस्तद् भगवतो महावीरस्य नास्तीति भगवतोऽप्यपेतगुह्यावचनीयशाठ्यत्वमिति। पुनः कीदृशम्? **सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञं** सत्त्वं–प्राणिनः प्रत्यनुकम्पा–दया–सत्त्वानुकम्पा तया सकला–सम्पूर्णा प्रतिज्ञा, पक्षे साध्यवत्त्वप्रतिपादकवचनं यत्र तत् सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञम् अथवा सत्त्वम्–उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वं, तस्यानुकम्पा–एकस्मिन् वस्तुनि एकदैवावच्छेदकभेदेन तत्समर्थनं सत्त्वानुकम्पायां सकला प्रतिज्ञा यस्य तत् सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञमिति, भगवतोऽपि सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञत्वं समस्ति, यतः पञ्चमहाव्रतधारणलक्षणा प्रतिज्ञा तस्य सत्त्वानुकम्पार्थैव, पञ्चमहाव्रतमध्ये अहिंसाया एव प्राधान्यं, सत्यादीनां–चतुर्णां तत्राङ्गत्वमेवेति। पुनः कीदृशम्? **शमाभिजातार्थं** शमे–शमभावाविर्भावने अभिजातः–निपुणः, अर्थो यस्य तादृशम्, शमवानपि शमः शमगुणयुक्तः, अभिजातः–कुलीनो निपुणो वा अर्थः–अर्थ्यमाणोऽभिलष्यमाणश्च। पुनः कीदृशम्? **अनर्थघाति** अनर्थविनाशकं भगवच्छासनं यथावदधीतं सदध्येतॄणां सन्मार्गानुसरणप्रत्यलत्वेनानर्थं विनाशयत्येव, भगवांश्च भक्तानामनर्थं निवारयत्येवेत्यनर्थघातित्वं भगवतोऽपीत्यर्थः ॥२६॥

जिन–तत्प्रणीतशासनयोर्गुणानुक्त्वा वक्तरि जिनेऽन्यवादिगतदोषाणामभावं प्रतिपादयति—

यथा परे लोकसुखप्रियाणि
शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः।
शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारै-
र्वक्तृत्वदोषास्त्वयि नैव सन्ति ॥२७॥

यथेति । 'यथा परे लोकमुखप्रियाणि शास्त्राणि कृत्वाऽनुज्ञामलिनोपचारैः शिष्यैर्लघुतामुपेताः, हे वीर ! त्वयि ते वक्तृत्वदोषा. न सन्ति" इत्यन्वयः । **यथा** येन भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादिदोषोत्थापितप्रकारेण, **परे** एकान्तवादिनः, **लोकमुखप्रियाणि** लोकानां–परीक्षादिगुणविधुराणा रथ्यापुरुषादिसाधारणजनानां मुखे–आदौ, प्रियाणि–मनोविनोदकराणि, अथवा मुखप्रियाणि–सुन्दराक्षरघटितत्वेन सम्यगुच्चारणानुकूल्येन वदनप्रियाणि, शब्दगुम्फनसौष्ठवगुणानि, न तु गम्भीरार्थप्रकाशकानि, **शास्त्राणि, कृत्वा** निर्माय, **अनुज्ञामलिनोपचारैः** शास्त्रलक्षणकुत्सितहिंसादिकरणानुज्ञया मलिनानि उपचाराणि–आचरणकर्माणि येषां ते अनुज्ञामलिनोपचारास्तैः, **शिष्यैः** स्वकथितानुशरणकर्तृत्वेनान्तेवासिभि, **लघुतां** लाघवमुपेता –प्राप्ता, हे वीर ! **त्वयि** जिने, **ते वक्तृत्वदोषाः** कुत्सितशास्त्रनिर्मितिजनकवक्तृगतदोषाः, **न सन्ति** न विद्यन्ते ॥२७॥

परेषा लघुत्वावश्यम्भावे हेतुमुपदर्शयति—

> **यथा भवांस्तेऽपि किलापवर्ग-**
> **मार्गं पुरस्कृत्य यथा प्रयाताः ।**
> **स्वैरेव तु व्याकुलविप्रलापै-**
> **रस्वादुनिष्ठैर्गमिता लघुत्वम् ॥२८॥**

यथेति । "यथा भवान् तथा तेऽपि अपवर्गमार्गं पुरस्कृत्य प्रयाताः किल, स्वैरेव तु व्याकुलविप्रलापैरस्वादुनिष्ठैर्लघुत्व गमिता" इत्यन्वयः । हे वीर ! **यथा भवान्** जिन, अपवर्गमार्गं पुरस्कृत्य प्रयात., **तथा तेऽपि** परेऽप्येकान्तवादिनः, **अपवर्गमार्गं** अपवर्गस्य–मोक्षस्य, मार्गं–पन्थानं, **पुरस्कृत्य** आदृत्य, **प्रयाताः** प्रकर्षेण गता , मोक्षमार्गमाश्रित्यैव तपः-स्वाध्यायादिकविषयकोपदेशादिक कृतवन्त इत्यर्थ , **किले**त्यैतिह्ये, वृद्धपरम्परात इत्थमवगम्यत इति, किन्तु **स्वैरेव तु** स्वसम्बन्धिभिरेव स्वनिर्मितैरेवेति यावत्, **तु**–पुन , **व्याकुलविप्रलापैः** पूर्वापरविरुद्धकुयुक्तिव्रातोपेतयथार्थरहितपरस्परमतप्रतिक्षेपमात्रपरवचनै., **अस्वादुनिष्ठैः** अप्रियतोपगतै, **लघुत्वं** लाघव, **गमिताः** प्रापिता इत्यर्थ. ॥२८॥

हे वीर ! त्वं पुनरेतादृशानपि परवादिनः प्रति तत्तदुक्तार्थसंगमनपराण्येव वचांसि कथितवानसीति अहो गुरुता नवेत्याह—

रागात्मनां कोपपराजितानां
मानोन्नतिस्वीकृतमानसानाम् ।
तमोजलानां स्मृतिशोभिनां च
प्रत्येकभद्रान् विनयानवोचः ॥२९॥

रागात्मनामिति । रागः—कामः, आत्मा—स्वरूपं येषां ते रागात्मानस्तेषां— **रागात्मनां,** स्वस्वाभिमतार्थविषयकात्यन्तरागशालिनामित्यर्थः; **कोपपराजितानां** कोपेन स्वानभिमतार्थकारिजनान् प्रति क्रोधेन, पराजिताः-स्वात्मस्वरूपतां तिरस्कृत्य तदेकतानतामुपगताः कोपपराजितास्तेषां, यत्किञ्चित् स्वानभिमतकारिपुरुषविषयकद्वेषवतामित्यर्थः, **मानोन्नतिस्वीकृतमानसानां** जाति-कुल-धन-पाण्डित्यधर्मादिविषयको यो मानोऽभिमानोऽहमेव विशिष्टजात्यादिमानित्याकारको गर्वस्तस्य या उन्नतिः—पराकाष्ठा, तया स्वीकृतमान्यतया परिगृहीत मानसमन्तःकरणं येषां ते मानोन्नतिस्वीकृतमानसास्तेषाम्, अत्यन्तजात्याद्यभिमानवतामित्यर्थः । **तमोजलानां** ड-लयोरैक्यमिति तमसाऽज्ञानेन मोहेन वा जडाः—जडतामुपगता मोहजलास्तेषाम् अत्यन्तमूढानामित्यर्थः, **स्मृतिशोभिनां च** इदमित्थं कथं किमत्र प्रमाणमित्यत्र मत्कुलजा वृद्धा एवं कथितवन्तः स्मृतिकर्त्तारो मन्वादयः, एवं कथयन्तीत्येवंशीलाः स्मृतिशोभिनः, लोके अहो पाण्डित्यं स्मरणशक्तिरस्येत्येवंशोभामुपगताः स्मृतिशोभिनस्तेषां, न किमपि प्रत्यक्षादिकमनुभवं प्रमाणमुपदर्शयितुं प्रगल्भाः किन्तु स्मृतिमात्रमेव लोकानां विश्वासायोरीकृतवतामित्यर्थः, एतेषां सर्वेषां **प्रत्येकभद्रान्** प्रत्येकं तत्तन्नयवादीनामेकैकेषाम्, भद्रं स्यात्पदलाञ्छितत्वेन परस्परसापेक्षतया कल्याणं यत्र तादृशान्, **विनयान्** स्यात्पदवाञ्छिततया विशिष्टान् नयान्, **अवोचः** कथितवान् असि, त्वमेव गुरुरिति लभ्यत इत्यर्थः ।

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफलप्रदा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥६॥"

इत्यभियुक्तोक्तिः ॥२९॥

अन्यतैर्थिकापेक्षया भगवतो वैशिष्ट्यमुपदर्शयति—

वाय्वम्बुशैवालकणाशिनोऽन्ये
धर्मार्थमुग्राणि तपांसि तप्ताः ।
त्वया पुनः क्लेशचमूविनाश-
भक्तोऽपि धर्मो विजिताश ! दग्धः ॥३०॥

वाय्वम्बुशैवालकणाशिन इति । अत्रान्वय. सुगम । **अन्ये** परतैर्थिकाः, **धर्मार्थं** धर्मो मे भवत्वित्येतदर्थं, **वाय्वम्बुशैवालकणाशिनः** वायुमात्रभक्षकाः, अम्बुमात्रभक्षका., शैवालमात्रभक्षकाः, भूपतितः स्वगृहीतान्नकणभक्षका सन्तः, **उग्राणि** कष्टसाध्यानि दीर्घकालपरिसमाप्यानि फलापेक्षयाधिककष्टानि वा, **तपांसि** तपश्चरणानि, **तप्ताः** कृतवन्तः । हे **विजिताश !** विशेषेण जिता आशा कृतकृत्यत्वेन समग्रप्रयोजनस्याभिलाषा येन स विजिताशः, अथवा—अशनमाशः, विजित आश आहारापेक्षारहितमुक्तिगतया आहारक्रिया येन स विजिताश, तत्सम्बोधने—हे विजिताश ! जिन !, **त्वया पुनः** भवता जिनेन पुन, **धर्मः** तपोधर्म., **दग्धः**—भस्मीकृत —सर्वथा दूरीकृत इति यावत् । कीदृशो धर्म ? **क्लेशचमूविनाशभक्तोऽपि** क्लेशस्य परिश्रमस्य "क्लेशो दु.खे च रागादौ" इति वचनाद्, दु.खस्य रागादेर्वा, चमूशब्दसान्निध्यात् क्लेशरूपसेनाधिपतेरित्यर्थ., चमू:—या सेना कायिक—वाचिक—मानसिकभेदकलिता पीडा, तस्या विनाशे भक्तोऽपि विभक्तोऽपि यथायोग नियमित सम्यगुपवासादिरूपतपोधर्मोऽपीत्यर्थ, अपिशब्दात् तद्विपरीतो वायुमात्रभक्षादिरूपतपोधर्मोऽपीत्यर्थः । सम्यग्ज्ञानेन शुक्लध्यानाग्निना वा मुक्ति गततया कृतकृत्यतया च द्विविधोऽपि तपोधर्मोऽपसारित. सर्वथेत्यर्थ, अन्यतैर्थिकैरुग्रतपांसि कृतानि, तथापि न जिताशा नवाशनक्रिया, हे वीर ! त्वया तु द्वयमपि जितमिति भावः ॥३०॥

हे वीर ! तव स्तुतिं कर्तुं न कोऽपि विदग्ध, किन्तु तव स्तुतिरशेनापि विहिता हितावहेति मत्वा मम तत्र प्रवृत्तिरित्याशयेनाह—

नानाशास्त्रप्रगममहतीं रूपिणीं तां नियच्छन्
शक्रस्तावत् तव गुणकथाव्यापृतः खेदमेति ।

कोऽन्यो योग्यस्तव गुणनिधेर्वक्तुमुक्त्वा नयेन !

त्यक्ता लज्जा स्वहितगणनानिर्विशङ्कं मयैवम् ॥३१॥

[मन्दाक्रान्ता]

नानाशास्त्रेति । "हे नयेन ! तव गुणकथाव्यापृत. शक्रस्तावत् नाना-शास्त्रप्रगममहतीं रूपिणीं ता नियच्छन् खेदमेति, गुणनिधे तव वक्तुं कोऽन्यो योग्य, मया स्वहितगणनानिर्विशङ्कमेवमुक्त्वा लज्जा त्यक्ता" इत्यन्वयः । हे **नयेन !** नयानामीन. नयेन·, तत्सबोधने हे नयेन !, अशेषनयाधीश !, एतेन प्रत्येक तत्तन्नयाभिमताना गुणाना वीरे सद्भाव आवेदित, **तव** महावीरस्य, **गुणकथाव्यापृतः** गुणकथाया गुणगणनविधौ, व्यापृत.–निरन्तरप्रयत्नवान्, **शक्रः** इन्द्र·, **तावदिति** वाक्यालङ्कारे, **नानाशास्त्रप्रगममहतीं** नाना-शास्त्राणा य. प्रगमः प्रकृष्टज्ञान, तेन महतीं–विस्तृता, नानाशास्त्रावगमजनित-तत्तच्छास्त्रोक्तगुणनिकरवचनविस्तृतविग्रहा, **रूपिणीं** मूर्तिमती, **तां** गुणकथां, **नियच्छन्** एतावन्तो महावीरे भगवति गुणा इत्येव नियन्तुं–नियमितुमिच्छन् सन् ततोऽप्यधिकतरगुणाना भगवति सद्भावात् तथानियमन न सम्भवतीत्यतः, **खेदं** दुःखम्, **एति** प्राप्नोति, यदि शक्रोऽप्यखिलत्वद्गुणगणनविधावसमर्थस्तदा **कः**; **अन्यः** शक्राद् भिन्नः, **गुणनिधेः** गुणसमुद्रस्य, **तव** जिनस्य, **वक्तुं** गुणकथा कथयितु, **योग्यः** समर्थ., न कोऽपि तवाशेषगुणगणनविधौ समर्थ इत्यर्थ·, एवं सति मम गुणस्तुतिकरणप्रवृत्तिः 'कथ तव' इति भगवता पृष्ट इव सूरिराह–**मया** सिद्धसेनदिवाकरेण, **स्वहितगणनानिर्विशङ्कं** स्वहितस्य स्वेष्टस्य गणनाया, निर्विशङ्क शङ्कारहित यथा स्यात् तथा, **एवम्** अधिकृतत्वद्-गुणोपदर्शनप्रकारेण, **उक्त्वा** त्वद्गुणकथा कथयित्वा, **लज्जा** ह्री, **त्यक्ता** निराकृता, लज्जा विहाय स्वहितार्थ स्तुति कृतेत्यर्थ. ॥३१॥

पञ्चमी स्तुतिद्वात्रिंशिकां समापयन् पुष्पिताग्रावृत्ताकलितपद्येन स्वसमीहित-सिद्धये भगवन्तं महावीरं प्रार्थयति—

इति निरुपमयोगसिद्धसेनः

प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः ।

दिशतु सुरपुरुस्तुतस्तुतो नः

सततविशिष्टशिवाधिकारिधाम ॥३२॥ [पुष्पिताग्रा]

इति निरुपमयोगसिद्धसेन इति। "इति प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु निरुपमयोगसिद्धसेनो वीरः सुरपुरुस्तुतस्तुतः, नः सततविशिष्टशिवाधिकारिधाम दिशतु" इत्यन्वयः। **इति** पञ्चमस्तुतिपरिसमाप्तौ, **प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु** प्रबलः–प्रकृष्टबलशाली, तमोरिपुः–महामोहाद्यन्धकारलक्षणशत्रुः प्रबलतमोरिपुः, तस्य नितरां जयेषु, प्रबलतमसामनेकत्वेन प्रत्येकं तज्जयानामपि विभिन्नत्वेन बहुवचनोक्तिः, **निरुपमयोगसिद्धसेनः** निरुपमः–उपमारहितो यो योगः सर्वसंवरलक्षणयोगः, सिद्धा–मोक्षजनकत्वप्रकारकसिद्धिविषयः, सेना–युद्धाङ्गभूतपदात्यादिरूपा, निरुपमयोगः सिद्धसेना यस्य स निरुपमयोगसिद्धसेनः, यो निरुपमयोगेन प्रबलतमोरिपून् जितवान्, एतद् वीरविशेषणघटकतया स्तुतिकर्त्ता स्वनामसंकीर्तनानुवृत्तये योजितवान्, **वीरो** महावीरः, पुनः कथम्भूतः ? **सुरपुरुस्तुतस्तुतः** सुराः–देवाः पुरवो महान्तो लोकाः, तैः स्तुताः–पूजिताः सुरेन्द्र-नरेन्द्रादयः सुरपुरुस्तुताः सुरपुरुस्तुतैः स्तुतः कृतगुणकीर्तनः सुरपुरुस्तुतस्तुतः, **नः** अस्मभ्यम्, **सततविशिष्टशिवाधिकारिधाम** सततं निरन्तरम्, विशिष्टं, शिवं कल्याणं मोक्षसुखमिति यावत्, सततविशिष्टं शिवं येषां ते सततविशिष्टशिवाः, मुक्ता इत्यर्थः, सततविशिष्टशिवा अधिकारिणो यस्य तत् सततविशिष्टशिवाधिकारि, सततविशिष्टशिवाधिकारि च तद् धाम च–स्थानं च–सततविशिष्टशिवाधिकारिधाम, **दिशतु** ददात्वित्यर्थः ॥३२॥

पञ्चम्यास्तु स्तुतेर्या विवृतिरियमलं सिद्धसेनाशयस्य
ज्ञप्त्यै लावण्यसूरेरपरकृतिघटामिश्रिता तत्त्वमिश्रा।
तस्या दृष्टिर्बुधानां भवतु शुभमयी जैनसिद्धान्तकान्ता
भक्तिर्वीरे दृढाऽतो गुणगणनिलये मोक्षदात्री भवित्री ॥१॥

इति श्रीतपोगच्छाधिपति–शासनसम्राट्–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–
श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति-
शास्त्रविशारद–कविरत्नेतिपदालंकृतेन श्रीविजय-
लावण्यसूरिणा विरचितायां किरणावली-
नाम्न्यां विवृतौ पञ्चमी द्वात्रिं-
शिका समाप्ता ॥



षष्ठी द्वात्रिंशिका



शिष्यः श्रीनेमिसूरेरधिगतविविधन्यायचर्चाप्रपञ्चो
धीमान् लावण्यसूरिर्जिनवचनरतो मुक्तिमार्गैकलीन. ।
षष्ठीं द्वात्रिंशिकाख्या स्तुतिमतिसुगमार्थां जनाना विधातु
व्याख्याति स्तुत्यवीराप्रतिहतमननध्यानवान्तावधानः ॥१॥

परीक्ष्य वस्तुनिर्णयः कार्यो न त्वपरीक्ष्यैवेद वृद्धपरम्परात आगतमित्यभ्युपेयं, परीक्षातस्तु जिन एव सर्वज्ञः सिध्यति नान्य इत्याशयेन षष्ठीं द्वात्रिंशिकां स्तुतिमारचयन्निद पद्यमादौ विरचयति—

यदशिक्षितपण्डितो जनो
विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः ।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते
जगतः किं प्रभवन्ति देवताः ॥१॥ [वैतालीयम्]

यदशिक्षितपण्डित इति । "अशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामग्रतो यद्वक्तुमिच्छति तत्क्षणमेव न च शीर्यते, किं देवताः जगतः प्रभवन्ति" इत्यन्वयः। **अशिक्षितपण्डितः** शिक्षितश्चासौ पण्डितश्च शिक्षितपण्डित· न शिक्षितपण्डितोऽशिक्षितपण्डितः, यश्च शिक्षामन्तरेणैव पण्डितो यो वा न शिक्षितो नापि पण्डितः एतद्द्वयमपि अशिक्षितपण्डित इत्यनेन गृह्यते, **जनः** लोक., **विदुषां** पण्डितानाम्, **अग्रतः** पुरत·, **यत्** यत् किमपि युक्तमयुक्तं वा, **वक्तुं** गदितुम्, **इच्छति** कामयते, **तत्क्षणमेव** तदिच्छाकालमेव, **न च** नैव, **शीर्यते** नश्यति, तदैव तदिच्छा न निवर्त्तते, पण्डितानामग्रेऽपण्डितस्त्वं न किमपि वक्तु समर्थ इत्येव देवतास्तत्प्रतिषेध करिष्यन्तीत्यतः आह–**किं देवताः** देवाः, **जगतः** विश्वस्य, **प्रभवन्ति** समर्था भवन्ति, विश्वस्य किमपि कर्त्तु देवा न समर्था इत्यर्थः। पण्डितानामग्रे यद्वा तद्वाऽपण्डिताः प्रलपन्तु नैतावता तत्प्रलपनमात्रेण किञ्चिद्वस्तु प्रसिद्धयति नवा किञ्चित् पण्डितानां हीयत इति भावः ॥१॥

परीक्षयाऽल वस्तुव्यवस्था भविष्यतीत्यत आह--

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति-
स्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवा-
दहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥२॥

पुरातनैरिति । "पुरातनैर्या व्यवस्थितिर्नियता, परिचिन्त्य तत्रैव सा किं सेत्स्यति ? मृतरूढगौरवात् तथेति वक्तु जातो नाऽहं, विद्विष. प्रथयन्तु" इत्यन्वय. । **पुरातनैः** प्राचीनै., **या व्यवस्थिति**· व्यवस्था, **नियता** इद· मित्थ व्यवहर्त्तव्यमस्येद कारण कार्य चेत्येव नियमिता, **परिचिन्त्य** सर्वतः विचार्य, तत्रैव पुरातनैव सा व्यवस्था, **कि सेत्स्यति** कि सिद्धि यास्यति इति प्रश्नः, एतत्प्रश्नप्रतिविधाने **मृतरूढगौरवात्** मृताना प्राचीनाना रूढस्य रूढ्या कल्पितस्यार्थस्य गौरवात् कल्पनागौरवात्, **तथा** यथा प्राचीनैर्नियमिता व्यवस्था तथैव सा, **इति वक्तुं** एव कथयितु, **जातः** उत्पन्न, **नाहं** परीक्ष्यार्थमुपगन्ताऽह न, तर्हि तथेति वक्तु के प्रगल्भा इत्याकाङ्क्षायामाह–**विद्विषः** एकान्तवादित्वेनास्य शत्रव, **प्रथयन्तु** विस्तरार्थव्यवस्थेति कथयन्त्वित्यर्थ. ॥२॥

अचिन्त्यमेतदित्येव मत्वा विचारमकुर्वाण. स्वबुद्धिमान्द्यमालस्यं वा प्रकटयेन्नातो वस्तुव्यवस्था, किन्त्वापाततोऽचिन्त्यमेतदिति जानन्नपि तत्तत्त्वविनिर्णयाय विचारयेदेवेत्याह--

न खल्विदं सर्वमचिन्त्यदारुणं
विभाव्यते निम्नजलस्थलान्तरम् ।
अचिन्त्यमेतत् त्वभिगृह्य चिन्तये-
च्छुचः परं नापरमन्यदा क्रिया ॥३॥

न खल्विदमिति । "निम्नजलस्थलान्तरमिदं सर्वमचिन्त्यदारुण खलु न विभाव्यते, एतत्त्वचिन्त्यमभिगृह्य चिन्तयेत् शुच· पर क्रिया अपरमन्यदा न" इत्यन्वय. । **निम्नजलस्थलान्तरम् इदं** पुरोवर्ति, **सर्वं** निखिलम्, **अचिन्त्यदारुणं**

चिन्तयितुमशक्यं च तद् दारुण भयङ्करं च अचिन्त्यदारुणं, **खलु** नियमेन, **न विभाव्यते** न विचार्यते, किन्तु, **एतत् तु** निम्नजलस्थालान्तर पुन., **अचिन्त्यमभिगृह्य** प्रथम गृहीत्वा, **चिन्तयेत्** विचारयेदेव कियत् प्रमाणं निम्नमिति निर्णयाय विचारं कुर्यादेव, **शुच** शोकस्य. **परम्** उत्तरकालं, **क्रिया** शोकनिवारणव्यापारो भवति, शोक मा कुरु एतत्कारणादिदमुपनत तवेत्यादि शासनम्, **अपरं** शुच पूर्वमेव, **अन्यदा** कालान्तरे वा, **न** न भवति। एव चाचिन्त्यमेतदिति पूर्वमापाततो गृहीत्वा कि सर्वथाऽचिन्त्यमुत कथञ्चिदचिन्त्यं कथञ्चिच्च चिन्त्यमिति निर्णयाय विचार कुर्यादेव, यदि पूर्वमापाततोऽप्यचिन्त्यमिति न गृह्णीयात् तदा विचारितमेवैतदित्याकलयन्ति नीतौ तस्मिन् न निर्णयाय विचारसाफल्यमासादयेदित्यभिसन्धि. ॥३॥

प्राचीनोक्तौ प्रेमबलाद् गुहिरेव नादरणीया, किन्त्वेदं प्राचीनोक्त समीचीनं नवेति संशयोन्मूलनपुरस्सरं निर्णयाय परीक्षाविषय एवेत्याशयेनाह—

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं
विरोधरूक्षाः कथमाशु निश्चयः ।
विशेषसिद्धानि यमेव नेति वा
पुरातनप्रेमजलस्य युज्यते ॥ ४ ॥

बहुप्रकारा इति। 'विशेषसिद्धानि यमेव' इत्यस्य स्थाने 'विशेषसिद्धयायियमेव' इति पाठो युक्तः। परस्परं विरोधरूक्षाः बहुप्रकारा इति, स्थितयः, पुरातनप्रेमजलस्य इयमेव वा नेति, विशेषसिद्धौ निश्चय. कथमाशु युज्यते" इत्यन्वयः। **परस्परं** अन्योऽन्यं, **विरोधरूक्षाः** विरोधेन रूक्षा स्नेहरहिताः, **बहुप्रकारा** अनेकविधाः, **स्थितयः** तत्तन्मतव्यवस्थितय, एव सति **पुरातनप्रेमजलस्य** पुरातने प्राचीने यत्प्रेमास्ते तेन जलस्य जडस्य पुरातनप्रेमजलस्य, वादिना **इयमेव** एतन्मतव्यवस्थितिरेव, **वा** अथवा, न एतन्मतव्यवस्थितिर्न समीचीना इति एवंप्रकारेण, **विशेषसिद्ध्यै** एकप्रकारवस्तुविशेषसिद्ध्यर्थं, **निश्चयः** निर्णयः, **कथं** कथञ्चित, **आशु** शीघ्रम्, विचारमन्तरेण युज्यते युक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

पुरातनत्वं न प्रतिनियतकतिपयव्यक्तिषु नियतमित्यनवस्थिताना सर्वेषामपि पुरातनानामुक्तानि पुरातनोक्तौ न वस्तुव्यवस्थापकानि स्युः, न च तत्र किञ्चिद्विनिगमकं विद्यते येन परीक्षामन्तरेणैव कानिचित् पुरातनोक्तानि वस्तुव्यवस्थापकतयोपेयानि कानिचिन्नेति कस्यचित् पुरातनोक्तस्य किञ्चित् पुरातनोक्तस्यैवोपादेयतयाऽग्रहणे परीक्षाभावाविशेषात् सर्वाण्यपि पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्याभ्युपेयान्यनभ्युपेयानि नैवेत्याह—

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः
पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः
पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥५॥

जनोऽयमिति । "अय जनो मृतोऽन्यस्य पुरातनः सन् पुरातनैरेव समो भविष्यति, इति अनवस्थितेषु पुरातनेषु कोऽपरीक्ष्य पुरातनोक्तानि रोचयेद्" इत्यन्वयः । **अयं** पुरःस्थित , **जनः** रथ्यापुरुषादिसाधारणो लोकः, **मृतः** मरणं प्राप्त., **अन्यस्य** तदुत्तरकालीनजनिमत. पुंस., **पुरातनः** सन्, **पुरातनैरेव** एवकारेण न तु नवीनैरिति नवीनव्यवच्छेदः, **समः** पुरातनत्वधर्मेण सदृश', **भविष्यति** तथा चेदानीन्तना अपि लोकाः भविष्यत्कालावच्छेदेन पुरातनत्वयोगात् पुरातना इति एवंप्रकारेण, **अनवस्थितेषु** प्रतिनियतत्वलक्षणव्यवस्थानरहितेषु, **पुरातनेषु** प्राचीनपुरुषेषु, **कः** क' पुरुष , **अपरीक्ष्य** परीक्षामकृत्वैव, **पुरातनोक्तानि** प्राचीनोक्तानि, **रोचयेत्** वस्तुव्यवस्थापकत्वेनाभ्युपेयात् । न कोऽपि पुरुषः परीक्षामन्तरेण परात्मनि वस्तुव्यवस्थापकत्वेन स्वीकुर्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्त्वनिर्णयं कर्तुं निरालस एव प्रभवति न त्वलस इत्याह—

विनिश्चयं नैति यथा यथाऽलस-
स्तथा तथा निश्चितवत् प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्ये गुरवोऽहमल्पधी-
रिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥६॥

विनिश्चयमिति । "अलसो यथा यथा विनिश्चय न एति, तथा तथा निश्चितवत् प्रसीदति, अल्पधीः अवन्ध्यवाक्ये गुरवोऽहमिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति" इत्यन्वय । **अलसः** आलस्यवान् पुरुषः, **यथा यथा** येन येन प्रकारेण, **विनिश्चयं** विशिष्टतत्त्वनिश्चयं, **न** नैव, **एति** प्राप्नोति, **तथा तथा** तेन तेन प्रकारेण, **निश्चितवत्** तत्त्वनिर्णयशालिषु सद्वत्, **प्रसीदति** प्रसन्नो भवति, **अल्पधीः** अल्पज्ञ पुरुषः, **अवन्ध्यवाक्ये** यद्वाक्यं निष्फलं न भवति स्वप्रतिपाद्येऽर्थे सफलमेव भवति तद्वाक्यमवन्ध्यवाक्य तत्र, **गुरवः** प्रधानाः, **अहं** त्वं धनाढ्यो भूयाः, त्वं पुत्रवान् भव, अद्यवृष्टिर्भविष्यतीत्यादिकं यदहं ब्रवीमि तद्भवत्येवम् , **इति व्यवस्यन्** एवं निश्चिन्वन् पुरुषः, **स्ववधाय** स्वात्मविनाशाय, **धावति** चेष्टते-वदति असत्य, कथयति च सत्यमहं ब्रवीमि, एव ब्रुवाणोऽल्पधीः कदा त्वं मरिष्यसीत्येव केनचित् पृष्टोऽमुकस्मिन् समयेऽहं मरिष्यामीति प्रतिज्ञाय तत्समये चागते स्ववचनसत्यापनायोच्चपर्वतशिखरादिकमारुह्य पततीत्येवमात्मघात्यपि भवतीत्यर्थ. ॥ ६ ॥

अलसो जनः शास्त्राण्यधीत्य तत्त्वं ज्ञातुमसमर्थ· यत्किञ्चित् सामुद्रिकशास्त्रज्ञानतो हस्तरेखा परस्य दृष्ट्वा त्वं पुत्रवान् भविष्यसि त्रयश्चत्वारो वा भ्रातरस्तव इत्यादिकं कथयति, काकतालीयन्यायात् क्वचित् क्वचिदर्थे सत्यवागपि लोके ज्ञापिते तावता पूजितोऽपि भवति, नैतावता तत्त्वज्ञान तस्येत्यावेदयितुमाह—

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणै-
र्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवा-
नगाधपाराणि कथं गृहीष्यति ॥७॥

मनुष्यवृत्तानीति । "मनुष्यहेतोर्मनुष्यलक्षणैर्नियतानि मनुष्यवृत्तानि तैः स्वयमलब्धपाराणि अगाधपाराणि अलसेषु कर्णवान् कथ गृहीष्यति" इत्यन्वयः । **मनुष्यहेतोः** मनुष्यस्य हेतोः कारणात् , यस्मान्मनुष्यजन्म भवति तस्मात् कारणात् , **मनुष्यलक्षणैः** मनुष्यस्य लक्षणानि हस्तरेखा-कपालरेखा-तिलप्रभृतीनि चिह्नानि, **तैः** मनुष्यलक्षणै· मनुष्यकारणप्रभवमनुष्यचिह्नैरित्यर्थः, **नियतानि** अवि-

नाभूतानि, **मनुष्यवृत्तानि** मनुष्यवृत्तिसदाचरण-धनवत्व-पुत्रवत्वादीनि, यो य एवम्भूतमनुष्यलक्षणवान् पुरुषः स एवम्भूताचरणादिमानित्येव व्याप्तिरत्र ज्ञेया, **तैः** मनुष्यलक्षणैः, **स्वयं** यथावत्सामुद्रिकादिशास्त्राभिज्ञपुरुषोपदेशमन्तरेणैव, **अलब्ध-पाराणि न** लब्धोऽलब्धः पारा एतावन्त्येव मनुष्यवृत्तानीत्येवंस्वरूपा सीमा येषां तान्यलब्धपाराणि, वस्तुस्वभावगत्या च अगाधपाराणि ज्ञापयितुं परिच्छेत्तु-मशक्या. परिसीमा येषां तानि अगाधपाराणि, एतादृशानि मनुष्यवृत्तानि, **अलसेषु** सामुद्रिकादिशास्त्रपरिशीलने आलस्यवत्सु मध्ये यः कश्चित्, **कर्णवान्** यद्यपि सर्वोऽपि मनुष्यः कर्णेन्द्रियवान् भवत्येव तथापि कर्णवानित्यनेन स्वयं तत्तन्मनुष्य-वृत्ताद्यवगतये तत्तन्मनुष्यलक्षणयथावगतिहेतुपरिश्रममन्तरेणैव तदाभिज्ञपुरुषोच्चरित-शब्दश्रवणमात्रतस्तत्तल्लक्षणं विज्ञायते, न लक्षणेन यथाकथंचित् मनुष्यवृत्तज्ञानवा-नवबोध्यते तथा चालसेषु मध्ये एतादृशः कर्णवान् पुरुषः कथं गृहीष्यति ? न कथञ्चिद् गृहीष्यतीत्यर्थः ॥७॥

यत्किञ्चिदपि पुरातनोक्तमादरेण गृह्णाति प्रमाणविनिश्चितार्थमप्यभिनव-वाक्कृतिं न पठति, नापि पाठयति तत्र स्मृतिव्यामोह एव निबन्धनमित्याह—

यदेव किञ्चिद् विषमप्रकल्पितं
पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृति-
र्न पाठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः ॥८॥

यदेवेति । अत्रान्वयाधिगतिः सुकरैव । **विषमप्रकल्पितं** सम्यक्युक्त्य-विषयत्वाद् विषमं च तत् कल्पनामात्रविषयत्वात् प्रकल्पितं च विषमप्रकल्पितं दृष्टाननुसारिकल्पनामात्राकलितम्, **यदेव किञ्चित्** विशिष्यानिर्धारितस्वरूपं वस्तु-मात्रम्, **पुरातनैः** प्राचीनैः, **उक्तं** कथितम्, **इति** एतस्मात् कारणात्, **प्रशस्यते** प्रशस्तो भवति, **विनिश्चितापि** प्रमाणविनिश्चिता, **अद्य** वर्त्तमानकाले, **मनुष्य-वाक्कृतिः** मनुष्यस्य वाचा रचना, **न** नैव, **पाठ्यते** नाध्याप्यते, **यत्** यस्मात्, **स** प्राचीनोक्तावादरोऽभिनवकृतावनादरश्च, **स्मृतिमोह एव** स्मृति-व्यामोहनिबन्धन एवेत्यर्थः ॥८॥

कश्चिदलसः काकभाषादिविज्ञानग्रन्थं स्वल्पमेव ज्ञात्वा स्वविदितं तदेव प्रशंसन् न विस्मयाधायकः तद्विषयकस्य स्वल्पज्ञानस्यापि तत्र सद्भावात्, यस्त्वलसोऽहं परोक्षमप्येतदवगच्छामि मया ज्ञातमेतद् बहुसुन्दरमित्येव मिथ्याऽभिमानमाश्रित्य प्रशंसति च तदज्ञानरोगविमुक्तिजनकं भेषजमपि नास्त्यतिमूढोऽसावित्याह—

न विस्मयस्तावदयं यदल्पता-
मवेत्य भूयो विदितं प्रशंसति ।
परोक्षमेतत् त्वधिरुह्य साहसं
प्रशंसतः पश्यत किं नु भेषजम् ॥९॥

न विस्मय इति । "यत् अल्पतामवेत्य विदितं भूयः प्रशंसति अयं तावन्न विस्मयः, साहसमधिरुह्य परोक्षमेतत् प्रशंसतस्तु किं नु भेषजमिति पश्यत" इत्यन्वयः । **यत्** विशेषतोऽनिर्दिष्टं किमपि काकभाषादिविज्ञानम्, **अल्पताम्** देव एव देवतेति अल्पमेवाल्पतेति अल्पं परिमितम्, **अवेत्य** ज्ञात्वा, **विदितं** ज्ञातं यत्किञ्चित् तत्तत्त्वं, **भूयः** बहुवारं, **प्रशंसति** अहो मया ज्ञातमेतदपूर्वं नान्यः कश्चिज्जानातीति प्रशंसां करोति **अयं** अयमेतत्प्रशंसनलक्षणव्यापारः स्वपाण्डित्याविर्भावकः, तावद् **न विस्मयः** नाश्चर्यजनकः, स्वल्पविषयकस्यापि ज्ञानस्य सद्भावात्, **साहसं** यदन्यैः कर्तुं न शक्यते तदप्यहं करिष्यामीति साहसम्, **अधिरुह्य** आश्रित्य, **परोक्षं** प्रत्यक्षज्ञानाविषयीभूतं, **एतत्** स्वल्पमपि किमपि वस्तु, **प्रशंसतस्तु** प्रशंसां कुर्वतः पुरुषस्य पुनः, **किं नु भेषजं** किं तदज्ञानव्याधिनिवर्तकमौषधं भवेत्, हे बुधाः **इति पश्यत** अवलोकयत, अहो मोहस्य माहात्म्यं यत् किमपि न जानाति अथापि प्रशंसति तदित्यर्थः ॥९॥

परीक्षया विशेषविज्ञानं कर्तुमशक्यमिति किं परीक्षया, यदेव यस्याभिरुचितं तदेव तत्कल्पयेत्येवं परीक्षाऽक्षमाणां मूढानामुपदेशतो मोहितं जगन्न परमार्थलाभं प्रतिपद्यते इत्याह—

परीक्षितुं जातु गुणौघ ! शक्यते
विशिष्य ते तर्कपथोद्धतो जनः ॥

यदेव यस्याभिमतं तदेव त-
च्छिवाय मूढैरिति मोहितं जगत् ॥१०॥

परीक्षितुमिति। "हे गुणौघ ! ते विशिष्य जातु परीक्षितुं शक्यते तर्कपथोद्धतो जनः यस्य यदेवाभिमत तच्छिवाय तदेवेति मूढैः जगत् मोहितम्" इति सम्बन्धः। कञ्चिदुपदेष्टव्य सबोधयति–हे **गुणौघ** ! गुणानामोघः समुदायो यस्मिन् स गुणौघः, तत्सम्बोधने हे गुणौघ ! **ते** तव गुण इति सामर्थ्याल्लभ्यते, **विशिष्य** विशेषरूपेण परीक्षितु शक्यते, **जातु** कदाचित् काक्का कदाचिदपि विशिष्य परीक्षितुं न शक्यते इत्यर्थः। ननु तार्किका नैयायिकादयः **परीक्षितुं** परीक्षां कर्तुं विदग्धा इत्यत आह–**तर्कपथोद्धतः** तर्कपथे तर्कमार्गे उद्धतः इदं सत्यमिदमसत्यमिति विवेकमनादृत्य प्रवृत्तः, तर्कपथोद्धतः परपराभवितुं सत्यासत्यविवेकमकृत्वेव अनल्पतर्कतर्कणरसिकः, **जनः** लोकः, तथा च न तेन विशिष्य गुणपरीक्षायुक्ता, तर्हि किमत्र तत्त्वमित्याकाङ्क्षायामाह–**यस्य** यत्पुरुषस्य, **यदेव** यत्फलसाधनमेव, **अभिमतम्** इष्टं तच्छिवाय तस्य कल्याणाय, तदेव तत्फलसाधनमेव, इति एवप्रकारोपदेशेन, **मूढैः** शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्मुग्धैः, **जगत्** विश्व, **मोहितं** मोहगर्त्ते पतितमित्यर्थ ॥१०॥

मूढो यदिष्टमप्यबहुश्रुतैः प्रशस्यत इत्याह—

परस्परान्वर्थितया तु साधुभिः
कृतानि शास्त्राण्यविरोधदर्शिभिः ।
विरोधशीलस्त्वबहुश्रुतो जनो
न पश्यतीत्येतदपि प्रशस्यते ॥११॥

परस्परान्वर्थितयेति। "अविरोधदर्शिभिः साधुभि. परस्परान्वर्थितया तु कृतानि शास्त्राणि विरोधशीलोऽबहुश्रुतो जनस्तु न पश्यति इति एतदपि प्रशस्यते" इत्यन्वय । **अविरोधदर्शिभिः** नित्यत्वानित्यत्वादिधर्माणामवच्छेदकभेदेनैकत्र समावेशसम्भवान्न विरोध इत्येवमविरोधं पश्यद्भिः, **साधुभिः** मुनिप्रवरैः, **परस्परान्वर्थितया** परस्परमन्योऽन्यमन्वितोऽर्थः नित्यत्वमन्तरेणानित्यत्वं नोपपद्यते, अनित्यत्वमन्तरेण नित्यत्व नोपपद्यते निर्विशेषं सामान्य न सम्भवति,

सामान्यविकलो विशेषो न सम्भवतीत्यतो नित्यत्वाद्यन्वितोऽनित्यत्वाद्यर्थं, अनित्यत्वाद्यन्वितो नित्यत्वाद्यर्थः, तद्वृत्तया वाचकत्वसम्बन्धेन तत्सम्बन्धितया, **तु** पुनः, **कृतानि** निर्मितानि, **शास्त्राणि** शासनानि, **विरोधशीलः** विरोधस्वभावः, **अबहुश्रुतः** बहुशास्त्रावलोकनकर्ता न बहुश्रुतोऽबहुश्रुतोऽल्पज्ञः, **जनः** पुनः, **न पश्यति** शास्त्राणि न पश्यति, **इति** एतस्मात् कारणात्, **एतदपि** अनन्तरमुपदर्शित मूढोपदिष्टमपि, **प्रशस्यते** अबहुश्रुतैः प्रशस्यते ॥११॥

यद् यत् साध्यं वस्तु तत्र तदेव भवितुमर्हति न त्वन्यत इति वस्तुस्थितौ कर्मसाध्ये वस्तुनि ज्ञानसाध्यः त्वं न भवति, समानेषु यस्य न रागः, तस्य विशेषेऽप्यरागो युक्तः, एवं व्यवस्था परित्यक्तवस्तु वादिषु साधुस्वभावो न सभवतीति न तत्कृत शास्त्र साधुकृतमित्याह--

यदग्निसाध्यं न तदम्भसा भवेत्
प्रयोगयोग्येषु किमेव चेतसा ।
समेष्वरागोऽस्य विशेषतो नु किं
विमृश्यतां वादिषु साधुशीलता ॥१२॥

यदग्निसाध्यमिति। यथाश्रुतानुसार्येवात्रान्वयः। **यद्** वस्तुतापादिकम्, **तद् अग्निसाध्यं** वह्निसाध्यं, **न तद् अम्भसा** जलेन न भवेत्, **प्रयोगयोग्येषु** प्रकृष्टकर्मयोगसाध्येषु, **चेतसा** मनसा, **किमेव** न किञ्चित्, मनसा कर्मसाध्यं वस्तु कर्मणि कृतमेव भवितुमर्हति न तु मनोचिन्तनमात्रेण, प्रयाससाध्यं वस्तु प्रयासेनैव, न तु ज्ञानमात्रेणेत्यर्थः। **समेषु** समानेषु, **अस्य** वादिनः, **अरागो** रागाभावो, तर्हि **विशेषतः** विशेषरूपेण, **नु** इति वितर्के, **किं** किं स्यात्, **विमृश्यतां** विचार्यताम्, **वादिषु** एकान्तवादिषु, **साधुशीलता** साधुस्वभावः, विमर्शे क्रियमाणेषु तु न वादिषु साधुशीलता समस्तीत्यर्थः ॥१२॥

वादिषु साधुशील्ता चेत् विशेषतः कस्यचित् प्रशसाऽपि वादिना विधेयेति विशेषतः प्रशसामपि करोत्येवेत्याह--

यथैव दृष्टं तपसा तथा कृतं
न युक्तिवादोऽयमृषेरिदं वचः ।

विवदमानयोस्तयोः वाक्यार्थपरीक्षणक्षमो यदि तृतीयो भवेत् तदा मध्यस्थस्थानीयः स विवाद शमयितु समर्थ इति तृतीयस्यावश्यकतेत्याशयेनाह-**यदा-पुनः स्युः** विवादनिवृत्तिप्रयोज्यवस्तुनिर्णयानुरोधेन वाक्यार्थपरीक्षणक्षमाः त्रयो यदि स्युः, तदा मा पुरातनभक्त, **अतीत्य** अतिक्रम्य तत्त्रयमध्येऽगणयित्वा, **त्रितयं न भविष्यति** न स्यात्, तथा च पुरातनपक्षसमर्थकस्य मम परीक्षकमध्यप्रवेशे परीक्षातोऽपि पुरातनोक्तमान्यता स्यादेवेति पराकूत, तत् प्रतिक्षेप्तुमाह–, **एतत्** मामतीत्य त्रितयं न भविष्यतीत्येतद्वचन, **बृहत्** आग्रहाविष्टवचनत्वादधिकम् **उच्यते** परेण कथ्यते । यस्य कस्यचिद्विशिष्टज्ञानशालित्व तस्य सर्वस्य भवतोऽन्यस्य वा वाक्यार्थपरीक्षणक्षमत्वं स्यादेवेति वादिप्रतिवादिमध्यस्यैतत्त्रितये मध्यस्थतया तव प्रवेशो नान्यस्येति युक्तिरिक्त वचनम्, एवं च परीक्षादरणे पुरातनोक्तत्वमकिञ्चित्करं य एवार्थो युक्त्योपपद्यते स एवार्थः पुरातनोक्तोऽभिनवोक्तो वा आदरणीय इत्याशय· ॥ १९ ॥

पुरातनकृतौ परीक्षकानुसारी स्वस्यारुचिं प्रकटयति—

> **पुरातनैर्यानि वितर्कगर्वितैः**
> **कृतानि सर्वज्ञयशःपिपासुभिः ।**
> **घृणा न चेत् स्यान्मयि न व्यपत्रपा**
> **तथाहमद्यैव न चेद् धिगस्तु माम् ॥२०॥**

पुरातनैरिति । "वितर्कगर्वितै सर्वज्ञयशःपिशासुभि· पुरातनैर्यानि कृतानि चेद् घृणा मयि न स्यात् व्यपत्रपा, तथाऽहमप्यैव न चेत् मां धिगस्तु" इत्यन्वयः । **वितर्कगर्वितैः** विविधास्तर्काः विषयपरिशोधकात्माश्रयान्योऽन्याश्रयचक्रकानवस्थालाघव-गौरवादिलक्षणा वितर्काः तै· गर्विता एतादृशान् वितर्कान् कर्तुं वयमेव समर्था इत्यभिमानशालिनो वितर्कगर्वितास्तैः, **सर्वज्ञयशःपिपासुभिः** अयं सर्वज्ञः इत्येवं लोकव्यापिवचनप्रवर्त्तनलक्षणं यत्सर्वज्ञयशः तत् पिपासुभिस्तन्मे भवत्वितीच्छावद्भिः, **पुरातनैः** प्राचीनै·, **यानि** शास्त्राणि, **कृतानि** रचितानि, **चेत्** यदि, **घृणा** भूतानुकम्पा, **मयि, न स्यात्** भवेत्, **न व्यपत्रपा** त्रपा लज्जा अपगता त्रपा

अपत्रपा निर्लज्जता, विगता अपत्रपा व्यपत्रपा सलज्जता, न मयि सलज्जता न भवेत्, निर्घृणो निर्लज्जश्चाहं यदि स्यात्तथाऽहमद्यैव, पुरातननिर्मितशास्त्रसदृश-शास्त्रनिर्माणदक्षोऽहमद्यैव भवेयम्, न चेत् ईदृशशास्त्रनिर्माणकर्त्ता यदि नाहं भवेयम्, तदा **मां धिगस्तु** धिक्कारो भवत्वित्यर्थः ॥२०॥

यथा पुरातनैः शास्त्राणि निर्मितानि तथा नवीनैरपि, तत्र नवीननिर्मितशास्त्रा-ण्युन्नतिं गतानीति तेष्वेवादरो विधेयो न पुरातननिर्मितशास्त्रेष्वित्याह--

कृतं न यत् किञ्चिदपि प्रतर्कतः
स्थितं च तेषामिव तन्न संशयः ।
कृतेषु सत्स्वेव हि लोकवत्सलैः
कृतानि शास्त्राणि गतानि चोन्नतिम् ॥२१॥

कृतं चेति । ''प्रतर्कतः यत् किञ्चिदपि कृतं च, तेषामिव स्थितं च तत्, न संशयः, कृतेषु सत्स्वेव, हि, लोकवत्सलैः कृतानि शास्त्राणि उन्नतिं च गतानि'' इत्यन्वयः । **प्रतर्कतः** प्रकृष्टतर्कत', **यत्किञ्चिदपि** यत्किमपि, **कृतं च** नवीनैः निर्मितं च, **तेषामिव** पुरातनाना कृतं यथा व्यवस्थितं तथा, **स्थितं च** व्यवस्थितं च तत् नवीनं कृतम्, **न संशयः** एतद्विषये संशयो नास्ति, एवं सत्यपि यो विशेषस्तमाह–**कृतेषु सत्स्वेव** प्राचीननवीननिर्मितशास्त्रेषु सत्स्वेव, यतः **लोकवत्सलैः** लोकाना सन्मार्गोपद-र्शकत्वेन प्रियतमैरभिनवैरपि तीर्थकृद्भिः, **कृतानि** निर्मितानि **शास्त्राणि** शासनानि, **उन्नतिं च** अतिप्रकृष्टपदवीं च, **गतानि** प्राप्तानीत्यर्थः ॥२१॥

प्रस्तुतायां परीक्षायां विवादं परित्यज्य यस्य यत्समुचितं प्रतिभाति तत्तेन वक्तव्यं परेण चाग्रहं परित्यज्य तत् स्वकर्त्तव्यमित्येवं परीक्षितोऽर्थ उपादेयो भव-तीत्याशयेनाह–

जघन्यमध्योत्तमबुद्धयो जना
महत्त्वमानाभिनिविष्टचेतसः ।
वृथैव तावद् विवदेयुरुत्थिता
दिशन्तु लब्धा यदि कोऽत्र विस्मयः ॥२२॥

सुबुद्धमेवेति विशेषतो नु किं
प्रशंसति क्षेपकथा किलेतरा ॥१३॥

यथैवेति । **तपसा** तपोबलेन, **यथैव** येनैव प्रकारेण, **दृष्टं** साक्षात्कृतं, **तथा** तेन प्रकारेण, **कृतं** शास्त्रं रचितम्, **अयं** शास्त्रे प्रतिपादितो वादः, **युक्तिवादः** युक्तिप्ररूपणमात्रमेव, न त्वत्र तत्त्वम्, इति **न** नैव, यतः, **इदं** शास्त्रे यत् प्ररूपणं तत्, **ऋषेः** परमर्षे, **वचः** इति एवं, **विशेषतः** विशेषरूपेण, **सुबुद्धमेव** ज्ञातमेव, **इतरा** परमर्षिवचनभिन्ना, **क्षेपकथा** परवादिनं आक्षेपकथा, **किलेति** सभावनायाम्, परीक्षामन्तरेणैव पुरातनोक्तमादेयमिति प्राचीनानुसारिणोऽभिप्रायप्रकटनम् ॥१३॥

इत्थं पुरातनप्रशसनं न युक्तमित्यावेदनायाह—

कथं नु लोके न समानचक्षुषो
यथा न पश्यन्ति वदन्ति तत्तथा ।
अहो न लोकस्य न चात्मनः क्षमां
पुरातनैर्मानहतैरुपेक्षितम् ॥१४॥

कथं न्विति । **लोके** इदानीन्तनविद्यमानलोके, **नु** इति वितर्के, **कथं** कस्मात् कारणात्, **समानचक्षुषः** समानदृष्टयो जना , **न** न विद्यन्ते, य **यथा** न, **पश्यन्ति** येन प्रकारेण नावलोकयन्ति, **तद्** वस्तु, **तथा** तेन प्रकारेण, **वदन्ति** कथयन्ति, इदानीन्तनलोका अपि यद्वस्तु येन रूपेण साक्षात्कुर्वन्ति तद्वस्तु तेनैव रूपेण कथयन्तीति समानदृष्टय एवेत्याशय । **अहो** आश्चर्यमेतत्, यदुत **मानहतैः** प्रमाणखण्डितै., **पुरातनैः** प्राचीनै , **लोकस्य** जनस्य **क्षमां** शान्ति, अधिकृत्येति दृश्यम्, **न** नैव, **उपेक्षितं** यथाऽयं लोको वदति तथा भवतु नाम का नो हानिहित्येवमुपेक्षा न कृता, **च** पुन , **आत्मनः** स्वस्य क्षमामधिकृत्य न उपेक्षितं कुर्वन्तु नाम लोका येन केनचित् प्रकारेण मम गतापनोदन कि तेनेत्येवमुपेक्षा न कृता तथा तथा च मानरहिततत्त्वप्ररूपकशास्त्रप्रणयनेन लोकस्य स्वस्य चाशान्तिः कृतैवेत्यर्थ ॥१४॥

यदि परीक्षामन्तरेण न वस्त्वभ्युपगन्तुमर्हं तदा परीक्षाक्षेप्तृणां शठानां निग्रहाय सभायां नृपस्याप्यावश्यकता, अन्यथा तु नृपस्य नावश्यकत्व, धर्मस्य धिक्कार एव कलेरेव सर्वत्र विजयः, शठैः कृपणस्य जगतो मोहगर्ते निपात एवेत्याह—

वृथा नृपैर्भर्तृमदः समुह्यते
धिगस्तु धर्मं कलिरेव दीप्यते ।
यदेतदेवं कृपणं जगच्छठै-
रितस्ततोऽनर्थमुखैर्विलुप्यते ॥१५॥

वृथेति । "यदेतत् कृपणं जगत् इतस्ततोऽनर्थमुखैः शठैर्विलुप्यते, एवं नृपैर्भर्तृमदः वृथा समुह्यते धर्मं धिगस्तु कलिरेव दीप्यते" इत्यन्वयः। **यदेतत्** च, **अनर्थमुखैः** परिदृश्यमान, **कृपणं** कृपापात्र, **जगद्** जननिकरं, **इतस्ततः** लोकाना समक्षमसमक्षं अनर्थमेव मुखे येषां तेऽनर्थमुखास्तैः, **शठैः** शाठ्यशालिभि-र्बुधापसदैः, **विलुप्यते** धर्ममार्गात् प्रच्याव्य मोहगर्ते निपात्यते, **एवं** सति, **नृपैः** भूपतिभि., **भर्तृमदः** स्वामित्वाभिमानः, **वृथा** निष्प्रयोजनमेव, **समुह्यते** सम्यगूह्यते, **धर्मं** प्रति, **धिग्** धिक्कारो भवतु, **कलिरेव** अधर्मो दीपकः, कलि-कालाख्यः, **दीप्यते** प्रकाशते इत्यर्थः ॥१५॥

परीक्षाकातराणां पुरातनानुसारिणां शठाना दुश्चेष्टितमुपदर्शयितुमाह—

यदा न शक्नोति विगृह्य भाषितुं
परं च विद्वत्कृतशोभमीक्षितुम् ।
अथाप्तसंपादितगौरवो जनः
परीक्षकक्षेपमुखो निवर्तते ॥१६॥

यदेति । "विद्वत्कृतशोभ परं विगृह्य भाषितुं ईक्षितु च यदा न शक्नोति अथ आप्तसंपादितगौरवो जनः परीक्षकक्षेपमुखो निवर्त्तते" इत्यन्वयः । **विद्वत्कृतशोभं** विद्वद्भिः पण्डितैः कृता शोभा प्रशंसा यस्य स विद्वत्कृतशोभस्, **परं** परीक्षा-ऽवश्यमेव विधेयेति, वादिनम् **विगृह्य** पराजित्य, **भाषितुं** वक्तुम्, **ईक्षितुं च**

अवलोकयितु च, **यदा न शक्नोति** न समर्थो भवति, **अथ** तदनन्तरं, **आप्तसंपादितगौरवः** आप्तेन स्वाभिमताप्तेन संपादितः त्वं कृतविद्योऽसि, प्रवीणोऽसीत्यादिप्रशंसावचननिष्पादितं गौरव गुरुत्वं यस्य स आप्तसंपादितगौरवः, **जनः** शठः, **परीक्षकक्षेपमुखः** परीक्षकस्य क्षेपे तिरस्कारे मुखमाननं यस्य स परीक्षकक्षेपमुखः सन्, **निवर्तते** कथातो निवर्त्तते ॥१६ ॥

कीदृशं परीक्षकतिरस्कारवचनमस्येत्याकाङ्क्षाया तद्वचनमुपदर्शयति—

त्वमेव लोकेऽद्य मनुष्य ! पण्डितः
खलोऽयमन्यो गुरुवत्सलो जनः ।
स्मृतिं लभस्वारभ नेति शोभसे
दृढश्रुतैरुच्छ्वसितुं न लभ्यते ॥१७॥

त्वमेवेति । "हे मनुष्य ! लोके अद्य त्वमेव पण्डितः अयमन्यो गुरुवत्सलो जनः खल', स्मृतिं लभस्व, आरभ, न शोभसे दृढश्रुतैः उच्छ्वसितुं न लभ्यते" इत्यन्वयः । हे **मनुष्य !** साधारणमनुष्यमात्र ! **लोके** अस्मिन् लोके, **अद्य** इदानीं, **त्वमेव** परीक्षाया आवश्यकत्वं ब्रुवाणः त्वमेव, **पण्डितः** विद्वान्, **अयम**स्मदादिः, **अन्यः** त्वत्तो भिन्न , **गुरुवत्सलः** गुरुणा स्नेहपात्र, **जनः**, **खलः** दुष्टः, **स्मृतिं लभस्व** स्वात्मनः स्मरणं कुरु, **आरभ** कथातो विरामं कुरु, **न शोभसे** पण्डितानामस्मादृशां सभायां न शोभसे, **दृढश्रुतैः** दृढं श्रुतं श्रुतज्ञानं येषा ते दृढश्रुताः तैस्सह **उच्छ्वसितुं** किञ्चिदपि वक्तु, **न लभ्यते** न पार्यत इति, एवं परीक्षकक्षेपमुखः इत्यर्थः ॥१७॥

पुनः पुरातनानुसारिणा परीक्षकक्षेपवचनमुपदर्शयति—

परेऽद्य जातस्य किलाद्य युक्तिमत्
पुरातनानां किल दोषवद्वचः ।
किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं
प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति ॥१८॥

परेऽद्य जातस्येति । "जाल्मः कृतः" इत्यस्य स्थाने "जाल्मैः कृतं" इति पाठो युक्तः । "परेऽद्य जातस्य किल अद्य वचो युक्तिमत् पुरातनानां दोषवद्वचः किल जाल्मैः कृतमित्युपेक्षितुं प्रपञ्चनायास्य जनस्य किमेव सेत्स्यति" इत्यन्वयः । **परेऽद्य जातस्य** द्वि-त्रिदिनाभ्यन्तरदिवसे उत्पन्नस्य, लोकोक्त्यनुकृतिरियं, न ह्येवम्भूतस्य जनस्यातिबालस्य स्पष्टं वचनमपि सम्भवति, किन्त्वनेन नवीनस्येति लक्ष्यते, **किले**त्यसम्भावितसम्भावनायाम्, **अद्य वचः** एतद्दिवससमुद्भवं वचनम् अनेनाप्यत्यभिनवं वचनं लक्ष्यते, **युक्तिमत्** सयुक्तिकार्थप्रतिपादकम्, **पुरातनानां** चिरन्तनानां पुरुषाणाम्, **दोषवद्वचः** दोषोपेतार्थप्रतिपादक वचनम्, **किल** सम्भाव्यते, **इदं किल** जाल्मैः मूर्खैः, **कृतं** रचितं, न खलु पण्डितानामेतादृशं वचन सम्भवति, **इति** एवं प्रकारेण, **उपेक्षितुं** पुरातनवचनोपेक्षां विधातुम्, **प्रपञ्चनाय** व्यामोहाय, **अस्य जनस्य**, पुरातनानुरक्तस्यास्मद्विधजनस्य अस्य प्रपञ्चनायेति पूर्वेणान्वयः, **किमेव सेत्स्यति** नैव सिद्धिं यास्यति नैतावता **पुरातनानां** वचनमनुपादेयं नवीनानां वचनमुपादेयमिति पुरातनानुसारिनिगर्व. ॥१८॥

अत्र परीक्षामन्तरेण न पुरातनवचनमुपादेयमिति परीक्षकानुसारी आह—

त्रयः पृथिव्यामविपन्नचेतसो
न सन्ति वाक्यार्थपरीक्षणक्षमाः ।
यदा पुनः स्युर्बृहदेतदुच्यते
न मामतीत्य त्रितयं भविष्यति ॥१९॥

त्रय इति । "पृथिव्यामविपन्नचेतसो वाक्यार्थपरीक्षणक्षमास्त्रयो न सन्ति, यदा पुनः स्युः मामतीत्य त्रितयं न भविष्यतीत्येतद् बृहदुच्यते" इत्यन्वय. । **पृथिव्यां** समग्रेऽपि भूमण्डले, **अविपन्नचेतसः** न विपन्न विनष्टं चेतो ज्ञान येषां ते अविपन्नचेतस. देदीप्यमानज्ञानवत, **वाक्यार्थपरीक्षणक्षमाः** वाक्यार्थस्य परीक्षणे अयमत्र वाक्यार्थो भवितुमर्हति अय च नेत्याकारकपरीक्षायां, क्षमाः समर्थाः, **त्रयः** त्रित्वसङ्ख्यावन्तः, प्रमातार., **न सन्ति** न विद्यन्ते, द्वावेव वाक्यार्थपरीक्षणक्षमौ स्यातां का नो हानिरिति, न च वाच्य तयोरेक कथयेदय वाक्यार्थः द्वितीयश्च कथयेन्नाय वाक्यार्थ । त्विन्त्वितोऽन्य एवं

जघन्येति । **जघन्यमध्योत्तमबुद्धय** एकोऽपकृष्टबुद्धिः अपरो मध्यमबुद्धिः, नात्यन्तापकृष्टबुद्धिर्नाप्यन्तोत्कृष्टबुद्धिः, किन्तु तन्मध्यव्यवस्थितबुद्धिः, तदुभयविलक्षण· पुनः उत्तमबुद्धिरत्यन्तोत्कृष्टबुद्धिरित्येव जघन्यमध्योत्तमबुद्धयः, **महत्त्वमानाभिनिविष्टचेतसः** महत्त्वमानयोरभिनिविष्टानि चेतांसि येषां ते महत्त्वमानाभिनिविष्टचेतस. अह महान् मा पूजयन्ति बहवो जना इति लोकानां माननीयोऽहमित्येव महत्त्वमानाभिमानकदाग्रहगृहीतचेतसः, **उत्थिताः** स्वस्वमर्यादामुल्लङ्घ्य स्थिता सन्त वृथैव प्रयोजनमन्तरेणैव, तावदिति वाक्यालङ्कारे, **विवदेयुः** विवाद कुर्यु., **लब्धा यदि** तत्त्वार्थलाभशालिनो यदि तर्हि, **दिशन्तु** इदमत्र तत्त्वमित्येवमुपदिशन्तु, **अत्र** एतल्लब्धतत्त्वार्थोपदेशे, **को विस्मयः** न किमप्याश्चर्यमित्यर्थ ॥२२॥

परीक्षाविषयमुपदर्शयति—

अवश्यमेषां कतमोऽपि सर्ववि-
ज्जगद्धितैकान्तविशालशासनः ।
स एष मृग्यः स्मृतिसूक्ष्मचक्षुषा
तमेत्य शेषैः किमनर्थपण्डितैः ॥२३॥

अवश्यमिति । "एषा कतमोऽपि जगद्धितैकान्तविशालशासनोऽवश्य सर्ववित् स्मृतिसूक्ष्मचक्षुषा स एष मृग्य तमेत्य अनर्थपण्डितै शेषै किम्" इत्यन्वय । **एषां** नवीनपुरातनाना मध्ये, **कतमोऽपि** यः कश्चिदेकः, **जगद्धितैकान्तविशालशासनः** विश्वजनस्य हित जगद्धित जगद्धिते एकान्तमविनाभावि जगद्धितैकान्तं विशाल विस्तीर्णं च तच्छासनं च विशालशासन जगद्धितैकान्तं विशालशासनः यस्य स जगद्धितैकान्तविशालशासन. जगद्धितैकान्तावबोधकविस्तीर्णशास्त्रकर्त्ता, **अवश्यं** निश्चितं, **सर्ववित्** सर्वज्ञः, **स्मृतिसूक्ष्मचक्षुषा** पूर्वापरशास्त्रावबोधजन्यतदर्थानुभवोपजातदृढसंस्कारप्रभवाशेषानुभूतार्थविषयकस्मरणलक्षणसूक्ष्मनेत्रेण, **स एषः** सर्वज्ञ. सः, **मृग्यः** अन्वेषणीय., **तं** सर्वज्ञ, **एत्य** ज्ञात्वा, **अनर्थपण्डितै.** अनिष्टार्थविषयकपाण्डित्यशालिभिः, **शेषैः** सर्वज्ञभिन्नैः कि न किञ्चिदिति तदन्वेषण न

न कार्यं, तथा च सर्वज्ञ एव परीक्षाविषय इत्यर्थः ॥२३॥

परीक्षया यस्य वचनमुपपद्यते तस्य परिग्रहः कार्यः। परीक्षया यथा जिनवचनं युक्तिमत् तथा यदि बुद्धादीनामपि तथाऽस्तु, बुद्धोऽपि सर्वज्ञः, नोचेत् तदा जिन एवाप्तः सर्वज्ञ इति तद्वचनमेवोपादेयमित्याशयेनाह—

यथा समाप्तस्य विनिश्चितं वच-
स्तथा परेषामपि तत्र का कथा।
परीक्ष्यमेषां त्वनिविष्टचेतसा
परीक्ष्यमित्यर्थरुचिर्न वञ्च्यते ॥२४॥

यथेति। "समाप्तस्य वचो यथा विनिश्चितं, तथा परेषामपि, तत्र का कथा, निविष्टचेतसा त्वेषां परीक्ष्यम्, परीक्ष्यमित्यर्थरुचिर्न वञ्च्यते" इत्यन्वयः। **सम** स्याद्वादिनः, आप्तस्य दोषमुक्तस्य मान्यस्य परमगुरोर्जिनस्य, **वचः** वचनं, **यथा** येन प्रकारेण, **विनिश्चितं** बाधारहितार्थकत्वेन निश्चितप्रामाण्यकं, **तथा** तेन प्रकारेण, **परेषामपि** बौद्धादीनामप्याप्तस्य बुद्धादेर्वचनं निश्चितप्रामाण्यकं, **तत्र** तथा वस्तुस्थितौ, **का कथा** को विवादः, निश्चितप्रामाण्यकत्वेन द्वयोरप्युपादेयत्वसम्भवात्, किन्तु अनिविष्टचेतसा तु कदाग्रहरहितचित्तेन पुनः, एषां बुद्धादीनां वचनमिति शेषः, **परीक्ष्यं** अबाधितार्थकमिदं बाधितार्थकं वेति पक्षद्वयविरचनापुरस्सरं बाधितार्थकत्वमबोधा बाधितार्थकत्वेन निष्टङ्कनीयम्, **परीक्ष्यं** परीक्षागोचरीकृतम् इति एतावता, **अर्थरुचिः** तदर्थेच्छा, **न वञ्च्यते** न विहन्यते, किन्तु तदर्थश्रद्धा सुदृढा भवतीत्यर्थः ॥२४॥

जैनेन दूषिते बुद्धादिमते बौद्धादयः स्वशास्तारं तटस्थं विधाय परदूषणोद्धारप्रवृत्ता भवन्ति तत्प्रवृत्तिरपि न समीचीनेत्याह—

मयेदमभ्यूहितमित्यदोषलं
न शास्तुरेतन्मतमित्यपोह्यते।
तथापि तच्छिष्यतयैव रम्यते
कृतज्ञतैषा जलताऽल्पसत्त्वता ॥२५॥

मयेदमिति । "अदोषलं मयेदमभ्यूहितमिति शास्तुरेतन्मतं नेत्यपोह्यते, तथापि तच्छिष्यतयैव रम्यते एषा कृतज्ञताऽल्पसत्त्वता वा" इत्यन्वयः । **अदोषलं** दोषं लातीति दोषलं न दोषलमदोषलं परोपदर्शितदोषविनिर्मुक्तम्, **मया** बुद्धाद्यनुयायिना धर्मकीर्त्यादिना, **इदं** अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यदुत विरुद्धधर्माध्यासः स चेन्न भेदको विश्वमेकं स्यादित्यादिकम् , **अभ्यूहितं** अभितस्तर्कितं, **इति** ममाभिनवतर्कविषयत्वतः, **शास्तुः** मम शासनकर्त्तुर्बुद्धादेः, **एतन्मतं न** तथा चैतद्दोषगुणाभ्यामनुपपत्त्युपपत्तिभ्यां पराजयो जयो वा ममैव न तु शास्तुः, **इति** एवं, **अपोह्यते** स्वशासनकर्त्तुर्मतं परोक्तदोषभाजनं मा भूदित्याशयेन निराक्रियते, तथापि शासनकर्त्तृमतप्रतिक्षेपेऽपि, तच्छिष्यतयैव बुद्धाद्यन्तेवासितयैव, **रम्यते** धर्मकीर्त्यादिभिर्लोके सुखमनुभूयते, तदेतद्बौद्धादीनां न युक्तमित्यावेदनायाह—**एषेति** इदं न शास्तुरेतन्मतं किन्तु मयाऽभ्यूहितमिति विचारणेत्यर्थः, **कृतज्ञता** अस्मदन्तेवासिनः प्रतिबुद्धेव यदुपकृतं तज्ज्ञोऽहमस्मि तन्न विस्मरामीत्यतः परापादिततन्मतदूषणोद्धारं करोमीत्येवंलक्षणा कृतज्ञता, सा तदोपपन्ना भवेद् यदि यथोक्तमेव बुद्धमतं परापादितदोषविनिर्मुक्तं क्रियेत, न चैवं, स्वकीयं ततोऽन्यदेव मतं दोषविनिर्मुक्तममिधीयत इति बुद्धमतं तु परदोषदूषितमेवेति तन्मततिरस्कारो न कृतज्ञता भवतीति, **जलता** "डलयोरैक्यात्,, जडता, अहो ! मूर्खता, यतस्तन्मतानुयाय्यपि न तन्मते दोषमपाकरोति किन्तु मतान्तरमेव पूत्करोति, **अल्पसत्त्वता** अल्पबलता, बुद्धोक्तेः दूषणस्योद्धारासामर्थ्ये प्रकारान्तरमाश्रितं यत इत्यर्थः ॥२५॥

अन्यापि परविकत्थना न परीक्षाचूलामाधिरोहतीत्याह—

इदं परेषामुपपत्तिदुर्बलं
कथञ्चिदेतन्मम युक्तमीक्षितुम् ।
अथात्मरन्ध्राणि च सन्निगूहते
हिनस्ति चान्यान् कथमेतदक्षमम् ॥२६॥

इदमिति । "परेषामुपपत्तिदुर्बलमिदं, ममैतत् कथञ्चिदीक्षितु युक्तम्, अथ आत्मरन्ध्राणि सन्निगूहते, अक्षमम् एतत् कथमन्यान् हिनस्ति च" इत्यन्वयः ।

परेषाम् अन्यवादिनाम्, **उपपत्तिदुर्बलं** युक्तिदुर्बलं युक्तिरहितं युक्त्याऽनुपपन्नं वा इदं परैरुद्घोष्य मान्यं मन्तव्यम्, **मम** नैयायिकस्य बौद्धस्य वा वादिनः, एतत् एकान्तस्थैर्यं एकान्तक्षणिकत्वं वा मन्तव्यम्, **कथञ्चित्** केनचित् प्रकारेण, **ईक्षितुं** युक्तिदृष्ट्याऽवलोकयितुं, **युक्तं** समीचीनम् । **अथ** पुनः, **आत्मरन्ध्राणि** स्वमतछिद्राणि यानि दूषणनिकरचितानि स्वाभ्युपगतांशानि, तानि च, **सन्निगूहते** सम्यग् आच्छादयति, **अक्षमं** असमर्थम्, **एतत्** परविकत्थनम्, **कथं** न कथञ्चिद्, **अन्यान्** अन्यवादान्, **हिनस्ति च** अप्रमाणतया ज्ञापयति चेत्यर्थः ॥ २६ ॥

एवमियमपि परविकत्थना न परीक्षकानुमोद्येत्याह—

दुरुक्तमस्यैतदहं किमातुरो
ममैष कः किं कुशलोज्झिता वयम् ।
गुणोत्तरो योऽत्र स नोऽनुशसिता
मनोरथोऽप्येष कुतोऽल्पचेतसाम् ॥२७॥

दुरुक्तमिति । "अस्यैतद् दुरुक्तम्, अहं किमातुरः, एषको मम, वयं किं कुशलोज्झिताः, अत्र यो गुणोत्तरः, स नोऽनुशासिता, एष मनोरथोऽपि अल्पचेतसां कुतः" इत्यन्वयः । **अस्य** वादिनः, **एतत्** एतत् कथनं, **दुरुक्तं** असमानकथन, तर्हि एतद्दुरुक्तता यथा परिहृता स्यात् तथा विधीयतां परिकर इत्यत आह– **अहं किमातुर**· यो हि व्याधिग्रस्त स झटिति तदुपशमं विदधाति अहं न दुरुक्ततादोषलक्षणव्याधिपीडितत्वादातुरो येन तदुपशमोद्यतः स्याम्, ननु भवच्छास्तुर्वचनं दुरुक्तं ततस्तद्द्वारा दुरुक्तता तवापि व्याधिरतस्तदपनयनं झटिति विधेयमत आह– **एषको मम** एष दुरुक्तवचनविधाता पुरुषः, को मम, न कोऽपि मम सम्बन्धो, नन्वेतद्वचनमनुसरति भवान् अतो गुरुरेव भवतोऽयमत आह– **वयं किं कुशलोज्झिताः** अयमकुशलमेवोपदिशति तदनुगामिनो यदि वयं स्युस्तदा कुशलोज्झिता वयं स्युः न वयं तथा नातो गुरुरसावित्यर्थः, तर्हि भवतां को हितशिक्षक इत्यत आह—अत्र अस्मिन् जगति, यः

कश्चित् पुरुष, **गुणोत्तरोऽनुपमगणविशिष्टः**, स पुरुषः, **नः** अस्माकम्, **अनुशासिता** अनुशासनकर्त्ता हितशिक्षक., **एष मनोरथोऽपि** एतादृग्मनोऽभिलोपोऽपि, **अल्पचेतसां** अल्पबुद्धीना, **कुतः** न कुतश्चिदित्यर्थः ॥२७॥

गुरुरहमित्यभिमानमात्रेण कश्चित् पुरुषो युक्तायुक्तपरीक्षां कर्त्तुं न विदग्धः किन्तु गुणावबोधप्रभव गौरव यस्य स एव गुरुः परीक्षक इत्यवबोधनार्थाह—

न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते
किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं
कुलाङ्गनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥२८॥

न गौरवाक्रान्तमतिरिति। "गौरवाक्रान्तमति. अर्थतः अत्र किं युक्तं किमयुक्तमिति न विगाहते, हि गुणावबोधप्रभव गौरवम् अतोऽन्यथा कुलाङ्गनावृत्तं भवेत्" इत्यन्वयः। **गौरवाक्रान्तमतिः** गौरवेण गुरुत्वेन विषयतयाऽऽक्रान्ता व्याप्ता मतिर्यस्य स गौरवाक्रान्तमति. स्वविशेष्यकगुरुत्वप्रकारकबुद्धिमान् पुरुष. न वस्तुतो गुरुरेवासौ किन्तु गुरुत्वाभिमानीति यावत्, **अर्थतः** परमार्थतः, **अत्र** अस्मिन्, **किं युक्तं** किं समीचीनं, **किमयुक्तं** किमसमीचीनमिति, **न विगाहते** न विशेषेणावगच्छति, **हि** यतः, **गुणावबोधप्रभवं गौरवं** अस्मिन्नयं-गुण इति यो जानाति स गुरुर्भवतीति यावत्, **अतोऽन्यथा** तस्मादन्यप्रकाराश्रयणे, **कुलाङ्गनावृत्तं भवेत्** यथा मापमापनव्यापृता कुलवधूः मस्तकोपरिस्थितोत्तरीयवस्त्रेण मुखमाच्छदयन्ती परं न मुखं दर्शयति, परिधानवस्त्रान्यथा परिधानतः स्वगुह्यं न गोपयति तथा गुरुत्वाभिमानी पुरुषो बाह्याडम्बरेण स्वश्रद्धाजडान् यथाकथञ्चिदुपदेशदानतः प्रतारयति वास्तविकगुरुत्वाभावान्नवस्तुतत्वं सम्यगुपदिशतीत्यर्थः ॥२८॥

यदि यथावद्वस्तुतत्त्वज्ञत्वाभावान्नान्ये परीक्षकास्तर्हि के परीक्षका इत्याकाङ्क्षायामाह—

न गम्यते किं प्रकृतं किमुत्तरं
किमुक्तमेवं किमतोऽन्यथा भवेत् ।

सदस्सु चोच्चैरभिनीय कथ्यते
किमस्ति तेषामजितं महात्मनाम् ॥२९॥

न गम्यत इति। "कि प्रकृत न गम्यते उत्तर किम्, एव किमुक्तम्, अतोऽन्यथा किं भवेत्, उच्चैरभिनीय सदस्सु च कथ्यते, तेषा महात्मनामजितं किमस्ति" इत्यन्वय। **कि प्रकृतं** प्रस्तुतम्, **न गम्यते** न ज्ञायते, **किमुत्तरं** प्रश्नप्रतिविधान न गम्यते इति सम्बन्धः एवमुत्तरत्रापि, एवमुक्तप्रकारेण, **किमुक्तं** किमभिहितम्, **अत** अस्मात्, **अन्यथा** अन्यप्रकारेण, **किं भवेत्** कि जायेत कि स्याद् वा, एवंविधेषु प्रश्नेषु सत्सु, **उच्चैः** उच्चस्वरेण येन तत्रत्याना सर्वेषां यथावच्छब्दश्रवण भवेत्, **अभिनीय** सदृष्टान्तमुपदर्श्य यैः, **कथ्यते** प्रतिपाद्यते, इदमत्र प्रस्तुतं गुरूपदेश विना न ज्ञायते, अस्य प्रश्नस्येदमुत्तर स्याद्वादतत्त्वज्ञानमन्तरेण न ज्ञायते, अनया वाचेदमभिहित तात्पर्यावबोध विना न ज्ञायते, अनेकान्ततत्त्वानभ्युपगमे एकान्ततत्त्वस्य बाधितत्वाच्छशशृङ्गकल्पत्वात् तत्त्वकथैवोत्सीदेत, इत्येवं यैः, **सदस्सु** विद्वद्गणमण्डितासु सभासु प्रतिपाद्यत इति यावत्, **तेषां** स्याद्वादतत्त्वज्ञानाना, **महात्मनाम् अजितम्** अपराजितं, **किमस्ति** न किञ्चिदस्ति, एकान्तवादिकदम्बकमेव तैः पराजितं भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

ननु सभायामनेकान्ततत्त्वप्रतिपादने धर्माणामनन्तत्वात् प्रत्येकं तत्प्रतिपादनं दुश्शकमिति यस्य यस्य न प्रतिपादन तत्तद्विषयक सशयो न निवर्त्तत इति तन्निवर्त्तनाय दिनान्तरेऽपि कथाऽवश्यकर्त्तव्येति विजय-पराजयव्यवस्थाऽविच्छिन्नकथाप्रवाहसन्ततौ न स्यादेवेत्यत आह—

समानधर्मोपहितं विशेषतो-
ऽविशेषतश्चेति कथा निवर्तते ।
अतोऽन्यथा न प्रतरन्ति वादिन-
स्तथा च सर्वं व्यभिचारवद् वचः ॥३०॥ [वंशस्थछन्दः]

समानधर्मोपहितमिति । "विशेषतोऽविशेषतश्च समानधर्मोपहितं विश्वमिति शेष· इति कथा निवर्तते, अतोऽन्यथा वादिनः, न प्रतरन्ति, तथा च सर्वं वच· व्यभिचारवत्" इत्यन्वय·। **विशेषतः** विशेषरूपेण, **अविशेषतश्च** सामान्यरूपेण च, **समानधर्मोपहितं** तुल्यानन्तधर्मयुक्तं, **विश्वं** जगत्, यावन्तो विशेषाः यावन्ति च सामान्यानि ते सर्वेऽपि धर्माः साक्षात्, परम्परया च यथैकस्मिन् वस्तुनि तथा सर्वस्मिन्नपि वस्तुनीत्येव वस्तुनोऽनन्तधर्मवत्तया विज्ञाते सामान्यविशेषात्मनोऽशेषस्य वस्तुनो विज्ञानं, "जे एगं जाणइ ते सव्वं जाणइ" इति वचनात् ।

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥१॥"

इति वचनाच्च । **इति** स्याद्वादिप्रतिपादितानेकान्तवचनतो वस्तु विज्ञाते सति क्वचिदपि धर्मे संशयाभावात्, **कथा** तत्त्वनिर्णयफलिका वादकथा जय-पराजयफलिका जल्पवितण्डान्यतरकथा वा, **निवर्त्तते** उपशान्ता भवति, तत्त्वनिर्णयफलस्य जय-पराजयफलस्य वा तावतैव निष्पत्तेः, **अतोऽन्यथा** उक्तस्याद्वादोपदिष्टमार्गादन्यमार्गेण, **वादिनः** कथकाः, **न प्रतरन्ति** न कथाम्बुधिपार गच्छन्ति, **तथा च** वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वे व्यवस्थिते एकैकधर्ममात्रप्रतिपादने, **सर्वं वचः**, सर्वं वाक्यं, **व्यभिचारवत्** एकैकधर्ममात्रस्यान्यधर्मनिरपेक्षस्याभावात् तत्प्रतिपत्तिरूपफलाभावे· नान्वयः व्यभिचारवत् । अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तिरूपफलस्य स्याद्वादिवाक्यप्रभवस्यैकान्तवाद्युक्तवचनमात्राभावेऽपि भावे न व्यतिरेकव्यभिचारवच्चेत्यर्थ. ॥३०॥

अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि यो धर्मो यदपेक्षया वर्त्तते तं धर्मं तथैव विभज्य साधयन् स्याद्वादवादी कथायां नावसीदति, किन्तु तथाधर्मेण साध्येन विशिष्टं वस्तु विद्यमानमिति स्वस्य जय पराजयं च परस्यातनोतीत्याह—

यथाधर्मं यस्तु साध्यं विभज्य
गमयेद् वादी तस्य कुतोऽवसादः ।
यदेव साध्येनोच्यते विद्यमानं
तदेवान्यत्र विजयं संदधाति ॥३१॥

यथाधर्ममिति । ''यस्तु वादी यथाधर्म साध्यं विभज्य गमयेत् तस्य कुतोऽवसादः, यदेव विद्यमानं साध्येनोच्यते तदेवान्यत्र विजयं संदधाति'' इत्यन्वयः । **यस्तु वादी** यः कश्चिदनिर्धारितविशेषस्वरूपः कथकः, **यथाधर्मं साध्यं विभज्य** स्वकीयधर्मानातिक्रमेणापेक्षाभेदेन साधनीय वस्तु प्रतिनियतधर्मिणि एतदपेक्षयैतद्रूपेणायमेतस्मिन्नित्येव निमित्तधर्मसाध्यधर्मिणो विभागं कृत्वा, **गमयेत्** मध्यस्थसमक्षं प्रतिवादिनमुद्दिश्य प्रतिपादयेत्, **तस्य** वादिनः, **कुतः** कस्मात्, **अवसादः** अपहृतिः, न कुतोऽप्यवसाद, **यदेव विद्यमानं** यद्येतद्रूपेण यथा विद्यमानं परमार्थं वस्तु, **साध्येन** साधनीयधर्मेण, **उच्यते** कथ्यते, **तदेव** तद्वस्त्वेव, **अन्यत्र** स्वानभ्युपगन्तरि प्रतिवादिनि, **विजयं** पराजय तत्प्रतिमल्लभूते वादिनि जय, वि गतो जयति– व्युत्पत्तौ पराजय इति, विशिष्टो जय इति–व्युत्पत्तौ जय इति विजयपदेन लभ्यते, **संदधाति** सस्थापयतीत्यर्थः ॥३१॥

स्याद्वादिनामस्माकं भगवान् अर्हन् जिन एव शास्ता तदुपदिष्टमार्गेण शीघ्रमेव परमार्थमोक्षसुखावाप्तिरित्यभिप्रायवान् स्तुतिकार आह—

> **मया तावद् विधिनाऽनेन शास्ता**
> **जिनः स्वयं निश्चितो वर्धमानः ।**
> **यः संधास्यत्याप्तवत् प्रतिभानि**
> **स नो जाड्यं भंस्यते पाटवं चेति ॥३२॥**

मयेति । अन्वयो यथाश्रुतानुसार्येव, **मया** सिद्धसेनदिवाकरेण, **तावदिति** वाक्यालङ्कारे, **अनेन विधिना** अन्यशासनार्थबाधितत्वाद्यभिमानपूर्वकस्याद्वादार्थाबाधितत्वादिनिर्णयप्रकारेण, **जिनो** राग–द्वेषाद्यखिलान्तरशत्रुजयस्वभावः, **वर्धमानः** अन्तिमतीर्थकृत्, **शास्ता** समीचीनशासनप्रणयनेन मोक्षमार्गोपदेष्टा, **स्वयं** अन्योपदेशमन्तरेण तदुपदिष्टागमार्थाबाधितत्वादिनिष्टङ्कनेन, **निश्चितः** निर्णीतः, **यः** जिनः, **आप्तवत्** स्वजननी–जनकादिवत्, **प्रतिभानि** प्रतिभोद्भवानि ज्ञानानि, **संधास्यति** समीचीनतया भावनापरम्परातो हृदये स्थापयिष्यति, **स** जिनः, **नः** अस्माकं, **जाड्यं** जडता, **भंस्यते** एवं करामलकवत् पदार्थजात-

मनेकान्तात्मकमागमेनाभिधीयमानमपि सम्यग् नावधारयतीति जडोऽयमिति मस्यते, **पाटवं चेति** अथवा स्याद्वादनिष्णातगुरुपासनया सम्यग् स्याद्वादतत्त्व-मयमवधारयतीति पटुनिपुणोऽयमित्येवं पाटवं मस्यते इत्यर्थः ॥३२॥

षष्ठी द्वात्रिंशिकेयं परमतमनेऽयौक्तिकत्व सुयुक्त्या
विज्ञे संख्यापयन्ती जिनमतघटना सुस्थिता भावयन्ती ।
श्रीमल्लावण्यसूरिप्रथितविवृतितो व्यक्तभावा बुधाना-
मानन्दं पद्यमाना जनयतु सततं वीरभक्त्यैकभूमिः ॥३२॥

॥ इति षष्ठीद्वात्रिंशिकास्तुतिव्याख्या ॥

वादोपनिषद्भिधा

सप्तमी द्वात्रिंशिका।



सन्त्येवान्ये प्रवीणाः परमतघटनालम्पटा वाकूच्छटायां
यस्यां नो तत्त्वचर्चा विलसति सुगमा नापि मानप्रचारः।
सामान्या नो सभाया मितिनयप्रवणास्तार्किका यत्र सभ्याः
सोपास्या विज्ञवर्यैः कथकपरिवृढैरित्युपेया कथाऽपि ॥१॥

जय-पराजयफलिका कथा न नृपसभामृते इति कथके सादरणीयेत्याशयेन सप्तमीं द्वात्रिंशिकामारभमाण प्रथम तावदिद पद्यमाह–

धर्मार्थकीर्त्यधिकृतान्यपि शासनानि
न ह्वानमात्रनियमात् प्रतिभान्ति लक्ष्म्या।
संपादयेन्नृपसभासु विगृह्य तानि
येनाध्वना तमभिधातुमविघ्नमस्तु ॥१॥

धर्मार्थकीर्त्यधिकृतान्यपीति। किञ्चिच्छासन धर्ममधिकृत्य प्रवृत्त यत्र धर्मस्यैवोपदेशस्तदनुष्ठानार्थम् अधर्मस्य च तत् परिहारार्थमुपदेशः, किञ्चिच्छासनं तत्त्वार्थमधिकृत्य यत्र पदार्थानामेवोपदेशः एषा पदार्थानामवगमाद् निश्रेयसाधिगम इति परमपुरुषार्थमोक्षावाप्तये एषा पदार्थाना ज्ञानमावश्यकमिति, किञ्चित् तच्छासनं कीर्तिमधिकृत्य प्रवृत्तम् यत्रातिकर्कशानल्पतर्कप्रचारो बाहुल्येन शास्त्रार्थप्रवृत्तये, शास्त्रार्थेन परान् पराजित्य लोकव्यापिनीं कीर्त्तिमाप्नोतीत्येव **धर्मार्थकीर्त्यधिकृतान्यपि, शासनानि** धर्मशास्त्रार्थशास्त्रवादशास्त्राणि, 'न ह्वानमात्र'इति स्थाने 'नाह्वानमात्र' इति पाठो युक्तः। **आह्वानं** प्रतिज्ञा, तन्**मात्रनियमात्** तन्मात्रकरणात्, **लक्ष्म्या** शास्त्रशोभया, **न प्रतिभान्ति** न शोभन्ते, नहि प्रतिज्ञामात्रेण धर्मस्यार्थस्य कीर्त्तेश्च सिद्धिर्भवति, शास्त्रेण धर्मादीनां प्रतिपादनेऽपि परान् प्रति कथायामेव प्रतिज्ञाहेत्वाद्युपदर्शनतः तेषा सिद्धिर्भवतुमर्हति, यच्छास्त्र यमुद्दिश्य प्रवृत्तं तेन शास्त्रेण तत्सिद्धिरेव तच्छास्त्रस्य लक्ष्मीः सा च न प्रतिज्ञामात्रेण सम्पद्यत इत्यभिसन्धिः।

येनाध्वना येन हेतूदाहारणाद्युपन्यासमार्गेण, तानि धर्मादधिकृतानि शासनानि, **विगृह्य** गृहीत्वा, **नृपसभासु** राजमध्यस्थाद्यलङ्कृतसभासु, **संपादयेत्** निरुक्ततत्तदर्थसिद्धिलक्ष्मीसुशोभितानि कुर्यात्, **तं** मार्गम्, **अभिधातुं** प्रतिपादयितुम्, **अविघ्नम्** विघ्नरहितम्, **अस्तु** भवत्वित्यर्थः ॥१॥

वादिना सभायां यत् कर्त्तव्य तदुपदर्शयति—

साध्यादृते विजयः सुलभः सदस्सु
पार्श्वस्थितेषु हि जयश्च पराजयश्च ।
तस्मादविक्लवमनुल्वणसाधुकारं
सामप्रवीणगणनासमयेषु योज्यम् ॥२॥

साध्यादृते इति । **साध्यादृते** साधनीयं स्वपक्षं विना, **विजयः** कथायां प्रतिवादनो विजयः, **न नैव सुलभ** सुष्ठु लब्धुं शक्यः, **हि** यत्, **पार्श्वस्थितेषु** स्वसमीपतरदक्षिण-वामभागस्थितेषु, **सदस्सु** सभ्येषु सत्सु, **जयश्च पराजयश्च** भवतः, यः स्वपक्ष स्थापयितुं न शक्नोति तस्य पराजयः इति पार्श्वस्थिता सदस्याः प्रकटयन्ति, **तस्मात्** जय-पराजययो. पार्श्वस्थितसदस्याधीनत्वात् **सामप्रवीगणनासमयेषु** साम दाम-दण्ड-भेदाख्यचतुर्विधनीतिषु सामः सान्त्वन तत्र प्रवीणाना समर्थानां पुरुषाणा या गणना परिसख्या तत्समयेषु तत्कालेषु, **अविक्लवं** मनोवैक्लव्यरहित, **अनुल्वणम्** औद्धत्यरहित यत्, **साधुकारं** साधुभवानास्ता साधुभवान् कथयतीत्येवं साधुशब्दप्रयोगसमलङ्कृतं वाक्यं, **योज्यं** योजनीयम् । अत्र 'साध्यादृते' इत्यस्य बहवो विद्वासः सभायामुपस्थितास्तन्मध्यात् कतिपये हितमितमधुरसाधुकारादिवचनव्यवहारतः स्वमतानुकूल्येन व्यस्थापितः स्वमित्रभावमानीताः साध्या परिश्रमोपार्जितत्वेन गीयन्ते, स्ववशस्थितो जन. साध्य इति लोकप्रसिद्धिः अत एव यो यस्य हितोपदेशं न स्वीकरोति स तस्य साध्य इति व्यपदिश्यते, तथा च सध्यादृते स्वपक्षव्यवस्थापितजनादृते इत्यर्थः शोभन इत्यर्थः ॥२॥

सभायां वादिविधेयमुपदिशति—

प्राक् तावदीश्वरमनः सदसश्च चक्षु-
र्मन्तव्यमात्मनि परत्र च किं प्रकारम् ।
यद्यात्मनो हि परिहासजयोत्तरं स्या-
दुक्तोपचारचतुरः प्रतिभोऽन्यथा तु ॥३॥

प्राक् तावदिति । **तावदि**ति वाक्यालङ्कारे, **प्राक्** पूर्वं, **आत्मनि** स्वस्मिन्, **परत्र च** प्रतिवादिनि च, **ईश्वरमनः** सभापते राज्ञो हृदयं, **किं प्रकारं** अस्य वादिनो जयो भवतु प्रतिवादिनश्च पराजयो भवत्वित्यादि कामनासहितम्, उतास्य वादिनः पराजयो भवतु प्रतिवादिनश्च जयो भवत्वित्यादिकामनासहितं चेति तर्कणीयमिति शेषः, **च** पुन, आत्मनि परत्र च सदसः सभाव्यवस्थितजननिकरस्य, **चक्षुः** दृग्, कि प्रकारम्—वादिनि प्रसन्नं, प्रतिवादिनि च क्रूरम्—वादिन प्रसन्नदृष्ट्या पश्यतीति यावत्, वादिनं क्रूरदृष्ट्या पश्यति, प्रतिवादिनं च प्रसन्नदृष्ट्या पश्यतीति वितर्कणीयम्, आत्मनि परत्र च मन्तव्यं किं प्रकारम्, ईश्वरस्य सदसश्च वादिनि प्रतिवादिनं च कीदृशं मन्तव्यं वाद्ययं प्रौढप्रतिभाशालीति नूनमस्य जयः प्रतिवाद्ययं मन्दमतिर्नियतोऽस्य पराजय इत्येवं रूपमेतद्विपरीतं वेति तर्कणीयम्, **हि** यतः, **यदि आत्मनः** वादिनः, **परिहासजयोत्तरं स्यात्** ईश्वरमनः-सदसश्चक्षुर्मन्तव्यं चेति सम्बध्यते, परिहास-जयावुत्तरं उत्तरकाले यस्य तत्परिहासजयोत्तर भवेत्, उत्तरकाले परिहासाभिमुखं जयाभिमुखं वा भवेत् तत्र जयोऽभिलषित एव किं मन्दमति प्रतिवादीकृत्यायं कथायां प्रवृत्तोऽयुक्तोऽस्यानेन सह वाद इत्यादिपरिहासोऽप्युपेक्षणीय एव, अन्यादृशस्तु परिहासो यथाकथञ्चिदुपायेन सह्य इति, **अन्यथा** यदि प्रतिवादिनः परिहासजयोत्तरमीश्वरमनःसदसश्चक्षुर्मन्तव्यं च स्यात् तदा पुनः, 'उक्तोपचारचतुरः प्रतिभः' अस्य स्थाने **'उक्तोपचारचतुरप्रतिभः'** इति पाठो युक्तः । तस्मादविप्लवमित्यादिनोक्तो य उपचारः सभाजनादेः स्वपक्षव्यवस्थित्यनुकूलत्वसम्पादनाय मितयुक्तसम्भाषणादिलक्षण उपचारस्तत्र चतुरा निपुणा प्रतिभा यस्य स उक्तोपचारचतुरप्रतिभो भवेत्, येन सभास्थितजननिकरो नास्य पराजयमुच्चैर्ब्रूयादित्यभिसन्धिः ॥३॥

यदि सभापतिर्नृपो दक्षिणप्रकृतिर्भवेत तदाऽन्येषां विपक्षपक्षपातित्वेऽपि न काचित् क्षतिरित्याह—

सौम्यः प्रभुर्यदि विपक्षमुखाः सदस्याः
स्युस्तत् साधुरेव गमयेत् परिभूय शेषान् ।
तस्मिन् स्वभद्रचरितेऽप्युचितः प्रसादः
सत्कृत्य विग्रहवचःस्तिमितं निहन्यात् ॥४॥

सौम्यः प्रभुरिति । यदि **सौम्यः प्रभुः** अवामप्रकृतिः सभापतिर्नृपो भवेत्, **सदस्याः** सभास्थिता जनाः, **विपक्षमुखाः** विपक्षप्रधानाः परपक्षपातिनः, **स्युः तत्** तदा, **शेषान्** विपक्षमुखान् अन्यान्, **परिभूय** तिरस्कृत्य, **साधुरेव** यः कश्चित् साधुः स एव, **गमयेत्** अस्य पक्षः समीचीन इत्ययं विजयी, अस्य पक्षस्तु न समीचीन इत्ययं पराजित इति प्रतिपादयेत्, **स्वभद्रचरितेऽपि** कल्याणजनकचरणशालिन्यपि, **तस्मिन्** साधौ, **उचितः** योग्यः, **प्रसादः** प्रसन्नस्वभावः, **सत्कृत्य** सम्मानं कृत्वा, **विग्रहवचःस्तिमितं** परेण सह शास्त्रार्थलक्षणयुद्धस्वरूपं यत्परमतखण्डनात्मकं वचनं तेन स्तिमितं जडीभूतं वादिनं, **निहन्यात्** विशेषणस्य विनाशविशिष्टस्य विनाश इति जडत्वनाशाज्जडीभूतवादिनाश इत्यजडो वादी तदानीं सम्वृत इत्यर्थः ॥४॥

सभायां कथं वक्तव्यं वादिनेत्याकाङ्क्षायामाह—

आभाष्य भावमधुरार्पितया कृतास्त्रान्
दृष्ट्याऽवसाद्य च निवर्तितया विनेयान् ।
ब्रूयात् प्रतीतमुखशब्दमुपस्थितार्थं
नोच्चैर्न मन्दमभिभूय मनः परस्य ॥५॥

आभाष्येति । 'कृतास्त्रां' इत्यस्य स्थाने 'कृतास्तान्' इति पाठो युक्तः । "कृतास्तान् भावमधुरार्पितया दृष्ट्या आभाष्य, विनेयान् निवर्त्तितया दृष्ट्या अवसाद्य च परस्य मनोऽभिभूय प्रतीतमुखशब्दमुपस्थितार्थं नोच्चैर्न मन्दं ब्रूयात्" इत्यन्वयः । **कृतास्त्रान्** कृतं परवादिपराजयार्थं निष्पन्नं शास्त्रलक्षणमस्त्रं येषां, तान्

भावेन भक्तिभावेन मधुरं मनोहरं भावमधुरं तेनार्पिता समर्पिता भावमधुरार्पिता, तया **भावमधुरार्पितया, दृष्ट्या** नयनेन, **आभाष्य** संभाषणं कृत्वा, सम्भाषणे तान् प्रति स्वपक्षपातित्वं ख्यापितं स्यादतो दृष्टयैव विलक्षणया तथा पश्यन्ति यथा सम्पादिता इव मान्या भवन्तीति नान्ते तत्प्रतिकूलतां ते गच्छन्तीत्याशयः, **विनेयान्** अन्तेवासिनः, **निवर्तितया** प्रागभिमुखीभूता तदनन्तरमेव विमुखीभूता निवर्त्तिता तया, **दृष्ट्या** नयनेन, **अवसाद्य च** शास्त्रार्थोद्यमात् प्रच्याव्य च, महान्तं मयि प्रतिवादिविजयसमर्थे वक्तरि सति भवतोऽवस्थानमात्रमावश्यकं न न्यूनगुणेन सह वादो युक्त इति भावमधुरार्पितदृष्टिसम्भाषणतोऽवबोध्य, विनेयान् वादोद्यतानपि परवादिपराभवासमर्थान् जानन् नेमे मदीयपक्ष यथावद् व्यवस्थापयितुं समर्था इत्येषां पराजये ममैव पराजयो लोके ख्यापितः स्यात् स्वयं वादभीतोऽयं शिष्यद्वारैव स्वपक्षस्थापनं चिकीर्षतीत्ययोग्यता वा स्वस्य ख्यापिता स्यादिति विनेयावसादनं युक्तम्, **परस्य** प्रतिवादिनः, **मनः** अन्तः-करणम्, **अभिभूय** अहमस्याग्रतः स्वपक्षस्य स्थापनमेतत्पक्षस्य खण्डन करिष्यामि नवेत्यादि शङ्काक्रान्तं कृत्वा, तथा वाक्-शरीर-नयनादीनां स्वस्वक्रियापाटवं प्रकटयति यथा तद् दृष्ट्वा निरुक्तशङ्काक्रान्तत्वात् तति वादिनो मनोऽभिभूत स्यादिति, **प्रतीतमुखशब्दं** प्रतीतश्चासौ मुखशब्दश्च प्रतीतमुखशब्दस्त, प्रतीतः मध्यस्थप्रतिवाद्यादिप्रसिद्धो न तु कोशादित एव विज्ञेय', मुखशब्द' मुखेनैवोच्चारयितुं शक्यः कर्णप्रियो वा, एवंविधम्, **उपस्थितार्थम्** श्रवणानन्तरमेवोपस्थितः स्मृतिविषयोऽर्थो वाच्यो यस्य स उपस्थितार्थस्तं, **नोच्चैः** नात्युच्चस्वरेण यावता तत्रत्यानां कर्णगोचरो भवति ततोऽप्यधिकतरस्वरेण कर्णारुन्तुदेन, **न मन्दं**, नातिसूक्ष्मस्वरेण, येन निकटस्थितानामपि जनानां श्रवणं न भवेत्, किन्तु समस्वरेण, **ब्रूयात्** स्वपक्षं परपक्षखण्डनं वाऽभिदध्यादित्यर्थः ॥५॥

वादिषाड्गुण्यं दर्शयति—

वादास्पदं प्रतिवचश्च यथोपनीत-
मारोप्य यः स्मृतिपथः प्रतिसंविधत्ते।

वैलक्ष्यविस्मृतमदान् द्विपतः स सूक्तैः
प्रत्यानयन् परिजनीकुरुते सदस्यान् ॥६॥

वादास्पदमिति । "यः यथोपनीतं वादास्पदं प्रतिवचश्च स्मृतिपथः आरोप्य प्रतिसंविधत्ते स सूक्तैः वैलक्ष्यविस्मृतमदान् द्विपतः प्रत्यानयन् सदस्यान् परिजनीकुरुते" इत्यन्वय. । **यः** कश्चिद् वादी, **यथोपनीतं** येन प्रकारेण मध्यस्थेनोपदर्शित, **वादास्पद** विप्रतिपत्तिविषयं जगतः क्षणिकत्व-स्थैर्यादिक, **प्रतिवचश्च** प्रतिवादिनो वक्तव्यं च, **स्मृतिपथः** स्मृतिमार्गात्, **आरोप्य** विवादास्पदमिदं अत्रेदं प्रतिवादी स्वीकरोति तस्य स्वपक्षस्थापने इय युक्तिः मत्पक्षखण्डने चेयं युक्तिरिति सर्व स्मृतिमार्गे ध्वानीय, **प्रतिसंविधत्ते** प्रतिविधानं कुरुते, **स** वादी, **सूक्तैः** मधुरवचनादिभिः, **द्विपतः** शत्रून्, **वैलक्ष्यविस्मृतमदान्** वैलक्ष्येण वादिनो दाक्षिण्यादिगुणेन विस्मृतो मदो येषा ते वैलक्ष्यविस्मृतमदास्तान्, **प्रत्यानयन्** शत्रुन् वैलक्ष्यविस्मृतमदान् कुर्वन् सन् , **सदस्यान्** सभास्थितजनान् **परिजनीकुरुते**, अपरिजनं परिजनं करोतीति परिजनीकुरुते सर्वेऽपि सदस्यास्तस्य परिजनाः भवन्तीत्यतो विजयते स वादीत्यर्थः ॥६॥

वादिन षाड्गुण्यमुपदर्श्य तद्वैपरीत्यमुपदर्शयति—

पूर्वं स्वपक्षरचनारभसः परस्य
वक्तव्यमार्गमनियम्य विजृम्भते यः ।
आपीड्यमानसमयः कृतपौरुषोऽपि
नोच्चैःशिरः स वहति प्रतिमानवत्सु ॥७॥

पूर्वं स्वपक्षरचनेति । "यः परस्य वक्तव्यमार्गमनियम्य पूर्वं स्वपक्षरचनारभसो विजृम्भते स कृतपौरुषोऽपि आपीड्यमानसमयः प्रतिमानवत्सु नोच्चैःशिरो वदति" इत्यन्वय. । **य.** कश्चिद् वादी, **परस्य** प्रतिवादिनः, **वक्तव्यमार्गम्** वक्तव्यस्य वचनीयस्य मार्गं पन्थानम्, **अनियम्य** नियमनमकृत्वा, **पूर्वं** प्रथमतः, **स्वपक्षरचनारभसः** स्वपक्षस्य स्वाभिमतस्य रचना निर्माणं तत्र रभसः झटिति प्रवृत्तिर्यस्य स स्वपक्षरचनारभसः, **विजृम्भते** विशेषेण चेष्टते,

स वादी, **कृतपौरुषोऽपि** स्वपक्षस्थापने कृतपराक्रमोऽपि, **आपीड्यमानसमय** आसमन्तात् पीड्यमानः विसंस्थुलं क्रियमाणः समयः अनेन नियमेन वादिना वक्तव्यमनेन च नियमेन प्रतिवादिना वक्तव्यमिति कथा नियमबन्धो येन **स** आपीड्यमानसमयः, **प्रतिमानवत्सु** प्रतिभाशालिविद्वद्गणेषु सत्सु, **उच्चैःशिरः** सन्, **न वदति** वक्तुं न शक्नोतीत्यर्थः ॥७॥

यः कश्चिद् वादी प्रतिवादी वा न यथावदागमार्थमवगच्छति अनधीतागमो वा तस्य प्रतिपक्षेण यथामुखबन्धनं क्रियते तथोपदर्शयति—

नावैमि किं वदसि कस्य कृतान्त एष
सिद्धान्तयुक्तमभिधत्स्व कुहैतदुक्तम् ।
ग्रन्थोऽयमर्थमवधारय नैष पन्थाः
क्षेपोऽयमित्यविशदागमतुण्डबन्धः ॥८॥

नावैमीति । "किं वदसि न अवैमि, एष कस्य कृतान्तः सिद्धान्तयुक्तमभिधत्स्व, एतत् कुह उक्तम्, अयं ग्रन्थः, अर्थमवधारय, एष पन्थाः न, अयं क्षेपः, इत्यविशदागमतुण्डबन्धः" इत्यन्वय. । हे विद्वन् ! त्वं **किं वदसि** किं कथयसि, तन्नाह **अवैमि** अवगच्छामि, तस्माद् वाक्यान्तरेणोक्तमर्थं स्पष्टं प्रतिपादय यथाऽहमवगच्छामि तथा प्रतिपादयितुं न शक्नोषि चेन्न तत्त्वत एतदर्थाभिज्ञोऽसि किन्तु यतः कुतश्चिच्छ्रुतं शब्दमात्रमेव प्रलपसि इत्यभिसन्धिः । एवमग्रेऽपि एषः त्वया प्रतिपादितोऽयमर्थः कस्य जैन बौद्ध-कापिलादीना मध्याद् कस्य तान्त्रिकस्य, **कृतान्तः** सिद्धान्तः, **सिद्धान्तयुक्तं** त्वं यन्मतानुयायी तदीयसिद्धान्ताकलितम्, **अभिधत्स्व** कथयस्व, अन्यथाऽपसिद्धान्तदोषनिगृहीतो भविष्यसि, **एतत्** यत् त्वं कथयसि तत्, **कुह** कुत्र कस्मिन् ग्रन्थे, **उक्तं** अभिहितं, ग्रन्थानभिधाने स्वकपोलकल्पितोऽयमर्थो न श्रद्धेय इत्यभिसन्धिः । **अयं ग्रन्थः** यस्मिन् ग्रन्थे इदमुक्तं स ग्रन्थोऽयम् एवं यदि पृष्टः सन् ब्रूयात् तदा, **अर्थमवधारय अस्य** ग्रन्थस्य त्वदुक्त एवार्थोऽन्यो वाऽर्थस्तं निष्टङ्कय, तदुक्त एवार्थ इत्यर्थनिष्टङ्कनेनेत्याह—**नैष पन्थाः** एष त्वदुक्तः पन्था अर्थनिर्णयमार्गो, **न** नैव, **अथवा** त्वदुक्तं ग्रन्थान्तर्गतमेव न भवति अपि तु केनचित् स्वपक्षसिद्धये, **अयं**

क्षेपः प्रक्षिप्तोऽयम् इति एवंदिशा, **अविशदागमतुण्डबन्धः** न विशदः स्पष्टार्थः अविशदः, अविशद आगमो यस्य स अविशदागमस्तस्य पुंसस्तुण्डस्य मुखस्य बन्धः वाक्प्रवृत्त्यभावः, उक्तदिशा स्पष्ट आगमानभिज्ञः पुमान् सभायां मूकीभूय एवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥८॥

आगमाभिज्ञास्तु नैवं पृष्टा सन्तो मूकीभवन्ति किन्तु समीचीनमुत्तरं वितरन्त्येवेति तान् प्रत्याह–

किंस्वित् कथंस्विदिति साध्यनिगूढवाचः
सिद्धान्तदुर्गमवतार्य विनोदनीयाः ।
धीरस्मितैः प्रतिकथागुणदर्शनैश्च
छद्मानवस्थितकथा हि पिबन्ति तेजः ॥९॥

किंस्विदिति । **किंस्वित्** न सर्वमित्थं किन्तु किञ्चित् किमपि, **कथंस्विद्** न सर्वथैवेत्थं किन्तु कथञ्चित् केनचिदपेक्षयैवम्, **इति** एवं प्रकारेण, **साध्यनिगूढवाचः** साध्ये स्थापनीये स्वपक्षे निगूढ नितरां गूढ सूक्ष्मबुद्धिगम्यतात्पर्यकं वचः वचनं येषां ते साध्यनिगूढवाचो विद्वांसः, **सिद्धान्तदुर्गं** सिद्धान्त एव जैनराद्धान्त एव दुःखेनातिपरिश्रमेणाधिगन्तुं शक्यत्वाद् दुर्गस्तम् अथवा सिद्धान्तस्य जैनागमस्य गुरूपासनमन्तरेणैव मानममन्दमतयोऽन्यतैर्थिका वा सूक्ष्ममतयोऽपि वयमपि जैनागमवेत्तार इत्यभिमानमुद्वहेयुः शिष्यान् वाऽध्यापयेयुरिति बुद्ध्या सन्निवेशितो यो ग्रन्थग्रन्थिलक्षणो दुर्गस्तं, **अवतार्य** अवतारयित्वा, **धीरस्मितैः** तत्रावतारिताः सन्तो यथावत् तदर्थमनवगच्छन्तः शून्यहृदया इवावभासमाना इति धीराणां किञ्चिन्मुखविकसनलक्षणे यद्धासैः, **प्रतिकथागुणदर्शनैश्च** सिद्धान्तोक्तानेककथासाधारणगुणाविर्भावनैश्च, **विनोदनीयाः** आनन्दनीयाः, एतावता का नामेष्टसिद्धिरित्यत आह–**हि** यतः, **छद्मानवस्थितकथाः** छद्मना कपटेन माययाऽनवस्थिता अविश्रान्ता प्रवाहानवच्छिन्ना कथा तत्तद्विशिष्टपुरुषादिचरितवर्णनां, **तेजः** परं प्रति प्रभावं, **पिबन्ति** मधुरतत्कथापरम्पराश्रवणतोऽत्यानन्दनिमग्नाः सन्तः स्वकर्त्तव्यपरम्पराभवासमर्था एवोपजायन्त इति निस्तेजस्कास्ते वादिनोऽनुकूला एवेत्यभिसन्धिः ॥९॥

कथायां कर्त्तव्यमुपदर्शयति—

दुर्नीतमुन्नयति सूक्तमपक्षपातैः
निस्तर्जयन् शठविदग्धमलङ्करोति ।
भग्नाभिसन्धिरपि यानि कथान्तराणि
प्रश्नच्छलप्रहरणोऽयमवन्ध्यविघ्नः ॥१०॥

दुर्नीतमिति । "सूक्तं अपक्षपातैर्दुर्नीतमुन्नयति शठविदग्धं निस्तर्जयन् अलङ्करोति, भग्नाभिसन्धिरपि, यानि कथान्तराणि अयमवन्ध्यविघ्नः प्रश्नच्छलप्रहरणः" इत्यन्वयः । **सूक्तं** रसभावालङ्कारस्तुत्याद्यिगर्भितं वचनं, **अपक्षपातैः** पक्षपातरहितैः स्वघटकवचोभिः, **दुर्नीतं** दुःखेन मार्गे नेतुं शक्य जनम्, **उन्नयति** उन्नतं करोति सन्मार्गस्थितं विदधाति, **शठविदग्धं** शठः सज्जनद्रोहकारी चासौ विदग्धश्च शठविदग्धस्तम्, **निस्तर्जयन्** नितरां तर्जयन् भर्त्सयन् सूक्तं, **अलङ्करोति** तर्जनात्मकमपि सूक्तं शठस्यापि मनः पीडयतीति, **भग्नाभिसन्धिरपि** परस्परमतखण्डनेन भग्नयोस्त्रुटितस्नेहतन्तुकयोरपि वादि-प्रतिवादिनोः अभिसन्धिरपि अभितोऽन्योऽन्यानुस्यूतप्रेमलक्षणसन्धानं यस्य सोऽभिसन्धिः सोऽपि सूक्तम्, यत्र वादी प्रतिवादी वा प्रश्नादिकं करोति तत्र तदन्यतरस्योत्तरास्फूर्तौ जनमनोरञ्जनानि, **यानि कथान्तराणि, अयं** कथान्तरलक्षणः, **अवन्ध्यविघ्नः** अवश्यप्रस्तुतकथाविच्छेदकारी विघ्नः, **प्रश्नच्छलप्रहरणः** प्रश्नस्य वादि-प्रतिवाद्यन्यतरकृतस्य छलस्वरूपः प्रहरणो विनाशकास्त्रविशेष इत्यर्थः ॥१०॥

सद्भावरहितान्तःकरणानपि विदुषो निजमतानुकूलान् विदधीतेत्याह—

उक्तं यथाक्षरपदं प्रतियोजयन्ति
प्रत्युद्वहन्त्यपि जनाचरणैर्वचोभिः ।
सद्भावरिक्तमनसश्च सुविस्मितस्तान्
वाक्यप्रयोजनजडानभिसंदधीत ॥११॥

उक्तमिति । "यथोक्तमक्षरपदं प्रतियोजयन्ति जनाचरणैर्वचोभिः प्रति उद्वहन्त्यपि ये, तान् वाक्यप्रयोजनजडान् सद्भावरिक्तमनसश्च सुविस्मितः सन्

अभिसंदधीत" इत्यन्वयः । **यथा** येन प्रकारेण, **उक्तं** प्रतिपादितं, **अक्षरपदं** अक्षराणां पदानां च समाहारोऽक्षरपदं तत्, **प्रतियोजयन्ति** स्वबुद्धिमाहात्म्यात् येनैव प्रकारेण यान्यक्षराणि पदानि चाभिहितानि तेनैव प्रकारेण न तु व्यत्ययेनान्वयबोधार्थं समभिव्याहृतानि कुर्वन्ति, **जनाचरणैः** जनेषु आसमन्ताच्चरणं प्रचारो येषां तानि जनाचरणानि तैः जनाचरणैः लोकप्रसिद्धैः, **वचोभिः** वचनैः, **उद्वहन्त्यपि** उद्वहनं उपढौकनं कुर्वन्त्यपि, यदेतद्वचनं शास्त्रेऽभिहितं तल्लोकेऽपि प्रसिद्धमिति सर्वतो व्यवहरन्त्यपि, **ये** पण्डिताः, **तान्** पण्डितान्, **वाक्यप्रयोजनजडान्** वाक्यस्य यत्प्रयोजनमत्वविशेषावगमनं तद्द्वारा प्रवृत्त्यादिकं च तत्र जडान् तदनभिज्ञान्, **च** पुनः, **सद्भावरिक्तमनसः** सन् समीचीनो यो भावः वाक्यप्रयोक्तुरर्थविशेषावबोधविषयकं तात्पर्यं तेन स्वविषयकज्ञानजनकत्वसम्बन्धेन रिक्तं शून्यं मनोऽन्तःकरणं येषां ते सद्भावरिक्तमनसस्तान्, **सुविस्मितः** कथमेतादृशा अपि पण्डिता वाक्यस्य प्रयोजनं न जानन्ति वक्तुस्तात्पर्यं च नावगच्छन्तीत्येवं विस्मितः सन्, **अभिसंदधीत** स्वपक्षसम्मुखीकरणमभिसन्धानमिति स्वपक्षसम्मुखान् कुर्वीतेत्यर्थः ॥११॥

मूर्खव्रजेष्वनुमतप्रतिभाविकारान्
विद्वत्सदस्सु निरपेक्ष्य हताभिमानाः ।
उक्त्वा चिरं मदसमुच्छ्वसगर्वितानि
नाम्नाऽपि तस्य भयकुञ्चितमुच्छ्वसन्ति ॥१२॥

मूर्खव्रजेष्विति । "मूर्खव्रजेष्वनुमतप्रतिभाविकारान् उक्त्वा, विद्वत्सदस्सु निरपेक्ष्य हताभिमानाः चिरं मदसमुच्छ्वसगर्वितानि उक्त्वा तस्य नाम्नाऽपि भयकुञ्चितमुच्छ्वसन्ति" इत्यन्वयः । **मूर्खव्रजेषु** मूर्खसमुदायेषु, **अनुमतप्रतिभाविकारान्** [illegible] अनुमतं कस्यचिद्वचने प्रतिभां शास्त्र- [illegible] कस्यचिद्वचने विकारमदो [illegible] **उक्त्वा** कथयित्वा, तथा **विद्वत्सदस्सु** [illegible] **निरपेक्ष्य** [illegible] **हताभिमानाः** हतोऽभि- [illegible] **मदसमुच्छ्वसगर्वितानि** उक्त्वा

विद्वानप्ययं विद्यामदेन मत्तः, अयं शिष्य-प्रशिष्यपरिवारैः समुच्छ्रितः अयं गर्वित
इत्येवं मदसमुच्छ्रयगर्वोपेतानि वचनानि मदसमुच्छ्रयगर्वितानि, **उक्त्वा** कथयित्वा,
तस्य प्रसिद्धार्थकस्तच्छब्द, तत्रैव लोकप्रसिद्धस्य कस्यचित्सभापतेः मध्यस्थस्य वा,
नाम्नाऽपि नाममात्रेणापि, भयकुञ्चितं यथा स्यात्तथा, **उच्छ्वसन्ति** उच्छ्वासं
कुर्वन्ति यत्र यद् योग्य तत्र तदुचितक्रियाविदग्धो न सभ्यानामुपहसनीयो भवती-
त्यभिसन्धिः ॥१२॥

सभायां केनोपायेन के साध्या इत्याकाङ्क्षायामाह—

लोकप्रसिद्धमतयः श्रुतगूढवादैः
साध्याः श्रुतैकरुचयस्त्वपि लोकचित्रैः ।
सामान्यदुर्बलविनिश्चितसंकथाभि-
मानप्रवासनमुदारमतेर्विधेयम् ॥१३॥

लोकप्रसिद्धमतय इति । अत्रान्वयः सम्मुखीनः । **लोकप्रसिद्धमतयः**
लोके प्रसिद्धा मतिर्येषां ते लोकप्रसिद्धमतय. यान् हालिकोऽपि जानाति इमे मति-
मन्त इति लोकप्रसिद्धमतित्व च लोकोपयुक्तव्यावहारिकपदार्थाभिज्ञत्वेन वृद्धपरम्परा-
गतकथानकाद्यभिज्ञत्वेन वा, प्रायस्ते मूढा विचारानभिज्ञा भवन्तीत्यतः, **श्रुत-**
गूढवादैः श्रुते सिद्धान्ते गूढाः स्थूलमत्यगोचरा ये वादास्तै साध्याः स्वपक्षानुकूलत्वेन
व्यवस्थापनीयाः मनोज्ञसिद्धान्तगूढवादास्तत्पक्षसम्मुखास्त इति, **श्रुतैकरुचयस्त्वपि**
श्रुते आगमे एका अद्वितीया रुचिर्येषा ते श्रुतैकरुचयः निरन्तरश्रुताभ्याससमासा-
दितश्रुतगूढार्थतत्त्वज्ञानाः तेऽपि पुनः, ते श्रुततत्त्वविचारैकरसिका लोकप्रसिद्धकथा-
नकादिक नावगच्छन्तीति, **लोकचित्रैः** लोकप्रसिद्धचित्रकथानकादिभिः, साध्या भव-
न्तीत्यर्थः, **उदारमतेः** औदार्यमतिशालिनः पुरुषस्य, **सामान्यदुर्बलविनि-**
श्चितसंकथाभिः सामान्येनानिर्धारितविशेषेण ये दुर्बलाः कुलजातिनामादिभि-
र्विशेषतोऽपरिचिता दुर्बलास्तेषा विनिश्चिता याः संकथाः तद्वृत्ताद्यवबोधककथानका-
ताभिः, **मानप्रवासनं** मानापनोदनं, **विधेयं** कर्तव्यम्, किमिति परिमित-
विद्यादिभिरभिमानं कुर्वन्ति भवन्तः भवादृशा अन्येऽप्येवंविधा विगलितमाना

असुवन्निति सहृदयहृदयानन्दोल्लासककथानकैरुदारमतेर्मनोविनोदनं विधेयं, तत उदारमतिरपि स्वपक्षानुकूलतामञ्चतीत्यर्थः ॥१३॥

उद्धतोऽपि पुरुषो यथासाध्यो भवति तथोपदर्शयति—

> आस्फालयन् दुरितसूचनधीरहस्तैः
> वाक्यान्तरेषु विकिरन् पुरुषः स्फुलिङ्गैः ।
> स्वच्छभ्रुवा कृतकरूपितविस्मयेन
> छिन्नस्मितैरविनयोत्तर एव कार्यः ॥१४॥

आस्फालयन्निति । "दुरितसूचनधीरहस्तैरास्फालयन् वाक्यान्तरेषु स्फुलिङ्गैर्विकिरन् पुरुषः छिन्नस्मितैः स्वच्छभ्रुवा कृतकरूपितविस्मयेन अविनयोत्तर एव कार्यः" इत्यन्वयः । **दुरितसूचनधीरहस्तैः** दुरितस्य स्वगतपापस्य सूचनं सूक्ष्मतया ज्ञापनं तत्र धीराः पटवो दुरितसूचनधीरास्ते च ते हस्ताः कराश्च दुरितसूचनधीरहस्ताः वामदक्षिणभेदेन हस्तस्य द्वैविध्येऽपि बहुवचनं व्यापारबाहुल्यख्यापनार्थमुक्तं, **आस्फालयन्** समन्तात् पीडनं कुर्वन् अन्योऽन्यहस्ताभिघर्षणं शब्दजनकाभिघातलक्षणं कुर्वन्निति यावत्, **वाक्यान्तरेषु** प्रारब्धकथैकवाक्योत्तर-[illegible]वसरेषु, **स्फुलिङ्गैः** परितापजनकाग्निकणसदृशैः धिग् जाल्मपुरुषापसदादिवचनैः, **विकिरन्** [illegible] व्याप्नुवन्, **पुरुषः** उद्धतो जनः, **छिन्नस्मितैः** छिन्नं विनष्टं स्मितमपि दर्शनं येषां ते छिन्नस्मिताः [illegible] जनाः तैः, **स्वच्छभ्रुवा** स्वच्छभ्रुकुटीयुगलेन, कथं-[illegible] **कृतकरूपितविस्मयेन** [illegible] कोपाकलितः [illegible] विस्मयो यस्य स [illegible]विस्मयस्तेन कल्पितरोषविस्मया-[illegible], **अविनयोत्तर एव** विनयस्याभावोऽविनय स्तेनोत्तर[illegible], [illegible] स पुरुषः एव, **कार्यः** कर्तव्यः, [illegible] ॥१४॥

सभायां जनानामन्योऽन्यविरोधात् कथाऽप्रभाजना मा भूदित्यभिसन्धानेनाह—

भूयिष्ठमुन्नदति यस्य कृतान्तदोषान्
यं वा जिगीषति तमुत्सहतेऽपि वा यः ।
ये चाप्यनेन मुषितप्रतिभाः कदाचित्
तेष्वस्य वाक्यमवतार्य विनोदनीयम् ॥१५॥

भूयिष्ठमुन्नदतीति । "यस्य कृतान्तदोषान् भूयिष्ठमुन्नदति, वा यं जिगीषति, वा यः तमुत्सहतेऽपि, कदाचित् ये चापि अनेन मुषितप्रतिभाः, अस्य वाक्यं तेषु अवतार्य विनोदनीयम्" इति सम्बन्धः । **यस्य** वादिनः प्रतिवादिनो वा, **कृतान्तदोषान्** सिद्धान्तदोषान्, **भूयिष्ठं** बहुवारं, **उन्नदति** उच्चस्वरेण कथयति, **वा** अथवा, **यं** वादिनं, प्रतिवादिनं वा, **जिगीषति** जेतुमिच्छति, **वा** अथवा, **यः** कश्चित् पुरुषः, **तं** जिगीषन्त जनम्, **उत्सहते** उत्साहं करोति, भोः शीघ्रं स्वप्रतिपक्षं जयेत्युत्साहजनकं वचनं वदति य इत्यर्थः, कदाचित् कस्मिन्मपि समये, **ये चापि** ये केचित् पुरुषा अपि, **अनेन** प्रकृतपुरुषेण, **मुषितप्रतिभाः** मुषिता क्षयमुपगता प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिर्येषां ते मुषितप्रतिभाः, **अस्य** प्रकृतपुरुषस्य, **वाक्यं** सिद्धान्तदोषादिप्रतिपादकवचनं, **तेषु** अनन्तरोपदर्शितेषु जनेषु, **अवतार्य** अनेनाभिप्रायेणेदमुक्तमित्येवमवतारयित्वा, **विनोदनीय** आनन्दनीयं सभ्यजनसमुच्चयमित्यर्थः ॥१५॥

एवमपि स्वपक्षद्रोही कश्चित् यः साध्यो न कथमपि भवितुमर्हति तं प्रति क उपायः येन सकथा न प्रतिबध्नीयादित्यत आह—

कृत्येषु नादरविपक्तविलोचनो स्यात्
तत्संकथाप्रणिहितोपहतास्तु साध्याः ।
युक्तोपनीतपरिहासमुखांश्च कुर्वन्
पक्षद्विषा परुषयेत् सदसि प्रधानम् ॥१६॥

कृत्येष्विति। "कृत्येषु आदरविषक्तविलोचनो न स्यात् तत्संकथाप्रणिहितोपहतास्तु साध्याः युक्तोपनीतपरिहासमुखांश्च कुर्वन् सदसि पक्षद्विषा प्रधानं परूपयेत्" इत्यन्वयः। **कृत्येषु** कर्त्तव्येषु, **आदरविषक्तविलोचनः** आदरेण विषक्तः समासक्तं विलोचनं यस्य स आदरविषक्तविलोचनः, **न स्यात्** न भवेत्, **तत्संकथाप्रणिहितोपहतास्तु** तत्संकथा कृत्यविषयिणी विचारणा झटितीदं कर्त्तव्यं नेदं कर्त्तव्यमित्यादिरूपा, तस्यां यत् प्रणिहितं प्रणिधानं मनस एकाग्रत्वं तेनोपहताः कर्त्तव्यान्तरविमुखाः पुनः, **साध्याः** स्ववशानुकूलाः, भवन्तीति शेषः, **युक्तोपनीतपरिहासमुखांश्च** युक्तं समीचीनं यद् उपनीतं प्रसङ्गतोऽन्यतः प्राप्तं तेन परिहासमुखांश्चान्योऽन्योपहासमुखान् तत्रत्यजनांश्च, **कुर्वन्** सन्, **सदसि** सभायां, **पक्षद्विषा** स्वपक्षद्वेषशालिना पुरुषेण, **प्रधानं** सभापतिं, **परूपयेत्** तत्कर्त्तव्यसहिष्णुं कुर्यात्, ततश्च साध्योऽपि पक्षद्विट् प्रधानतिरस्कृतः न पक्षोपघातसमर्थो भवेदित्यर्थ ॥१६॥

यादृशेन पुंसा सह कथाया पराजयेऽपि शोभैव जयतीत्युत्कृष्टयशोऽधिगतिस्तादृशेन पुरुषेण सह कथा कर्त्तव्येत्याशयेनाह—

उद्धूतवाग्मियशसा जनसंप्रियेण
पूर्वं विसृष्टवचनप्रतिभागुणेन।
वाच्यं सह प्रतिहतोऽपि हि तेन भाति
जित्वा पुनस्तमतिकीर्तिफलानि भुङ्क्ते ॥१७॥

उद्धूतवाग्मियशसेति। अत्रान्वयो यथाश्रुतानुसारेव। **उद्धूतवाग्मियशसा** उद्धूतं लोके विस्तरं वाग्मिनो यशः वाग्मियशः उद्धूतं वाग्मियशो यस्य स उद्धूतवाग्मियशाः तेन उद्धूतवाग्मियशसा, **जनसंप्रियेण** जनानां सम्यक् प्रियः प्रेमपात्रं जनसंप्रियस्तेन, **पूर्वमिति** उद्धूतवाग्मिवचसेत्यादौ सर्वत्रान्वेति, पूर्वं प्रथमत एव, **विसृष्टवचनप्रतिभागुणेन** विसृष्टवचनस्य स्वोच्चारितवचनस्य प्रतिभागुणोऽपूर्वापूर्वकल्पनालक्षणगुणो यस्य स विसृष्टवचनप्रतिभागुणस्तेन, **सह** सार्धं, **वाच्यं** वक्तव्यं, निरुक्तेन पुरुषेण सार्धं कथा कर्त्तव्येत्यर्थः, **हि**

यतः, **तेन** पूर्वोपदर्शितविशिष्टपुरुषेण; **प्रतिहतोऽपि** पराजितोऽपि, **भाति** अतिशोभते, **तं** निरुक्तविशिष्टपुरुषं, **जित्वा पुन** पराजयं कृत्वा पुनः, **अतिकीर्तिफलानि** अत्युत्कृष्टकीर्तिजन्यलाभपूजाख्यात्यादिफलानि, **भुङ्क्ते** आसादयतीत्यर्थः ॥१७॥

कथाया यत् स्वाशक्यं तत् परित्यज्याप्यन्यत् करणीयं न तु मूकीभवनं न्याय्यमित्याशयेनाह—

वीरोत्तरं परमशक्यमवेत्य कार्यं
क्षेपं प्रमोहविकथासु परः प्रयत्नः ।
अन्यो हि धीरितकथाविधुरस्य शब्दः
संदिग्धतुल्यगुण-दोषपथस्य चान्यः ॥१८॥

वीरोत्तरमिति । "वीरोत्तरं अशक्यमवेत्य परं क्षेपं कार्यम्, प्रमोहविकथासु परः प्रयत्नः कार्यं इति लिङ्गविपरिणामेन अन्वयः, हि धीरितकथाविधुरस्य शब्दोऽन्यः, संदिग्धतुल्यगुणदोषपथस्य चान्यः शब्दः" इत्यन्वयः । **वीरोत्तरं** विद्यावीरस्य वादिनः प्रतिवादिनो वा, उत्तरं प्रश्नप्रतिविधानम्, **अशक्यं** कर्तुमशक्यम्, **अवेत्य** ज्ञात्वा, **परं** केवलं, **क्षेपं** भवदुत्तरं कुत्र वर्त्तते किमत्र प्रमाणमित्यादिविक्षेपं, **कार्यं** कर्त्तव्यम्, **प्रमोहविकथासु** प्रकृष्टमोहजनकस्त्रीपुरुषादिप्रीत्यादिविषयककथानकेषु, **परः** प्रकृष्टः, **प्रयत्नः कार्यः** इत्थं विचित्रव्यापाराश्रयणे हेतुमाह—**हि** यतः, **धीरितकथाविधुरस्य** स्वीकृतकथानिर्वहणासमर्थस्य पुरुषस्य, **शब्दः** प्रतिपादनप्रकारः, **अन्यः** स्वीकृतकथानिर्वहणसमर्थपुरुषकर्तृकप्रतिपादनप्रकारविलक्षणः, **संदिग्धतुल्यगुणदोषपथस्य च** संदिग्धः संदेहविषयीभूतः तुल्यश्च स्वमानश्च संदिग्धतुल्यः गुणश्च दोषश्च गुण-दोषौ तयोः पन्था मार्गः संदिग्धतुल्यो गुण-दोषपन्था यस्य स संदिग्धतुल्यगुणदोषपथस्तस्य पुरुषस्य पुनः, **अन्यः** प्रतिपादनप्रकारो भवति, तथा च येन केनचित् प्रकारेण कथाविच्छेदो न भवेत् तथा यतितव्यमित्यभिसन्धिः ॥१८॥

शिष्याणां कथायां पराजये तद्गुरवोऽपि पराजिता इति व्यपदिशन्ते अतस्तत्प्रतिबोधनं गुरूणां कर्तव्यमित्युपदिशति—

शिष्येषु वाक्यखनयः प्रतिबोधनीयाः
सिद्धिस्तथाहि नियता नयवाददोषान् ।
अभ्युद्गतस्य हि कथाविषमाहिराहि-
तेजः सकृत् प्रतिहतं च न चाऽस्ति भूयः ॥१९॥

शिष्येष्विति । **शिष्येषु** अन्तेवासिषु, **वाक्यखनयः** याः वाक्यलक्षणज्ञानखनयः, **प्रतिबोधनीयाः** अस्य वाक्यस्यैतन्नयानुसारेणायमर्थोऽस्य च वाक्यस्यास्मिन् सङ्ग्रहादिनयाभिमतेऽर्थे तात्पर्यमित्येव विज्ञापनीयाः, **तथाहि** तथासति हि, **सिद्धिः** पदार्थतत्त्वविनिर्णयः, **नियता** अवश्यम्भाविनी, **हि** यतः, **नयवाददोषान्** नयवादाश्रितदोषान्, **अभ्युद्गतस्य** अभितः सप्राप्तस्य जनस्य, **कथाविषमाहिराहितेजः** कथाया यद्विषम स्थान तद्रूपो योऽहि. सर्पः तद्राहि तदारूढं तेज. पुरुषस्य चैतन्यलक्षण तेजः, **सकृत्** एकवारं, **प्रतिहत च** कथाविषमस्थानग्रन्थग्रन्थ्यनवगाहनलक्षणप्रतिघातकर्मीभूतं सत्, **भूयः** पुनः, **न च** नैव, **अस्ति** भवति, गुरो मुखात्तत्तन्नयवाक्यखनिप्रतिबोधे नयवाददोषाननासादयन्तः शिष्या कथाविषमस्थानपतिता अप्यप्रतिहततेजस्काः नयैर्जीवन्त इति तद्गुरूणा न च पराजयसम्भावना इत्यभिसन्धिः ॥१९॥

नयवाददोषानालिङ्गितस्य यथा वस्तुतत्त्वनिर्णयलक्षणा सिद्धिर्भवति न तथा महतो नयवादान् परिभूयावतिष्ठमानस्य, तथा सिद्ध्योऽभवन्नपि विजयो लोकनिन्दितोऽविजय एवेत्युपदिशति—

सिद्ध्यन्तरं न महतः परिभूय वादान्
स्यादर्जितस्तु विजयोऽपवाद एव ।
तस्मान्न वादगहनान्यभिलक्षितस्य
युक्तं विगाहितुमनुत्रसतः परेभ्यः ॥२०॥

सिद्ध्यन्तरमिति । "महतो वादान् परिभूय सिद्ध्यन्तरं न स्यात्, अर्जितस्तु विजयोऽपि अपवाद एव, तस्मात् अभिलक्षितस्य परेभ्योऽनुत्रसतो वादगहनानि विगाहितुं न युक्तम्" इत्यन्वयः । **महतः** अनेकनयमयत्वेन विस्तृतान्, **वादान् परिभूय** खण्डयित्वा, **सिद्ध्यन्तरं** वाक्यखनिपरिबोधप्रभवभवसिद्धिभिन्नसिद्धिः, **न स्यात्** न भवेत्, **अर्जितस्तु** नयवादं परित्यज्य स्वकपोलकल्पितकुतर्कादिसङ्घटितविचारतो जनितस्तु, **विजयोऽ**पि परवादिजयोऽपि, **अपवाद एव**, वस्तुत स्वपराजय एव, **तस्माद्** महद्वादपरिभवप्रयोज्यविजयस्यापवादत्वात्, **अभिलक्षितस्य** अभिता सर्वतो लक्षितस्य विशिष्य वादखनिप्रतिबोधरहितत्वेन प्रसिद्धस्य, **परेभ्यः** परवादिभ्य, **अनुत्रसतः** विचारारम्भानन्तरं भीतस्य, **वादगहनानि** वादवनानि, **विगाहितुं** विशेषेण प्रवेष्टु, **न युक्तं** न समीचीनमित्यर्थः ॥२०॥

केवलागमाभ्यासजनितबुद्धिमतः पुसो दुर्विदग्धजनसभाया परिभव एव भवति, यः खल्वबहुश्रुतोऽपि वाक्पाटवादिबलात् सभाया पूजितो भवति तस्य रिपवो न किञ्चित् कर्तुं शक्ता इत्युपदिशति—

आम्नायमार्गसुकुमारकृताभियोगा
क्रूरोत्तरैरभिहतस्य विलीयते धीः ।
नीराजितस्य तु सभाभटसङ्कटेषु
शुद्धप्रहारविधुरा रिपवः स्वपन्ति ॥२१॥

आम्नायमार्गेति । "क्रूरोत्तरैरभिहतस्य आम्नायमार्गसुकुमारकृताभियोगा धीर्विलीयते सभाभटसङ्कटेषु नीराजितस्य, तु शुद्धप्रहारविभवा रिपवः स्वपन्ति" इति अन्यवः । **क्रूरोत्तरैः** क्रूराणा पुरुषाणामुत्तरैः प्रश्नप्रतिविधानैः, **अभिहतस्य** नितरां पीडितस्य जनस्य, **आम्नायमार्गसुकुमारकृताभियोगा** आम्नायस्यागमस्य मार्गे तत्तन्नयगर्भितवस्तुप्रतिपादनप्रकारे सुकुमारोऽत्यन्तकोमलः, आम्नायमार्गसुकुमारः सुकुमारत्वं स्फुटयुक्त्युपेतत्वम्, कृतोऽभितो योगः सम्बन्धः कृताभियोगः आम्नायमार्गसुकुमारः कृताभियोगो यस्या सा आम्नायमार्गसुकुमारकृताभियोगा, **धीः** बुद्धिः, **विलीयते** विनश्यति, **सभाभटसङ्कटेषु** सभायां

भटानां परस्परं योद्धृणां सङ्कटेषु वादयुद्धलक्षणसङ्ग्रामेषु पराजयप्रभवदुःखजनकत्वात् सङ्कटत्व, **नीराजितस्य** पूजनान्तकालीनारात्रिककर्मीभूतस्य, **तु** पुनः, **शुद्धप्रहारविभवाः** शुद्धो युत्त्यादिरहितः प्रहार एव विभवो येषां ते शुद्धप्रहारविभवाः, **रिपवः** शत्रवः, **स्वपन्ति** तस्य किञ्चिदप्यपकर्तुमशक्या निश्चेष्टीभूयावतिष्ठन्ते इत्यर्थः ॥२१॥

सभाया येन प्रकारेण वर्त्तितव्यं तदुपदिशति--

ग्रन्थाभिचारनिपुणे वहु न प्रयोज्यं
मत्वा विशेज्जनमनांसि सतामतीव ।
आशङ्कितानपि दिशः पुरुषस्य यातुः
कीर्त्यक्षमान् परिहरेदिति तत्प्रसक्तः ॥२२॥

ग्रन्थाभिचारनिपुणे इति । "ग्रन्थाभिचारनिपुणे वहु न प्रयोज्यं मत्वा जनमनासि विशेत् सतामतीव, तत्प्रसक्तः यातुः पुरुषस्य आशङ्कितानपि दिशः कीर्त्यक्षमानिति परिहरेत्" इत्यन्वयः । **ग्रन्थाभिचारनिपुणे** ग्रन्थानामभितश्चारे तत्तद्विषययोजनलक्षणप्रचारे निपुणः पण्डितः ग्रन्थाभिचारनिपुणस्तस्मिन् पुरुषे, **वहु** अधिक, **न प्रयोज्यं** न प्रष्टव्यं अयं विषयः कस्मिन् ग्रन्थे, इयं प्रक्रिया कुत्रेत्येवं प्रकारकोऽधिकसख्यकः प्रश्नो न कर्त्तव्यः, **मत्वा** ज्ञात्वा, **जनमनांसि** जनानामन्तःकरणानि, **विशेत्** प्रविशेत्, तत्र तथा विचारः करणीयो येन तद्विचारमुदितानां जनानामन्तःकरणेषु प्रविष्टो भवति, एवमपि कदाचिद्दुर्जनस्य हृदये न प्रविष्टो भवेत् तथापि, **सतां** सज्जनानां मनासि, **अतीव** प्रविशेदिति, सज्जनमनोरञ्जकविचारो न तु बहवः प्रश्ना एव विधेया इत्यर्थः, **तत्प्रसक्तः** सज्जनमनःप्रवेशोपायप्रसक्तः, **यातुः** पुरुषस्य, **आशङ्कितानपि** एतत्तथा गच्छतो मनःसमीहितार्थलाभो भविष्यति न वेत्यादि शङ्काविषयीकृतानपि, **दिशो** मार्गान्, मार्गवाची दिक्शब्दः पुंलिङ्ग, **कीर्त्यक्षमान्** कीर्तिजननासमर्थान् इति हेतोः, **परिहरेत्** परित्यजेत् शङ्कितमार्गपथिको न भवेदित्यर्थः ॥२२॥

परप्रतिविधानं सम्यगालोच्य कथायां प्रवर्त्तितव्यमित्युपदर्शयति—

एकान्वयोत्तरगतिः परिदृष्टपन्था:

प्रत्याहतश्च चतुरस्रमपाहतश्च ।

तस्मात् परोत्तरगतौ प्रणिधानवान् स्या-

न्नानामुखप्रहरणश्च यतिद्विषत्सु ॥२३॥

एकान्वयोत्तरगतिरिति । यथाश्रुतानुसार्यत्रान्वयः । **एकान्वयोत्तरगतिः** एकान्वया एकस्मिन् सौगतादिमतानुयायिनि पुरुषेऽन्वयः सम्बन्धो यस्यां सा एकान्वया, उत्तरगतिः समाधानप्रक्रियाप्रतितन्त्रसिद्धिः, **परिदृष्टपन्था:** परितः सर्वतो दृष्टो ज्ञातः पन्थाः मार्गः सर्वतन्त्रसिद्ध, **प्रत्याहतश्च** अनेकैर्वादिभिः छिन्नभिन्नतामुपगतश्च, **चतुरस्रं** सर्वप्रकारेण, **अपाहतश्च** अखण्डितश्च, मार्ग इति सम्बध्यते, तस्मादुत्तरगतेरनेकप्रकारत्वात्, परोत्तरगतौ परप्रदर्शितसमाधानप्रकारे, **प्रणिधानवान्** चित्तैकाग्र्यमेकाग्रचित्तता वा प्रणिधानं तद्वान्, **स्यात्** भवेत्, अमुं मतमालम्ब्यैतन्मतानुयायिनाऽनेनेदमुत्तरमेतदभिप्रायकमुक्तमिति भावनाभावितान्तःकरणो भवेत्, यतो **यतिद्विषत्सु** यतेः साधोर्द्विषत्सु शत्रुषु, **नानामुखप्रहरणश्च** नानाप्रकारकखण्डनोपायात्मकास्त्रं भवतीत्यर्थः ॥२३॥

नानामुखप्रहरणमेव भङ्ग्यन्तरेण दर्शयति—

शास्त्रोत्थितान् परिभवः खलतामुपैति

तान्येव तु स्मितगभीरमुपालभेत ।

अस्मद्गुरुं स हसतीति विदह्यमानं

व्युत्पादयन्ति हि यशांस्यत एव भूयः ॥२४॥

शास्त्रोत्थितानिति । **शास्त्रोत्थितान्** शास्त्रच्युतान् शास्त्रं परितज्य स्वकपोलकल्पितयुक्तिव्रातमुखान् जनान् प्रति, **परिभवः** आदृतशास्त्रवचनैः पुरुषैः कृतः परिभवः विद्वत्सभातो निष्कासनादिः, **खलतां** निष्कारणवैरभावम्, **उपैति** प्राप्नोति, खलो यथा साधूनां निष्कारणमेव शत्रुर्भवति तथा शास्त्रोत्थितान् प्रति परिचितोपद्रवः शत्रुर्भवति, **तान्येव** तु शास्त्राण्येव पुनः, **स्मितगभीरं**

इषद्धासगर्भितं, **उपालभेत** उपालम्भं कुर्यात्, अहो कुयुक्तिपरिकलितमिदं शास्त्रं केनापि प्रतारकेन धूर्तेन निर्मितं, नैतस्मात् तत्त्वज्ञानं भवितुमर्हति रथ्यापुरुषाद्युपरिचितवाक्यकदम्बकवत्, इत्येवंशास्त्राण्येवोपालभेत, ततश्च शास्त्रोत्थानप्रयुक्तपरिभवोपजनिताऽकीर्तिरपाकृता स्यात्, स कश्चित् तत्त्वानभिज्ञो वावदूकः पण्डितम्मन्यः, **अस्मद्गुरुं** लोकप्रसिद्धपाण्डित्यकान्तं विद्वद्गणमान्यमस्मदुपाध्यायं, **हसति** अहो तत्त्वानभिज्ञोऽपि मन्दमतिकतिपयशिष्यपरिवृतम् आत्मानं पण्डितं मन्यते इत्येवमुपहास करोति, **इति** एतस्मात् कारणात्, **विदह्यमानं** गुरूपहासदं दह्यमानान्तःकरणं प्रति, **व्युत्पादयन्ति हि** प्रतिपादयन्ति हि, **यशांसि** अत एव एतस्मादेव कारणात्, **भूयः** अनेकवारम्, मा त्वं स्वरूपहासतो अदह्यमानहृदयो भव भुवनतलव्यापीनि त्वद्गुरुयशांसि नैनत्कृतोपहासमात्रेणापगतानि भवेयुरिति ॥२४॥

शास्त्रेषु तात्पर्यापरिज्ञानतो ये दोषा· वरैरुपस्थापिता न ते वक्तारमभ्युपगच्छन्ती न ततो वक्तु किमपि क्षीयते तद्दोषानपाकरणतो भवतु नाम लाघवं शास्त्रस्य तदनुयायिनश्च न तेन चित्तवैक्लव्यं करणीयमित्युपदिशन्ति—

> अङ्गाभिधानसफलं प्रकृतोपशान्तौ
> वक्तारमन्ववसिता न हि शास्त्रदोषाः ।
> सत्यं तु लाघवमनेन यथाऽभ्युपैति
> तच्चेदवाप्तमरतिश्रुतिभिः किमत्र ॥२५॥

अङ्गाभिधानमिति । "प्रकृतोपशान्तौ अङ्गाभिधानमफलं शास्त्रदोषा· हि न वक्तार नान्ववसिताः यथाऽभ्युपैति अनेन लाघवं तु सत्यम्, तश्चेदमवाप्तं, अत्र अरतिश्रुतिभि· किम्" इत्यन्वयः । **प्रकृतोप्रशान्तौ** प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य विवादस्य उपशान्तौ निवृत्तौ सत्यां, **अङ्गाभिधानं** वादाङ्गस्याभिधानं कथनम्, **अफलं** निष्फलम्, **शास्त्रदोषाः** तात्पर्याद्यनवधारणेन परोपस्थापिता· शास्त्रे दोषाः, **हि** यतः, **न** नैव, **वक्तारं** शास्त्रप्रवक्तारं, **अन्ववसिताः** शास्त्रदोषापरिहरे वक्तारमाश्रित्य स्थिताः, **यथा** येन प्रकारेण, **अभ्युपैति** शास्त्रार्थं अनेन शास्त्रार्थाभ्युपगमने, **लाघवं तु** लघुत्वं पुनः, **सत्यं** निश्चितं, दोषानपाकरणेन दूषितशास्त्रार्थाभ्युपगमेन शास्त्रस्य तथाऽभ्युपगन्तुश्च लाघवं भवत्येव, तद् लाघवम् चेद् यदि,

अवाप्तं प्राप्तं, तर्हि अत्र एतद्विषये, **अरतिश्रुतिभिः** अप्रीत्युत्पादकशब्द-समूहैः, **किम्** न किञ्चिदित्यर्थः ॥२५॥

अरत्युत्पादकं वचन मर्मच्छेदीत्यसह्यमित्यत आह—

किं मर्म नाम रिपुषु स्थिरसाहसस्य
मर्मस्वपि प्रहरति स्ववधाय मन्दः ।
आशीविषो हि दशनैः सहजोग्रवीर्यैः
क्रीडन्नपि स्पृशति यत्र तदेव मर्म ॥२६॥

कि मर्म नामेति । "रिपुषु स्थिरसाहसस्य कि नाम मर्म, मन्द. स्ववधाय मर्मस्वपि प्रहरति, आशीविषो हि क्रीडन्नपि सहजोग्रवीर्यैर्दशनैः यत्र स्पृशति तदेव मर्म" इत्यन्वयः । **रिपुषु** शत्रुषु, **स्थिरसाहसस्य** स्थिर निश्चलं साहसं स्वबलाधिकबलघातिप्रयत्नो यस्य स स्थिरसाहसः तस्य, **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **कि मर्म** यत्रैवाङ्गे शस्त्रप्रहारो विदधाति तस्यैवाङ्गस्यात्यन्तोच्छेदतो मरणप्राय दुःखं भवतीति तदपि मर्मसमानमिति किमिति प्रतिनियतं मर्म न किञ्चिदित्यर्थः, क्रुद्धो हि मर्मामर्मविवेकमकृत्वैव शस्त्रप्रहारं करोति कथमन्यथात्मन्येव क्रुद्धो मर्मस्वपि प्रहारं करोतीत्याह—**मन्दः** मन्दमतिर्मुमूर्षुः पुरुषः, **स्ववधाय** स्ववधार्थं, मर्मस्वपि स्वशरीरमर्मस्वप्युत्तमाङ्गादिषु, **प्रहरति** प्रहारं करोति, इदमेवाङ्गं मर्मेति नियमो नास्तीत्याह—**हि** यत , **आशीविषः** सर्पः, **क्रीडन्नपि** क्रीडां कुर्वन्नपि, **अनेन** क्रोधराहित्यं तस्य व्यञ्जितम् , **सहजोग्रवीर्यैः** सहजं स्वाभाविकमुग्रवीर्यं परमृत्युजनकविषलक्षणवीर्यं येषु तानि सहजोग्रवीर्याणि तै , **दशनैः**, दन्तैः, **यत्र** यस्मिन्नङ्गे, **स्पृशति**, **तदेव** अङ्ग, **मर्म**, यतस्तद्घातादपि प्राणी म्रियत इत्यर्थः ॥२६॥

शमगुणो हि पुमान् सभाजनमनस्सु प्रवेष्टुमर्हति नान्य इति शमे यत्नो विधेय इत्युपदिशति—

मन्दोऽप्यहार्यवचनः प्रशमानुयातः
स्फीतागमोऽप्यनिभृतः स्मितवस्तु पुंसाम् ।

तस्मात् प्रवेष्टुमुदितेन सभामनांसि
यत्नः श्रुताच्छतगुणः शम एव कार्यः ॥२७॥

मन्दोऽपीति। "प्रशमानुयातः मन्दोऽपि पुंसामहार्यवचनः, स्फीतागमोऽप्यनिभृतः पुंसा स्मितवस्तु, तस्मात् सभामनांसि प्रवेष्टुमुदितेन शम एव श्रुताच्छतगुणो यत्नः कार्यः" इत्यन्वयः। **प्रशमानुयातः** प्रशमानुगमनशीलः, **मन्दोऽपि** विशिष्टागमज्ञानशून्यत्वान्मन्दमतिरपि पुरुषः, **पुंसां** पुरुषाणाम्, **अहार्यवचनः** अपरित्यक्तवचनो भवति तद्वचनमुपासते पुरुषाः इत्यर्थः, **स्फीतागमोऽपि** स्फीतोऽर्थतः शब्दतश्च विस्पष्ट आगमो जैनराद्धान्तो यस्य स स्फीतागमः समीचीनागमतदर्थज्ञानशाली पुरुषः, **अनिभृतः** निभृतः शान्तो नेत्यनिभृतोऽशान्तः शमगुणरहितः पुरुषः, पुंसां **स्मितवस्तु** स्मितलक्षणवस्तु तद्वदनुपादेयो भवतीति, **तस्माद्** एतस्मात् कारणात्, **सभामनांसि** सभास्थितजनान्तःकरणानि, **प्रवेष्टुं** प्रवेशं कर्तुम्, **उदितेन** अभ्युद्यतेन पुरुषेण, **शम एव** शान्त एव, **श्रुताच्छतगुणः** श्रुताध्ययनाध्यापनादौ यः प्रयत्नस्ततः शतगुणः, **प्रयत्नः** प्रयासः, **कार्यः** कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥२७॥

स्वसमयं परसमयं च तिरस्कृत्य सभास्थजनमप्याक्रम्य विराजते तस्य दिवारात्रौ जागर्त्येव रिपवस्तच्छोकाभिभूता इत्याह—

आक्षिप्य यः स्वसमयं परिनिष्ठुराक्षः
पश्यत्यनाहतमनाश्च परप्रवादान् ।
आक्रम्य पार्थिवसभां स विरोचमानः
शोकप्रजागरकृशान् द्विषतः करोति ॥२८॥

आक्षिप्येति। "यः स्वसमयमाक्षिप्य परिनिष्ठुराक्षोऽनाहतमनाश्च परप्रवादान् पश्यति स पार्थिवसभां आक्रम्य विरोचमानः द्विषतः शोकप्रजागरकृशान् करोति" इत्यन्वयः। **यः** कश्चिद् वादी, **स्वसमयं** स्वसिद्धान्तम्, **आक्षिप्य** तिरस्कृत्य, **परिनिष्ठुराक्षः** परितः सर्वतः निष्ठुरं स्नेहहीनमक्षं चक्षुर्यस्य स परिनिष्ठुराक्षः, **अनाहतमनाश्च** न आहतं केनचित् पीडितमनाहतं मनोऽन्तःकरणं यस्य स अनाहतमनाः

अव्यग्रमनाश्च सन् **परप्रवादान्** परकीयागमान्, **पश्यति** अवलोकयति, **स** वादी, **पार्थिवसभाः** नृपालङ्कृतसभाः, **आक्रम्य** आक्रमणं कृत्वा, **विरोचमानः** देदीप्यमानः, **द्विषतः** शत्रून्, **शोकप्रजागरकृशान्** अहो एवं विद्वानपि उद्धतः सद्वृत्तो येन स्वसमयमाक्षिपति निष्ठुराक्षोऽव्यग्रमनाश्च परप्रवादानवलोकयति नृपसभा आक्रम्य विरोचमानो न नृपाद् बिभ्यति, स्वसमुदायगतैतद्दोषदूषितानामस्माकं सहृद्भयमुपस्थितमित्यादि विचारप्रभावशोकजन्यप्रजागरप्रयुक्तकृशताशालिनः, **करोति** कुरुते इत्यर्थः ॥२८॥

शत्रुभावं गतेषु वागाडम्बरमात्रं तात्कालिकविरोधाभिव्यक्त्यर्थमेव न ततो रिपूना किञ्चिद्धीयतेऽतः वागाडम्बरं परित्यज्य यथा तेषां दीर्घकालिकमपकीर्त्यादिकं भवेत् तथा विधेयमित्याशयेनाह—

किं गर्जितेन रिपुषु त्वभितो मुखेषु
किन्त्वेव निर्दयविरूपितपौरुषेषु ।
वाग्दीपितं तृणकृशानुबलं हि तेजः
कल्पात्ययस्थिरविभूतिपराक्रमोत्थम् ॥२९॥

किं गर्जितेनेति । "अभितो मुखेषु रिपुषु तु गर्जितेन किं, निर्दयविरूपितपौरुषेष्वेव हि वाग्दीपितं तृणकृशानुबलं तेजः कल्पात्ययस्थिरविभूतिपराक्रमोत्थं किन्तु" इत्यन्वयः । **अभितो मुखेषु** सर्वप्रकारेण दुःखोपायोद्यतेषु, **रिपुषु तु** पुनः, **गर्जितेन** सिंहनादेन, **किं** न किञ्चित् न तेन ते भीषयितुं शक्याः येन दुःखोपायविमुखास्ते भवेयुः, **निर्दयविरूपितपौरुषेष्वेव** निर्दयं दयारहितं विरूपितं दर्शितं पौरुषं पराक्रमो यैस्ते निर्दयविरूपितपौरुषास्तेष्वेव, रिपुष्विति प्रकृतम् , **हि** यतः, **वाग्दीपितं** वाचोद्दीपितं देदीप्यमानं, **तृणकृशानुबलं** तृणप्रभवाग्निसमबलं, यथा तृणप्रभवाग्निर्देदीप्यमानोऽपि झटित्येव विनश्यति तथा वाग्दीपितं तेजोऽपीति, **तेजः** प्रभावः, **कल्पात्ययस्थिरविभूतिपराक्रमोत्थं किन्तु** कल्पस्य क्रमिकाष्टाविंशदिन्द्रायुःकालसमान-कालब्रह्मदिवस परमतकल्पितस्य योऽत्ययो विनाशः तावत्पर्यन्तं स्थिराविभूतिर्यस्य स कल्पात्ययस्थिरविभूतिः पुरुषः, तस्य यः पराक्रमः प्रौढप्रतापस्तदुत्थं तज्जन्यं, किन्तु न तज्जन्यमित्यर्थः ॥२९॥

कथकेन यादृशेन तत्र भाव्यं तदुपदर्शयति—

किञ्चित् सुनीतमपि दुर्नयवद्विनेयं
दुर्नीतमप्यतिशयोक्तमिव प्रशस्यम् ।
सर्वत्र हि प्रतिनिविष्टमुखोत्तरस्य
सूक्तं च दुर्विगणितं च समं समेन ॥३०॥

किञ्चित् सुनीतमपीति । **सुनीतमपि** सुष्ठुयुक्त्युपनीतमपि, **किञ्चित्** किमपि, **दुर्नयवद्विनेयं** दुर्नीत्युपदर्शित यथा शिक्षणीयं तथा न शिक्षणीयं यद्यपि त्वयोक्तमिद सुनीतित एव तथापि यथोपपादनीयं प्रमापणीय वा तथा नोपपादित नवा प्रमाणपथमुपनीतमिति तथाऽत्रावहितो भव गुरुमुखाद् वोपश्रुत्य तद्विषयावलीढचित्तो भव, यथाऽत्र दोषकणिकाऽपि नाविर्भवतीत्येवं विनय ततोऽस्यौद्धत्यं निवर्त्तते, **दुर्नीतमपि** दुर्नयोपनीतमपि, न तिरस्करणीय किन्तु, **अतिशयोक्तमिव** अतिशयोक्त्यलङ्कारोपेतमिव. अतिशयोक्त्यलङ्कारो रूपकातिशयोक्त्यादिभेदेन बहुविध स साहित्यग्रन्थादवसेय , **प्रशस्यं** प्रशसनीयमनेनाभिप्रायेणोक्तमिद युक्तमेवेति, एवं सति स तथा नीतिपरायणो भवति यथा दुर्नीतिता तस्य निवर्त्तते, अहो दुर्नीतमपि मदुक्त ममापमानादिपरिहाराय कृपालुनाऽनेन सम्यक्तयैव यथाकथञ्चिदनुमोदितमिति न पुनरेव मया वक्तव्यमिति सम्यग् नीतिमार्गानुगमनात, **हि** यत , **सर्वत्र** सर्वस्मिन् विषये, **प्रतिनिविष्टमुखोत्तरस्य** प्रतिनिविष्टम् अत्यन्तनिर्गलितं मुखोत्तरं सर्वतन्त्राभ्यस्तविषयत्वात् पुस्तकन्यस्तवाक्यावलोकनापेक्षामन्तरेणैव मुखस्थितमुत्तर यस्य स प्रतिनिविष्टमुखोत्तरस्तस्य, **सूक्तं च** समीचीनं गद्यपद्यादिक च, **च** पुनः, **दुर्विगणितं** दुर्विगणनामितं असमीनगद्यपद्यादिमव्यगणनीयम् , **समेन** स्वसदृशेन, **समं** तुल्य एकं सूक्त कस्यचिदुक्तमन्येन तत्सदृशसूक्तेन तुल्य तस्य, तथा कस्यचिदुक्तं दुर्गणितं तथाविधेन तेन तुल्यं तस्य, मुखस्थसर्वगद्यमयसारस्वतस्य तस्य न किञ्चिदपूर्वमिति यत्किमपि कश्चिद् वक्ति तत्तुल्यवचनोपदर्शनेन तस्य तद्विषयकाभिमानमहमेवेदं वक्तुं समर्थोऽहमेवेद जानामीत्याकारकमपाकरोतीत्यभिसन्धिः ॥३०॥

यः कश्चित् कथकोऽबहुश्रुतार्थस्तस्य सभायां विचेष्टितमुपदर्शयति—

तिर्यग् विलोकयति साध्वसविप्लुताक्षं
श्लिष्टाक्षरं वदति वाक्यमसंभृतार्थम् ।
दृष्ट्वाऽऽहतः स्खलति विश्रुतकक्षसे(मे)कं
कण्ठं मुहुः कषति चापि कथाभ्यरिष्टः ॥३१॥

तिर्यग्विलोकयतीति । **साध्वसविप्लुताक्षं** साध्वसेन भयेन विप्लुत व्याप्तमक्ष नयनं तत् साध्वसविप्लुताक्षं यथा तथा, **तिर्यग्** तिरश्चीन, **विलोकयति** मत्तो विशिष्टो मत्पार्श्वस्थितो मत्पृष्ठस्थित कश्चिद् विपश्चित् विद्यते नवेति भयभीतान्तःकरणः सन् तिर्यग्विलोकयतीत्यर्थ., **असंभृतार्थ** न संभृतो न परिपूर्णः अर्थो वाच्यो यस्य तदसंभृतार्थ एवम्भूतं वाक्यं पदसमूहलक्षण, **श्लिष्टाक्षरं** एकमक्षरमन्येनाक्षरेण श्लिष्ट सम्बद्ध यत्र तत् श्लिष्टाक्षरं यथा स्यात् तथा, **वदति** ब्रूते, अन्यविद्वद्भयात् सुस्पष्ट विविक्ताक्षरं परिपूर्णार्थक वाक्यं वक्तुमसमर्थ इत्थं ब्रूते इत्यर्थ । 'विश्रुतकक्षसेकं' इत्यस्य स्थाने 'विश्रुतकक्षमेकं' इति पाठो युक्त', **विश्रुतकक्षं** विशेषेण श्रुतेषु कक्षा प्रश्नप्रतिविधानपरम्परा यस्य स विश्रुतकक्षः त विश्रुतकक्षम्, **एकम**द्वितीय य खलु एकस्मिन्नपि विचारणीये वस्तुनि आगमस्य प्रश्नप्रतिविधानाविच्छिन्नप्रवाहमाश्रयितुं समर्थस्तमद्वितीयं, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, **आहतः** अहो कथमहमनेन सार्द्ध विचार कर्त्तु शक्नुयामिति मानसिकविचारप्रत्याघातपीडित., **स्खलति** यत्किञ्चिदपि वक्तु स्खलनां प्राप्नोति, **कण्ठं मुहुः** वार वारं, **कषति** कासश्वासादिव्याधिपीडितो यथा कण्ठ कषति तथा, **अपि च कथाभ्यरिष्टः** कथैवाभितोऽरिष्टः ग्रहवैगुण्य यस्य स कथाभ्यरिष्ट अहो कमपि ग्रहवैगुण्यमुपस्थित मम ये नानेन विदुषा सह कर्त्तव्यपद्धति समागता कथेत्यर्थ· ॥३१॥

उपनिषद्बलस्यावश्यकत्व दर्शयन् वादोपनिषद्द्वात्रिंशिकायाः समाप्तिं हरिणीवृत्तेन करोति—

परिचितनयः स्फीतार्थोऽपि श्रियं परिसंगतां
न नृपतिरलं भोक्तुं कृत्स्नां कृशोपनिषद्बलः ।

विहितसमयोऽप्येवं वाग्मी विनोपनिपत्क्रियां
न तपति यथा विज्ञातारस्तथा कृतविग्रहाः ॥३२॥

परिचितनय इति । "परिचितनय. स्फीतार्थोऽपि नृपतिः कृशोपनिपद्बलः परिसंगता कृत्स्नां श्रिय भोक्तु नालम् एवं विदितसमयोऽपि वाग्मी उपनिपत्क्रियां विना न तपति यथा विज्ञातारस्तथा कृतविग्रहा." इत्यन्वय । **परिचितनयः** परिचित. सर्वथा ज्ञातः नयः साम-दाम-भेदपराक्रमभेदेन चतुर्विधो नयो येन स परिचितनयः, **स्फीतार्थोऽपि** स्फीता स्वच्छा अर्था वैडूर्यादिमणि-काञ्चन-रजतादीनि धनानि यस्य स स्फीतार्थः एवंभूतोऽपि, **नृपतिः** नरपति., **कृशोपनिपद्बलः** कृश क्षीण उपनिषदां स्वसमीपवर्तिनां सामन्तादीनां बल सेनादिक यस्य स कृशोपनिषद्बलः सन्, **परिसंगतां** परित· सङ्गतिमुपगता, **कृत्स्नां** समग्रा, **श्रियं** लक्ष्मीं, **भोक्तुं** उपभोक्तुं, **नालं** न समर्थः, एवं अमुना दिशा, **विदितसमयोऽपि** ज्ञातराद्धान्तोऽपि, **वाग्मी** वचनपटुः, **उपनिषत्क्रियां** सभास्थजनमनःप्रवेशादिलक्षणक्रिया, **विना** अन्तरेण, **न तपति** स्वसम्मुखविद्वज्जन प्र ते ताप करोति न, प्रतिमल्ल जयतीति यावत्, **यथा** यादृशा विज्ञातार. शास्त्रतत्त्वज्ञानार तथा तादृशा·, **कृतविग्रहा.** कृतो विग्रह शास्त्रार्थलक्षण युद्ध यैस्ते कृतविग्रहा वोद्धृणा च समान एव मार्ग इत्यर्थः ॥३२॥

वादावश्यकसाध्यसङ्घटनया वादी विपक्ष स्वतो
नून स्वस्य वशे करोति विजयी ख्यात सभाया भवेत् ।
इत्यावेदनतत्पराऽतिमधुरा द्वात्रिंशिकेयं स्तुति-
ानुसारिधिषणैर्लावण्यसूरीश्वरै ॥१॥

द्द्वात्रिंशिकास्तुतिव्याख्या ॥

वादाभिधाना

अष्टमी द्वात्रिंशिका ।

यस्या निश्चिततर्कगा न सुलभा नाभीष्टतत्त्वप्रथा
विद्यावादविवादमात्रचतुरा सा किं कथा धीमताम् ।
योग्यायोग्यविवेकशून्यहृदयैरास्तीर्यते किन्तु सा
ता जानात्विति सिद्धसेनरचना भाव्यैव विद्याधनै ॥१॥

वादे सौख्यकणिकाऽपि नास्तीत्युपदर्शयति—

ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसङ्गजातमत्सरयोः ।
स्यात् सौख्यमपि शुनोः भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥१॥

ग्रामान्तरोपगतयोरिति । "ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः
शुनोरपि सौख्यं स्यात् भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्याद्" इत्यन्वयः । **ग्रामान्त-**
रोपगतयोः स्वनिवासग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामान्तर तस्मिन्नुपगतयोः, **एकामिष-**
संगजातमत्सरयोः एकमामिषं मासपिण्डं तस्य सङ्ग भोजनार्थं सम्बन्धः
एकामिषसग. तेन जात· मत्सरः यदोस्तौ एकामिषसङ्गजातमत्सरौ तयोः एका-
मिषसगजातमत्सरयोः, **शुनोरपि** कुक्कुरयो., **सौख्यं** सुखित्व, **स्यात्** भवेत्,
तदामिषपिण्डस्य तदुभयभिन्नेन गृध्रादिनाऽपनयने स्वस्वमुखग्रहणत· तस्य
द्वैधीभावं ता पृथक् पृथग् भक्षणे, एकेन वा बलादाहृत्य भक्षणे कृते सति तद-
नन्तरं द्वेषविषयापगमात् सर्पविनाशे सम्भाव्येतापि सौख्यम्, **भ्रात्रोरपि** एकमातृ-
पितृजातयोरपि, **वादिनोर**न्योऽन्यविरुद्धमताभ्युपगन्त्रोर्मल्ल-प्रतिमल्लभावेन
कथायामुपस्थितयोः, **न स्यात्** सौख्यं न जात्वपि भवेदित्यर्थः ॥१॥

पूर्वावस्थातो वादावस्थायां सर्वमन्यादिवावलोक्यत इत्युपदर्शयति—

क्व च तत्त्वाभिनिवेशः क्व च संरम्भातुरेक्षणं वदनम् ।
क्व च दीक्षाऽऽश्वसनीयरूपता क्व चाऽनृजुर्वादः ॥२॥

क्व च तत्त्वाभिनिवेश इति । **तत्त्वाभिनिवेशः** इदमेव तत्त्व समीचीनं न त्विदमिति स्वाभिमततत्त्वविषयकाग्रहः, **क्व च** क्व पुनः **संरम्भातुरेक्षणं** कार्यकरणप्रयत्नः आरम्भ-समारम्भ-सरम्भभेदेन त्रिधा भवति, तत्र यः सरम्भ क्रोधस्तेनातुरेक्षणं नयनं यत्र तत् संरम्भातुरेक्षणं, **वदनं** मुखम् , **क्व च** क्व पुन , यदि स्वाभिमततत्त्वाभिनिवेशस्तदा स्वाभिमततत्त्वं यथा सिध्येत् तदेव कर्त्तव्यं न तु सरम्भातुरेक्षणं वदनं कर्तुमुचितम् , **दीक्षाऽऽश्वसनीयरूपता** दीक्षा गुरूपदेश., आश्वासितु श्रद्धातुं योग्या आश्वासनीया विश्वासपात्रता, **क्व च** क्व पुन , **अनृजुः** वक्र न सरल , **वादः** वचनम् , **क्व च** क्व पुनः, नहि संरम्भानुरेक्षणे वदने सरलो वादो युक्त इत्यर्थ. ॥२॥

सभावतारस्य स्वभाव ईदृशो यदुत सरलमपि निष्ठुरं करोतीति दर्शयति-

तावद् वकमुग्धमुखस्तिष्ठति यावन्न रङ्गमवतरति ।
रङ्गावतारमत्तः काकोद्धतनिष्ठुरो भवति ॥३॥

तावदिति । "यावद् रङ्गं न अवतरति तावद् बकमुग्धमुखस्तिष्ठति रङ्गावतारमत्त काकोद्धतो निष्ठुरो भवति" इत्यन्वयः । **यावत्** यावत्कालं, **रङ्गं** वादात्मकरणभूमिम् , **न** नैव, **अवतरति** प्रविशति वादी, **तावत्** तावत्कालं, **वकमुग्धमुखः** वको यथा निश्चेष्टमुख. तथा निश्चेष्टमुख., **तिष्ठति** अवतिष्ठते, **रङ्गावतारमत्तः** रङ्गे शास्त्रार्थसङ्ग्रामे अवतार प्रवेशस्तेन मत्त', **काकोद्धतनिष्ठुरः** काको यथा वय काका वय काका इत्येवमुद्धत औद्धत्यशाली निष्ठुरः कर्णारुन्तुदवचन., **भवति** तथा वाद्यपि अहं सर्वदर्शनस्वतन्त्रोऽस्मतसम्मुखे क. स्थातुमीश्वर इत्येवमौद्धत्ययुक्तवचनमुखो भवतीत्यर्थ. ॥३॥

सम्यगनवबुद्ध्यमानशास्त्रतत्त्वो वादे यत् किञ्चित् प्रलपन् वादी शास्त्रापभ्राजनां करोतीत्युपदर्शयति—

क्रीडनकमीश्वराणां कुक्कुट-लावकसमानबालेभ्यः ।
शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥४॥

क्रीडनकमिति । **कुक्कुट-लावकसमानवालेभ्यः** कुक्कुट-लावकौ पक्षिविशेषौ तयोः समाना नृत्यकरणादिना सदृशा ये वालास्तेभ्यः, **ईश्वराणां** राज्ञा'

क्रीडनकं क्रीडनमेव क्रीडनकम्, तच्च यथा नृगणा प्रभुत्वं लघु करोति, तथा क्षुल्लक. वादापसदः, **शास्त्राण्यपि** तत्त्वप्ररूपकवचनादभयशासनान्यपि, **हास्यकथां** हास्यरसप्रधानकवचनावली, **नयति** प्रापयति, **वा** अथवा, **लघुतां** लाघवम्। एतानि **शास्त्राणि** एतावन्मात्रतत्त्वप्ररूपकाणि न वाग्वैभवाकलितानीत्येवमवमानना, **नयति** प्रापयतीत्यर्थः ॥४॥

कश्चिद् वादी स्वयं किञ्चिदपि शास्त्र ज्ञातुमसमर्थोऽन्यैरेव किञ्चिज्ज्ञात्वा एतावन्मात्रं शास्त्रमिति निर्धारयन् पाण्डित्याभिमानप्रभवदर्पात् स्वाङ्गुल्यादीन्यङ्गानि चर्वयतीत्युपदर्शयति—

अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥५॥

अन्यैरिति । **अन्यैः** स्वातिरिक्तैः केश्चिदपि, **स्वेच्छारचितान्** स्वकल्पनशिल्पिनिर्मितान्, **अर्थविशेषान्** कल्पकपुरुषभिन्नपुरुषाविज्ञातार्थान्, **श्रमेण** प्रयत्नविशेषेण, **विज्ञाय** ज्ञात्वा **कृत्स्नं** सम्पूर्णम्, **वाङ्मयं** सारस्वतम्, **इतः** प्राप्तोऽहम्, **इति दर्पेण** इत्याकारकाभिमानेन, **अङ्गानि** अङ्गुल्यादीनि, **खादति** चर्वयतीत्यर्थः ॥५॥

यादृग् वादी तादृगेव प्रतिवादी शास्त्रार्थं कर्तुं तत्समीपं यायादित्युपदर्शयति—

दृष्ट्वा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं नः ।
वादिनि चपले मुग्धे च तादृगेवान्तरं गच्छेत् ॥६॥

दृष्ट्वेति । "न. गुरव. इदं दृष्ट्वा स्वयमपि परीक्षितं पुनर्निश्चनमिति वादिनि चपले मुग्धे चान्तर तादृगेव गच्छेद्" इत्यन्वय. । **नः** अस्माकम्, **गुरवः** अध्यापकाः, **इदं** एतद्वस्तु, **दृष्ट्वा** चक्षुषाऽवलोक्य, प्रत्यक्ष भ्रान्तमपि भवतीति, **स्वयमपि** अपिना अन्यपरीक्षितमिति सूचितम्, **परीक्षितं** परमतनिराकरणपूर्वकस्वमतव्यवस्थापनलक्षणपरीक्षाविषयीकृत, **पुनः निश्चितं** निर्णीतं च मद्गुरव इदमर्थं दृष्टवन्तः परीक्षितवन्तो निर्णीतवन्तश्चेत्यत', **इदं** एतत् पारमार्थिक तत्त्वम्, इति, एव **वादिनि** वक्तरि, **चपले** एकविषयनिर्णयावस्थानरहिते प्रतिक्षणमन्यान्यविषयनिर्णीतिपरे, **मुग्धे च** अतिकुण्ठमतिशालिनि च, **तादृगेव** निरुक्तवादिसदृश एव, **अन्तरं च** वादी मध्यस्थयोर्मध्यदेशम्, **गच्छेत्** शास्त्रार्थं प्रविशेदित्यर्थ. ॥६॥

वाक्संरम्भस्य निष्प्रयोजनत्वे नानुपादेयत्वमित्युपदर्शयति—

अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥७॥

अन्यत एवेति । **अन्यत एव** वाक्संरम्भव्यतिरिक्तकारणादेव, **श्रेयांसि** स्वर्गापवर्गादीनि कल्याणानि, भवन्तीति शेष, **अन्यत एव** श्रेयोमार्गव्यतिरिक्त-मार्गत एव, **वादिवृषाः** वादिप्रकाण्डा, **विचरन्ति** गच्छन्ति, **मुनिः** जिनो भगवान्, **शिवोपायं** मोक्षादिकल्याणसाधनं, **क्वचिदपि** कुत्रापि शास्त्रे, **वाक्संरम्भो** मोक्षोपायमिति, **न जगाद** नोक्तवानित्यर्थः ॥७॥

काचित् कथा तत्त्वमीमांसामासला न दुष्टाऽपीत्याह—

यद्यकलहाभिजातं वाक्छलरङ्गावतारनिर्वाच्यम् ।
स्वच्छमनोभिस्तत्त्वं परिमीमांसेन्न दोपः स्यात् ॥८॥

यद्यकलहाभिजातमिति । **यदि अकलहाभिजातं** कलहमन्तरेणैव निष्पन्न, **वाक्छलरङ्गावतारनिर्वाच्यं** वाक्छलेन रङ्गे शास्त्रार्थस्थाने योऽवतारः प्रवेशस्तेन निर्वाच्य निर्ववतु शक्यम्, **तत्त्वमभिधेयं वस्तु**, **स्वच्छम-नोभिः** स्वच्छ राग द्वेषादिमलासपृष्टं मनोऽन्त करण येषा ते स्वच्छमनसस्तैः सह, **परिमीमांसेत्** परितो विचारयेत् वादी, तदा **न दोपः स्यात्** तदा दोषो न भवेदित्यर्थ ॥८॥

अन्येन सम विचारणामन्तरेणापि विद्वत्प्रकाण्ड. स्वपक्षं व्यवस्थापयितुं शक्त कलहकारिणो बहवोऽपि मिलिता न स्वपक्षव्यवस्थापनसमर्था इत्याह—

साधयति पक्षमेकोऽपि हि विद्वान् शास्त्रवित् प्रशमयुक्तः ।
न तु कलहकोटिकोट्योऽपि समेता वाक्यलालभुजः ॥९॥

साधयतीति । "शास्त्रवित् प्रशमयुक्त एकोऽपि हि विद्वान् पक्षं साधयति कलहकोटिकोट्योऽपि समेता वाक्यलालभुजो न तु" इत्यन्वयः । **शास्त्रवित्** शास्त्र-रहस्यज्ञाता, **प्रशमयुक्तः** प्रकृष्टशान्त्युपेत, **एकोऽपि** सहायकद्वितीयरहितोऽपि प्रतिवादिविरहितोऽपि वा, **विद्वान्** पण्डित, **पक्षं** स्वमत, **साधयति**, **कलह-कोटिकोट्योऽपि** कलह कलि कोटिः स्वीकारैकप्रकारो येषां ते कलहकोट्यः

कलहकोटीनां कोट्यः कलहकोटिकोट्यः कलहकारिणः कोटिसङ्ख्यकाऽपि, **समेता** एकत्र मिलिताः, **वाक्यलालभुजः** वाक्यमेव लाला वाक्यलाला, वाक्यलालां भुञ्जत इति वाक्यलालभुजः, **न तु** स्वपक्षं न पुनः साधयन्तीत्यर्थः ॥९॥

आर्त्तध्यायिनो वादिनश्चिन्तनं दुश्चिन्तनमेवेत्यभिसन्धानेनाह--

आर्त्तध्यानोपगतो वादी प्रतिवादिनस्तथा स्वस्य ।
चिन्तयति पक्षनयहेतुशास्त्रवाग्घ्राणसामर्थ्यम् ॥१०॥

आर्तध्यानोपगत इति । **आर्तध्यानोपगतः** आर्त्तध्यानशाली, **वादी** प्रथमोपस्थाता, **प्रतिवादिनः** प्रतिस्थापनाकर्तुः, **पक्षनयहेतुशास्त्रवाग्घ्राण-सामर्थ्यम्** प्रतिवाद्युपगतानां पक्षनयहेतुशास्त्रवाग्घ्राणानां सामर्थ्यं, **चिन्तयति** तथा यथा प्रतिवादिशास्त्रवाग्घ्राणसामर्थ्यं चिन्तयतीत्यर्थः ॥१०॥

तच्चिन्तनस्वरूपमेवोपदर्शयति--

हेतुविदसौ न शाब्दः शाब्दोऽसौ न तु विदग्धहेतुकथः ।
उभयज्ञो भावपटुः पटुरन्योऽसौ स्वमतिहीनः ॥११॥

हेतुविदसाविति । **असौ** प्रतिवादी, **हेतुवित्** हेतुस्वरूपज्ञाता, **न शाब्दः** शब्दस्वरूपज्ञो न भवतीति, **असौ** प्रतिवादी, **शाब्दः** शब्दस्वरूपज्ञः, **न तु** न पुनः, **विदग्धहेतुकथः** व्यधिकरणबहुव्रीहेरसाधुत्वाद् विदग्धानां हेतुकथा यस्य स विदग्धहेतुकथ इति बहुव्रीहिर्न सम्भवति किन्तु विदग्धपदं विदग्धसम्बन्धिपदमाश्रित्य विदग्धा हेतुकथा यस्य स विदग्धहेतुकथ, **उभयज्ञो भावपटुरि**त्यत्र उभयज्ञोऽभावपटुरित्यकारप्रश्लेषः, उभयज्ञो हेतुस्वरूप-शब्दस्वरूपज्ञाताऽसौ, अभावपटुर्भावपटुर्यो न सोऽभावपटुः भावाभिज्ञो न भवतीत्यर्थः, **असौ** प्रतिवादी, **अन्यः** पूर्वोपदर्शितप्रतिवादिभिन्न. पटुः उभयज्ञो भावपटुश्च, किन्तु **स्वमतिहीनः** स्वस्य वादिनो या मतिर्ज्ञानं तन्मतिसदृशः मति-रहित इत्यर्थः ॥११॥

इत्थं चिन्तयन् वादी सम्भावितप्रतिवादिकथादोषान्वेषणतत्परस्तदुपन्यासाभ्या-सार्थं रात्रावपि निद्राविमुख एवास्ते इत्युपदर्शयति--

सा नः कथा भवित्री तत्रैता जातयो मया योज्याः ।
इति रागविगतनिद्रो वाङ्मुखयोग्यां निशि करोति ॥१२॥

सा नः कथा भवत्रीति । **नः** अस्माकम्, **सा कथा**, **भवित्री** भविता, **तत्र** तस्या कथाया, मद्हृदयगताः, **जातयो**ऽसदुत्तरलक्षणा जातयः, **मया** वादिना, **योज्या** प्रतिवाद्युक्तौ सङ्घटनीया, इति एव, **रागविगतनिद्रः** रागपदं द्वेषस्याप्युपलक्षक, तेन स्वमते यो राग. परमते यश्च द्वेषस्ताभ्यां विगता विनष्टा निद्रा सुपुप्तिर्यस्य स रागविगतनिद्र. सन्, **वाङ्मुखयोग्यां** वाचि मुखे च योग्यां योजयितु शक्या कथा, **निशि** रात्रौ, **करोति** कुरुते, यदि प्रतिवादी एव वदिष्यति तदा तत्रेमा जातिं योजयिष्यामीत्याद्यभ्यासं रात्रावपि करोतीत्यर्थ. ॥१२॥

इत्थभूतस्य वादिनो महत् कष्ट स्वव्यापारप्रभवाविर्भवतीत्याह—

अशुभवितर्कधूमितहृदयः कृत्स्नां क्षपामपि न शेते ।
कुण्ठितदर्पः परिषदि वृथात्मसंभावनोपहतः ॥१३॥

अशुभेति । **अशुभवितर्कधूमितहृदय** अशुभविषयको यो वितर्कं कुतर्कं मम प्रतिवादी सभाज्वरादिपीडितो भवतु न तस्य सभाया वाक् प्रसरत्वित्यादिः तेन धूमित हृदयोऽन्त'करणं यस्य स अशुभवितर्कधूमितहृदय , **कृत्स्नां** सम्पूर्णां, **क्षपामपि** निशामपि, अपिना तु न स्वपित्येवेति सूचितम्, **न शेते** न स्वपिति, **परिषदि** साभाया, म **कुण्ठितदर्प.** कुण्ठित' गर्जनादिक्रियाकरणसमर्थः दर्पोऽभिमानो यस्य स कुण्ठितदर्प , **वृथात्मसंभावनोपहत** वृथा प्रयोजनरहिता याऽऽत्मनः स्वस्वसभावना अहं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः मत्सम्मुख कोऽपि स्थातुं न शक्यत इत्यादिका तयोपहतः पीडित स्वविषयासम्भत्तौ सम्भावना केवलं पीडयत्येवेत्यर्थः ॥१३॥

तथा—

प्राश्निकचाटुप्रणतः प्रतिवक्तरि मत्सरोष्णाबद्धाक्षः ।
ईश्वररचिताकुम्भो भरतक्षेत्रोत्सवं कुरुते ॥१४॥

प्राश्निकेति । **प्राश्निकचाटुप्रणतः** प्राश्निकं विप्रतिपत्तिस्थानोपदेष्टारं

मध्यस्थं चाद्रप्रणतः आह्लादजनकवचनोपन्यासपूर्वकं प्रकर्षेण नमस्कृतिमान् साधुः भवान् आसनमलङ्करोतु सुस्थिरं भवन्तं प्रणमामीत्याद्युक्त्वा प्रणत इत्यर्थः, **प्रतिवक्तरि** प्रतिवादिनि, **मत्सरोष्णावद्धाक्षः** मत्सरेण प्रतिवादिगुणासहिष्णुतालक्षणद्वेषेणोष्णामिव बद्धं भ्रुकुटीसन्नद्धमक्षं नयनं यस्य स मत्सरोष्णावद्धाक्षः, **ईश्वररचिताकुम्भः** ईश्वरेण सभापतिना रचितः आकुम्भो मस्तकादौ मुकुटाद्यलङ्कारादिर्यस्य स ईश्वररचिताकुम्भः, आसमन्तात् कु पृथिवीं भासयति स्वतेजसेति आकुम्भशब्दव्युत्पत्तिः, **भरतक्षेत्रोत्सवं** भरतक्षेत्रे उत्सवं, **कुरुते** तनोति ॥१४॥

तथा—

यदि विजयते कथञ्चित् ततोऽपि परितोषभग्नमर्यादः ।
स्वगुणविकत्थनदूषिकः त्रीनपि लोकान् खलीकुरुते ॥१५॥

यदि विजयत इति । **यदि कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण, **विजयते** प्रतिवादिनं विजयते, **ततोऽपि** कथञ्चित्प्रतिवादिविजयादपि, **परितोषभग्नमर्यादः** परितोषेण प्रतिवादिविजयजनितात्यानन्देन भग्ना विनष्टा मर्यादा अभिजनप्रणामादिव्यवस्था यस्य स परितोषभग्नमर्यादः, **स्वगुणविकत्थनदूषिकः** स्वगुणस्य यद्विकत्थनं यं यं पश्यति तं सर्वं प्रति भूयः प्रलपनं तेन दूषिकः अन्यजनदूषणोद्भावनस्वभावः, **त्रीनपि लोकान्** भुवनत्रयमपि, **खलीकुरुते** अखलमदुष्टं खलं दुष्टं करोतीति खलीकुरुते त्रिभुवनमपि खलं कर्तुमध्यवसित इत्यर्थः ॥१५॥

तथा—

उत जीयते कथञ्चित् परिषत्प्रतिवादिनं स कोपान्धः ।
गलगर्जेनाक्रामन् वैलक्ष्यविनोदनं कुरुते ॥१६॥

उत जीयत इति । "उत कथञ्चिज्जीयते स कोपान्धः गलगर्जेन परिषत्परिवादिनं आक्रामन् वैलक्ष्यविनोदनं कुरुते" इत्यन्वयः । **उत** अथवा, **कथञ्चिज्जीयते** प्रतिवादिना कथञ्चित् पराजितो भवति वादी, **स** वादी, **कोपान्धः** येन केनचिदुपायेन युक्तवादिनमपि मा पराजितवानिति जातकोपेनान्धो विवेकनयनविकलः, **गलगर्जेन** मुक्तकण्ठसिंहनादेन, **परिषत्पतिवादिनं** सभास्थजनप्रतिवादि-

वृन्दं, **आक्रामन्** आक्रमण कुर्वन्, **वैलक्ष्यविनोदनं** निर्ह्रीकतया यद्वा तद्वा वल्गनं वैलक्ष्य तेन विनोदन सभ्यजनमनोरञ्जनं, **कुरुते** करोतीत्यर्थः ॥१६॥

तथा—

वादकथां न क्षमते दीर्घं निःश्वसिति मानभङ्गोष्णम् ।
रम्येऽप्यरतिज्वरितः सुहृत्स्वपि वज्रीकरणवाक्यः ॥१७॥

वादकथामिति । **वादकथां न क्षमते** तत्त्वनिर्णयफलिकां कथा कर्तुं न पारयति, **मानभङ्गोष्णं** मानस्य भङ्गेनोष्ण यथा स्यात् तथा, **दीर्घं** दीर्घकालं, **निःश्वसिति** श्वासोच्छ्वासं करोति, **रम्येऽपि** मनोहरेऽपि नृत्यगीतादौ, **अरतिज्वरितः** अप्रीतिलक्षणज्वरप्रपीडित., **सुहृत्स्वपि** स्वामित्रबन्धुवर्गेऽष्वपि, **वज्रीकरणवाक्यः** वज्रप्रतिमवाक्योच्चारको भवतीत्यर्थ. ॥१७॥

तथा—

दुःखमहङ्कारप्रभवमित्ययं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।
अथ च तमेवारूढस्तत्त्वपरीक्षां किल करोति ॥१८॥

दुःखेति । **दुःखमहङ्कारप्रभवमिति** अह कुलीन , अहं पण्डितः, मया ज्ञातानि सर्वशस्त्राणि, मत्तो वरिष्ठ. कोऽपि नास्तीत्याकारकबुद्धिलक्षणाहङ्कारात् प्रभवं जननं यस्य तदहङ्कारप्रभवं दु.ख-मन्यु-द्वेषानधीनद्वेषविषयः, **इति** एवस्वरूप., **सर्वतन्त्रसिद्धान्तः अयं** सर्वराद्धान्ताभ्युपगतोऽयमर्थः, **अथ च** एवमपि च, **तमेव आरूढः** तमेव आश्रितः, **किल** इति आश्चर्ये, आश्चर्यमेतत् यदुत अहङ्कारचूलामधिरूढो वादी, **तत्त्वपरीक्षां** प्रश्नप्रतिविधानपुरस्सर तत्त्वनिर्णय, **करोति** कुरुते, अहङ्कारारूढेन तत्त्वपरीक्षा कर्तुमशक्याऽपि तथाविधेन वादिना सा क्रियत इत्याश्चर्यं सुव्यक्तम् ॥१८॥

परसिद्धान्तज्ञानं स्वसिद्धान्तबलोपलब्धये युक्तं, न तु परपक्षक्षोभणायैव तद्विषयमित्युपदर्शयति—

ज्ञेयः परसिद्धान्तः स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् ।
परपक्षक्षोभणमभ्युपेत्य तु सतामनाचारः ॥१९॥

ज्ञेयः परसिद्धान्त इति । "स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थं ज्ञेयः परसिद्धान्तः, अभ्युपेत्य तु परपक्षक्षोभणं सतामनाचारः" इत्यन्वयः । **स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम्**, स्वपक्षस्य बलं च निश्चयश्च स्वपक्षबलनिश्चयौ तयोरुपलब्ध्यर्थं प्राप्त्यर्थं स्वपक्षस्य यद्बलं येन स्वभ्युपगतसिद्धान्तः सुदृढनिरूढो भवति, स्वपक्षस्य निश्चयः इदमित्थमेव भवितुमर्हतीत्याकारकः तत्प्राप्त्यर्थमिति यावत्, **ज्ञेयः** ज्ञानविषयीकर्त्तव्यः, **परसिद्धान्तः** पराभ्युपगतपक्ष., **अभ्युपेत्य तु** परसिद्धान्तं ज्ञात्वा स्वीकृत्य च, **परपक्षक्षोभणं** परपक्षखण्डनं, **सतां** सज्जनानाम्, **अनाचारः** आचारविषयो न भवति, नहि सज्जनो यमेव ज्ञात्वाऽभ्युपगच्छति तमेव खण्डयति, अत एव जैनानां यद् यत् पक्षविज्ञानं तत तत्खण्डनार्थं न, किन्तु तद्दुष्टभागमपनीय स्वपक्षे कथञ्चित्तद्योजनेन स्वपक्षपुष्ट्यर्थमेवेत्यर्थः ॥१९॥

तत्तन्मतव्यवस्थापनायैव कथायाः प्रवृत्तिः न तु ततः सर्वेषामैकमत्यं सम्भवतीत्याह—

स्वहितायैवोत्थेयं को नानामतिविचेतनं लोकम् ।
यः सर्वज्ञैर्न कृतः शक्ष्यति तं कर्तुमेकमतम् ॥२०॥

स्वहितायैवोत्थेयमिति । "इय स्वहितायैव उत्था, सर्वज्ञैर्यो न कृतः तमेकमतं नानामतिविचेतनं लोकं कर्तुं कः शक्ष्यति" इत्यन्वयः । **इयं** वादकथालक्षणापरीक्षा, **स्वहितायैव** वादिनः प्रतिवादिनो वा, स्वमतसिद्धिलक्षणहितार्थमेव, **उत्था** आरब्धा, **सर्वज्ञैः** सर्वविषयकज्ञानशालिभिः, **यः** ऐकमत्यलक्षणोऽर्थः, **न कृतः**, **तमेकमतं** एकं मतं यस्य स एकमतः तम्, **नानामतिविचेतनं** नानाप्रकारिका या मतयः क्षणिकं एवं नित्यं सर्वमित्यादिकाः ताभिः विचेतनं विरुद्धचैतन्यशालिनम्, **लोकं** त्रिभुवनवर्त्तिलोकनिकरम्, **कर्तुं** विधातुं, **कः शक्ष्यति** न कोऽपि शक्ष्यतीत्यर्थः ॥२०॥

सर्वज्ञविषयाखिलार्थप्रकाशनसामर्थ्यं छद्मस्थस्य नास्तीति नाश्चर्यम्, यत् किञ्चिद्विषयकं ज्ञानमपि तस्योच्यते तदत्यन्ताश्चर्यं, वस्तुगत्यैकविषयकज्ञानस्यापि तस्मिन्नभावादित्याह—

सर्वज्ञविषयसंस्थान् छद्मस्थो न प्रकाशयत्यर्थान् ।
नाश्चर्यमेतदत्यद्भुतं तु यत् किञ्चिदपि वेत्ति ॥२१॥

सर्वज्ञेति । "सर्वज्ञविषयसंस्थानर्थान् छद्मस्थो न प्रकाशयति एतदाश्चर्य न, यत् किञ्चिदपि वेत्ति तु अत्यद्भुतम्" इत्यन्वयः । **सर्वज्ञविषयसंस्थान्** सर्वज्ञ-तज्ज्ञानयोस्तादात्म्यात् सर्वज्ञज्ञानविषया अपि सर्वज्ञविषयास्तेषु संस्थान् सम्यक्प्रकारेणाविरुद्धतया व्यवस्थितान्, **अर्थान्** सकलद्रव्यसकलपर्यायरूपानर्थान्, **छद्मस्थः** प्रमाता, **न प्रकाशयति** न स्पष्टमेव भासयति, **एतत्** अनन्तरोपदर्शितं वस्तु, **नाश्चर्यं** आश्चर्यजनक न भवति, **यत्** पुन , **किञ्चिदपि** एकमपि यत् किञ्चित्, **वेत्ति** जानाति, **तु** पुनः, **अत्यद्भुतम्** अत्यान्ताश्चर्यमेतत् 'जे एगं जाणइ०' इत्यादिवचनात् सर्वविषयकज्ञाने सत्येवैकविषयकज्ञानस्य भावेन सर्वविषयकज्ञानरहिते एकविषयकज्ञानासंभवादित्यर्थ ॥२१॥

यादृशो वादी सभाजनमनोरञ्जको भवति तमुपदर्शयति--

अविनिर्नयगम्भीरं पृष्टः पुरुषोत्तरो भवति वादी ।
परिचितगुणवात्सल्यः प्रीत्युत्सवमुत्तमं कुरुते ॥२२॥

अविनिर्नयेति । **अविनिर्नयगम्भीरं** विशेषण निर्गतो नयाद् विनिर्नय. अविनिर्नय , अविनिर्नयेन गम्भीर अविनिर्नयगम्भीरं यथा स्यात् तथा, **पृष्टः** सन् नययुक्तगम्भीरवचनेन प्रतिवादिना पृष्ट. सन्निति यावत्, **वादी, पुरुषोत्तर** पुरुषस्योत्तरवचनमिवोत्तरवचनं यस्य स पुरुषोत्तरवचन· निर्मीतदोषासंस्पृष्टगुण-सम्पृक्तसमाधानवचनविधातेति यावत्, **भवति** एवम्भूतो वादी, **परिचितगुण-वात्सल्यः** परिचित लोके प्रसिद्ध गुणेषु वात्सल्यं प्रकटितस्नेहशालित्व यस्य स परिचितगुणवात्सल्यः, **प्रीत्युत्सवं** सभास्थजनेषु प्रीत्युत्सव, **उत्तमं** उन्नतं स्वस्य लोके विख्यातिं, **कुरुते** तनोतीत्यर्थः ॥२२॥

कस्यचिद् वादिनोवचनमसारमपि विनयाद्याकलितमुपादेयं भवति कस्यचित् पुनः सारमपि गर्वाद्याकलितमुपेक्षणीय भवतीत्याह---

विनयमधुरोक्तिनिर्मममसारमपि वाक्यमास्पदं लभते ।
सारमपि गर्वदृष्टं वचनमपि मुनेर्वहति वायुः ॥२३॥

विनयेति । विनयमधुरोक्तिनिर्ममम् विनयो नम्रीभवनाद्यावेदनसंयुक्तं मधुरं कर्णप्रियं उक्तिर्वचनं निर्ममं ममतारहितमहङ्कारविवर्जितं यत्र विनयमधुरोक्ति-निर्ममत्वं तद्विनयमधुरोक्तिनिर्ममं, एतादृशं **वाक्यम् असारमपि** तत्त्वरहितमपि, **आस्पदं** स्थानं, **लभते** प्राप्नोति, एतादृशं वादिनो वक्यमादरेण शृणोति जनः, **मुनेरपि** साधोरपि, **सारमपि** तत्त्वप्रतिपादकमपि, **वचनं** वाक्यं, **गर्वदष्टं** गर्वेणाभिमानेनावलोकितं अभिमानाक्रान्तमिति यावत्, **वायुः** पवनः, **वहति** श्रोतृजनकर्णैः परित्यज्यान्यत्र नयति–तद्वचनं कोऽपि श्रोतुमपि नोत्सहतइत्यर्थः ॥२३॥

धूर्तैस्तु तत्र या मीमांसा क्रियते तथा परस्परं कलह एव विवर्धते न तु तत्त्वनिर्णय इति कथानधिकरण एव तदित्याह—

पुरुषवचनोद्यतमुखैः काहलजनचित्तविभ्रमपिशाचैः ।
धूर्तैः कलहस्य कृतो मीमांसानामपरिवर्तः ॥२४॥

पुरुषवचनोद्यतमुखैरिति । पुरुषवचनोद्यतमुखैः नाहं क्लीबो न वा स्त्री किन्त्वहं पुरुषः यद् यत् समीहितं तत् तत् कर्तुं समर्थ इत्यादि यत्पुरुषवचनं तत्रोद्यतं तद् वक्तुमभिमुखं मुखं वदनं येषां ते पुरुषवचनोद्यतमुखास्तैः, **काहल-जनचित्तविभ्रमपिशाचैः** काहलजनः यद्वा तद्वा प्रवचनशील. कोलाहलप्रियो जनः तस्य चित्तविभ्रमे चित्तविक्षेपे पिशाचा इव पिशाचा यथा शरीरान्त.प्रविष्टाश्चित्त-विक्षेपं जनयन्ति तथा इमे इति काहलजनचित्तविभ्रमपिशाचास्तैः, एवभूतैः **धूर्तैः कलहस्य** परस्परविरोधसमुद्भूतकले, **मीमांसानामपरिवर्त्तः** मीमासासञ्ज्ञक-विपरिणामः कृत । वेदस्य पूर्वमीमासाभेदेन द्विविधाऽपि मीमांसाकलहविस्तार एवे-त्यर्थ. ॥ २४ ॥

वादिनो वैराग्यप्रभव चित्तैकाग्र्यं मोक्षप्रदमपि सम्भाव्यत इत्याह—

परिनिग्रहाध्यवसितः चित्तैकाग्र्यमुपयाति यद् वादी ।
यदि तत् स्याद् वैराग्येण चिरेण शिवपदमुपयातु ॥२५॥

परिनिग्रहेति । परिनिग्रहाध्यवसितः परितो निग्रहान् प्रतिज्ञाहान्यादि-

निग्रहस्थानावाप्तिजनितानध्यवस्यति निश्चिनोतीति परिनिग्रहाध्यवसितः यद्यहमेतद्विषये इत्थं ब्रवीमि तर्ह्यनेन निग्रहस्थानेन निगृहीतोऽहं स्यामित्यादिनिश्चयवान्, **वादी, तत्** तस्मात् **चित्तैकाग्र्यं** मनस एकाग्रत्व प्रस्तुतविपयातिरिक्तविषयानालिङ्गितमनस्कत्व-मिति यावत्, **उपयाति** प्राप्नोति, **यदि तत्** चित्तैकाग्र्यम्, **वैराग्येण** विषयविर-क्तत्वेन, **स्यात्** भवेत्, तदा **चिरेण** चिरकालेन 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम्' इति वचनात् शिव पद मोक्षस्थानम्, **उपयातु** प्राप्नोतु इत्यर्थः ॥ २५ ॥

विरक्तस्य वादिनो विचारमुपदर्शयति—

एकमपि सर्वपर्ययनिर्वचनीयं यदा न वेत्त्यर्थम् ।
मां प्रत्यहमिति गर्वः स्वस्थस्य न युक्त इति पुंसः ॥२६॥

एकमपीति । **एकमपि** अस्य अर्थमित्यनेनान्वयः—**सर्वपर्ययनिर्वचनीयं** सर्वैः स्व-परपर्ययैर्निर्वक्तुं योग्यम्, **एकमपि** द्रव्यात्मकमर्थम्, **यदा** छद्मस्थावस्थायां, **न वेत्ति** न जानाति तदा मा प्रति छद्मस्थत्वेन स्वसदृशं, **मां प्रति अहमिति-गर्वः** अहं सर्वं जानामि न त्वं किमपि जानासि तत् किं त्वं विकत्थसे इत्यादि **गर्वो**ऽभिमानः, **स्वस्थस्य** स्वस्वरूपव्यवस्थितस्य, **पुंसः** पुरुषस्य, **न युक्तः** न समीचीनः, तथा च पिशाचादिग्रस्तो मदोन्मत्तो वा पुमानहमित्यभिमानं कर्तुमर्हति न तु स्वस्य इत्यर्थः ॥ २६ ॥

[इतः परमार्याबद्ध न दृष्टवरमतस्तद्व्याख्यानाभावेन न्यूनतापादकः ॥]

एकव्यक्तिकृतं विवेचनमिदं न स्यात् कथान्तर्गतं
तत्त्वाख्यानपर परन्तु कृतिनस्ततस्यादभीष्टप्रदम् ।
एतस्यापि परीक्षयाऽध्यवसितिर्युज्येत वादाश्रिता
वादिव्रातकृतादरा भवतु सा नव्या कथा सस्तुता ॥१॥

इति वादाख्याऽष्टमी द्वात्रिंशिका समाप्ता ॥

वेदवादाख्या

नवमी द्वात्रिंशिका ।

युक्तिव्रातसमाश्रितेयमुदिता वीरस्तुति· सर्वथा
सर्वार्था नहि किन्तु सर्वघटना स्याद्वादतो यन्त्रिता ।
सर्वार्थो ननु सर्व एव नियत. शब्द· प्रभोर्वाचको
लावण्येन विलोकितोऽर्थगतित. स्याद् वै स्तुतिर्भाविक ॥ १ ॥

वेदवेद्यार्थविषयज्ञातारमुपदर्शयति—

अजः पतङ्गः शबलो विश्वमयो
धत्ते गर्भमचरं चरं च ।
योऽस्याध्यक्षमकलं सर्वधान्यं
वेदातीतं वेद वेद्यं स वेद ॥१॥

अजः पतङ्ग इति । "पतङ्ग. शबल विश्वमय· अज अचरं चर च गर्भं धत्ते अस्य अध्यक्षम् अकलं सर्वधान्यं वेदातीत वेद्यं यः वेद स वेद" इत्यन्वयः । वेदाभिमतसगुण-निर्गुणब्रह्मणोर्ज्ञानमनेन पद्येन प्रशस्यते । **पतङ्गः** पतन् गच्छतीत्यतः पक्षी, तत्साम्येन विवक्षितः, जीवेश्वरयो· पक्षित्वेन रूपेण वेदेऽपि श्रूयते—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरेक पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति ॥"

इत्यादौ, **शबल** मायया शबलित. चित्रितः । **विश्वमयः** स्वस्वरूपेण विश्वं व्याप्नुवन् विश्वभावमुपगत·, **अजः** न जायते जन्माख्यं भावविकारमनुभवतीति स·, स चात्र हिरण्यगर्भो गृह्यते, भवति च ताटस्थ्येन चराचरगर्भाधायकत्वेन, तस्य लौकिकाऽसाम्यम् । वेदे च अजशब्देन मायाशबलं चैतन्यम्, अजाशब्देन च माया कथ्यते—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा बह्वीः प्रजा. सृजमाना सरूपा.
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य. ॥

इति । अजश्च परब्रह्मापि कथ्यते—

"अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराण. ।" इत्यादिरूपेणोपनिषत्सु गीताया च । **अचरं** स्थावर, **चरं** चेतनं च, **गर्भ** गर्भरूपेण स्वान्तःस्थित, **धत्ते** धारयति, सृष्टिसमये स्वशक्तिभूताया प्रकृतौ गर्भरूपेग चराचरमाधत्ते इति भावः । अस्य चराचररूपस्य गर्भस्य तद्धारकस्य वा, **अध्यक्षम्** अधोशितारं प्रेरकम्, **अकलं** निरवयव, **सर्वधान्यं** सकलसृष्टिवीजभूत, **वेदातीतं** वेदेभ्योऽपि वाच्यत्वेनातिक्रान्तम्, तथापि **वेद्यं** वेत्तु योग्य (परम ब्रह्म) **यः वेद** य. जानाति, **सः** स एव, **वेद** जानाति, नान्यो प्राकृतबलज्ञाता ज्ञानवत्त्वेन व्यपदेश्य इति भावः । **अत्र** द्वात्रिंशिकाया वेदानामुपनिषदा च सिद्धान्तभूता अर्थाः सूक्ष्मदृष्ट्या आलङ्कारिकभाषया च निबद्धा। विशेषत श्वेताश्वतरोपनिषदो वाक्यान्यनुसृतानि । विशेषजिज्ञासुभिश्च उपनिषद एवावलोकनीया इति नेह तत्र तत्र विशिष्योपनिषदादिभिन्न प्रदर्श्यन्ते ॥१॥

वेदवेद्यत्व विश्वात्मनोरनेकधा विद्यते तदेव क्रमेणकैकप्रकारो पदर्शनेन भावयति—

स एवैतद् विश्वमधितिष्ठत्येक-
स्तमेवैतं विश्वमधितिष्ठत्येकम् ।
स एवैतद् वेद यदिहास्ति वेद्यं
तमेवैतद् वेद यदिहास्ति वेद्यम् ॥२॥

स एवेति। "स एवैक एतदवैश्वमधितिष्ठति तमेवैकमेत विश्वमधितिष्ठति यदिहास्ति वेद्यं एतत् स एव वेद, यदिहास्ति एतत् तमेव वेद्यं वेद" इत्यन्वयः। पूर्वार्द्धेन विश्वात्मनोरन्योऽन्यमधिष्ठानाधिष्ठेयभाव , उत्तरार्द्धेन तयोरन्योऽन्यं वेद्य-वेदकभावश्च दर्शित । **स एव** आत्मैव, **एकोऽ**द्वितीय., **एतद् विश्वं** प्रत्यक्ष जगत्, **अधितिष्ठति** व्याप्यावतिष्ठते, "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।" इति वचनात् अथवा एतद्विश्वमस्मिन्नेव प्रकल्पितमिति भ्रमाधिष्ठानत्वादात्मा विश्वमधितिष्ठतीति, **तमेवैकमेतं** तमात्मानमेवाद्वितीयं प्राप्तम् , **विश्वं** जगत्कर्तृ, **अधितिष्ठति** अधिकृत्याश्रित्य तिष्ठति वर्तते, **यत्** यत् किमपि, इह जगति, **अस्ति** विद्यते, **वेद्य** ज्ञानक्रियाकर्म एतद्विश्वस्थितं वस्तु,**स**

एव आत्मैव, **वेद** जानाति, **यदिहास्ति** यद् इह जगति वर्तते एतत्कर्तृभूतं, **तमेव** वेद्यमात्मानमेव, **वेद** जानातीत्यर्थ । यथा स विश्वाधिष्ठानतया ख्यातोऽपि स्वयं विश्वमधितिष्ठति सर्वस्मिन् तस्य स्थितित्वात् तथैव यथा स सर्वं विश्वं जानाति सर्वज्ञत्वात् तथा सर्वं विश्वमपि तमेव जानाति तदतिरिक्तस्य ज्ञेयत्वाभावाद् इति तात्पर्यम् ॥ २ ॥

विश्वात्मनोरन्योऽन्य स्त्रष्टृत्व सृज्यमानत्वाभावं चोपदर्शयति—

स एवैतद् भुवनं सृजति विश्वरूपः
तमेवैतत् सृजति भुवनं विश्वरूपम् ।
न चैवैनं सृजति कश्चिन्नित्यजातं
न चासौ सृजति भुवनं नित्यजातम् ॥३॥

स एवेति । "विश्वरूपः स एव एतद् भुवन सृजति, विश्वरूपं तमेवैतत् भुवनं सृजति, कश्चिन्नित्यजातमेनं न चैव सृजति, असौ नित्यजात भुवनं न च सृजति" इत्यन्वय । **विश्वरूपः** सर्वात्मक., **स एवा**त्मैव, एतद् भुवन दृश्यमान जगत्, सृजति "एकोऽहं बहु स्याम्" इति श्रुतेः । यदुत्पद्यते तत् सर्व ब्रह्मैव सर्वस्य वस्तुनो ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावादिति, **विश्वरूपं** चराचरात्मक, **तमेव** आत्मानमेव, **एतद् भुवनं** परिदृश्यमान भुवनं कर्तृभूतम्, **सृजति** उत्पादयति, कर्तृकर्मणोरुभयोरपि ब्रह्मरूपत्वेन कर्तृभूत ब्रह्मात्मकमेव जगत् कर्मभूतात्मस्वरूपतया परिणमत इति, वस्तुत एकस्यैव सत आत्मनो नित्यस्याविकारिणो न कर्तृत्व-कर्मत्वे सम्भवतः, कार्य-कारणभावस्य भेदनियतत्वात् नित्यस्य कार्यत्वायोगाच्चेत्याह–**कश्चित्** कोऽपि, **नित्यजातं** सर्वदा विद्यमानम्, **एनमा**त्मान, **न चैव सृजति** नोत्पादयत्येव,

"न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वापि भूय ।
अजो नित्य· शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

इत्यादिवचनात् । **असौ** आत्मा, **नित्यजातं** सर्वदाऽवस्थितसत्ताकं **भुवनं** जगत्, **सृजति** उत्पादयति । उत्पत्तेः पूर्वं जगतोऽसत्त्वे शशशृङ्गादि-

वत् तस्योत्पादासम्भवात्, सत्त्व तु तस्य पारमार्थिकमात्मस्वरूपतयैव तेन रूपेण नित्यसतोऽपि तस्योत्पादासम्भवात, उक्त च—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"३॥ इति

कृतात्मज्ञानाभ्यासस्यैव ज्ञानदाढर्याय वेदः प्रभवति, नान्यथेत्युपदर्शयति—

एकायनशतात्मानमेकं
विश्वात्मानममृतं जायमानम् ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
यस्तं च वेद किमृचा करिष्यति ? ॥४॥

एकायनशतात्मानमिति । **एकायनशतात्मानं** एकमयनं गमनागमनद्वार यस्य स एकायनः, एकमद्वितीयमयनमाधारभूत वा शतपदमिहानन्तसङ्ख्यावबोधक शतमनन्तसङ्ख्यक आत्मा स्वरूपं यस्य स शतात्मा, एकायनश्चासौ शतात्मा तम्, चैकायनशतात्मानम् एकमार्गानुगम्यमानाखिलाश्रयानन्तस्वरूपमित्यर्थः, **एकम्** अद्वितीयम्, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।" इति श्रुतेः। **विश्वात्मानं** विश्वस्वरूप तस्यैवैकस्य मायासहकारेण विश्वरूपेण विवर्त्तनम्, **अमृतं** अमरं स्वतस्तस्यामृतत्वाद्, **जायमानम्** उत्पद्यमानम्, मायाकल्पितमानृतादिरूपेण भवनात्, तमेवम्भूतमात्मान, **यः** यः कश्चित्, **न वेद** न जानाति, **किमृचा करिष्यति** ऋगिति वेदमात्रस्योपलक्षण निखिलवेदाभ्यासेनापि न किञ्चित् करिष्यति, एतद्दार्ढ्यायैव **यस्त च वेद किमृचा करिष्यति** इति पुनरप्युपादानमित्यर्थः, यस्त वेदेति चतुर्थचरणे पाठे च यस्तद् विज्ञानवान् सोऽपि वेदैः कि करिष्यति इत्यर्थः, तद्विज्ञानार्थमेव वेदानामुपयोगात् तस्मिन् सति तदनुपयोगः इति, तद् वैयर्थ्यम् अधीतेष्वपि वेदेषु तदविज्ञाने च तेषा स्पष्टं वैयर्थ्यमिति भावः ॥४॥

ब्रह्मणो मायास्वरूपाया गुहाया प्रविष्टाः सर्वे पदार्थाः तयैव सगूहिताः, शुद्धब्रह्मज्ञानेन विलीनाया मायाया सर्वे विलीयन्त इति मायानुरक्षितत्व तेषामित्याशयेनाह—

सर्वद्वारा निभृता मृत्युपाशैः
स्वयंप्रभानेकसहस्रपर्वा: ।
यस्यां वेदाः शेरते यज्ञगर्भाः
सैषा गुहा गूहते सर्वमेतत् ॥५॥

सर्वद्वारेति । **सर्वद्वारा** सर्वतः द्वाराणि यस्यां सा, **मृत्युपाशैः निभृता** मृत्युबन्धनैः व्याप्ता, **स्वयंप्रभा** स्वयमेव प्रकर्षेण भासमाना, **अनेकसहस्रपर्वाः** अनेकानि सहस्राणि पर्वाणि ग्रन्थयः सन्धयो विभागा वा पक्षा यस्या. सा अनेक सहस्रपर्वाः । आवरणशक्ति-विक्षेपशक्तिभ्या प्रथमतो द्विपर्वा माया, आवरणशक्तिश्चासत्त्वापादकावरणशक्त्यमानापादकशक्तिभ्यां द्विप्रकारा, प्रत्येक साऽप्याव्रियमाणविषयानन्त्यादनन्ता विक्षेपशक्तिश्च सर्जनशक्तिः साऽपि सृज्यमानानन्त्यादनन्तेत्येव भावान्तरभेदाकलनेनानेकसहस्रपर्वा मायेति, **यस्यां** मायायां, **वेदाः** श्रुतयः, **यज्ञगर्भाः** यज्ञप्रतिपादकाः, **शेरते** तत्त्वजिज्ञासुभिर्हि साप्रधानत्वेनोपेक्षिताः सन्तः सुप्तपुरुषवत् सुखमवतिष्ठन्ते, **सैषा** मायास्वरूपा, **गुहा** गुहेवान्धकारप्रधाना, **एतत्** दृश्यमानं, **सर्वं** जगदेव, **गूहते** रक्षति इत्यर्थः ॥५॥

वेदवेद्यमात्मनः स्वरूपमुपदर्शयति—

भावाभावो निःस्वतत्त्वः [सतत्त्वो]
निरञ्जनो [रञ्जनो] यः प्रकारः ।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो
विश्वेश्वरः सर्वमयो न सर्वः ॥६॥

भावाभाव इति । **भावाभाव**· भवतीति भावः सत्ता नैयायिकाद्युपगतपरसामान्यं तद्रूप इत्यर्थ, तथा अभाव· वेदान्तिमतेऽभावस्याधिकरणस्वरूपत्वमिति सर्वाभावो ब्रह्मात्मगतो ब्रह्मैवेति, अत एव **निःस्वतत्त्वः** ब्रह्मणः स्वतत्त्वं सत्त्वं चित्त्वानन्दत्वं च तच्च निर्धर्मकब्रह्मणि धर्मस्वरूपं न विद्यत इति निःस्वतत्त्वः, तर्हि ब्रह्म सत् ब्रह्म चित् ब्रह्म आनन्द इति व्यपदेशः कथमिति

चेत्, इत्थं यथा ब्रह्मणि न सत्ता तथा असत्तारूपोऽपि व्यावहारिकसत्त्वलक्षणो धर्मो न विद्यते इत्यसत्त्वाभाव एव ब्रह्मस्वरूपं ब्रह्म सदिति व्यपदेशनिबन्धनम्, तथाऽज्ञानत्वाभाव एव ब्रह्मणि चिद्व्यपदेशनिबन्धनम्, तथाऽनानन्दत्वाभाव एव ब्रह्मस्वरूपतया ब्रह्मणि आनन्द इति व्यपदेशनिबन्धम्. तथाऽनानन्दत्वाभाव एव ब्रह्मस्वरूपतया ब्रह्मणि आनन्द इति व्यपदेशनिबन्धनम्, तथा **सतत्त्व** इति व्यावहारिकतद्धर्मकल्पनाधिकरणमित्यर्थः, **निरञ्जनः**, अञ्जनं राग-द्वेषादिकभाविकं तेन रहितः, तथा **रञ्जनः** लोकरञ्जनार्थं रागादिभाक् 'यः प्रकारः' इत्यस्य स्थाने 'नि प्रकारः' इति पाठो युक्तः । निर्गत. प्रकारोऽवान्तरभेदो यस्मात् स निष्प्रकारोऽवान्तरभेदरहितः, **गुणात्मकः** सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मकमायायास्तादात्म्याध्यासाद् गुणात्मकः, तत्र सत्त्वगुणावच्छिन्न चैतन्यं विष्णुः, रजोगुणावच्छिन्नं चैतन्यं ब्रह्म, तमोगुणावच्छिन्न चैतन्य महेश्वरः, सामान्यतो मायावच्छिन्न चैतन्यमीश्वर इति मायारूपोपाधेरैक्यादीश्वरस्यैक्यं, तत्रैव मायायां सत्त्वगुणस्य प्रधान्यविवक्षया तदात्मकमायावच्छिन्नचैतन्यत्वं विष्णुत्व, रजोगुणस्य प्राधान्यविवक्षया तदात्मकमायावच्छिन्नचैतन्यत्वं ब्रह्मत्वं, तमोगुणस्य प्राधान्यविवक्षया तदात्मकमायावच्छिन्नचैतन्यत्वं महेशत्वमित्येवं सगुणमुपाधिभेदादेकमपि त्रिरूपम्, **निर्गुणः** उपाधिरहित आत्मा सत्त्वादिगुणरहित· शुद्धचैतन्यव्यपदेशभाक् निर्गुणत्वादेव, **निष्प्रभावः** मायाभेदाध्यासजनितसृष्टि-स्थिति-विलयलक्षणकार्यकारित्वात्मकप्रभावरहित, **विश्वेश्वरः** मायालक्षणशक्तियोगाद् विश्वस्य जगत उत्पत्ति-स्थिति-लयान् कर्तुमीष्टे इति, **विश्वेश्वरः** सर्वमय·, घट-पटाद्यशेषपदार्थरूपेण विवर्त्तेनायमेवात्माऽवभाषते नान्यः कश्चन चकास्तीति, **सर्वमयः** पारमार्थिकदृष्ट्या जगदेव नास्तीति कुतस्तद्रूप आत्मा सत्य-मिथ्यास्वरूपयोरेकीकरणासम्भवादित्याह—**न सर्वं** इति ॥६॥

प्रपञ्चकर्तृत्वप्रपञ्चभोक्तृत्वान्यासहकृतत्वात्मा स्रष्टृत्वान्यास्रष्टृत्वधर्मान् व्यवहारनिश्चयान्यतरदृष्ट्युपपन्नानुपदर्शयति—

सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुङ्क्ते
सर्वश्चायं भूतसर्गो यतश्च ।

न चास्यान्यत् कारणं सर्गसिद्धौ
न चात्मानं सृजते नापि चान्यान् ॥७॥

सृष्ट्वेति । **सृष्ट्वा सृष्ट्वा** विश्वमुत्पाद्योत्पाद्य, **स्वयमेव** स्रष्टृस्वरूप आत्मैव, **उपभुङ्क्ते** भुनक्ति, **च** पुनः, **सर्वोऽयं भूतसर्गः** अशेषोऽप्युपलभ्यमानो भू-जल-तेजो वाय्वाकाशात्मकपञ्चभूतोत्पाद , **अतश्च** यस्मात् पुन र्भवति, भूतोत्पत्ति-कारणत्वमनेन दर्शित, भूतस्थितिप्रलयकारणत्वमप्यनेनोपलक्षितम्, **अस्य** आत्मनः, **सर्गसिद्धौ** भूतोत्पादने, **अन्यत् कारणं** आत्मभिन्न सहकारिकारण, **न च** नैव समस्ति, निश्चयदृष्ट्या त्वाह—**न चात्मानं सृजते** अयमात्मा स्वरूपं नोत्पादयति आत्मस्वरूपस्य नित्यस्योत्पादासम्भवात्, **च** पुनः, **अन्यान्** आत्म-भिन्नान्, **नापि**-नैव, **सृजते** वस्तुत आत्मभिन्नस्याभावेन तदुत्पादासम्भवात् ॥७॥

अस्यात्मनोऽनिन्द्रियत्व प्रतिनियतेन्द्रियविषयग्राहकत्वमन्तरेणैवेन्द्रियजज्ञान-वत्त्वं कर्मेन्द्रियप्रतिनियतविषयाभावश्चोपदर्शयति—

निरिन्द्रियश्चक्षुषा वेत्ति शब्दान्
श्रोत्रेण रूपं जिघ्रति जिह्वया च ।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन्
सर्वेण सर्वं कुरुते मन्यते च ॥८॥

निरिन्द्रिय इति । **निरिन्द्रियः** इन्द्रियैरहित इत्यर्थः, **चक्षुषा** चक्षुरि-न्द्रियेण, **शब्दान्** वेत्ति जानाति, अनिनिन्द्रियस्य चक्षुरेव नास्ति न च शब्दा-चक्षुरिन्द्रिययोग्या इति कथं चक्षुषा वेत्ति शब्दानीति नाशङ्कनीयम् ।

" अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण. ।
स वेत्ति वेद्यं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ॥"

(श्वे० उ० ३. २९)

इत्यादि श्रुतेः, अघटितघटनापटीयसी मायालक्षणा, तस्य शक्तिरिति तत्सम्बन्धात् तस्य सेन्द्रियत्व सर्वप्रत्यक्षवत्त्वमिति चक्षुषेत्यनेन प्रत्यक्षजननशक्त्ये-

त्यस्यावेदनात् प्रत्यक्षयोग्याना शब्दाना प्रत्यक्षजननशक्त्या ग्रहणस्य सम्भवात्, अत एव **श्रोत्रेण रूपं वेत्ति** इत्यपि सङ्गतम्, श्रोत्रेणेत्यस्य तत्प्रत्यक्षजननशक्त्येत्यर्थः, **जिघ्रति** इत्यनेन वेत्ति इत्यस्यावेदनात् प्रत्यक्षयोग्यत्वस्य च रूपे सम्भवात्, रूपमित्यनेनापि विषयमात्रस्यावबोधनम्, अत एव **जिह्वये**त्यपि प्रत्यक्षजननशक्त्येत्यर्थकमिति, एतावता इन्द्रियमात्रप्रभवागोपविषयावगाहिप्रत्यक्षत्व तस्यावेदितं भवति, ज्ञानेन्द्रिय-तद्विषयानियममुपदर्श्य कर्मेन्द्रियतद्विषयानियममुपदर्शयितुमाह—**पादैर्ब्रवीति,** वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दविषयकाणि वाक् पाणि-पाद-पायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणीति वागिन्द्रियविषयत्वमेव वचनस्य विहरणविषयकत्वमेव पादेन्द्रियस्येते यथाश्रुतार्थो न सङ्गतिमेतीति पादैरित्यनेन मायायाः करणशक्त्येत्यर्थस्य, **शिरसे**त्यनेनापि तस्यावेदनात्, ततश्च पादैर्ब्रवीतीति शिरसा याति, **तिष्ठन्निति** च उपपद्यते, ज्ञानेन्द्रिय-तद्विषयकर्मेन्द्रिय-तद्विषयान् प्रति नियमो यदस्योपपन्नतरः तदुपदर्शयति—**सर्वेण** सर्वकरणेन, **सर्व** सर्वं वस्तु, **कुरुते** करोति, **मन्यते च** जानाति च एतावता सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञातृत्वे तस्यावेदिते इत्यर्थः ॥८॥

वाङ्-मनोगोचरस्य बन्धमोक्षानास्पदस्य चात्मनो वाङ्मनोविषयत्व बन्धमोक्षास्पदत्वं च दर्शयति—

शब्दातीतः कथ्यते वावदूकै-
र्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानविद्भिः ।
बन्धातीतो बध्यते क्लेशपाशै-
र्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्पः ॥९॥

शब्दातीत इति । ब्रह्मणो निर्गुणत्वं सगुणत्व च पूर्वमभिहित तत्र निर्गुणत्वमवलम्ब्य शब्दातीतः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कस्यचिद् धर्मस्य शुद्धचैतन्यलक्षणनिर्गुणात्मन्यभावाच्छब्दाप्रतिपाद्य । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २।९) इति श्रुत्या शब्दातीतत्वस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धे, **कथ्यते** शब्देन प्रतिपाद्यते, **वावदूकैः** अतिशयितवचनलम्पटै, **ज्ञानातीतः** सविकल्पक ज्ञानाविषय - निर्धर्मकस्य ब्रह्मण· किञ्चित्प्रकारकज्ञानविषयत्वासम्भवात्, **ज्ञायते**

निर्विकल्पज्ञान देपर्यांक्रियते, **ज्ञानविद्भिः** सविकल्पक-निर्विकल्पकज्ञानभेदाभिज्ञैः 'ज्ञानविद्धि.' इति पाठे—निदिध्यासनमार्गेणोत्पन्नतत्त्वं पदार्थसाक्षात्कारैरित्यर्थः, **बन्धातीतः** बन्धरहितः अपि शुद्धचैतन्यस्य वास्तविकबन्धासम्भवात्, **बध्यते** व्यावहारिकबन्धकर्म्म भवति. "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।" (तै० उ० २।६) इति श्रुत्या ससारप्रविष्टत्वबन्धनकर्मत्वमुपपन्नम् क्लेशपाशैः क्लेशलक्षणकर्मबन्धनरज्जुभिः, **मोक्षातीत.** यस्य बन्ध॰ तस्यैव बन्धापगमलक्षणमोक्षो भवति शुद्धचैतन्यलक्षणः आत्मा तु न कदाचिदपि बद्ध इति वस्तुतो मोक्षरहितः अपि, **मुच्यते** मुक्तो भवति, **निर्विकल्पः** विकल्परहित. । उक्तं च पञ्चदश्याम्—

"बन्ध-मोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥१॥
दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्ध-मोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥ २ ॥
ज्ञाननिरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक॰ ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३ ॥ इति ।"९॥

शुद्धचैतन्यस्य ब्रह्मणो निर्गुणस्य न ब्रह्मादिचैतन्यरूपत्वं सगुणस्य तु चैतन्यस्य मायोपाधिविशिष्टस्य गुणभेदेन ब्रह्मादित्रयरूपत्वं सगुणोपासनार्थं मूढास्तस्य प्रतिमाः कल्पयन्ति वस्तुतोऽप्रतिम एवायमिति दर्शयति—

नायं ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णु-
र्ब्रह्मा चायं शङ्करश्चाच्युतश्च ।
अस्मिन् मूढाः प्रतिमाः कल्पयन्ते
ज्ञातश्चायं न च भूयो नमोऽस्ति ॥१०॥

नायमिति । अयम् आत्मा नैर्गुण्यविवक्षाया, **न ब्रह्मा** रजोगुणप्रधानमायावच्छिन्नचैतन्यरूपो न, **न कपर्दी** तमोगुणप्रधानमायावच्छिन्नचैतन्यस्वरूपो न, **न विष्णुः** सत्त्वगुणप्रधानमायावच्छिन्नचैतन्यस्वरूपो न, सगुणात्मविवक्षाया पुन **अयं ब्रह्मा शङ्करोऽच्युतश्च, अस्मिन्** आत्मनि, **मूढाः** अज्ञानिनः, **प्रतिमाः**

ब्रह्म-शङ्कर-विष्णुमूर्ती. कल्पयन्त.–कल्पना कुर्वन्तः तत्तन्मताभिमानिनो भवन्ति, **ज्ञातश्चायं** तत्त्वमसि इति वाक्यजन्यनिर्विकल्पज्ञानविषयोऽयम्, ततश्च मायाया अत्यन्तोच्छेदात् तत्पूजकस्याप्यभावाद्, **भूयः** पुनः, **न च** नैव, **नमः** नमस्कारः, **अस्ति** विद्यते मायाकल्पितपदार्थस्य मायापगमेऽभावात्, जीवेश्वरादीनां मायाकल्पितत्वमुक्त पञ्चदश्याम्—

"मायाख्याया. कामयेनो वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छ पिबता द्वैत तत्त्व तद् द्वैतमेव हि ॥ २ ॥" इति ।

'नमोऽस्ति' इत्यस्य स्थाने 'तमोऽस्ति' इति पाठ· सम्भाव्यते । आत्मा ज्ञातो यदा तदाऽऽत्मज्ञानानन्तरं, भूय. पुनरपि, तमः मायास्वरूपोऽन्धकार, नास्ति न विद्यते इत्यर्थः ॥१०॥

सर्वे परस्परविरुद्धा अपि पदार्था आत्मन्येवाव्यतिरिक्ततयाऽवतिष्ठन्ते इत्याह—

आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताशः
सत्यं मिथ्या वसुधा मेघयानम् ।
ब्रह्मा कीटः शङ्करस्तार्क्ष्यकेतुः
सर्वः सर्वं सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥११॥

आप इति । **आपो** - जलानि, **वह्निः** तेज·, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमाद् वाह्यभिन्न तमा भिन्नाना जलाना बाह्यभिन्नत्वमिति, आपो वह्निरित्युपपद्यते, **मातरिश्वा** मातरि अन्तरिक्षे शवति-गच्छति इति व्युत्पत्त्याऽन्तरिक्षचरो मेघसचारको वायुरनेनोच्यते । **हुताश·** यज्ञादिगतहुतभुक्, तयोश्च व्यवहारे परस्परविरुद्धत्व मातरिश्वना सचारितेषु मेघेषु सत्सु चातुर्मास्या यज्ञाद्यप्रवृत्तेरित्याशयेनैव हुताशपदेन पुनर्वह्निपदेन वायुः हुताशः यज्ञोपवह्निः वह्न्यभिन्नात्मा, भिन्नस्य वायोर्वह्नेरभिन्नत्वमिति मातरिश्वा हुताश इत्युपपद्यते; सत्यं पारमार्थिकं, मिथ्या काल्पनिकम्, ब्रह्मण एव शुद्धचैतन्यरूपत्वेन सत्यत्वं, मायाकल्पेन मातृतादिविशिष्टत्वेन मिथ्यात्वमित्येकस्यैवात्मनः सत्य-मिथ्योभयरूपत्वात् सत्यं मिथ्येत्युपपद्यते, **वसुधा** पृथ्वी, **मेघयानम्** आकाश-

मिन्द्रः तयोरैक्यभावना पूर्ववत्, **ब्रह्मा** प्रजापतिः, **कीटः** सूक्ष्मजन्तुः, तयोरपि पूर्ववदभेदाद् ब्रह्मकीट इत्युपपद्यते, **शङ्करः** सदाशिवः तमोगुणप्रधानमायावच्छिन्न-चैतन्यरूपः, **तार्क्ष्यकेतुः** गरुडध्वजो विष्णुः सत्त्वगुणप्रधानमायावच्छिन्नचैतन्यरूपः तयोरपि विशिष्टचैतन्यरूपयोः सतः वेदान्तिनो यत् समीहितं तदाह—**सर्वं** इत्यादि । अयमात्मा, **सर्वः** सर्वपदार्थस्वरूपः, **सर्वं** वह्नि-रवि-जलं वायुरपि वाहिरित्यादि-प्रत्येकात्मना निखिलं प्रत्येकस्वरूपं, **सर्वथा** सर्वप्रकारेण सर्वस्यापि प्रकारस्य ब्रह्मणि कल्पितस्य ब्रह्मरूपाधिष्ठानसत्ताकत्वाभावात्, **सर्वतः** सर्वस्मात् कारणात् येन कारणेन यदुत्पद्यते तत्कारणमपि ब्रह्माभिन्नमिति सर्वं कार्यकारणस्वरूपमिति सर्वस्मात् सर्वं भवतीति निर्व्यूढम् । श्वेताश्वतरोपनिषदि—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥४०२॥"

इत्यादिरीत्या ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वमुक्तम्, तदिह विरोधाभासेन वर्णितम् ॥११॥

सर्वे जीवा ब्रह्मण्येव समर्पितास्तत एव सुख-दुःखमनुभवन्ति ब्रह्मज्ञाना-देव ऋषयोऽमृतत्वमानन्दसुखमुपभुञ्जते इत्याह—

स एवायं निभृता येन सत्त्वाः
शश्वद्दुःखादुःखमेवापियन्ति ।
स एवायमृषयो यं विदित्वा
व्यतीत्य नाकममृतं स्वादयन्ति ॥१२॥

स एवायमिति । "येन निभृताः सत्त्वा शश्वद्दुःखा दुःखमेवापियन्ति स एवायं, यं विदित्वा नाकं व्यतीत्यामृतं ऋषयः स्वादयन्ति" इत्यन्वयः । **येन** यावत्, **सत्त्वाः** प्राणिनः, **शश्वत्** सार्वदिकं, **दुःखादुःखमेव** दुःखं च अदुःखं चानयोः समाहारो दुःखादुःखम् एवम्, **अपियन्ति** आप्नुवन्ति, तस्यैवात्मनश्चिन्मात्रा-मासाद्य सुखदुःखे अनुभवन्तीति यावत् । ('शश्वद्दुःखाः सततं दुःखपूर्णाऽपि दुःखमेवापि यन्ति' इत्येवं सम्बन्ध इति केचित्) **स एवायम्** आत्मा, तथा **यं** ब्रह्मात्मानं, **विदित्वा** ज्ञात्वा, **नाकं** स्वर्गं, **व्यतीत्य** अतिक्रम्य, **अमृतं**

मोक्षमानन्दैकस्वभावम्, ऋषयः मुनयः, स्वादयन्ति तदेकतामाप्नुवन्तीत्यर्थः, स एवायमात्मेत्यर्थः ॥१२॥

धर्ममात्रासम्भवमात्मनो दर्शयति—

विद्याविद्ये यत्र नो संभवेते
यन्नासन्नं नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन् मृत्युर्नेहते नोतुकामा
स सोऽक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम् ॥१३॥

विद्याविद्ये इति । "यत्र विद्याविद्ये नो सभवेते, यत् आसन्न न, दवीयो नो, गम्यं न, यस्मिन् नोतुकामा मृत्युर्नेहते स स अक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम्" इत्यन्वयः । **यत्र** शुद्धचैतन्यस्वरूपे ब्रह्मणि, **विद्याविद्ये** विद्या च अविद्या च विद्याविद्ये तत्र विद्या तत्तदाकारावच्छिन्नचैतन्यलक्षण ज्ञानं, अविद्या अज्ञानं मायेति, ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षितेतिवचनादखण्डचैतन्यलक्षणब्रह्माकारान्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यलक्षण ज्ञान यद्यपि भवति तथापि तत्तादात्म्यलक्षणफलसम्बन्ध-स्तत्र नेष्यते, फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतमितिवचनात्, अविद्याऽपि जगदुपादनमायालक्षणा ब्रह्मणि समाश्रितैव,

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥१॥
बहु निगद्य किमत्र वदाम्यह श्रुणुत सङ्ग्रहमद्वयशासने ।
सकलवाङ्मनसातिगता चिति सकलवाङ्मनसव्यवहारभाग् ॥२॥"

इतिसंक्षेपशारीरकवचनाभ्या ब्रह्मण्यज्ञानस्य व्यवस्थापनात्, तथापि तत्कार्य-जाड्यादब्रह्मण्यभावात् सम्बन्धेनाविद्या ब्रह्मणि नास्तीति, **नो** नैव, **संभवेते** संभवतः, **यत्** ब्रह्म, **आसन्नं** समीपवर्त्ति, **न**, यद् यदधिकरणदेशेन वर्त्तते किन्तु तद्देशाव्यवहितदेशे वर्त्तते तत् तत् समीपवर्त्ति भवति, ब्रह्म तु व्यापक नैवम्भू-तमित्यर्थः । **नो** नैव, **दवीयः** विप्रकृष्टदेशवर्त्ति, व्यापकत्वादेव, **न** नैव, **गम्यं** गमनक्रियाजन्यसंयोगवत्, **यस्मिन्** ब्रह्मणि, 'नोतुकामा' इत्यस्य स्थाने 'न तु कामः' इति पाठो युक्तः । पञ्चत्वभावप्रापणेच्छुरिति तदर्थः । **मृत्युर्यमः**, **न** नैव,

ईहते चेष्टते, ('नोतुकामा' इति प्रकृतपाठादरे च—यस्मिन् मृत्युर्न ईहते, तुरप्यर्थे, नोतुकामा कामा वित्तैषणा यस्मिन् नो नेत्यर्थः) **स सः** तत्त्वमसीति वाक्यस्थ-तच्छब्दप्रतिपाद्य आत्मा, **अक्षरः** अविनाशी, **परमं** यस्मात् परतरं नान्यदित्यत्युत्कृष्टं **ब्रह्म** शुद्धचैतन्यम्, **वेद्यं** वेदान्तगम्यम् ॥१३॥

सूचीसंवीयमानतन्तुसमूहैकतावज्जन्तुसमूहब्रह्मणि जन्तूनां हूयमानत्वं ब्रह्मणः सर्वेश्वरत्वं च दर्शयति—

ओतप्रोताः पशवो येन सर्वे
ओतः प्रोतः पशुभिश्चैष सर्वैः ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्यं
तेषां चायमीश्वरः संवरेण्यः ॥१४॥

ओतप्रोता इति । "येन सर्वे पशवः ओतप्रोताः एष च सर्वैः पशुभिरोतः प्रोतः, तस्य च सर्वे इमे पशवो होम्यम् अयं च तेषामीश्वरः संवरेण्यः" इत्य-न्वयः । **येन** ब्रह्मणा, **सर्वे** निखिलाः, **पशवः** अज्ञानित्वेन पशुप्राया जीवाः, **ओतप्रोताः** एकयैव सूच्या सीव्यमानतन्तुसमूहवत् परस्पराविभक्तस्वरूपाः, **एष च** आत्मा पुनः, **सर्वैः पशुभिः** जीवैः, **ओतः प्रोतः** अधिष्ठानत्वेना-भिव्याप्तः, **तस्य** आत्मनः, **च** पुनः, **सर्वे इमे पशवः** परिदृश्यमानाः सर्वेऽपि जीवाः, **होम्यं** तत्त्वज्ञानाग्नौ हविरिव होम्यम्, **अयं च** अयमात्मा पुनः, **तेषां** पशूनाम्, **ईश्वरः** कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमीष्टे, **संवरेण्यः** सर्वैरेव-पूज्यतमः ॥१४॥

तस्यात्मन उत्कर्षं भावयति—

तस्यैवैता रश्मयः कामधेनो-
र्याः पाप्मानमदुहानाः क्षरन्ति ।
येनाध्याता पञ्चजनाः स्वपन्ति
प्रोद्बुद्धास्ते स्वं परिवर्तमानाः ॥१५॥

तस्यैवेति । **तस्यैव** आत्मन एव नम्वन्विन्या, **कामधेनोः** मायाख्य-रूपकामधेनोः, यदा यदा दुग्धं कामयन्ते दुग्धपानेच्छवस्तदा तदा दुग्धं ददाति कामधेनुः न तत्र वेलानियमः तथा मायाऽपि द्वैतदुग्धं जीवेश्वरस्वरूपवत्साय दुग्धं ददातीति भवति सा ब्रह्मणः कामधेनुः, तस्याः **एताः** परिदृश्यमानाः, **रश्मयः** बन्धनरज्ज्वाः तेजोमात्राः जीवेश्वरादिलक्षणाः, **याः** रश्मयः, **अदुहानाः** दोहन-व्यापारानाकलिता अपि—**पाप्मानं** सुकृत-दुःकृतलक्षणं कर्मदुग्धं, **क्षरन्ति** निपा-तयन्ति, **येन** पापात्मना दुग्धेन, **आध्याताः** सृष्टिविषयकसंकल्पविषयीभूताः तत्पानपरितृप्ताः, **पञ्चजनाः** मनुष्याः, **स्वपन्ति** सुप्ता इव भवन्ति, **प्रोद्बुद्धास्ते** द्वैतदुग्धपानया तृप्त्यपगमे तत्त्वज्ञानित्वे, **स्वं** स्वस्वरूपं चैतन्यं, **परि-वर्त्तमानाः** परितः सर्वतो वर्त्तमाना आस्वादयन्तः स्वस्वरूपावाप्तिकृतार्था भवन्ती-त्यर्थः ॥१५॥

ब्रह्मात्मानमेव विशिष्य प्रपञ्चयति—

तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति
हिरण्मयं व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मनःशयं शतशाखप्रशाखं
यस्मिन् बीजं विश्वमोतं प्रजानाम् ॥१६॥

तमेवेति । **तमेव** आत्मानमेव, **अश्वत्थं** अश्वत्थो वृक्षविशेषस्तत्स्वरूपम्, "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" इति गीतावचनव्याख्यायां न श्वोऽपि स्थानेति व्युत्पत्त्याऽश्वत्थपदेन संसारवृक्षस्य ग्रहणेनात्राप्यश्वत्थपदेन संसारवृक्षस्यैव ग्रहणं, संसारवृक्षश्चात्मनो विवर्त्त इति तस्यात्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावात् तेन सहात्मनस्तादात्म्याध्यासात् तद्रूपत्वमात्मनः, **ऋषयः** मुनयः, **वामनन्ति** वोपपदाद् विशेषरूपार्थपरत्वाद् विशेषेणामनन्ति मननं चात्र निदिध्यासनं, कीदृशमश्वत्थं ध्यायन्तीत्यत आह—**हिरण्मयं** सुवर्णमयम्, **व्यस्तसहस्रशीर्षम्** व्यस्तानि अन्योऽन्यमिश्रितानि सहस्रशीर्षाणि सहस्रसंख्यकमस्तकानि यस्य स व्यस्तसहस्र-शीर्षस्तम्, वृक्षस्योपरितनावयवप्रदेश एव मूर्धा, स चोर्ध्वलोकादि, ईदृशमश्वत्थं निश्चलमनसैवाधिगम्यमित्याह—**मनःशयं** मनसि शेत इवेति मनसि निश्चलवद् व्यवस्थितम्, पुनः कीदृशं **शतशाखप्रशाखं** शतं शाखाः प्रशाखाश्च यस्य स

शतशाखाप्रशाखः तम्, एतावता तत्तल्लोक-तदवान्तरलोकसमष्टिरूपत्वेनातिमहद्रूपत्वमस्य ख्यापितम्, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् क तमनश्वत्थमामनन्ति ऋषय इत्याकाङ्क्षानिवृत्तिये त्वाह–**यस्मिन्** आत्मनि, **प्रजानां** भू-जलाद्यखिलकार्याणां, **बीजं** परिणामि कारणम्, **विश्वं** कारणे कार्योपचाराद् विश्वकारण सत्त्व-रजस्तमोगुणरूपमज्ञानं मायाऽविद्यादिशब्दव्यपदेश्यम्, **ओतम्** उद्यामित्यर्थः ॥१६॥

यज्ञे इज्यमानो यज्ञपुरुषः तदङ्गमन्त्रादिरप्यात्मैवेत्याह—

स गीयते वीयते चाध्वरेषु
मन्त्रान्तरात्मा ऋग्-यजुः-सामशाखः ।
अधःशयो विततांङ्गो गुहाध्यक्षः
स विश्वयोनिः पुरुषो नैकवर्णः ॥१७॥

स गीयत इति । **स** आत्मा, **अध्वरेषु** यज्ञेषु, **गीयते** तत्तदधिष्ठातृदेवैस्तावकमन्त्रैः स्तूयते, इन्द्राग्नि-वरुणादिशब्दघटितमन्त्रव्यपदेश्यो ब्रह्मात्मैव, **च** पुनः, **वीयते** तत्तद्यज्ञान्तर्गतहोतव्यहोमादिरूपेण विभक्तभावेन इयन्ते व्याप्नोति, स एव **मन्त्रान्तरात्मा** तत्तन्मन्त्राणामन्तरात्मा अधिष्ठाता, अत एव **ऋगयजु-.साम-शाखः** ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदाना शाखा भागा. प्रतिपादकतया यस्य स ऋग् यजु-सामशाखः, यथा पुरःस्थितो वृक्ष. शाखाभि ज्ञायते तथाऽयमात्माऽत्यन्तगूढो ऋग्वेदादिभागैर्ज्ञायत इति युक्त ऋग् यजुः-सामशाख इति, **अधःशय** शतशाख-प्रशाखसंसारवृक्षाच्छन्नप्रदेशे मूढैरज्ञात सन् स्वपन्निवावतिष्ठत इति अधःशयः, यदा सुप्तः सन्न किञ्चिच्चेष्टते तदाऽस्याङ्गान्यसङ्कुचितानि भवन्ति एव सत्यमेव प्रसुप्त इति विज्ञायत इति । **विततङ्गः** आत्मन. सच्चिदानन्दस्वरूपाण्येवाङ्गानि तान्यपरिच्छिन्नत्वाद् विततानि विस्तृतानीति अङ्गानि यस्य स विततङ्गः, अथवाऽस्यैव चैतन्यानन्दमात्राभुवो जीवन्तो जीवा अङ्गानि अवयवाः तानि च यथायथं सर्वत्रैव व्याप्तानीति विततङ्गत्वं तस्य, तस्मिन् सुप्ते सर्वे जीवाः सुप्ता एवेति, **गुहाऽध्यक्षः** संसारवृक्षस्य गुहा माया तत्रैव सन्निविष्टा. सर्वेऽपि

पदार्थाः, तस्या अध्यक्षः अधिपतिरधिष्ठानत्वादात्मैव, **स** आत्मा, **विश्वयोनिः** विश्वस्य जगत. कारणम् , **पुरुषः** पुरुषः आनन्दमय–विज्ञानमय–मनोमय–प्राणमयान्नमयकोशपञ्चकलक्षणपुरि शेत इति, **नैकवर्णः** कार्यस्य सत्त्वादित्रिगुणात्मकमायासजातीयस्यानेकवर्णत्वात् तदाध्यासिकतादात्म्यवद् आत्मनोऽपि कारणस्य चित्रवर्णत्वमिति नैकवर्ण –एकवर्णो न भवति किन्तु चित्रवर्ण इत्यर्थः ॥१७॥

एतत्पुरुषाधिष्ठितमायाजालनिमग्ना जीवाः पशवोऽभिमानाख्यकण्टकैः परिपीडिता भवन्तीत्याह–

तेनैवैतद् विततं ब्रह्मजालं
दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम् ।
अस्मिन् मग्ना मानवा मानशल्यै-
र्विवेष्यन्ते पशवो जायमानाः ॥१८॥

तेनैवैतदिति । **तेनैव** अनन्तरोपवर्णितपुरुषेणैव, **एतत्** परिदृश्यमान ब्रह्मजालं मायालक्षणजाल ब्रह्मप्रेरितत्वात् तन्नाम्ना व्यपदिष्टम् , **विततं** विस्तारितं, ब्रह्मजालं विशिनष्टि–**दुराचरं** दुःखेनाचारण यत्र तद्दुराचरं, **दृष्ट्युपसर्गपाशम्** दृष्टौ ब्रह्मदर्शनस्य य उपसर्गः असत्त्वापादकाभानापादकावरणलक्षणो विघ्न. स एव पाशो बन्धनं यत्र तद्दृष्ट्युपसर्गपाशम्, **अस्मिन् मग्नाः** ब्रह्मजाले मग्ना प्रविष्टाः, **जायमानाः** उत्पद्यमाना , **पशवः** अज्ञानिनः जन्तवः, **मानवा** मनुष्याः, 'मानशल्यै ' इत्यस्य स्थाने 'माननामानशल्यै ' इति पाठो युक्त. । मानना माननं मानना स्वमन्तव्य माना ममेदं दर्शनं मम पुत्रः, मम कलत्रमित्यादि ममत्वाभिमाना त एव तज्जालान्तःप्रविष्टस्तस्य शल्यानि कण्टकास्तज्जनितसुख-दुःखादिलक्षणकण्टकै, **विवेष्यन्ते** विविध्यन्ते इत्यर्थः ॥१८॥

पुनरेनमात्मान स्तौति—

अयमेवान्तश्चरति देवताना-
मस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

अयमुद्दण्डः प्रणभुक् प्रेतयानै-
रेष त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥१९॥

अयमेवेति । **अयमेव** आत्मेव, **देवतानाम्** इन्द्रोपेन्द्र-वरुणादीनाम्, **अन्तः** अन्तःकरणे, **चरति** तत्तद्व्यापार भावयति, **अस्मिन्** आत्मनि, **विश्वे** देवा, सर्वेऽपि देवाः, **अधि निषेदुः** अधितिष्ठन्ति, **अयम्** आत्मा, **उद्दण्डः**, सर्वतो निर्भीक, **प्रेतयानैः** प्रेतगमनमार्गैः प्राणभुग्, सर्वजनप्राणान् भुङ्क्ते सर्वस्य प्राणानयमेवापहरतीति यावत्, एष आत्मा, **त्रिधा** त्रिप्रकारेण, यथा वृषभः नासिकया गले पादे च बध्यते तथा सत्त्व-रजस्तमोलक्षणेन बद्धो मायाधीनः, **वृषभो** वर्षणशील. कल्याणवर्षी, बलीवर्दः **रोरवीति** अत्यन्त रटति-पारवश्य प्रकटयति ॥१९॥

अपां गर्भः सविता वह्निरेष
हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयानः ।
एतेन स्तम्भिता सुभगा द्यौर्नभश्च
गुर्वी चोर्वी सप्त च भीमयादसः ॥२०॥

अपांगर्भ इति । **एष** आत्मा, **अपां गर्भः** जलानां गर्भवन्निवास-स्थान, **सविता** सूर्य, आत्मैव सूर्यरूपेण किरणद्वारा जलान्यापीय धारयति काले वर्षति च, **वह्निः** अग्निस्वरूपस्तपति, **हिरण्मयः** सुवर्णमयः, **च** पुनः, **अन्तरात्मा** सर्वस्यान्तरधिष्ठाता, **देवयानः** देवमार्गः, **एतेन** आत्मना, **स्तम्भिता** एकत्र व्यवस्थिता अचल. तथास्थितेति यावत्, **सुभगा** सुश्रीका, का सेत्याकाङ्क्षायामाह—**द्यौः** स्वर्लोकः, **नभश्च** तारानक्षत्रावस्थानलक्षणाकाश-लोकः, **च** पुनः, **गुर्वी** अत्यन्तगुरुभूता, **उर्वी** भूर्लोकः, **च** पुनः, **सप्त** सप्त-सङ्ख्याकाः, **भीमयादसः** भयङ्करागाधजलमयास्तल-वितलादिलोका सागरा वा ॥२०॥

मनः सोमः सविता चक्षुरस्य
घ्राणं प्राणो मुखमस्याज्यपिवः ।

दिशः श्रोत्रं नाभिरन्ध्रमब्दयानं
पादाविला सुरसाः सर्वमापः ॥२१॥

मन इति। अस्य संसारवृक्षरूपात्मनः, मनः अन्तःकरणं, सोमश्चन्द्रमाः, चक्षुर्नयनं, सविता सूर्यः, घ्राणं घ्राणेन्द्रियं, प्राणः प्राणादिपञ्चवायवः, आज्यपिवः यज्ञे घृतपानकर्तृ अस्यात्मनः, मुखम् आननम्, दिशः दशापि दिशः, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं कर्णम्, नाभिरन्ध्रम् नाभिः रन्ध्रा नवछिद्राणि, अब्दयानम् अब्दाः मेघास्तेषां यानं मार्गं आकाशम्, पादाविला पादौ चरणौ इला पृथ्वी, सुरसाः आपः नद्यः, सर्वं निखिलं वस्तु-एवंविधा आत्मा शेषावयवान् प्राप्नोति ॥२१॥

विष्णुर्बीजमम्भोजगर्भः
शम्भुश्चायं कारणं लोकसृष्टौ ।
नैनं देवा विद्रते नो मनुष्या
देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च ॥२२॥

विष्णुरिति। अयमात्मा, लोकसृष्टौ जगदुत्पत्तौ, विष्णुः सत्त्वगुणावच्छिन्नचैतन्यरूपः, तथापि अम्भोजगर्भः विष्णुनाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा बीजं निमित्तम्, शम्भुः तथापि जगदुत्पत्तौ कारणम्, अतएव 'जन्माद्यस्य यतः' इति व्याससूत्रम्। 'विद्रते' इत्यस्य स्थाने 'विन्दते' इति पाठो युक्तः-विन्दते जानन्ति प्राप्नुवन्तीति तदर्थं, नो मनुष्या विद्रते इत्यन्वयः। शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्मानं ज्ञातुं प्राप्तुमशक्ता अपि देवादयो मायावच्छिन्नं तं सगुणं जानन्त्येवेत्याह-च पुनः, देवा इन्द्राद्या, इतरेतराश्च परस्परोपास्योपासकभावेन सम्बद्धा अन्येऽपि मनुष्यादयोऽपि, एनं सगुणमात्मानं, विदुः जानन्ति ॥२२॥

संसारवृक्षस्वरूपमात्मानमेवाभिकृत्याह—

अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षु-
रस्मिन्नस्तं गच्छति चांशुगर्भः ।

एषोऽजस्रं वर्तते कालचक्र-
मेतेनायं जीवते जीवलोकः ॥२३॥

अस्मिन्निति । **अस्मिन्** संसारस्वरूपे आत्मनि, **सविता** सूर्यः, **उदेति** उदयं प्राप्नोति, तं विशिनष्टि—**लोकचक्षुः** लोका एतत्प्रकाशसहकारेणैव सर्वं पश्यन्तीति भवति, लोकचक्षुः सविता, **अस्मिन्** आत्मनि दिनावसानसमये, **अस्तं** लोकदृष्ट्यगोचरं, **गच्छति** प्राप्नोति, तदुक्तम्-"यतश्चोदेति सविता यत्र त्वास्तँ गच्छति" (क० उ० ४।९)। **एषः** आत्मा, **अजस्रम**परिच्छिन्न, **कालचक्रं** समयचक्रमुदयास्तमयस्वरूपं वर्तते, **एतेन** कालचक्रेण सूर्योदयास्ताकलितदिवसरात्रिपरिभ्रमणेन, **अयं जीवलोकः** जन्तुसमूह, **जीवते** प्राणान् धारयति ॥२३॥

पुनरेव स्तौति—

अस्मिन् प्राणाः प्रतिबद्धाः प्रजाना-
मस्मिन्नस्ता रथनाभाविवाराः ।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूलाः पतन्ति
प्राणाशंसाः फलमिव मुक्तवृन्तम् ॥२४॥

अस्मिन्निति । **अस्मिन्** संसारस्वरूपे आत्मनि, **प्रजानां** जन्तुनाम्, **प्राणाः** इन्द्रियादय., **प्रतिबद्धाः** सम्बद्धाः, **अस्मिन्** निरुक्तस्वरूपात्मनि, **रथनाभौ** रथनाभौ रथमध्यभागे इति तात्पर्यार्थः, गन्ता पुरुषोऽभीष्टस्थानमाप्नोति, तथा विचारारूढ मनईहितस्थान व्रजतीति विचारस्य रथसज्ञकत्वम्, **अरा इव** नाभिनेमिमदर्थक्लिन्ना इव (प्राणाः), **अस्ता** अस्तमिता., ते पुन **अस्मिन्** आत्मनि, **प्रीते** प्रसन्ने स्वस्वरूपावस्थिते सति, **शीर्णमूलाः** मूलं सशयजिज्ञासादिक तत् शीर्णं जर्जरित येषा ते शीर्णमूलाः सन्त., (प्रजानाम्) **प्राणाशंसा** प्राणानामिन्द्रियादीनामाशंसनान्याशंसा प्राणा इन्द्रियादयो मम परिपुष्टास्सन्तु, इत्येवंरूपा विचाराः, **मुक्तवृन्तं** मुक्त परित्यक्तं वृन्तं येन तन्मुक्तवृन्तं, **फलमिव** मुक्तवृन्तं फलं यथा पतति, तथा **पतन्ति** अधोगच्छन्ति विनश्यन्तीत्यर्थः ॥२४॥

अस्मिन्नेकशतं निहितं मस्तकाना-
मस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च ।
महान्तमेनं पुरुषं वेद वेद्य-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२५॥

अस्मिन्निति । अस्मिन् संसारवृक्षस्वरूपात्मनि, **मस्तकानां** मुण्डानाम्, **एकशतं** उपलक्षणमेतत् असंख्यातं, **निहितं** अन्तः स्थापितम्, शरीरे प्रधानाङ्गत्वान्मस्तकस्य निर्देशः मस्तकेनोत्तमाङ्गेन प्राणिनो विशिष्यमयन्त इत्यनेन प्राणिनामित्यावेदितम्, सर्वेऽपि प्राणिनोऽस्मिन्नेव निगूढास्तिष्ठन्तीत्याशय । **अस्मिन्** निरुक्तस्वरूपात्मनि, **सर्वा** निखिलाः, **भूतयोऽ**णिमा-लाघिमाद्या विभूतय, **च** पुनः, **ईतयः** अन्नाद्युपघातका उपद्रवा', **महान्तं** महत्त्वशालिनम् , **एनं** संसारवृक्षस्वरूप, **पुरुषं वेदवेद्यं** पुरुष आत्मान, **वेद** जानामि, कीदृशम् ? **आदित्यवर्णं** आदित्यस्य सूर्यस्यात्यन्तभास्वरवर्णमिव वर्ण यस्य स आदित्यवर्णस्तम् सूर्यवद्देदीप्यमानप्रकाशस्वरूपम्, **तमसः** अन्धकारस्याज्ञानलक्षणस्य, **परस्तात्** दूरवर्त्तमानम् , उक्तं च–'वेदाहमेतं पुरुषं पुराणमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (यजु० ३२) ॥२५॥

सर्वस्वरूपोऽय पुरुष इत्याह—

विद्वानज्ञश्चेतनोऽचेतनो वा
स्रष्टा निरीहः स ह पुमानात्मतन्त्रः ।
क्षराकारः सततं चाक्षरात्मा
विशीर्यन्ते वाचो युक्तयोऽस्मिन् ॥२६॥

विद्वानिति । **विद्वान्** पण्डित , **अज्ञो** मूर्खः, **चेतनः** चैतन्यशाली, **अचेतनो वा** अथवा जड , **स्रष्टा** जगत्सृष्टिकर्त्ता, **निरीहः** निश्चेष्ट., **ह** वितर्के, **स पुमान्**, **आत्मतन्त्रः** स्वतन्त्रोऽन्यापेक्ष इति यावत । **क्षराकारः** विनाशस्वभाव., **सततं च** सर्वदा पुनः, **अक्षरात्मा** एकान्तनित्यैकस्वरूपः

अस्मिन् पुरुषे, **वाचः** वचनानि, **युक्तयः** तर्क-वितर्कादयः, **विशीर्यन्ते** विनश्यन्ति न प्रवर्त्तन्ते इति यावत्, तदुक्तम्—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति (तै० उ० २।८) ॥२६॥

बुद्ध्यादिरूपत्वमस्य पुरुषस्य दर्शयति—

बुद्धिर्बोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा
बाह्यश्चायं स परात्मा दुरात्मा ।
नासावेकं ना पृथग् नाभि नाभौ
सर्वं चैतत् पशवो यं द्विषन्ति ॥२७॥

बुद्धिर्बोद्धेति । अत्र 'बुद्धिर्बोद्धा' इति पाठो युक्तः । **बुद्धि** ज्ञानं, **बोद्धा** ज्ञाता, **बोधनीयः** ज्ञापनीयः, **अन्तरात्मा** मनोगम्यः शरीरान्त स्थितः, **च** पुनः, **बाह्यः** शरीराद् बहिर्वर्त्तमानो बहिरिन्द्रियगम्यः पदार्थः, **अयं** पुरुषः, **स** पुरुषः **परात्मा** उत्कृष्टात्मा, **दुरात्मा** दुष्टात्मा, **असौ** पुरुष , **एकम**द्वितीयम्, **न** न भवति, **ना** नैव, अ-मा-नो-ना निषेधवचना इति नाशब्दस्य निषेधार्थत्वात्, **पृथग्** भिन्नमनेकमिति यावत्, **नाभि नोभौ** अभि सर्वतोभावेन उभौ द्वौ एकानेकोभयात्मकौ न इत्यपि न, **च** पुन , **सर्वमेतत्** अखिलात्मकं पुरुषस्वरूपम्, **पशवः** अज्ञानिनः, **यं** पुरुष, **द्विषन्ति** नास्त्येवोक्तस्वरूप ईश्वर इत्येव, **द्विषन्ति** प्रतिक्षिपन्तीति ॥२७॥

पुरुषज्ञा अमृतत्वं प्राप्नुवन्तीत्याह—

सर्वात्मकं सर्वगतं परीत-
मनादि-मध्यान्तमपुण्य-पापम् ।
बालं कुमारमजरं च वृद्धं
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२८॥

सर्वात्मकमिति । **सर्वात्मकं** निखिलवस्तुस्वरूपम्, **सर्वगतं** सर्ववस्तु-परिनिष्ठितम्, **परीतं** सर्वतः इतं व्याप्तम् परिच्छिन्नमिति यावत्, **अनादिमध्या-**

न्तम् आदि-मध्यान्तरहितम्, **अपुण्यपापम्** पुण्य-पापरहितमिति तदर्थः, **बालं** बाल्यावस्थम् अपि, **कुमारं** कौमारवस्थम्, **अजरं च** जरावस्थारहितं पुनः, **वृद्धं** वार्धक्यावस्थामापन्नम्, **एनं** पुरुष, **ये विदुः** ये केचन जानन्ति, **ते** निरुक्त-पुरुषस्वरूपाभिज्ञाः, **अमृता भवन्ति** मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । तदुक्तम्–"वेदाह-मेतमजरं पुराणम्" (श्वे. ३।२१), तथा–"य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (श्वे. ३ १) इति च ॥२८॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुषो ब्रह्मस्वरूप एव न तत्र ब्रह्मचर्यादिकं कर्त्तव्य, सामान्य-विशेषरहित एव स भवतीत्याह—

नास्मिन् ज्ञाते ब्रह्मणि ब्रह्मचर्यं
नेज्या जापः स्वस्तयो नो पवित्रम् ।
नाहं नान्यो नो महान् नो कनीयान्
निःसामान्यो जायते निर्विशेषः ॥२९॥

नास्मिन् ज्ञात इति । **अस्मिन्** उपवर्णितस्वरूपे, **ब्रह्मणि** पुरुषे, **ज्ञाते** अपरोक्षज्ञानविषयीभूते सति, **न ब्रह्मचर्यं** अमैथुनव्रत न विद्यते, **इज्या** यागः, **जापः** आसमन्तान्मन्त्रजपादिकमपि न कर्त्तव्यपद्धतिमेति, नापीत्यस्य **स्वस्तय** इत्यनेनापि सम्बन्धः, स्वस्तिवचनादिकमपि न प्रयोजनवत्, **नो पवित्रम्** पूतत्वकार्यपि न किञ्चित्, अथवा स्वस्तयो नो पवित्रमित्येकमेव वाक्यम् स्वस्ति-वचनानि पूतत्वकारीणि न भवन्ति स्वयमेव पूतस्य पूतत्वकरणासम्भवात्, **नाहं** अहंत्वाभिमानास्पदं न, **नान्यः** अन्यो न भवति, अद्वैतभावमापन्नस्य द्वैता-सम्भवात्, **नो महान्** महत्परिमाणवान् न भवति अथवा स्वापकृष्ट गुणवत्पुरु-षापेक्षयोत्कृष्टगुणवत्त्वलक्षणमहत्त्ववान् न भवति, **नो कनीयान्** नाणुपरमाणु-वान्, स्वोत्कृष्टगुणवत्पुरुषापेक्षयाऽपकृष्टगुणवत्त्वलक्षणकनिष्ठत्ववान् न भवति वा, **निस्सामान्यः** सामान्यरहितः, **जायते** भवति, तथा **निर्विशेषः** विशेष-रहितो जायते निर्धर्मकब्रह्मरूपो भवतीत्यर्थः ॥२९॥

ब्रह्मज्ञानिनः शोकादिकमपि नास्तीत्याह—

नैनं मत्वा शोचते नाभ्युपैति
नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा ।
नास्मिँल्लोके गृह्यते नो परस्मिन्
लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०॥

नैनं मत्वेति । एनं ब्रह्मस्वरूपमात्मानं, **मत्वा** ज्ञात्वा, शोचनीयाभावात्, **न शोचते** न शोकमुपगच्छति, **नाभ्युपैति** अभ्युपगमनीयान्तराभावात् नाभ्युपैति न किमपि स्वीकरोति, **नाप्याशास्ते** इद मे भवत्वित्याशामपि न करोति अप्राप्येष्टवस्त्वभावात्, **म्रियते जायते वा** जन्मान्तरभोग्यादृष्टभाक्त्वाद् भुज्यमानफलकादृष्टस्य चाभावात् न मृत्युमधिगच्छति नोत्पद्यते च, **अस्मिन् लोके** अनुभूयमानैतद्भुवने, **न गृह्यते** न ज्ञायते एतल्लोकपरिच्छिन्नरूपाभावात्, **नो परस्मिन्** परलोकेऽपि न ज्ञायते एतल्लोकपरिच्छिन्नरूपाभावात्, **लोकातीतः** लोकरहितः, एव सत्यपि, **वर्त्तते लोके एव** एतल्लोक-परलोकान्यतरस्मिन्नेवावतिष्ठते ॥३०॥

पुरुषमेव स्तौति—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥३१॥

यस्मादिति । यस्मात् पुरुषात्, **परमु**त्कृष्टम्, **अपरम**नुत्कृष्टम्, **किञ्चित्** किमपि, **नास्ति** न विद्यते, पुरुषस्य सर्वात्मकत्वेन ततो भिन्नस्य कस्यचिदभावेन स्वापेक्षयैव, स्वस्य परत्वापरत्वासम्भवात्, अत एव **यस्मात्** पुरुषात्, **अणीयः** अणुतरः, **न कश्चित्** कोऽपि नास्ति, यस्मात् पुरुषात् **ज्यायो** ज्यायान् नास्ति कश्चित् न विद्यते कोऽपि, **वृक्ष इव** वृक्षो

यथा निश्चल, तथा **स्तब्धः** निश्चेष्टः, **दिवि** अन्तरिक्षे, **तिष्ठति** स्थितः, **एकः** अद्वितीयः, **तेन पुरुषेण** निरुक्तस्वरूपेण पुरुषेण, **इदं सर्वं** दृश्यमानं, जगदेव, **पूर्णं** व्याप्तम् ॥३१॥

जगज्ज्ञानता पुरुषज्ञाने फलवैलक्षण्यमुपदर्शयति—

नानाकल्पं पश्यतो जीवलोकं
नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च ।
यस्मिन्नेवं सर्वतः सर्वतत्त्वे ।
दृष्टे देवे नो पुनस्तापमेति ॥३२॥

नानाकल्पमिति । **नानाकल्पं** नानाप्रभेदम्, **जीवलोकं** जीवा लोक्यन्ते अस्मिन्निति जीवलोकं जगदेव, **पश्यतः** साक्षात्कुर्वत पुरुषस्य, **नित्यासक्ता व्याधयश्च**, नित्यसम्बद्धशारीरिकानेकपीडाश्च, **आधयश्च** मानसिकपीडाश्च भवन्त्येवेति शेष., अतोऽनुपादेय, विश्वतत्त्वमित्यभिसन्धि । **एवं** अनन्तरोक्तप्रकारेण, **सर्वतः** सर्वप्रकारेण, **सर्वतत्त्वे** सर्वतत्त्वात्मके, **यस्मिन्** जीवलोके, **देवे** पुरुषे, **दृष्टे** सति, पुन **तापं** कायिक-वाचिकपीडादिक, **नो** नैव, **एति** प्राप्नोति, मुक्तो भवतीत्यर्थ ॥३२॥

सङ्गृह्णन् सर्वमेवाद्वयपुरुषलसत्सच्चिदानन्दरूपे—
वेदान्तिसङ्ग्रहात्मा नय इह परमो निश्चयो न. प्रतीत ।
किन्त्वेकान्तो न मान्यो भवति ननु यतो दुर्नयो नीतिविज्ञै—
र्नैवात्रास्था विधेया भवति भजनया सोऽपि मान्य. कथञ्चित् ॥१॥

इति नवम्या वेदवादद्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ॥

दशमी द्वात्रिंशिका।

स्याद्वादीष्टप्रकारैः स्तुतिरियमुदिता सिद्धसेनाभिधानै-
राचार्यैर्वादिवर्यैश्चरमजिनवचःश्लाघ्यता भावनार्था ।
व्याख्या तस्या यथार्थानुरटनफलिका कीर्त्यते धीधनेन
लावण्येनाप्तभक्त्या जिनमतमननास्वादनातत्परेण ॥१॥

श्रीभगवन्तं वीरजिनं प्रणमति—

अविग्रहमनाशंसमपरप्रत्ययात्मकः ।
प्रोवाचामृतं तस्मै वीराय मुनये नमः ॥१॥

अविग्रहमिति। "य अविग्रहमनाशंमम् अपरप्रत्ययात्मकम् अमृतं प्रोवाच तस्मै मुनये वीराय नम" इत्यन्वय.। **यः** जिन॰, **अमृतं** मोक्ष, **प्रोवाच** उपदिदेश, कथमूत अमृतम्, **अविग्रहं** औदारिक-वैक्रियाना‍हरक-तैजस—कार्मणेति पञ्चविधशरीररहितम्, **अनाशंसम्** अशंसा कामना, न विद्यते कामनालक्षणाशसा यत्र तदनाशसं तत् कृतकृत्यस्य भगवतो मुक्तस्य तदानीं कामनाऽभावात् 'अपर॰ प्रत्ययात्मकः' इत्यस्य स्थाने 'अपरप्रत्ययात्मकम्' इति पाठो युक्त। **अपरप्रत्ययात्मकम्** न विद्यते पर उत्कृष्टो यस्मात् सोऽपरः अपरश्चासौ प्रत्ययश्चापरप्रत्ययः अपरप्रत्यय आत्मा स्वरूपं यस्य तदपरप्रत्ययात्मक, केवलज्ञानात्मकसर्वोत्कृष्टज्ञानात्मकं अथवा न विद्यते परः स्वभिन्न॰ प्रत्ययो ग्राहक ज्ञान यस्य सोऽपरप्रत्ययस्तदात्मक स्वसंवेद्यज्ञानस्वरूपम् तत् अथवाऽमृतवत् सुधावदास्वाद्यमान सदानन्दजनक स्याद्वादलक्षणवचनम्, **अमृतं** य **प्रोवाच** उक्तवान्, वचनामृतं विशिनष्टि—**अविग्रहम्** विरुद्धः विरुद्धधर्मप्रकारको ग्रहो ज्ञानं यस्मात् तद्विग्रहं संदिग्धवचनं, न विग्रह भवितेत्येवं निर्णयात्मकवचनम्, एतेन समासव्यासोभवस्वरूपस्य स्याद्वादागमस्य व्यासलक्षणविग्रहावश्यवादविग्रहमिति न सम्भवतीत्याशङ्का दूरीकृता, अथवा—'उप्पेइ वा धुवेइ वा विगमेइ वा' इति त्रिपञ्चात्मकमेव वचन भगवान् प्रथमतः प्रोवाच तच्च न समासवचनमतो विग्रहानपेक्षत्वादविग्रहम्, अथवैकान्तवादिवचनं सर्वं परवादिना सह परस्परमतखण्डनात्मक-

कथालक्षणसङ्गमजनकत्वाद् विग्रहम् अनेकान्तवादिवचनं स्वस्वाभ्युपगमप्रकार-निर्णयाजनकत्वान्न विग्रहमित्यविग्रहम्, **अनाशंसमिति** पूर्ववत् **अपरप्रत्यया-त्मकम्** न विद्यते परो भिन्न उत्कृष्टो वा प्रत्ययो विश्वासो यस्मात् तदपरप्रत्ययं तदात्मकम् उत्कृष्टविश्वासस्थानम् अथवा सर्वं हि वाक्यं क्रियाया परिसमाप्यते इति वैयाकरणसिद्धान्तात् सर्वस्य वाक्यस्यान्ते क्रियावचनं भवतीति परप्रत्यया-त्मकं, क्रियावचनं यतः धातुलक्षणप्रकृत्युत्तरवत्परिख्यातलक्षणप्रत्ययात्मकमिति, जैनमते चोक्तनियमाभावान्न परप्रत्ययात्मकमित्यपरप्रत्ययात्मकम्, **तस्मै** निरुक्तामृतवक्त्रे, **मुनये** मुनीश्वराय, **वीराय** चरमजिनाय, **नमः** नमस्कारोऽस्त्वित्यर्थः ॥१॥

ज्ञानिनो वर्त्तमानभववदतीतानागतभवौ समतया विज्ञायेते इत्याह—

स्वशरीरमनोऽवस्थाः पश्यतः स्वेन चक्षुषा ।
यथैवाऽयं भवस्तद्वदतीतानागतावपि ॥२॥

स्वशरीरेति । "स्वेन चक्षुषा स्वशरीरमनोऽवस्थाः पश्यतः अयं भवो यथैव तद्वदतीतानागतावपि" इत्यन्वयः । **स्वेन** स्वकीयेन, **चक्षुषा** चक्षुःपदं स्पष्टज्ञानसाधनमात्रपरमिति स्पष्टज्ञानकरणेन, **स्वशरीरमनोऽवस्थाः** स्वशरीरस्य बाल-युव-वृद्धाद्यवस्था ज्वरादिपीडावस्था स्वमनसश्च क्षिप्तविक्षिप्ता-द्यवस्थाः काम-क्रोध-लोभ मोहाद्यवस्थाश्च, **पश्यतः** स्पष्टमवगच्छतः पुरुषस्य, **अयं भवः** वर्त्तमानजन्मजरादिलक्षणः संसारः, **यथैव** यद्रूपेणैव अवभासते इति दृश्यम्, **तद्वत्** वर्त्तमानभववत्, **अतीतानागतावपि** अतीतभवानागत-भवावपि स्वशरीरमनोऽवस्थासमन्वितावभासेते इत्यर्थः ॥२॥

अस्मिन् भव एवाह वादिनिर्णयो येन स्पष्टज्ञानसाधनेन विज्ञस्य भवति तेनैवातीतानागतभवगतस्यात्मनोऽहन्त्वादिनिर्णय इत्युपदर्शयति—

किमत्राहं किमनहं किमनेकः किमेकधा ।
विदुषा चोद्यतं चक्षुरत्रैव च विनिश्चयः ॥३॥

किमत्राहम् इति । अत्र अस्मिन् भवे, **किमहम्** किमहन्त्वशाल्यस्मि, **किमनहं** किमनहन्त्वशाल्यस्मि, **किमनेकः** किमनेकस्वरूपोऽस्मि, **किमेकधा**

किमेकप्रकारोऽस्मि, **च** पुनः, इत्येवं **विदुषा** पण्डितेन, **उद्यतं** तत्त्वनिर्णयाय प्रवर्त्तमानं, **चक्षुः** स्पष्टज्ञानसाधनं, यदा भवति तदेति शेषः, **अत्रैव च** अस्मिन् भव एव च, **विनिश्चयः** यादृक्स्वरूप आत्मा तादृक्स्वरूपस्याहन्त्वाद्यन्यतमस्य विशेषेण निश्चयो भवतीत्यर्थः ॥३॥

तत्राहन्त्वबुद्धिलक्षणो विनिश्चयो मोह इत्याह—

मोहोऽहमस्मीत्याबन्धः शरीरज्ञानभक्तिषु ।
ममत्वविषयास्वादद्वेषात् तस्मात् तु कर्मणः ॥४॥

मोहोऽहमस्मीति । "तस्मात् तु शरीरज्ञानभक्तिषु ममत्वविषयास्वादद्वेषात् कर्मणः अहमस्मीत्याबन्धो मोह" इत्यन्वयः । **तस्मात् तु** विनिर्णयात् पुनः, **शरीरज्ञानभक्तिषु ममत्वविषयास्वादद्वेषात्** शरीरे ममताज्ञाने विषयास्वादः, भक्तौ एकत्रैव भक्तौ देवान्तरे द्वेषः इत्येतस्मात् कारणात्, अत्र समाहारद्वन्द्वाश्रयणादेकवचनभाव, **कर्मणः** अभिनवकर्मणः, **अहमस्मी**त्याकारक, **आबन्धः** आसमन्तादरो बन्धः समोहः, शरीरे यदि ममत्वं न स्यात् ज्ञाने च विषयास्वादो न भवेत्, भक्तौ चान्यदेव द्वेषश्च न स्यात् तदाऽहमस्मीति निर्णयात्मकाहङ्काराभावान्नाभिनवकर्मबन्धस्तद्धेतुर्मोहो वेत्यभिसन्धिः ॥४॥

मोहनिमित्तकर्मबन्धाच्चोत्तरजन्मकर्मविशेषप्रभवो दुःखापातो भवतीत्यावेदयति—

जन्मकर्मविशेषेभ्यो दुःखापातस्तदेव वा ।
आजस्निकमपश्याना नानात्मव्यक्तचक्षुषाम् ॥५॥

जन्मकर्मविशेषेभ्य इति । 'अपश्याना' इत्यस्य स्थाने 'अपध्यानात्' इति पाठो युक्तः । "नानात्मव्यक्तचक्षुषाम् आजस्निकमपध्यानात् जन्मकर्मविशेषेभ्यो दुःखापातो वा तदेव" इत्यन्वयः । **नानात्मव्यक्तचक्षुषाम्** शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिनानात्मसु व्यक्तं चक्षुर्दृष्टिर्येषां ते नानात्मव्यक्तचक्षुषः तेषां शरीरं पञ्चभूतात्मकमेव चैतन्यवत्त्वादात्मेत्येके, चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येव चैतन्याधारतयात्मेत्यपरे, मन एव करणं कर्तृ चेत्यात्मेत्यन्ये, बुद्धिरेव कर्त्ता चेतनेत्यात्मेति परे, आलयविज्ञान-

सन्ततिरेवात्मेति सौगता इत्येवं नानात्मव्यक्तचक्षुषा पुरुषाणाम्, **आजस्त्रिकं** सार्वकालिकं, **अपध्यानाद्** दुर्ध्यानात् शरीरमेवात्मेत्यादिनिरन्तरमननलक्षणध्यानात्, **जन्मकर्मविशेषेभ्यः,** निष्कृष्टजन्महिंसादिलक्षणकर्मविशेषेभ्यः, शरीरमेवात्मानमभिमन्यमाना इन्द्रियादिकमेवात्मानमभिमन्यमाना शरीरादिपुष्टिरेव येन कर्मणा स्यात् तादृशमेव कर्माचरन्ति ततश्च तत्प्रभवं तात्कालिकं तज्जन्यपापसमुत्थजन्मान्तरभवं वा दुःखमनुभवन्तीति, **दुःखापातः, तदेव वा** अथवा आजस्त्रिकं दुर्ध्यानमेवात्मानं पीडयतीति दुःखम् ॥५॥

मोहाभिभूतचित्तस्य पुंसः आर्त्त-रौद्रध्याने भवत इत्याह—

पिपासाऽभ्युदयः सर्वो भवोपादानसाधनः ।
प्रदोषापायापगमादार्त्तरौद्रे तु ते मते ॥६॥

पिपासाभ्युदय इति । **सर्वः** अखिलः, **पिपासाभ्युदयः** पातुमिच्छा पिपासा तस्या अभ्युदयः अभितः सर्वप्रकारेणोदयः आविर्भावः यं यं काममवाप्नोति तस्य तस्य कामस्य पुनः पुनर्भोगेच्छा वर्धत एव, न तु तत्तद्भोगेनेच्छा विनिवर्त्तते,

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

इति वचनात्, कीदृशः स इत्याशङ्कायामाह—**भवोपादानसाधनः** भवस्य संसारस्य यदुपादानं भवोपग्राहि कर्म तत्साधनः तन्निमित्तकः, एवम्भूतपिपासाभ्युदय एव आर्त्त-रौद्रध्यानतामुपगच्छतीत्याह—**प्रदोषापायापगमात्** प्रदोषाणां प्रकृष्टानां दोषाणां काम-क्रोधादीनाम् अपाये निर्णयात्मकज्ञानेऽपगमनात् निर्णयविषयककामक्रोधादितः, **तु** पुनः, **ते आर्त्तरौद्रे** आर्त्तरौद्रध्याने, **मते** अभ्युपगते, तत्तद्भोगेच्छायां सत्यां तद्विषयसम्पत्तौ पुनस्तदिच्छान्तरलक्षणकामप्रादुर्भावः तदिच्छाविषयासम्पत्तौ तत्प्रतिबन्धके द्वेष इति कामक्रोधसन्ताननिरन्तरानुभवनलक्षणे आर्त्तध्यान—रौद्रध्याने भवत इति यावत् इदमत्रावधेयम् । "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति" ध्यानसामान्यलक्षणप्रतिपादकं तत्त्वार्थसूत्रम् तदर्थस्फोटात्मकं भाष्यमिदम्—उत्तमसंहननं वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचं अर्धनाराचं च तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम्, एतद्व्याख्यानमित्थम्—उत्कृष्टं प्रकृष्टं संहननं—अस्था

बन्धविशेष , उत्तमं संहननमस्येत्युत्तमसंहनन, तदुत्तमसंहनन चतुर्विधं वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराच अर्धनाराचम्, वज्रं कीलिका, ऋषभ पट्ट, नाराचो मर्कटबन्धः, प्रथमं त्रितयसंयुक्तं, द्वितीयसंहनने पट्टो नास्ति, तृतीये वज्रर्षभौ न स्तः, ततो वज्रर्षभं अर्धवज्रर्षभं नाराच चेत्यनेन चत्वारो भेदाः प्रतिपाद्याः उत्तमसंहनन-वाच्या., उत्तमसंहननग्रहण निरोधे कार्ये । प्रतिविशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थम्, तस्योत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् , अग्रम् आलम्बनं एक च तदग्रं चेत्येकाग्रम् एकालम्बनमित्यर्थ , एकस्मिन्नालम्बने चिन्तानिरोध , चल चित्तमेव, चिन्ता तन्निरोधस्तस्यैकत्रावस्थानमन्यत्राप्रचारो निरोध , अतो निश्चलं स्थिर-मध्यावसानमेकालम्बनं छद्मस्थविषयं ध्यानम्, केवलिनां पुनर्वाक्काययोगनिरोध एव ध्यानम्, अभावान्मनस न ह्यवाप्तकेवलस्य मनोव्यापार· समस्ति, सकलकरणग्राम-निरपेक्षत्वादिति, तद्युक्तस्येति तेन प्रतिविशिष्टेन सहननत्रयेणाद्येन चतुर्विधेन वा युक्तस्य सम्पन्नस्य एकग्राचिन्तानिरोध·, चशब्दाद् वाक्कायनिरोधश्च ध्यानम्, अत्र च ध्याता ससार्यात्मा, ध्यानस्वरूपमेकाग्रचिन्तानिरोधः, ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः, कालतो मुहूर्त्तमात्रम्, चतु.प्रकारमार्त्ताभिभेदेन, ध्येयप्रकारास्त्व-मनोज्ञविषयसप्रयोगादयः, शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्त्तम् उत्सन्नबद्धादिलक्षणं रौद्रम्, जिनप्रणीतभावश्रद्धानादिलिङ्ग धर्म्यम्, अबाधाऽसम्मोहादिलक्षणं शुक्लम्, फलं पुनस्तिर्यङ्-नरकस्वर्गेत्यादिमोक्षाख्यमिति क्रमेण उत्तमसहननपदार्थलभ्यो ध्याता अभिहित· ध्यानस्वरूप भावसाधनता च विज्ञेया इति, कामोपहतचित्ताना पुनर्भव-विषयसुखगृद्धाना निदानमार्त्तध्यानं भवति तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसयतानामेव भवति, हिंसाऽर्थमनृतवचनार्थं स्तेयार्थं विषयसरक्षणार्थ च स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रध्यानम् तदविरत-देशविरतयोरेव भवतीति ॥६॥

आर्त्त-रौद्रध्यानयोः कारणमुपदर्शयति—

आलम्बनपरीणामविशेषोद्भवभक्तयः ।
निमित्तमनयोराद्यं परिणामस्तु कारणम् ॥७॥

आलम्बनेति । "अनयोर्निमित्तमालम्बनपरीणामविशेषोद्भवभक्तयः, आद्यं कारणं तु परिणामः" इत्यन्वय· । **अनयोः** आर्त्तध्यान-रौद्रध्यानयोः, **निमित्तं**

कारणम्, **आलम्बनपरीणामविशेषोद्भवभक्तयः** आलम्बन अमनोज्ञविषय-संप्रयोगादिकं, परीणाम·-काम-क्रोधादिकः, तयोर्विशेषोद्भवा विशेषप्रभवा भक्तयोऽनेकविधालम्बनपरिणामतदवान्तरप्रकाराः, **आद्यं कारणं तु** प्रधानं कारण पुनरनयो, **परिणामः** ध्येयस्वरूपालम्बनसद्भावेऽपि, परिणामविशेषाभावे आर्त्तध्यान-रौद्रध्यानयोर्विशेषाभावात् तद्विशेषादेव तद्विशेष इति तस्य तत्प्रधानकारणतेति ॥७॥

भवोपादानसम्भव इत्यत्र भवः क इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये भवस्वरूपमुपदर्शयति—

भवः प्रमादचिन्तादिप्रवृत्तिद्वारसंग्रहः ।
हिंसादिभेदोपचयः संवरैकपराभवः ॥८॥

भव इति । **प्रमादचिन्तादिप्रवृत्तिद्वारसङ्ग्रहः** प्रमादचिन्तादीनि यानि प्रवृत्तिद्वाराणि तेषा सङ्ग्रह सङ्ग्रहणम्, तथा **हिंसादिभेदोपचयः** हिंसाऽनृतस्तेयादिविशेषाणामुपचयो विवृद्धि, कथभूत. स इत्याकाङ्क्षायामाह-**संवरैकपराभवः** सवर एकोऽद्वितीय. पराभवो निवर्त्तको यस्य स सवरैकपरभव· आस्रवनिरोध सवर . तत्र काय-वाङ्मनःकर्मयोग आस्रवः, कायिक कर्म वाचिक कर्म मानस कर्म इत्येवं त्रिविधो योग आस्रवः, तत्र कायात्मप्रदेशपरिणामो गमनादिक्रियाहेतु काययोग , भाषायोग्यपुद्गलात्मकप्रदेशपरिणामो वाग्योग , मनोयोग्यपुद्गलात्मप्रदेशपरिणामो मनोयोगः, स त्रिविधोऽपि प्रत्येक शुभाशुभभेदेन द्विविधः, तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिक·, सावद्यानृतपरुपपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्यातव्यापादेयासूयादीनि मानस , अतो विपरीत शुभाशुभकर्मणोरास्रवणाद्योगस्यास्रव इति सज्ञा, शुभो योगः पुण्यस्य कर्मण आस्रव , अशुभो योग पापस्य कर्मणः आस्रवः, आस्रवोऽय मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषाययोगेपु पञ्चसु बन्धहेतुपु पञ्चम इति बन्धहेतु· स , म कषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सम्बन्ध इति कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धानामात्मप्रदेशाना चान्योऽन्यानुगतिलक्षण क्षीरोदकादेरिव सम्पर्को बन्ध , स प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्ध अनुभावबन्ध-प्रदेशबन्धभेदेन चतुर्भेदः, एव च ससारनिमित्तबन्धमूलास्रवनिरोधत्वेन संवरस्य संसारनिवर्त्तकत्वेन 'भवति ससार', संवरैकपराभव सोऽय सवर. गुप्तिसमिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैरुपायैर्भवति, तत्र व्यापारयोगनिग्रहो गुप्ति , कायगुप्ति वाग्गुप्ति-मनोगुप्तिभेदेनास्य त्रैविध्यम्, ईर्या-

भाषेषणा-ऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गभेदेन समितेः पञ्चविधत्वम्, क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम तपस्त्यागा-ऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यभेदेन धर्मस्य दशविधत्वम्, अनित्या-ऽशरण-संसारैकत्वा-ऽशुचित्वा-ऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनभेदेनानुप्रेक्षाया द्वादशविधत्वम्, क्षुत्-पिपासा शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्या-ऽरति-स्त्री-चर्या-निषद्या शय्या-ऽऽक्रोश-वध-याचना-ऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञा-ऽज्ञाना-ऽदर्शनपरीषहभेदेन द्वाविंशतिविधाः परीषहा तेषां जयोऽपि, तथा सामायिकच्छेदोपस्थाप्य-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातचारित्रभेदेन चारित्रस्य पञ्चविधत्वम्, सद्भिरुपायैर्यथा संवरो भवति तथा तपसाऽपि, तपश्च बाह्या-ऽभ्यन्तर-भेदेन द्विविधम्, तत्र बाह्यं अनशना-ऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशभेदेन षड्विधम्, आभ्यन्तरं तपः प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्गध्यानभेदेन षड्विधम् इति ॥८॥

संवरभावनार्थं भवजन्मिना पूर्वापरजन्मसु विषयेन्द्रियसंविदामाभिन्नानां विषयाणां भिन्नवृत्तित्वं चोपदर्शयति—

परस्परसमुत्थानां विषयेन्द्रियसंविदः ।
पित्रादिवदभिन्नास्तु विषया भिन्नवृत्तयः ॥९॥

परस्परसमुत्थानामिति । **परस्परसमुत्थानाम्** अन्योऽन्यमुत्पन्नानां यो जीवः यस्य जीवस्य पूर्वजन्मनि जनक स एवोत्तरजन्मनि तस्य जन्य एवमन्योऽन्यं कार्य-कारणभावमापन्नाना जीवानाम्, **विषयेन्द्रियसंविदः** शब्द-स्पर्श-रूप रस गन्धात्मकाः पञ्च विषयाः श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसना-घ्राणात्मकानि पञ्चेन्द्रियाणि श्रावणत्व-चाक्षुष-रासनाघ्राणात्मकानि पञ्चज्ञानानीत्येवं विषयेन्द्रियसंविदः, **पित्रादिवत्** यथा पूर्वजन्मनि य एव पिता स एवोत्तरजन्मनि पुत्र, यैव माता सैवोत्तरजन्मनि जाया, एव मातुलादिरित्येवं पित्रादयो यथा परस्परसमुत्थानामभिन्नाः तथा **अभिन्नाः**, **तु** पुनः, **विषयाः** शब्दादयः जात्याऽभिन्नाऽपि, **भिन्नवृत्तयः** भिन्नकार्य-करणप्रयोजननादिका ॥९॥

एकस्मिन् प्रत्ययेऽष्टाङ्गकर्मसामर्थ्यसंभवात् ।
नानात्वैकपरीणामसिद्धिरष्टौ तु शक्तितः ॥१०॥

एकस्मिन्निति । **एकस्मिन्** व्यक्तैकस्वरूपे, **प्रत्यये** ज्ञाने, **अष्टाङ्गकर्मसामर्थ्यसम्भवात्** आसन प्राणायामाद्यष्टाङ्गक्रियासामर्थ्यसभवतः, **नानात्वैकपरीणामसिद्धिः** नानात्वस्य य एक परिणाम एकरूपेण परिणमनं तस्य सिद्धिर्भवति व्यक्त्यैवं, **तु** पुन, **शक्तितः** शक्त्या, **अष्टौ** अष्टपरिणामसिद्धिः, अष्टाङ्गसहितकर्मसाथ्र्यंत एकपरीणामस्याङ्गद्वयसहितकर्मसामर्थ्यंत द्विपरिणामस्येत्येवमष्टाङ्गसहितकर्मसामर्थ्यताऽष्टपरिणामस्य सिद्धि., एकाङ्गसहितकर्मणि यत् सामर्थ्यं ततो भिन्नमेवाङ्गद्वयादिसहितकर्मणि सामर्थ्यम्, अत एव तत्तत्प्रत्येकाङ्गाभ्यसनमपि सफलमित्यर्थ. ॥१०॥

नाहमस्मीत्यसद्भावे दुःखोद्वेगहितैषिता ।
न नित्यानित्यनानैक्यं कर्त्राद्येकान्तपक्षतः ॥११॥

नाहमिति । **नाहमस्मीत्यसद्भावे** इति अह न अस्मि इत्येवमात्मनोऽसद्भावे असत्त्वे ज्ञाने, **दुःखोद्वेगहितैषिता**, अह मरिष्यामीति ज्ञाने सति दु खमुपजायते, इत्थमुपायशतेनात्मेन्द्रियशरीरादिरक्षणं कुर्वतो ममान्ते मरणमवश्यमिति दुःखवहुलोऽयं भव इत्युद्वेग उपजायते, अनेनोपायेन हितं स्वर्गादिकं मे भूयादित्येवं हिताभिलाषित्वं भवति, एतच्च सर्वमात्मनो नित्यानित्यस्वरूपत्वे भिन्नाभिन्नस्वरूपत्व च सभवति, **कर्त्राद्येकान्तपक्षतः** नित्य एवात्मा कर्त्ता, अनित्य एवात्मा कर्त्ता इत्याद्येकान्तवादिपक्षात् तु, **नित्यानित्यनानैक्यं** नित्यं च तदनित्यं च नाना च तदैक चेति नित्यानित्यनानैक्यं न सम्भवति, एकान्तनित्यश्चेदात्माऽनित्यो न सम्भवति, नानारूपश्चेत् तदा तस्यैक्यं न सम्भवति, एवं चैकान्तनित्यात्मनि सर्वदैकस्वरूपस्यादुःखिनः सतः कुतो दु.ख, पूर्व दुःखाभावे उत्तरकाले दुःखभावेऽनित्यत्वभावात् कुत एकान्तनित्यत्वं, एकान्तनित्यस्य न कदाचित् स्वरूपप्रच्युतिरिति कुत उद्वेगः, एव सर्वदैकस्वरूपस्य नित्यात्मनोऽनवाप्तव्यं किमपि नास्ति यत्प्राप्त्यर्थमिच्छा भवेदिति हितैषिताऽपि न सम्भवति, एकान्ता-

नित्यपक्षेऽपि प्रतिक्षणमन्यान्यस्य भावो न त्वनुगामी कश्चित् समस्ति यस्य सुखावस्थाव्ययगमेऽवस्थान्तरप्राप्तौ दुःख स्यात् उद्वेगोऽप्यनुगामिनमन्तरेण न सम्भवति, एवं यो हितमिच्छेत् स पूर्वमेव विनश्यति, हितावाप्तिश्चान्यस्यैव स्यादित्यन्यहितार्थं कथमन्यस्तत्कामः स्यादित्येवमनित्यैकान्तपक्षेऽपि दुःखोद्वेगहितैषिता न भवेदेवेत्यर्थः, अत्र कर्त्रादीत्यादिपदात् कर्म-करण-सम्प्रदानाद्यशेषकारकोपग्रह कर्मकरणाद्येकान्तनित्यानित्यपक्षेऽपि दुःखोद्वेगहितैषित्वात् य सम्भव. युक्तिस्तुल्यैवेत्यर्थः ॥११॥

प्रत्ययत एव नित्यत्वानित्यत्वादिक न तु वस्तुत इत्यभिमानस्य मतमुपदर्शयति–

उत्पत्तेरेव नित्यत्वमनित्यत्वं च गम्यते ।
प्रतीत्य संविद्भावस्तु कारकेष्वपनीयते ॥१२॥

उत्पत्तेरेवेति । **उत्पत्तेरेव** एवकारेण कर्त्रादिकारकस्य व्यवच्छेदः, यदि कर्त्राद्येकान्तपक्षतो नित्यानित्यतानैवयं न सम्भवति तर्हि उत्पत्तेरेव नित्यत्वमनित्यत्व च कश्चिन्मन्यते यद्यप्याद्यक्षणसम्बन्धरूपोत्पत्तिर्द्वितीयक्षणे नास्तीति त्रिकालस्थायित्व कालत्वव्यापकत्वपर्यवसित नित्यत्वमुत्पत्तौ नास्ति, तथापि प्रतिक्षणं कस्यचिदुत्पत्तिर्भवत्येवेत्युत्पत्तित्वेनोत्पत्तिसामान्यस्य कालत्रयस्थायित्वं सम्भवत्येव, विशेषतस्त्वेकोत्पत्तिर्व्यतिरेकक्षण एव वर्त्तते, नान्य' क्षण इति व्यक्त्यपेक्षणाऽनित्यत्व च तस्याः सम्भवतीति, ननूत्पत्तिनित्यत्वानित्यत्ववादे दण्डाच्चक्रे घटस्योत्पत्तेर्घटोऽनित्य आत्मनस्तु न कुतोऽपि कुत्रचिदुत्पत्तिरिति स नित्य इत्येवं घटादावनित्यत्वव्यवहार ,आत्मादौ नित्यत्वव्यवहार कुत इष्यत आह-**प्रतीत्ये**ति-अपेक्ष्येत्यर्थ , **संविद्भावस्तु** नित्यत्वानित्यत्वादिप्रत्ययसद्भाव पुन ,कारकेषु कर्त्रादिकारकेषु, **उपनीयते** प्राप्यते, उत्पत्तिगतमेव नित्यत्वानित्यत्वादिक तत्तत्कर्त्रादिकारकापेक्षया प्रतीयते इत्येतावता कारकेषु नित्यत्वानित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थः ॥१२॥

प्रतीत्यसंविदपेक्षयैव संज्ञाऽपि न त्वर्थे सा तत्त्वत , अज्ञाः खलु शब्दार्थयोः सम्बन्ध वा, स्वमभिमन्यमाना भेदबुद्धिमाधाय क्लिश्यन्तीत्याह—

जाति-लिङ्ग-परिमाण-काल-व्यक्तिप्रयोजनाः ।
संज्ञा-मिथ्यापरा दृष्टाः परिक्षिण्यन्त्यचेतसः ॥१३॥

जातीति । **जाति-लिङ्ग-परिमाण-काल-व्यक्तिप्रयोजनाः** जातिव्यक्तिप्रयोजनाः, लिङ्गव्यक्तिप्रयोजनाः, परिमाणव्यक्तिप्रयोजनाः, कालव्यक्तिप्रयोजनाः, जातिज्ञानं प्रयोजनं यासां ताः जातिव्यक्तिप्रयोजनाः, लिङ्गज्ञानं प्रयोजनं यासां ताः लिङ्गव्यक्तिप्रयोजनाः, परिमाणज्ञानं प्रयोजनं यासां ताः परिमाणव्यक्तिप्रयोजनाः, कालज्ञानं प्रयोजनं यासां ताः कालव्यक्तिप्रयोजनाः, **संज्ञाः** नामानि, **मिथ्यापराः** नामार्थयोर्न तादात्म्यसम्बन्धः तथासत्यग्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहादिः प्रसज्येत, नापि तदुत्पत्तिः, हिरण्यादिशब्दोच्चारण एव हिरण्यादिधनसम्भवाद् दरिद्रं जगत् स्यात्, तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यतिरिक्तस्तु सम्बन्धो न यथार्थः इति शब्दाद् विकल्पात्मकमेव ज्ञानं न यथार्थम्—

"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
कार्य-कारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥"

इति जात्यादियोजनात्मकं शब्दप्रभवं मिथ्याज्ञानमेवेति । **मिथ्यापराः** मिथ्याज्ञानं परमनन्तरं कार्यं यासां ता मिथ्यापराः, **दृष्टाः** दृष्टाः सत्यः, **अचेतसः** चेतोविकलान् अज्ञानिन इति यावत्, **परिक्षिण्यन्ति** परितः सर्वप्रकारेण, क्षिण्यन्ति विमूढान् विदधति ॥२३॥

शब्दादीनां यथार्थसम्बन्धसद्भावेऽपि ज्ञानाधीनैव सर्वा प्रवृत्तिरिति ज्ञानमेव जगतः सत्त्वमित्याह—

यथार्थं वा स्यात् संवन्धः शब्दादीन्द्रियचेतसाम् ।
तदस्य जगतः सत्त्वमात्मप्रत्ययलक्षणम् ॥१४॥

यथार्थ वेति । **शब्दादीन्द्रियचेतसां** शब्दादिविषयश्रोत्रादीन्द्रियश्रवणादिज्ञानानां, **वा** अथवा, **यथार्थं** तात्त्विकम्, **स्यात्** भवेत्, **सम्बन्धः** संसर्गः, एतावता शब्दादेर्ज्ञानं शब्दप्रभवं ज्ञानं वा यथार्थं भवतु एवमपि यथार्थज्ञानादेव वस्तुसिद्धिरिति तज्ज्ञानमेव तत्सत्त्वं तज्ज्ञानाभावे तत्सत्त्वाव्यवस्थितेरिति ज्ञानमेव जगतः **सत्त्वमित्याह—तदिति** तत् तस्मात्, **अस्य जगतः** अनुभूयमानस्य विश्वस्य, **आत्मप्रत्ययलक्षणं** स्वविषयकज्ञानस्य स्वरूपं सत्त्वमित्यर्थः ॥१४॥

द्रव्य-पर्यायसंकल्पश्चेतस्तद्व्यञ्जकं वचः ।
तद् यथा यत्र यावच्च निरवद्येति योजना ॥१५॥

द्रव्येति । **द्रव्यपर्यायसंकल्पः चेतस्तद्** इद द्रव्य इमे पर्याया इति सकल्पः चेतः, **तद्व्यञ्जकं** तस्य सकल्पस्य व्यञ्जक ज्ञापक, **वचः** वचन भवति, **तद् यथा यत्र यावच्च** तत् वचन, यथा येन प्रकारेण, यच्च यत् स्वरूप पुन॰ यावच्च यावत्सङ्ख्यक च इति, **योजना** व्यवस्था, **निरवद्या** निर्दुष्टा ॥१५॥

निषेकादिजरापाकपर्यन्तपौरुषं यथा ।
सम्यग्दर्शनभावादिरप्रमादविधिस्तथा ॥१६॥

निषेकादिति । **यथा निषेकादिजरापाकपर्यन्तपौरुषं** गर्भाशये शुक्र-शोणितादिसयोगादारभ्य शरीरस्वरूपनिष्पत्ति-गर्भाशयनिष्क्रमण-वाल कुमार-युवा-जरा-व्याप्तिपर्यन्त पुरुषसम्बन्ध्यनेकस्वरूप यथा भवति, **तथा** तद्वत्, आत्मप्रत्यय-लक्षणोपयोगस्य, **सम्यग्दर्शनभावादिरप्रमादविधिः** सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-भावादिरप्रमादविधिर्भवतीत्यर्थ ॥१६॥

शब्दादिषु यथा लोकश्चित्रावस्थः प्रवर्तते ।
तद्वत् तमात्मप्रत्यक्षं त्याज्यमित्युभयो नयः ॥१७॥

शब्दादिष्विति । **शब्दादिषु** शब्दादिविषयेषु, **यथा** यद्वत्, **लोकः** जन, **चित्रावस्थः** अनेकावस्थ, **प्रवर्त्तते,** कश्चिज्जन॰ शब्दादिषु रागात् प्रवर्त्तते, कश्चित् पुनस्तेषु द्वेषान्निवर्त्तते, कश्चित् पुनस्तेषूपेक्षां करोति, **तद्वत्** तत्तुल्यम्, **आत्मप्रत्यक्षम्** आत्मप्रत्यक्षमपि तथैव नानाविध भवति, **त्याज्यं** औपाधिक नानाविधमात्मप्रत्यक्षमिति मत्वा त्यक्तव्यम्, **इति** एव स्वरूपव्यञ्जक॰, **उभयो नयः** द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयौ, द्रव्यार्थिको नय स्थिरस्वभावान् शब्दादीन् विषयान् प्रतिपादयति उपयोग च स्थिरस्वभाव प्रतिपादयति, पर्याया-र्थिकश्च नय॰ शब्दादिविषयाणामनेकावस्था॰ प्रतिपादयति, उपयोगस्य चानेकस्वरूपं

प्रतिपादयति, ततश्चैकान्तस्थिरस्वरूपमेकान्तविचलितस्वरूपं च परित्यक्तव्य किन्तु तदुभयात्मकमनेकान्तस्वरूप प्रमाणगोचरचारि मन्तव्यमित्यैदम्पर्यम् ॥१७॥

घृणाऽनुकम्पापारुष्यं कार्पण्यं परिशुद्धये ।
व्रतोपव्रतयुक्तस्तु स्मृतिस्थैर्योपपत्तये ॥१८॥

घृणेति । **घृणा** दया, **अनुकम्पा** कृपा, **पारुष्यं** निष्ठुरवचनत्व, **कार्पण्यं**, एतानि **परिशुद्धये** भवन्ति, **व्रतोपव्रतयुक्तस्तु** तत्र हिंसाऽनृत-स्तेया-ऽब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् एवमुपव्रतमागमावसेयं ताभ्या युक्तः पुनः, **स्मृतिस्थैर्योपपत्तये** स्मृतिदार्ढ्याय भवति ॥ ॥१८॥

उपधानविधिश्चित्रशेषाशयविशोधनः ।
न्याय्यो वातादिवैषम्यविशेषोपधकल्पवत् ॥१९॥

उपधानविधिरिति । **उपधानविधिः** उपधानविधानमित्यर्थः, **चित्रशेषाशयविशोधनः** अनेकविधावशिष्टान्तःकरणाय विशुद्धिकारक, **न्याय्यो** न्यायादनपेतो युक्त इति यावत्, तत्र निदर्शन **वातादिवैषम्यविशेषोपधकल्पवत्** वात-पित्त कफाना वैषम्यविशेषस्योपधकल्पन यथा वातादिदोषाणामुपशमनलक्षणविशुद्धिकारितेत्यर्थः ॥१९॥

न विधिः प्रतिषेधो वा कुशलस्य प्रवर्तितुम् ।
तदेव वृत्तमात्मस्थं यत् कषायपरिपक्तये ॥२०॥

न विधिरिति । **कुशलस्य** कुशलचित्तस्य पुंस, **प्रवर्त्तितुम्** प्रवृत्ति विधातु, **विधिः** विधायकशास्त्र, **प्रतिषेधो वा** निषेधशास्त्र वा, **न** नैव, क्रमते इति, **तदेव** एतदेव, **वृत्तम्** आचरणम्, **आत्मस्थं** आत्मगतम्, **कषायपरिपक्तये** कामक्रोधादिकषायपरिपाचनार्थं भवति, एतादृशावस्थ पुमान् परिपक्वकषायो भवतीत्यर्थः ॥२०॥

न दोषदर्शनाच्छुद्धं वैराग्यं विषयात्मसु ।
मृदुप्रवृत्त्युपायोऽयं तत्त्वज्ञानं परं हितम् ॥२१॥

न दोषदर्शनादिति । **विषयात्मसु** शब्दादिविषयस्वरूपेषु, **दोष-दर्शनात्** दोषावलोकनात्, **वैराग्यं** विरक्तत्व, **न शुद्धं** शुद्धवैराग्यं तन्न भवति, किन्तु **अयं मृदुप्रवृत्त्युपायः** ऋजुप्रयत्नस्योपायः एतादृशवैराग्यवान् पुरुषोऽतितीव्रप्रयत्नशालीनो भवति शिथिलविषयप्रयत्नादरः न, **परं** उत्कृष्टं, **हितं** परमपुरुषार्थमोक्षसाधनं, **तत्त्वज्ञानं** केवलज्ञानमित्यर्थ. ॥२१॥

कीदृश पुरुषः तत्त्वज्ञानयोग्य इत्याकाङ्क्षायामाह—

श्रद्धावान् विदितापायः परिक्रान्तपरीषहः ।
भव्यो गुरुभिरादिष्टो योगाचारमुपाचरेत् ॥२२॥

श्रद्धावानिति । **श्रद्धावान्** जिनवचनादिविषयकरुचिमान् य जिनेनोक्तं तत् सर्वं सत्यमित्याकारकरुचिमानिति यावत्, **विदितापायः** विदितो ज्ञातः अपाय. मोक्षादिप्रतिबन्धको येन स, एवम्भूतः पुमान् यथा-मोक्षप्रतिबन्धक-बन्धादिकमभिनवं न भवति तथा चेष्टते, **परिक्रान्तपरीषहः** परिक्रान्ताः सर्वप्रकारेण जिता. परीषहा. क्षुत्पिपासादयो द्वाविंशतिप्रकाराः परीषहा येन स परिक्रान्तपरीषह, **भव्यः** मुक्तिगमनयोग्यतावच्छेदकानादिभव्यत्वपरिणामवान्, **गुरुभिरादिष्टः** आप्तैर्गुरुभिराज्ञप्तः सन्, **योगाचारमुपाचरेत्** अष्टाङ्गयोग-स्याचरण सम्यक् कुर्यात् ॥२२॥

अष्टाङ्गयोगाचरणप्रकारमुपदर्शयति—

शुचौ निष्कण्टके देशे समप्राणवपुर्मनाः ।
स्वस्तिकाद्यासनजयं कुर्यादेकाग्रसिद्धये ॥२३॥

शुचाविति । **शुचौ** गोमयाद्युपलेपनेन शुद्धिमति, **निष्कण्टके** कण्टकादिरहिते, **देशे** भूप्रदेशे, **समप्राणवपुर्मनाः** समानि प्राण-वपुर्मनासि यस्य स प्राणवपुर्मना एवंभूत सन्, **स्वस्तिकाद्यासनजयं** स्वस्तिकप्रभृतीनि आसनानि स्वस्तिकाद्यासनानि स्वस्तिकाद्यासनानां जयं सम्यग् निरन्तराभ्यासेन स्वाधीनम्, **एकाग्रसिद्धये** मनसो वृत्त्यन्तरनिरोधेन यथैकविषयकवृत्त्युपपत्तये, **कुर्यादि**त्यर्थः ॥२३॥

योगाङ्गप्राणायामफलमुपदर्शयति—

प्राणायामो वपुश्चित्रजाड्यदोषविशोधनः ।
शक्त्युत्कृष्टफलत्कार्यः प्रायेणैश्वर्यसत्तमः ॥२४॥

प्राणायाम इति । **प्राणायामः** हृदि स्थितस्य प्राणवायोः कियत्कालं नियम्य मूर्द्धादाववस्थानं प्राणायाम', स च **वपुश्चित्रजाड्यदोषविशोधनः** वपुषः शरीरस्य चित्रमनेकविधं जाड्यं जडत्वं तदात्मकं दोषस्य विशेषेण शुद्धिकारक' जाड्यदोषापहारक इति यावत्, ततः **शक्त्युत्कृष्टफलत्कार्यः** शक्त्या सामर्थ्येनोत्कृष्टमुत्कर्षशालिफलद्दीप्यत्कार्यं जाड्यदोषापगमनलक्षणं यस्य स शक्त्युत्कृष्टफलत्कार्यः, **प्रायेण** सम्भाविताऽवश्यम्भावेन, **ऐश्वर्यसत्तमः** अणिमा-लघिमाप्रभृत्यष्टविधैश्वर्यसत्तम' ॥२४॥

ततश्च—

क्रूरक्लिष्टवितर्कात्मानिमित्तामयकण्टकात् ।
उद्धरेद् गतिशब्दादि वपुः स्वाभाव्यदर्शनात् ॥२५॥

क्रूरेति । **क्रूरक्लिष्टवितर्कात्मानिमित्तामयकण्टकात्** क्रूरः क्रौर्य-शाली, क्लिष्टः क्लेशावहः, वितर्कः तदात्मकस्तद्रूपो योऽनिमित्तोऽसाधारणनिमित्त-रहित आमय मनोगतदोषस्तदात्मककण्टकात्, **वपुःस्वाभाव्यदर्शनात्** प्राणायामकारिणः पुंसः वपुषः शरीरस्य यत्स्वाभाव्य स्वाभाविकस्वरूप तस्य दर्शनादवलोकनात्, **गतिशब्दादि उद्धरेत्** निरुक्तकण्टकरहितं गतिशब्दादिकं उद्धरेत् ॥२५॥

एवं सति अनायासेन कषायजयाज्जिनस्वरूपमाप्नोति निरामय पुमानित्याह—

चर-स्थिर-महत्-सूक्ष्मसंज्ञा-ज्ञानार्थ-संगतिः ।
यथासुखजयोपायमिति पायाज्जितं जिनम् ॥२६॥

चरेति । **चर-स्थिर-महत् सूक्ष्मसंज्ञा-ज्ञानार्थसंगतिः** चरसंज्ञा-स्थिरसंज्ञा-महत्संज्ञा-सूक्ष्मसंज्ञा-चरज्ञान स्थिरज्ञान महज्ज्ञान-सूक्ष्मज्ञान-चररूपार्थ-स्थिर-

रूपार्थं महदर्थ-सूक्ष्मार्थां सम्यगवगतिः, **यथासुखजयोपायं** यथासुखं च तज्जयोपायं यथासुखजयोपायं सुखमनतिक्रम्य कषायादिजयोपायम्, **जितं** स्वाधीनम्, **इति** एतस्मात् कारणात्, **जिनं** जिनस्वरूपं, **पायात्** प्राप्नुयादित्यर्थः ॥२६॥

उपसंहरति—

इत्याश्रवनिरोधोऽयं कषायस्तम्भलक्षणः ।
तद्धर्म्यमस्माच्छुक्लं तु तमःशेषक्षयात्मकम् ॥२७॥

इत्याश्रवेति। **इत्याश्रवनिरोधोऽयमि**ति इति एव, अयं संवरः आश्रवनिरोधः, **कषायस्तम्भलक्षणः** कषायाणां काम-क्रोधादीनां स्तम्भः स्थगनं तल्लक्षणः तत्स्वरूपः, **तद्धर्म्यं** तदेव धर्मध्यानम्, **अस्मात्** धर्मध्यानाद् अनन्तरम्, **शुक्लं तु** शुक्लध्यानं पुनः, **तमःशेषक्षयात्मकम्** अष्टविधकर्मसु अवशिष्टकर्मलक्षणान्धकारक्षयात्मकम्, अत्रेदमवसेयं ध्यानं चतुर्विधं आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लभेदात्, तत्र आर्त्तध्यानं रौद्रध्यानं च संसारहेतू पूर्वं प्रसगादुपवर्णिते, धर्म्यं शुक्लं च मोक्षहेतू, तत्र धर्मध्यानलक्षणं 'आज्ञा-ऽपाय-विपाक-संस्थान विचयाय धर्मम-प्रमत्तसंयतस्य' इति तत्त्वार्थसूत्रम्, अत्र भाष्यम्-आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय संस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वारोहो धर्मध्यानम् तदप्रमत्तसंयतस्य भवति, 'किञ्चान्यत्' इति, एतत्स्फुटाधिगतये टीका समुल्लिख्यते—आज्ञादीनां कृतद्वन्द्वानां विचयशब्देन सह षष्ठीसमासः, आज्ञादीनां विचयः पर्यालोचनम्, विचय-शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयशब्दात्तादर्थ्ये चतुर्थी, धर्मशब्दो व्याख्यातः, अप्रमत्तसंयतस्येति स्वामिनिर्देशः, तत्राज्ञासर्वज्ञप्रणीत आगमः, तामाज्ञामित्थं विचिनुयात् पर्यालोचयेत्—पूर्वापरविशुद्धामतिनिपुणामशेषजीवकाय-हितामनवद्यां महार्थां महानुभावां निपुणजनविज्ञेयां द्रव्यपर्यायप्रपञ्चवतीमनाद्य-निधनाम् "इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ णासी" इत्यादिनन्दीवचनात्, तत्र प्रज्ञायाः परिदुर्बलत्वादुपयुक्तेऽपि सूक्ष्मया शेमुष्या यदि नावैति भूतमर्थं सावरणज्ञानत्वात्, यथोक्तम्—

"नहि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति ।
ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥१॥"

तथाप्येवं विचिन्वतोऽवितथवादिन: क्षीणराग-द्वेष मोहा. सर्वज्ञा नान्यथा-व्यवस्थितमन्यथा वदन्ति भाषन्ते वा अनृतकारणाभावात्, अत: सत्यमिदं शासन-मनेकदु खगहनात् ससारसागरादुत्तारकमित्याज्ञाया स्मृतिसमन्वारोह: प्रथम धर्म-ध्यानमाज्ञाविचयाख्यम् । अपायविचयं द्वितीय धर्मध्यानमुच्यते—अपाया विपद. शारीर-मानसानि दु खानीति पर्यायास्तेषा विचय अन्वेषणमिहामुत्र च रागद्वेषा-कुलितचेतोवृत्तय सत्त्वा मूलोत्तरप्रकृतिविभागापितजन्म जरा-मरणार्णवभ्रमणपरिखे-दितान्तरात्मान सांसारिकसुखप्रपञ्चेष्ववितृप्तमानसा. कायेन्द्रियादिष्वास्रवद्वारप्रवाहेषु वर्त्तमाना मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिप्रतिगतिभिर्निवृत्ता: । नरकादिगतिषु दीर्घरात्रमपायैर्यु-ज्यन्ते, केचिदिहापि कृतवैरानुबन्धा. परस्परमाक्रोशवध-बन्धाद्यपायभाजो दृश्यन्ते क्लिश्यन्ते इत्यत प्रत्यपायप्रायेऽस्मिन् ससारेऽत्यन्तोद्वेगाय स्मृतिसमान्वारोहतोऽपाय विचयं धर्मध्यानमाविर्भवति । तृतीयं धर्मध्यानं विपाकविचयाख्यमुच्यते—विविधो विशिष्टो वा पाको विपाक अनुभाव, अनुभावो रसानुभव:, कर्मणा नरकतिर्यङ्-मनुष्यामरभवेषु तस्य विचय -अनुचिन्तन मार्गण तदर्पितचेता. । तत्रैव स्मृति समन्वाहृत्य वर्त्तमानो विपाकविचयाध्यायी भवति, ज्ञानावरणादिकमष्टप्रकारं कर्म प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशभेदमिष्टानिष्टविपाकपरिणामं जघन्य-मध्यमोत्कृष्टस्थितिक विविधविपाकम्—तद्यथा ज्ञाणावरणाद्दुर्मेधस्त्वं, दर्शनावरणाच्चक्षुरादिवैकल्यं निद्रा-वृद्धवश्च, असद्वेद्याद् दु खम् सद्वेद्यात् सुखानुभव., मोहनीयाद् विपरीतग्राहिता, चारित्रविनिवृत्तिश्च आयुषोऽनेकभवप्रादुर्भाव . नाम्नोऽशुभप्रशस्तदेहादिनिवृत्ति , गोत्रादुच्च-नीचकुलोपपत्ति , अन्तरायादलाभ इति । इत्थं निरुद्धचेतस कर्मविपाका-नुसरण एव स्मृतिसमन्वाहतो धर्म्यं भवति ध्यानमिति । सस्थानविचयं नाम चतुर्थं धर्मध्यानमुच्यते— सस्थानमाकारविशेषो लोकस्य द्रव्याणा च, लोकस्य तावत् तत्राधोमुखमल्लकसस्थान वर्णयत्यधोलोकम्, स्थालमिव च तिर्यग्लोकमूर्ध्वमधोमल्लक समुद्गम्, तत्रापि तिर्यग्लोको ज्योतिर्व्यन्तराकुल , असङ्ख्येया द्वीपसमुद्रा वलयाकृतयो धर्माधर्माकाश-पुद्गल जीवास्तिकायात्मका अनादिनिधनसन्निवेशभाजो व्योमप्रतिष्ठा: क्षितिवलय द्वीपसागर-नरकविमानभवनादिसस्थानानि च, तथाऽऽत्मानमुपयोगलक्षण-मनादिनिधनमर्थान्तरभूत शरीराद्, अरूप कर्तारमुपभोक्तारं च स्वकृतकर्मण: शरीराकारम्, मुक्तौ त्रिभागहीनाकारम्, ऊर्ध्वलोको द्वादशकल्पा असकल-

सकलनिशाकरमण्डलाकृतयो नवग्रैवेयकाणि पञ्चमहाविमानानि मुक्ताधिवासश्च, अधोलोकोऽपि भवनवासिदेवा नारकाधिवसतिः, धर्माधर्मावपि लोकाकारौ गति-स्थितिहेतू, आकाशमवगाहलक्षणं पुद्गलद्रव्यं शरीरादिकार्यं, इत्थं संस्थानस्वाभाव्या-न्वेषणार्थं स्मृतिसमन्वाहारो धर्मध्यानमुच्यते, पदार्थस्वरूपपरिज्ञानं तत्त्वावबोध-स्तत्त्वावबोधाच्च क्रियानुष्ठानं, तदनुष्ठानान्मोक्षावाप्तिरिति । तदेतदप्रमत्तसंयतस्य भवति, धर्मध्यानं प्रमत्तसंयतावस्थानाद् विशुद्ध्यमानाध्यवसायोऽप्रमत्तस्थानमाप्नोति, यथोक्तम्—

"निर्ज्ञाता एव तथा विशोधयोऽसङ्ख्यलोकमात्रास्ता. ।
तरतमयुक्ताया अधितिष्ठन् यतिरप्रमत्त' स्यात् ॥२॥"

अतो विशुद्धाद्धायां वर्त्तमानोऽप्रमत्तसंयतस्तस्य च भगवतो धर्मध्यानादि-तपोयोगैः कर्माणि क्षपयतो विशोधिस्थानान्तराणि आरोहतः ऋद्धिविशेषा. प्रादु-र्भवन्त्यणिमादयः, उक्तं हि—

"अवगाहते च सश्रुतजलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानम् ।
मानसपर्याय वा विज्ञानं वा कोष्ठादिबुद्धिर्वा ॥३॥
चारण-वैक्रिय-सर्वौषधावद्यावापि लब्धयस्तस्य ।
प्रादुर्भवन्ति गुणतो बलानि वा मानसादीनि ॥४॥"

अत्र च श्रेणिप्राप्त्यभिमुखः प्रथमकषायान् दृष्टिमोहत्रयं चाविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्त संयतानामन्यतम उपशमश्रेण्याभिमुख्यात् उपशमयति, यथोक्तम्—

"क्षपयति तेन ध्यानेन ततोऽनन्तानुबन्धिनश्चतुर ।
मिथ्यात्व समिश्र सम्यक्त्व च क्रमेण तत ॥५॥
क्षीयन्ते हि कषायाः प्रथमास्त्रिविधोऽपि दृष्टिमोहश्च ।
देशयतायतसम्यग्दृगप्रमत्त प्रमत्तेषु ॥६॥
पार्ष्णिग्राहारीस्तान् निहत्य विगतस्पृहो विदीर्णभयः ।
प्रीतिसुखमपक्षोभ. प्राप्नोति समाधिमत्स्थानम् ॥७॥"

"उपशान्त क्षीणकषाययोश्च" इत्यनेन सूत्रेण उपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य च धर्म ध्यानं भवतीत्यपि दर्शितम्, तत्तदन्यच्च विरतरतष्टीकायामुपवर्णितं

गौरवभयान्नेहोपदर्श्यते । चतुर्विधतया शुक्लध्यानस्य प्रत्यकम् तत्त्वार्थसूत्रमिदम् ।"

"पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्त्तीनि । ९-४२ ।"

अत्र भाष्यम्—"पृथक्त्ववितर्कम् एकत्ववितर्कं, सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्तीति चतुर्विधं शुक्लध्यानम्" अत्रैतस्यैव टीका—पृथक्त्ववितर्कमित्यादिना भाष्येण नामग्राहं पठति चतुरोऽपि भेदानिति । चतुर्विधशुक्लध्यानस्य प्रतिपादकं सूत्रमिदम्—'तत् त्र्येककाययोगायोगानाम् । ९-४३ ।"

अत्र भाष्यम्–'तदेव चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतमयोगस्य काययोगस्यायोगस्य च यथासङ्ख्यं भवति, तत्र त्रियोगानां पृथक्त्ववितर्कं एकान्यतमकयोगानामेकत्ववितर्कम्, काययोगानां सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति अयोगानां व्युपरतक्रियानिवर्त्तीति । अत्र टीका–तदेतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं प्रथमद्वितीयोत्तमसंहननवतो भवति, मनोवाक्काययोगव्यापारवत इत्यर्थं । एकान्यतमयोगानामिति, अन्यतमैकयोगानामेकत्ववितर्कम् एकोऽन्यतमः कायादीनां योगो यस्य ध्यायिनो व्याप्रियते—कदाचिन्मनोयोगः कदाचिद् वाग्योगः कदाचित् काययोग इति, काययोगानामिति कायैकयोगभाजामेव सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानमिति, निरुद्धयोगद्वयावस्थानां कायव्यापारवता सूक्ष्मक्रियं भवति, न च प्रतिपतति, अयोगानामिति शैलेश्यवस्थानां ह्रस्वाक्षरपञ्चकोच्चारणसमकालानां मनोवाक्काययोगत्रयरहितानां व्युपरतक्रियमनिवर्त्तिध्यानं भवति । उक्तं च—

"यदर्थव्यञ्जने काय-वचसी च पृथक्त्वतः ।
मनः सङ्क्रमयत्यात्मा स विचारोऽभिधीयते ॥८॥

संक्रान्तिरर्थादर्थं यद् व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं तथा ।
योगाच्च योगमित्येष विचार इति वा मतः ॥९॥

अर्थादि च पृथक्त्वेन यद् वितर्कयतीह च ।
ध्यानमुक्तं समासेन तत् पृथक्त्वविचारवत् ॥१०॥

अविकल्प्यमनन्यत्वेन योगसंक्रान्तिनिःस्पृहम् ।
तदेकत्ववितर्काख्यं श्रुतज्ञानोपयोगवत् ॥११॥

सूक्ष्मकायक्रियारुद्धसूक्ष्मवाङ्-मनसक्रियः ।
यद् ध्यायति तदप्युक्त सूक्ष्ममप्रतिपाति च ॥१२॥
कायिकी च यदैषाऽपि सूक्ष्मोपरमति क्रिया ।
अनिवर्त्ति तदप्युक्तं ध्यानं व्युपरतक्रियम् ॥१३।"

पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्कात्मकशुक्लध्यानयोरालम्बनप्रतिपादक सूत्रमिदम्—'एकाश्रये सवितर्के पूर्वे' ॥९-४४॥" अत्र भाष्यम्—"एकद्रव्याश्रये सवितर्के पूर्वे ध्याने प्रथमद्वितीये, तत्र सविचार प्रथम, अविचार द्वितीय, अविचार सवितर्क द्वितीय ध्यानं भवति ।" अत्र टीका—"एक आश्रय आलम्बनं ययोस्ते एकाश्रये एकद्रव्याश्रये इति पूर्वविदारभ्ये मतिगर्भश्रुतप्रधानव्यापाराच्चैकाश्रयतापरमाणुद्रव्यमेकमालम्ब्यात्मादिद्रव्यं वा श्रुतानुसारेण निरुद्धचेतस· शुक्लध्यानमिति 'वितर्क· श्रुतम्' वक्ष्यति इति, सह वितर्केण सवितर्कं, पूर्वगतश्रुतानुसारिणीत्यर्थ, पूर्वं च पूर्वं च पूर्वे ध्याने, एतदेव निश्चिनोति—प्रथमद्वितीये इति, पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कं च, तत्र तयो·, यत् प्रथमम्- आद्य पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कं च तत् सविचारं सह विचारेण सविचार सह सङ्क्रान्त्येति यावद् वक्ष्यति । "विचारोऽर्थ-व्यञ्जनयोगसक्रान्ति" । कथ पुनरनुपात्त सूत्रे सविचारमिति गम्यते ? अविचारद्वितीयमिति वचनादर्थलभ्यं प्रथमं सविचारमिति । वितर्कविचारयोर्विशेषावगतये "वितर्कः श्रुतम्" ९-४५" "विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्ति ॥९-४६॥" इति क्रमेण सूत्रद्वय इति ॥२७॥

शुक्लध्याने विशेषमुपदर्शयति—

नेहारभणचारोऽस्ति केवलोदीरण-व्यये ।
अनन्तैश्वर्यसामर्थ्यात् स्वयं योगी प्रपद्यते ॥२८॥

नेहेति । इह शुक्लध्याने, **आरभणचारः** अभिनवकर्मादानव्यापारः, **नास्ति** न विद्यते, किन्तु **केवलोदीरणव्यये** अत्र केवलोदीरणव्यये इति यत् पूर्वबद्धकर्मणः केवलमुदीरण उदयः व्ययो विनाश, तौ, ते इत्यनेनान्वयः । अत्र हेतु—**अनन्तैश्वर्यसामर्थ्यात्** अनन्तैश्वर्यशक्तिबलात्, **स्वयं** स्वयमेव, **योगी** योगयुक्तः, **प्रपद्यते** प्राप्नोति, अथवा तम·शेषक्षयात्मक· शुक्लध्यानं तु स्वयं योगी

अनन्तैश्वर्यसामर्थ्यात् प्रपद्यते, न च शुक्लध्यानार्थमारम्भणचारः किन्तु केवलोदीरणव्यये सतीत्यन्वय ॥२८।

शुक्लध्यान यथा कैवल्यकारण भवति तथोपदर्शयति—

तत् क्षीयमाणं क्षीणं तु चरमाभ्युदयेक्षणे ।
कैवल्यकारणं पङ्ककलिलाम्बुप्रसादवत् ॥२९॥

तदिति। **तत् क्षीयमाणं** तत् शुक्लध्यानं, क्षीयमाण क्रमेण क्षीयमाण सत्, **चरमाभ्युदयक्षणे** चरमाभ्युदयकाले, **क्षीणं तु** विनष्टं पुनः, **कैवल्यकारणं** केवलज्ञानोत्पत्तिकारणम्, तत्र निदर्शनम्—**पङ्ककलिलाम्बुप्रसादवत्** पङ्कमिश्रजलस्य क्रमेण पङ्कापगमनानन्तरं सर्वथा पङ्कापगमे यथा प्रसादो भवति तथेत्यर्थः ।

अत्रेदमवगन्तव्यम्, एतद्विषये इमानि पद्यानि—

"क्षीणकषायस्थानं तत् प्राप्य ततो विशुद्धलेश्यः सन् ।
एकत्ववितर्काविचारं ध्यान ततोऽध्येति ॥१॥
एकार्थाश्रयमिष्ट योगेन केनचित् तदेकेन ।
ध्यान समाप्यते यत् कालोऽल्पोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च ॥२॥
श्रुतमुच्यते वितर्कः पूर्वाभिहितार्थनिश्चितमतेश्च ।
ध्यान तदिष्यते येन तन्न सवितर्कमिष्ट तत् ॥३॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां सङ्क्रान्तिरुदितो हि विचारः ।
तदभावात् तद् ध्यान प्रोक्तमविचारमर्हद्भिः ॥४॥
व्युत्सर्गविवेकान् समोहाव्ययलिङ्गमिष्यते शुक्लम् ।
न च सम्भवन्ति कात्स्न्र्येन तानि लिङ्गानि मोहवतः ॥५॥
व्युत्सर्गः सङ्गत्यागः देहोपधीना विवेकः ।
प्रीत्यप्रीतिविरहितं ध्यायँस्तदुपेक्षकः प्रसन्नम् सः ॥६॥
प्राप्नोति पर हार्दं हिमातपाभ्यामिव विमुक्तम् ।
तेन ध्यानेन यथाख्यातेन च सयमेन घातयति ॥७॥
शेषाणि घातिकर्माणि युगपदपरञ्जनानि ततः ।
कात्स्न्र्यान्मस्तकसूच्या यथा हतायां हतो भवति तालः ।
कर्माणि क्षीयन्ते तथैव मोहे हते कात्स्न्र्यात् ॥८॥

निद्राप्रचले द्विचरमसमये तस्य क्षयं समुपयातः ।
चरमान्ते क्षीयन्ते शेषाणि तु घातिकर्माणि ॥९॥
आवरणचरमसमये तस्य दशाभावितात्मनो भवति ।
जीवस्तत जगत् पश्यतो हि भावक्षयोपशमः ॥१०॥
शटितप्राय हि तदाऽऽवरणं परमावधिश्च भवति तदा ।
अथ कार्त्स्न्यात् तत्पतनाद् द्वितीयसमये क्षयाचेति ॥११॥
तस्य हि तस्मिन् समये केवलमुत्पद्यते गतत्सरकर् ।
ज्ञानं च दर्शनं चाऽऽवरणद्वयनिःक्षयाच्छुद्धम् ॥१२॥
चित्रं चित्रपटनिभं त्रिकालसहितं ततः सलोकमिमम् ।
पश्यति युगपत् सर्वं सालोकं सर्वभावज्ञम् ॥१३॥
वीर्यं निरन्तराय भवत्यनन्तं तथैव तस्य तदा ।
कल्पातीतस्य महात्मनोऽन्तरायक्षय कार्त्स्न्यात ॥१४॥
सततो वेदयमानो विहरति चत्वारि शेषकर्माणि ।
आयुष्यस्य समाप्तिर्यावत् स्याद् वेद्यमानस्य ॥१५॥"

इति शुक्लध्यानस्य पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवत. । तस्यैव च सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति व्युपरतक्रियमनिवर्त्ति इति द्वे ध्याने केवलिन एव त्रयोदश-चतुर्दशगुणस्थानक्रमेणैव भवतः । तत्रैक आह—

"अप्रतिपाति ध्यायन् कश्चित् सूक्ष्मक्रियविहृत्यन्ते ।
आयुःसमीक्रियार्थं त्रयस्य गच्छेत समुद्घातम् ॥१६॥
आर्द्राम्बराशुशोषवदात्मविसारणविशुष्कसमकर्मा ।
समयाष्टकेन देहे स्थित्वा योगात् क्रमाद् द्वन्द्वे ॥१७॥

तथा अन्य आह—
आयुषि समाप्यमाने शेषाणा कर्मणा यदि समाप्ति. ।
न स्यात् स्थितिवैषम्यात् गच्छति स ततः समुद्घातम् ॥१८॥
स्थित्या च बन्धनेन समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषाम् ।
अन्तर्मुहूर्त्तशेषे तदायुषि समुज्जिघांसति सः ॥१९॥

आर्द्रं विरल्लित सद् वस्त्रं मङ्क्ष्वेव ननु विनिर्वाति· ।
सवेष्टितं तु न तथा तथाहि कर्मापि मूर्त्तत्वात् ॥२०॥

स्नेहक्षयसाम्यात् (स्थितिवन्धनहेतुर्हि) स्नेह स च हीयते समुद्घातात् ।
क्षीणस्नेह शटति हि भवति तदल्पस्थिति च शेपम् ॥२१॥

आयुष्कस्यापि विरल्लितस्य न ह्रास्यते स्थिति· कस्मात् ।
इति वा चोद्य चरमशरीरोऽनुपक्रमायुर्यत् कङ्कटुकवत् ॥२२॥

दण्डकपाटकरुचकक्रिया जगत्पूरणं चतुःसमयम् ।
क्रमशो निवृत्तिरपि च तथैव प्रोक्ता चतु समया ॥२३॥

विकसन्-सकोचनधर्मत्वाज्जीवस्य तत् तथा सिद्धम् ।
यच्चाप्यनन्तवीर्यं तस्य ज्ञानं च गततिमिरम् ॥२४॥

शेषायाः शेषाया समये सहत्य सङ्ख्येयान् ।
भागान् स्थितेरनन्तान् भागान् शुभाशुभावस्य ॥२५॥

स ततो योगनिरोध करोति लेश्यानिरोधमपि काङ्क्षन् ।
समसमयस्थितिं वन्धं योगनिमित्त स हि रुरुत्सन् ॥२६॥

समये समये कर्मादाने सति सन्ततेर्न मोक्ष. स्यात् ।
यद्यपि हि न मुच्यन्ते स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥२७।

नोकर्माणि हि वीर्यं योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
यस्यावस्थाने ननु सिद्ध समयस्थितिर्बन्ध ।२८॥

वादरत्वात् पूर्वं वाङ्मनसे वादरे स निरुणद्धि क्रमेणैव ।
आलम्बनाय करण हि तदिष्ट तत्र वीर्यवत· ॥२९॥

सत्यप्यनन्तवीर्यत्वे वादरतनुमपि निरुणद्धि तत ।
सूक्ष्मेण काययोगेन न निरुध्यते हि सूक्ष्मो योग ॥३०॥
सति वादरे योगे नहि धावन् वेपथु वारयति ।
नाशयति काययोग स्थूल सोऽपूर्वफड्डकीकृत्य ।
शेषस्य काययोगस्य तथा कृतीश्च स करोति ॥३१॥

सूक्ष्मेण काययोगेन ततो निरुणद्धि सूक्ष्मवाङ्मनसे ।
भवति ततोऽसौ सूक्ष्मक्रियस्तदाकृतिगतयोगः ॥१५॥

तमपि स योगं सूक्ष्मं निरुन्धन् सर्वपर्ययानुगतम् ।
ध्यानं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपात्युपयाति वितमस्कम् ॥१६॥
ध्याने दृढार्पिते परमात्मनि ननु निष्क्रियो भवति कायः ।
प्राणापाननिमेषोन्मेषवियुक्तो मृतस्येव ॥१७॥

ध्यानार्पितोपयोगस्यापि न वाङ्मनसक्रिये यस्मात् ।
अन्तर्वर्तित्वादुपरमतस्तेन तयोर्ध्यानेन निरोधनं नेष्टम् ॥१८॥
मतत तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगेऽपि ।
निष्क्रियदेशो भवति स्थितोऽपि देहे विगतलेश्यः ॥१९॥

तुर्यध्याने—

योगाभावात् समयस्थितिनोऽपि न कर्मणो भवति बन्धः ।
ध्यानार्पणसंहारात् किञ्चिच्च ससंहतायवा ॥२०॥
लेश्याक्रियानिरोधो योगनिरोधश्च गुणनिरोधेन ।
इत्युक्तो विज्ञेयो बन्धनिरोधश्च हि तथैव ॥२२॥" इति ॥२९॥

चक्षुर्वद् विषयाख्यातिरवधिज्ञान-केवले ।
शेषवृत्तिविशेषात् तु ते मते ज्ञान-दर्शने ॥३०॥

चक्षुर्वदिति । **चक्षुर्वत्** चाक्षुषज्ञानवत्, **विषयाख्यातिः** विषयस्य प्रकाशन, **अवधिज्ञान-केवले** अवधिज्ञान केवलज्ञान च, **शेषवृत्तिविशेषात् तु** अन्यज्ञानवैलक्षण्यात् पुनः, **ते** अवधि-केवले, ज्ञानदर्शने अवधिज्ञानमवधिदर्शनं च तथा केवलज्ञानं केवलदर्शन च, **मते** सम्मते, अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरण-क्षयाज्जायमानेऽशेषविशेषविषयकाशेषसामान्यविषयके केवलज्ञान-केवलदर्शने स्याद्वा-दाभ्युपगते इत्यर्थः ॥३०॥

ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयक्षयानन्तर केवलज्ञानमुत्पद्यते ततश्चात्मसमुद्घाततो योगशान्तिर्भवतीत्याह—

जगत्स्थितिवशादायुस्तुल्यवेद्यादपि त्रयम् ।
करोत्यात्मसमुद्घाताद् योगशान्तिरतः परम् ॥३१॥

जगदिति । **जगत्स्थितिवशात्** भवस्थितिवशात्, **आयुस्तुल्यवेद्यादपि** 'आयुस्तुल्यवेद्यमपि' इति पाठ । **त्रयम्** आयु·कर्मव्यतिरिक्ताघातिकर्मत्रय, **आत्मसमुद्घात्** आत्मनो जीवस्य समुद्घातक्रियालक्षणव्यापारात् **आयुस्तुल्यवेद्यं** आयु कर्मभोगसमकालीनभोगवद्, **करोति, अतःपरं** समुद्घातात् पर, **योगशान्तिः** कार्यकादियोगशान्तिरित्यर्थ ॥३२॥

तदानीमात्मा स्वस्वरूपावस्थितो भवति, स च यथा व्यपदिश्यते तथा भावयति—

सर्वप्रपञ्चोपरतः शिवोऽनन्त्यपरायणः ।
सद्भावमात्रप्रज्ञप्तिनिरूपाख्योऽथ निर्वृतः ॥३२॥

सर्वप्रपञ्चोपरत इति । **सर्वप्रपञ्चोपरतः** काम-क्रोधाद्यान्तरिकपुत्र-कलत्रधनादिबाह्यौपाधिकसर्वसम्बन्धिरहित., **शिवः** अखण्डानन्दस्वरूप । 'अनन्त्यपरायण' इत्यस्य स्थाने अनन्यपरायण' इति पाठो युक्त । **अनन्यपरायणः** तस्य स्वव्यतिरिक्तकर्माद्यनधीन इत्यर्थः **सद्भावमात्रप्रज्ञप्तिनिरूपाख्यः** सद्भावमात्रेण प्रज्ञप्त्या सर्वोपाख्यारहित , **अथ** अथ च **निर्वृतः** निर्वृतिमान् मुक्त इत्यर्थ ॥३२॥

तदानीं ध्यानविचेष्टिते तस्य दर्शयति—

प्रदीपध्यानवद् ध्यानं चेतनावद् विचेष्टितम् ।
ते विकल्पवशाद् भिन्ने भव-निर्वाणवर्त्मनि ॥३३॥

प्रदीपध्यानवदिति । **प्रदीपध्यानवद् ध्यानं** निवातस्थितदीपवदखण्डप्रकाशस्वरूपोऽयमात्मेत्येवं तस्य ध्यानम् , **चेतनावद्विचेष्टितम्** यथाज्ञानं स्वसंविदितं तथाऽऽत्माऽयं स्वसंविदितज्ञानस्वरूपः स्वसंविदितं ज्ञानमेव तस्य चेष्टा, **भव-निर्वाणवर्त्मनि** संसारमार्गे मोक्षमार्गे च, **ते** ध्यानविचेष्टिते, **विकल्प-**

वशात् कल्पनाज्ञानबलाद्, **भिन्ने** भवकाले, यथाभूते ते ततोऽन्ये मुक्तिकाले वस्तुस्थित्याऽऽत्मभिन्ने एव ते इत्यर्थः ॥३३॥

उपसंहरति–

जिनोपदेशदिङ्मात्रमितीदमुपदर्शितम् ।

यद्वेत्य स्मृतिमतां विस्तरार्थो भविष्यति ॥३४॥

जिनोपदेशदिङ्मात्रमिति । जिनोपदेशदिङ्मात्रं जिनोपदिष्टस्याद्वादागमसद्दार्णवैकदेशमात्रं, **इदम्** अनन्तरोपवर्णितम्, **उपदर्शितम्** प्रकाशितम्, **इति** समाप्तौ, **यद्वेत्य** यदवगम्य, **स्मृतिमतां** धारणाविशेषशालिनाम्, **विस्तरार्थः** विस्तृतार्थावगमनविषयेण विषयिण उपदर्शनम्, **भविष्यति** उत्पत्स्यते ॥३४॥

स्याद्वादार्थैकलीना जिनमतगमनोद्देशबोधप्रवीणा
नव्या श्रीवीरवाचां स्तुतिरियमुदिता सिद्धसेनेन गूढा ।
व्याख्या लावण्यसूरेरिह बुधसुगमा जैनराद्धान्तश्रद्धा–
विद्योतैकप्रगल्भा भवतु मतिमतां दृष्टिमार्गप्रचारा ॥१॥

इति दशम्या द्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ॥

गुणवचनाभिधाना

एकादशी द्वात्रिंशिका ।

मार्गे नूततर्कविच्छलतरे व्याख्यापदारोपण
हासायैव भवेऽत्र तु तत सत्तत्त्वप्राप्तिर्वरा ।
जानान्नित्थमपीह भक्तिभरतो लावण्यसूरि. प्रभोः
व्याख्यायामुदितोद्यमः स्तुतिगिरा हास्यो न विद्यावताम् ॥१॥

त्रिभुवनराजराजस्य भगवतो महावीरस्य निन्दाव्याजेन स्तुतिं करोति—

समानपुरुषस्य तावदपवादयन् कीदृशः
किमेव तु महात्मनामपरतन्त्रधीचक्षुषाम् ।
अपास्य विनय-स्मृती भुवि यशः स्वयं कुर्वता
त्वयाऽतिगुणवत्सलेन गुरवः परं व्यंसिता ॥१॥

समानपुरुषस्येति । "तावत् समानपुरुषस्यापवादयन् कीदृश. ? अपरतन्त्रधीचक्षुषा महात्मना किमेव तु, अतिगुणवत्सलेन त्वया भुवि विनयस्मृती अपास्य स्वयं यश कुर्वता पर गुरव व्यंसिता." इत्यन्वय । **तावदिति** वाक्यालङ्कारे, **समानपुरुषस्य** साधारणरथ्यापुरुषादिजनस्य स्वसदृशगुणशालिपुरुषस्य वा, **अपवादयन्** विनयस्मृती अत्रापि सम्बध्यते, समानपुरुषस्य विनयस्मृत्यादि परिहरन्नित्यर्थः, **कीदृशः** न केनापि सत्पुरुषेण सहोपमामर्हतीति अगणनीयः, **अपरतन्त्रधीचक्षुषां** अन्यानधीनज्ञाननयनानाम, **महात्मनां** कपिलादिमुनीनाम् विनयस्मृत्याद्यपवादयन् जनोऽगणनीय इत्यत्र किमु वक्तव्यम्, भवत्वेवं ततो मयि क आक्षेप इति भगवता स्पृष्ट इवाह—**अतिगुणवत्सलेन** अत्यन्तगुणप्रियेण, **त्वया** महावीरेण, **भुवि** जगत्या, **विनय-स्मृती** स्वगुरून् प्रति विनय नम्रीभवन आप्तपरम्पराणा स्मरणं च, **अपास्य** न कमपि प्रति विनय नवा कस्यचित् स्मरणं भगवता कृत केवलं जैनागमनमस्करणमेव विहितम् इति युक्तं विनयस्मृती अपास्येति, **स्वयं** अन्यानपेक्षयैव, **यशः** त्रिभुवनव्यापिनीं कीर्तिं,

कुर्वता विदधता, **परं** केवलम्, **गुरवः** विनयस्मृतिकरणावश्यकत्वोपदेष्टारः, **व्यंसिताः** तदुपदिष्टाकरणेनापमानिता अवहेलिता इति प्रथमं निन्दा प्रतीयते, ततश्चानन्यपुरुषोत्तमस्य भगवतः परमगुरोर्गुरुरेव नास्ति नवा तत्समानस्तद्विशिष्टो वा पुरुषः समस्ति यं प्रति विनयो यस्य स्मरणं वाऽवश्यकर्त्तव्यं भगवतो भवेत् तदवासने वा गुरवो व्यंसिताः स्युर्नवा परमगुरोर्भगवतः केऽपि गुरवः ये व्यंसिताः स्युः कीर्तिश्च भगवतः स्वयमेव सर्वान् प्रति सर्वजन्त्ववगम्यमानोपदेशवचनेन सर्वजनहितावहेन सञ्जातेति अनन्यकर्तृकत्वात् तत्कर्तृत्वत्वेनोपचर्यत इत्येव स्तुतिर्गम्यते-इत्यर्थः ॥१॥

तव कीर्तिं ख्यापयितुमहमेव प्रगल्भ इत्याशयवान् स्तुतिकारः कीर्तिस्वरूपप्रविष्टान् विषयानुपदर्शयति–

श्रीराश्रितेषु विनयाभ्युदयः सुतेषु
बुद्धिर्नयेषु रिपुवासगृहेषु तेजः ।
वक्तुं यथाऽयमुदितप्रतिभो जनस्ते
कीर्तिं तथा वदतु तावदिहेति कश्चित् ॥२॥

श्रीराश्रितेष्विति । "आश्रितेषु श्रीः, सुतेषु विनयाभ्युदयः, नयेषु बुद्धिः, रिपुवासगृहेषु तेजः, वक्तु अयं जनो यथा उदितप्रतिभः तथा ते तावत् कीर्तिं कश्चिदिह वदतु इति" इत्यन्वयः । हे वीर ! **आश्रितेषु** भवदुपासकेषु, **श्रीः** पुत्र-कलत्र धन-धान्यसमृद्धिः भवतीत्याहृतक्रियान्वयः सर्वत्र, **सुतेषु** भवच्छिष्यप्रशिष्यपरम्परासु, **विनयाभ्युदयः** सर्वप्रकारेण विनयप्रादुर्भावः, **नयेषु** दानदण्डादिराजनीतिषु सङ्ग्रहादिनयेषु च, भवदुपदिष्टमार्गस्थितत्वेन भवदाज्ञानुल्लङ्घिनां जनानाम्, **बुद्धिः** विनिश्चय, **रिपुवासगृहेषु** भवदाज्ञाबाह्यजनावासस्थानेषु, **तेजः** प्रभाव, इति सर्वं भवत्कीर्तिसङ्गतविषयसमष्टिं, **वक्तुं** गदितुं, **अयं जनः** सिद्धसेनदिवाकराभिधानः स्तुतिकार, **यथा** येन प्रकारेण, **उदितप्रतिभः** उदयशालिनवनवोन्मेषशालिबुद्धिमान्, **तथा** तेन प्रकारेण, **ते** तव, **तावदिति** वाक्यालङ्कारे, **कीर्तिं** यशः, **कश्चित्** कोऽपि जनः, **इह** जगति, **वदतु** कथयतु, न मद्भिन्नः कश्चिदपि

जनो नेत्थं तव कीर्तिं वक्तुं समर्थ इति स्तुतिकारस्य भगवद्भक्त्युद्रेकोऽभिव्यज्यते, इति एव विज्ञायतामित्यर्थः ॥२॥

भगवत्कीर्त्तिं विशिष्योपवर्णयति—

एकां दिशं व्रजति यद् गतिमद् गतं च
तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु ।
यातं कथं दशदिगन्तविभक्तमूर्तिं
युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते ॥३॥

एकां दिशमिति। "यद्गतिमत् एकां दिशं व्रजति, तत्रस्थमेव गतं च दिगन्तरेषु विभाति, दशदिगन्तविभक्तमूर्ति यातं ते यशः कथं वक्तुं युज्येत, उत वा न गतम्" इत्यन्वयः । **यत्** यस्मात् **गतिमद्** गतिक्रियावद्वस्तु, **एकां दिशं व्रजति** प्राच्यादिदशदिक्षु मध्यादन्यतमां नियतां दिशं गच्छति, **तत्रस्थमेव गतं च** तद्दिगवच्छिन्नदेशस्थितमेव, गतिमत् पुनः, **दिगन्तरेषु** दिगन्तरावस्थितजनेषु, **विभाति** प्रकाशते, दिगन्तरावस्थिता अपि जना नियतदिगवस्थितत्वेनैव तद्गतिमद्वस्त्ववगच्छन्तीति यावत्, **दशदिगन्तविभक्तिमूर्त्ति** दशसु दिगन्तेषु विभक्ता मूर्त्तिर्यस्य तद्दशदिगन्तविभक्तमूर्ति **यातं** गतं, **ते** तव, **यशः**, **कथं** केन प्रकारेण, **वक्तुं** आख्यातुं, **युज्येत** घटेत, न कथञ्चित् तथा वक्तुं घटते, **उत वा** अथवा, **न गतं** तव यशो दशदिक्षु न गतमित्येवमपि वक्तुं न कथञ्चिदपि घटत इति दशदिग्व्यापिनीं तव कीर्त्तिं केनापि प्रकारेण वर्णयितुं न युज्यत इत्यर्थः ॥३॥

पूर्वावस्थायां प्रजां परिपालयतो भगवतो गुणग्रसद्वारा कीर्त्तिमुपवर्णयति—

सत्यं गुणेषु पुरुषस्य मनोरथोऽपि
श्लाघ्यः सतां ननु यथा व्यसनं तथैतत् ।
यत् पश्यतः समुदितैरखिलो व्युपास्ता
कीर्तिस्तथा श्रुतिमुखानि वनानि याता ॥४॥

सत्यमिति । "पुरुषस्य गुणेषु सतां मनोरथोऽपि श्लाघ्यः ननु यथा व्यसनं तथैतत सत्यम्, यत्पश्यतः समुदितैः 'अवलो' इत्यस्य 'अबला' इति 'अचला' इति वा पाठो युक्तः । अबला अचला वा कीर्त्ति समुदितैः तथा व्युपास्ता यथा श्रुतिमुखानि वनानि याता ' इत्यन्वयः । **पुरुषस्य** आत्मनः, **गुणेषु** ज्ञानादिषु, **सतां** सज्जनानां, **मनोरथोऽपि** अप्ययं गुणः स्यादिति कामनाऽपि **श्लाघ्यः** श्लाघनीयः, **ननु** निश्चित, **यथा व्यसनं** येन प्रकारेण द्यूतादिषु तदेकनिरतानां व्यसनं, **तथा** तद्वत्, **एतत्** सज्जनानां पुरुषस्य गुणेषु मनोरथैकघटनम् एतत्, **सत्यं** यथार्थम्, **यत्** यस्मात्, **पश्यतः** अवलोकयतो भवत , **अबला** पौरुषबलरहिता अचला सुस्थिरा वा, **कीर्त्तिः** भवतः कीर्त्तिः, **समुदितैः** एकत्र त्वयि मिलितैर्गुणैः पुरुषगुणस्पृहयालुभिः सज्जनैर्वा, **तथा** तेन प्रकारेण, **व्युपास्ता** प्रक्षिप्ता, **श्रुतिमुखानि** चतुर्मुखानि, **वनानि याता** चतुर्दिगन्तरेषु गता, अथवाऽऽगमप्रमुखानि साधारणजनागम्यत्वादरण्यकल्पानि शास्त्राणि गताः सर्वागमेषु भवदुपदिष्टपदार्थघटनारूपेण व्यवस्थिता भवत्कीर्त्तिरित्यर्थः ॥४॥

राजशेखरस्य व्याजस्तुतिमुपदर्शयति—

एतद् भो बृहदुच्यते हसतु मा कामं जनो दक्षिणः
स्वार्थारम्भपटुः परार्थविमुखो लज्जानपेक्षो भवान् ।
योऽन्यक्लेशसमर्जितान्यपि यशांस्युत्सार्य लक्ष्मीपथा
कीर्त्यैकार्णववर्षिणाऽपि यशसा नाद्यापि संतृप्यसे ॥५॥

एतद् भो इति । "भो एतद् बृहदुच्यते दक्षिणो जनः कामं मा हसतु भवान् स्वार्थारम्भपटुः परार्थविमुखः लज्जानपेक्षः यः अन्यक्लेशसमर्जितानि यशांसि लक्ष्मीपथा उत्सार्य कीर्त्यैकार्णववर्षिणाऽपि यशसा अद्यापि न संतृप्यसे" इत्यन्वयः । **भो** हे राजाधिराज भगवन्, **एतत्** अनन्तरमभिधीयमानम्, **बृहत्** अनाकाङ्क्षितत्वादधिकम्, **उच्यते** अभिधीयते, **दक्षिणो जनः** त्वदनुकूलो जनः, **कामं मा हसतु** स्वेच्छानुसारेण नैव तवोपहासं करोतु, नोपहासपात्रमहमत एव नोपहसति न तु दाक्षिण्येनेति भगवत्प्रतिविधानमुत्प्रेक्ष्य तस्योपहास-

पात्रतामाविष्करोति, **भवान् स्वार्थारम्भपटुः** स्वार्थस्य स्वाभीष्टस्य, आरम्भे उत्पादे पटुः समर्थः, **परार्थविमुखः** स्वभिन्नजनाभीष्टोत्पादानुगुणप्रयत्नविकलः, **लज्जानपेक्षः** एवं करणे हसिष्यन्ति मा सज्जना इति तथाविधसमुद्भूत-लज्जापेक्षारहितो निर्लज्ज इति यावत्, भगवत. स्वार्थारम्भपटुत्वादिकमेवावेद-यति यः, **यः** भवान्, **अन्यक्लेशसमर्जितान्यपि** अनल्पकष्टसाध्यप्रयत्न-समुद्भवान्यपि काम-क्रोधाभिनिवेशात्मकक्लेशजनितान्यपि वा, **यशांसि, लक्ष्मीपथा** धनप्राप्तिमार्गेण, **उत्सार्य** दूरीकृत्य, नेय सती कीर्त्तिः किन्तु धनोपार्जनोपायोऽय-मिति धनसमृद्धिकामैरेवेयमुपास्यान्यान्यैरित्येव परित्यज्येति यावत्, **कीर्त्त्यैकार्णव-वर्षिणापि** या कीर्तिसमुद्रमेव वर्षति तेनापि, **यशसा, अद्यापि** बहु-कालमारभ्य वर्त्तमानकालपर्यन्त, **न संतृप्यसे** न सतृप्तो भवसि, अतः कीर्त्ति-प्रपञ्चविस्तारियशोऽतृप्तत्वेन स्वार्थारम्भपटुत्व परेष्टसपादकलक्ष्मीप्राप्तिफलकयशो-ऽपसारकत्वेन परार्थविमुखत्वं, तत एव निर्लज्जत्वं च व्यञ्जित भवतीति ॥५॥

राजराजभगवत्कीर्त्तिः समुद्रपारं गता तस्याः समुद्रपारगमने हेतुमुत्प्रेक्ष्य दर्शयति—

चाटुप्रीतेन मुक्ता यदियमगणिता दीयते राजलक्ष्मी-
रन्योऽन्येभ्यो नृपेभ्यस्त्वदुरसि नृपते ! याऽपि विश्रम्भलीना ।
मा भूदेष प्रसङ्गो निरनुनयमतेरस्य मय्यप्यतस्ते
कीर्तिस्तेनाप्रमेया न विनयचकिता सागरानप्यतीता ॥६॥

चाटुप्रीतेनेति । "हे नृपते ! याऽपि त्वदुरसि विश्रम्भलीनाऽगणितेयं राजलक्ष्मी चाटुप्रीतेन मुक्ताऽन्योऽन्येभ्यो नृपेभ्यो यद्दीयते, निरनुनयमतेरस्य मय्यपि एष प्रसङ्गो मा भूत् अतस्तेऽप्रमेया कीर्त्तिः तेन विनयचकिता नु सागरान-प्यतीता" इत्यन्वयः । हे **नृपते** ! राजराजभगवन्, **याऽपि** त्वदुरसि त्वद्धृदये, **विश्रम्भलीना** विश्रम्भेन सर्वथा भयरहितत्वेन लीना अन्यदृष्ट्यगोचरतयाऽवस्थिता, **अगणिता** परार्द्धपर्यन्तगणनयाऽपि गणयितुमशक्या, इयं सर्वजनमान्या, **राज-लक्ष्मीः**, **चाटुप्रीतेन** मधुरोक्तिप्रसन्नेन भवता, **मुक्ता** स्वसत्त्वपरित्यागविषयी-कृता, **अन्योऽन्येभ्यो नृपेभ्यः** विभिन्नेभ्यो नृपतिभ्यः, **यत्** यस्मात्,

दीयते तत्सत्त्वोत्पादनाश्रय. क्रियते, **निरनुनयमतेः** अनुनयमतिरहितस्य **अस्य** ईदृशलक्ष्मीप्रदानकर्त्तुः राज्ञः, **मय्यपि** कीर्त्तिस्वरूपेऽपि स्वसम्बन्धिनि, **एष प्रसङ्गः** स्वसत्त्वनिवृत्तिपूर्वकपरसत्त्वोत्पादनात्मकदानलक्षणः प्रसङ्गः, **मा भूत्** मा भवतु, **अतः** अस्मात् कारणात्, **ते** तव, **अप्रमेया** मातुमशक्या, **कीर्त्तिः** तेन उक्तहेतुना, **विनयचकिता नु** त्वत्स्वभावभूतविनयचकिता किं, नुशब्दस्यान्योत्प्रेक्षार्थकत्वात्, 'न विनयचकिता' इत्यस्य स्थाने 'नु विनयचकिता' इति पाठो युक्त· । तथासत्येवोत्प्रेक्षाधिगतिः **सागरानपि** समुद्रानपि, **अतीता** उल्लङ्घ्य गता चतुर्णा समुद्राणा पारेऽपि भवत· कीर्त्तिरित्यर्थ· ॥६॥

लक्ष्मीप्राप्तिनिमित्ताना गुणाना स्तवनमावश्यकमित्याशयेन गुणान् स्तौति—

अवश्यं कर्तव्यः श्रियमभिलषता पक्षपातो गुणेषु
प्रसन्नायां तस्यां कथमिव च न ते लालनीया भवेयुः ।
किमेषां वृत्तान्तं न वहसि नृपते ! लालनीया त्वदाज्ञा
महेन्द्रादीनां यद्गुणपरितुलनाद्दुर्विनीता गुणास्ते ॥७॥

अवश्यं कर्त्तव्य इति । "श्रियमभिलषता गुणेषु पक्षपातोऽवश्य कर्त्तव्य तस्यां प्रसन्नायां कथमिव च ते लालनीया न भवेयु·, हे नृपते ! एषा वृत्तान्त किं न वहसि, यत् त्वदाज्ञा महेन्द्रादीना लालनीया, ते गुणा गुणपरितुलनादुर्विनीता" इत्यन्वय· । **श्रियं** लक्ष्मीं, **अभिलषता** कामयता जनेन, **गुणेषु** पुरुषगुणेषु, **पक्षपातः** यस्य कस्यचिदपि पुरुषस्य य कश्चिदपि गुण· श्लाघनीय· इत्येवं गुणग्रहणाग्रह·, **अवश्यं** नियमेन, **कर्त्तव्यः** कर्त्तु योग्य , **तस्यां** लक्ष्म्यां, **प्रसन्नायां** प्रसादाभिमुखाया सत्या, **च**कार· पादपूरणे, कथमिवेत्यत्रेवशब्दः कथमित्यस्यैवार्थपरिपोषक· केन कारणेनेति तदर्थं , **ते** गुणा , **लालनीयाः** सेवनीया· प्रशसनीया वा, **न भवेयुः** सर्वथा लालनीया एव गुणा , **हे नृपते** ! राजराज ! महावीर ! **एषां** गुणाना, **वृत्तान्तं** सज्जनकामनाविषयत्वश्लाघनीयत्वादिकं, **किं न वहसि** काक्वावहस्येव, **यत्** यस्मात् कारणात् , **त्वदाज्ञा** इदमेव करणीयमनेनैव नियमेन भवितव्य स्याद्वाद एव स्वीकरणीय इति भवदादेशस्वरूपा, **महेन्द्रा-**

दीनां स्वर्गादिवशदांशा, **लालनीया** परिपालनीया, ते तव, **गुणाः** सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रादयोऽनन्यसदृशाः, **गुणपरितुलनाद्दुर्विनीताः** अन्यगुणोपमासहिष्णव. इत्यर्थ ॥७॥

भगवद्गुणाना स्व सजातीयान्यगतगुणासदृशत्वमाभिधातुकामेन भगवत्कीर्त्तेरन्यकीर्त्त्यसदृशत्वमुपदर्शयति —

अन्येषां पार्थिवानां भ्रमति दश दिशः कीर्तिरिन्दुप्रभावात्
त्वत्कीर्त्तेर्नास्ति शक्तिः पदमपि चलितुं किं भयात् सौकुमार्यात् ।
आ ज्ञातं नैतदेवं श्रुतिपथचकिता तेन गच्छत्यजस्रं
कीर्तिस्तेषां नृपाणां तव तु नरपते ! नास्ति कीर्तेरयातम् ॥८॥

अन्येषामिति । 'इन्दुप्रभावात्' इत्यस्य स्थाने 'इन्दुप्रभावत्' इति पाठो युक्त । "इन्दुप्रभवत् अन्येषा पार्थिवाना कीर्ति दश दिश भ्रमति, किं भयात् सौकुमार्यात् त्वत्कीर्त्ते पदमपि चलितुं शक्तिर्नास्ति, आ ज्ञातं एतत् एवं न, श्रुतिपथचकिता तेषा नृपाणा कीर्तिः तेनाजस्र गच्छति तु हे नरपते ! तव कीर्त्तेरयात नास्ति" इत्यन्वय । **इन्दुप्रभावत्** चन्द्रमसः प्रभा यथा दश दिशो भ्रमति तथा, **अन्येषां** पार्थिवाना त्वद्भिन्नाना राज्ञाम्, **कीर्ति**र्यश , **दशदिशो भ्रमति** सर्वदिग्भ्रमण करोति **किं भयात्** भीतित अथवा **सौकुमार्यात्** अतिशयितसुकुमारभावात्, **त्वत्कीर्त्तेः** तव कीर्त्ते, **पदमपि** पदपरिमितदेशमपि चलितु गन्तु, **नास्ति शक्तिः** न विद्यते सामर्थ्यम्, **आ** इति स्मृतौ, **ज्ञातं** एतत्कारणमवगतं मया, **एतत्** त्वत्कीर्त्तेर्दशदिक्षु भ्रमणं, **एवं न**, भयसौकुमार्यप्रयुक्तसामर्थ्याभावनिबन्धनं, किन्तु **श्रुतिपथचकिता** चतुरश्रवणातिप्रतिबन्धकारणावलोकनव्यग्रचित्ता, **तेषां** नृपाणाम अन्येषा राज्ञाम्, **कीर्तिर्यशः**, **तेन** श्रुतिपथचकितत्वहेतुना, **अजस्रम्** अनवरत. **गच्छति** भ्रमति, **तु** पुनः, **हे नरपते** हे राजराज ! **तव कीर्त्तेः** तव यशस., **अयातं** अगत, **नास्ति** सर्वदिग्गतायास्तस्या गन्तव्यदेशाभावान्न भ्रमणमित्यर्थः ॥८॥

उरसि स्थिता लक्ष्मीमस्य स्तौति—

अन्येऽप्यस्मिन् नरपतिकुले पार्थिवा भूतपूर्वा-
स्तैरप्येवं प्रणतसुमुखैरुद्धृता राजवंशाः ।
न त्वेवं तैर्गुरुपरिभवः स्पृष्टपूर्वो यथायं
श्रीस्ते राजन्नुरसि रमते सत्यभामासपत्नी ॥९॥

अन्येऽप्यस्मिन्निति। "अस्मिन् नरपतिकुलेऽन्येऽपि पार्थिवा भूतपूर्वाः, एवं प्रणतसुमुखैस्तैरपि राजवशा उद्धृताः, तु तैरेव गुरुपरिभवो न स्पृष्टपूर्वः, यथाऽयं, हे राजन् ! सत्यभामासपत्नी श्री ते उरसि रमते" इत्यन्वय । **अस्मिन्** वर्त्तमानतया सर्वजनप्रत्यक्षप्रसिद्धे, **नरपतिकुले** नृपकुले, **अन्येऽपि** भवतो भिन्नाऽपि, **पार्थिवा** नृपतय, **भूतपूर्वाः** पूर्वं भूता भूतपूर्वा पूर्वं समुत्पन्नाः, **एवं** यथा भवान् प्रणतसुमुखस्तथा, **प्रणतसुमुखैः तैरपि** प्रणतान् प्रति प्रसन्नवदनै प्रणतोपकारकारिभि, **राजवंशाः** नृपवशाः, **उद्धृता** दु खसागरादुत्तारिता, **तु** पुन, **तैः** नरपतिकुलोत्पन्नपार्थिवैः, **एवं** अनन्तराभिधीयमानस्वरूपगुरुपरिभवसदृश, **गुरुपरिभवः** महान् परिभव, **न** नैषः, **स्पृष्टपूर्वः** पूर्वं स्पृष्ट स्पृष्टपूर्वः पूर्वं त्वया प्रत्यक्षविषयीकृत, **यथा** येन प्रकारेण, **अयं** अनन्तरमेवाभिधीयमानो हृदयोपरि बलादाक्रमण-लक्षण, **हे राजन्** हे राजराज ! **सत्यभामासपत्नी** विष्णोरत्यन्तवल्लभायाः सत्यभामेति सज्ञितायाः स्त्रिय सपत्नी समानपतिका विष्णोर्द्वितीया स्त्री, **श्रीः** लक्ष्मी, **ते** तव **उरसि** हृदये, **रमते** आनन्दक्रीडा करोति, अन्यपुरुषाङ्गनायाः हृदयोपरि क्रीडन महान् परिभव एवेति, वस्तुत सत्यस्य पारमार्थिकस्यानन्त-धर्मात्मकवस्तुनो या भा प्रकाश केवलज्ञानादिलक्षणस्तस्या या भा आनन्दा-दिस्वरूपा लक्ष्मी तत्सपत्नी तत्समानपतिका लक्ष्मीः कान्ति तस्याः क्रीडनं भगवतो हृदयेन परिभव इति हृदयम् ॥९॥

भगवन्त सर्वेऽपि प्रकृष्टा गुणा एकीभूयोपाश्रयन्तीति स्तौति—

अगतिविधुरैर्लक्ष्मीं दृष्ट्वा चिरस्य सहोपितां
यदि किल परैरेकीभूतैर्गुणैस्त्वमुपाश्रितः ।
इति गुणजितं लोकं मत्वा नरेन्द्र ! सुरायसे
वदतु गुणवान् बुद्ध्यादीनां गुणः कतमस्तव ॥१०॥

अगतिविधुरैरिति । 'चिरस्य' इत्यस्य स्थाने 'चिरं नु' इति पाठो युक्त· । "यदि अगतिविधुरै·, परैरेकीभूतैर्गुणै· चिरं नु सहोषिता लक्ष्मीं दृष्ट्वा त्वमुपाश्रित·, किल, हे नरेन्द्र ! गुणजित लोकं मत्वा सुरायसे तव बुद्ध्यादीना कतमो गुण इति गुणवान् वदतु" इत्यन्वय· । **यदीति** सम्भावनाया, **अगतिविधुरैः** गत्यभावप्रयुक्तकार्पण्यशालिभिः, **परैर्लक्ष्मी** व्यतिरिक्तै·, **एकीभूतैः** समुदितैः, **गुणैः**, **चिरं** चिरकालं, **नु** इति वितर्के, **सहोषितां** तेन सार्धमेकत्र भगवति स्थितां, **लक्ष्मीं** श्रियं दृष्ट्वा वय न गलितमन्त इति अत्रैव स्थिता इय तु चञ्चला प्रतिक्षणं गतिमति एकं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरगमनशीला एवमपि न स्थानान्तरं गच्छतीति परिभावनपुरस्सरमवलोक्य, **त्वं** भवान्, **उपाश्रितः** आधारभूतः कृत·, **किलेति** सम्भाव्यते, हे **नरेन्द्र !** हे राजराजेश्वर ! **गुणजितं** स्वगुणवशीभूतं स्वाज्ञाकारिणं, यो यस्याज्ञाकारी स तद्गुणजिनमुच्यते, **लोकं** त्रिभुवनजनं, **मत्वा** ज्ञात्वा, **सुरायसे** स्वात्मान देवदेव मन्यसे, **तव** भवत, **बुद्ध्यादीनां** ज्ञानादीना गुणाना मध्ये, **कतमो गुणः** किं प्रकारक किं नामधेय किम्फलक· किं स्वरूपो गुण, इति एतत्प्रश्नप्रतिविधान यथा त्वदीयविशिष्टगुणज्ञानमस्मदादीनां स्यात् तथा, **गुणवान्** विशिष्टगुणवान्, नागुणवान् परकीयगुणं यथार्थतयाऽनवगच्छन् वक्तुं समर्थ, **वदतु** कथयतु, त्वद्गुणसदृशगुणवान् त्वद्गुणं वक्तुं सदृशो नान्य·, स च सर्वज्ञ एवेति सर्वज्ञश्च भवानेव स्वगुणकथने समर्थ इत्याशयः ॥१०॥

भवदाज्ञाकारिण सर्वेऽपि नरेन्द्रा इति भवानेव राजराजेश्वर इति भगवदाज्ञागुण स्तौति—

गन्धद्विपो मधुकरानिव पङ्कजेभ्यो
दानेन यो रिपुगणान् हरसि प्रवीरान् ।

चित्रं किमत्र यदि तस्य तवैव राज-
न्नाज्ञां वहन्ति वसुधाधिपमौलिमालाः ॥११॥

गन्धद्विप इति। "गन्धद्विपो दानेन पङ्कजेभ्यो मधुकरानिव यदि प्रवीरान् रिपुगणान् यो हरसि अत्र तस्य किं चित्रम्, हे राजन्! वसुधाधिपमौलिमालास्तवैवाज्ञां वहन्ति" इत्यन्वयः। **गन्धद्विपः** गलद्गण्डदानजलो मदोन्मत्तो गजः दानेन गन्धवत्क्षरद्गण्डजलेन, **पङ्कजेभ्यः**, पद्मेभ्यः, **मधुकरानिव** भृङ्गान् मधुलोलुपान् यथा हरति तथा, **यदि प्रवीरान्** युद्धकर्मनिष्णातान् शूरान्, **रिपुगणान्** शत्रुगणान् त्वम् **हरसि** स्वाधीनान् करोषि, **अत्र** अस्मिन् स्ववशस्थापनकर्मणि, **किं चित्रं** न किमप्याश्चर्यम्, यतः **हे राजन्** हे राजशेखर! **वसुधाधिपमौलिमालाः** पृथवीपतिमुकुटमाला, **तवैव** भवत एव, **आज्ञां** हिताहितोपदेशलक्षणाम्, **वहन्ति** स्वीकुर्वन्ति, भवदादेशपरायणा सर्वेपि राजान इत्यर्थः ॥२२॥

पूर्वावस्थामवलम्ब्यानन्यवसुधाधिपत्व भगवतो वर्णयति—

एकेयं वसुधा बहूनि दिवसान्यासीद् बहूनां प्रिया
वस्याऽन्योऽन्यसुखाः कथं नरपते! ते भद्रशीला नृपाः।
ईर्ष्यामत्सरितेन साऽद्य भवतैवात्माङ्कमारोपिता
शेषैस्त्वत्परितोषभावितगुणैर्गोपालवत् पाल्यते ॥१२॥

एकेयमिति। 'वस्या' इत्यस्य स्थाने 'वेश्या' इति पाठो युक्तः। "एकेयं वसुधा बहूनि दिवसानि बहूना प्रियाऽऽसीत्, हे नरपते! ते वेश्याऽन्योऽन्यसुखा नृपाः कथ भद्रशीला अद्य सा ईर्ष्यामित्सरितेन भवतैवात्माङ्कमारोपिता, त्वत्—परितोषभावितगुणैः शेषैः गोपालवत् पाल्यते" इति सम्बन्ध.। **एकाऽद्वितीया, इयं** परिदृश्यमाना, **वसुधा** पृथिवी, **बहूनि दिवसानि** बहुदिवसपर्यन्तं, **बहूनां** नृपाणां, **प्रिया** पत्नी, **आसीत्** अभूत्, **हे नरपते**! राजराज! **ते** निरुक्तपृथिवीस्वामिनः, **वेश्याऽन्योन्यसुखाः** अनेकजनोपभोग्यपण्यानामुपभोगप्रभवपरस्परसुखभाजः, **नृपाः** राजानः, **कथं भद्रशीलाः** कथ भद्रस्वभावाः कथञ्चित्,

अद्य इदानीं, **सा** अनेकनृपसाधारणप्रिया पृथिवी, **ईर्ष्यामत्सरितेन** तथाभूतानल्पनृपैकाङ्गतोपभोगदोषासहिष्णुताप्रभवमात्सर्यवता, **भवतैव** त्वयैव, **आत्माङ्कं** स्वाङ्कम्, **आरोपिता** स्थापिता, **त्वत्परितोषभावितगुणैः** भवत्सन्तोषपरिशीलितगुणैः, **शेषैः** अवशिष्टैर्नृपैः, **गोपालवत्** गोपालैर्गौरीक्षणनियुक्तजनैर्यथा-गौः पाल्यते रक्ष्यते इत्यर्थः ॥१२॥

रिपून् प्रति पराक्रमगुणमस्य वर्णयति—

गुहाध्यक्षाः सिंहाः प्रमदवनचरा द्वीपि-शार्दूलपोताः
कराग्रैः सिच्यन्ते वनगजकलभैर्दीर्घिकातीरवृक्षाः।
पुरद्वाररक्षा दिशि दिशि महिषा यूथगुल्माग्रशूराः
रुषानुध्यातानामतिललितमिदं जायते विद्विषां ते ॥१३॥

गुहाध्यक्षा इति । "ते रुषानुध्यातानां विद्विषामतिललितमिदं जायते सिंहा गुहाध्यक्षाः द्वीपिशार्दूलपोताः प्रमदवनचराः दीर्घिकातीरवृक्षाः वनगजकलभैः कराग्रैः सिच्यन्ते, यूथगुल्माग्रशूराः महिषा दिशि दिशि पुरद्वाररक्षाः" इत्यन्वयः । हे राजन्, **ते** तव, **रुषानुध्यातानां** क्रोधेन स्मृतिपथमुपागतानां क्रोधविषयीकृतानामिति यावत्, **विद्विषां** शत्रूणाम्, **अतिललितं** अत्यन्तसुन्दरम्, **इदम्** अनन्तरमेवाधीयमानं, **जायते** भवति, भवान् यान् प्रति क्रुद्धो भवति ते शत्रवस्तदैव विनष्टा भवन्ति तत्पुरं वनमिवोपजायते वनविहारिणः सिंहादयस्तत्रैव स्वं स्वं स्थानं परिकल्प्य तिष्ठन्तीत्येवातिललितं दर्शयति, **सिंहाः** केसरिणः, **गुहाध्यक्षाः** या या गुहा धनरक्षणकृते विहितास्तेषामध्यक्षा अधिपतयो भवन्ति, **द्वीपिशार्दूलपोताः** व्याघ्रसिंहसुताः, **प्रमदवनचराः** प्रमदानां स्त्रीणां क्रीडार्थं कल्पितं वनं प्रमदवनं नगरसन्निहितमुपवनं तत्र चरन्ति विहरन्तीति प्रमदवनचरा भवन्ति, **दीर्घिकातीरवृक्षाः** राजमहिष्यादीनां प्रासादातिसन्निहित एव देशे खानिता लम्बी पुष्करिणी दीर्घिकास्तस्यास्तीरे तटे रोपिता वृक्षास्तरवो दीर्घिकातीरवृक्षाः, **वनगजकलभैः** आरण्यकहस्तिपोतैः, **कराग्रैः** शुण्डाग्रैः, **सिच्यन्ते** सिञ्चिता भवन्ति, **यूथगुल्माग्रशूराः** बहूनां महिषाणां समुदायो यूथः तद्गुल्मस्य तत्पुञ्जस्य पुरोगामित्वादग्रशूराः, **महिषाः**, **दिशि दिशि** चतुर्दिक्षु, **पुर**

द्वाररक्षाः पुरे लोकानां प्रवेशनिर्गमनार्थं कल्पितं द्वारं पुरद्वारं तद् आसमन्ताद् रक्षन्तीति पुरद्वाररक्षाः पुरद्वारपाला भवन्ति इत्येवमतिसुन्दरं जायते इत्यर्थः ॥२३॥

अन्ये राजानः सर्वथा शत्रुदेशोन्मूलनाय प्रवृत्ता अपि न तथा कर्तुं समर्थाः किन्तु संक्षिप्तलक्ष्मीवितानानेव तान् करोति, भवान् पुनः शत्रुवंशान् सर्वथोन्मूलितपूर्वावस्थातः शतगुणा लक्ष्मीं करोति भवानेव सर्वोत्कृष्ट इति स्तौति—

निर्मूलोच्छिन्नमूला भुजपरिघपरिस्पन्ददृप्तैर्नरेन्द्रैः
संक्षिप्तश्रीवितानाः मृगपतिपतिभिः शत्रुदेशाः क्रियन्ते ।
किन्त्वेतद् राजवृत्तं स्वरुचिपरिचयः शक्तिसंपन्नतेयं
भङ्क्त्वा यच्छत्रुवंशानुचितशतगुणान् राष्ट्रलक्ष्म्याः करोषि ॥१४॥

निर्मूलोच्छिन्नमूला इति । 'मृगपतिपतिभिः भुजपरिघपरिस्पन्ददृप्तैः नरेन्द्रैः निर्मूलोच्छिन्नमूलाः शत्रुदेशाः संक्षिप्तश्रीवितानाः क्रियन्ते, किन्तु एतद् राजवृत्तं स्वरुचिपरिचयः इयं शक्तिसम्पन्नता, यच्छत्रुवंशान् भङ्क्त्वा राष्ट्रलक्ष्म्याः उचितशतगुणान् करोषि'' इत्यन्वयः । **मृगपतिपतिभिः** पराक्रमेण मृगपतिं सिंहमपि स्वाधीनं कुर्वन्तीति मृगपतिपतयस्तैः, **भुजपरिघपरिस्पन्ददृप्तैः** भुजावेव परिघौ भुजपरिघौ तयोर्यद्बलोद्रेकाच्छत्रुभिः सम योद्धुं परिस्पन्दः स्फुरणं तेन दृप्तैः बलोन्मत्तैः, **नरेन्द्रैः** नृपतिभिः, **निर्मूलोच्छिन्नमूलाः** निर्मूलं यथा स्यात् तथा उच्छिन्नं मूलं येषां ते निर्मूलोच्छिन्नमूलाः, **शत्रुदेशाः** रिपूणां देशा विषयाः, **संक्षिप्तश्रीवितानाः** संक्षिप्तं लक्ष्मीवितानं येषां ते संक्षिप्तलक्ष्मीवितानाः, **क्रियन्ते** नहि सर्वथाशत्रुदेशोन्मूलनं भवति किन्तु यो यो देशभागो विजितो भवति तत्तद्भागपरिहारेण स्वत्वं तत्तद्देशेषु शत्रूणां समस्त्येवेति न्यूनधनसमृद्धिमत्त्वमेव ततः उपजायते, किन्तु **एतत्** अनन्तराभिधीयमानं हे राजन् !, **राजवृत्तं** राज्ञस्तव वृत्तं वृत्तान्तं, **स्वरुचिपरिचयः** स्वरुचेः स्वेच्छायाः परिचयः प्रकाशनम्, **इयं** तव, **शक्तिसम्पन्नता** सामर्थ्यपरिपूर्णता, **यत्** यस्मात्, **शत्रुवंशान् भङ्क्त्वा** उन्मूल्य, **राष्ट्रलक्ष्म्याः** राज्यश्रियः **उचितशतगुणान्** पूर्वापेक्षया समुचितशतगुणान्, **करोषि** तव प्रभावाच्छत्रव शत्रुभावं परित्यज्य त्वदाज्ञाकारिण एव संवृत्ताः एतावन्मात्रेणैव शत्रुवंशभञ्जनं तत

एव त्वदाज्ञानुसारेण प्रजापालन विदधता तेषा शतगुणा राष्ट्रलक्ष्मीरुपजायत इति हृदयम् ॥१४॥

मान. सर्वैरेव नृपतिभि परित्यज्यते भवताऽपि स निर्मूलमुत्खन्यते इति मानापनोदनेन सर्वगुणरक्षण भवति यतो मान विना सर्वेऽपि गुणा निर्गुणा एव न च निर्गुणेषु स्वयमेवोपेक्षणीयेषु कस्यापि द्वेष· ईर्ष्या मात्सर्यं वा समुल्लसति ततो न तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यभिप्रायवान् मानत्यजनं तत्खण्डन च स्तौति—

सर्वेऽप्येकमुखा गुणा गुणपतिं मानं विना निर्गुणा
इत्येवं गुणवत्सलैर्नृपतिभिर्मानः परित्यज्यते ।
नान्यश्चैष तवापि किं च भवता लब्धास्पदस्तेष्वसौ
मत्तेनेव गजेन कोमलतरुर्निर्मूलमुन्मूल्यते ॥१५॥

सर्वेऽपीति । "गुणपति मानं विना एकमुखा सर्वेऽपि गुणा निर्गुणा इत्येव गुणवत्सलैर्नृपतिभिस्तवापि मान परित्यज्यते, अन्यश्च नैव, किञ्च, तेषु लब्धास्पदोऽसौ मत्तेन गजेन कोमलतरुरिव भवता निर्मूलमुन्मूल्यते" इत्यन्वय· । **गुणपतिं** अन्यगुणपरिभवनं सह्यं भवति न तु मानपरिभवनं गुणा अपि मानमिता एव गुणतामनुभवन्तीति गुणेषु प्राधान्याद् गुणानामधिपतिं, **मानं विना** मानमन्तरेण, **एकमुखा** मानैकमुखा मानप्रधाना:, **सर्वेऽपि गुणाः, निर्गुणा** गुणरहिता., **इत्येवं** एतस्मात् कारणात् , **गुणवत्सलैः** गुणा न विनश्यन्तु अप्येव सर्वदा तिष्ठन्त्वित्येव गुणस्नेहशालिभि , **नृपतिभिः** नरपतिभि , **तवापि** त्वत्सम्बन्ध्यपि, **मानः, परित्यज्यते** दूरीक्रियते, सर्वोत्कृष्टपुरुषोत्तमसम्बन्धिमानपरित्यागेऽन्यसम्बन्धिमानपरित्यागे किमु वक्तव्यम् , मानपरित्यजन गुणाना निर्गुणसम्पादनद्वारा परम्परया गुणरक्षणस्वरूपमेवेति गुणवत्सलत्वम्, **अन्यः** अन्यो गुणो नैव परित्यज्यते न हीयते, **किञ्च** एकेऽपि च, **तेषु** गुणवत्सलेषु नृपतिषु, **लब्धास्पदः** लब्धस्थानः, **असौ** मान , **मत्तेन** गण्डस्थलपरिस्खलद्दानजलेन, **गजेन** हस्तिना, **कोमलतरुरिव** सुकुमारवृक्षो यथा निर्मूलमुन्मूल्यते तथा, **भवता** राजशेखरेण, **निर्मूलं** यथा स्यात् तथा, **उन्मूल्यते** स्वाधारमूलस्थानादपाक्रियते इत्यर्थ. ॥१५॥

यः कश्चिद् भवद्भिः क्रोधोत्पादकत्वेन यद् यशः प्राप्नोति न तद् यशस्तव भक्तो नृपः प्राप्नोतीति महता समं विरोधो गुण एवेत्युपदर्शयति—

यत् प्राप्नोति यशस्तव क्षितिपते ! भ्रूभेदमुत्पादयन्
किं तत् त्वच्चरणोपसन्नमुकुटः प्राप्नोति कश्चिन्नृपः ।
इत्येवं कुरुते स वल्लभयशास्त्वच्छासनातिक्रमं
दर्पासूचितसम्मुखो न हि मृगः सिंहस्य न ख्याप्यते ॥१६॥

यत् प्राप्नोतीति । "हे क्षितिपते ! तव भ्रूभेदमुत्पादयन् यद् यशः प्राप्नोति त्वच्चरणोपसन्नमुकुटः कश्चिन्नृपः किं तत् प्राप्नोति, इति वल्लभयशाः स एवं त्वच्छासनातिक्रमं कुरुते, हि सिंहस्य दर्पासूचितसम्मुखो मृगो न ख्याप्यते न" इत्यन्वयः । हे **क्षितिपते** ! हे राजशेखर ! **तव** भवतः, **भ्रूभेदं** क्रोधसूचकं भ्रूकौटिल्यम्, **उत्पादयन्** जनयन्, जनः **यद् यशः** या कीर्तिम्, **प्राप्नोति** आसादयति, **त्वच्चरणोपसन्नमुकुटः** भवत्पादपरिलुण्ठितशिरोमुकुटः, **कश्चिन्नृपः** कोऽपि राजा, **किं तत्** यशः, **प्राप्नोति** न प्राप्नोतीति, **इति** एतस्मात् कारणात्, **वल्लभयशाः** प्रियतमकीर्तिः यशोऽभिलाषीति यावत्, **स** त्वद्भ्रूभङ्गोत्पादकः पुरुषः, **एवं** यथा त्वद्भ्रूभङ्गो भवेत् तथा, **त्वच्छासनातिक्रमं** त्वदाज्ञोल्लङ्घनं, **कुरुते** करोति, **हि** यतः, **सिंहस्य** मृगपतेः, **दर्पासूचितसम्मुखः** दर्पेण बलाभिमानेन आसमन्तात् सूचितं सम्मुखं भावप्रधाननिर्देशाद् सम्मुखत्वं येन स, **मृगः** हरिणः, **न ख्याप्यते** न लोकप्रसिद्धो भवतीति, **न**, निषेधद्वयात् ख्याप्यत एवेत्यर्थः ॥१६॥

शरत्समये शत्रूणां स्ववशे स्थापनार्थं नृपतिः स्वसैन्यपरिवृतः आश्विनशुक्ल-दशम्यां यात्रां करोतीति लोकव्यवहृतिमनुसरन् भगवानपि नृपावस्थायां तथैव करोति स्मेत्यावेदनायाह—

प्रसादयति निम्नगाः कलुषिताम्भसः प्रावृषा
पुनर्नवसुखं करोति कुमुदैः सरःसङ्गमम् ।

विघाटयति दिङ्मुखान्यवपुनाति चन्द्रप्रभां
तथापि च दुरात्मनां शरदरोचकस्तद्द्विपाम् ॥१७॥

प्रसादयतीति । "यद्यपि शरत् प्रावृषा कलुषिताम्भसो निम्नगाः प्रसादयति पुनः नवसुखं कुमुदैः सरःसङ्गमं करोति, दिङ्मुखानि विघाटयति चन्द्रप्रभामवपुनाति, तथापि च 'तद्द्विपाम्' इत्यस्य स्थाने त्वद्द्विषाम्' इति पाठो युक्तः । त्वद्द्विषां दुरात्मनामरोचकः" इत्यन्वयः । **शरत्** आश्विन-कार्त्तिकमासद्वयात्मकः शरदृतुकालः प्रावृषा श्रावण-भाद्रवमासद्वयात्मकप्रावृड्ऋतुना, **कलुषिताम्भस** कलुषितानि पङ्काद्याविलानि अम्भांसि जलानि यासां ताः कलुषिताम्भसः पङ्कादिमलीनसजला-स्वच्छप्रवाहाः, **निम्नगाः** गङ्गादिनदीः, **प्रसादयति** निर्मलजलमयत्वलक्षण-प्रसन्नतां नयति, शरत्समये कुमुदाख्यपुष्पाणि विकसन्तीति हेतोः, **पुनः नवसुखं** नवीनं सुखं यस्मिन्नेवंभूतं, **कुमुदैः** कुमुदाख्यपुष्पैः, **सरःसङ्गमं** सरसि समागमं, **करोति** विदधाति, **दिङ्मुखानि** दश दिशः, **विघाटयति** विशेषेण प्रकाशयति, **चन्द्रप्रभां** चन्द्रमसो दीप्तिम्, **अवपुनाति** अतिपुष्टिं नयति, **तथापि च** एव बहुविधा विशिष्टगुणवत्त्वे सत्यपि पुनः, **त्वद्द्विषां** भवदाज्ञा-परिपालनविमुखाना, **दुरात्मनां** दुष्टान्तःकरणानां, **अरोचकः** अनभिप्रेतः, यदि शरदागमिष्यति, तदाऽऽक्रमिष्यत्यस्मान् नूनं राजराजो भगवानिति मा भवतु शरदित्येवमरुचिविषय इत्यर्थः ॥२७॥

भगवन्तं नृपं प्रकारान्तरेण स्तौति—

न वेद्मि कथमप्ययं सुररहस्यभेदः कृत-
स्त्वया युधि हतः परं पदमुपैति विष्णोर्यथा ।
अतः प्रणयसंस्तृतामविगणय्य लक्ष्मीमसौ
करोति तव सायकः क्षममुरः सिषुत्सुर्नृप ! ॥१८॥

न वेद्मीति । "अयमपि सुररहस्यभेदः कथं कृत इति न वेद्मि, हे नृप ! यथा त्वया युधि हतः विष्णोः परं पदमुपैति, अतोऽसौ तव सायकः सिषित्सुः प्रणयसंस्तृतां लक्ष्मीमविगणय्य उरः क्षमं करोति" इत्यन्वयः । **अयमपि** स्पष्टं प्रतीयमानोऽपि, **सुररहस्यभेदः** सङ्ग्रामे सम्मुखो हतो जनः स्वर्गमुपैतीति

यद्देवतानां रहस्यं तस्य भेदोऽन्यप्रकारः कथं कस्मात्, **कृतः** निर्मितो भवतेति, **न वेद्मि** न जानामि, किमन्यप्रकार इत्यपेक्षायामाह-हे **नृप**! हे राजन्! **यथा** येन प्रकारेण, **त्वया** वर्द्धमानेन प्रजापालनतत्परेण, **युधि** सङ्ग्रामे, **हतः** मारितः शत्रुः, **विष्णोः** व्यापकज्ञानात्मनः, **परं पदं** उत्कृष्टस्थानम्, **उपैति** प्राप्नोति, **अतः** अस्मात् कारणात्, **असौ** देदीप्यमानतया परिदृश्यमानः, **तव सायकः** बाणः, **सिपित्सुः** सन्, **प्रणयसंसृतां** प्रणयेन स्नेहेन संसृतां समीपमुपगतां, **लक्ष्मीमविगणय्य** श्रियम् अगणयित्वा तिरस्कृत्येति यावत्, **उरः** शत्रोः हृदयं, **क्षमं** तं स्वप्रहारसमर्थं, **करोति** विदधाति अथवा 'तव सायकः क्षमम्' इत्यस्य स्थाने 'तव सायकक्षमम्' इति पाठः समीचीनः, तत्र असौ खड्गे प्रणयसंसृतां लक्ष्मीमविगणय्य सङ्ग्रामे शत्रोश्शिरच्छेदनादि कर्तुं सुतीक्ष्णधारं खड्गं धारयति क्षत्रियोऽतस्तत्करकमलगते खड्गे सदैव प्रणयसंसृता देदीप्यमानकान्तिलक्षणा लक्ष्मी तामविगणय्य सङ्ग्रामे तदुपयोगमकृत्वा, सिपित्सुः परः, उरः स्वहृदयं तव सायकक्षमं तव बाणप्रहारयोग्यं, करोति यथा तव बाणोत्खातहृदयो मृतः सन् विष्णोः परं पदमासादयतीत्यर्थः ॥१८॥

तव सम्पर्काल्लक्ष्मीरन्यादृशी सञ्जातेत्युपदर्शयति—

अन्योऽन्यावेक्षया स्त्री भवति गुणवती प्रायशो विष्णुता वा
लोकप्रत्यक्षमेतत् क्षितिविषमतया चञ्चला श्रीर्यथाऽऽसीत्।
सैवान्यप्रीतिदानात् तव भुजवलयान्तःपुरप्राप्तमाना-
मुर्वीं दृष्ट्वा दयावत्स! लघुसुचरिताहारसख्यं करोति ॥१९॥

अन्योऽन्यावेक्षयेति। "स्त्री अन्योऽन्यावेक्षया गुणवती भवति वा प्रायशो विष्णुता भवति एतल्लोकप्रत्यक्षं, यथा श्रीः क्षितिविषमतया चञ्चला आसीत्, हे दयावत्स! सैव अन्यप्रीतिदानात् तव भुजवलयान्तःपुरप्राप्तमानामुर्वीं दृष्ट्वा लघुसुचरिताहारसख्यं करोति" इत्यन्वयः। **स्त्री** कामिनी, **अन्योऽन्यावेक्षया** परस्परनिरीक्षणेन, **गुणवती** गुणशालिनी, **भवति**, इयमेतादृशी सती एवं गुणभागिनी सञ्जाता अतोऽहमपीत्थमाचरणात् तथा भविष्यामीत्युत्पत्तबुद्धिः गुणवती भवत्येवेत्यभिसन्धिः, **वा** अथवा, **प्रायशः** बाहुल्येन, **विष्णुता** व्यापनशीलता भवति,

त्व-तलयो स्वार्थिकत्वाद् विष्णुस्वरूपा वा भवति, **एतत्** अनन्तरनिर्दिष्ट, **लोक-प्रत्यक्षं** लोकानुभवसिद्ध, तत. किमित्याकाङ्क्षायामाह—**यथा** येन प्रकारेण, **श्रीः** लक्ष्मीः, **क्षितिविषमतया** कस्यचिद् भूमिः कियत्कालस्थायिनी भवति कस्यचिदल्पकालस्थायिनी, कस्यचित् ततोऽप्यल्पतरकालस्थायिनीत्येवं या क्षितिविषमता तया, **चञ्चला** अस्थिरा नैकस्थानसुस्थिरा, **आसीत्** अभवत्, हे **दयावत्स**! दयैव वत्सा पुत्री यस्य स दयावत्स. तत्सबोधने दयावत्स दयाजनक ! **सैव** लक्ष्मीः एव, **अन्यप्रीतिदानात्** अन्येभ्य प्रीत्या दानात्, **तव** भवत', **भुजवलयान्तः-पुरप्राप्तमाना** भुजवलयमेवान्त.पुर तत्र प्राप्तं मानं यया सा भुजवलयप्राप्तमाना ता, **उर्वीं** पृथिवीं, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, **लघुसुचरिताहारसख्यं** लघु' अगुरुपाक. सुचरितलक्षणो य आहारस्तेन यत्पृथिव्या सह सख्यं मित्रत्वं तत्, **करोति**, पृथिव्यास्तावानेवोपभोगो भवति धर्माराधनसवलितो यावता पृथिवी न क्षीयते श्रीरपि तन्मैत्रीतस्तत्रैव निवसतीति चाञ्चल्यस्वभावं जहातीत्यर्थ. ॥१९॥

हे भगवन् अपूर्वेय तव लक्ष्मी' यदुत वृद्धाऽपि युवत्येवेति स्तौति—

प्रसूतानां वृद्धिः परिणमति निःसंशयफला
पुरावादश्चैष स्थितिरियमजेयेति नियमः ।
जगद्वृत्तान्तेऽस्मिन् विवदति तवेयं नरपते !
कथं वृद्धा च श्रीर्न च परुषितो यौवनगुणः ॥२०॥

प्रसूतानामिति । "प्रसूताना वृद्धि निस्सशयफला परिणमति एष पुरावादश्च इयं स्थितिरजेयेति नियमः, अस्मिन् जगद्वृत्तान्ते हे नरपते ! तवेयं श्रीर्विवदति कथं वृद्धा च यौवनगुणो न च परुषित" इत्यन्वयः । **प्रसूतानामु**त्पन्नानां, **वृद्धिः** वृद्धता, **निःसंशयफला** सशयरहितफला यावत् समया भवित्री, अशेषा तावत् समया, **परिणमति** परिणतिमेति, न तु सा युवती भवति, **एष पुरावादश्च** अय प्राचीनाना वाद. इत्थं प्राचीनपरम्परातः आगत' प्रवाद इति यावत्, **इयं स्थितिः** वृद्धावृद्धैव न तु युवत्यपीति व्यवस्था, **अजेया** जेतुमशक्या इति नियमः इत्याकारकोऽविनाभावोऽव्यभिचार इति यावत्, **अस्मिन्** एतादृशे, **जगद्वृत्तान्ते** विश्वसमाचारे, हे **नरपते** हे राजन्! **तव** भवतः, **इयं**

सर्वजनप्रत्यक्षा, **श्रीः** लक्ष्मीः, **विवदति** कथं नैवं नियम इति कथं करोति, विवदनमेव दर्शयति, **वृद्धा च** वृद्धिगता च, **यौवनगुणः** वृद्धावस्थाप्रतिपक्षं यौवनात्ममगुण, **न च** नैव, **परुषितः** परुष कोपयुतः प्राप्तः यतो वृद्धामपि लक्ष्मीं सेवते एव यौवनगुण इत्यर्थः ॥२०॥

हे भगवन् । त्वं स्वर्गाधिपोऽसीति स्तौति—

अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरं भ्रूभेदवज्रायुधं
कस्त्वां मानुषविग्रहं हरिरिति ज्ञातुं समर्थो नरः ।
यद्येते मघवन्! जगद्धिततरास्त्वा वल्लभः स्वामिन-
स्त्वद्भ्रूदेशपटुप्रकीर्णसलिला न ख्यापयेयुर्घनाः ॥२१॥

अन्तर्गूढेति । अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरं भ्रूभेदवज्रायुध मानुषविग्रह त्वां को नरो हरिरिति ज्ञातुं समर्थः ? हे भगवन् ! यदि एते जगद्धिततराः स्वामिनो वल्लभाः त्वद्भ्रूदेशपटुप्रकीर्णसलिला घनाः त्वा न ख्यापयेयुः" इत्यन्वयः । **अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरं** अन्तर्गूढानि अन्तर्लीनानि सहस्रलोचनानि सहस्रसङ्ख्यकनेत्राणि अन्तर्गूढसहस्रलोचनानि तानि बिभ्रतीति अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरः तं अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरम्, **भ्रूभेदवज्रायुधं** भ्रुवो भेदो विकृतिविशेष तदेव वज्र भ्रूभेदवज्र तदायुधं यस्य स भ्रूभेदवज्रायुधः तं भ्रूभेदवज्रायुधम्, **मानुषविग्रहं** मानुष्यं मनुष्यसम्बन्धि विग्रहं शरीरं यस्य स मानुषविग्रहस्तम्, **त्वां** भवन्तं, **को नरः** को मनुष्यः, **हरिरिति** इन्द्रोपममित्येव, **ज्ञातुमवगन्तु, समर्थः** तर्हि इन्द्रोऽहमिति कथं विज्ञायत इति पृष्ट इवाह— हे **मघवन्** ! हे इन्द्र ! **यदि एते** अनन्तरमेव प्रतिपाद्यमाना, **जगद्धिततराः** समीहितफलदातृत्वेन विश्वस्येष्टतराः, **स्वामिनः** इन्द्रस्य, **वल्लभाः** प्रिया, 'वल्लभ' इत्यस्य स्थाने 'वल्लभा' इति पाठं युक्त मत्वाऽयमर्थ, **त्वद्भ्रूदेशपटुप्रकीर्णसलिलाः** त्वद्भ्रूदेशे पटूनि प्रकीर्णानि सलिलानि येषा ते, तथा **घनाः** मेघाः, **त्वा** त्वां, **न ख्यापयेयुः** न प्रकटीकुर्युः, त्वत्प्रकटीकरणत एव इन्द्रोऽयमित्येवं ज्ञातोऽसि शनैरित्यर्थ ॥२१॥

अन्यनृपतो वर्द्धमाननृपस्य वैशिष्ट्यं ख्यापयति—

महीपालोऽसीति स्तुतिवचनमेतन्न गुणजं
महीपालः खिन्नामवनिमुरसा धारयति यः ।
यदा तावद् गर्भे त्वमथ सकलश्रीस्त्वसुमति
किमेयायुष्मान् नवशिवमिमां पश्यति महीम् ॥२२॥

महीपालोऽसीतीति । अत्र 'त्वसुमति' इत्यस्य स्थाने 'वसुमती' इति, 'किमेया' इत्यस्य स्थाने 'किमेवा' इति, 'नवशिवमिमा' इत्यस्य स्थाने 'नवशिवमितां' इति च पाठो युक्तो भाति । "महीपालोऽसीति स्तुतिवचनमेतत् गुणज न, खिन्नामवनि उरसा य. महीपाल आयुष्मान् सकलश्रीस्त्व यदा तावद् गर्भे, अथ वसुमती ते नवशिवमिता महीं किमेव पश्यति" इत्यन्वयः । **महीपालोऽसीति स्तुतिवचनं** त्व महीपालोऽसीत्येव स्तुतिवचनं एतत् गुणजं गुणप्रभवं, महीं पालयतीति महीपाल इत्यन्वर्थकं, **न** न भवति, **खिन्नां** दु खिता, **अवनिं** पृथिवीम्, **उरसा** उरःस्थलेन, **यः** य कश्चित् पुरुष· तदीयदु खनिवारणार्थं धारयति, **स** पुरुष महीरक्षकत्वात् महीपाल यच्छब्दस्य नित्यसम्बन्धस्योपादानतस्तच्छब्दोऽवगम्यते, **आयुष्मान्** चिरजीवी, **सकलश्रीः** सम्पूर्णलक्ष्मीक', **त्वं** वर्द्धमान', **यदा** यस्मिन् काले, तावदिति वाक्यालङ्कारे, **गर्भे** मातु· वसुमत्या· उदरे अवतीर्ण·, **अथ** तदा, वसुमती तव माता, सकलश्रीरित्यस्या अपि विशेषण सम्भवति, **ते** तव, **नवशिवमितां** नवसङ्ख्यककल्याणानुगतां, **महीं** पृथिवीं, **किमेव पश्यति** यदि त्वं महीपालस्तदा त्वत्कर्तृकरक्षणात् पूर्वं खिन्नैव मही भवेत् न तु नव कल्याणकयुतेति तथाभूता तां पश्येदेव, पश्यति च ता तथाविधामिति न गुणजन्यं त्वयि महीपाल इति वचनमित्यर्थ ॥२२॥

त्वमेव शूरो नयपटु रिपुविजयी निर्भीकश्च नैवमन्य· कश्चिदिति स्तौति—

शतेष्वेकः शूरो यदि भवति कश्चिन्नयपटु-
स्तथा दीर्घापेक्षी रिपुविजयनिःसाध्वसपरः ।

तदेतत् संपूर्णं द्वितयमपि येनाद्यपुरुषे
श्रुतं वा दृष्टं वा स वदतु यदि त्वा न वदति ॥२३॥

शतेष्वेक इति । "शतेष्वेकः शूरो यदि कश्चिन्नयपटुर्भवति, तथा दीर्घापेक्षी सन् रिपुविजयनिःसाध्वसपरो भवति, तदेतद् द्वितयमपि सम्पूर्णं आद्यपुरुषे येन श्रुतं वा दृष्टं वा, स वदतु यदि त्वा न वदति" इत्यन्वयः । **शतेषु** शतसंख्यकेषु जनेषु, शतेष्वित्युपलक्षणं सहस्रादीनामपि, **एकः** एक एव जनः, **शूरः** वीरः एकदैवानेकैः समं योद्धुं समर्थः, **यदी**ति सम्भावनायां, सम्भाव्यते चैवं शतेष्वेकः शूरो भवितुमर्हतीति, **कश्चित्** कोऽपि नरः, **नयपटुः** नीतिज्ञो यथावन्नयपरिपालनसमर्थो वा, **भवति** स्यात्, **तथा** एवम्, **दीर्घापेक्षी** इदं वस्तु बहुकालेन सम्पत्स्यते न तु शीघ्रमित्येव दीर्घकालमपेक्षत इति दीर्घापेक्षी सन्, **रिपुविजयनिःसाध्वसपरः** परिपूर्णं शत्रुविजयेन निर्भीकताया तत्परो भवति, **तदेतद्द्वितयमपि** अनन्तरोपवर्णितं द्वितयमपि, **सम्पूर्णं** परिपूर्णं, **आद्यपुरुषे** प्रधानपुरुषे, **येन** येन केनापि पुरुषेण, **श्रुतं वा**ऽन्यपुरुषोच्चरितवाक्यजन्यज्ञानविपयीकृतं वा, **दृष्टं वा** स्वयं साक्षात्कृतं वा, **स** श्रोता, द्रष्टा वा पुरुषः, **वदतु** कथयतु, **यदि त्वा** त्वां, **न वदति** न कथयति, भवन्तं उक्त्वा नान्यस्मिन् पुरुषे एतद्द्वितयं समस्तीति यदि महावीरे एतद्द्वितयं समस्तीत्येवं ब्रूयात् तदा तत् कथं सम्भवति अन्यथा तु नान्यत्रैतद् द्वितयं केनापि श्रुतं दृष्टं चेति न तद्वचनं सम्भवतीत्यर्थः ॥२३॥

सूर्यदीप्तितो विलक्षणा नृपदीप्तिस्तदुपमया स्तोतुमशक्येत्युपदर्शयति—

अयनविपमा भानोर्दीप्तिर्दिनक्षयपेलवा
परिभवसुखं मत्तैर्मत्तैर्घनैश्च विलुप्यते ।
सततसकला निर्व्यासङ्गं समाश्रितशीतला
तव नरपते ! दीप्तिः साम्यं तया कथमेष्यति ? ॥२४॥

अयनविषमेति । "अयनविषमा दिनक्षयपेलवा परिभवसुखं भानोः दीप्तिः मत्तैर्मत्तैर्घनैश्च विलुप्यते, हे नरपते ! सततसकला निर्व्यासङ्गं समाश्रितशीतला तव

दीप्तिः तथा साम्यं कथमेष्यति" इत्यन्वयः । **अयनविषमा** अयनाभ्यामुत्तरायण-दक्षिणायनाभ्यां विषमा असमा, यादृशी उत्तरायणे दीप्तिः ततो विसदृशी दक्षिणायने दीप्तिः सकलैरनुभूयते, **परिभवसुखं** परिभवेन अन्यतेजसा आक्रमणेन सुखं यथा स्यात् तथा, **दिनक्षयपेलवा** दिनक्षये दिनह्रासे पेलवा सुकोमला सर्वसहा, अन्यतेजसामाक्रमणेन सुखं किं न जातं तत एव सुसहा सम्पन्नेति, एवम्भूता **भानोः** सूर्यस्य, **दीप्तिः** कान्तिः, **मत्तैः मत्तैः** वीप्सया अत्यन्तमत्तैः, **घनैः** मेघैः, **विलुप्यते** तिरोहिता भवतीति, अथवा परिभवसुखमिति मत्तैरित्यनेनान्वेति परिभवेनान्यतिरोधानेन सुखं यथा स्यात् तथा मत्तैः, मदोन्मत्ताः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविकला अन्येषां परिभवेन सुखं कलयन्तीति, हे **नरपते** ! हे राजन् ! **सततसकला** सततं सर्वदा सकला सम्पूर्णा, **निर्व्यासङ्गं** व्यासङ्गमन्तरेण, कदाचिच्छीतला कदाचिन्नैवमित्येवं प्रकारमन्तरेण, **समाश्रितशीतला** सम्यक्तया आश्रितः शीतलस्पर्शो यस्या सा समाश्रितशीतला, **दीप्तिः** कान्तिः, **तया** भानुदीप्त्या, **साम्यं** सादृश्यं, **कथमेष्यति** कथं प्राप्स्यति न कथञ्चित् प्राप्स्यतीत्यर्थः ॥२४॥

ईश्वरो यथा परैरुररीक्रियते तथा न संभवतीति तद्रूपतया त्वद्वर्णनं न युक्तमिति दर्शयति—

को नामैष करोति नाशयति वा भाग्येष्वधीनं जगत्
स्वातन्त्र्ये कथमीश्वरस्य न वशः स्रष्टुं विशिष्टाः प्रजाः ।
लब्धं वक्तृयशः सभास्विति चिरं तापोऽद्य तेजस्विना-
मिच्छामात्रसुखं यथा तव जगत् स्यादीश्वरोऽपीदृशः ॥२५॥

को नामैष इति । "भाग्येष्वधीनं जगत् को नामैष करोति वा नाशयति, स्वातन्त्र्ये विशिष्टाः प्रजाः स्रष्टुं कथं न ईश्वरस्य वशः, सभासु वक्तृयशः चिरं लब्धमिति अद्य तेजस्विनां तापः यथा तव इच्छामात्रसुखं जगत्, तथेश्वरोऽपीदृशः स्यात्" इत्यन्वयः । **भाग्येषु** अदृष्टेषु, **अधीनं** परतन्त्रं, **जगत्** सुखदुःखमयं विश्वम्, जगति जीवानां स्वस्वपुराचरितकर्मजनितमेव सुखं दुःखं वोपजायते, **नामेति** कोमलामन्त्रणे, **क एष करोति** सुख-दुःखमयं जगद् विदधाति,

वा अथवा, **नाशयति** सुख-दुःखोपभोगसम्पादनेनाशेषकर्मक्षयात् सुख-दुःखमयं जगद् विनाशयति, भाग्य परित्यज्य स्वातन्त्र्येण न कोऽपि पुरुषो जगत् सृजयति विनाशयति चेत्यर्थः । **स्वातन्त्र्ये** अदृष्टलक्षणसहकारिकारणमन्तरेणैव सामर्थ्ये, **विशिष्टाः** प्रजाः सुखैकस्वरूपाः, **प्रजाः स्रष्टुं** उत्पादयितुं, **कथं न** किमिति न, **ईश्वरस्य** जगत्कर्तुः, **वशः** सामर्थ्यम्, सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजित इत्यादिवचनात्, **सभासु** पण्डिताना सम्मिलनस्थानेषु, **वक्तृयशः** सुष्ठुवयं वक्तीति कीर्तिः, **चिरं** बहुकालं, **लब्धं** प्राप्तम् इति हेतोः, **अद्य** स्याद्वादिनां समागमसमये, **तेजस्विनां** लोके प्रकर्षप्राप्तप्रतापोपगतानां, **तापः** स्वाभ्युपगतजगत्कर्तृव्यवस्थापनासामर्थ्येन परिताप., एवं सति **यथा** हे राजन्, **तव** भवतः, **इच्छामात्रसुखं** जगत् इदं मे स्यादिदं मे न स्यादितीच्छामात्रसुखम् , **जगत्** वस्तुतो जगति सुखं नास्तीति, **तथा ईश्वरोऽपि** परपरिकल्पितेश्वरोऽपि, **ईदृशः** इच्छामात्रस्वरूप एव न तु यथा परैरुपकल्प्यते तथा स समस्तीति तदभावादेव तद्रूपतया भवतो वर्णनं न सम्भवतीत्यर्थः ॥२५॥

ययद्वीरप्रभुराज्ञः कीर्त्या शत्रुहृदयानुगतया शत्रूणां कृतं तदुपवर्णयति—

गण्डेष्वेव समाप्यते विवदतां यद् वारणानां मदो
यद्वा भूमिषु यन्मनोरथशतैस्तुष्यन्ति तेजस्विनः ।
यत्कान्तावदनेषु पत्ररचना सङ्गश्च ते मन्त्रिणां
तत् सर्वं द्विषतां मनोऽनुगतया कीर्त्याऽपराद्धं तव ॥२६॥

गण्डेष्वेवेति । "विवदता वारणाना मदो गण्डेष्वेव यत् समाप्यते, यद्वा भूमिपु मनोरथशतैस्तेजस्विन तुष्यन्ति, यत्कान्तावदनेषु पत्ररचना, ते मन्त्रिणां सङ्गश्च, द्विषता मनोऽनुगतया तव कीर्त्या तत्सर्वमपराद्धम्' इत्यन्वय । **विवदतां** अन्योऽन्य युद्ध्यतां, **वारणानां** गजाना, **मदः** मदजल, **गण्डेष्वेव** गण्डस्थलेष्वेव, **यत् समाप्यते** तत्परिपूर्ण भवति, एवकारेण मित्या भवत्सेनया युद्धमशक्य मत्वा न तत्रानारब्धे शत्रुगजाना मद उपयुज्यते इति दर्शितम्, **यद्वा** अथवा, **भूमिषु** स्वस्वस्वत्वतया व्यवस्थितक्षेत्रेषु, **मनोरथशतैः** इयं भूमिर्मम भवतु इयं भूमिर्मम भवत्विति मन कामनाशतैः, **तेजस्विनः** पराक्रमशालिन , **तुष्यन्ति** सन्तुष्टा

भवन्ति, न तु तव मित्या अन्यस्वामिषु क्षेत्रेषु तेजस्विनोऽपि **अभिलाषा समु**त्पद्यते, **यत्कान्तावदनेषु** स्वाङ्गनामुखेषु, **पत्ररचना** सुशोभाकृतये चित्रविशेषनिर्मितिः न तु स्वप्रतिमल्लेषु बाणपक्षस्य सन्निवेशः, साहाय्यार्थं भवत्सैन्यागमनमित्याऽन्येन समं सग्रामस्यैवाभावात्, **ते मन्त्रिणां** तव राज्यरक्षानिमित्तमन्त्रणापरायणानां प्रधानानां, **सङ्गश्च** तदानुकूल्यसम्पत्तये विविधोपायनादि प्रददता मैत्रीकरणम्, **द्विषतां** शत्रूणा, **मनोनुगतया** मनःप्रविष्टया, तव **कीर्त्या** यशसा, **तत्सर्वम**नन्तरोपदर्शितमखिलं, **अपराद्धम**नभिप्रेतकरणमित्यर्थः ॥२६॥

धर्मावतारं वाऽवतारं कलौ दृष्ट्वा विधातुः संशयः समुत्पन्न इत्युपदर्शयति—

क्रमोपगतमपास्य युगभागधेयं कले-
रपर्वणि य एष ते कृतयुगावतारः कृतः ।
भवेदपि महेश्वरस्त्रिभुवनेश्वरो वाऽच्युतो
विधातुरपि नूनमद्य जगदुद्भवे संशयः ॥२७॥

क्रमोपगतमपीति । "कलेर्युगभागधेयं क्रमोपगतमपि अपास्य अपर्वणि य एष ते कृतयुगावतार कृतः नूनमद्य जगदुद्भवे विधातुरपि महेश्वरः त्रिभुवनेश्वरो वाऽच्युतो भवेदपि इति संशयः" इत्यन्वयः । **कलेः** तुर्ययुगस्य कलियुगस्य, **युगभागधेयं** युगांशम्, **क्रमोपगतमपि** प्रथम कृतयुग ततो द्वितीयं त्रेतायुग, ततस्तृतीय द्वापरयुग, ततस्तुर्यं कलियुगमित्येवं क्रमप्राप्तमपि, **अपास्य** परित्यज्य, **अपर्वणि** असमये, **य एष** योऽयं परिदृश्यमान , **ते** तव, **कृतयुगावतारः** प्रथमयुगस्य कृतयुगस्य तपोदान-यज्ञदानेतिपदचतुष्टयसम्पूर्णधर्मस्वरूपावतारः, **कृतः** विहितः, **नूनं** निश्चितम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभि ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश. ॥

इति वचनान्नूनशब्देनायमर्थ उत्प्रेक्ष्यत इति गम्यते तदेवोत्प्रेक्ष्यमुपदर्शयति- **अद्य** तवावतारसमये, **जगदुद्भवे** जगदुत्पत्तौ, **विधातुरपि** ब्रह्मणोऽपि, अयमिति

द्दश्यं अयं, **महेश्वरो** महादेवः, **त्रिभुवनेश्वरः** त्रिजगत्स्वामी, **भवेद् वा** अथवा, **अच्युतः** विष्णुः भवेदित्येवं, **संशयः** उभयकोटिकमनिर्णयात्मकं ज्ञानं, **भवेदपि** सम्भवेदपीत्यर्थं ॥२७॥

सर्वव्यापि त्वद्यशः किं स्वरूपमिति निर्णेतुं न पार्यत इत्याह—

गुणो नाम द्रव्यं भवति गुणतश्च प्रभवति
गुणापेक्षं कर्माऽप्यनुशयमारम्भविषयम् ।
विभु स्यात् किं द्रव्यं गुणजमुत वान्यः पदविधि-
र्दिशो दिक्पर्यन्तं तव किमिति शक्यं गमयितुम् ॥२८॥

गुणो नामेति । अत्रान्वयः यथाश्रुतानुसार्येवेति । **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, भगवन्तं मनसा सम्मुखीकृत्यामन्त्र्य च कथयति—**गुणो द्रव्यं भवति**, गुण-गुणिनोरभेदाद् गुणो द्रव्यमेव द्रव्यव्यतिरिक्तः, अथवा द्रव्यं धनं तद् यस्य लोके स एव गुणवानुच्यते न दरिद्र इति गुणो द्रव्यं भवति, यत्रैव गुणस्तत्रैव धनादिकं द्रव्यं नागुणिनीति गुणवतश्च प्रभवति गुणाद् द्रव्यं समुत्पद्यत इति, अथवा गुणाद् गुणश्च समुत्पद्यते, नैयायिकप्रक्रियानिर्णये तु गुणो नाम द्रव्ये भवति इति पाठ आश्रयणीय, तत्र च समवायिकारणे द्रव्ये गुणो भवतीत्यर्थः, **गुणतश्च प्रभवति** द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् इति वैशेषिकसूत्रादवयवगुणेभ्योऽवयविगुण समुत्पद्यते इति सरलोऽर्थं, **गुणापेक्षं** गुणनिमित्तं, **कर्मापि** हस्तशरसंयोगादिना बाणादौ कर्म भवतीति, यथा गुणो गुणापेक्षस्तथा कर्म गुणापेक्षमित्यपिना प्रतिपाद्यते, **अनुशयं** पश्चात्तापं यथा तथा, **आरम्भविषयम्** यथा द्रव्यस्य द्रव्यारम्भकत्वं गुणस्य गुणजनकत्वमित्येवं द्रव्य-गुणयोरसजातीयजनकत्वं, न तथा कर्मण, कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते इति वचनात्, कर्मणो यत् कर्म नोत्पद्यते तेन विषयम्, यदर्थमयं विवेकस्तदुपदर्शयति—**विभु** सर्वव्यापकम्, **स्यात्** भवेत्, **किं गुणजं द्रव्यं** किं गुणादुत्पन्नं द्रव्यं भवेत्, **उत वा** अथवा, **अन्यः पदविधिः** अन्यप्रकारः शब्दसन्निवेशः, हे भगवन्

तव भवतः, **दिक्पर्यन्तं** दशदिग्व्यापि, **यशः** कीर्त्तिः, **किमिति** किंस्वरूपं, **गमयितुं** प्रतिपादयितु, **शक्यं**, न शक्यमित्यर्थः ॥२८॥

[अत्र अन्त्यपद्यचतुष्टयं त्रुटितम्]

गुणाना साम्राज्यं जिनवरमुपाश्रित्य विमल
नृपावस्थासस्थं स्तुतमिह नवीनोक्तिनिपुणैः ।
गुरोः श्रीमन्नेमेः चरणयुगलध्यानबलतो
मया लावण्येनाकलितमनुबुद्धयाऽस्तु सुगमम् ॥१॥

इति गुणवचनद्वात्रिंशिकाया एकादश्या· स्तुतेर्व्याख्या ॥

द्वादशी न्यायद्वात्रिंशिका ।

गूढार्थोऽपि विचारणैकसुगमा वीरस्तुतिर्भक्तिजा
शास्त्रार्थेऽपि समाहता मतिमतामानन्ददा धीधनै ।
इत्येव तु विभाव्य कोविदवरः श्रीसिद्धसेनोऽनघा
नव्या या स्तुतिमुक्तवान् सुविवृति तस्यास्तु लावण्यजा ॥

शास्त्रार्थकरणे लज्जैव तावत् प्रतिबन्धिका तां परित्यजतो यत्किञ्चिद्वचनबलात् सामर्थ्यात् सर्वैरपि शास्त्रार्थो युक्तायुक्तविवेकविकलैः कर्तुं शक्यत इत्याह—

दैवखातं च वदनमात्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ? ॥१॥

दैवखातं चेति । "वदन च दैवखातं, वाङ्मयं च आत्मायत्तं, उक्तस्य च श्रोतारः सन्ति, को निर्लज्जो न पण्डित" इत्यन्वयः । **वदनं** च मुख तु, **दैवखातं** दैवेनादृष्टेन खनितं, न तु केनापि मनुष्येण कृत येन तन्निर्माता पुरुषो वदनं निरोद्धुं शक्येत, **वाङ्मयं च** वचननिकुरम्बं च, **आत्मायत्तं वक्तुं** स्वाधीनं यदा यद् वक्तुमिच्छति तदा तद् वक्तु शक्नोति, यद्यात्मायत्त तन्न भवेत् किन्त्वन्यपुरुषाधीनं स्यात् तदा तत्र स्वतन्त्रस्यान्यपुरुषस्य तद्वचनोद्वारानिच्छायां वक्तुस्तदिच्छाया सत्यामप्यन्यपुरुषप्रतिवन्धात् तन्न भवेदपि न चैवम् , **उक्तस्य च** अन्यपुरुषोच्चारितस्य सत्यस्यासत्यस्य वा वचनस्य च, **श्रोतारः** श्रवणकर्त्तार पुरुषाः, **सन्ति** विद्यन्ते, यदि ते न स्युस्तदा स्वाधीनमपि वचनं प्रयोजनाभावान्नोच्चरितं स्यान्न चैवम्, एवं सति **को निर्लज्जः** को लज्जारहितः पुरुषः, **न पण्डितः** पण्डितो न भवति अपि तु युक्तमयुक्तं वा सत्यमसत्यं वा यत् किमपि प्रलपन् लज्जारहित· पुरुषः पण्डित एवेत्यर्थ· ॥१॥

निर्णीतसदर्थवक्तॄन् स्तौति—

अभिष्टुवन्ति यत् स्वैरं नृपगोष्ठ्यां नृपुङ्गवाः ।
असत्संदिग्धमुक्तानि कृपास्तेन कृपात्मकाः ॥२॥

अभिष्टुवन्तीति । "नृपुङ्गवा नृपगोष्ठ्या यत् स्वैरं असत्सन्दिग्धमुक्तानि अभिष्टुवन्ति तेन कृषाः कृपात्मकाः" इत्यन्वयः । **नृपुङ्गवाः** मनुजप्रधाना विद्वांसः, **नृपगोष्ठ्यां** राजसभायां, **यत्** यस्मात्, **स्वैरं** अनन्यप्रेरणया स्वेच्छया **असत्सन्दिग्धमुक्तानि** असदर्थसन्दिग्धार्थरहितानि, **अभिष्टुवन्ति** अभितः सर्वप्रकारेण स्तुवन्ति, **तेन** तेन हेतुना, **कृषाः** कर्षन्तीति अधर्मपथात् प्रच्याव्य धर्ममार्गे कुर्वन्ति आकर्षन्ते स्थापयन्तीति । **कृपात्मकाः** कृपात्मानः स्वभावतः प्राणिभये कृपाशीला इत्यर्थः ॥२॥

शब्दार्थाभिज्ञं प्रशंसति—

प्रगद्वृत्तान्तगहनाद् विश्लिष्य प्रहता गिरः ।
योजयत्यर्थगम्या यः शब्दब्रह्म भुनक्ति सः ॥३॥

प्रगद्वृत्तान्तेति । 'प्रगद्वृत्तान्तगहनाद् विश्लिष्य प्रहता अर्थगम्या गिरः यो योजयति स शब्दब्रह्म भुनक्ति' इत्यन्वयः । **प्रगद्वृत्तान्तगहनात्** प्रभूतातिप्राचीनवृत्तान्तशास्त्रवनात्, **विश्लिष्य** विश्लेषं प्राप्य, **प्रहता** समासधातु–प्रत्ययादिभिः प्रकर्षेण हन्यमानाः, **अर्थगम्या** अर्थः गम्यो विचाराधिगम्यो यासु ता अर्थगम्याः, **गिरः** वचांसि, **योजयति** तत्तदर्थवत्तया सङ्गमयति **यः** यः कश्चिन्नृपुङ्गवः स उक्तः पुरुषः, **शब्दब्रह्म** शब्दस्वरूपं यद् ब्रह्म तच्छब्दब्रह्म, तद् **स भुनक्ति** तदनुभवं करोति, यतः कुतश्चित् सन्दर्भादतिगूढार्थात् पृथग्भूयागतमपि वाक्यखण्डलवं यः कश्चिदस्य वाक्यस्यायमर्थो भवितुमर्हतीति स्वयमेव विचार्यस्तदज्ञ भवति स नूनं शब्दब्रह्मानुभवस्वभाव इत्यर्थः ॥३॥

शब्दार्थज्ञानमात्रपरितुष्टो जनो न तन्त्रयुक्तिज्ञमनुसरति इत्यतो न शास्त्रार्थाधिकारी सदित्याशयवान् तमुपदर्शयति—

प्रसिद्धशब्दार्थगतिर्ज्ञानं जात्यन्धपश्च यः ।
न स स्वयं प्रवक्तारमुपास्ते तन्त्रयुक्तिषु ॥४॥

प्रसिद्धेति । "प्रसिद्धशब्दार्थगतिर्ज्ञानं जात्यन्धपश्च यः स तन्त्रयुक्तिषु स्वयं प्रवक्तारं न उपास्ते" इत्यन्वयः । अत्र यस्येति दृश्यं **प्रसिद्धशब्दार्थगतिर्ज्ञानं** यस्य यस्य पुरुषस्य ज्ञानं प्रसिद्धो यः शब्दस्यार्थस्तस्य गतिरवगमः, न

त्वप्रसिद्धशब्दार्थग्रहणं, **च** पुनः, **यः** पुमान्, **जात्यन्धपः** जात्यन्धान् जन्मान्धान् पातीति जात्यन्धपः जन्मान्धजनगोष्ठीपरिवृढ इति यावत्, **स** उक्तः पुरुषः, **न तन्त्रयुक्तिषु** शास्त्रोक्तयुक्तिषु, **स्वयं प्रवक्तारं** स्वयमेव प्रकर्षेण वक्तार, **न उपास्ते** न सेवते, प्रसिद्धशब्दार्थपरिज्ञानतो जात्यन्धस्वामित्वेन च कृतकृत्यो नान्य स्वतो विशिष्टमुररीकरोति एव तावन्मात्रमेव ज्ञानमित्युररीकृत्य न तन्त्रयुक्तिज्ञानापेक्षी शास्त्रार्थं च वितण्डामात्रमित्युपेक्षते इत्यर्थः ॥४॥

सूक्ते यस्य कस्यचिदर्थस्य य· कश्चिच्छब्दोऽभिलाषक· सोऽभिधातव्यो न तु तत्रायमेवाभिधातव्यो नान्य इति नियम इत्युपदर्शयति—

दुरुक्तानि निवर्तन्ते सूक्ते नास्ति विचारणा ।
पुरुषो ब्राह्मणः विप्रः पुरुषो वेति वा यथा ॥५॥

दुरुक्तानीति । अन्वयोऽत्र यथाश्रुतानुसारी । **दुरुक्तानि** विशेषप्रवचनं, पूर्वं विशेष्यवचनं ततः इति नियममुल्लङ्घ्य वचनानि, **दुरुक्तानि सूक्ते निवर्त्तन्ते** न भवन्ति, येन केनापि प्रकारेण विशेषण-विशेष्यतानि, विचारे प्रस्तुते दुरुक्ततादोषतयोपेयते न तु विचाराचने दुरुक्तता न भवतीति विचारे प्रस्तुते दुरुक्ततादोषतयोपेयते न तु विचाराभावे इत्याह—**नास्ति विचारणा** सूक्ते विचारणा नास्ति, उपदेशात् खलु सा, न तु शास्त्रार्थे, तत्र दृष्टान्तमाह—**यथा पुरुषो ब्राह्मण** इत्यप्युच्यते, **विप्रः पुरुष** इत्यप्युच्यते, विचारणाऽस्ति एव सूक्तेऽपीत्यर्थ. ॥५॥

कथायामहेत्वादिकं निग्रहप्रयोजकं तत् किमित्याकाङ्क्षायामाह—

न सामान्य-विशेषाभ्यामृतेऽन्याहेतु जायते ।
तद् विशेष-विघाताभ्यां हेत्वाभासोपजातयः ॥६॥

न सामान्यविशेषाभ्यामिति । "सामान्य-विशेषाभ्यामृतेऽन्याहेतु न जायते, तद्विशेष-विघाताभ्यां हेत्वाभासोपजातय" इत्यन्वय । **सामान्य-विशेषाभ्यामृते** सामान्य-विशेषौ परित्यज्य, **अन्याहेतु** अन्यच्च तदहेतु च अन्या हेतु हेतुभिन्नमहेतु, **न जायते** न भवति, यत् किञ्चिदसाधकं भवति तत् सामान्यंवा स्यात् विशेषो वा, न तु तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः, तद्विशेष-विघाताभ्यां

सामान्यस्य विशेषस्य च यौ विघातौ व्याप्तिपक्षधर्मतादि वैकल्यलक्षणौ ताभ्या, **हेत्वाभासोपजातयः** हेत्वाभासस्यावान्तरभेदा भवन्तीत्यर्थः यत् किञ्चित् साध्यसाधकतयोच्यते वादिना प्रतिवादिना वा तत् सामान्यं विशेषो वा भवेत् तदन्यप्रकाराभावात् तच्च यदि साध्यसाधक न भवति तदा तदहेतुरुच्यते, तस्यैव च व्याप्तिपक्षधर्मतादिहेतुलक्षणविशेषवैकल्यतो हेत्वाभासाद्यवान्तरभेदा भवन्तीति भावः ॥६॥

कथाया प्रश्न-प्रतिविधानलक्षणौ द्वौ पक्षौ भवत·, न तु तत्र तृतीयः पक्ष·, तयोरेकतरपक्षस्य यथावद्व्यवस्थापने अव्यवस्थापितस्वपक्षो द्वितीयः पराजितो भवति, व्यवस्थापितस्वपक्षस्तु जयी, नात्रान्य· प्रकार कथयितुं सम्भवतीत्याशयेनाह—

द्वितीयपक्षप्रतिघाः सर्वे एव कथापथाः ।
अभिधानार्थविभ्रान्तैरन्योऽन्यं तद् विप्रलप्यते ॥७॥

द्वितीयपक्षप्रतिघा इति । "सर्वे एव कथापथा द्वितीयपक्षप्रतिघा· अभिधानार्थविभ्रान्तैरन्योऽन्यं तद् विप्रलप्यते" इत्यन्वय । **सर्वे एव कथापथाः** सर्वे एव कथामार्गा ; **द्वितीयपक्षप्रतिघाः** द्वितीयपक्ष· प्रतिघः प्रतिरोधको येषा ते द्वितीयपक्षप्रतिघाः वादि-प्रतिवादिनोरन्यतरपक्षव्यवस्थितौ वादजल्पवितण्डा-न्यतमात्मका· सर्वकथाप्रकारा· परिसमाप्यन्ते, न तु तदनन्तरं कथा प्रचलति, तत एव कथाप्रयोजनस्य तत्त्वनिर्णयजय-पराजयान्यतमप्रयोजनस्य सम्भवति, **अभिधानार्थविभ्रान्तैः** शब्दार्थविषयकभ्रान्तिज्ञानवद्भिर्वादि-प्रतिवादिभि, **अन्योऽन्यं** परस्पर, **तद् विप्रलप्यते** विरुद्धः प्रलाप· क्रियते ॥७॥

विशेषप्रतिपत्तिफलिकां कथामुपदर्शयति—

समं संशय्यते यत्र सामान्यमलिनं धिया ।
विचारं पुनरुक्तार्थं विशेषाय स संशयः ॥८॥

सममिति । "यत्र पुनरुक्तार्थं विचार सामान्यमलिनं धिया समं संशय्यते, स संशयः विशेषाय" इत्यन्वय· । **यत्र** यस्यां कथाया, **पुनरुक्तार्थं**

घट. कः ? कलशो घटः, कलशः कः ? कुम्भः कलश इत्येव शब्दभेदमात्रं, अर्थस्तु य एव पूर्ववाक्यस्य सम एवोत्तरवाक्यस्येत्येवं पुनरुक्तार्थकं, **विचारं** उक्ति-प्रत्युक्तिरूपं वचनसञ्चरणं, सामान्यमलिनं सामान्यलक्षणानुगतार्थकलुषितं धिया पृच्छकपुरुषोत्तरदातृपुरुषद्वयबुद्धया, **समं** साधम्, **संशय्यते** संश-याक्रान्तं, कोऽर्थः ? किं विवेचनम्, का वुद्धिरित्येव सर्वं सन्दिग्ध भवतीति यावत्, **स संशयः** अनन्तरोपदर्शितः सशय, **विशेषाय** विशेषप्रतिपत्तये भवति, यावद्विशेषबुद्धयावायकं वचन नोपदर्श्यते तावत् कथा न परिसमाप्यते विशेषोक्तौ च कथापरिसमाप्तिरित्यर्थ· ॥८॥

कथायां वक्तव्यान्युपदर्शयति—

प्रतिज्ञानिर्नयो हेतुर्दृष्टान्तं बुद्धिकारणम् ।
प्रमाणहेतुदृष्टान्तजातितर्कास्तदुक्तयः ॥९॥

प्रतिज्ञेति । अन्वयो यथाश्रुतानुसारी । 'निर्नयो' इत्यस्य स्थाने 'निर्णयो' इति पाठो युक्तः । पक्षे साध्यवचन प्रतिज्ञा तस्या निर्णयः प्रतिज्ञातार्थनिष्टङ्कनं येन स **प्रतिज्ञानिर्णयः** प्रतिज्ञातार्थनिर्णयफलक. हेतु तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गवचनम्, **दृष्टान्तं** वादि-प्रतिवादिनोर्यत्र साध्यहेत्वोः साध्याभावहेत्वभावयोर्वा निर्णयस्तद् दृष्टान्तं साधर्म्यदृष्टान्त-वैधर्म्यदृष्टान्तभेदेन द्विविधम्, तत् **बुद्धि-कारणं** अन्वयव्याप्तिबुद्धेर्व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धेर्वा कारणम्, तत्र पक्षसाध्यहेतु-व्याप्त्यादिसिद्धये प्रमाणादीनि वाच्यानीत्याह—**प्रमाणहेतुदृष्टान्तजातितर्काः** प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि पक्षप्रसिद्धिसाध्यप्रसिद्धयाद्युपयुक्तानि केवलान्वयि—केवल-व्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्यनुमाने साधर्म्यलक्षणः केवलव्यतिरेक्यनुमाने वैधर्म्यलक्षणः, अन्वयव्यतिरेक्यनुमाने साधर्म्यलक्षणो वैधर्म्यलक्षणश्च, असदनुमानमेतदित्यव-गतये साधर्म्ये प्रत्यवस्थानवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानादिभेदा असदुत्तर जातिरित्ये-तल्लक्षणाक्रान्तयोः विधिमुखेनापेक्षिताः, सदनुमानमेवैतज्जात्यस्पर्शादित्यवगतये निषेध-मुखेनापेक्षिताः, तर्क व्यापकाभाववत्तया निर्णीते धर्मिणि व्याप्यारोपेण व्यापका-

रोपस्तर्कः, स च यत्र व्यभिचारशङ्कोदेति तत्र तन्निवृत्तिद्वारा व्याप्तिग्रहे उपयुज्यते, विषयपरिशोधकश्च तर्क आत्माश्रयाऽन्योऽन्याश्रयचक्रकानवस्थालाघवगौरवप्रमुखः, तत्र स्वस्य स्वापेक्षत्वमात्माश्रय, स्वस्य स्वापेक्ष्यापेक्ष्यत्वमन्योऽन्याश्रयः स्वस्य स्वापेक्ष्यापेक्ष्यापेक्ष्यत्व चक्रकम् अनवस्थितसजातीयपरम्परोपनिपातोऽनवस्था, एतेषु स्वं यदि स्वापेक्ष्य स्यान्न स्यात् स्वभिन्नं वा स्यादित्येवमापादन, लाघव-गौरवे च कार्य-कारणभावग्रहे प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकभावग्रहे चोपयुज्येते, तदुक्तयः प्रमाणादीना वचनानि कथायामुपयुज्यन्ते इत्यर्थः ॥९॥

कथायामन्योऽप्यभ्युपगमनीय उपदर्श्यते—

लोकधर्मोऽभ्यनुज्ञातः सिद्धान्तो वाग्नियामकः ।
अङ्गधर्मविकल्पाभ्यां प्रमेयोपचयाचयौ ॥१०॥

लोकधर्म इति । **लोकधर्मः** लौकिकप्रत्यक्षप्रमाणसिद्धो धर्म, **अभ्यनुज्ञातः** वादि-प्रतिवादिभ्या स्वीकृत., एतेन यथा लोकविरोधो न भवेत् तथैव वादि-प्रतिवादिभ्या वक्तव्यमित्यावेदितम्, **सिद्धान्तः** वादि-प्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थ. सिद्धान्त स सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्राभ्युपगमाधिकरणसमानतन्त्रभेदेन पञ्चविधः, कथाया वादि-प्रतिवादिभ्या प्रमाणादीन्यभ्युपगन्तव्यानि सर्वतन्त्रसिद्धान्तत इति सिद्धान्तो, **वाग्नियामकः** अनेन नियमेन वक्तव्यं वादिना, अनेन नियमेन च वक्तव्यं प्रतिवादिनेत्येव वचसा नियामकः, **अङ्गधर्मविकल्पाभ्यां** साध्य-साधनाङ्गधर्म· येन साध्य-साधनमप्रतिघं भवति विकल्पः किमत्र सामान्यं साध्यं विशेषो वेत्यादि· ताभ्यां, **प्रमेयोपचयाचयौ**, प्रमेयस्य साधनीयस्योपचयो वृद्धि·, अपचयो ह्रासः ॥१०॥

अविद्यार्थानवगमो विरूपाप्रतिपत्तितः ।
हेत्वाभासश्च निर्वादेष्वियमेव तु भूयसी ॥११॥

अविद्यार्थेति । **अविद्यार्थानवगमः** भ्रान्ते विषयीभूतार्थस्यानधिगतिः, **विरूपाप्रतिपत्तितः** विरूपस्य वैधर्म्यस्याजानत, वैधर्म्यस्याज्ञानेन समानोऽयमित्येवं ज्ञानेन भ्रान्त्येदमवगतं मयेत्येव न ज्ञायते, इति यावत्, **हेत्वाभासश्च** सव्यभिचारादिश्च, **निर्वादेषु** निर्वचनेषु पक्ष-प्रतिपक्षनियन्त्रितवादेषु वादकथा-

यामिति यावत्, **इयमेव तु** अनन्तरोपदर्शितप्रक्रियैव पुन, **भूयसी** बाहुल्येन भवति ॥११॥

कथाया छलमप्याश्रियते, जयाभिकाङ्क्षिभिस्तत् कथमित्याकाङ्क्षायामाह—

किञ्चित् सामान्य-वैशेष्यादयुक्तार्थोपपादनम् ।
छलं तदिति वैस्पष्ट्याद् वाच्याभिप्रायभेदतः ॥१२॥

किञ्चिदिति । किञ्चित् सामान्य-वैशेष्यात् सामान्योक्तेरर्था अनेकप्रकारा भवन्ति तत्र वाद्युक्तसामान्यवचनस्य किञ्चित् सामान्य-वैशेष्यात्, **अयुक्तार्थोपपादनं** प्रतिवादिकृत यदयुक्तस्याघटमानस्यार्थस्योपपादन, **तत् छलमिति, वैस्पष्ट्यात्** स्पष्टार्थाभावत, **वाच्याभिप्रायभेदतः** अन्याभिप्रायेण वादिनोक्तस्य प्रतिवादिनाऽन्याभिप्रायकल्पनत, यथा नेपालादागतोऽय नवकम्बलवानिति । नवत्वधर्माभिप्रायेणोक्तस्य नवशब्दस्य नवसङ्ख्याभिप्राय परिकल्प्य नवसङ्ख्यककम्बलवत्त्व न विद्यतेऽस्येति नवकम्बलवानिति न युज्यते इत्येव न वैस्पष्ट्याद्, **वाच्याभिप्रायभेदतो**ऽयुक्तार्थोपपादनं छलमित्यर्थः ॥१२॥

कथाया वाद्युक्तहेतौ दुष्टत्वप्रतिपत्तये व्यभिचार एवावश्यमुद्भाव्यः ततः उत्कृष्ट दूषणान्तरं नास्ति तस्मादेव परहेतौ सद्भावत उत्तरपक्षो व्यवस्थितो भवतीत्याह—

व्यभिचारात् परं नास्ति परपक्षप्रदूषणम् ।
हेतुपर्यन्तयोगाच्च तस्मात् पक्षोत्तरो भवेत् ॥१३॥

व्यभिचारादिति । व्यभिचारात् अनेकान्तात्, **परं** उत्कृष्टम्, **परपक्षप्रदूषणं** परस्य वादिन प्रतिवादिनो वा पक्षे प्रकृष्ट दूषण दोष, **नास्ति** न विद्यते, तत्र हेतुमाह–**हेतुपर्यन्तयोगाच्च** स्वपक्षसाधने हेतुपर्यन्तो भवति न ततोऽन्यत् किञ्चित् साधकतमं, तस्मिन् हेतुपर्यन्तयोगात् सम्बन्धाच्च, तस्माद् व्यभिचारात्, **पक्षोत्तरः** पक्षान्तः, न ततः पर कश्चित् पक्षः प्रवर्त्तते तावतैव कथायाः समाप्ति, **भवेत्** जायेत, अत परहेतौ व्यभिचारयोजने यत्नो विधेय इत्यर्थः ॥१३॥

नानेकान्त एव व्यभिचारः किन्त्वन्योऽपि दोषो व्यभिचारतयाऽभ्युपेय इत्याह—

संशयः प्रतिदृष्टान्तविरोधापत्तिहानयः ।
प्रतिपक्षविकल्पौ च व्यभिचारार्थपर्ययाः ॥१४॥

संशयेति। **संशयः** सगेतेऽनेनेति सशय , सशयहेतुरनेकान्त., साधारणधर्मदर्शनादसाधारणधर्मदर्शनाद् विप्रतिपत्तेश्च संशय इति वचनात् साधारणानैकान्तिकज्ञानमसाधारणानैकान्तिकज्ञानं सशयकारणमिति भवति अनेकान्तः संशय इति, अत एव- "विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्' इत्यत्र सन्दिग्धवद् नानैकान्तिकग्रहणम्, **प्रतिदृष्टान्त-विरोधापत्तिहानयः** प्रतिदृष्टान्त· वायुक्तानुमानदृष्टान्तविरोधी दृष्टान्तः, विरोध· साध्याभावव्याप्तो हेतुः, आपत्ति. प्रतिज्ञान्तरहेत्वन्तराप्रसिद्धान्तापत्त्यादि., हानिः प्रतिज्ञाहान्यादिरित्येव सशयप्रतिदृष्टान्तविरोधापत्तिहानयः, **प्रतिपक्ष-विकल्पौ च** प्रतिपक्ष वायुक्तानुमानहेतुसाध्यविरुद्धसाध्याभावसाधकहेतुः, विकल्पः किमिदं सामान्य साध्यते विशेषो वेत्यादि विकल्पनमित्येव प्रतिपक्षविकल्पौ, एते सर्वेऽपि, **व्यभिचारार्थपर्ययाः** व्यभिचाररूपानुगामिनोऽर्थपर्यया भवन्ति एतेषु यस्य कस्याप्युपदर्शनव्यभिचारस्यैवोपदर्शन कृत भवति तेभ्योऽपि परपक्षो दूषितो भवत्येवेत्यर्थ ॥१४॥

अकारणत्वान्निर्देशः साध्यत्वाद्यनुयोगजः ।
हेत्वन्तराभ्युपगमः पुनरुक्तान्यतः परम् ॥१५॥

अकारणत्वेति । अत्र 'अकारणत्वानिर्देशासाध्यत्वाद्यनुयोगजः' इति पाठो युक्तः । **अकारणत्वानिर्देशसाध्यत्वाद्यनुयोगजः** अकारणत्वानुयोगजः अयं हेतुः न सभवति प्रकृतसाध्येन समं कार्य-कारणभावादिति किं कारणं कार्यं वेतल्लिङ्गमिति प्रश्नज., अनिर्देशानुयोगज योऽयं हेतु. प्रकृतसाध्यसाधक· संभवति स भवता न निर्दिष्ट. निर्दिष्टश्च न प्रकृतसाध्यसाधनोऽविनाभावनिमित्ताभावदिति प्रश्नजः, **साध्यत्वाद्यनुयोगजः** योऽयं हेतुर्भवताऽभिहितः सोऽपि न सिद्ध इति साध्यसमत्वाद्धेतुर्न सम्भवतीत्येवं साध्यत्वात् त्वनुयोगजः, **हेत्व-**

न्तराभ्युपगमः हेत्वन्तरस्य स्वीकारः, **अतः परं** अस्माद् व्यतिरिक्तम्, **पुनरुक्तानि** एतत्स्थाने 'पुनरुक्ताद्' इति पाठो युक्तः आदिपदान्निग्रहस्था-न्निग्रहस्थानान्तराणा परिग्रहः ॥१५॥

एकपक्षहता बुद्धिर्जल्पवाग्यन्त्रपीडिताः ।
श्रुतसंभावनावैरी वैरस्यं प्रतिपद्यते ॥१६॥

एकपक्षहतेति । **एकपक्षहता** वादि-प्रतिवादिपक्षद्वयमाश्रित्य तत्त्व-निर्णयार्थं प्रवर्तिता वादकक्षा नैकपक्षकदाग्रहगृहीता, किन्तु वादिपक्ष प्रतिवादि-पक्षो वा यः प्रमाणतः उपपन्नो भवति स उभाभ्यामपि वादि-प्रतिवादिभ्या स्वीकृतो भवति, तत एव च तत्त्वनिर्णयलक्षणं प्रयोजनं वादिप्रतिवाद्युभयाभीष्टं सम्पद्यते, जल्पे तु यथाकथञ्चित् स्वपक्षस्थापनापूर्वकपरपक्षखण्डनात्मके विजयैकप्रयोजने एकपक्षहता वादिनः प्रतिवादिनो वा स्वस्मिन्नेव पक्षे प्रतिबद्धत्वादन्यपक्षप्रवर्त्तिता प्रामाण्यज्ञापनकदर्थिता, **बुद्धिः** मति, **जल्पवाग्यन्त्रपीडिता** जल्पकथालक्षणं यद्वाग्यन्त्रं तेन पीडिता येन केनापि प्रकारेण स्वपक्षोपजातबुद्धौ परापादितप्रामाण्य-मवधूय प्रामाण्यव्यवस्थापनप्रयत्नपरपक्षोपजातबुद्धौ परोपपादितप्रामाण्यव्यवस्थापन-युक्तिं कदर्थीकृत्य तत्त्वाप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रयत्नाभ्या पीडिता सती, 'श्रुतसंभावना वैरी' इत्यस्य स्थाने 'श्रुतसंभावनावैरि' इति पाठो युक्तः, **श्रुतसंभावनावैरि** श्रुत-स्यागमार्थस्य या संभावना तस्याः वैरि शत्रुभूत, यद् **वैरस्यं** विरसत्वं, तत् **प्रतिपद्यते** स्वीक्रियते विरसा भवति श्रुतार्थविमुखा भवतीति यावत् ॥१६॥

तानुपेत्य वितण्डाऽस्ति नयस्येति विचारणा ।
सैव जल्पे विपर्यासो वितण्डैवेति लक्ष्यते ॥१७॥

तानुपेत्येति । **तान्** प्रमाणादीन् सर्वतन्त्रसिद्धान्तान्, **उपेत्य** कथकेन स्वीकृत्य, **वितण्डा** स्वपक्षस्थापनाहीना परपक्षखण्डनरूपा कथा, **अस्ति** अभ्यु-पगमनीया स्यात्, सपर्यनुयुक्तो यद्यभ्युपेयादिति न्यायभाष्यवचनमत्र प्रमाणम्, तस्य वचनस्यायमर्थः, स वैतण्डिक, पर्यनुयुक्त. प्रमाणादीन्यभ्युपगच्छति भवान् नवेत्येवं

पृष्टः, यद्यभ्युपेयात् प्रमाणादीनि सन्तीति, यदि स्वीकुर्यात् तदा तेन सह कथां कुर्यात् किन्त्वेवमभ्युपगच्छतस्तस्य स्वपक्षसद्भावात् तत्स्थापनमावश्यकमिति कुतो वितण्डेति हृदयम्, **इति** **स्वं** **स्वरूपा**, **नयस्य** नैगमनयप्रसूतस्य न्यायदर्शनस्य, **विचारणा** अभ्युपगमपद्धति । तथाहि—'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-न्यायावयव-तर्कनिर्णयः वाद-जल्प-वितण्डा-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगमः' इति गौतमसूत्रेण कथोपयोगिनः षोडशपदार्था दर्शिताः, ते च सर्वेऽप्यत्र यथायथं कथायामुपयोगितया व्यावर्णिता इति, **सैव वितण्डैवेति जल्पे** जल्पकथायां घटकत्वं सप्तम्यर्थः, **विपर्यासः** परपक्षखण्डनम्, जल्पघटकं यत् परपक्षखण्डनं तदेव वितण्डेति, तथा च वितण्डैवेति लक्ष्यते, जल्पनिरूपणेनापि वितण्डा कथैव लक्षिता भवति, यत. एकेन स्वपक्षस्थापनं यथाकथञ्चिद् विधाय परपक्षखण्डनं क्रियते तत्र परपक्षखण्डनं वितण्डैव, अपरेणापि स्वपक्षस्थापनं कृत्वा परपक्षखण्डनं क्रियते इति परपक्षखण्डनं वितण्डैव, यद्यपि स्वपक्षस्थापनमुभयत्रास्ति तथापि तन्न मुख्यतयाऽभिप्रेतं किन्तु गौणतयैव, मुख्यतयाऽभिप्रेतं तु वादि-प्रतिवादिनोरुभयोरपि परपक्षखण्डनमेव, यतः स्वस्य जयः परस्य पराजयश्चोभयोरपि प्रयोजनमभिलषितं, तौ च परपक्षखण्डनादेवेति, अत एवोक्तं श्रीहर्षेण जल्पस्यैका कथा न सम्भवत्येव वितण्डाद्वयशरीरत्वादिति ॥१७॥

इदानीं कथायां यदावश्यकं तदुपदर्शयति—

न सिद्धान्ताभ्युपगमादितरः सार्वतन्त्रिकः ।
यस्येत्युक्तमनेकान्तादितरं नानुषज्यते ॥१८॥

न सिद्धान्ताभ्युपगमादिति । **सिद्धान्ताभ्युपगमात्** कथायां स्वसिद्धान्तस्य व्यवस्थापनीयतया परसिद्धान्तस्य खण्डनीयतयाऽभ्युपगमात् स्वीकारात्, **इतरो** भिन्नः, **सार्वतन्त्रिकः** सर्वतन्त्रसिद्धः, **न** न भवति, **इति** एव, **यस्य** यस्य मते, **उक्तं** प्रतिपादितम् तस्येति शेषम्, **अनेकान्ताद्** वाद्युक्तहेतुदूषणार्थं व्यभिचारात्, **इतरं** भिन्नं, **नानुषज्यते** न सम्बन्ध्यते, व्यभिचारोद्भावनत एव हेतोर्दुष्टत्वसंभवे तद्भिन्नमकिञ्चित्करत्वात् कथायां नोद्भाव्यमित्यर्थः ॥१८॥

यत्रैकपक्षनिर्णयो भवति तत्र संशयो न भवत्येव निर्णीतात् तत एव हेतोरतः स्वपक्षप्रसिद्धितः कथापरिसमाप्तिरित्याह—

विनिर्णयान्न संदेहः सर्वथोत्तरसंभवात् ।
स एव हेतुश्चक्षुर्वन्नानिष्टप्रतिपत्तितः ॥१९॥

विनिर्णयादिति । विनिर्णयात् विशेषेणैकपक्षस्य निश्चयतः, **न संदेहः** एकधर्मिणि विरुद्धो भवकोटिप्रकारकदोलायमान न भवति, निश्चयस्य संशयविरोधित्वात् कुतो न संदेह इत्याकाङ्क्षायामाह—**सर्वथा** सर्वप्रकारेण, **उत्तरसम्भवात्** उत्तरपक्षप्रसिद्धिसम्भवात्, **स एव हेतुः** निर्णयजनक एव हेतुर्भवति, **चक्षुर्वत्** चक्षुर्यथा निर्णयजनकं तथा, **न** नैव, **अनिष्टप्रतिपत्तितः** अनिष्टस्य सन्दिग्धार्थ एव प्रतिपत्तितो ज्ञानतो हेतुर्न भवतीत्यर्थः ॥१९॥

दृष्टान्तदूषणामोहो हानिपक्षाप्रसिद्धयः ।
वाचोयुक्त्युपपत्तिभ्यामत एव विपर्ययः ॥२०॥

दृष्टान्तेति । दृष्टान्तदूषणामोहः दृष्टान्तस्यान्वयदृष्टान्तस्य दूषण साध्यसाधनविपरीतव्याप्त्युद्भावनानिर्णीतसाध्यवत्त्वानिर्णीतसाधनवत्त्वानिर्णीतसाध्यसाधनोभयवत्त्वादि तथा व्यतिरेकदृष्टान्तस्य यद् दूषण साध्याभावसाधनाभावविपरीतव्याप्त्युद्भावनानिर्णीतसाध्याभाववत्त्वानिर्णीतसाधनाभाववत्त्वानिर्णीतसाध्याभावसाधनाभावोभयवत्त्वादि, तस्यामोहः अज्ञानाभावः यथावत् परिज्ञानं, **हानिपक्षाप्रसिद्धयः** हानिः प्रतिज्ञाहानिः पक्षाप्रसिद्धिः साध्यविशिष्टधर्मिणः पक्षत्वेन विशिष्टस्य तस्याप्रसिद्धिः विशेषणीभूतसाध्याप्रसिद्धया विशेष्यीभूतधर्म्यप्रसिद्धया विशेषणविशेष्योभयाप्रसिद्धया च सम्भवतीति साध्याप्रसिद्धिः धर्म्यप्रसिद्धिः साध्याधर्म्युभयाप्रसिद्धिश्च अत एव पक्षाप्रसिद्धय इति बहुवचनम् कथमेवमित्याकाङ्क्षायामाह—**वाचोयुक्त्युपपत्तिभ्यां** दृष्टान्तदूषणामोहो न वचनमात्रेण हानिरपि न तथा, पक्षाप्रसिद्धिरपि नैवं, किन्तु वाचोयुक्त्या उपपत्त्या च कथाया तथा भाव्यते, **अत एव** वाचोयुक्त्युपपत्तिभ्यां दृष्टान्तदूषणामोहादिव्यवस्थापनादेव, **विपर्ययः** हेतुविपर्ययोऽहेतुर्भवति अनिष्टप्रतिपत्तेरित्यर्थः ॥२०॥

अनभ्युपगमो लोक-शास्त्र-धर्मविकल्पितः ।
सामान्याभ्युपपत्तिभ्यां न समोऽनिष्टकल्पनात् ॥२१॥

अनभ्युपगम इति । "लोक-शास्त्र-धर्मविकल्पितोऽनभ्युपगमः सामान्याभ्युपपत्तिभ्यां न समोऽनिष्टकल्पनात्" इत्यन्वयः । **अनभ्युपगमः** कथायां दोषतयोद्भावनीयोऽभ्युपगमः अस्वीकारस्त्रिविधि, **लोक-शास्त्र-धर्मविकल्पतः** लोकानभ्युपगमः शास्त्रानभ्युपगमो धर्मानभ्युपगमश्च वादिनोपदर्शितः कश्चिदर्थो लोकानभ्युपगमेन प्रतिवादिना दूष्यते यथा योऽयं भवतोपदर्शितः स लोकविरोधान्नाभ्युपगमार्ह इति, शास्त्रानभ्युपगमः भवतोपदर्शितोऽयं न भवदभ्युपगते शास्त्रे क्वापि समस्ति शास्त्रविरोधान्नैवसभ्युपगन्तु शक्य इति, धर्मानभ्युपगमः भवदभ्युपगतैतद्धर्मविरोधादयं धर्मो नाभ्युपगन्तुमर्ह इति, त्रिविधोऽप्ययमनभ्युपगमः, **सामान्याभ्युपपत्तिभ्यां न समः** सामान्येन समतया प्रत्यवस्थानलक्षणा या सामान्यसमा जाति अभ्युपपत्त्या प्रत्यवस्थानलक्षणाऽभ्युपपत्तिसमा जातिः तद्रूपो न, यतः **अनिष्टकल्पनात्** पराभीष्टस्यानभ्युपगमेनानिष्टकल्पन भवति किन्तु तदिष्टसिद्धिः प्रतिहन्यते, जात्युत्तरतश्च यथा तवेदं प्रसिद्ध्यति तथा तवानिष्टमपि स्यात्, यथा द्रव्यत्वसामान्यवता धूमेन पर्वते वह्निः साध्यते यथा द्रव्यत्वसामान्यवता जलेन वह्निः किं न साध्यते ? यथा यत्किञ्चिदुपपत्त्येदमत्र तवाभिमत तथा कस्याश्चिदुपपत्ते सद्भावादिदमपि तवाभिमतं किं न स्यादिति प्रस्थानभेदादनभ्युपगमो जात्युत्तरतश्च भिन्न एवेत्यर्थ ॥२१॥

सामान्योपपत्तिभ्यामनिष्टकल्पनमेव ग्रन्थकृत्प्रकारान्तरेणोपदर्शयति—

अन्योऽन्योभयसामान्यसर्वसङ्गविशेषतः ।
सामान्यघाततः सिद्धशास्त्रं लोकोपपत्तितः ॥२२॥

अन्योऽन्योभयेति । 'सिद्धशास्त्रिं लोको' इत्यस्यस्थाने 'सिद्धशास्त्रलोको' इति पाठो युक्तः । **अन्योऽन्योभयसामान्यसर्वसङ्गविशेषतः** अन्योऽन्य परस्परम् उभयस्ववादिप्रतिवाद्यापादितवाद्यनिष्टोभयस्य यत् सामान्यसर्वं निखिलं सामान्यं तस्य सङ्गविशेषतः सम्बन्धविशेषतः अनिष्टकल्पनादिति पूर्वपद्यादनुवर्त्तनीयं, **सामान्यघाततः** विरुद्धसामान्यसंसर्गविशेषतोऽभीष्टसामान्यहानात्, अनिष्टकल्पनादिति

सम्बद्धयते, एतावता सामान्यतोऽनिष्टकल्पनात् सामान्यतः प्रत्यवस्थानलक्षणा सामान्यसमा जातिः लोक-शास्त्र-धर्मविकल्पितोऽनभ्युपगमो न भवतीति प्रतिपादितं भवति, उपपत्त्याऽनिष्टकल्पनत उपपत्त्या प्रत्यवस्थानलक्षणोपपत्तिसमा जातिर्निरुक्तानभ्युपगमो न भवतीत्याह—**सिद्धशास्त्रलोकोपपत्तितः** सिद्धोपपत्ति-शास्त्रोपपत्ति-लोकोपपत्तिभ्योऽनिष्टकल्पनादुपपत्त्या प्रत्यवस्थानलक्षणोपपत्तिसमा जातिरुक्तानभ्युपगमो न भवति तत्र सिद्धा मन्त्रसिद्ध-तन्त्रसिद्धवचनसिद्धादिभेदेनानेकविधास्ते यथा वदन्ति तथा भवन्तीत्युपपत्त्याऽनिष्टकल्पनं, सर्वं सत्यं, सर्वं मिथ्या, सर्वं स्वप्नोपममित्याद्यनेकप्रकारोपदर्शकानि शास्त्राण्यनेकानि तदुपदर्शितोपपत्तितः किं न कल्पयितु शक्यमित्युपपत्त्याऽनिष्टकल्पनम्, तथा 'गतानुगतिको लोको न लोकः परमार्थिकः' इति लोका विभिन्नविचाराः तेषा स्वस्वमन्तव्यसमर्थनपरा उपपत्तयोऽनेकविधास्ताभिरनिष्टकल्पनमित्युपपत्त्याऽनिष्टकल्पनत उपपत्त्या प्रत्यवस्थानलक्षणोपपत्तिसमा जातिर्न भवत्युक्तानभ्युपगम इत्यर्थ ॥२२॥

सामान्येन प्रत्यवस्थानतोऽनिष्टकल्पनतो यथा सामान्यसमा जातिः या साधर्म्यसमा जातिः, तथा वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानतोऽनिष्टकल्पनतो वैधर्म्यसमा जातिरुक्तानभ्युपगमविलक्षणेत्याह—

अन्यथेति च वैधर्म्यमापत्तिव्यभिचारतः ।
प्रतिपत्तिविकल्पाच्च तत्सिद्धिः कृतसंभवात् ॥२३॥

अन्यथेति चेति । **अन्यथा च** सामान्येन प्रत्यवस्थानलक्षणप्रकारेण पुनरित्यर्थः, **वैधर्म्यम्** वैधर्म्यसमा जातिः वैधर्म्येण प्रत्यावस्थानतः किमनिष्टमित्याकाङ्क्षायामाह—**आपत्तिव्यभिचारतः** इति धूमो वह्निविधर्माऽपि यथा वह्नेर्गमकस्तथा जलादिरपि वह्निविधर्मा वह्निर्गमक स्यादित्यापत्ते', यथा च वह्निविधर्मा जलादिर्व्यभिचारान्न गमकस्तथा वैधर्म्याविशेषाद् धर्मादेरपि व्यभिचारादगमकत्व स्यात्, 'तत्सिद्धिः कृतसम्भवात्' इत्यस्य स्थाने **'तत्सिद्धिकृतसंभवात्'** इति पाठ' संभाव्यते । आपत्तिव्यभिचारतः आपत्तिव्यभिचारसिद्धिप्रयुक्तसभवो यस्य तस्मात्, **प्रतिपत्तिविकल्पाच्च** साध्यहेतुप्रतिपत्तयो विकल्पनतश्च किं धूमसामान्यज्ञानतो वह्निसामान्यस्य ज्ञान वह्निविशेषस्य वा ज्ञानं धूमविशेषज्ञानतो

वा वह्निविशेषस्य ज्ञान वह्निसामान्यस्य वा ज्ञान न तावद् धूमसामान्यज्ञानतो वह्निसामान्यज्ञानस्य ज्ञानं, व्याप्तिग्रहणस्यैव वह्निसामान्यज्ञानतया तस्य धूमज्ञान-कारणकत्वाभावात्, धूमसामान्यस्य वह्निविशेषव्यभिचारित्वेन धूमसामान्यज्ञानतो वह्निविशेषज्ञानमित्यपि न सभवतीति, धूमसामान्यवह्निसामान्ययोरेव व्याप्तिग्रहो न तु धूमविशेषवह्निविशेषयोरिति धूमविशेषज्ञानतो वह्निविशेषज्ञानमित्यपि न संभवति, वह्निसामान्यज्ञानं तु पूर्वमेव वृत्त न पुनस्तदुत्पादोऽभीष्ट इति धूमविशेष-ज्ञानतो वह्निमामान्यज्ञानमित्यपि न सम्भवतीत्येव प्रतिपत्तिविकल्पाच्चेत्यर्थः ॥२३॥

जात्युत्तरे किञ्चिद् वक्तव्यमुपदर्श्य निग्रहस्थानमधिकृत्याह—

पुनरुक्तमसंवद्धात् साम्यः सामर्थ्यदर्शनात् ।
मन्त्रवच्चेति नापार्थ्य प्रसङ्गानिष्टसिद्धयः ॥२४॥

पुनरुक्तमिति । 'साम्य· सामर्थ्यदर्शनात्' इत्यस्य स्थाने 'साम्यसामर्थ्य-दर्शनात्' इति पाठो युक्त , 'नापार्थ्यं प्रसङ्गानिष्टसिद्धय ' इत्यस्य स्थाने 'नापार्थ्य-प्रसङ्गानिष्टसिद्धय इति पाठो युक्त· । **पुनरुक्तम्** यत्र समानानुपूर्वीकं पदद्वयं वाक्यद्वय वाऽविभिन्नार्थक विभिन्नार्थबोधाजनक च तत्र पुनरुक्तनामक निग्रह-स्थान भवति, एव च **असंवद्धात्** पुनरुक्तयो पदद्वययोर्वाक्यद्वययोर्वा मध्ये एकं पदान्तरेण वाक्यान्तरेण वाऽन्वितार्थबोधजनकत्वात् सम्बद्धं तदन्यच्च पदान्तरेण वाक्यान्तरेण वाऽन्वितार्थबोधाजनकत्वादसम्बद्धं तस्मादसम्बद्धात्, **साम्यसामर्थ्यदर्शनात्** साम्य समानानुपूर्वीकत्वं, सामर्थ्यमन्वयबोधजनन-योग्यत्वं तयोर्दर्शनाद् उपलब्धः, पुनरुक्त पुनरुक्तनामक निग्रहस्थानं भवति, **मन्त्रवच्चेति** यथा मन्त्रे 'ठ. ठ स्वाहा, फट् फट् स्वाहा' इत्यादौ, तत्र समा-नानुपूर्वीकपदद्वयं सम्मिश्रणेऽपि पुण्यविशेषजनकत्वं तात्कालिकभूतप्रेत्याद्युपद्रवोप-शामकत्वतोऽपार्थकत्व न भवति, तथा **नापार्थ्यप्रसङ्गानिष्टसिद्धयः** पुनरुक्त-स्थलेऽपार्थकत्वप्रसङ्गो न सम्भवति समानानुपूर्वीकयोर्द्वयोरपि पदयोर्वाक्ययोर्वा सार्थकत्वस्य सद्भावात्, तत्रैकं सार्थकं तदन्यदपार्थकमिति विनिगमनाविरहेण विशिष्य दर्शयितुमशक्यत्वात्, अनिष्टस्य कस्यचिदपि सिद्धिर्न पुनरुक्तात्, अनयोरेकतरादेवा-भीष्टार्थस्य सिद्धेरन्यन्नेष्टसिद्धिनिबन्धनमिति सामान्यतः उपदर्शनसम्भवेऽपि विशेषतो

नोपदर्शयितुं शक्यं तावता वा मा भवतु नामेष्टसिद्धिः अनिष्टसिद्धिस्तु न कथमपीति पुनरुक्तमपार्थकादावन्तर्मुहूर्तमतिरिक्तनिग्रहस्थानं भवतीत्यर्थः ॥२४॥

पुनरुक्तवदायोज्यं हेतुवादान्तरोक्तये ।
समानीसङ्गसङ्कल्पं प्रश्नाकारणसिद्धयः ॥२५॥

पुनरुक्तवदिति । **पुनरुक्तवत्** पुनरुक्तं यथा नापार्थकादिरूपं तथापि कथायां निग्रहस्थानतयाऽऽयोज्यते, तथा हेतुवादान्तरोक्तये युक्तिवादान्तरोक्त्यर्थं प्रकृतवादादन्यो हेतुवादः प्रवर्त्ततामित्येतदर्थम् 'समानीसगसङ्कल्प' इत्यस्य स्थाने 'समानीताङ्गसङ्कल्पम्' इति पाठो युक्तः । **समानीताङ्गसंकल्पं** समीचीनतयाऽऽनीतमुपनीतमङ्गस्य वादाङ्गस्य प्रतिज्ञादेः सम्यक्प्रकारेण कल्पनं यत्र तथाभूतमित्यर्थः, **आयोज्यं** समन्ताद् योजनीयम्, किमायोज्यमित्याकाङ्क्षायामाह—**प्रश्नाकारणसिद्धयः** प्रश्नः पूर्वपक्षः अकारणसिद्धः अहेतुकनिर्णयश्च, प्रकृतकथाऽपरिसमाप्तावेव तदन्तराल एव प्रकृतानुपयुक्तार्थविषयकः प्रश्नः क्रियते निर्हेतुक एव कस्यचिदर्थस्य निर्णयः प्रतिपाद्यत इति वादान्तरस्यैवान्तराप्रवृत्तिः स्यात् न चेत्थमायोजनं किञ्चिदिष्टनिबन्धनं न वानिष्टसाधनमिति पुनरुक्तवदेव निग्रहस्थानान्तरमित्यर्थः ॥२५॥

तदभावात् प्रतिज्ञादि प्रत्येकं चानुपक्रमात् ।
कालप्राप्तिविकल्पाभ्यां सर्वसिद्धेश्च नार्थवत् ॥२६॥

तदभावादिति । 'तदभावात् प्रतिज्ञादि' एतत्स्थाने 'तद्भावाच्चेत् प्रतिज्ञादि' इति पाठो युक्तः । **तद्भावात्** अकारणसिद्धिभावात्, **चेत्** यदि, **प्रतिज्ञादि** प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनय-निगमनपञ्चकं, **प्रत्येकं** त्वं एकैकं च, **अनुपक्रमात्** संशयजिज्ञासाद्युपक्रममन्तरेणैव, स्यादिति शेषः, **कालप्राप्तिविकल्पाभ्याम्**—

"कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥"

इति वचनाद् यस्य यः कालः स तदा भवति नाकाले कश्चिज्जायते म्रियते वेति यद्यस्य कालः तदा कारणमन्तरेणापि स्यादेतत् यदि नास्य कालस्तदा कारणसहस्रेणापि न स्यादिति कालविकल्पः प्राप्तुं योग्योऽर्थः प्राप्यते, न प्राप्तुमयोग्योऽर्थः प्राप्यते इति प्राप्तुं योग्यश्चेत् प्राप्तिः स्यादेव, प्राप्तुमयोग्यश्चेत् कारण-

सहस्त्रेणापि न प्राप्यत एवेति प्राप्तिविकल्पस्ताभ्यां, **सर्वसिद्धेश्च** सर्वनिर्णयसंभवाच्च, **नार्थवत्** प्रतिज्ञादिकं न प्रयोजनवत्, प्रतिज्ञादिकमन्तरेणापि तत्साध्यस्य निर्णयस्य संभवादित्यर्थः ॥२६॥

अकारणनिर्णयभावश्च प्रकृतार्थलोपकार्यपि भवतीत्याह—

क्वचित् किञ्चित् कथञ्चिच्चेत्यनुषङ्गात् स लोपगः ।
कृताकृतविकल्पाभ्यां संशयप्रतिरूपतः ॥२७॥

क्वचिद् इति । स अकारणनिर्णयसद्भावः प्रतिज्ञायां, **क्वचिद्** इत्यनुषङ्गात्, **किञ्चिदेवम्** इति निर्णयः, **कथञ्चिच्चेत्यनुषङ्गात्** कथञ्चिदेवमिति निर्णयः, **लोपगः** प्रकृतार्थलोपं गच्छतीति प्रकृतार्थलोपकारीत्यर्थः पूर्वं क्वचिदित्यादिपदमनुपादायैव प्रतिज्ञा कृता, ततो वादिदूषणपरिहाराय क्वचिदित्यादिपदेन प्रतिज्ञार्थो विशेष्यते एवं सत्यन्य एव प्रतिज्ञातार्थोऽनुपक्रान्त एवातः स्यात् तन्निर्णयश्चाकारणको न नाम न स्यात् किन्तु यदर्थमियं कथाऽऽरब्धा सोऽर्थः प्रतिज्ञाबहिर्भूत इति न सिद्ध्येदिति भावः, **कृताकृतविकल्पाभ्यां संशयप्रतिरूपतः** संशयो यथा विरुद्धधर्मद्वयसम्मिलितस्तथाऽयमपीति संशयस्वरूपानुकारित्वात् प्रकृतार्थलोपग इत्यर्थः ॥२७॥

संशयप्रतिरूपत्वमेव प्रकारान्तरेण भावयति—

न नाम दृढमेवेति दुर्बलश्चोपपत्तितः ।
वक्तृशक्तिविशेषात् तु तत् तद् भवति वा नवा ॥२८॥

न नामेति । यत् प्रतिज्ञातं तद् **दृढमेव** बाधितुमशक्यत्वात् सुनिश्चितमेवेति, **न** नैव, **नामेति** कोमलामन्त्रणे, अकारणकनिश्चियाभ्युपगमे तद्बाधोऽप्यकारणकः स्यादेवेति, बाधे सति कथं दृढत्वम्, **उपपत्तितः** परवाद्युपन्यस्तबाधकयुक्तितः, **दुर्बलश्च** एवं सति यत् स्यात् तदाह—**वक्तृशक्तिविशेषात् तु** वक्तुरर्थव्यवस्थापनसामर्थ्यवैलक्षण्यात् पुनः, **तत् तद् भवति वा न वा** यद्यथाप्रतिज्ञातं तत्तथा भवति प्रतिवादिसामर्थ्यकुण्ठितसामर्थ्यात् तु तत्तथा न भवत्यपीत्येवं संशयप्रतिरूपत्वमित्यर्थः ॥२८॥

ननु गुरूपासनाध्ययनाध्यापनादिकं वादि-प्रतिवादिनोः समानमेवेति कथमेकस्य यथा सामर्थ्यविशेषस्ततोऽपकृष्टसामर्थ्यविशेषोऽन्यस्येत्याकाङ्क्षायामाह—

तुल्यसामाद्युपायेषु शक्त्या युक्तो विशेष्यते ।
विजिगीषुर्यथा वाग्मी तथा भूयः श्रुतादपि ॥२९॥

तुल्यसामाद्युपायेष्विति। **तुल्यसामाद्युपायेषु** सदृशसाम-दान-दण्ड-भेदलक्षणोपायेषु नृपेषु, **शक्तया** सामर्थ्येन, **युक्तः** अन्वितः, **विजिगीषुः** विजयाभिलाषी राजा, **विशेष्यते** अन्यनृपेभ्यो विशिष्टो भवति, **तथा** तद्वत्, **वाग्मी** वचनपटुः, **श्रुतादपि** अधीतागमादपि, **भूयः** बहु, विशिष्यते इत्यनुषञ्जनीयम्, अन्येभ्यो वादिभ्यो विशिष्टो भवति, गुरूपासनाध्ययनाध्यापनादीनामपि न वस्तुतः समानता, पुरुषविशेषाश्रयणेन तेषामपि वैलक्षण्यं भवत्येव तत्कृतं च वादिष्वपि श्रुतरहस्यावगमलक्षणसामर्थ्यविशेषो भवत्येव कस्यचिद् वादिनः यद्बलाद् कथायां विजयो भवति कस्यचिदेवेत्यर्थः ॥२९॥

येषु वादिषु सत्यवक्तृत्वं नास्ति ते कुटिलरूक्षवादिनः कौटिल्य-रौक्ष्यप्रभावादपि वादे विजयशीला इत्याह—

सर्वपक्षकर्णैस्तुल्यं वादिनः सत्यतां विना ।
समानाभ्युपपत्तिं च जिह्म-रौक्षायुधा ह्यमी ॥३०॥

सर्वपक्षकर्णैरिति । सर्वपक्षकर्णैः सर्वेषां पक्षाणां सत्कार्यासत्कार्यसदसत्कार्यादिवादानामशैः, **तुल्यं** समानं, **वादिनः** किञ्चित्किञ्चित्सर्ववादगतार्थमुपादाय वचनकुशलाः, **सत्यतां** स्वोक्तार्थसत्यतां, **विना** अन्तरेण, **च** पुनः, **समानाभ्युपपत्तिं** समानोपपादकयुक्तिं, विनेत्यनुषज्यते तत्तत्पक्षवाद्युपढौकितयुक्तिसदृशयुक्तिमन्तरेण, **हि** यतः, **अमी** वादिनः, **जिह्म-रौक्षायुधाः** कौटिल्यपारुष्यायुधाः कौटिल्येन पारुष्येण च वादि-प्रतिवादिनं जयन्तीत्यर्थः ॥३०॥

षण्णां वादच्छलानामाश्रयणेन वादी प्रतिवादिनं पराजयतीति वादच्छलज्ञानमावश्यकमित्याशयेन वादच्छलान्युपदर्शयति—

प्राश्निकेश्वरसौमुख्यं धारणा-क्षेपकौशलम् ।
सहिष्णुता परं धाष्टर्यमिति वादच्छलानि षट् ॥३१॥

प्राश्निकेति । **प्राश्निकेश्वरसौमुख्यं** प्राश्निकः वादि-प्रतिवाद्युभयमतज्ञाता मध्यस्थः योऽस्मिन् विषये त्वं प्रश्नं कुरु त्वं च तदुत्तरं विधेहि प्रश्नस्योत्तरे सम्यग् विहिते सत्युत्तरदातुर्जयोऽन्यथाप्रश्नकर्तुर्जय. अनेन नियमेन वादिना वक्तव्य प्रतिवादिना चानेन नियमेन वक्तव्यमित्यादिनियमनकर्त्ता, तस्य सौमुख्यं सम्मुखीनत्व प्राश्निकसौमुख्यम्, ईश्वर सभापतिः यो वादि-प्रतिवादिनोरन्येषा च सभोपविष्टाना विग्रह वारयति तस्य सौमुख्य सम्मुखीनत्वमीश्वरसौमुख्यम्, **धारणाक्षेपकौशलम्** धारणाकौशलम् आक्षेपकौशल च तत्र धारणाकौशलं परोक्तं यथार्थमयथार्थं वा सम्यगवधारयितु सामर्थ्यम्, आक्षेपकौशलम् परोक्तमाक्षेप्तुं सामर्थ्यम्, **सहिष्णुता** परोक्तनिन्दादिवचनसहनशीलता, तत्प्रभवक्रोधाभाव., **परं धाष्टर्यं** यथा तथा बहुवार निग्रहस्थानमुपगतोऽपि न स्वपक्षमत्यजन्नैव किञ्चित् किञ्चिद् वदत्येव धृष्टत्वम्, **इति एव, षट्** षट्सख्यकानि, **वादच्छलानि** वादे विजयसाधनानि छलानि कपटानि वादच्छलानि भवन्तीत्यर्थः ॥३१॥

कृतार्थाना मुनीना वैषयिककल्पितफलविमुखानां पारमार्थिकमुक्तिमात्रफलं सम्मुखीभूताना परानुग्रहार्थमुपदेशलक्षणवचनमेव तत्त्वनिर्णयजनकं वाद इत्युपदिशति—

किं परीक्ष्यं कृतार्थस्य किमेवेति च चक्षुषः ।
परानुग्रहसाधोस्तु कौशलं वक्तृकौशलम् ॥३२॥

किं परीक्ष्यमिति । "कृतार्थस्य किमेवेति च चक्षुषः किं परीक्ष्य परानुग्रहसाधोस्तु वक्तृकौशल कौशलम्" इत्यन्वय. । **कृतार्थस्य** अवाप्तसकलप्रयोजनस्य, **किमेवेति च चक्षुषः** च पुन., किमेव अनेन कि न किञ्चिद्दिष्टमनेन जयपराजयादिनेति, इति चक्षुष एवं पश्यत, **कि परीक्ष्यम्** परीक्षाप्रयोजनतत्वनिर्णयपरवादिविजयाद्याकाङ्क्षाभावान्न किञ्चित् परीक्ष्यं, तथा च वादकथाऽप्यस्य नावश्यकीति, तर्हि किं कर्त्तव्यमस्येत्याकाङ्क्षायामाह-**परानुग्रहसाधोस्तु** तु किन्तु, परानुग्रह साध्नोतीति परानुग्रहसाधुः परानुग्रहैकदत्तदृष्टिः तस्य, **वक्तृकौशलं** यादृगुपदेशेन परहितमवबुध्यते तथोपदेशनैपुण्यम्, **कौशलं** नैपुण्यं, तथा च नास्य कथायामप्रवृत्तस्य· प्राश्निकेश्वरसौमुख्य धारणाक्षेपकौशलमपेक्षित सर्वान् प्रत्य-

विशेषेणानुग्रहप्रवण प्रति न कस्यापि क्रोधाद्याविर्भावो न वा तत्प्रभव निन्दा-वचनादिकमिति तत्सहिष्णुता न संभविनी, नवा धाष्टर्यमिति न षण्णा वादच्छलानामाश्रयणमिति परानुग्रहसाधुर्महावीर उपास्य एव सर्वेषामिति स्तुतिरभिव्यज्यते ॥३२॥

न्याये षोडशतत्त्वमाम्ननन वादादिमात्राश्रित
नाशेषार्थविबोधकं भवति तद् गूढोक्तितो दर्शितम् ।
सम्यक्तत्त्वविवेकबोधरसिका जानन्त्विमा प्रक्रिया
वीरोक्ति परिभावयन्तु सततं भाव स्तवेऽस्मिन् परः ॥

इति द्वादश्या न्यायद्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ।

त्रयोदशी सांख्यप्रबोधद्वात्रिंशिका ।

भक्त्या श्रीनेमिसूरेर्जिनमतमननोद्बुद्धनीतिप्रपञ्चो—
धीतन्यायादिशास्त्राऽकलितबहुविधोद्गारतर्कप्रचार. ।
धीमान् लावण्यसूरिः स्तुतिगतविषयोल्लासनैकान्तबुद्धिः
वीरश्रद्धोपचित्यै स्तुतिविवृतिमिमा भावयत्येकचित्तः ॥ १ ॥

साङ्ख्याभिमत-तत्त्वोपदर्शनार्थां त्रयोदशीं द्वात्रिंशिकां श्रीसिद्धसेनदिवाकरो वीरस्तुतिरूपतया कुर्वन् प्रथमं पद्ययुग्मं ग्रन्थाति—

सन्नित्यकर्तृनानात्वप्रतिपक्षोभयात्मकम् ।
गुणधर्ममृषिर्नाना पश्यन्नेवात्मनो भवम् ॥१॥
स्व-परानुग्रहद्वारमतिरासुरये स्वयम् ।
तमुमा-वसुदेवाय तन्त्रार्थव्याससूरये ॥२॥

सन्नित्येति । **स्वपरेति च** । 'तमुमावसुदेवाय' इति द्वितीयपद्यतृतीयचरणस्थाने 'तमुपाख्यत् सुदेवाय' इति पाठो युक्त. । स्वपरानुग्रहद्वारमति ऋषिः नानाऽऽत्मनो भव पश्यन्नेव सन्नित्यकर्तृनानात्वप्रतिपक्षोभयात्मक गुणधर्मं तं स्वयमासुरये सुदेवाय तन्त्रार्थव्याससूरये उपाख्यत्'' इत्यन्वय । **स्वपरानुग्रहद्वारमतिः**, स्व च परं च स्व-परे तयोरनुग्रहे द्वारीभूता मतिर्यस्य स स्वपरानुग्रहद्वारमति· स्वस्य परस्य चानुग्रहो यथा स्यात्तथा तदुपायव्यापारपरायणमतिमान्, **ऋषिः** कपिलाख्यो महामुनि., **नाना**ऽनेकप्रकारम्, **आत्मनः** स्वस्य, **भवं** जन्मग्रहणं, **पश्यन्नेव** साक्षात्कुर्वन् एव, **सन्नित्यकर्तृनानात्वप्रतिपक्षोभयात्मकं** सदसन्नित्यानित्य-कर्त्रकर्तृनानैकत्वस्वरूप, **गुणधर्मं** सत्त्व-रजस्तमसां गुणाना धर्मम्, त स्वसाक्षात्कारविषयीभूतम्, **स्वयं** साक्षादेव न तु परम्परया, **आसुरये** आसुरिनाम्ने स्वान्तेवासिने, **सुदेवाय** सुष्ठु दिव्यतीति सुदेव· तस्मै, **तन्त्रार्थव्याससूरये** षष्टितन्त्रप्रतिपाद्यार्थविवेचनपण्डिताय, **उपाख्यत्** आख्यातवान्, कपिलो महामुनि शास्त्र स्वान्तेवासिने आसुरयेऽकथयत्, आसुरिश्च स्वान्तेवासिने पञ्चशिखाय कथितवान्, पञ्चशिखश्च साङ्ख्यशास्त्रं बहुधा कृतमिति द्योतनाय स्वयमित्युक्तम् ॥१॥२॥

इत्थमागतस्य साङ्ख्यशास्त्रस्य प्रतिपाद्यमुपदर्शयति—

सत्त्वादिसाम्यं प्रकृतिर्वैषम्यं महदादयः ।
परस्परात्मकेनोपद्रवकार्कश्यवृत्तिवत् ॥३॥

सत्त्वादिसाम्यमिति । सत्त्वादिसाम्यं प्रकृतिः सत्त्व-रजस्तमसां त्रयाणा गुणानां समताऽवस्था प्रकृतिर्जगतो मूलकारण, न सा कस्यचित् कार्यं किन्तु कारणमेवेति मूलप्रकृतिरित्युच्यते, न कस्यचिद् विकृतिरित्यविकृतिः, प्रधान-शब्दवाच्याऽपि सैव, **वैषम्यं** सत्त्वादिगुणत्रयाणां न्यूनाधिकमापलक्षणां विषमा-वस्थां, **महदादयः** महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय-मनः-पञ्च-भूतानीति, तत्र महान् बुद्धिरित्याख्यायते, महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि सप्ततत्त्वानि प्रकृतिविकृतयः, तत्र महान् मूलप्रकृतेर्विकृतिः अहङ्कारस्य तु प्रकृतिः, अहंकारश्च महतो बुद्धे. कार्यत्वाद् विकृति· पञ्चतन्मात्राणा कारणत्वात् प्रकृतिः पञ्चतन्मात्राणि चाहङ्कारस्य कार्यत्वाद् विकृतिः पञ्चभूतादीना कारणत्वात् प्रकृति इत्येव महदादि-सप्ततत्त्वानि प्रकृतिविकृतय·, पञ्चज्ञानेन्द्रियादिषोडशगणस्तु न कस्यापि तत्त्वा-न्तरस्य कारणमिति प्रकृतिर्न भवति, किन्तु अहङ्कारस्य कार्यत्वाद् विकृतिः, एवं सत्त्वादिगुणसाम्यतद्वैषम्यनिमित्तत्वप्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वगतप्रकृतिविकृति-भावविचारणा, पञ्चविंशतितमतत्त्वतया सम्मत पुरुषतत्त्वं तु न कस्यापि कारणं नवा कस्यापि कार्यमिति प्रकृति-विकृतिभिन्न तत्त्वान्तरं, तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

"मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नापि विकृतिः पुरुषः ॥१॥"

इति, पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्रशंसन्ति साख्याचार्या·—

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रत· ।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र सशयः ॥२॥" इति ।

सत्त्व-रजस्तमसा गुणानां विरुद्धस्वभावाना परस्परकार्यविघातकानां साम्य-मकिञ्चित् कार्य तत· स्यात्, वैषम्येऽपि यस्यैव गुणस्य प्राबल्य तस्यैवैकस्य

कार्यकारित्वं स्यादिति सर्वसम्मेलनमकिञ्चित्करमित्याशङ्काप्रतिविधानायाह—**परस्परात्मकेनेति** । 'उपद्रवकार्कश्यवृत्तिवत्' इत्यस्य स्थाने 'उष्णद्रवकार्कश्यवर्त्तिवत्' इति पाठो युक्तः । **परस्परात्मकेन** एकत्वसम्मिलनलक्षणपरस्परात्मकत्वेन, **उष्णद्रवकार्कश्यवर्त्तिवत्** उष्णस्वभावाग्निद्रवस्वभावतैलकार्कश्यस्वभावतूलैव त्रितयसम्मिलितवर्त्तिका यथा सन्निवेशविशेषप्रयुक्ता विरोधभावत एक प्रकाशकार्यकारिणी तथा सत्त्वादिगुणा अपि एकलोलीभावलक्षणपरस्परात्मकत्वेन त्यक्तविरोधाः प्रकृतिर्महदादिरूपा एककार्यकारिण इत्यर्थः ॥३॥

सत्त्वादिगुणाना विभिन्नस्वभावत्वमुपदर्शयति—

लाघवख्यातिसौख्यानि सत्त्वं दुःख-क्रिये रजः ।
तमोऽप्यद् बहिरन्तश्च तद्विकल्पोऽनिलादिवत् ॥४॥

लाघवख्यातिसौख्यानीति । लाघवख्यातिसौख्यानि सत्त्वं सत्त्वगुणः, लाघवस्वभावः, ख्यातिस्वभावः, सौख्यस्वभावश्च, **दुःख-क्रिये रजः** रजोगुणः दुःखस्वभावः, क्रियास्वभावश्च, **तमोऽन्यत्** तमोगुणः सत्त्व-रजःस्वभावभिन्नस्वभावः अलाघवाख्यात्यसौख्यस्वभावोऽदुःखाक्रियस्वभावश्च, **बहिरन्तश्च तद्विकल्पः** सत्त्व-रजस्तमसां विकल्पो बरिरन्तश्च भवति, **अनिलादिवत्** यथाऽनिलादीनां शरीरान्तस्तद्बहिश्च विकल्पो भवति तथा सत्त्वादीनामपीत्यर्थः । उक्तं च—

"सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चल च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥३॥" इति ॥४॥

साङ्ख्यमते प्रमाणं त्रिविधं प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति भेदात्, न तूपमानार्थापत्ती तयोरनुमाने अन्तर्भावादित्याशयेनाह—

श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमनुमानमनुस्मृतिः ।
कृत्स्नार्थसिद्धेर्नातोऽन्यच्छाब्दमात्मविशेषतः ॥५॥

श्रोत्रादिवृत्तिरिति । श्रोत्रादिवृत्तिः श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसन-घ्राणेन्द्रिय-प्रभवं ज्ञानं, **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षप्रमाणम्, **अनुमानमनुस्मृतिः** लिङ्ग-लिङ्गिव्याप्ति-स्मरणप्रभवं ज्ञानमनुमानप्रमाणम्, **कृत्स्नार्थसिद्धेः** प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सकलस्योपमानार्थापत्त्यादिगोचरस्यार्थस्य निर्णयात्, **अतोऽन्यन्न** प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नमुपमानार्थापत्त्यादिकं प्रमाणं न तत् किं शाब्दमपि न प्रमाणमत आह–**शाब्दमात्मविशेषतः** इति शाब्दं शब्दप्रभवं ज्ञानम्, आत्मविशेषतः आत्मनो यो विशेष आप्तत्वं ततो यः शब्दे विशेष आप्तोक्तत्वं तस्मात् प्रमाणम्, सर्गादावादिविद्वान् प्रादुर्भूतः कपिलो महामुनिः पूर्वकल्पाधिगतागममुच्चारयतु, न तु अभिनवं करोति सोऽयमनादिरागमः कपिलोक्तत्वमात्रेणादिमान्, प्रमाण तदुक्तम्—

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनञ्च ॥४॥" इति ।

प्रत्यक्षानुमानानधिगतार्थविषयकज्ञानजनकत्वेन चागमस्य प्रामाण्यं तदनुमतम्, तदुक्तम्—

"सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥५॥" इति॥५॥

यद्यप्यागमतोऽधिगतेऽर्थेऽनुमानमपि प्रवर्त्तत एवेत्यधिगतार्थविषयकत्वमागमस्य तथापि प्राथमिकागमप्रभवप्रवृत्तेरर्थवत्त्वात् संवादिप्रवृत्तिजनकत्वेनागमस्य प्रामाण्यमुद्धृतम् नागमादृतेऽनुमानं प्रथमतस्तथाभूतेऽर्थे प्रवर्त्तयितुमुत्सहते, पश्चात् तत्र प्रवर्त्तमानेऽनुमाने आगमोऽनुग्राहको भवतीत्यागममुखनिरीक्षकत्वमेवास्य, न तु स्वातन्त्र्येण तत्र तस्य प्रामाण्यमित्याशयेनाह—

**आदिशब्दात् प्रवृत्तीनामर्थवत्त्वादनुग्रहात् ।
परिणामविशेषाच्च गुणचैतन्यवृत्तयः ॥६॥**

आदिशब्दादिति । प्रवृत्तीनां स्वर्गाद्युद्देश्यकयागादिविधेयकप्रवृत्तीनाम्, **आदिशब्दात्** मूलकारणदर्श-पौर्णमासाभ्यां 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रौतवाक्यात्,

अर्थवत्त्वात् अदृष्टस्वर्गादिलक्षणप्रयोजनवत्वात् , अस्य गुणचैतन्यवृत्तयः इत्यनेनान्वय', तस्य गुणाना सत्वादिगुणानामूर्ध्वाधो-मध्यलोकादिगमनावस्थानकर्तृत्वादिलक्षणा वृत्तय· चैतन्यस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसाक्षित्वादिलक्षणावृत्तयश्च, भवन्तीति शेषः, प्रमाणतोऽर्थमवगम्य प्रवर्त्तमानस्य तदुद्देश्यफलमवश्य भवति तच्च यथा सम्पद्यते तथोपायश्च भवत्येव, तमन्तरेण फलानिष्पत्तेः–

"न हि यन्न दु खेन सम्भिन्न न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्व·पदास्पदम् ॥६॥"

इत्यादिलक्षणलक्षितं स्वर्गादिफल देशविशेषादिगमनादिकमन्तरेति भवति तादृशफलान्यथानुपपत्त्या गुणचैतन्यवृत्तय इति, प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति न्यायभाष्यमपि प्रवृत्तेः सवादित्वे प्रमाणस्यार्थवत्त्वात् प्रामाण्य प्रतिपादयति, प्रवृत्ते· सवादित्वाच्च स्वोद्देश्यार्थवत्त्वादेव निर्वहतीति, तत एव च इदं प्रमाण सवादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यनुमानं प्रामाण्यसाधकं प्रवर्त्तत इति, **अनुग्रहात्** अदृष्टफलकप्रवृत्त्युपष्टम्भकानुमानस्यादिशब्दादेवानुग्रहाद् अनुमानात् फलस्य सिद्धावपीदं फलमस्येति विशेषतः प्रतिपत्तिर्नादिशब्दादृते सम्भवति, सामान्यतोऽनुमान च शिष्टप्रवृत्तीना सफलत्वग्राहकमेव ।

"विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलाऽपि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नो दृश· ॥७॥"

इत्यादिवचनं सामान्यत फलानुमानं द्रढयति, **परिणामविशेषाच्च गुणचैतन्यवृत्तयः** अभ्यसितादादिशब्दाच्छ्रद्धादिपरिणामविशेषो भवति ततश्च निर्मलान्त·करणगुणवृत्तिरुपजायते तत एव च तत्त्वाभ्यासोऽपि सम्पद्यते न च स्वतोऽपरिणामिनोऽपि चैतन्यस्य गुणोपाधिकृतपरिणामविशेषतः केवलज्ञानलक्षणा वृत्तिरुपजायते, आदिशब्दादृते निर्मूलपरिणामविशेषो न भवत्येव, चैतन्य-गुणयोरन्योऽन्याभेदाध्यवसायादेव जायमानः परिणामविशेषश्चैतन्यस्यापि, दर्पणमालिन्यकृतमुखप्रतिबिम्बमालिन्यं बिम्बभूतमुखस्यापि मालिन्यं यथोपचाराद् गीयते, एवम्—

"तत्त्वाभ्यासान्नास्मि नामेनाहमित्यपरिशेषम् ।
"अविपर्ययाद् विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥८॥"

इति वचनादभ्यासकृता चैतन्यवृत्तिरनुमतैव, तच्च केवलज्ञानं सात्त्विकप्रधानाया बुद्धेरेव वृत्तिः पर बुद्धि-चैतन्ययोरभेदाध्यासाच्चैतन्यास्यापीति ॥६॥

परस्परविरुद्धस्वभावा अपि गुणाः पुरुषस्य बन्ध-मोक्षलक्षणफलसम्पत्तये चैतन्याभेदाध्यासात् परस्परमौदासिन्य विशेषपरिहारात्मकमासादयन्ति, फलं चोपभुङ्क्ते चेतनो न तु गुणाभोक्ता इति तेषा फलकर्तृत्वमङ्गाङ्गिभावेन सम्पद्यत इत्याह—

गुणौदासीन्यमन्योऽन्यं चैतन्यादधिकारतः ।
अभोक्तृत्वाच्च कर्तृत्वमङ्गाङ्गिपरिणामतः ॥७॥

गुणौदासिन्यमन्योऽन्यमिति । गुणौदासिन्यमन्योऽन्यं गुणानां सत्त्व-रजस्तमसामौदासीन्य विरुद्धकार्यकारणाप्रवृत्ति, अन्योऽन्यं परस्परं, **चैतन्यात्** चैतन्यारोपात्, **अधिकारतः** पुरुषस्य बन्धान्मुक्तिर्भवत्वितीच्छातः, **अभोक्तृत्वाच्च** अचेतनाना गुणाना भोक्तृत्वाभावाच्च, **कर्तृत्वं** फलानुकूलकृतिमत्त्वम्, **अङ्गाङ्गिपरिणामतः** सत्त्व-रजस्तमसा मध्ये एकस्याङ्गत्व गुणभावः अपरस्याङ्गित्व प्रधानभाव इत्येव परिणतिविशेषत, सर्वस्य प्रधानभावे परस्परविरोधात् कार्यकर्तृत्व न स्यात्, तथा सर्वस्य गुणभावे प्रधानस्य कस्यचिदभावादेव न कार्यकर्तृत्वं स्यात्, गुणप्रधानभावे तु प्रधानस्य कर्तृत्व स्यात् गुणप्रधानभावे तु प्रधानस्य कर्तृत्वसम्पत्तये गुणीभूता अन्ये तत्रोपकारमारचयन्तीति ॥७॥

भोक्तृतयोपगत. पुरुष एव कर्ताऽप्यस्तु कि गुणाना कल्पनयेत्यतः आह—

ऐक्यादकर्ता पुरुषः कर्ताऽधिष्ठानशक्तितः ।
स्वातन्त्र्यादुपलब्धेश्च कार्यस्तु गुणभोजनात् ॥८॥

ऐक्यादिति । **ऐक्यादकर्त्ता पुरुषः** सङ्घातस्यैव कार्यकर्तृत्वमिति ऐक्यादभेदादसघातरूपत्वात्, पुरुषश्चेतन अकर्त्ता कर्तृभिन्न न चैवमकर्तृचेतनाधिष्ठिता गुणा अपि कर्त्तारो न स्युरित्यत आह—**कर्त्ताऽधिष्ठानशक्तितः** चेतनाधिष्ठितोऽचेतनः कार्यं कर्तुं समर्थो न चेतनानधिष्ठित इति, अधिष्ठानसामर्थ्यात् कर्त्ताऽपि पुरुषः, तथा **स्वातन्त्र्यात्** स्वतन्त्रः कर्त्तेति पाणिनीया व्यवहरन्ति पुरुषोऽपि स्वतन्त्र इति स्वातन्त्र्यात् कर्ता पुरुष, **उपलब्धेश्च** चेतनोऽहं करोमीति

कर्तृबुद्धितादात्म्येन पुरुषस्य ज्ञानात् कर्तृबुद्धितादात्म्यारोपतश्च कर्त्ता पुरुषः, **कार्यस्तु गुणभोजनात्** तु पुनः, कार्योऽपि पुरुषः, गुणभोजनात् गुणफलसुख-दुःखाद्युपभोक्तृत्वात् , सुख-दुःखानाविर्भावसमये न तद्भोक्ता तदाविर्भावसमये तद्भोक्तेति पूर्वाभोक्तृस्वभावपरित्यागेन भोक्तृस्वभावतयोत्पादात् पुरुषः कार्योऽपि भवति, एतावताऽकर्तृकर्तृद्वयरूपः नित्यानित्योभयरूपो नानैकस्वरूपश्च पुरुष उपदर्शित इत्यर्थः ॥८॥

सत्त्वादिसाम्यं प्रकृतिर्वैषम्यं महदादय इति प्रागुक्तमतो वैषम्यकार्यमुपदर्शयति—

वैषम्यमात्रान्महतः कारणग्रामसंभवः ।
शब्दादयश्च व्योमादिविशेषास्तद्गुणात्मकाः ॥९॥

वैषम्यमात्रादिति । **महतः** बुद्धितत्त्वस्य, **वैषम्यमात्रात्** सत्त्वादिगुणानां वैषम्यमात्रात् , मात्रपदेनान्यनिमित्तव्यवच्छेदः महत इत्यहङ्कारादेरप्युपलक्षणं, प्रकृतिर्यद्यपि सात्त्विक राजस-तामसभेदभिन्नबुद्धिकारणं नान्तरेण सत्त्वादिवैषम्यस्य, तथापि वैषम्यदशायां सत्त्वादिसाम्यरूपायाः प्रकृतेः सद्भाव एव नास्ति कुतः सा वैषम्यतः कारणं भवेत् किन्तु वैषम्यस्यैवोत्तरकालीनस्य परिणामरूपस्य पूर्वकालीना प्रकृतिः परिणामिनी कारणमिति, प्रकृतिः रजस्तमसी अभिभूयोद्रिक्तसत्त्वरूपेण परिणममाना सात्त्विकबुद्धिः, सत्त्व-तमसी अभिभूयोद्रिक्तरजोरूपेण परिणममानसा राजसबुद्धिः सत्त्व-रजसी अभिभूयोद्रिक्ततमोरूपेण परिणममाना सैव तामसबुद्धिरिति, इत्थं व्यवस्थितस्वरूपास्तिस्रोऽपि बुद्धयः, सत्त्वप्रधानबुद्धिलक्षणगुणवैषम्यतः सात्त्विकाहंकारः, रजःप्रधानबुद्धिलक्षणगुणवैषम्यतो राजसाहंकारः, तमःप्रधानबुद्धिलक्षणगुणवैषम्यतस्तामसाहंकारः, सात्त्विकाहंकारलक्षणगुणवैषम्यतः पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय-मनोलक्षणसात्त्विकैकादशसमुद्भवः तामसाहङ्कारलक्षणगुणवैषम्यतः शब्दादितन्मात्रपञ्चकस्य तमःप्रधानस्याविर्भावः शब्दादितन्मात्रपञ्चकलक्षणवैषम्यतो व्योमादिपञ्चभूतस्योत्पत्तिरित्याशयेनाह—**कारण-ग्रामसम्भव** इति अहङ्कारपञ्चतन्मात्रस्वरूपविजातीयत्वादन्तःकारणसमूहस्य

सम्भवः, न कार्यमन्तरेण कारणस्वरूपतया कस्यचित् सम्भव इति एकादशेन्द्रिय-पञ्चभूतात्मकषोडशकार्यग्रामसम्भवोऽप्युलक्षितो भवतीति, तदुक्तम्—

"प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः तस्माद् गुणश्च षोडशः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चेभ्यः पञ्चभूतानि ॥९॥" इति ।

शब्दादयश्च शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्धा· पुनः, **व्योमादिविशेषाः** आकाशस्य वायु-तेजो-जल-पृथिवीनामन्यव्यावर्त्तकतयाऽसाधारणधर्माः, **तद्गुणात्मकाः** आकाशादिगुणात्मकाः, तत्र शब्दो व्योमगुण., स्पर्शो वायुगुणः, रूपं तेजोगुणः, रसो जलगुणः, गन्धः पृथिवीगुण:, अत्र पूर्वपूर्वगुण उत्तरोत्तरस्यापि उत्तरोत्तर-गुणश्च पूर्वेभ्यो व्यावर्त्तकत्वान्न पूर्वस्य, तेन शब्दगुणकमाकाशम्, शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणकं जलम्, शब्दरूप-रस-गन्धगुणा पृथिवीति बोध्यम् ॥९॥

ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं निरूपयति—

शब्दाद्यालोकसामर्थ्यं श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकम् ।
एतेनोक्ता विशेषाणां शब्दादिगुणभक्तयः ॥१०॥

शब्दाद्यालोकेति । **शब्दाद्यालोकसामर्थ्यम्** शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-प्रत्यक्षसामर्थ्यम्, **श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकम्** श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसन घ्राणेन्द्रियाणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, अत्र शब्दप्रत्यक्षकरणमिन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रियम्, स्पर्शप्रत्यक्षकरणमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम्, रूपप्रत्यक्षकरणमिन्द्रियं नयनेन्द्रियम्, रसप्रत्यक्षकरणमिन्द्रिय रसनेन्द्रियम्, गन्धप्रत्यक्षकरणमिन्द्रिय घ्राणेन्द्रियमिति, **एतेन** प्रतिनियतेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष-विषयत्वेन, **विशेषाणां** व्योमादिविशेषाणा, **शब्दादिगुणभक्तयः** आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः स्पर्शो गुण इत्याद्या विभागाः, **उक्ताः** कथिता इत्यर्थ ॥१०॥

कर्मेन्द्रियाणि निरूपयति—

वाक्यादानं गताऽऽनन्दत्यागान्यदुभयं विदुः ।
चैतन्यवद् देहवृत्तिः मनःसंवित्सुखादयः ॥११॥

वाक्यादानमिति । 'वाक्यादान गता' इत्यस्य स्थाने 'वाक्यादान-गता' इति पाठो युक्त । **वाक्यादानगतानन्दत्यागान्यद्** वचनग्रहणविहरणानन्दोत्सर्गाणि कर्माणि, तत्करणानि वाक् पाणि-पादोपस्थ-पायूनि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, क्रियया तत्करणस्याक्षेपाल्लाभः, तत्र वाक्यं वचनं वागिन्द्रियस्य कार्यम्, आदानं ग्रहणं पाणीन्द्रिस्य कार्यम्, गत विहरण पादेन्द्रियस्य कार्यम्, आनन्दः सुरत-प्रभवः उपस्थस्य योनि-लिङ्गात्मकेन्द्रियस्य कार्यम्, पुरीषोत्सर्गादिलक्षणत्यागाकर्म च पायो. कर्मेन्द्रियस्य कार्यमिति, अन्यत् निरुक्तज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियभिन्नं मनो-लक्षणमन्तःकरणम्, **उभयं** ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियोभयरूपम्, उभयात्मकमत्र मनः-सङ्कल्पकमिन्द्रिय च साधर्म्यादिति वचनात्, **विदुः** साङ्ख्याचार्या जानन्ति, मनः कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह—**चैतन्यवदि**ति, चैतन्य यथा सर्वगतमपि देह एव प्रकाश-भोगादिसम्भवतो देहे वर्त्तत इति व्यवह्रियते, तथा **मनःसंवित्सुखादयः** देह एव वर्त्तन्त इति, **देहवृत्ति** देहवर्त्तनक्रियाया एकत्वविवक्षयैकवचनम् ॥११॥

एतन्मते किं जीवन कश्च भव इत्याकाङ्क्षायामाह—

प्राणादाकरुणग्रामवृत्तिर्जीवनसंज्ञिका ।
तदभिव्यक्तिरन्यत्र बुद्ध्याशयवशाद् भवः ॥१२॥

प्राणादिति । 'आकरुण' इत्यस्य स्थाने 'आकरण' इत पाठो युक्त । **प्राणात्** प्राणोऽपानसमानोदान-व्यान-स्वरूपवायुपञ्चकमारभ्य, **आकरणग्राम-वृत्तिः** एकादशेन्द्रियसमूहस्य वृत्तिः, श्वासोच्छ्वासादिप्रत्यक्षादिवचनलक्षणा, आसमन्तात् प्राणादिकरणग्रामवृत्तिः जन्मन आरभ्यान्तिमश्वासप्रश्वाससमयव्यापिनी, **जीवनसंज्ञिका** जीवनशब्दाभिधेया, **तदभिव्यक्तिः** निरुक्तवृत्त्यभिवृत्ति., **अन्यत्र** मरणानन्तरोपादीयमानशरीरान्तरे, **बुद्ध्याशयवशात्** धर्माधर्मलक्षणो यो बुद्धेर्महत आशयस्तद्वशात् तद्बलात्, **भवः** ससारः जन्मेत्यर्थ ॥१२॥

शरीरे पृथिव्यादीना पञ्चानामप्युपकारदर्शनात् पञ्चभ्यो भूतेभ्यस्तदारभ्य इत्याह—

शरीरे धृति-संश्लेष-पक्ति-व्यूहावकाशतः ।
पृथिव्यादिसमारम्भः परिणामस्तु पूर्वयोः ॥१३॥

शरीर इति । **शरीरे** देहे, **धृति-संश्लेष-पक्ति-व्यूहावकाशतः** धृत्तिर्धारण स्थैर्यं पृथिव्या, सश्लेष· अवयवानां परस्परं सम्बन्धविशेष एक-पिण्डीभवनलक्षणो जलस्य, पक्ति भुक्त-पीतान्नपानादिपरिपाकस्तेजस , व्यूहः भुक्त-पीतादीनां परिणामानन्तरं रक्त-मास-धात्वादिपरिणामस्य यथास्थानावस्थान-लक्षण व्यूहनं वायो·, अवकाशः सुषिर· आकाशस्येत्यतः **पृथिव्यादिसमा-रम्भः** पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाशाना सम्यग्व्यापार·, एवं च पृथिव्या प्राधा-न्येन समारम्भत पार्थिव शरीरमिति, जलस्य प्राधान्येन समारम्भतो जलीय शरी-रमिति, तेजसः प्राधान्येन समारम्भतस्तैजस शरीरमिति, वायोः प्राधान्येन समारम्भतो वायवीय शरीरमिति, आकाशस्य तु सर्वत्रोपष्टम्भकत्वैव न प्राधान्य-मिति नाकाशीयं शरीरमिति, पाञ्चभौतिकं शरीरमिति तूपपद्चारतः सामूहिके आकाशीयत्वमपि, वस्तुतस्तु अहङ्कारपञ्चतन्मात्रपरिणामत्वादाहङ्कारिक शरीरमित्याह— **परिणामस्तु पूर्वयो·** साक्षात्-परम्परापरिणामिनोरहङ्कारतन्मात्रयोः परिणामः पुनः शरीरमित्यर्थ· ॥१३॥

प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इत्यादिरीत्या प्राकृतसृष्टे रूपवर्णनं विहितम्, अथ प्रत्ययसर्गमुपदर्शयति—

श्रोत्रादीनां मनोवृत्तिः प्रतिपत्तिस्वयोगतः ।
शान्तादिविविधोदर्कः प्रत्ययार्थः प्रवर्तते ॥१४॥

श्रोत्रादीनामिति । श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीन्द्रियाणा, **प्रतिपत्तिस्वयोगतः** प्रतिपत्त्या ज्ञानेन समं स्वस्य योगतः जन्य-जनकभावादिसम्बन्धतः श्रोत्रेन्द्रियजन्य-ज्ञानस्पर्शनेन्द्रियज्ञानादिरूपविषयप्राप्तितः, **मनोवृत्तिः** मनोरूपान्त.करणजन्य-ज्ञानकामादिलक्षणवृत्ति , **शान्तादिविविधोदर्कः** शान्तघमूढाद्यनेकप्रकार., **प्रत्ययार्थः** प्रत्ययसर्ग , **प्रवर्त्तते** जायते ॥१४॥

प्रत्ययार्थमेव दर्शयति—

सिद्धिरीहितनिष्पत्तिस्तुष्टिस्तद्देशवृत्तिता ।
अशक्तिः साधनाद्यानि वितथेष्टिविपर्ययः ॥१५॥

सिद्धिरीहितनिष्पत्तिरिति। **ईहितनिष्पत्तिः** ईहितस्य इच्छाविषयीभूतार्थस्य निष्पत्ति प्राप्तिः, **सिद्धिरिति** गीयते, सा अणिमा–लघिमाद्यष्टप्रकारा, **तुष्टिस्तद्देशवृत्तिता** यो यत्रैव तिष्ठति स तत्रैव सन्तुष्टो भवतीति तद्देश **एव** वर्त्तते, एवमेवाहं सुखेन वर्त्ते इति सन्तोषस्तुष्टिः सा नवप्रकारा, 'अशक्तिः साधनाद्यानि' इत्यस्य स्थाने 'अशक्तिः साधनादीनां' इति पाठो युक्तः । **साधनादीनां** करणादीनाम्, **अशक्तिः** सामर्थ्यप्रतिघातः अशक्तिः सा चाष्टाविंशतिभेदा, 'वितथेष्टिविपर्यय' इत्यस्य स्थाने 'वितथेष्टिर्विपर्ययः' इति पाठो युक्त । **वितथेष्टिः** यद्वस्तु यथा वर्त्तते तद्भिन्नप्रकारेण तस्याभ्युपगम. अज्ञान, **विपर्यय** इति व्यपदिश्यते, स च विपर्यय पञ्चप्रकार.—

"एष प्रत्ययसर्गो विपर्यय शक्तितुष्टिसिद्धाख्यः ।
गुणवैषम्य निमित्तस्तस्य तु भेदास्तु पञ्चाशत् ॥१०॥"

"पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥११॥"

इति वचनाभ्याम् ॥१५॥

सत्त्वादिगुणानां वैषम्यनिवन्धने स्वभावाधीनपुरुषार्थप्रवृत्ति-निवृत्त्याविर्भावतिरोभावगती प्रमातुं न कोऽपि शक्त इत्याह—

पुरुषार्थप्रवृत्तीनां निवृत्तीनां स्वभावतः ।
आविस्तिरोभाववती को गुणानां प्रमास्यति ॥१६॥

पुरुषार्थेति। **पुरुषार्थप्रवृत्तीनाम्** स्वर्गापवर्गादिलक्षणपुरुषार्थोद्देश्यकप्रवृत्तीनामित्यर्थः, **निवृत्तीनां** द्विष्टनरकादिनिबन्धनब्रह्महननादि विषयकनिवृत्तीनाम्, **स्वभावतः** स्वाभावादेव न त्वीश्वरप्रेरणया, यदुक्तम्–

"वत्स ! विवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥१२॥"

इति वचनात् । **आविस्तिरोभाववती** आविर्भाव-तिरोभावौ सत्कार्यवादिनस्तस्य मते उत्पादस्थाने आविर्भावस्य, विनाशस्थाने तिरोभावस्य स्वीकारात्, **गुणानां** सत्त्व-रजस्तमसां, **कः** कः प्रमाता, **प्रमास्यति** प्रमातुं शक्ष्यति, स्वभावतो जायमाना सत्त्व-रजस्तमोगुणप्रभवपुरुषार्थप्रवृत्ति-निवृत्त्याविर्भाव-तिरोभावावनल्पप्रकारौ प्रमातुं न कोऽपि प्रमाता शक्त इत्यर्थः ॥१६॥

अनादिसंचितकर्मणोऽप्युदयप्रभवफलोपभोगस्तिरोभावलक्षणप्रलयतस्तन्मुक्तिसुखाभिमानः पुरुषस्य भोक्तुः पाकाद्युपयुक्ताग्निसाधन-काष्ठप्राप्तिनिमित्तच्छिन्नवृक्षप्रभवानन्दानुभावो यथा पाचकादेरित्याह—

अनादिप्रचितं कर्म प्रलयान्त्यवपुर्मुखम् ।
प्रवृत्तौ तद्विधापायं छिन्नवृक्षप्रमोदवत् ॥१७॥

अनादिप्रचितमिति । **अनादिप्रचितम्** अनादिकालसञ्चितम्, **कर्म** पुण्यपाप-लक्षणम्, **प्रवृत्तौ** तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थप्रवृत्तौ सत्याम्, 'तद्विधापाय' इत्यस्य स्थाने 'तद्विधोपाय' इति पाठो युक्त । **तद्विधोपायं** प्रवृत्त्यादिप्रकारकफलनिष्पादनसाधनम्, **प्रलयान्त्यवपुर्मुखम्** विनाशपर्यन्तावस्थानप्रधानम्, यावत्तत्फलोपभोगार्थप्रवृत्तिरुपजायते तावत्कालपर्यन्तस्थायि, न चैवं स्वसञ्चितपुण्य-पापविनाशार्थ प्रवृत्तिरेव न सम्भवतीति चेत् ततः स्वस्वरूपचैतन्यवादी प्रत्याशाप्रभवानन्दतः प्रवृत्तिः यथास्वयमुप्तस्यापि वृक्षस्येन्धनार्थतस्तच्छेदने उत्तरकालीनपाकप्रभवोदनभक्षणप्रभवतृप्तिजन्यानन्दसम्भावनया प्रवृत्तिरित्याह–**छिन्नवृक्षप्रमोदवदि**ति छिन्नं वृक्षं येन स छिन्नवृक्षः पुरुषस्तस्य यथा प्रमोदस्तथेत्यर्थ. ॥१७॥

अनभिव्यक्तविद्यस्य विदुषस्तद्भवाञ्चितम् ।
यथाविधोदयापायि प्रचितावपि संक्रमः ॥१८॥

अनभिव्यक्तेति । **अनभिव्यक्तविद्यस्य** अनभिव्यक्ता अनाविर्भूता विद्या अन्तःकरणचैतन्यभेदज्ञानलक्षणा यस्य सः अनभिव्यक्तविद्यस्तस्य, **विदुषः**

चेतनस्य, **तद्भवाञ्चितं** तद्भवोपार्जित कर्म, तस्येति शेष., तस्य कर्मणः, **यथाविधोदयापायि प्रचितावपि** यथासमयफलदानसाम्मुख्यफलावाद्यनन्तरविनाशशालिकर्मसमूहेऽपि, **सङ्क्रमः** प्रवेशो भवति, तथा च जन्मान्तरसंचितकर्मणामुदयापायिनमुपभोगे तदपि कर्मोपभुज्यते, एवं चैकस्मिन्नेव जन्मनि पूर्वमनभिव्यक्तविद्यस्य पश्चाच्च ज्ञानिनो भवान्तरप्रचितकर्मोपभोगवत्तत्प्रचितिसक्रान्तवद्भवीयकर्मणोऽप्युपयोग इत्यर्थः ॥१८॥

अष्टविकल्पादेव इत्यादि साङ्ख्यमतमुपदर्शयति—

ब्रह्माद्यष्टविधं दैवं सत्त्ववृत्तिविशेषतः ।
मानुष्यं [? च] रजःशेषं स्वं वार्ततमसो जगत् ॥१९॥

ब्रह्माद्यष्टविधं दैवमिति ।

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा. ॥१३॥"

इति वचनात् । **सत्त्ववृत्तिविशेषतः** रजस्तमसी अभिभूय प्राधान्येन सत्त्वगुणपरिणामविशेषात्, **ब्रह्माद्यष्टविधं** ब्रह्माद्यष्टप्रकारं, **दैवं** देवलोकोद्भव, जगदित्यन्वय, **मानुष्य** मनुष्यलोकोद्भवं जगत्, **रजः** रजोवृत्तिविशेषोद्भवम्, **शेषं** दैव-मानुष्यावशिष्ट **जगत्**, **वार्त्ततमसः** वृत्तिविशेषावलीढतमोगुणस्य, **स्वं** निजं, तत्कार्यमिति यावत् ॥१९॥

बन्धस्य दक्षिणबन्धादिप्रभेद औपाधिक स्वाभाविकस्त्वेक एव बन्ध इत्याह—

अविद्यैकात्मको बन्धो गुणव्यापारलक्षणः ।
दक्षिणादिविकल्पस्तु बालिशप्रसभाङ्कुशः ॥२०॥

अविद्यैकात्मक इति । **अविद्यात्मकः** बुद्धिपुरुषयोर्भेदाख्यातिलक्षणस्तयोस्तादात्म्याध्यासलक्षणो वा, **बन्धः** पुरुषस्य सगादागाढगूढबन्धनम्, **गुणव्यापारलक्षणः** सत्त्वादिगुणत्रयव्यापारात्मक, **दक्षिणादिविकल्पस्तु** दाक्षिणकबन्धादिकल्पनप्रकारस्तु, **बालिशप्रसभाङ्कुशः** बालिशाना मूर्खाणा

प्रसभात् हठात् अङ्कुशः अङ्कुश इव, यथा दानमदमत्तो गजोऽङ्कुशेन स्ववशे स्थाप्यते तथा दक्षिणान्तकर्मादिना बालिशजनो नियन्त्रितो भवति यज्ञादिकर्माणि तत्फलाभिलाषेण व्यापृतो भवतीत्यर्थः ॥२०॥

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रत. ।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र सशयः ॥१४॥"

इति वचनाद् यस्मिन्नेकस्मिन्नप्याश्रमे वर्त्तमानस्य मनुष्याधन्यतमयोनिसमुद्गतस्य नानात्मज्ञानवादिनोऽपि नवग्रहाद्यन्यतमग्रहाकलितवत्तत्कर्मोपभोगभाजो धर्मध्यानाद्यारूढतमारूढान्त'करणवृत्तेर्मोक्षः स्यादेवेति साङ्ख्यगूढाशयाभिसन्धानमाश्रित्याह—

न ग्रहाः प्रतिबन्धाय नैकाग्र्यं वा प्रवृत्तये ।
तिर्यक्ष्वपि च सिद्ध्यन्ति व्यक्ता नानात्वबुद्धयः ॥२१॥

न ग्रहा इति । **ग्रहा** नीचस्थानस्थिता सूर्य-चन्द्रादय·, **प्रतिबन्धाय** मोक्षावाप्तिप्रतिबन्धनार्थं, **न** नैव भवन्ति, **वा** अथवा, **ऐकाग्र्यम्** एकस्मिन् विषये मनसः स्थिरीकरणम्, **प्रवृत्तये** मोक्षसाधननिष्पत्तिप्रयत्नाय, **न** न भवति, तत्र हेतुः **तिर्यक्ष्वपि च** चकारो हेत्वर्थे यस्मात् तिर्यग्गतिष्वपि कतिपये तिर्यञ्च., **व्यक्ता** आविर्भूताः, **नानात्वबुद्धयः** नाना आत्मान इत्याकारकबुद्धिमन्तः, **सिद्ध्यन्ति** सिद्धिं मुक्तिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२१॥

यस्य वैराग्य तस्य मुक्तिरिति वैराग्यमेव परमं मोक्षनिदान न तु पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानमित्याशङ्कानिवृत्तये त्वाह—

वैराग्यात् कारणग्रामे तन्निरोधे परिश्रमः ।
न ह्यहेतोर्निमीलन्ति पुरुषार्थोत्थिता गुणाः ॥२२॥

वैराग्यादिति । **वैराग्यात्** वैराग्यरूपकारणतः, 'कारण' इत्यस्य स्थाने 'करण' इति पाठो युक्तः । **करणग्रामे** बाह्यान्त करणसमुदाये, **तन्निरोधे** रागनिरोधे, **परिश्रमः** परितः सर्वतः श्रमो भवति तथा श्रमोऽतिकष्टसाध्यः अतो मुक्ति-

कारणतया पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानमन्तरेणैव वैराग्यं नोपादेयम्, तत्त्वज्ञानिनस्तु वैराग्यप्रयत्नोपनतमपि मुक्तावन्यथासिद्धमेव, तत्त्वज्ञानेनैव मुक्तेः संभवादित्यभिसन्धिः, स्वभावतः, करणग्रामतद्वृत्तिनिरोधो भविष्यतीति न तदर्थं परिश्रम इत्यत आह-**अहेतोरि**ति अहेतोः कारणमन्तरेण, **पुरुषार्थोत्थिताः** पुरुषोपभोगसम्पादनार्थमुद्यताः, **गुणाः** सत्त्वादयः, **न हि** नैव, **निमीलन्ति** विरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

अविद्यान्धकारसद्भावे ज्ञानादिकमप्यकिञ्चित्करमित्याह—

ज्ञान-प्रसादौ वैराग्यमित्यविद्यातमोजितम् ।
को हि रागो विरागो वा कुशलस्य प्रवृत्तिषु ॥२३॥

ज्ञानप्रसादाविति । **ज्ञानप्रसादौ** सत्त्वगुणोद्भवौ ज्ञानप्रसादौ, **वैराग्यं** सात्त्विकं वैराग्यम् इति एतत्त्रितयम्, **अविद्यातमोजितम्** अविद्यालक्षणान्धकारेण जितं पराजितं स्वकार्यसाधनाय नालम्, तत्र हेतुमाह-**को ही**ति हि यतः, **प्रवृत्तिषु** संसारोपादानकारणप्रयत्नेषु, **कुशलस्य** निपुणस्य, सततं संसारकारणमेवोपादानस्य, **रागः** विषयाभिलाषा, **वा** अथवा, **विरागः** अस्पृहा, **कः न** कश्चित् तस्मादविद्यान्धकारनिवर्त्तनमेव प्रथमतो न्याय्यं, तदन्तरेण ज्ञानादिकमकिञ्चित्करमेवेत्यर्थः ॥२३॥

अहमित्यभिमानपरित्यागे सत्येव केवलज्ञानतो मुक्तिर्न त्वहमित्याभिमानिनः तदानीं सत्त्वगुणसमुत्पत्तिमपि ज्ञानं न केवलज्ञानं, यतः—

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
विपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥१५॥"

इति साङ्ख्याचार्या इत्याशय हृदि निधायाह—

यावद् रजस्तमोवृत्तिमहमित्यवमन्यते ।
परिव्रजति सत्त्वं च तावत् तेष्वेव गण्यते ॥२४॥

यावदिति । **यावत्** यावत्काल, **रजस्तमोवृत्तिं** रजोगुणसम्पृक्ततमोगुणवृत्तिम्, **अहमि**ति अहमित्याकारिकाम्, **अवमन्यते** अभिजानाति, **च** पुनः,

सत्त्वं सत्त्वगुण, **परिष्वजति** आलिङ्गति, **तावत्** तावत्कालं, **तेष्वेव** अहङ्कार-वृत्तिप्रधानगुणेष्वेव, **गण्यते** गणितो भवति बद्ध एव तावन्न मुक्त इत्यर्थ. ॥२४॥

रजस्तमोगुणपरिणामभूतं क्षुन्निद्रादिक यथा न सम्यग्दर्शनोपयोगि तथा-न्यदपि रजस्तमोवृत्तमित्युपदर्शयति—

क्षुन्निद्राद्यनयोर्वृत्तमात्मभूतं विपश्चितः ।
न सम्यग्दर्शनोपायि तथाऽन्यदपि कोऽत्ययः ॥२५॥

क्षुन्निद्रादीति । 'क्षुन्निद्राद्यनयो' इत्यस्य स्थाने 'क्षुन्निद्राद्य यथा' इति 'क्षुन्निद्रावनयो.' इति वा पाठ· सम्भाव्यते । **यथा** क्षुन्निद्रादिक, **विपश्चितः** ज्ञानिनः, **आत्मभूतं** अनात्मा अप्यात्मतयाऽभिमन्यमानमात्मभूत, वस्तुगत्याऽ-नात्मस्वरूपं, **क्षुन्निद्राद्यनयोर्वृत्तमिति** पाठे क्षुन्निद्रादि अनयोः रजस्तमसो वृत्तं वृत्तिस्वरूप तथेत्युत्तरयोगाद् यथेति गम्य, 'न सम्यग्दर्शनोपायि' इत्यस्य स्थाने 'न सम्यग्दर्शनोपायम्' इति पाठो युक्त· । **न** नैव, **सम्यग्दर्शनोपायम्** सम्यग्दर्शनस्य साधन नवा सम्यग्दर्शनकारणकं, **तथा** तद्वत्, **अन्यदपि** तद्भिन्नमपि सत्त्वादिगुणवृत्त न सम्यग्दर्शनोपायम्, एतस्मिन् विषये, **कोऽत्ययः** किं वैषम्यम् न कोऽप्यत्यय इत्यर्थः ॥२५॥

केवलज्ञानलक्षणाऽऽत्मख्यातिर्यस्य कस्याप्युत्पद्यमाना सकृदपि मुक्तये प्रभ-वतीत्याह—

सदाचारप्रवृत्तस्य क्रूरक्लिष्टक्रियस्य वा ।
सकृच्चाभ्युदिता ख्यातिर्न च किञ्चिद् विशिष्यते ॥२६॥

सदाचारप्रवृत्तस्येति । **सदाचारप्रवृत्तस्य** शिष्टपुरुषाक्रियमाणसमी-चीनाचारे प्रवृत्तस्य, **वा** अथवा, **क्रूरक्लिष्टक्रियस्य** क्रूरा वध-बन्धनादि-लक्षणा क्लिष्टा अतिप्रयाससाध्या क्रिया यस्य स क्रूरक्लिष्टक्रियस्तस्य, **सकृच्च** एकवारमपि, **अभ्युदिता** उत्पन्ना, **ख्याति** प्रधानात्मनोर्भेदज्ञानं केवल-ज्ञानपर्यवसन्नम्, **न च** नैव, **किञ्चित्** किमपि,, **विशिष्यते** विलक्षणम्, किन्तु समानैवेत्यर्थः ॥२६॥

केवलज्ञानस्याविशेषेऽपि उपभोग्यानां कर्मणामसमानकालोपभोगादनानुरूपभोगवैचित्र्यात् तदर्थानां प्रवृत्तीनां वैचित्र्यमित्याशयेनाह—

शेषवृत्ताशयवशात् साम्यप्रकृतिभेदवत् ।
समानप्रतिबोधानामसमानाः प्रवृत्तयः ॥२७॥

शेषवृत्ताशयवशादिति । **शेषवृत्ताशयवशात्** शेषोऽवशिष्टो गुणः सत्त्वादिगुणपरिणामो यस्य स शेषवृत्तः, एवम्भूतो य आशयः आशेरतेऽस्मिन् फलानीति आशयो धर्माधर्मलक्षणः पूर्वसञ्चितः वर्त्तमानभवोपभोगार्हस्च तस्य वशात् अवश्योपभोगत्वलक्षणसामर्थ्यात्, **साम्यप्रकृतिभेदवत्** समस्वभावानामपि यथा स्वस्वकर्त्तव्यभेदात् भेदस्तथा, **समानप्रतिबोधानां** तुल्यज्ञानानाम्, **असमानाः** परस्परविलक्षणप्रकाराः **प्रवृत्तयः** चेष्टाः भवन्तीत्यर्थः ॥२७॥

केवलज्ञानिनोऽपि प्रारब्धशुभाशुभकर्मोपभोगविषयीभूतसुखमात्रत्वाद् दुःखमात्रत्वाद् वा शुद्धं सुखसम्भिन्नदुःखरूपं दुःखसम्भिन्नसुखरूपं श्लिष्टं वा निरीहस्य केवलिनोऽसम्भवात् किं न भवत्येव भवदपि गुणैकस्वरूपस्य पुरुषाद् भिन्नतयैवाधिगतस्य प्रधानपरिणामस्य महतोऽपि कृतार्थस्य तत्र सम्भवतीत्यत आह—

किमत्र शुद्धं श्लिष्टं वा किं वा कस्य प्रयोजनम् ।
कृतार्थानां गुणेष्वेव गुणानामिति जायते ॥२८॥

किमत्रेति । **अत्र** केवलिनि, **किं शुद्धं** किं सुखादिकं प्रयोजनं शुद्धम् अन्यामिश्रितम्, **वा** अथवा, **श्लिष्टं** अन्यसम्भिन्नं, **किं वा** अथवा किं स्वरूपम्, **कस्य प्रयोजनम्** पुरुषस्य गुणस्य वा प्रयोजनम्, अत्र सर्वत्र किं शब्द आक्षेपे, न कस्यचिद् किञ्चिच्छुद्धं क्लिष्टं वा प्रयोजनं वस्तुगत्या समस्तीति तदर्थं, किन्तु चक्रभ्रमिवत् कञ्चित् कालं संस्कारवशात् तत्प्रयोजनं गुणानामेव, **गुणेष्वेव** भवतीत्याह—**कृतार्थानामिति** पुरुषस्य बन्ध-मोक्षौ गुणानां कर्त्तव्यौ तौ सम्पन्नाविति कृतार्थानां **गुणानाम्, इति** एतस्मात् कारणात्, गुणेष्वेव चक्रभ्रमिवत् संस्कारवशाच्छुद्ध-श्लिष्टपरिणामं भवत्सु गुणेष्वेव, **जायते** शुद्धं क्लिष्टं वा प्रयोजनं जायत इत्यर्थः ॥२८॥

केवलज्ञानाविर्भावत. प्राक् यत् किमपि भवति तदविचारितरमणीयमित्याशयेनाह—

भयं संबोधनं लिङ्गं किशोरप्राजनो यमः ।
न हि विज्ञान-चैतन्यनानात्वं प्राक् समिध्यते ॥२९॥

भयमिति । **भयं** शत्रुतो भयं, व्याघ्रादितो भयं, यमाद् भयमित्येव भयम्, **संबोधनम्** गुरुणा शिष्यस्य संबोधनम्, मित्रादिना सह सलापादिक च, **लिङ्गं** स्त्री-पु-नपुंसकेतिविविक्तलिङ्ग, **:किशोरप्राजनो यम**· बालक्रीडासदृशक्रीडो मृत्युः, **विज्ञान-चैतन्यनानात्वं** विज्ञानस्य चैतन्यस्य च परस्परं भेद., **प्राक्** पूर्वावस्थायां केवलोत्पत्तितः प्रागिति यावत्, **न हि समिध्यते** समिद्धो न हि भवति, अत्र न हीति काक्वा समिध्यत एव किन्तु केवलज्ञाने सति भयादिकं सर्वं विलीयत इत्यर्थ· ॥२९॥

केवलज्ञानोत्पत्तित· पूर्वं यः कश्चित् केवलशब्देनोच्यते स केवलाविर्भावानन्तरं नश्यत्येवेत्याह—

यस्तु केवलवाचादौ यायादृष्टार्थविक्रमैः ।
विकृष्टेषुरिव क्षिप्तः तमोऽम्भसि स नश्यति ॥३०॥

यस्त्विति । 'याया' इत्यस्य स्थाने 'माया' इति पाठो युक्त. । **मायादृष्टार्थविक्रमै**· माययाऽविद्ययाऽज्ञानेन दृष्ट· अवलोकित. अर्थविक्रम. अर्थाना विषयाणा पराक्रमो यैस्ते मायादृष्टार्थविक्रमा· तै, **आदौ** केवलज्ञानात् प्रथमम्, **केवलवाचा** केवलशब्देन, **तमोऽम्भसि** अज्ञानरूपपयसि, **यस्तु** यः कश्चित् पदार्थ, **क्षिप्तः** अय पदार्थ केवलशब्दवाच्य इत्येवं निर्णयलक्षणक्षेपविषय कृतः, **स** कल्पितोऽर्थ, **विकृष्टेषुरिव** विशेषेण शरासनाकृष्टो बाणो यथाऽतिदूर गत्वा पतति तस्यादर्शनमेव नाशः तथा, **नश्यति** केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्या सोऽर्थो न भवत्येव केवलवाच्य इत्यर्थः ॥३०॥

साङ्ख्यमतमुपहसन्नाह—

अहो दुर्गा गुणमतिः दुर्गं मोक्षाय नाम यत् ।
कथञ्चिदेव मुञ्चन्ति स्वपन् मन्दाभिसातिकः ॥३१॥

अहो इति । **अहो** इति आश्चर्ये, **दुर्गा** दुःखेनावाप्तुं शक्या, **गुणमतिः** सत्त्वादिगुणज्ञानम्, **नामेति** कोमलामन्त्रणे, **यत्** यस्मात्, **मोक्षाय** मोक्षाधिगतये, **दुर्गम्** दुर्गमिव यथा नृपः पुराणा प्रतिपक्षनृपप्रवेशप्रतिबन्धाय चतुर्दिक्षु परिखामिधेयखातं दुर्ग भवति तथा मोक्षस्य ज्ञप्त्यधिगतिप्रतिबन्धाय गुणमतिरिति, अतः **कथञ्चिदेव मुञ्चन्ति** मुक्ता भवन्ति, "स्वपन् नन्दाभिसातिक" इत्यस्यार्थो न ज्ञायते विचारणीयोऽयं पाठः ॥ ३१ ॥

साङ्ख्यमतमुपसंहरति—

चक्षुर्यत् पुरुषो भोक्ता बन्ध-मोक्षविलक्षणः ।
कृतार्थैः संप्रयुक्तोऽपि शून्य एव गुणैरिति ॥३२॥

चक्षुर्यदिति । चक्षुर्यत् चक्षुर्यथा साक्षात् पश्यदालोचयत्येव केवलम्, न तु सकल्प विकल्पादिकं करोति तथा, **पुरुषः** कूटस्थनित्यचेतनः, **भोक्ता** बुद्ध्युपनीत सुख-दुःखादिक भुङ्क्ते न तु ममेद सुखमित्याद्यध्यवस्यते, यतः **बन्ध-मोक्षविलक्षणः** बन्ध-मोक्षाभ्या विलक्षणः न बद्धो नापि मुक्तः, यदुक्तम्—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न संसरति नापि मुच्यते पुरुषः ।
ससरति मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥१६॥" इति ।

कृतार्थैः कृतो निष्पादितः अर्थः पुरुषस्य विषयोपभोगविवेकख्यातिलक्षणो यैस्ते कृतार्थाः तैः, यदुक्तम्—

"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यदा नृत्यात् ।
पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः ॥१७॥
प्रकृतेः सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनपथमुपैति पुरुषस्य ॥१८॥" इति ।

गुणैः बुद्ध्यात्मकतया परिणतैः सत्त्व-रजस्तमोभिः, **सम्प्रयुक्तोऽपि** संबद्धोऽपि पुरुषः, यद्यपि मुक्तिदशायां बुद्धिः प्रकृतौ लीयते तथापि केवलिनः प्रारब्धकर्मोपभोगसम्पत्तये संस्काररूपेणावतिष्ठत एव, अथवा मुक्तावपि समतयाऽवस्थितैः प्रकृतिस्वरूपैर्गुणैः संबद्धोऽपि, **शून्य एव** सर्वप्रकृतिविकाररहित एव यदुक्तम्—

"पृष्ठा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजन नास्ति सर्गस्य ॥१९॥" इत्यादि ।

इति त्रयोदशस्तुतिः परिसमाप्ता ॥३२॥

साङ्ख्यै. पल्लवितं मत जिनमते एकान्तताऽमिश्रित
स्यात्कारेण विशेषित यदि तदा मानं सुमान्य सताम् ।
स्यादर्थाघटितं पुनर्व्यवहृतेरेवोपजातं नयात्
एतन्मूलकृतो मते तत इय वीरस्तुतिस्तत्त्वत ॥२०॥

इति त्रयोदशी श्रीसाङ्ख्यप्रबोधद्वात्रिंशिकास्तुतिव्याख्या ।

चतुर्दशी वैशेषिकद्वात्रिंशिका ।

ये ये वार्णप्रकारा निज परमतयोस्तत्त्वबोधप्रगल्भाः
ते नून श्रीजिनास्योदितनयविषयोल्लासनार्थे प्रवृत्ताः ।
तस्मादेकान्तपङ्काकलुषितधिषणैस्तत्त्वत स्तूयमानं
श्रीवीर नौमि भक्त्या स्तुतिविवृतिरतोऽहं स्वबोधैकचित्तः ॥१॥

वैशेषिकमतोपदर्शिका चतुर्दशीं द्वात्रिंशिकामारभमाण स्तुतिकारः तन्मते कार्यसामान्यकारण तावदवधारयति—

धर्माधर्मेश्वरा लोकसिद्ध्यपायप्रवृत्तिषु ।
द्रव्यादिसाधनावेतौ द्रव्याद्या वा परस्परम् ॥१॥

धर्माधर्मेश्वरा इति । **लोकसिद्ध्यपायप्रवृत्तिषु** लोक्यते अवलोक्यते इति लोको घटादि तस्य सिद्धिरुत्पाद अपायो विनाशस्तद्विषयकव्यवहारेषु भाग्योदयोदय सुखहेतुर्मम समुत्पन्न. अकाल एवायमभाग्योदयाद् विनष्टः, ईश्वर एव यथेच्छति तथा कस्यचिदुत्पादो विनाशो वा भवतीतीश्वर एव कार्यजातस्योत्पादे विनाशे च कारणमित्यादिषु लोकानामुत्पाद-विनाशव्यवहारेषु, **धर्माधर्मेश्वराः** धर्मः सुखतन्निमित्तजनकमदृष्टं यद्भाग्य दैवमिति च कथ्यते, अधर्मो दु.खतन्निमित्तजनकमदृष्ट यदभाग्य दैवमिति च व्यवह्रियते, ईश्वरो नित्यज्ञानेच्छायत्नवान् विश्वकर्त्ता एते प्रसिद्धा इति शेष , तत् किं कार्यमात्रोत्पाद-विनाशयोरेते एव साधनं किं वाऽन्यदपीत्यकाङ्क्षायामाह—**द्रव्यादिसाधनावेतौ** द्रव्यादिसाधन कारण ययोस्तौ द्रव्यादिसाधनौ द्रव्यादिकारणकौ, एतौ सिद्ध्यपायौ उत्पाद-प्रलयाविति यावत्, तथा च धर्माधर्मावदृष्टतया ईश्वरश्च कर्तृतया कार्यसामान्ये साधारणकारणम्, द्रव्यादिक चासाधारणकारणम् , साधारणकारणत्व च कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वम् , असाधारणकारणत्व च कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वमिति विवेक', **वा** अथवा, **द्रव्याद्याः** द्रव्य-गुण-कर्माणि, **परस्परं** अन्योऽन्यं कारणं, द्रव्यस्य जन्यस्य कारणं गुण जन्यस्य गुणस्य कारण द्रव्यं, कर्मणः कारण द्रव्यं गुणश्च कर्म च गुणस्य संयोगादेः कारणमित्यर्थ. ॥१॥

द्रव्य-गुणादिकं कया रीत्या कारणमित्याकाङ्क्षायामाह—

द्रव्यमाधारसामर्थ्यात् स्वातन्त्र्यसंभवाद् गुणः ।
आनन्तर्याद् गुणेष्वेव कर्मेत्यारम्भनिश्चयः ॥२॥

द्रव्यमिति । **द्रव्यं** पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाश-काल दिगात्म-मनोभेदेन नवविधम्, **आधारसामर्थ्यात्** निराधारं कार्यं नोत्पद्यत इति यत् किमपि कार्यं तत् कस्मिन्नप्याधार एवोत्पद्यते भावकार्यमात्रं समवायेन द्रव्य एवोत्पद्यत इति भावकार्यमात्रस्य समवायेनाधारो द्रव्यमिति आधारस्याधिकरणस्य कार्यं प्रति सामर्थ्यात् तथा च समवायसम्बन्धावच्छिन्नभावकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतालक्षणसमवायिकारणत्वात् समवायिकारणं द्रव्यमिति एवं चावयविद्रव्यं घटादि अवयवद्रव्ये कपालादौ समवायेनोत्पद्यत इत्येवं द्रव्यस्य द्रव्यं कारणं, तथा रूपादयो गुणाः समवायेन स्वाधारे पृथिव्यादौ द्रव्ये समुत्पद्यन्त इति पृथिव्यादिद्रव्यं स्वीयरूपादिगुणानां समवायिकारणम्, एवं कर्मापि समवायेन पृथिव्यादिद्रव्य एव समुत्पद्यत इति पृथिव्यादिद्रव्यं स्वगतकर्मणः समवायिकारणमिति, **गुणः** रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व संयोग-विभाग-परत्वापरत्व बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्माधर्मशब्दभेदेन चतुर्विंशतिभेदो गुणः, स च **स्वातन्त्र्यसम्भवात्** कारणं जन्यद्रव्ये असमवायिकारणविधया अनन्यथासिद्धत्वलक्षणस्वातन्त्र्यसम्भवाद् अवयवद्रव्यसंयोगलक्षणो गुणः कारणम्, पाकजरूप-रस गन्ध-स्पर्शेषु अग्निसंयोगः कारणम्, अपाकजरूप रस गन्ध स्पर्शेष्ववयविगतेषु अवयवगतरूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः कारणानि, एवमन्यगुणेष्वपि जन्येषु गुणा अन्यथासिद्धत्वलक्षणस्वातन्त्र्यात् कारणानि, तत्रासमवायिकारणत्वं समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायस्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वे सत्यात्मविशेषगुणभिन्नत्वम्, ज्ञानाद्यात्मविशेषगुणानां कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति किन्तु निमित्तकारणत्वमेवेत्य समवायिकारणत्वलक्षणे तद्भिन्नत्वमुपात्तम्, **आनन्तर्यात्** संयोगविभागाद्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वात्, 'गुणेष्वेक०' इत्यस्य स्थाने 'गुणेष्वेव०' इति पाठः समीचीनः। **गुणेष्वेव कर्मेत्यारम्भनिश्चयः** एवकारेण कर्मणो व्यवच्छेदः, 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते' इति सूत्रेण द्रव्यस्य द्रव्यारम्भ-

क्त्वम् 'गुणाश्च गुणान्तरम्' इति सूत्रेण गुणस्य गुणारम्भकत्व वैशेषिकाभिमतम् 'कर्म कर्मसाध्य न विद्यते' इति सूत्रेण कर्मण. कर्मारम्भकत्वं निषिद्धमित्याशयेनैव-कारोपादानं, गुणेष्वेव संयोग-विभागलक्षणगुणेष्वेव कर्म उत्क्षेपणाक्षेपणाकुञ्चन-प्रसारण-गमनभेदेन पञ्चविध कर्म कारणम्, इति एवम्, आरम्भनिश्चयः द्रव्य-गुण-कर्मणामारम्भकत्वस्य निर्णय ॥२॥

यदि कर्म न कर्मारम्भकं तर्हि इषोराद्यं कर्म हस्तसंयोगादितो भवतु नाम द्वितीय-तृतीयादिक यावल्लक्ष्यप्राप्तिजनकं कुत. स्यादित्याह आह—

संस्कारेण तदापेक्ष्यमेकद्रव्यक्षणस्थितिः ।
कर्म कार्यविरोधि स्यादुभयोभयथा गुणः ॥३॥

संस्कारेणेति । **संस्कारेण** येन स्थितिस्थापकभावनाभेदात् त्रिविधः संस्कारः तत्र भावनाख्यसंस्कार आत्मवृत्तिः उपेक्षानात्मकनिश्चयप्रभवः अनुभव-व्यापारतया स्मृतिजनक', स्थितिस्थापकसंस्कारश्च कटादिपृथिवीवृत्तिः वेगाख्य-संस्कारश्च पृथिवी-जल-तेजो वायु-मनोवृत्तिरिति प्रकृते वेगाख्यसंस्कारेण, **तदापेक्ष्यं** तत् कर्म, आसमन्ताद् अपेक्ष्यम् अपेक्षणीयं, यद्यपि द्वितीय-तृतीयकर्मादिकं वेगाख्यसंस्कारादेव भवति तथा वेगाख्यसंस्कार एव तावन्न भवेद् यावत् तत् कारणीभूतं कर्म न स्यादित्याद्यकर्म हस्तादिसंयोगप्रभव ततो वेगाख्यसंस्कारस्ततो द्वितीयं कर्म ततो वेगाख्यसंस्कार इत्येव शरपातपर्यन्त सान्तरितकर्मवेगधारा प्रवर्त्तत इति कर्मण. कर्मानारम्भकत्वेऽपि न द्वितीयादिकर्मानुपपत्ति, ननु हस्तादिसंयोगादुत्पन्न कर्मैव शरस्यालक्ष्यप्राप्तिमनुवर्त्तत इति द्वितीयादिकर्माभावात् तदारम्भविचारो नादरणीय इत्यत आह—**एकद्रव्यक्षणस्थितिः** अत्र 'स्थिति.' इत्यस्य स्थाने 'स्थिति' इति पाठो युक्त'। एकद्रव्यक्षणयोः स्थितिर्यस्य तदेक-द्रव्यक्षणस्थिति, गुणेषु रूपादयो गुणा एकस्मिन् द्रव्ये वर्त्तन्ते द्वित्वादिसंख्याद्धि पृथक्त्वादिसंयोग-विभागादयश्चानेकद्रव्यवृत्तय, कर्म त्वेकमेकस्मिन्नेव द्रव्ये वर्त्तत इत्येकद्रव्यस्थिति, गुणेषु रूपादयो न क्षणस्थितिकाः, किन्तु कियत्कालस्थितिका नित्याश्च योग्यविभुविशेषगुणाः शब्दज्ञानादय एव क्षणिकाः कर्म त्वखिल क्षणि-कमिति क्षणस्थिति, क्षणस्थितिकत्व प्रकृते न स्वोत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षण-

वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व बौद्धसम्मतम्, एकक्षणमात्रस्थायित्वस्य वैशेषिकमते कुत्रा-प्यनभ्युपगमात्, प्रथमक्षणे कर्म, ततो द्वितीयक्षणे विभागः, ततस्तृतीयक्षणे पूर्वसंयोगनाशः ततश्चतुर्थक्षणे उत्तरसंयोगः ततः कर्मनाशः इति स्वोत्पत्तिपञ्च-मक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं स्वकार्योत्तरसंयोगोत्पत्त्यधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगित्वपर्यवसित क्षणिकत्व कर्मणः, एत्र च हस्तसंयोगादिप्रभवाद्यक्षणकर्मणो क्षण-लक्ष्यप्राप्तिकालपर्यन्तस्थायित्व.सभवाद् द्वितीयादिकर्माभ्युपगम आवश्यक इत्यर्थः, ननु भवतु कर्मैकद्रव्यक्षणस्थितिक तदेवोत्तरसंयोगानन्तरं कर्मान्तरमुत्पाद्य विनश्यतीति किं वेगाख्यसंस्कारस्य तत्कारणतया परिकल्पनेनेत्यत आह–कर्मेति कार्यविरोधिविनाशकं यस्य तत् कार्यविरोधि कर्म, **स्यात्** भवेत् उत्तरसंयोगलक्षण-कार्येण कर्मावश्य विनश्यतीति न तदनन्तर ततः कर्मान्तरसम्भव., कर्मणश्च कर्मान्तरं प्रति प्रतिबन्धकत्वमेवोपेयत इति न कर्मसद्भावक्षणेऽपि कर्मान्तरो-त्पत्तिसम्भव इत्यर्थ, गुण· किमेकद्रव्यक्षणस्थितिः किं वाऽनेकद्रव्यक्षणस्थितिः, तथा, **कार्यविरोधि** कार्यविरोधि किं वा कार्याविरोधीत्याकाङ्क्षायामाह–**उभयो-भयथा गुणः** उभयस्य एकद्रव्यक्षणस्थितिकार्यविरोधीत्युभयस्योभयथा एकद्रव्य-क्षणस्थित्यनेकद्रव्यक्षणस्थित्युभयप्रकार· कार्यविरोधि-कार्याविरोधीत्युभयप्रकारः, **गुणः** यथा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शैकत्व-सङ्ख्या-परिमाणैकपृथक्त्वैकपरत्वैकापरत्वबुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न गुरुत्व-द्रवत्व–स्नेह-संस्कार-धर्माधर्मशब्दाः एते गुणा एकैका एकद्रव्यस्थितय, द्वित्वादिसङ्ख्या द्विपृथक्त्वादिसंयोग-विभाग–द्विपरत्वापरत्वानि एते गुणा अनेकद्रव्यस्थितय, योग्यविभुविशेषगुणाः क्षणिका अन्ये गुणा अक्ष-णिकाः योग्यविभुविशेषगुणाः कार्यविरोधिन अन्ये कार्याविरोधिन इत्यर्थः ॥३॥

वैशेषिकसूत्रे द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष समवायाना षण्णां पदार्थाना कण्ठतः साक्षात् तत्त्वतयाऽभिधान सप्तमस्त्वभावपदार्थ. साक्षात् तत्त्वतया नोक्तः किन्तु कारणाभावात् कार्याभावः इत्यादिसूत्रत आक्षेपाल्लभ्यते इति तत्र त्रयाणा द्रव्य-गुण-कर्मणा भावना सामान्यत कृता, चतुर्थसामान्यपदार्थ भावयति—

अन्यतोऽन्येषु सापेक्ष्यस्तुल्यप्रत्ययदर्शनात् ।
द्रव्यादिभावः सत्तादिर्मध्यत्वावृत्तिलक्षणम् ॥४॥

अन्यत इति । "तुल्यप्रत्ययदर्शनाद् द्रव्यादिभाव· सत्तादिरन्यतोऽन्येषु सापेक्ष्यः मध्यत्वावृत्तिलक्षणम्" इत्यन्वय. । कार्यकारणभावावच्छेदकतया सामान्यं सिद्ध्यति यथा कार्यत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वाद्या या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना यथा दण्डादिनिष्ठकारणता घटादिनिष्ठकार्यता निरूपिता दण्डत्वाद्यवच्छिन्नेत्येवमनुमानेन द्रव्यत्वादिजाति. सिद्ध्यति एव तृणादिनिष्ठकारणता निरूपितकार्यतावच्छेदकतया वह्न्यादिगताना वह्नित्वावान्तरसामान्यत्रयाणां सिद्धि., यतो वह्निसामान्यं प्रति व्यभिचारेण तृणादीना कारणत्वं न सम्भवतीति, पारिमाण्डल्यभिन्नानामेव गुणाना केषाञ्चिदसमवायिकारणत्वं केषाञ्चिन्निमित्तकारणत्वम् अन्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैव कारणताया. कार्यताया वाऽवच्छेदकत्वमिति गुणत्वं न कस्या अपि कारणताया· कार्यताया वा अन्यूनानतिप्रसक्तमिति न कारणतावच्छेदकतया कार्यतावच्छेदकतया वा गुणत्वजातिः सिद्ध्यति, किन्तु चतुर्विंशतिगुणेषु या गुणशब्दप्रवृत्तिस्तन्निमित्ततया गुणत्वजाति. सिद्ध्यति, प्रवृत्तिनिमित्तत्व च वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वमिति अनुगतप्रत्यय विषयतया च जातिः सिद्ध्यति, यथा विभिन्नाकारेषु प्रत्ययेषु अयं घटोऽयं पटोऽयं मठ इत्यादिषु विभिन्ना घट-पट-मठादयो विषया तथा द्रव्यं सत्, गुण सन्, कर्म सदिति तुल्य सत्सदिति प्रत्ययो व्यक्तीना द्रव्य-गुण-कर्मणा भिन्नत्वेऽपि भवतीति तद्विषयम् एकं सामान्यमभ्युपेयमिति सत्तासामान्यसिद्धिः एव घटत्व-पटत्वादिद्रव्यत्व-गुणत्वादिजातीना सिद्धिस्तुल्यप्रत्ययविषयतयेत्यभिसन्धानेनाह—**तुल्यप्रत्ययदर्शनात्** सन् सन्नित्येकाकारप्रतीतिदर्शनात् , तादृशप्रतीतेरनुभूयमानत्वेनापलापो न शक्यते कर्तुमित्यावेदनाय दर्शनपदोपादानं, **द्रव्यादिभावः** द्रव्यादीनां द्रव्य-गुण-कर्मणा तदवान्तरव्यक्तीना पृथिव्यादि-रूपाद्युत्क्षेपणादीना च भावः सामान्यम् , **सत्तादिः** सत्ता-द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व पृथिवीत्वादि-रूपत्वादि-उत्क्षेपणत्वादिः, एतेन सामान्यं त्रिविध परसामान्यमपरसामान्यं परापरसामान्यं चेति तत्र परत्वमधिकदेशवृत्तित्वं सर्वापेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्ता द्रव्य-गुण-कर्मव्यापिनी परसामान्यम् , अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्व सर्वापेक्षयाऽल्पदेशवृत्तित्वाद् घटत्व-पटत्वादिकमपरसामान्य, किञ्चिदपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्व-किञ्चिदपेक्षयाऽल्पदेशवृत्तित्वाभ्या

द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकं परापरसामान्यं द्रव्यत्वं हि पृथिवीत्वाद्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्ति, सत्तापेक्षयाऽल्पदेशवृत्ति च भवति, एवं पृथिवीत्वादिकं घटत्वाद्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्ति द्रव्यत्वाद्यपेक्षयाऽल्पदेशवृत्ति च भवतीत्यादि वैशेषिकप्रक्रियाऽवसेया, ननु द्रव्यं सदिति बुद्धिरेकद्रव्यव्यक्तिमुपादायोपपद्यमानानुगतबुद्धिः तत् कथं तुल्यप्रत्ययदर्शनमत आह–**अन्यतोऽन्येषु सापेक्ष्यः** इति सत्तादिर्भावः अन्यतः द्रव्यभिन्नगुणादिषः अन्येषु गुणादिभिन्नद्रव्यादिव्यक्तिषु सापेक्ष्यः द्रव्ये सद्बुद्धिः गुणादिष्वपि सद्बुद्धिरित्येवं नानाद्रव्य-गुण-कर्मव्यक्तिषु सद्बुद्धिर्यदि भवेत् तदैव सदंशमुपादायानुगतबुद्धिस्ततः सा सत्तैकविषया सती सत्ता जातिसाधिका, गुणादिषु सद्बुद्धिर्यावन्न भवति तावद् द्रव्यमात्रे सा भवन्ती न द्रव्य-गुण-कर्मव्यापिन्याः सत्तायाः साधिका, एवमेकद्रव्ये इदं द्रव्यमिति प्रतीतिर्न नवद्रव्यानुगतद्रव्यत्वसाधिका, किन्त्वेकस्मिन् द्रव्ये इदं द्रव्यमिति तथाऽपरस्मिन्नपि द्रव्ये इदं द्रव्यमिति तदा तुल्यप्रत्ययदर्शनमिति ततो द्रव्यत्वसिद्धिरित्येवं घटत्वादिरप्यतोऽन्येषु सापेक्ष्य इति, अथवाऽनुगतबुद्धिरतद्व्यावृत्तिविषयकत्वेनैवोपपद्यते किं जातिकल्पनया तद्यथा इदं सदिदं सदित्यनुगतबुद्धिः सद्भिन्नभिन्नत्वविषयिणी एवम् घटोऽयं घटोऽयमित्यनुगतबुद्धिर्घटभिन्नभिन्नत्वविषयिणीत्येवं सर्वानुगतबुद्धेरतद्व्यावृत्तिविषयकत्वेनैवोपपत्तौ किं जातिकल्पनयेति बौद्धाशङ्काप्रतिविधानायाह–अन्यतोऽन्येषु सापेक्ष्य इति इयं गौरियं गौरित्यनुगतबुद्धिविषयो गोभिन्नभिन्नत्वं यदि गोभिन्ननिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत्त्वं तदा गोभिन्नाश्वनिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत्त्वस्य घटादिष्वपि भावात् तत्रापीयं गौरितिप्रतीतिः स्यात्, यदि च गोनिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वं तदा यत्किञ्चिद् गोनिष्ठप्रतियोगिताकभेदवत्त्वस्य चालनीन्यायेन गोमात्रे सत्त्वात् तस्य केवलान्वयित्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाप्रसिद्ध्या गव्यप्ययं गौरित्यनुगतप्रतीतिर्न भवेत्, यदि च गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वं तदा तत्रापि गोत्वं यदि गोभिन्नभिन्नत्वं तदोक्तदोषभयात् तद्गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमेव वक्तव्यमित्यनवस्था, तद्भवाद् विधिरूपमेव गोत्वं तत्प्रविष्टमुपेयमिति, अन्यतो गोभिन्नतो भिन्नेषु अपेक्ष्यो योगो भेदस्तेन सहितो गोत्वादिरिति सापेक्ष्य इत्यकामेनापि परेण गोत्वादिविधिरूपोऽभ्युपेय इत्यर्थः।

ननु विभिन्नदेशस्थितगवादिव्यक्तिषु वर्त्तमानो गोत्वादिरन्तरालेऽपि घटादौ वर्त्तेत तथा च तत्रापि गवादिव्यवहारः स्यादत आह—**मध्यत्वावृत्तिलक्षणमिति** अत्र 'मध्यस्थावृत्तिलक्षणम्' इति पाठो युक्तः । तस्य मध्यस्थावृत्तिलक्षणं भवति विभिन्नदेशव्यवस्थितगवादिव्यक्तिष्वेव गोत्वादिर्वर्त्तते नान्तरालदेशेष्विति न तत्र गवादिव्यवहारप्रसङ्गः। ननु यदि सर्वदेशवृत्तित्वं सामान्यस्य नोपेयते तदा गोत्वरहिते देशे उत्पद्यमानायां गवि गोत्वस्य वृत्तिरेव न घटते, अन्यदेशावस्थितगोव्यक्तिवर्त्तमानं गोत्वं न तां परित्यज्यात्रागच्छति तथा सति तस्या व्यक्तेरगोत्वप्रसङ्गः न च सामान्यस्य गमनमपि स्वीक्रियते, तद्देशस्य गोत्वप्रसङ्गभयात् तद्देशे गोत्वमासीदेवेत्युपगमोऽपि न सम्भवति, तथा गोव्यक्त्या समं तदानीं गोत्वमप्युत्पन्नमित्यपि न वक्तुं शक्यं तस्य नित्यत्वैकत्वयोरुपगमात्, न चांशवत्त्वं तस्य समस्ति येनैकस्यापि तस्यैकांशे नैकव्यक्तावन्यांशेनान्यव्यक्तावस्थितिः स्यात्, सांशत्वं चावयविद्रव्यत्वाभावान्न सम्भवत्यपि, पूर्वाधारं परित्यज्योत्तराधारावृत्तित्वे च पूर्वव्यक्तेरगोत्वप्रसङ्गो दुष्परिहर इति, तदुक्तम्—

"नायाति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं नवांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥२॥"

इति चेत्, न, जातेरन्तरालदेशे समवायेनैवावृत्तेरुपगमात् स्वरूपसम्बन्धेन जातीनां सर्वदेशवृत्तित्वं तेनान्तरालदेशेऽप्यस्त्येव जातिः तस्य सम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वान्न तेन सम्बन्धेन जातेरन्तरालदेशे व्यवहार इति नायातीत्यादि पराक्षेपानवकाश इति, अनुगतप्रतीतिनियामकतया सामान्यपदार्थव्यवस्थितौ व्यावृत्तिलक्षणभेदनिबन्धनतया विशेषपदार्थसिद्धिरप्याक्षेपाल्लभ्यत इति विशेषपदार्थानभिधाननिबन्धनमूलान्यूनत्वदोषानवकाशः विशेषपदार्थसिद्धिस्त्वेवम् वस्तूनां भेदनिबन्धनं विरुद्धधर्माध्यासः घट-पटादीनां घटत्व-पटत्वादिलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाद् घटः पटाद् भिन्नः पटावृत्तिघटत्ववत्त्वात् पटो घटात् भिन्नो घटावृत्तिपटत्ववत्त्वादित्यनुमानेन घट-पटादीनां भेदः सिध्यति घटत्वाद्येकैकजातीयानां घटादीनां स्वासाधारणजातीयाद् भेदो भिन्नावयवारभ्यत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात् यथाऽयं घटः एतस्माद् घटाद् भिन्नो भिन्नकपालारभ्यत्वादित्येवं द्व्यणुकपर्यन्तं परस्परं भेदः सिद्ध्यति निरवयवानां परमाणूनामन्येषामप्यसाधारणजातीयानां नित्यद्रव्याणां च

स्वासाधारणजातीयपरमाण्वादितो भेदो विभिन्नविशेषलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात् सिद्धयति अय परमाणुरेतस्मात् परमाणोर्भिन्नो भिन्नविशेषादित्यनुमानमत्र, विशेषास्तु नित्यद्रव्यगताः प्रतिव्यक्तिभिन्ना अनन्तास्ते स्वत एवान्योऽन्यं व्यावृत्ताः अनवस्थाभयात् तेषु विशेषान्तरानभ्युप्यगमात् जातिमता परमाण्वादीना किञ्चिद्धर्मेणैव व्यावृत्तिरिति नियमाच्च स्वतो व्यावृत्तिर्न सभवतीति ईदृशविशेषपदार्थाभ्युपगन्तृत्वादेव काणादाना वैशेषिक इति सज्ञेति, समवायपदार्थस्त्वग्रेमूलकृता व्यक्तिकृत एव, कण्ठतस्तु कणादेन षण्णा भावानामेवाभिधानं कृतमिति तदनभिधानेऽपि न न्यूनत्वम्, द्रव्यादिषट्कान्योऽन्याभाववन्तश्चाभावाः प्रागभाव-ध्वंसात्यन्ताभावान्योऽन्याभावाश्चत्वारः, तत्रानादि सान्तोऽभावः प्रागभावः, सादिरनन्तोऽभावो ध्वंसः तावुभौ प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्ती, कपाले घटो भविष्यति, कपाले घटो नश्यतीत्येव तयोरनुभवात्, तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽत्यान्ताभावः, प्रागभाव-ध्वसात्यन्ताभावाना संसर्गाभावतयोपगमान्नित्यससर्गाभावोऽत्यन्ताभाव इत्यपि तल्लक्षणं सम्भवति, तस्य प्रतियोगिना सम विरोधः संयोगेन घटवति भूतले संयोगेन घटो नास्तीति प्रतीत्यभवात्, तादात्म्यसम्बन्धविच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योऽन्याभावः, तस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन सह विरोधः घटो न घट इत्यप्रतीतेः, पटो न घट इत्येवं तत्प्रतीतेरिति बोध्यम् ॥४॥

प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरिति सर्वतन्त्रसिद्धान्त यतश्चार्वाकोऽपि पृथिव्यादिभूतचतुष्टयवादी प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं स्वीकरोत्येव, ततो वैशेषिक प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयं स्वीकरोति शब्दोपमानयोरनुमानगतार्थत्वेन न पृथक् प्रामाण्यम्, तत्र प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम्, इन्द्रियाणि च घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्र-मनोभेदेन षड्विधानि, तेषामर्थेन सह सन्निकर्षो लौकिकभेदेन द्विविधः, तत्र लौकिकसन्निकर्षः संयोग-सयुक्तसमवाय सयुक्तसमवेतसमवाय-समवायसमवेतसमवाय-विशेष्य-विशेषणभावभेदेन षड्विध, तत्र चक्षुस्त्वग्-मनोभि द्रव्यप्रत्यक्ष सयोगाद् भवति चक्षुर्घ्राण-रसन त्वग्-मनोभिर्द्रव्यसमवेतप्रत्यक्ष संयुक्तसमवायाद् भवति, एभिरेव पञ्चभिर्द्रव्यसमवेतसमवेतप्रत्यक्ष सयुक्तसमवेतसमवायाद् भवति, श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दप्रत्यक्ष श्रोत्रसमवायाद् भवति, श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दसमवेतशब्दत्वादिजातिप्रत्यक्ष श्रोत्रसमवेतसमवायाद् भवति, येनेन्द्रियेण यस्य भावस्य प्रत्यक्षं

तदभावस्यापि तेनेन्द्रियेण प्रत्यक्षमिति तत्प्रत्यक्ष विशेष्य-विशेषणभावसन्निकर्षाद् भवति, तत्र द्रव्यवृत्त्यभावप्रत्यक्षमिन्द्रियसयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेण द्रव्यसमवेतवृत्त्यभावप्रत्यक्षमिन्द्रियसयुक्तसमवेतविशेषणतया भवतीत्यादिर्विशेष्य विशेषणभावस्य बहवः प्रकारा ज्ञेया', विशेषणतात्वस्यैक्यात् तेषामेकतया गणनमिति प्राचा षोढा सन्निकर्ष इति प्रवादो न व्याहन्यते, एतन्मते समवायस्यातीन्द्रियत्वात् तल्लौकिकप्रत्यक्ष न भवति, यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षे सत्येव इति नियमस्याश्रयणात्, एतन्नियमानभ्युपगन्तृन्यायमते तु समवायस्यापि प्रत्यक्ष भवति तदपि विशेष्य-विशेषणभावादेवेति, एतद् षड्विधलौकिकसन्निकर्षप्रभवं प्रत्यक्षं लौकिकप्रत्यक्षमिति गीयते, अलौकिकसनिकर्षस्तु सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षण-योगजभेदेन·त्रिविध , एकघटव्यक्तिलौकिकप्रत्यक्षानन्तरं सकलघटानां घटत्वेन प्रत्यक्षं यद् भवति तत्रेन्द्रियसम्बन्धघटविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूत घटत्वसमान्यं प्रत्यासत्तिः, घ्राणेन्द्रियजन्यगन्धप्रत्यक्षानन्तरं चक्षुषा सुरभिचन्दनमिति प्रत्यक्ष भवति तत्र सौरभगन्धमान सौरभज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण, योगिनामैन्द्रियकातीन्द्रियभूतभाविवर्त्तमानसकलपदार्थविषयक सर्वप्रत्यक्ष योगाभ्यासकजनितधर्मविशेषलक्षणयोगजसन्निकर्षेणेति, अनुमान पुनः साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्ष इति परामर्शजनितं, पक्ष' साध्यवानिति ज्ञानमिति तद्द्विविधज्ञानोपदर्शनायाह—

प्रत्यक्षविषयाख्यातिस्तत्संबन्धि विरोधि वा ।
अस्त्येवमिति तुल्यन्वेत्यनुमान विधा त्रिधा ॥५॥

प्रत्यक्षविषयाख्यातिरिति । अत्र 'प्रत्यक्ष विषयाख्यातिः' इति पाठो युक्त । "विषयाख्याति' प्रत्यक्ष तत्सम्बन्धि वा विरोधि अनुमानं एवमस्तीति तुल्यन्वेऽपि विधा त्रिधा" इत्यन्वय' । **विषयाख्यातिः** विषयस्येन्द्रियसम्बद्धार्थस्य, आसमन्तात् ख्याति स्पष्टज्ञानमिति यावत् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमा, तत्करणमिन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः, **तत्सम्बन्धि** प्रत्यक्षसम्बन्धि प्रत्यक्षविषयविषयकमिति यावत्, **वा**कार समुच्चयार्थकः, तस्य पुनरित्यर्थ, **विरोधि** प्रत्यक्षविरोधि, अनुमानस्य प्रत्यक्षविरोधश्च विभिन्नविषयकत्व, तेन प्रत्यक्षाविषयविषयकमित्यर्थः, **अनुमानं** अनुमितिप्रमातत्करणं व्याप्तिज्ञानमनुमानप्रमाण, तस्य

एवमस्तीत्याकारसाम्येऽपि **विधा** प्रकारः, **त्रिधा** त्रिप्रकारमनुमानमित्यर्थं, 'तुल्दत्वेत्यनुमानं' इत्यस्य स्थाने 'तुल्यत्वेऽप्यनुमान' इति पाठो युक्तः, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेत्येवं त्रिधानुमानम्, तत्र कारणेन कार्यानुमानं पूर्ववत्, कार्येण कारणानुमानं शेषवत्, कारण-कार्यभिन्नलिङ्गेनानुमानं सामान्यतो दृष्टम्, अथवा केवलान्वय्यनुमान-केवलव्यतिरेक्यनुमान अन्वय-व्यतिरेक्यनुमान चेत्येवमनुमानस्य त्रैविध्यमित्यर्थं ॥५॥

अतीन्द्रियाणा परमाणूना पृथिव्यादिनानाजातीयाना पाकजगन्धादिगुणवता साधनायेदमाह—

संयोगजत्वात् कार्यस्य कारणं परमाणवः ।
दृष्टवन्नैकजातीयास्तेषां सन्त्येव पाकजाः ॥६॥

संयोगजत्वादिति । "कार्यस्य सयोगजत्वात् परमाणवः कारणं दृष्टवत्, एकजातीया· न, तेषा पाकजाः सन्त्येव" इत्यन्वय ।·**कार्यस्य** अवयविद्रव्यस्य, **संयोगजत्वात्** अवयवद्वयादिसयोगजन्यत्वात्, सामान्यतः समवायेनावयविद्रव्यं प्रति समवायेनावयवसयोगोऽसमवायिकारणम्, विशेषतस्तु समवायेन घटत्वावच्छिन्न प्रति समवायेन कपालद्वयसयोग· कारणम्, एव समवायेन पटत्वावच्छिन्न प्रति समवायेन तन्तुद्वयादिसयोग कारणमित्यादि एवं च घटस्य कपालद्वयसयोग कारण, कपालस्य कपालिकाद्वयसयोग· कारणमित्येव द्व्यणुकस्य परमाणुद्वयसंयोगोऽसमवायिकारण, समवायेन कार्यं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन यत् कारण तत्र वर्तमान सत्कारणमसमवायिकारणमिति द्व्यणुकलक्षणकार्यस्य परमाणव समवायिकारणमित्याह—**कारणं परमाणव** इति ते च परमाणव, **एकजातीया** असाधारणैकजातिमन्त पार्थिवा एव, जलीया एव, तैजसा एव, वायवीया एव, इति न किन्तु विभिन्नजातीयाः पार्थिवद्व्यणुकजनका· पार्थिवा, जलीयद्व्यणुकजनका जलीया·, तैजसद्व्यणुकजनकास्तैजसाः, वायवीयद्व्यणुकजनका वायवीया इत्येवं पृथिवीत्वादिविभिन्नजातिमन्तः परमाणवः तत्र निदर्शनमाह—**दृष्टवदि**ति यथा यथा पार्थिवाद्या· कपालाद्याः पार्थिवादिस्वजातीयानां घटादीनां जनका विभिन्नजातीया एव नैकजातीयास्तथा परमाणवोऽपीत्यर्थः, **सन्त्येव** इत्येव-

कारस्य तेषाम् इत्यनेनान्वयात्, **तेषामेव** परमाणूनामेव. एवकारेणावयविनो व्यवच्छेदः, **पाकजाः** विलक्षणतेजस्संयोगः पाकस्तज्जन्या रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः **सन्ति** भवन्ति, वैशेषिकमते पार्थिवपरमाणुष्वेव पाक पाकेन रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः पार्थिवपरमाणुष्वेव जायन्ते, परमाणुरूप-रस-गन्ध-स्पर्शेभ्यो द्व्यणुकेषु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा जायन्ते, तेभ्यश्च त्र्यणुके ते, एवंक्रमेण चरमावयविपर्यन्तमवयवगुणेभ्य एव रूप-रस-गन्धस्य स्पर्शेभ्योऽवयविषु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा जायन्त इति ते अपाकजा इत्यर्थ, नैयायिकमते तु अवयविन्यपि पाक इति पार्थिवावयविष्वपि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा भवन्तीत्यर्थः ॥६॥

पृथिव्यादिद्रव्यव्यवस्था वैशेषिकगुणयोगेनोपदर्शयति—

पृथिव्यादीनि खान्तानि वैशेषिकगुणार्पणात् ।
घ्राणादियानायानेन तच्छेषगुणसंभवः ॥७॥

पृथिव्यादीनीति । **पृथिव्यादीनि खान्तानि** पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाशाख्यानि पञ्चभूतानि, **वैशेषिकगुणार्पणात्** पृथिव्या यद्यपि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाश्चत्वारोऽपि विशेषगुणास्तथापि इयं पृथिवीति व्यवस्था गन्धगुणेन, गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया पृथिवीत्यजाति. सिद्ध्यति, गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणमिति गन्धगुणार्पणात् पृथिवीति, रूप-रस-स्पर्शसांसिद्धिकद्रवत्वस्नेहाः पञ्च-विशेषगुणा जलस्य, तत्र जन्यस्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नसमवायिकारणतावच्छेदकतया नित्यानित्यजलसाधारण जलत्वसामान्यं सिध्यतीति इद जलमिति व्यवस्था स्नेहगुणेन, स्नेहवत्त्वं जलस्य लक्षणमिति स्नेहात्मकविशेषगुणार्पणात् जलमिति शीतस्पर्शवत्त्वसांसिद्धिकद्रवत्ववत्त्वे अपि जललक्षणे ताभ्यामपि भवति जलव्यवस्था भास्वरशुक्लरूपोष्णस्पर्शौ तेजसो विशेषगुणौ भास्वरशुक्लरूपसमवायिकारणतावच्छेदकतया उष्णस्पर्श-समवायिकारणतावच्छेदकतया च तेजस्त्वसामान्यं सिद्ध्यति ततो भास्वर-शुक्लरूपोष्णस्पर्शात्मकविशेषगुणार्पणात् तेज इति अपाकजानुष्णशीतस्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणं अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकतया वायुत्वजातिः

सिद्धयति ततोऽपाकजानुष्णाशीतस्पर्शात्मकविशेषगुणार्पणात् वायुरिति, आकाशस्यैकव्यक्तित्वात्—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ॥३॥"

इति वचनाद् व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वेनाकाशत्वं न जातिः आकाशस्य शब्दं प्रति कारणत्व तु व्यावर्त्तकतयासिद्धविशेषवत्त्वेनेति आकाशस्य शब्दाश्रयत्वं शब्दसमवायिकारणत्वं वा लक्षणमिति शब्दात्मकविशेषगुणार्पणादाकाशव्यवस्थितिः, भूतत्वं च तेषा वहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यविशेषगुणवत्त्वमिति, आत्मगतज्ञानादिविशेषगुणसम्भवः कथ येन ज्ञानादिनवविशेषगुणार्पणादात्मव्यवस्थितिरित्याकाङ्क्षायामाह—**प्राणादियानायानेन** इति प्राणादियानायानेन प्राणदिपञ्चाध्यात्मवायु-चक्षुरादिपञ्चेन्द्रियमनसी पूर्वोपात्तशरीराद् वहिर्गमनाभिनवशरीरान्तःप्रवेशलक्षणप्रेत्यभावेन, **तच्छेषगुणसम्भवः** पञ्चभूतविशेषगुणभिन्नज्ञानादिविशेषगुणसम्भव. शरीरं परित्यज्य यदा प्राणादिकं गच्छति तदा ज्ञानादीनामभावः यदा च शरीरे प्राणादिकमागच्छति तदा ज्ञानादिगुणाना भावः, यदि च शरीरस्य ज्ञानादिक स्यात् तदा प्राणादीनामभावे मृतशरीरेऽपि ज्ञानं स्यादिति शरीरव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानादिगुण इति ज्ञानादिगुणाश्रयत्वेनात्मनः सिद्धिरित्यर्थः ॥७॥

पृथिवी जल तेजो वायूनां-तदन्यतमस्य वाशब्दो गुणोऽस्तु किमाकाशद्रव्यस्यातिरिक्तस्य कल्पनयेत्याशङ्क्यमाह—

वाय्वन्तानां न रूपादिजन्मधर्मविशेषतः ।
शब्दो नित्यस्तु साधर्म्यात् सर्वार्थत्वाच्च नार्थवत् ॥८॥

वाय्वन्तानामिति । "रूपादिजन्मधर्मविशेषतः न वाय्वन्तानां शब्दः साधर्म्याद् अनित्यस्तु सर्वार्थत्वाच्चार्थवन्न" इत्यन्वयः । 'शब्दो नित्यस्तु' इत्यस्यस्थाने 'शब्दः-अनित्यस्तु' इति पाठो युक्तः । **रूपादिजन्मधर्मविशेषतः** रूपादीनां रूप-रस-गन्ध स्पर्शानां पाकजानां विलक्षणतेजस्संयोगाज्जन्म, अपाकजानां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानाम् अवयविगतानां अवयवगतरूप-रस-गन्ध-स्पर्शेभ्यो जन्म, धर्मः

वायुगुणस्य यावद्द्रव्यभावित्व, ततो विशेष आद्यशब्दस्य संयोगाद् विशेषाद् वा जन्म द्वितीयादिशब्दस्य स्वाव्यवहितपूर्वपूर्वशब्दाज्जन्म अयावद्द्रव्यभावित्वं च शब्दस्य, वायुगुणस्य स्पर्शस्य त्वगिन्द्रियग्राह्यत्व न श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वं शब्दस्य च श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व न त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वमित्येवं रूपादिजन्मधर्मविशेषतः शब्द., **न** नैव, **वाय्वन्तानां** पृथिवी जल-तेजो-वायूना गुण इति शेषः, अत्र शब्दो न स्पर्शवता विशेषगुण. अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वक-प्रत्यक्षत्वात् इत्यन्यत्रोक्तमनुसन्धेयम, 'शब्दो नित्य' इति मीमांसकाऽभ्युपग-च्छन्ति तत्प्रतिक्षेपायाह–**अनित्यस्त्विति साधर्म्यात्** अनित्यानां घट-पटादी-नामुत्पत्तिमत्त्व-विनाशित्वलक्षणसमानधर्मवत्त्वात् शब्दोऽनित्य., तदुक्तम्—

"उत्पन्न. [च] को विनिष्ट इति बुद्धेरनित्यता ।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु सा जात्यमवलम्बते ॥४॥
तद्वेवौपधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ।"

इति ननु शब्दप्रतिपाद्यो घटादिरनित्य आकाशादिर्नित्य इत्येवमर्थो यथा नित्यो-ऽनित्यश्च भवेदित्यत आह–**सर्वार्थत्वाच्च** एकोऽपि शब्द. शक्तिलक्षणाख्यवृत्तिभ्यां सर्वार्थो भवितुमर्हति तथा चार्थस्य नित्यत्वेन नित्यार्थप्रतिपादकत्वेन शब्दस्य नित्यत्वम् अर्थस्यानित्यत्वेनानित्यार्थप्रतिपादकत्वेन शब्दस्यानित्यत्वमिति यद्य-भ्युपेयेत तदैकशब्दव्यक्तेरपि नित्यत्वानित्यत्वोभयधर्मवत्त्व प्रसज्येत, न च पर-स्परविरुद्ध तदुभयमेकस्मिन् सम्भवतीत्यतः, **अर्थवत्** यथाऽर्थो नित्योऽनित्यश्च तथा न शब्द. सर्वार्थत्वात् नित्यानित्यसर्वार्थप्रतिपादकत्वादित्यर्थ. ॥८॥

पृथिवी-जल-तेजो वायूना विभिन्नजातीयाना स्वस्वजातीययोनिजायोनिजशरीर-जनकत्वमुपदर्शयति—

रूपादीनां स्वजातीयाः सामर्थ्याद् वसुधादयः ।
पृथक्शरीरजनका हेतुभेदात् त्वयोनिजम् ॥९॥

रूपादीनामिति । रूपादीनां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानां, **सामर्थ्याद्** विभिन्न-कार्यजनकसामर्थ्यात्, **स्वजातीयाः** जन्यतयाभिमतेन्द्रियसमानजातीयाः, पृथिवी-त्वादिना पुनर्विभिन्नजातीयाः, **वसुधादयः** पृथिवी जल-तेजो-वायवः, **पृथक्-**

शरीरजनकाः, गन्धवती पृथिवी गन्धगुणसामर्थ्यात् मानुषादिशरीरे भस्मीभूते तद्भस्मनि गन्ध एवोपलभ्यते न स्नेहोष्णस्पर्शादिकं गन्धवत्त्वात् तद्भस्मपार्थिवं यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति नियमतः तदुपादानोपादेयभूतस्य शरीरमपि पार्थिवम् एव जलादिगुणस्नेहादीना जलीयादिशरीरभस्मादावुपलम्भादुक्तदिशा तदुपादानोपादेयशरीरे जलीयत्वादिकमित्येव पृथक्शरीरजनका इति, अत्र पृथिवी नित्याऽनित्या च, तत्र परमाणुपृथिवी नित्या, द्वयणुकादिघटाद्यन्तावयविरूपा पृथिव्यनित्या अनित्या च पृथिवी शरीरेन्द्रियविषयभेदेन त्रिधा, तत्र पार्थिवशरीर योनिजायोनिजभेदेन द्विविधम्, मानुषादिशरीर योनिजम्, जरायुजम् सरीसृपादिशरीरं योनिजमप्यण्डजम्, मशकादिशरीरमयोनिजमेव, पार्थिवत्वेन सर्वेषां शरीराणामेकजातीयत्वेऽप्ययोनिजत्वं कथमित्याकाङ्क्षायामाह–**हेतुभेदात्** कारणभेदात्, **तु** पुनः, **अयोनिजम्** अयोनिजमपि, अपिशब्दोऽत्र योनिजपरिग्रहार्थमवश्यमेवोपादेयः, घ्राणेन्द्रिय च पार्थिव रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् कुङ्कमगन्धाभिव्यञ्जकोदकवदिति उपभोगसाधन विषयः द्वयणुकादि ब्रह्माण्डान्तं कार्यजातं साक्षात् परम्परया वा सुख-दुःखादिलक्षणफलोपभोग जनयत्येवादृष्टाधीनत्वात्, यत् कार्यं यत्पुरुषीयादृष्टजन्यं तस्यैव तदुपभोगसाधनत्वमिति, एव जलमपि नित्यमनित्य च, तत्र परमाणुरूप जल नित्य, द्वयणुकाद्यवयविरूपं सर्वमेव जलमनित्यम्, तदपि शरीरेन्द्रियविषयभेदेन त्रिविधम्, जलीयं शरीरमयोनिजमेव वरुणलोके प्रसिद्ध रसनमिन्द्रिय जलीय रूपादिपु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवदिति शरीरेन्द्रिययो रुपभोगसाधनत्वेऽपि विषयकोटिबहिर्भावाय विषयलक्षणे शरीरेन्द्रियभिन्नत्वमुपादेयम्, तेन शरीरेन्द्रियभिन्नकार्यं जलं सर्वमेव विषय इति, तेजोऽपि नित्यानित्यभेदेन द्विविध जलादिवदवसेयम्, नयन तैजस रूपादिपु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपप्रभावत्, वायुरपि तेजोवदवसेयः, किन्तु त्वगिन्द्रियं वायवीय रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्. तैजसशरीरमिन्द्रादिलोके, वायवीयशरीरं वायुलोके प्रसिद्धम्, आकाशस्य नित्यैकरूपस्य शरीरविषयौ न स्तः,

किन्तु शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय कर्णविवरवर्त्याकाशस्यैव श्रोत्रत्वात्, इन्द्रियस्य पार्थिवत्वादिनाऽत्रानभिधानेऽपि तत्प्रयोजनस्यानन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वेन तदुपलक्षण ज्ञेयमित्यर्थः ॥९॥

केनेन्द्रियेण कस्य ग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाह—

त्वक्चक्षुर्ग्रहणं द्रव्यं रूपाद्याश्चक्षुरादिभिः ।
संख्यादिभावकर्माणि यथाऽपाश्रययोगतः ॥१०॥

त्वक्चक्षुर्ग्रहणमिति । त्वक्-चक्षुर्ग्रहणं त्वक्-चक्षुर्भ्यां त्वगिन्द्रिय-नयनेन्द्रियाभ्यां ग्रहण प्रत्यक्ष यस्य त्वक् चक्षुर्ग्रहण त्वक् चक्षुरुभयेन्द्रियजन्यद्रव्य-प्रत्यक्षविषय', **द्रव्यं** पृथिव्यादि, वैशेषिकमते वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणमिति त्वाचप्रत्यक्ष प्रत्यप्युद्भूतरूपं कारणमिति वायोरुद्भूतरूपाभावात् त्वगिन्द्रियेणापि ग्रहण न भवत्येवेति वायुरप्रत्यक्ष इति तदभिप्रायेण त्वक्-चक्षुर्ग्रहणं द्रव्यमिति, अत्र द्रव्यपद वहिर्द्रव्यपर, तेनात्मद्रव्यस्य मानस-प्रत्यक्षैकविषयस्य त्वक्-चक्षुर्ग्रहणाभावेऽपि न क्षतिः, प्रत्यक्षयोग्यमेव बहिर्द्रव्यमत्र ग्राह्य तेनातीन्द्रियाणां परमाण्वाकाशादिवहिर्द्रव्याणा त्वक्-चक्षुर्ग्रहणाभावेऽपि न किञ्चन् क्षुण्णम्, नव्यास्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे उद्भूतरूपं कारणं, त्वाचप्रत्यक्षे चोद्भूत-स्पर्शः कारणमिति द्विविध कार्य-कारणभावः, न तु वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे उद्भूतरूपम्, उद्भूतस्पर्शो वा करण प्रभायाश्चक्षुरिन्द्रियेणेव वायोस्त्वगिन्द्रियेणापि ग्रहण भवत्येव, प्रभा पश्यामीतिवत् वायु स्पृशामीत्यनुभवस्य भावात्, अनुभवानुरोधे वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति उद्भूतस्पर्श एव कारणमस्तु, प्रभा-प्रत्यक्षाभावः इष्ट एवेत्यपि ब्रुवतो न वक्त्रं वक्रीभवेदिति, **रूपाद्या** रूप-रस-गन्ध-स्पर्शशब्दा., **चक्षुरादिभिः** ग्राह्या इति शेष., चक्षुराद्यैकैकेन्द्रियग्राह्या इति तदर्थ., चक्षुर्ग्रहण रूपं रसनग्राह्यो रसः घ्राणग्राह्यो गन्धः त्वगिन्द्रियग्राह्य' स्पर्शः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य शब्द इति यावत्, **संख्यादिभावकर्माणि** सख्याद्याश्च भावश्च **कर्म** च सख्यादिभावकर्माणि, तत्र सख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोगविभाग-परत्वा-परत्व-द्रवत्व-वेगशब्दाः संख्याद्या गुणाः, भावः सत्त्वद्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि

सामान्यं उत्क्षेपणादिकं एतानि संख्यादिभावकर्माणि, 'यथापाश्रयोगत' इत्यस्य स्थाने 'यथोपाश्रययोगतः' इति पाठो युक्तः। **यथोपाश्रययोगतः** उपाश्रयो योग्याधारलक्षणस्थानं यथायोग्याधारसम्बन्धादिति तदर्थं चक्षुरादिभिर्ग्राह्याणीति सम्बध्यते, अत्रात्मयोग्यतद्विशेषगुणग्रहण मनसेति नाधिकृतं, तथा च संख्यापरिमाणादयो गुणाश्चक्षुस्त्वग्ग्रहणद्रव्यवर्त्तिनश्चक्षुषा त्वचा गृह्यन्त इति द्वीन्द्रियग्राह्याः तथा द्वीन्द्रियग्राह्यद्रव्यगता जातयोऽपि द्वीन्द्रियग्राह्या, एव कर्मापि द्वीन्द्रियग्राह्यम्, रूपादीनां प्रतिनियतचक्षुराद्येकैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् तद्गताना रूपत्वादिजातीनामेकैकेन्द्रियग्राह्यत्व, सख्यात्वादीना द्वीन्द्रियग्राह्यत्व एव कर्मत्वस्यापि द्वीन्द्रियग्राह्यत्वं द्रव्यगुणकर्मवर्त्तिन्याः सत्ता जातेर्गुणत्वस्य च सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वमिति निष्कर्षः ॥ १० ॥

पृथिव्यादीनि खान्तानि वैशेषिकगुणार्पणादित्यनेन तत्तद्विशेषगुणाधारतया पृथिवी-जल-तेजोवाय्वाकाशाख्यानि पञ्चभूतद्रव्याणि साधितानि काल-दिगात्ममनसां चतुर्णां द्रव्याणा साधनायाह—

सेतरैर्युगपत्क्षिप्तं परत्वैः कालसंभवम्।
इदमस्मादिति दिशो नानाकार्यविशेषतः ॥११॥

सेतरैरिति। 'युगपत्क्षिप्तं परत्वैः' इत्यस्य स्थाने 'युगपत्क्षिप्रपरत्वैः' इति पाठो युक्तः। **सेतरैः** स्वप्रतिपक्षसहितैः, **युगपत्क्षिप्रपरत्वैः** पाकजा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा युगपज्जायन्ते, इद कार्य क्षिप्र शीघ्र समुत्पन्न, देवदत्तो यज्ञदत्तात् परो ज्येष्ठ इत्यादि प्रतीतिसिद्धेः, युगपदित्यस्य प्रतिपक्षोऽयुगपदिति क्षिप्रस्य प्रतिपक्षोऽक्षिप्रमिति परत्वस्य प्रतिपक्षमपरत्वमिति तथा च युगपदयुगपत्-क्षिप्राक्षिप्र परत्वापरत्वै, दैशिक-कालिकभेदेन परत्वापरत्वे द्विविधे, तत्र दैशिक परत्वं दूरत्वम्, दैशिकमपरत्वमन्तिकत्वम्, कालिकपरत्वं ज्येष्ठत्वं, कालिकमपरत्वं कनिष्ठत्वम्, प्रकृते कालिकपरत्वापरत्वयोर्ग्रहणम्, **कालसम्भवम्** कालस्यास्तित्वम्, युगपदयुगपदित्यादिबुद्धिनिमित्तं कालद्रव्यमित्यर्थः, **इदमस्मादिति दिशः** सम्भवमित्येतावन्मात्रमाकृष्य सम्बध्यते, इदमस्माद् दूरमिदमस्मादन्तिकमिति प्रतीतिनिमित्ततया दिशोऽस्तित्वमित्यर्थः, **नानाकार्यविशेषतः** यद्यपि स्वरूपतः काल एक एव, दिक् च स्वरूपत एकैव, तथापि विभिन्नकार्यबलात् क्षण-

लव-पल-दण्ड-मुहूर्त-प्रहर-दिन-पक्ष मास-वर्षादिविभिन्नव्यवहारलक्षणकार्यबलात् कालो नाना, तथैव प्राची इयमवाची इय प्रतीची इयं दक्षिणेति विभिन्नव्यवहार-बलाद् दिगपि नानाऽनेका, तथा च काल-दिशोः स्वरूपत एकत्वेऽप्युपाधिभेदतो-ऽनेकत्वमित्यर्थ. ॥ ११ ॥

मनसः सिद्धिमुपदर्शयति—

आत्मेन्द्रियादिसंयोगे बुद्धयभावाच्च मानवः ।
बुद्धयादेरात्मनः खादि शब्दादिविभवान्महत् ॥१२॥

आत्मेन्द्रियादिसंयोग इति । 'मानवः' इत्यस्य स्थाने 'मानस.' इति पाठो युक्त । **आत्मेन्द्रियादिसंयोगे** आत्मनो वहिरिन्द्रियेण बहि-रिन्द्रियस्य चक्षुरादेर्विषयेण घटादिना सयोगे सत्यपि, **बुद्धयभावाच्च** चाक्षु-षादिप्रत्यक्षाभावात् पुनः, **मानसः** मनसोऽस्तित्वं भवति, चक्षुरादीनां स्वस्वग्राह्यैः समं युगपत्सयोगेऽपि न युगपत्सर्वेन्द्रियजन्यज्ञानसभवः, किन्तु येन सह यस्येन्द्रियस्य सयोगोऽस्ति तदिन्द्रियजन्यज्ञानं भवति, येन सह सयोगाभावादन्ये-न्द्रियेण ज्ञान न जायते तदन्त करणं मन', तस्य महत्त्वे सर्वेन्द्रियैस्तत्संयुक्तैर्युग-पत्स्वस्वविषयसयोगत सर्वविषयकज्ञान प्रसज्येतेत्यतोऽणुमन इत्यर्थ, **बुद्धयादेः** बुद्धि सुख-दुःखेच्छ'-द्वेप-प्रयत्न धर्माधर्म-भावनाख्यनवसख्यकविशेषगुणस्य आश्रय-तया, **आत्मनः** जीवात्मन बुद्धीच्छाप्रयत्नलक्षणविशेषगुणाश्रयतया च परमात्मन ईश्वरस्य सिद्धिरित्यर्थ **शब्दादिविभवात्** आकाशगुणस्यात्मगुणस्य ज्ञानादे. काल-दिक्कार्यस्य परत्वापरत्वादेश्च विभवात् विशेषेण भवनादुत्पादात्, **महत्** परममहत्परिमाणवत्, **खादि** आकाश-काल-दिगात्मचतुष्टयम्, यद्याकाशादिचतुष्टय परममहत् परिमाणवन्न भवेत् न भवेच्छब्दादेर्विभिन्नदेशेपूत्पाद किन्तु यत्रैव प्रदेशे परिच्छिन्नपरिमाणवदाकाशादि स्यात् तत्रैव शब्दादेरुत्पादो भवेदित्यर्थ' ॥१२॥

प्रकारान्तरेणापि परममहत्परिमाण सिद्धयतीत्याह—

प्रपञ्चादपि दीर्घं वा ह्रस्वं वा परिमण्डलम् ।
रूप-स्पर्शवदेकत्वं पृथक्त्वे वृत्तिजन्मनः ॥१३॥

प्रपञ्चादपीति । प्रपञ्चादपि परिमाणस्य अणु-महद् दीर्घं ह्रस्वं चेत्येवं चातुर्विध्येन विभजनादपि, महत्परिमाणस्यानन्तरमेवाभिहितत्वात् तदतिरिक्त-

विभज्यमानानुपदर्शयति-**दीर्घं वा**कारस्य चकारार्थसमुच्चयार्थकत्वं, एवं **ह्रस्वं वे**त्यत्रापि, **परिमण्डलं** अणुपरिमाणम्, एषा चतुर्णामपि परिमाणाना मध्यम-परमभेदेन द्वैविध्यम्, एव च मध्यम-महत्परिमाणं परममहत्परिमाणम्, तत्र मध्यम-महत्परिमाणम् त्र्यणुकावयविनमारभ्यान्त्यावयविपर्यन्तेषु वर्त्तते, परममहत्परि-माण चाकाश काल-दिगात्मसु, मध्यम-दीर्घ-परिमाण च मध्यम-महत्परिमाणा-श्रयेषु वर्त्तते, परमदीर्घपरिमाण च परममहत्परिमाणाश्रयेषु वर्त्तते, मध्यमह्रस्व-परिमाण द्व्यणुके वर्त्तते, परमह्रस्वपरिमाण परमाणौ वर्त्तते, मध्यमाणुपरिमाणं द्व्यणुके वर्त्तते, परमाणुपरिमाण परमाणौ वर्त्तते, परमाणवश्च पृथिवी-जल-तेजो-वायूना मनस्यपि परमह्रस्वपरमाणुपरिमाणे इति बोध्यम्, परिमाण च सामा-न्यतो नवसु द्रव्येषु वर्त्तते, **रूप-स्पर्शवद्** रूपेति रसस्यापि उपलक्षण, गन्धस्य सर्वस्यानित्यत्वान्न तद्ग्रहणम् रूप-रस-स्पर्शा यथा नित्या अनित्याश्च नित्यजल-तेजो-वायुपरमाणुगता नित्याः तदन्यगता अनित्या', एव परिमाणमपि नित्य-द्रव्यगतं नित्यम् अनित्यद्रव्यगतमनित्यमाश्रयनाशान्नश्यतीति, रूप स्पर्शवदित्यस्य देहलीदीपन्यायेनोत्तरत्राप्यन्वय 'एकत्वं पृथक्त्वे' इत्यस्य स्थाने 'एकत्व-पृथक्त्वे' इति पाठो युक्तः, 'वृत्तिजन्मन.' इत्यस्य स्थाने च 'वृत्तिजन्मत.' इति पाठो युक्तः, 'तुल्ये' इति शेषः । **एकत्व पृथक्त्वे** एकत्वसङ्ख्यैकपृथक्त्वे पृथक्त्वपदे-नैकपृथक्त्वस्य ग्रहणात्, रूप-स्पर्शवदेकत्वैकपृथक्त्वे नित्यद्रव्यगते नित्ये अनित्य-द्रव्यगते अनित्ये, **वृत्तिजन्मतः** वृत्त्या जन्मना च तुल्ये यथैकत्वसंख्या नवसु द्रव्येषु वर्त्तते तथैक-पृथक्त्वमपि नवसु द्रव्येषु वर्त्तते, यथा चावयवगतै-कत्वाभ्यामवयविद्रव्ये एकत्वमुत्पद्यते तथाऽवयवगतैकपृथक्त्वाभ्यामवयविद्रव्ये एकपृथक्त्वमुत्पद्यते, एकत्वसङ्ख्यैकपृथक्त्वयोर्विशिष्योपादानाद् द्वित्वादिपरार्द्ध-पर्यन्तसङ्ख्या द्विपृथक्त्वादिपरार्धपर्यन्तपृथक्त्वानि न नित्यानित्यभेदेन द्विवि-धानि किन्त्वनित्यान्येव, अपेक्षाबुद्धिजन्यानि अपेक्षाबुद्धिनाशान्नश्यन्ति च अने-कैकत्वबुद्धिरपेक्षाबुद्धि' प्रथमक्षणे अयमेकोऽयमेक इत्यपेक्षाबुद्धि' ततो द्वित्वायु-त्पत्तिस्ततो द्वित्वत्वादिनिर्विकल्पकज्ञानं ततो द्वित्वादिप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धिनाशश्च ततो द्वित्वादिविशिष्टद्रव्यप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धिनाशाद् द्वित्वादिनाशश्च द्विपृथक्त्वादि-नाशोत्पादावप्येवमेव बोध्यौ ॥ १३ ॥

क्रियामात्रासमवायिकारणत्वेन संयोगविभागावुपदर्शयति—

क्रियावतोर्वा तुल्यं च संवियोगाविपक्षितौ ।
कारणं ध्वनिराभ्यां च संतानात् सलिलोर्मिवत् ॥१४॥

क्रियावतोर्वेति । 'सवियोगाविपक्षितौ' इत्यस्य स्थाने 'संवियोगयुतस्थितौ' इति पाठो युक्तः । सवियोगयुतस्थितौ क्रियावतोर्वा तुल्यं च कारणम्, आभ्यां च सलिलोर्मिवत् सन्तानाद् ध्वनि इत्यन्वय । **संवियोगयुतस्थितौ** संवियोगो विभागः, युतः सयोग., तयो· स्थितौ सत्तायां संयोग-विभागयोराद्यक्षणसम्बन्धे इति यावत् । **क्रियावतोर्वे**त्यत्र वाकार· समुच्चयार्थक·, तेनैकक्रियावतः समुच्चय., एका क्रियैकस्मिन्नेव वर्त्तत इत्युभयक्रियाजन्यसयोग-विभागप्रसिद्धये क्रियावतोरिति अन्यतरक्रियाजन्यसयोग-विभागप्रसिद्धये क्रियावत इत्यस्य समुच्चय इति बोध्यम्, **तुल्यं च** समानं च, **कारणमि**ति भावप्रधाननिर्देशात् कारणत्वम्, तथा च संयोग-विभागौ प्रति स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरापेक्षं कारणं कर्मेति कर्मलक्षणमावेदितं भवति, विशिष्टे कारणत्वान्वये विशेषणस्यापि कारणत्वान्वय इति क्रियायाः कारणत्वमायाति, तुल्यमित्युपादानात् सयोगस्य संयोगं प्रति यत् कारणत्व न तत् सयोगं प्रतीति तयोर्व्यवच्छेदः, एव च एकक्रियाजन्योभयक्रियाजन्यसंयोगज-संयोगभेदेन संयोगस्त्रिविध., तत्र पक्षिक्रियाजन्यः पक्षितरुसंयोग एकक्रियाजन्य., मेषद्वयक्रियाजन्यो मेषयो संयोग उभयक्रियाजन्य·, कपालतरुसंयोगात् कुम्भतरु-संयोग. सयोगजसयोगः, अभिघात-नोदनभेदेनापि संयोगस्य द्वैविध्यम्, तत्र शब्दहेतु. सयोगोऽभिघातः, शब्दाहेतुः संयोगो नोदनम्, एवं विभागोऽप्येक-क्रियाजन्योभयक्रियाजन्यविभागजभेदेन त्रिविधः, पक्षिक्रियया पक्षितरुविभाग एक· क्रियाजन्यः, मेषद्वयक्रियया मेषद्वयविभाग उभयक्रियाजन्य·, विभागजविभागश्च द्विविधो हेतुमात्रविभागजन्यो हेत्वहेतुविभागजन्यश्च, तत्र कपालद्वयाविभागात् कपालाकाशविभागो हेतुमात्रविभागजन्य·, कपालतरुविभागात् कुम्भतरुविभागो हेत्वहेतुविभागजन्य इति, **आभ्यां च** सयोग-विभागाभ्या पुन, **सलिलोर्मिवत्** यथा जलतरङ्ग एकतरङ्गानन्तरं द्वितीयस्तदनन्तरं तृतीय इत्येवंक्रमेण तट-पर्यन्तमुत्पद्यते, तथा **सन्तानात्** एकशब्दानन्तरं द्वितीयस्तदनन्तरं तृतीय

इत्येवं कर्णविवरपर्यन्तं सन्तानात् ध्वनिः शब्द उत्पद्यते, तत्र मृदङ्गादिशब्दस्याद्यस्य मृदङ्गादिकरसंयोगो निमित्तकारणं मृदङ्गाकाशसंयोगाकाशसंयोगश्चासमवायिकारणम् द्वितीयादिशब्दे च प्रथमादिशब्दोऽसमवायिकारणम्, एव वंशादौ पाट्यमाने वंश-दलद्वयविभागात् तटतटादिशब्द उपजायते तत्र प्रथमशब्दस्य वंशदलद्वयविभागो निमित्तकारण वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणम् द्वितीयादिकर्णविवरोत्पन्न-शब्दपर्यन्तमुत्तरोत्तरशब्दं प्रति पूर्वपूर्वशब्दोऽसमवायिकारणम्, अत्र वीचीतरङ्ग-न्यायेन शब्दोत्पत्तिरावेदिता, तत्र पूर्वपूर्वशब्दादुत्तरोत्तरशब्द एक एव दशदिक्व्यापी समुत्पद्यत इति दशदिक्व्यवस्थितानां श्रोतॄणामेकस्य शब्दस्य प्रत्यक्षम्, कस्य-चिन्मते कदम्बकोरकन्यायेन प्रथमशब्दाद् दशदिक्षु दशशब्दा उत्पद्यन्ते, तेभ्योऽपि प्रत्येकं दशशब्दा उत्पद्यन्ते इत्येवं कर्णविवरपर्यन्तविभिन्नानां शब्दानामुत्पत्तौ श्रोतारो विभिन्नानेव शब्दान् शृण्वन्तीति ॥१४॥

संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः पञ्च-नवद्रव्यवृत्तयो गुणा निरूपिताः, तन्निरूपण एव क्रियाशब्दौ निरूपितौ, अथ परत्वापरत्वे निरूपयति—

देश-कालविशेषाभ्यां परं च गुणकर्मणाम् ।
ऐक्यादाश्रयतद्वृत्ताभावे तद्बुद्धिधर्मतः ॥१५॥

देश-कालविशेषाभ्यामिति । **देश-कालविशेषाभ्यां** देशविशेष-काल-विशेषाभ्यां, **परं** भावप्राधान्यात् परत्व, **च**कारादपरत्व, परत्वं दैशिकं कालिकं च, अपरत्वमपि दैशिकं कालिकं च, तत्र दैशिकं परत्वं दिक्पिण्डसंयोगासम-वायिकारणकं पृथिवी-जल-तेजो-वायु-मनःस्वरूपं च मूर्तवृत्ति, मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञान-लक्षणापेक्षाबुद्धिजन्यं तन्नाशान्नश्यति, दैशिकापरत्वमपि दिक्पिण्डसंयोगासमवायि-कारणकं पञ्चमूर्तवृत्ति, मूर्तसंयोगाल्पीयस्त्वज्ञानलक्षणापेक्षाबुद्धिजन्यं तन्नाशान्नश्यति, एवं कालिकं परत्वं कालपिण्डसंयोगासमवायिकारणकं जन्यमूर्तवृत्ति, दिवाकर-परिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानलक्षणापेक्षाबुद्धिजन्यं निरुक्तापेक्षाबुद्धिनाशान्नश्यति, कालिका-परत्वमपि कालपिण्डसंयोगासमवायिकारणकं जन्यमूर्तवृत्ति, दिवाकरपरिस्पन्दा-ल्पीयस्त्वज्ञानलक्षणापेक्षाबुद्धिजन्यं तन्नाशान्नश्यति च, तत्र कालिकपरत्वा-

परत्वे नियताश्रयके एव, यो यदपेक्षयाऽधिकतरसूर्यपरिस्पन्दान्तरितजन्मा स तदपेक्षयाऽल्पतरसूर्यपरिस्पन्दान्तरितजन्मा न भवतीति स तदपेक्षया पर एव, यो यदपेक्षयाऽल्पतरसूर्यपरिस्पन्दान्तरितजन्मा स तदपेक्षया बहुतरसूर्यपरिस्पन्दान्तरितजन्मा न भवतीति स तदपेक्षयाऽपर एवेति, दैशिकपरत्वापरत्वयोस्तु नैव नियमः यो यदपेक्षया बहुतरमूर्तसंयोगात् परः पूर्वं भवति स एव तद्देशात् समीपतरवर्तिदेशगतः सन् तदपेक्षयाऽल्पतरमूर्तसंयोगात् पश्चादपरोऽपि भवतीति, एवं समीपदेशवर्तित्वात् पूर्वमपरोऽपि पश्चाद् विप्रकृष्टदेशवर्त्तित्वात् परोऽपि भवतीति, ननु परत्वापरत्वयोर्मूर्त्तद्रव्यमात्रवृत्तित्वे, **गुणकर्मणां** परत्वापरत्वयोरभावात् तेषु परापरव्यवहारो न भवेत्, भवति च स इति गुण-कर्मसु परत्वापरत्वे अभ्युपगमनीये इत्यत आह–गुणकर्मणामिति गुणकर्मणां परत्वं च, **ऐक्यात्** परत्वापरत्वाश्रयस्य गुणकर्माश्रयस्य चैक्यादभेदात्, **आश्रयतद्वत्ताभावे** परत्वापरत्वाश्रये गुणकर्मवत्ताया भावे सति, **तद्बुद्धिधर्मतः** परत्वापरत्वबुद्धिलक्षणधर्मात् परत्वमपरत्वं च भवति, तथा च साक्षात्सम्बन्धेन समवायेन परत्वापरत्वे मूर्त्तद्रव्यवर्त्तिनी एव, किन्तु गुणकर्मस्वपि तद्बुद्धेर्भावात् तदन्यथानुपपत्त्या स्वाश्रयसमवेतत्वलक्षणपरम्परासम्बन्धेन परत्वापरत्वयोः गुणकर्मसम्बन्धित्वमभ्युपेयते, उक्तपरम्परासम्बन्धमुपादायैव गुणकर्मणां परापरत्वबुद्धिरित्यर्थः ॥१५॥

द्रव्यत्वगुरुत्वादिगुणान् भावयति—

द्रव्य-गौरव-संयोग-यत्न-संस्कारजाः क्रियाः ।
अदृष्टाच्चेति तत्संज्ञाविकल्पौ व्यवहारतः ॥१६॥

द्रव्यगौरवेति । 'द्रव्य°' इत्यस्य स्थाने 'द्रव°' इति पाठो युक्तः । **द्रव-गौरव-संयोग-यत्न-संस्कारजाः क्रियाः** भावप्रधाननिर्देशाद् द्रवपदेन द्रवत्वस्य ग्रहणं, द्रवत्वजन्या गुरुत्वजन्या संयोगजन्या यत्नजन्या संस्कारजन्या च क्रिया, **अदृष्टाच्च** च पुनः, अदृष्टजन्या च क्रिया, **इति** एतस्मात् कारणात्, **तत्संज्ञा-विकल्पौ** द्रवत्वादिजन्यक्रियानामध्यवसायौ, **व्यवहारतः** यथा व्यवहारस्तथा ज्ञेयौ, अत्र आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वं सांसिद्धिक-नैमित्तिकभेदेन द्विविधं पृथिवी-जल-तेजोवृत्ति, सांसिद्धिकद्रवत्वं जले, परमाणौ तन्नित्यमन्यत्रा-

-नित्यम्, नैमित्तिकद्रवत्वं पृथिवी तेजसोः, पृथिव्या घृतादौ तेजःसयोगजन्य द्रवत्वं, -तेजसि सुवर्णे अग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्, जलं स्यन्दते इति व्यवहाराद् द्रवत्वजन्य-क्रियायाः स्यन्दनसंज्ञा व्यवसायोऽपि, जल स्यन्दते इत्येव, आद्यस्यन्दने द्रवत्वम-समवायिकारणं द्वितीयस्यन्दनादौ वेगाख्यसंस्कारोऽसमवायिकारण द्रवत्वं च निमित्त-कारणम्, आद्यपतनासमवायिकारण गुरुत्व तद् गौरवशब्देनाप्यभिधीयते, पृथिवी-जलवृत्ते परमाणुगतं नित्यम् अन्यत्रानित्य आद्यपतने गुरुत्वमसमवायिकारणम्, द्वितीयपतनादौ वेगोऽसमवायिकारणं गुरुत्व निमित्तकारणम्, पततीति व्यवहाराद् गुरुत्वजन्यक्रियाया पतनमिति नाम इद पतनमिति व्यवसायश्च, संयोग· प्राक् निरूपित एव तज्जन्या क्रिया हस्तलोष्ठादिसंयोगजन्या ऊर्ध्वदेशसयोगानुकूला क्रिया उत्क्षेपतीति व्यवहारात् तस्या उत्क्षेपणमिति नाम इदमुत्क्षेपणमिति विकल्पश्च एवमवक्षेपणाकुञ्चन-प्रसारण गमनादिक नाम तथा व्यवसायश्चाऽवक्षिपतीत्यादि-व्यवहारादवसेय·, यत्न प्रयत्न स च प्रवृत्ति-निवृत्तिजीवनयोनिभेदेन त्रिविध., तत्र प्रवृत्ताविष्टसाधनताज्ञानं कृतिसाध्यताज्ञान चिकीर्षा, उपादानस्य प्रत्यक्ष च कारण, चिकीर्षा नाम कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा, इच्छा कामः, फलेच्छोपायेच्छा-भेदेन द्विविधा, तत्र फलेच्छा प्रति फलज्ञान कारणम्, उपायेच्छा प्रति च फलेच्छा इष्टसाधनताज्ञानं च कारणं, चिकीर्षाप्युपायेच्छाविशेष एव, तत्र कृतिसाध्यताज्ञान-मधिकारणम्, सामान्यत इच्छाया· स्वप्रकारप्रकारकज्ञानसाध्यत्वमिति नियमात्, निवृत्तौ च द्विष्टसाधनताज्ञान द्वेषश्च कारणम्, द्वेषः क्रोध· सकलद्वेषोयायद्वेष-भेदेन द्विविधः, अनिष्टफलद्वेषे अनिष्टफलज्ञानमेव कारण जीवनयोनियत्ने च जीवनादृष्टं कारणं, स च यत्नोऽतीन्द्रिय. शरीरे प्राणसञ्चारे कारणम्, प्रयत्न-वदात्मसंयोगजन्या क्रियैव प्रयत्नजन्या, तस्याश्चेष्टेति नाम, प्रयत्नवदात्मसयोग-जन्यक्रियाया एव चेष्टात्वात् सा च शरीर-तदवयववर्तिनी, परमाणुक्रियाया. प्रयत्नवदीश्वरसंयोगजन्यत्वाच्चेष्टात्वं तादृशक्रियावत्त्वात् परमाणव ईश्वरशरीरमिति मन्यन्ते वैशेषिका·, इय चेष्टेति व्यवसायश्च चेष्टत इति व्यवहारात्, संस्कार-स्त्रिविध. वेग-स्थितिस्थापक-भावनाभेदात्, तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः, स्थितिस्थापक कटादिपृथिवीवृत्ति., कस्यचिन्मते पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्ति, वेग· प्रत्यक्षविषयः, स्थितिस्थापकोऽतीन्द्रियः, उपेक्षाऽनात्मकनिश्चयजन्यः स्मृतिहेतुर्भावना-

संस्कारोऽतीन्द्रियः, वेगेन गच्छतीति व्यवहाराद् वेगजन्यक्रियाया गमनमिति संज्ञाव्यवसायोऽपि तथाविध एव. अदृष्टं धर्माधर्मौ, तत्र विहितक्रियाजन्यः स्वर्गादिसाधनं धर्म अधर्मो नरकादिहेतुर्निन्दितक्रियाजन्यः, वह्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनमदृष्टजन्यमिति, अदृष्टजन्यक्रियाया ऊर्ध्वज्वलनादिनामविकल्पोऽपीदमूर्ध्वज्वलनमित्यादि वह्निरूर्ध्वं ज्वलति वायुस्तिर्यग् वातीति व्यवहारात् तथोपेयत इत्यर्थ ॥१६॥

व्यवहारतः संज्ञाविकल्पावित्यस्योपपादनायाह—

संबन्धाद् बुद्ध्यपेक्षश्च कार्यश्चाज्ञस्य बुद्धयः ।
संज्ञास्तु भाव-द्रव्यादिनिमित्ताः समयात्मिकाः ॥१७॥

सम्बन्धादिति । **सम्बन्धात्** जन्य-जनकभावसम्बन्धात् पितृ-पुत्रादिसंज्ञा भवति, जनक. पिता, जन्य· पुत्र इति व्यवहारात्, एवं मातुल इति संज्ञा स्वजननीभ्रातृत्वसम्बन्धात् तथैव व्यवहारात्, यद्यपि—

"शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥५॥"

इति वचनाद् व्याकरणादीनामपि शक्तिग्राहकत्वेन सज्ञाप्रवृत्तौ प्रयोजकत्वं तथापि बालानामादिव्युत्पत्त्याधाने व्यवहार एवोपयुज्यते, एवं भागिनेय इति संज्ञा स्वभगिनीपुत्रत्वसम्बन्धात्, तथैव व्यवहारात्, **बुद्ध्यपेक्षश्च** व्यवहारे व्यवहर्तव्यज्ञानं कारणमिति व्यवहारो व्यवहर्तव्यबुद्धिं स्वजननायापेक्षते इति व्यवहारो बुद्ध्यपेक्षो व्यवहाराच्च संज्ञा प्रवर्तते इति. सज्ञाऽपि बुद्ध्यपेक्षा । नन्वेवं विकल्पात्मकज्ञानाद् व्यवहारो न तु व्यवहाराद् विकल्प इति संज्ञा-विकल्पौ व्यवहारत इति प्रतिज्ञा हीयेतेत्यत आह—**कार्यश्चाज्ञस्य बुद्धय** इति, अत्र 'कार्यश्चा°' इत्यस्य स्थाने 'कार्यं चा°' इति पाठो युक्तः । अज्ञस्य प्रथमतः सम्बन्धादिसज्ञानिमित्तानभिज्ञस्य बालस्य, व्यवहर्तव्यपदार्थाना बुद्धयो विकल्पा, कार्यश्च प्रयोजकप्रयोज्यवृद्धव्यवहारकार्यं च अनादिवृद्धपरम्पराप्रवाहतः समागता इमे सज्ञाविकल्पव्यवहाराः तत्राज्ञस्य व्यवहाराद् विकल्पबुद्धयोऽज्ञस्य तु व्यवहर्तव्यज्ञानाद्

व्यवहार-बीजाङ्कुरवदनवस्थेय प्रामाणिकी न दोषावहेत्याशयः, केय संज्ञानामित्याकाङ्क्षायामाह-**संज्ञास्त्विति** सज्ञाः पुन , **भाव-द्रव्यादिनिमित्ताः** द्रव्यादीत्यादिपदाद् गुणादेरुपग्रहः, भावः-सामान्य तन्निमित्तका सज्ञा द्रव्यगुणकर्मघट-पट-मठादिरूपरसाद्युत्क्षेपणापक्षेपणादिका, द्रव्यनिमित्तका सज्ञा, दण्डी कुण्डलीत्यादिका गुर्णनिमित्तका द्रव-गुरु-स्निग्धादिका, कर्मनिमित्तका पण्डिताध्यापकादिका, सज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तत्वं च वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपास्थितिप्रकारत्वम्, **समयात्मिकाः** यद्यपि समय. सङ्केत· अस्मात् पदादयमर्थो वोद्धव्य इति इदम्पदममुमर्थं वोद्धव्य इति वेच्छा, सा चेश्वरेच्छैवेश्वरोपगन्तृवैशेषिकादिमते ईश्वरानभ्युपगन्तृमते त्विच्छामात्र, तदात्मकत्वं च न शब्दविशेषस्वरूपाया· सज्ञायाः, तथापि समयविषयत्वेन समयत्व तत्रोपचर्यसमयात्मिका इत्युक्तिः ॥१७॥

निरुक्तिभेदेनोपचारतश्च संज्ञासमयमतिक्रम्यापि प्रवर्त्तत इत्याह—

निरुक्तार्थोपचारभ्यामेता जातिविभक्तिषु ।
हिनोति हीयते वेति हेतुं गृह्णन्त्यमी गृहाः ॥१८॥

निरुक्तार्थेति । निरुक्तार्थोपचाराभ्यां निरुक्त्या प्रत्येकपदावयवशक्त्या लभ्योऽर्थो निरुक्तार्थ., उपचारः कार्यं कारणभावसम्बन्धमाश्रित्य कारणवाचकशब्दस्य कार्ये प्रवृत्ति. कार्यवाचकशब्दस्य कारणे प्रवृत्ति. एव स्वस्वामिभावसम्बन्धादिकमाश्रित्य स्वामिवाचकशब्दस्य सेवकादौ सेवकादिवाचकशब्दस्य स्वाम्यादौ प्रवृत्तिः ताभ्याम्, **एताः** संज्ञाः, **जातिविभक्तिषु** प्रवर्तन्ते, यथा गृहशब्दो रूढ्या गेहे प्रवर्त्तते, निरुक्त्या तु **हिनोति** विनाशयतीति हेतुः, **वा** अथवा, **हीयते** क्षीयते इति हेतुः, त **हेतुं गृह्णन्ति** धारयन्ति, **अमी** प्रत्यक्षतो गृह्यमाणाः, **गृहाः** अत्र ये केचन हेतुधारणसमर्था गेहा अन्ये वा ते ते सर्वेऽप्युक्तनिरुक्त्या गृहसञ्ज्ञका इत्यर्थः ॥ १८ ॥

उपचारतोऽन्यार्थमुपदर्शयति—

अन्योऽन्यथा स द्रव्यादिसत्ताभावात् सदान्तरम् ।
अनारम्भाविनाशाच्च तेषु स्मृतिविरोधिनः ॥ १९॥

अन्य इति । **अन्यः** अनुपचरितार्थाद् भिन्नः, यथा घृतमायुःशब्दानुपचरित-पुरुषार्थाद् भिन्नम्, **अन्यथा** आयुःशब्दप्रवृत्तिनिमित्तायुस्त्वप्रकारान्यायुःकारणत्व-प्रकारेण, **सः** आयुःशब्दवाच्य, **सदा द्रव्यादिसत्ताभावात्** सदा सर्वदा, द्रव्यादिरूपेण सत्तायाः सत्त्वस्य भावात् यद् द्रव्यरूपेण यद्गुणादिविशेषवत्त्वरूपे-णानुपचरितोपचरितार्थयोः सत्त्व तस्य सर्वदाभावात् न ह्यनुपचरितमुपचरितं भवति उपचरित वाऽनुपचरित भवतीति, **अन्तरं** भिन्नम्, भेदे हेत्वन्तरमाह— **अनारम्भाविनाशाच्च** यो हि यस्मादभिन्नो भवति स तस्योत्पादे उत्पद्यते तस्य विनाशे च विनश्यति, उपचरितार्थस्तु अनुपचरितार्थोत्पादे नोत्पद्यते अनुपचरितार्थविनाशे च न विनश्यति एवमनुपचरितार्थोऽपि उपचरितार्थोत्पादे नोत्पद्यते उपचरितार्थविनाशे च न विनश्यति अतोऽनारम्भाविनाशादुपचरिता-नुपचरितार्थयोरन्तरं समस्तीति, एते च हेतव, **तेषु** उपचरितानुपचरितार्थेषु, **स्मृतिविरोधिनः** उपचाराच्छब्दाद् यदोपचरितार्थ स्मर्यते तदानुपचरितार्थस्य न स्मरणमित्युपचाराश्रयणे उपचरितार्थस्मृतिलक्षणपदार्थोपस्थित उपचरितार्थस्यैवा-न्वयबोध, शक्त्याश्रयणे तु शक्तिग्रहणत शक्यार्थस्मृतिलक्षणपदार्थोपस्थितितः शक्यार्थस्यैवान्वयबोध इति व्यवस्थोपपद्यते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

उपचारत कार्यान्तरवशादेकस्यापि वस्तुन एकदाऽपि भूतत्व वर्त्तमानत्वं भविष्यत्व चेत्युपदर्शयति—

अभूदभूताद् भवतीत्यपेक्षा चापि कारणात् ।
भविष्यतीति दृष्टत्वात् कार्यान्तरनियोगतः ॥२०॥

अभूदिति । **अभूदभूताद् भवतीति** यत् कार्य यस्य करणीय तत् कार्य तस्य निष्पन्न चेत् तदा तदपेक्षयाऽभूत् स इति व्यपदिश्यते यथा कश्चित् पुरुष सङ्ग्रामे शत्रून् पराजित्य समागतस्तदानीं शूरोऽपि सन् शूरकार्यपरम्परा भवापेक्षया भवान् शूरोऽभूदिति व्यपदिश्यते, यदा च सङ्ग्रामे शत्रुपराभव कर्तुं समुद्यतस्तदा न भूतोऽभूत् परपराजय किन्तु अचिर भविष्यतीति वर्त्तमानसमीपं वर्त्तमान भवतीति अभूतापेक्षया भवान् शूरो भवतीति व्यपदिश्यते, **अपेक्षा चापि** इयमेवेक्षाऽऽश्रिता, साऽपि **कारणात्** पूर्वमपि भवान् परपराजय कृत-

वानेव किन्तु इदानीं यो मल्लो रणार्थमुपस्थितः स पराजितपूर्वमल्लादधिकतरबलवानिति एतत्पराजये पूजनीया ते शूरतेत्येतस्मात् कारणात्, इतोऽपि प्रबलतरं शूरं भवानुत्तरकाले पराजयिष्यतीति, भवान् शूरो **भविष्यतीति**, एवमन्यत्राप्यपेक्षया वर्त्तमानेऽपि कालत्रययोजना कार्येति, न चायमपेक्षाकृतकालत्रयसम्बन्धो वर्त्तमानस्याप्रामाणिकोऽनुभूयमानत्वादित्याह–**दृष्टत्वात् कार्यान्तरनियोगतः** कार्यान्तरप्रेरणातोऽनुभूयमानत्वात् कार्यान्तरप्रवृत्तये उत्साहाधानायेत्थमपेक्षाकृतसम्बन्धस्य दृष्टत्वादिति यावत् ॥ २० ॥

प्रत्यक्षाविषयेष्वपि वस्तुषु अदृष्टविशेषत सामान्यतः संशयादिकमुपदर्शयति–

आत्ममानससंयोगविशेषादेव खादिषु ।
सामान्यात् संशय-स्वप्न-स्मृतीश्चादृष्टसंस्कृतैः ॥२१॥

आत्ममानसेति । **खादिषु** आकाश-काल-दिगादिष्वतीन्द्रियेषु, **आत्ममानससंयोगविशेषादेव** आत्मनो मनसा सह यः संयोगविशेषस्तस्मादेव, एवकारेणान्यत्र संशयकारणस्य साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानासाधारणधर्मवद्धर्मिध्यानविप्रतिपत्त्यादेर्व्यवच्छेदः, **सामान्यात्** किंस्विदित्यादिरूपेण, न तु विशेषतोऽयमाकाशो नवा कालो नवेत्यादिरूपेण 'संशयस्वप्नस्मृतीश्चा°' इत्यस्य स्थाने 'संशयः स्वप्नः स्मृतिश्चा°' इति पाठो युक्तः । **संशयः** एकधर्मिकविरुद्धभावाभावोभयप्रकारकं ज्ञानम्, **स्वप्नः** वहिरिन्द्रियव्यापारासम्पृक्तमनोव्यापारप्रभवं ज्ञानं, **स्मृतिश्च** भावानासंस्कारद्वाराऽनुभवजन्यज्ञानं, भवन्तीति शेषः, कैरित्याकाङ्क्षायामाह—**अदृष्टसंस्कृतैः** शुभाशुभजनकादृष्टविशेषसध्रीचीनकारणैः ॥ २१ ॥

सुप्तोत्थितस्य पूर्वमिन्द्रियादिसन्निकर्षाभावादाद्य प्रबोधज्ञानं कुत इत्याकाङ्क्षायामाह —

संप्रबुद्धेषु विज्ञानमभिसन्धिविशेषतः ।
सतत्त्वव्यञ्जनं तेषां प्रदीपद्रव्ययोगवत् ॥ २२ ॥

संप्रबुद्धेष्विति । संप्रबुद्धेषु सद्य सुप्तोत्थितः पुमान् सम्प्रबुद्ध इत्युच्यते, ततः सुप्तोत्थितेषु, **विज्ञानं** सम्प्रबोधात्मकं ज्ञानम्, **अभिसन्धिविशेषतः**

अभिसन्धिः पूर्वानुसन्धानं तद्विशेषः मनसि स्वप्नवहनाडीसन्निकृष्टपुरीततिनाडीतो वहिर्भावस्तस्मात् पुरीततिनाडीवहिर्भूतमनसा सहात्मनः संयोगविशेषादिति यावत् भवतीति शेषः, तदेव प्रबोधज्ञानं, **तेषां** सम्प्रबुद्धानां, **सतत्त्वव्यञ्जनं** तत्त्वेन प्रतिनियतविषयेणासाधारणधर्मवता सहितं सतत्त्वं ¦ तत्तदसाधारणधर्मवद्विषयकज्ञानं तस्य जनकं, **प्रदीपद्रव्ययोगवत्** यथा चक्षुरिन्द्रियेण संयुक्तेऽपि विषये यावत्-प्रदीपाद्यालोकसंयोगो न भवति तावत्तद्विषयज्ञानं नोपजायत इति प्रदीपद्रव्यसंयोगस्तज्जनकत्वाद् व्यञ्जकस्तथेत्यर्थः ॥ २२ ॥

नन्वेकस्मिन् ज्ञाने निरंशे सर्वथा विजातीयानामक्ष-मनो-बुद्ध्यादीनां तत्तदंशभेदप्रयोजकत्वाभावादेकावयविस्वरूपतालक्षणव्यूहासम्भवादेकस्याविशिष्टज्ञानलक्षणकार्यस्यैकेनैव सम्भवादनेकेषामेकस्वरूपप्रविष्टत्वासम्भवादेकस्वरूपप्रवेशे वासङ्कीर्णत्वं तेषां स्यादित्यत आह—

अव्यूहादङ्कुरैः सौक्ष्म्यान्नैकदीपप्रकाशवत् ।
एतेनाक्ष-मनो-बुद्ध्याद्यसंकरविनिर्णयः ॥२३॥

अव्यूहादिति । **अङ्कुरैः** अनेकसूत्रनिकरैर्वर्त्तिकालक्षणैः **अव्यूहाद्** अवयवात्मकव्यूहाभावात्, **सौक्ष्म्यात्** प्रत्येकं सूक्ष्मरूपत्वात्, **नैकदीपप्रकाशवत्** यथाऽनेकदीपप्रकाशो भवति तथा, परस्परसहकृतैरनेकधर्मयोग्यैकज्ञानं भवति तत्राक्षस्य स्पष्टतालक्षणधर्मे उपयोगः, मनसः आत्म-मनःसंयोगलक्षणासमवायिकारणप्रभवत्वप्रयुक्तात्मविशेषगुणत्वे उपयोगः, बुद्ध्यादेश्च तत्तद्विषयविषयकत्वे उपयोग इति निरंशत्वेऽप्यनेकधर्मवत्त्वात् तत्र तत्तद्धर्मसंपादनप्रयोजकत्वेनानेकेषां विजातीयानामेकस्मिन्नुपयोगो नासङ्गत इति, अत एव सङ्कीर्णत्वमपि न तेषामित्याह—एतेनेति । **एतेन** सूक्ष्मानेकपत्तिकाप्रभवानेकसूक्ष्मदीपप्रकाशसङ्घटितमूर्त्तिदीपप्रकाशेऽनेकेषां प्रकाशकारणानामसङ्कीर्णतादृष्टान्तेन, **अक्ष-मनो-बुद्ध्याद्यसंकरविनिर्णयः** प्रत्यक्षत्वाद्यनेकधर्मकलितैकज्ञानकारणानां वहिरिन्द्रियान्तःकरणबुद्ध्यादीनामसङ्करस्य परस्परविविक्तस्वरूपत्वस्य विनिर्णयो भवतीत्यर्थः ॥२३॥

अदृष्टविशेषौ धर्माधर्मौ विविक्तौ विभिन्नफलदर्शनप्रमाणेन साधयति—

अक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखप्रमाणतः ।
इच्छाद्वेषवतो यस्माद् धर्माधर्मविक्लृप्तयः ॥२४॥

अक्षप्रदोषेति । अक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखप्रमाणतः अक्षप्रदोषः चक्षुरादिगतकाणान्ध्य-कौष्ठ्य-बाधिर्यादिलक्षणः, अध्यारोपः अन्यस्मिन्नन्यधर्मसमारोपो विशेषादिस्वरूपो मनोदोषः, विद्या अधीतग्रन्थादियथार्थज्ञानम्, सुखं प्रसिद्धम् अक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखान्येव प्रमाणं अक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखप्रमाणं तस्मादक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखप्रमाणतः, **इच्छाद्वेषवतः** रागद्वेषवतः पुंसः, **यस्मात्** यस्मात् कारणात्, **धर्माधर्मविक्लृप्तयः** अयं धार्मिकः विद्यासुखादिमत्त्वात् अयमधार्मिकः अक्षप्रदोषादिमत्त्वादित्येवं धर्माधर्मयोर्विविक्ताः कल्पना भवन्तीत्यर्थः ॥२४॥

शुद्धाभिसन्धानेन या काचित् कायिकी वाचनिकी मानसी वा क्रिया क्रियते सा सर्वापि यस्य कस्यचित् पुंसो यत्र कुत्रापि देशे यदा कदाचिद् वा काले येन केनापि प्रकारेण धर्मविशेषजनिका भवत्येवेत्याह—

शुद्धाभिसन्धिर्यः कश्चित् काय-वाङ्-मानसो विधिः ।
सर्वोऽदृष्टविशेषाय यस्य यत्र यदा यथा ॥२५॥

शुद्धाभिसन्धिरिति । शुद्धाभिसन्धिः अभिसन्धिरभिप्रायः स शुद्धाशुद्धभेदेन द्विविधः, तत्र अनेन कर्मणा सर्वस्वामिकल्याणं भवतु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवत्वित्यभिसन्धिः शुद्धा, अनेन कर्मणा मम शत्रवो म्रीयन्तामित्याद्यभिसन्धिरशुद्धा, शुद्धा अभिसन्धिर्यत्र स शुद्धाभिसन्धिः, यः **कश्चित्** नात्र विशेष आद्रियते, किन्तु **काय-वाङ्-मानसः** अत्र कायादिशब्दस्य कायिकादौ लक्षणया कायिक-वाचिक-मानसिकः, अत्र विकल्पादरे कायिको वा वाचनिको वा मानसिको वेति, त्रिकरणशुद्धस्यैव शुद्धाभिसन्धित्वेन विशिष्टपुण्यजनकत्वे समुच्चयः तेन य एव कायेन कृतो वचसाऽभिस्तुतो मनसा चिन्तितो ध्यातश्च स एव विशिष्टपुण्यजनको नैकैकमात्रमिति, **विधिः** शास्त्रविहितो धर्मानुष्ठानम्, एवंविधोऽप्युपवास-देवादि-

प्रतिष्ठादिभेदेन बहुविध इत्याह- **सर्वः अदृष्टविशेषाय** अदृष्टो धर्माधर्मभेदेन द्विविधस्तत्र प्रकृते धर्म एवादृष्टशब्देनाववोध्यते तद्विशेषः पुण्यानुबन्धिपुण्यरूपस्तन्निष्पत्यर्थम्, अत्र कर्त्तुरधिकारित्वमात्रमपेक्षित न तु कुलादिकमित्यवगतये **यस्येति** तत्तद्विध्यधिकारी पुरुषस्य, यस्मिन् देशे कर्त्तव्योऽस्य विधिः तस्य पुरीषाद्यरहिततैवापेक्षिता न तु तीर्थस्थानादि वेत्यभिसन्धानेनाह-**यत्र** कालोऽपि मूत्रपुरीषाद्युत्सर्गादिकालव्यतिरिक्त एव सामान्येनापेक्षितो न तु पर्वकालादितो विशिष्य तत्रोपादेयेत्याह-**यदेति** तस्य विधेरिति कर्त्तव्यतामात्रमपेक्षित न तु प्रकारान्तरमित्याह-**यथा** इति कर्त्तव्यतासम्पादनप्रकारेणेत्यर्थः । २५॥

विशिष्टफलसम्पत्तये विशिष्टफलसाधनमुपादेयं न तु सामान्यफलसाधनतो विशिष्टफलावाप्तिरिति परमपुरुषार्थमोक्षफलनिष्पत्तये तत्साधनवैराग्यादिकमुपादेयमिति तत्स्वरूपावगम आवश्यक इत्यभिसन्धानेन फलभेदे कारणभेदकल्पनाऽऽवश्यकीत्याह—

द्रव्यादीन्यक्षतार्थस्य प्रसादोभयसाधनम् ।
तत्सामान्यफलान्यैक्यादृते त्वक्षादिकल्पना ॥२६॥

द्रव्यादीनीति । 'प्रसादोभयसाधनम्, इत्यस्य स्थाने' 'प्रसादोदयसाधनम्' इति; 'प्रसादभयसाधनम्' इति वा पाठो युक्त । **अक्षतार्थस्य** न क्षतो विनष्टोऽक्षत. अक्षतोऽर्थ· प्रयोजन यस्य सोऽक्षतार्थस्तस्य, **द्रव्यादीनि** धन-पुत्र-स्त्री कुटुम्बादीनि, **प्रसादोदयसाधनम्** प्रसादश्चोदयश्च प्रसादोदयो तयो. साधनं प्रसादोदयसाधन अक्षतप्रयोजनस्य पुरुषस्य धनादिक प्रसादोदयसाधन भवतीति सर्वजनसिद्धम्, अथवा तस्य पुस द्रव्याद्यपहारकचौरराजाग्न्यादिभ्यो भयमप्युपजायत इति प्रसादभयसाधनम्, **तत्सामान्यफलानि** यस्य कस्यापि पुसो द्रव्यादिभ्य प्रसादोदयौ प्रसादभये वा भवत एवेति प्रसादोदयलक्षणसामान्यफलान्येव द्रव्यादीनि, **ऐक्यादृते तु** फलस्यैकमभेद विना पुन , **अक्षादिकल्पना** चक्षुरादीन्द्रियकल्पना भवति न हि चाक्षुषप्रत्यक्षलक्षण चक्षुरिन्द्रियफल त्वगिन्द्रियादीना नवाऽनुमानफलमनुमितिरिन्द्रियस्येत्येव फलैक्याभावे कारणभेदकल्पनाऽऽवश्यकीत्यर्थ· ॥२६॥

ततः किमित्याकाङ्क्षायामाह—

यथापदार्थविज्ञानं विद्यादृष्टिविशेषतः ।
तत्स्थैर्यमेव वैराग्यं ग्रन्थार्थप्रतिपत्तिवत् ॥२७॥

यथापदार्थविज्ञानमिति । विद्यादृष्टिविशेषतः विद्यैव दृष्टिश्चक्षुस्तस्या विशेषा भेदास्तेभ्यः, **यथापदार्थविज्ञानं** यथावस्थितपदार्थविशिष्टज्ञानं यथा पदार्थस्तथाज्ञानमिति यावत् "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः साक्षात्कर्तव्यः" इति श्रुतेः, श्रवण-मनन-निदिध्यासनानि विद्यादृष्टिविशेषास्तेभ्यो यथा पदार्थविज्ञानं पदार्थतत्त्वसाक्षात्कारः, **तत्स्थैर्यमेव** पदार्थतत्त्वसाक्षात्कारस्य स्थिरत्वमेव, यद्यपि वैशेषिकमते अपेक्षाबुद्धेः क्षणत्रयस्थायित्वं तदन्यज्ञानमात्रस्य द्विक्षणस्थायित्वमेव योग्यविभुविशेषगुणस्य स्वोत्तरोत्पन्नगुणनाश्यत्वनियमादिति पदार्थतत्त्वसाक्षात्कारस्य स्थैर्यं न सम्भवति तथापि यावन्न विमोक्षस्तावत् पदार्थतत्त्वसाक्षात्कारज्ञानधारा निराबाधैवेति तत्सन्तानरूपेण स्थैर्यमभिमतम् "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये" इति श्रुतेः, तस्य तत्त्वज्ञानिनः, तावदेव तावत् कालमेव चिरं विलम्बः अशेषविशेषगुणोच्छेदलक्षणपरममुक्तेर्विलम्बो भवति तावत्कालं जीवन्मुक्त एव स गीयते, यावत् यावत्कालं, न विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणा न विमोक्ष्यते, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !" इति वचनं प्रारब्धकर्मेतराशेषसञ्चितकर्मनाशकत्वमेव तत्त्वज्ञानस्य बोधयति—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥६॥"

इत्यादिवचनं तु प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इत्यभिप्रायकम्, अत एव तत्त्वज्ञानी शूकरादिशरीरोपभोग्यप्रारब्धकर्मक्षपणार्थं कायव्यूहं करोतीति, अथ प्रारब्धकर्मणो भोगेन क्षपणानन्तरं, विमोक्ष्ये संसारकारागारान्तःकर्मनिगडबन्धान्मुक्तो भवतीत्युक्तश्रुत्यर्थः, तदेव **वैराग्यं** मुक्तिसाधनत्वेनाभिमतं वैराग्यम्, न तु सर्वथा रागाभावलक्षणं तत् तस्य मुक्त्ययोग्येऽपि घट-पटादौ सद्भावात्, **ग्रन्थार्थप्रतिपत्तिवत्** यः कश्चिद् विषयरक्तः पुरुषः विषयाणामबलाप्रभृतीना-

मनित्यत्वादिनाऽनादेयत्वप्रतिपादकं मुक्तेरेव परमपुरुषार्थत्वप्रतिपादकं ग्रन्थमधीत्य तदर्थमधिगच्छति अभ्युपगच्छति च तस्य ग्रन्थार्थज्ञानं तदभ्युपगमश्च यथावैराग्य विषयवैतृष्ण्यकारित्वात् तथेत्यर्थः ॥२७॥

मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरावारभते न तु तत्त्वज्ञाननिपीतसलिलतयोषरायामिति प्राचा वचनात् तत्त्वज्ञानिनो न कर्मबीजं दग्धबीजकल्पं धर्माधर्माङ्कुरजननसमर्थमिति तथाविधसामर्थ्यलक्षणोपचयाभावः पुराणस्य तु कर्मणो ज्ञानादेव विनाशलक्षणोऽपचयः आरब्धस्याभ्युपभोगादेव विनाशलक्षणोऽपचय इति संसाराधिकाराभावान्मुक्तो भवतीत्याशयेनाह—

एवमात्मादिसंयोगेनाभिसन्धौ विपश्चितः ।
नवं न चीयते बीजं पुराणं चापचीयते ॥२८॥

एवमिति। **एवमुक्तप्रकारेण, अभिसन्धौ** सत्यां, **आत्मादिसंयोगेन** न आत्मशरीरेन्द्रियादिसंयोगेन, **विपश्चितः** तत्त्वज्ञानिनः, **नवं** नवीनं, **बीजं** कर्मलक्षणबीजं, **न चीयते** न सञ्चितं भवति फलदानसमर्थं न भवतीत्यर्थः, **पुराणं च** मिथ्याज्ञानकालसञ्चितं च कर्मबीजम्, **अपचीयते** किञ्चित्फलमदत्त्वैव तत्त्वज्ञानेन विनश्यति किञ्चिचोपभोगेन शाम्यतीत्यर्थः ॥२८॥

चक्रभ्रमिवत् कञ्चित् कालं प्रारब्धकर्मलक्षणसंस्कारवशाद् धृतशरीरस्य तत्त्वज्ञानिना प्राणायामाद्यष्टाङ्गयोगतोऽणिमा-लघिमाद्यष्टविधैश्वर्यंत उपभोगतश्चाशेषप्रारब्धकर्मक्षयतः शरीरात् प्राणस्य बहिर्गमने पुनः प्राणादेः शरीरान्तःप्रवेशाभावान्मुक्तिरुपपद्यतेतरामित्याह—

प्राणायामादिसामर्थ्यादैश्वर्याच्चोपभोगतः ।
प्राणोत्थितौ मनोऽतन्त्रं न पुनः संप्रयुज्यते ॥२९॥

प्राणायामादीति। **प्राणायामादिसामर्थ्यात्** प्राणायामासन-यम-नियम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिस्वरूपाष्टाङ्गचित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगसामर्थ्यात्, **ऐश्वर्यात्** अणिमा-लघिमा-गरिमाद्यष्टविधैश्वर्यात्, **च** पुनः, **उपभोगतः** अशेषकर्मफलोपभोगात्, **प्राणोत्थितौ** प्राणवायोः शरीराद्, बहिर्गमने **मनः**

अन्तःकरणम् , **अतन्त्रम्** अनियामकम् , प्राणस्य शरीरे सद्भाव एवात्मनो मनसा संयोगे सति ज्ञानादिकमुत्पद्यते प्राणोत्थितौ चाकिञ्चित्कर मनः, **न** पुनः, **संप्रयुज्यते** ज्ञानादिजननाय नात्मना संबध्यते, तदानीमपि विभोरात्मनः मन क्रियया मनसा संयोगोऽस्त्येव न तु ज्ञानादिजननायालम् ॥२९॥

अस्मिन्मते नैक एव तत्त्वार्थः किन्तु ज्ञानव्यतिरिक्ततद्विषयबाह्यार्था-भ्युपगमान्नानास्वरूपं जगत् , तदुक्तम्—

"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति· तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः ।
नोचेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं, तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥७॥"

इत्युपसंहरति—

इहेदमिति संवन्धः समवायोऽस्ति भाववत् ।
संज्ञालक्षणतत्त्वार्थौ नानैव तु जगद्विधेः ॥३०॥

इहेदमितीति । इहेदमिति सम्बन्धः इह कपालादौ इदं घट-पटादिक-मित्याकारकप्रतीतिविषयः सम्बन्धः प्रकारताविशेष्यतान्यविशिष्टबुद्धिनिरूपित-विषयतावान् भूतले घट इति प्रतीतिरपि इहेदमिति प्रतीतिर्भवति तद्विषयः संयोगादिरपीत्यतिप्रसङ्गः स्यात् तद्वारणाय नित्यत्वे सतीति विशेषणं देयम्, यद्यपि नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वमेव समवायस्य लक्षण, तथापि सम्बन्धत्व-घटिका विशिष्टबुद्धिः किमाकारेत्याकारविशेषोपदर्शनार्थमिहेदमिति स्वरूपोप-रञ्जकम् , घटाभावे पटाभाव इति प्रतीतिरपीहेदमिति प्रतीतिस्तन्निरूपित-संसर्गत्वाख्याविषयताशालित्वात् स्वरूपसम्बन्धेऽतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय प्रतियोग्यनु-योगिभिन्नत्वे सतीति विशेषणं देयम् , ततश्चावयवावयविनो गुण-गुणिनोः क्रिया-क्रियावतोर्जातिर्व्यक्त्योर्विशेषनित्यद्रव्ययोश्चायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः पृथग्गतिमत्त्वं युतसिद्धत्वम् ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपरमाश्रित्यैवावतिष्ठते तावयुत-सिद्धाविति वचनादपृथग्गतिमत्त्वमेवायुतसिद्धत्व लभ्यते, एतन्मतेऽतीन्द्रियस्य समवायस्य प्रत्यक्षे प्रकारविशेष्यविधया भानमेव विप्रतिषिद्धमतो विषये प्रत्य-क्षत्वं संसर्गतान्यप्रत्यक्षनिरूपितविषयताशालित्वमेव यथा च पदानुपस्थितस्यापि

शाब्दबोधे आकाशादिगतमाध्यसंसर्गविधया भानं तथेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणं विनाऽपि प्रत्यक्षे समवायभानमिति, उक्तलक्षणकः **समवायः, अस्ति** विद्यते, **भाववत्** सत्तावत् यथा सत्सदित्यनुगतप्रतीतिविषयत्वात् सत्ता विद्यते तथेहेदमिति विशिष्टबुद्धिविषयत्वात् समवायो विद्यते, गुण-क्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषण-विशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद्, दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानमत्र प्रमाणम्, न च स्वरूपसम्बन्धविषयकत्वेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा, अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकस्यैव समवायस्य सिद्धेः रूपस्पर्शादिसमवायस्यैकत्वेऽपि रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायस्य वायावभावान्न वायुः रूपवानिति विशिष्टबुद्धिप्रसङ्ग इत्युपपादितमन्यत्र, तथा च विभिन्न-लक्षणसंज्ञकानां षण्णां द्रव्यादितत्त्वानां जगति सद्भावाद् द्रव्यादिषट्पदार्थसमष्टि-रूपस्य जगतो द्वैतमेव नाद्वैतमित्याह— **संज्ञालक्षणतत्त्वार्थ** इति, **जगद्विधेः** जगद्रूपभावस्य, विधिपदोपादानान्न शून्यमेव जगदिति सर्वं शून्यमिति माध्यमिक-मतव्यवच्छेदः, ब्रह्मैव सर्वमित्यद्वैतवादस्य विज्ञानाद्वैतादिवादस्य च व्यपोहायाह-**तु** पुनः, संज्ञालक्षणतत्त्वार्थं, द्रव्यगुणकर्मादिसंज्ञा, समवायिकारणं द्रव्यं, द्रव्यकर्म-भिन्नत्वे सति जातिमान् गुणः, द्रव्यगुणभिन्नत्वे सति जातिमत् कर्म इत्यादि लक्षणं तत्त्वार्थः द्रव्यगुणाद्यर्थ इत्येवम्, **नानैव** भिन्नैवेत्यर्थः ॥३०॥

ननु संज्ञादीनां भिन्नत्वे एतावन्त एव पदार्था इति व्यवस्थितिर्न स्यात् परिगणितपदार्थव्यतिरिक्तपदार्थोऽपि स्यादित्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह—

नातिप्रसङ्गो घटवत् संशयानुपपत्तितः ।
तमभेदेन संस्थानादेकतश्चेतराविधिः ॥३१॥

नातिप्रसङ्ग इति । **नातिप्रसङ्गः** कणादमुन्युपदिष्टपदार्थव्यतिरिक्त-पदार्थसत्त्वप्रसङ्गलक्षणातिप्रसङ्गो न, यो यः पदार्थोऽतिरिक्ततयाऽऽशङ्क्य तस्य सर्वस्य क्लृप्तेष्वेव पदार्थेष्वन्तर्भावसंभवात्, **घटवत्** यथा घटयोर्मार्दव-सौवर्णयोर्भिन्नत्वेऽपि नातिरिक्तपदार्थता तथा पदार्थान्तरतयाऽऽशङ्क्यमान-पदार्थस्यापि, यथा सुवर्णस्य प्रसिद्धद्रव्येतरतया शङ्क्यमानस्य तेजःपदार्थेऽन्तर्भावः

सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात् यन्नैव तन्नैवं यथा घृतादीत्यनुमानं तत्र प्रमाणम्, अथवा अत्यन्तानलसंयोगिपीतिमगुरुत्वाश्रयः रूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयोगे अत्यन्तानलसंयोगेऽपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणपार्थिवत्त्वात् जलमध्यस्थपीतपटवदित्यनुमानं तत्र प्रमाणम्, नीलं तमश्चलतीत्यादिप्रतीत्या रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च तमसो द्रव्यान्तरत्वमपि न युक्तम्, उद्भूतानभिभूतप्रकृष्टतेजोभावरूपतयैव तमसः प्रतीत्युपपत्तावतिरिक्तद्रव्यरूपतया तत्कल्पनासम्भवान्नीलादिप्रतीतेर्भ्रान्तित्वात्, एवं चन्द्रकान्तमण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते तच्छून्येन वह्निना दाहो जन्यते इति दाहं प्रति वह्नेर्वह्नित्वेन न कारणत्वं किन्तु दाहानुकूलशक्तिमत्त्वेन, चन्द्रकान्तमणिना दाहानुकूलशक्तिर्नश्यतीत्यतो न दाहः तदसमवधानेन सूर्यकान्तमणिसमवधानेन च शक्तिरुत्पद्यत इति दाह इत्येवंकारणमात्रस्य कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वमिति कारणतानवच्छेदकतया शक्तिकल्पनाऽपि न भद्रा, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यादेर्दाहं प्रतिबन्धकत्वेन तदभावस्य दाहं प्रति कारणत्वेन तादृशकार्यकारणभावकल्पनयैवोपपत्तौ गौरवेण शक्तिरूपपदार्थान्तरकल्पनाया अनुचितत्वात्, सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति पदार्थान्तरापत्तिलक्षणाऽतिप्रसङ्गो न भवतीति, तथाऽव्यवस्थितपदार्थाऽभ्युपगमः, **संशयानुपपत्तितः** न संभवति, संशये कोटिद्वयभानं कोटिद्वये सति भवति, यदि कोटिद्वयव्यतिरिक्ता तृतीयाऽपि कोटिः स्यात् तदा तन्निर्णय एव न संशयः, एवं पदार्थाद्वैताभ्युपगमोऽपि संशयानुपपत्तितो न संभवतीति, अद्वैते कथं संशयानुपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह—**तमभेदेने**ति तं संज्ञालक्षतत्त्वार्थम्, अभेदेन एकतया, **संस्थानात्** सम्यग्प्रकारेण व्यवस्थानात्, **एकतश्च** एककोटितश्च, **इतराविधिः** अपरकोटिविधानं नास्ति ॥३१॥

भवतु संशयानुपपत्तिः ततः किं वैशेषिकस्य गृहभङ्ग इत्यत आह—

संशयप्रश्नसमान्य-विशेषप्रविभागतः ।
स्व-परप्रत्ययस्थानवैशेपिकपथान्वयः ॥३२॥

संशयेति । संशयप्रश्नसामान्य-विशेषप्रविभागतः कथायां तत्त्वा-निर्णयार्थं वादि-प्रतिवादिनोरवताराय मध्यस्थविप्रतिपत्तितः संशयः परस्पर-विरुद्धकोटिद्वयप्रकारकैकविशेष्यकज्ञान, यद्यपि वादि-प्रतिवादिनोः स्वस्वपक्षनिर्णयो-ऽस्त्येव तस्य संशयप्रतिबन्धकत्वात् संशयो न सम्भवति, तथापि मध्यस्थ-वाक्यादाहार्यसंशयो बोध्य., ततो वादिना विधेय. प्रश्नः स्वाभ्युपगतार्थसाधनं तदेतत्स्थापनानुमानमुच्यते तस्य सामान्य-विशेषौ यौ विषयौ तयो. प्रकर्षेण विभागतो विभजनत· यथा शब्दो नित्यो नवेति संशयः तदनन्तरं वादिनो मीमांसकस्य शब्दो नित्य एवेति प्रश्नः तस्य शब्दसमान्यं नित्यमिति विशेष-ध्वनिरूपो वर्णरूपो वा शब्दविशेषो नित्य इति विभजनतः, **स्व-परप्रत्यव-स्थानवैशेषिकपथान्वयः** स्वपरेति स्वस्य परस्य प्रतिवादिनो वा यत् प्रत्यवस्थानं प्रतिविधानं तेन वैशेषिकस्य पथोऽभ्युपगममार्गस्तस्यान्वयः सम्बन्धो भवति संशयादिना क्रमेण प्रश्न-प्रतिविधानाभ्या यथावद्वस्तुनिर्णयो भवति नान्यथेति वैशेषिकाणां पन्थाः अत· संशयोऽवश्यमभ्युपेय इति संशयानुपपत्तौ वैशेषिकमार्ग एवोच्छिद्येतेति जगद्विधेः संज्ञालक्षणतत्त्वार्थो नानैवेति व्यवस्थितम् ॥३२॥

धीमान् वादिदिवाकरो नयविदामग्रेसर· प्रोक्तवान्
संक्षेपात् कणभुग्मतं व्यवहृतेर्वीरोक्तनीतेः कणम् ।
तस्मात् तत्कथनं स्तुतिभर्गवतो निष्पीडनाद् युज्यते
व्याख्यान च ममापि तत्र सुगमं किं नेदमेवविधम् ॥

इति चतुर्दश्या वैशेषिकद्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ॥

पञ्चदशी बौद्धसन्तानद्वात्रिंशिका ।

बौद्धानामृजुसूत्रनीतिजनिता धर्मार्थगा देशना
मान्या जैनमतप्रचारनिपुणैः स्याद्वादतः संस्कृता ।
ऊहापोहविचारणैकपथगा मोहापहा भाविता
वीरोत्त्यंशधृतादरा विजयते वीरस्तुतिर्भाविकी ॥

बौद्धवक्तव्यमुपदर्शयति—

नाहंकृतस्य निर्वाणं न सेत्स्यत्यनहंकृतः ।
न वाविद्या विवेकाय न विद्या भवगामिनी ॥१॥

नाहंकृतस्येति । "अहङ्कृतस्य निर्वाणं न, अनहङ्कृतो न सेत्स्यति, 'नवा' इत्यस्य स्थाने 'न चा'" इति पाठो युक्तः । विवेकाय अविद्या न च विद्या भवगामिनी न" इत्यन्वयः । **अहंकृतस्य** अहङ्कारयुक्तस्य, सुखी भवेयं दुःखी च मा भूवमिति तृष्यतः यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनमिति वचनात् स्थिरात्मदर्शनवत इति यावत्, **निर्वाणं** मोक्षः, **न** नैव, स्थिरात्मदर्शनवतः पुत्र-मित्र-कलत्रादिषु रागादेर्मोक्षप्रतिबन्धकस्य संसारोपचयकारणस्य सद्भावात् रागादिक्लेशवासनाविमुक्तिलक्षणो मोक्षो न भवतीति यावत् ।

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्तमिति कथ्यते ॥१॥"

इतिवचनाद् नैरात्म्यदर्शनस्यैव मुक्तिकारणत्वं बौद्धसम्मतम्, अत एवैतन्मत व्यवहारविघातकत्वान्नादेयम्, स्थिरात्मदर्शनस्य मुक्तिकारणतया नैयायिकादिसम्मतस्य व्यवहाराविघातकत्वान्मोक्षजनकत्वेनादेयत्वम्, तदुक्तमुपाध्यायेन यशोविजयेन महावीरस्तुतौ—

"नैरात्म्यदृष्टिमिह साधनमाहुरेके सिद्धे परे पुनरनाविलमात्मबोधम् ।
तैस्तैर्नयैरुभयपक्षसमापिते वाग् आद्यं निहन्ति विशदव्यवहारदृष्ट्या ॥२॥"

इति, **अनहंकृतः** अहङ्काररहितः, **न सेत्स्यति** सिद्धिरत्र मुक्तिः, तेन मुक्तो न भविष्यतीत्यर्थः, क्षणिकचित्तसन्ततिरूपात्मनि पूर्वपूर्वक्षणस्योत्तरोत्तर-

क्षणाननुगामित्वादनहङ्कृत पूर्वक्षण सिद्धिक्षणभिन्नत्वात् तदानीमभावाच्च न युज्यते तस्य मुक्तिरित्यर्थः, **अविद्या** भवसक्ता, **विवेकाय** विवेकप्राप्तये न भवति विवेककाले अविद्याया अभावात्, **विद्या** तत्त्वज्ञान, **भवगामिनी** भवकालवृत्तिः ॥१॥

तत किमित्याकाङ्क्षायामाह—

अन्योऽन्यविपयान् पश्यन् पुद्गलस्कन्धशून्यता ।
न जानाति शमैकार्था बुद्धानां धर्मदेशनाः ॥२॥

अन्योऽन्येति। "पुद्गलस्कन्धशून्यता" इत्यस्य स्थाने "पुद्गलस्कन्धशून्यताः" इति पाठो युक्तः । "अन्योऽन्यविषयान् पश्यन् शमैकार्थाः पुद्गलस्कन्धशून्यताः न जानाति इति बुद्धाना धर्मदेशनाः" इति सम्बन्धः । **अन्योऽन्यविषयान्** अहङ्कारनिर्वाणाऽनहङ्कारसिद्धिविवेका विद्या विद्याभवान् परस्परविरुद्धस्वभावान्, **पश्यन्** साक्षात्कुर्वन् जन, **शमैकार्थाः** शमरूपैकप्रयोजनकाः, **पुद्गलस्कन्धशून्यताः** सर्वे पुद्गला सर्वे स्कन्धा. सर्व शून्यम्, **न जानाति** नावगच्छति, किमेताः, **बुद्धानां** बुद्धदेवताकानाम्, **धर्मदेशनाः** धर्मोपदेशवचनानि ॥२॥

पुद्गल-स्कन्धयोर्भेदमुपदर्शयति—

संख्यादिभेदादन्यत्वं भवाच्चेन्योऽन्यसङ्करः ।
स्कन्ध-पुद्गलयोर्यस्मात् स्कन्धमात्रागतः पुमान् ॥३॥

संख्यादिभेदादिति । सङ्ख्यादिभेदात् पुरणाद् गलनाच्चैकैकमपि पुद्गलसंज्ञकमित्यानन्त्य पुद्गलाना रूपस्कन्ध-विज्ञानस्कन्ध-वेदनास्कन्ध-संज्ञास्कन्ध-संस्कारस्कन्धेति पञ्चविधत्व स्कन्धानामिति संख्याभेदः, पुद्गलस्य पुद्गलेति संज्ञा, स्कन्धस्य स्कन्धेति सञ्ज्ञेति संज्ञाभेदः, एव विकल्पात्मकबुद्धिभेदोऽपीत्येवम्, **संख्यादिभेदात् स्कन्ध-पुद्गलयोः अन्यत्वं** भेदः, 'भवाच्चेन्योऽन्यसंकरः' इत्यस्य स्थाने 'भवाच्चान्योऽन्यसंकरः' इति पाठो युक्तः । **भवाच्च** उत्पत्तिश्च, **अन्योऽन्यसंकरः** स्कन्धः उत्पद्यमाने पुद्गलोऽप्युत्पद्यते, तत्समष्टेरेव स्कन्धत्वात्, समुदायस्य समु-

दायिव्यतिरेकेणोत्पत्तेरसम्भवात्, तद्भेदोपदर्शनप्रयोजनमाह—**यस्मात्** यस्मात् कारणात्, **स्कन्धमात्रागतः** स्कन्धमात्रेण पञ्चस्कन्धमात्रेण न तु तद्व्यतिरिक्ततया, **आगतः** प्राप्त, **पुमान्** पुरुषः आत्मा न कश्चित् स्कन्धव्यतिरिक्तः किन्तु स्कन्ध एवेत्यर्थः ॥३॥

वास्तविकस्य समुदायिव्यतिरिक्तस्य स्कन्धस्य भावे पदार्थविभागः स्कन्धात्मतया किमिति क्रियते इत्याकाङ्क्षायामाह—

सेनावनवदेकान्तबुद्धेः प्रज्ञप्तिसौष्ठवात् ।

कीलवत् क्रियते मिथ्या मानकीला प्रवृत्तये ॥४॥

सेनावनवदिति । **सेनावनवत्** यथा रथ-तुरग-पदातीनामेकप्रतीत्युपपत्तये सेनेति संज्ञा आम्र-तिलक-शिंशपादिवृक्षगुल्मलतादीना वनेति संज्ञा च तथा, **एकान्तबुद्धेः** रूपस्कन्धः एक एव, विज्ञानस्कन्ध एक एवेत्येवमेकत्वविकल्पतः, **प्रज्ञप्तिसौष्ठवात्** प्रज्ञापनस्य सौकर्यात्, तत किमित्याकाङ्क्षायामाह—**कीलवत्** यथा कीलकं ऊर्ध्वाधोव्यवस्थितानेककाष्ठादिकमन्तःप्रविश्यैकीकृत्यैकप्रतीतिव्यवहारसंज्ञादिक काल्पनिकं करोति तथा, **प्रवृत्तये** लोकव्यवहाराय, **मिथ्या** तत्त्वाभावेऽपि तत्त्वाभासतया प्रवर्त्तमानत्वादवास्तको, **मानकीला** इदमत्र मानमिदमत्र मानमित्यनुगतिलक्षणा, **क्रियते** जन्यते, तत एवैकसन्तत्यनुस्यूतत्वात् पिता, पितामहादि-पुत्र-पौत्रादिव्यवहृतिरुपजायत इत्यर्थः ॥४॥

एवं प्रवृत्तितः किं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—

ममत्वाभिगमात् सत्त्वस्तच्च्युतो भ्रष्टराजवत् ।

भारहारादियोगास्तु व्याससंग्रहणाङ्गवत् ॥५॥

ममत्वाभिगमादिति । **सत्त्वः** आत्मा, **ममत्वाभिगमात्** धन-पुत्र-कलत्रादौ ममत्वाभिसम्बधात् भवतीति शेष, ममेद धन, अय मम पुत्रः, ममाय पिता, इयं मम भार्येत्येवमभिसम्बन्धाद् रागवान् प्राणी भवतीत्यर्थः, **तच्च्युतः** तस्माद् यत् किञ्चिदंशेनापि च्युतः यत्र ममताऽभिनिवेशः तस्माद् द्वेषादिकारणेन च्युतो दूरीभूतः, **भ्रष्टराजवत्** यथा राज्यात् परिभ्रष्टो राजा

राज्यादिभ्रंशजनितशोकादिनाऽभिभूतो भवति तथाऽयमपि, **भारहारादियोगास्तु** भारस्य स्कन्धोपरिवहनं हारस्य मुक्ताहार-पुष्पमालादेर्हृदि धारणमित्येवं भारहारादि-सम्बन्धाः पुनः, **व्याससङ्ग्रहणाङ्गवत्** यथा व्यस्तानामङ्गानां प्रसारिता-नामाकुञ्चनक्रियया सग्रहण सम्मेलन ततो व्याससङ्ग्रहणधर्मकमङ्ग भवति तथा वस्तुतः प्रसारणाकुञ्चनक्रिययोरभावान्न व्यास-सङ्ग्रहणे इति तद्वदङ्गं न भवत्येव किन्तु काल्पनिकस्तथाव्यवहारस्तथा भारहारादियोगा अपीत्यर्थः ॥५॥

सन्तानं वस्तुस्थित्याऽवक्तव्यमात्मनः सत्त्ववाच्यस्यैकस्यासत्त्वतो नैरा-त्म्यभावनार्थं वेत्युपदर्शयति—

अवक्तव्यमसद्भावात् प्रश्नार्थस्य खपुष्पवत् ।
संतानं भावनार्थं वा सरित्स्रोतप्रदीपवत् ॥६॥

अवक्तव्यमिति । "प्रश्नार्थस्य असद्भावात् सन्तानमवक्तव्यं खपुष्पवत्, वा भावनार्थं सरित्स्रोतप्रदीपवत्" इत्यन्वयः । **प्रश्नार्थस्य** सन्तानं सन्तानिभ्यो भिन्नम् अभिन्नं वा, यदि भिन्नं, तदा स्थिर आत्मैव नामान्तरेण स्वीकृतः स्यात्, अथाभिन्न न तर्हि सन्तानं किञ्चित् सन्तानी च प्रत्येक तत्तत्क्षणवृत्तित्वादि भिन्नमेवेति अन्येन सन्तानेनाऽनुभूतस्यान्येन स्मरण न स्यादित्यादयो दोषा आपतन्तीत्येवं प्रश्नार्थस्य, **असद्भावात्** भेदाभेदौ यदि भवतः तदा तदुभय-विकल्पजनितप्रश्नार्थसद्भावो भवेत्, न चैवम्, भेद किं स्वरूपलक्षणो वैधर्म्य-लक्षणोऽन्योऽन्याभावलक्षणो वा, न स्वरूपलक्षणः स्वस्मिन् सम्बन्धाभावेनाधि-करणस्वरूपस्य तस्याधिकरणवृत्तित्वासम्भवात्, एव न केवलो भेदोऽधिकरण-स्वरूपः किन्तु प्रतियोगिघटितमूर्त्तिः स तथा तथा च प्रतियोगिघटितस्य तस्या-धिकरणस्वरूपत्वे प्रतियोगिनोऽप्यधिकरणस्वरूपत्व स्यादिति ययोर्भेदो विवक्षित-स्तयोरभेद एव स्यात् वैधर्म्यमपि भेदस्तदैव भवेत् यदि वैधर्म्ययोर्भेदो भवेत्, अन्यथा वैधर्म्ययोरैक्ये एकस्य धर्मस्य तत्र सद्भावे तदभिन्नस्याद्वितीयस्यापि तत्र सद्भावात् समानधर्मतैव स्यान्न विधर्मतेति, सोऽपि भेदो न स्वरूपलक्षणः पूर्वदोषग्रस्तत्वात् नापि वैधर्म्यलक्षणः तत्रापि वैधर्म्यलक्षणभेदस्यावश्यं

स्वीकर्तव्यतेत्यनवस्थापत्तेः, अन्योऽन्याभावलक्षणोऽपि भेदः प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां भिन्न एव तद्भेदप्रतीतिविषयोऽभ्युपेयोऽन्यथा तस्य ताभ्याममभेदे तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति प्रतियोग्यनुयोगिनोरप्यभिन्नत्वं न स्यात्, अन्योऽन्याभावे प्रतियोग्यनुयोगिभ्या भेदश्च स्वरूपवैधर्म्यलक्षणभेदयोर्दूषितत्वादन्योऽन्याभाव-लक्षणभेद एवाभ्युपेयस्तत्रापि प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां भेदोऽन्योऽन्याभाव इत्यनव-स्थानमिति भेदस्यासम्भवे तदभावलक्षणोऽभेदोऽपि न सम्भवतीत्येवं प्रश्नार्थस्या-सद्भावात्, **सन्तानमवक्तव्यम्** अनिर्वचनीयम्, **खपुष्पवत्** गगनकुसुमवत्, **वा** अथवा, **भावनार्थं** नैरात्म्यदार्ढ्यभावनार्थम्, **सरित्प्रोतप्रदीपवत्** यथा सरिन्नदीवेगवत्तरङ्गसन्तानतरलिताऽस्थिरस्वभावा तत्र प्रोतः प्रदीपोऽपि पवन-सम्पर्कादत्यन्तमस्थिरस्वभावस्तथा सन्तानमपीति क्षणिकत्वान्न स्थिरस्वभाव आत्माऽपीति नैरात्म्यभावना दृढा भवतीत्यर्थः ॥६॥

भावनार्थं सन्तानमित्युक्तं तदेव विशदयति—

महाभूतोच्छ्रयो रूपं विज्ञानं विषयो नयः ।
देवनाट्यपृथग्भावो नृजात्यादिविकल्पवत् ॥७॥

महाभूतोच्छ्रय इति । **महाभूतोच्छ्रयः** महान् भूतस्योपचयः पर्वत-नदी-समुद्रादिः, **रूपं** रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाणुसमुच्छ्रयः, **विज्ञानं** विज्ञानाणुविशेषपुञ्जा-त्मकम्, **विषयः** चक्षुरादीन्द्रियादिगोचरो ग्राम नगर-देश-लोकादिः सङ्घातविशेष, **नयः** एकतया सामान्यविशेषादिरूपतया क्षणिकादिरूपतया वा नयनं सङ्ग्रहादिः साम-दान-दण्डभेदादिराजनीतिर्वा, **देवनाट्यपृथग्भावः** देवानामिन्द्राग्नि-वरुणादीना पृथग्भावस्तत्तद्दिक्पालतया पृथक्त्वं तथा नाट्यना च पृथग्भावः, एतत् सर्वं काल्पनिकमित्यावेदनाय निदर्शनमाह—**नृजात्यादिविकल्पवदि**ति मनुष्यजाति-पशुजाति–पक्षिजाति-तदवान्तरब्राह्मण-क्षत्रियादि-गोऽश्वादिगरुत्मत्कादि-जातिविकल्पनं यथा तथेत्यर्थः ॥७॥

अन्यदपि नैरात्म्यभावनार्थबौद्धप्रपञ्चितमुपदर्शयति—

विपर्यासात्मकं मोहसङ्घात् तृष्णा स्मृतेर्मनः ।
संकल्पश्चेतनाकर्म चेतयित्वोपचारतः ॥८॥

विपर्यासात्मकमिति । "मन. मोहसङ्गाद् विपर्यासात्मक, स्मृते. तृष्णा चेतनाकर्म चेतयित्वोपचारतः संकल्पः" इत्यन्वय । **मनः** अन्तःकरणं, **मोहसङ्गात्** पुत्र-कलत्रादिषु ममत्वाभिसन्धानात , **विपर्यासात्मकं** विपर्ययस्वरूपं भ्रान्तमिति यावत् , **स्मृते**. पूर्वानुभूतेष्टसाधनस्मरणात् , **तृष्णा** इदं मे स्यादित्यभिलाषः तदात्मक मन , **चेतनाकर्म** ज्ञानविषयीभूतं, **चेतयित्वा** भविष्यत्यनेन कर्मणोत्तरकाले इदं ममेत्येव ज्ञात्वा, **उपचारतः** कारणे मनसि कार्यस्य तादात्म्याध्यासात्, **संकल्पः** मनोऽभिधीयते, उपचारत द्वयस्य विपर्यासात्मकमित्यतृष्णेत्यत्रापि च सम्बन्धः ॥८॥

उपचारतो भावनार्थमुपदर्श्य जातितो भावनार्थमुपदर्शयति—

चक्षूरूपादिसंस्कारसमुत्थं सर्वजातिषु ।
विज्ञानमिव ज्ञातीनां नानात्वमिति जातितः ॥९॥

चक्षूरूपादीति । "सर्वजातिषु चक्षूरूपादिसस्कारसमुत्थ विज्ञानमिव जातितो ज्ञातीना नानात्वमिति" इत्यन्वयः । **सर्वजातिषु** घट-पटादिसर्वसामान्येषु, **चक्षूरूपादिसंस्कारसमुत्थं** नयनरूपालोकमनस्कारप्रभवं, **विज्ञानमिव** घटोऽय घटोऽय पटोऽयमित्याद्यनुगताकारसविकल्पकज्ञान यथा सामान्यस्य वास्तविकस्याभावेऽपि भवति जातितोऽनुगतज्ञातिप्रकल्पनत., तथा **ज्ञातीनां** ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्राणां, **जातितः** कतिपतावान्तरजातित अथवाऽसदुत्तरजातिरिति लक्षणलक्षित, **नानात्वम्** विभिन्नत्वम् न तु वस्तुतो विभिन्ना ज्ञातयः, **इति** एव जातित. भावनीयमित्यर्थ. ॥९॥

जातितो भावनार्थमुपदर्श्योपपत्तितो भावनार्थमुपदर्शयति—

चित्तवद् रूपकार्यस्य वैलक्षण्यं क्षणे क्षणे ।
तद्ध्यजात्यन्तरं तुल्यं न बाध्यत्युपपत्तितः ॥१०॥

चित्तवदिति । "तद्ध्यजात्यन्तरं' इत्यस्य स्थाने 'तद्धि जात्यन्तरं' इति पाठो युक्तः । "चित्तवद् रूपकार्यस्य क्षणे क्षणे वैलक्षण्यम् तद्धि जात्यन्तरं तुल्यम्, उपपत्तितो न बाध्यति" इत्यन्वय. । **चित्तवद्** यथा चित्तस्य क्षणे क्षणे वैलक्षण्यं

घटज्ञान पटज्ञानं मठज्ञानमित्येवं विभिन्नाकारत्वलक्षणं वैलक्षण्यं तथा, **रूपकार्यस्य** रूपलक्षणोपादेयकार्यस्य रसादिलक्षणस्य ज्ञानादिलक्षणस्य वा सहकार्यस्य, **क्षणे क्षणे** प्रतिक्षणं, **वैलक्षण्यं** ततो ज्ञानं यथा क्षणिक तथा रूपादिकमपीति, **तद्धि** रूपकार्यं तु, **जात्यन्तरं** कारणीभूतरूपजातीयाद् भिन्नजातीय तथा च विजातीयस्य क्षणान्तरे विलक्षणस्य भावेऽपि न रूपस्य विलक्षणस्य भाव इति न क्षणे क्षणे रूपकार्यस्य वैलक्षण्यं तत्राह– **तुल्यं** चित्तस्यापि द्वितीयक्षणे यद् भवति तन्न चित्तजातीयं किन्तु तदन्यजातीयमिति चित्तस्यापि क्षणे क्षणे वैलक्षण्य न स्यादिति समान-चित्तस्य द्वितीय क्षणे चित्तजातीयमेवानुभूयते नान्यजातीयमिति क्षणे क्षणे चित्तस्य वैलक्षण्य न बाध्यतीति चेत् तर्हि रूपसन्ततौ द्वितीय-तृतीयाद्युत्तररूपकार्य-जातस्य रूपसजातीयस्यानुभवान्न तद्धि जातीयमिति रूपकार्यस्य क्षणे क्षणे वैलक्षण्यं न बाधितमित्याह–**न बाध्यति** क्षणे क्षणे रूपकार्यस्य वैलक्षण्य न बाधामनु-भवति, कुतो न बाधामनुभवतीत्याकाङ्क्षायामाह–**उपपत्तितः** तत्साधकयुक्तितः यथा युक्त्या क्षणिकत्वं सिद्धयति तथैव युक्त्या क्षणे क्षणे वैलक्षण्य सिद्धय-तीत्यर्थः ॥१०॥

शून्यतायां बौद्धमतपर्यवसानमुपदर्शयति—

सत्त्वोपचारौ व्युच्छिन्नौ स्कन्धानां पञ्चकल्पवत् ।
शून्यता वा प्रतिष्ठत्वादेतदेव प्रपञ्चितम् ॥११॥

सत्त्वोपचाराविति । **वा** अथवा, **सत्त्वोपचारौ** सत्त्वमात्मा उपचारश्च कारणे कार्यतादात्म्याध्यासादिः सत्त्वोपचारौ तौ, **व्युच्छिन्नौ** युक्त्या बाधितत्वाद-सद्रूपौ, **स्कन्धानां** समुदायाना, स्कन्धादिभेदेन **पञ्चकल्पवत्** पञ्चविकल्पनं यथायुक्त्या व्युच्छिन्नं समुदाय· प्रत्येकतो भिन्नमभिन्नं वेत्यादि विकल्पनेन तथा सत्त्वोपचारावीति, तदा **शून्यता** माध्यमिकाभिमता सर्वशून्यता सिध्यतीति शेषः, **प्रतिष्ठत्वात्** युक्त्या व्यवस्थितत्वात् पूर्णताया बाधे शून्यताया **एव** व्यवस्थिति·, **एतदेव** अनन्तरोपदर्शितमेव, **प्रपञ्चितं** तथागतेन प्रति-पादितम् ॥ ११ ॥

स्कन्धस्यैवात्मस्थाने अभ्युपगमे तत्रैव रागादिप्रभावादीदृशनैरात्म्यदर्शनतो न मुक्तिरित्याशङ्कामुन्मूलनायाह—

स्कन्धप्रकारं पश्यन्तो जगत्पुष्पोपकारवत् ।
किमस्तीत्युपगच्छेयुः किमेव तु ममेति वा ॥१२॥

स्कन्धप्रकारमिति । जगत्पुष्पोपकारवत् जगतां जन्तूनां पुष्पोपकारः पुष्पस्य सुगन्धघ्राणलक्षणोपकारस्तात्कालिकोऽस्थायित्वान्नोत्तरकाले किमपि फलमादधातीति न तत्र स्थिरफलाभिलाषिणां रागस्तथा, **स्कन्धप्रकारं** रूपस्कन्ध-विज्ञानस्कन्धादिपञ्चप्रभेदम्, **पश्यन्तः** क्षणिकतयाऽवलोकयन्तः प्रमातारः, **किमस्तीत्युपगच्छेयुः** अस्तित्वेन स्थिरत्वेन रूपेण किं स्वीकुर्युः, न किञ्चित् स्वीकुर्युः, **वा** अथवा, **किमेव तु** किं वस्त्वेव पुनः, मम ममेदं पुत्र-कलत्रादिकमित्येवम् स्वीकुर्युः, किमपि वस्तु **ममेति** बुद्धया न स्वीकुर्युः तथा च स्कन्धप्रकारदर्शनेन क्वचिदपि राग-द्वेषादिकं निर्वाणपरिपन्थीत्यर्थः ॥१२॥

यदा बुद्धेन पञ्चस्कन्धरूपतया पदार्था निरूपितास्तथा पञ्चायतनरूपतयाऽपि तत्रापि नैरात्म्यदर्शनं मुक्तिसाधनं भवत्येव रागादेर्मुक्तिप्रतिपन्थिनोऽभावादित्याशयेनाह—

बाह्यमायतनं नात्मा यथा नेत्रादयस्तथा ।
तद्विकल्पगतिश्चित्त-मनः कस्यात्र किं यथा ॥१३॥

बाह्यमायतनमिति । यथा येन प्रकारेण, **नेत्रादयः** नयनादयो बाह्या आत्मानं भवन्ति, **तथा** तेनैव प्रकारेण, **बाह्यमायतनं नात्मा** आत्मा न भवति स्थिरस्वरूपं सत्त्वं न भवतीति यावत् यदाऽऽत्मैव नास्ति तदा चित्त-मनः-प्रभृति किमपि वस्तु न कस्यापि सम्बन्धीति तत्प्रभवराग-द्वेषादिकमपि न कस्यापीत्याह—**तद्विकल्पगतिः** आयतनविकल्पप्रसारः, **चित्त-मनः** चेतयतीति चित्तं मनुते मन्यते वा मनोऽन्तःकरणम्, **अत्र** आयतनस्वरूपे जगति, **कस्य** स्यात्, **किं यथा** किमिव न कस्यापि किमपि सम्बन्धि, सर्वं स्वप्रतिष्ठितं नान्यप्रति-

ष्ठितम् स्वस्वामिभावाधाराधेयभावादिक. सर्वोऽपि सम्बन्ध· सविकल्पकगोचरः सविकल्पकश्च न प्रमाणमिति निगर्वः ॥१३॥

कार्य-कारणभावाद्यवधारणमप्येकेन ज्ञानेन न संभवति यदा कारण तदा न कार्यमिति कारणविज्ञान कार्यं नाकलयति कार्यविज्ञानमपि कारण न गोचरयति सम्बन्धिनोरेकेनाग्रहणे सम्बन्धस्याप्येकेन ग्रहणासम्भवादित्याशयेनाह—

हेतुप्रत्ययवैचित्र्यात् तानेवमिति भक्तयः ।
कथं हि संप्रधार्येत भावो भावविशेषतः ॥१४॥

हेतुप्रत्ययवैचित्र्यादिति । **हेतुप्रत्ययवैचित्र्यात्** हेतु-प्रत्यययोः कारण-ज्ञानयोर्वैलक्षण्यात्, **एवं तान्** एव प्रकारकात्, कार्य-कारणभावादीन्, **इति भक्तयः** एतादृशा विभागाः, स्युरिति शेषः, किन्तु तदवधारणं दुश्शकम्, **हि** यतः, **भाव-विशेषतः** एतस्माद् भावात , **भावः** अस्य कार्यस्य भावः, **कथं** केन प्रकारेण, **संप्रधार्येत** निश्चियेत न कथञ्चिदित्यर्थः ॥१४॥

संप्रधारणाभावमेव द्रढयति—

संमोहात् स्मरणात् तत्त्वकलाभावाच्च कर्मणः ।
क्षणिकत्वादिशुद्धेश्च निर्वाणाच्च प्रदीपवत् ॥१५॥

संमोहादिति । अनेन कारणसमुदायेनामुं कार्यमुत्पादयिष्यामीति बुद्धावा-कलय्य कर्मविशेषेण कारणसमूहमेकत्र सम्मेलयित्वा कार्यमुत्पादयतीति तथाविधात् कर्मणः सप्रधार्येतेति न, **सम्मोहात्** इदमत्र सम्पादितमिदं च सम्पादयितव्य-मिति भ्रंशात्, कथमेवंकारणसमुदाये एकीकृतेऽपि कार्यं न जायते इत्येवं कञ्चित् कालं मुग्धस्य चिन्तातरलितमनसः, **स्मरणात्** चैत्र एतादृशकार्योत्पादनायैवं कृतवान् मया तु नैवं कृतमित्यादिस्मरणात्, वस्तुनो वस्तूपर्येतापि कर्म तु वस्त्वेव न भवति स्थिरे तावत् कर्मसम्भवो वस्तुमात्र च क्षणिकमिति निरन्तरक्षणिक-सन्ततेर्भिन्नभिन्नदेशे उत्पत्तित एव कर्मव्यवहारोपपत्तेरलं कर्मकल्पनयेति, **तत्त्व-कलाभावात्** तत्त्वांशस्याप्यभावात्, ननु स्थैर्यं प्रत्यभिज्ञानादिप्रमाणसिद्धमिति स्थिरे वस्तुनि पूर्वदेशं परित्यज्योत्तरदेशप्राप्तिर्न विना कर्मेति, **कर्मणः** वस्तुत्वमेवे-त्यत आह—**क्षणिकत्वादिशुद्धेश्च** क्षणिकत्वादिनिर्णयाच्च ननूत्पत्त्यनन्तरक्षणे

यदि विनाशः स्यात् तदा स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वं सप्रतियोगित्वलक्षणं क्षणिकत्वमुपपद्येत, अनुपलम्भाच्च नोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे विनाश इत्यत आह— **निर्वाणाच्च** अन्तक्षणे विनाशदर्शनान्निर्हेतुको विनाशः प्रतियोग्युत्पत्तिद्वितीयक्षणेऽपि, पूर्वोत्तरक्षणयोः सौसादृश्याच्च जायमानोऽपि विनाशो नोपलभ्यत इति, अत्र निदर्शनं **प्रदीपवत्** प्रदीपस्यान्ते नाशदर्शनं समस्ति पूर्वं तु नाशो नोपलभ्यते अथापि तैलवर्त्तिकादिकारणानां पूर्वमप्यपचीयमानतादर्शनेन कार्यस्यापि विनाशो भवत्येवेत्यवगम्यते, किन्तु प्रदीपसन्ततिगताना प्रदीपाना सौसादृश्याद् भेदानुपलब्ध्या नाशो नोपलभ्यते तथाऽन्यसन्तानेऽपीत्यर्थ. ॥१५॥

नैकस्यैव कस्यचित् स्वोत्पत्त्यनन्तरं विनाश किन्तु धर्ममात्रस्य, निर्विकल्पकानुभवोऽपि तस्य भवत्येव, विकल्पाभावाच्च न क्षणे क्षणे विनाशे तस्य प्रामाण्यं यस्मिन् विषये विकल्पोत्पादकत्वं तस्य तत्रैव प्रामाण्यमिति हि बौद्धाना डिण्डिम इत्याह—

निर्वाणं सर्वधर्माणामविकल्पं क्षणे क्षणे ।
हेतुप्रत्ययभेदात् तु तदन्त इव लक्ष्यते ॥१६॥

निर्वाणं सर्वधर्माणामिति । "क्षणे क्षणे सर्वधर्माणामविकल्पं निर्वाणम्, तत्तु हेतुप्रत्ययभेदादन्ते लक्ष्यत इव" इत्यन्वयः । **क्षणे क्षणे** प्रतिक्षणम्, **सर्वधर्माणां** वस्तुमात्रस्य तत्तत्कालोत्पन्नस्य, **अविकल्पं** विकल्परहितं निर्विकल्पकप्रत्यक्षगम्यमिति यावत्, **निर्वाणं** विनाश, **तत् तु** निर्वाणं पुनः, **हेतुप्रत्ययभेदात्** कारणज्ञानभेदात्, **अन्ते** सन्तत्यवस्थाने, **लक्ष्यते इव** सविकल्पकज्ञानगोचरो भवतीव, यद्यपि अन्ते चरमस्यैवैकस्य विनाशो ज्ञायते तथापि चरमस्येव पूर्वपूर्वस्यापि हेतुप्रत्ययभेदोऽस्त्येवेति तत चरमस्य विनाशावगतिरिव पूर्वपूर्वविनाशावगतिरपीत्यवबोधनायोक्तमिवेति ॥१६॥

क्षणिकस्य सतो गतिर्न सम्भवतीत्याह—

संसारे सति निर्वाणं क्षणिकस्य गतिः कुतः ।
जन्मवत् तेन चित्तस्य निर्वाणमपि संस्कृतम् ॥१७॥

संसारे सतीति । **संसारे सति** जन्मनि सति, **निर्वाणं** विनाश. यत्रोत्पत्तिमत्त्वं तत्र विनाशित्वमित्येवमुत्पत्तिमत्त्व-विनाशित्वयोर्व्याप्तेः, एवं च **क्षणिकस्य** क्षणमात्रवर्तिन', **कुतः** कस्मात्, **गतिः** ऊर्ध्वलोकाधोलोकादिगमनम्, स्थैर्ये सत्येव पूर्वस्थानात् स्थानान्तरप्राप्तिनिमित्तक्रियाया उपपत्तेः, **तेन** उक्तहेतुना, **चित्तस्य** विज्ञानस्वरूपात्मनः, **जन्मवत्** जन्म यथा संस्कृत तथा, **निर्वाणमपि** विनाशलक्षणनिर्वाणमपि, **संस्कृतं** तात्कालिकम्, कियत्कालस्थितिकस्य हि कियत्कालमसंस्कृतं रूपं ततश्च संस्कृतं, न त्वेवं क्षणिकस्य, तस्य तु यद् रूपं तत् संस्कृतमेव भवतीति ॥१७॥

संस्कृतस्वरूपोपादानफलमुपदर्शयति—

यत् संस्कृतमनित्यं तद् भङ्गादन्योऽन्यसंस्कृतम् ।
निर्वाणमनसामस्मादुक्तिविप्रतिषेधनात् ॥१८॥

यत् संस्कृतमिति । **यत् संस्कृतं** यत् केनापि धर्मेण संस्कृत तद्धर्मस्य पूर्वमभावादुत्पत्तिमत्त्वेन, **अनित्यं तदिति** तद्धर्मसंस्कृत तदनित्यमित्युपदर्शनं व्याप्तेः कथ जन्मवत् क्षणं तन्निर्वाणं च संस्कृतमित्याकाङ्क्षायामाह—**भङ्गादन्योऽन्यसंस्कृतम्** भङ्गाद् विनाशाद् जन्मवद् वस्तु तन्निर्वाणं च परस्परसंस्कृत, निर्वाणमत्र नैयायिकमत इव नोत्पत्तिमद् विनाश्यतिरिक्ताभावस्वरूपं स्थिरस्य कस्यचिदनभ्युपगमात् नापि शशशृङ्गादिवत् तुच्छरूपमेव तस्य सर्वधर्मानास्पदत्वेन द्वितीयक्षणे ध्वंस इत्यादि व्यवहाराविषयत्वात्, किन्तूत्तरोत्तरक्षणस्वरूप एव पूर्वपूर्वक्षणस्य विनाशः तस्य विनाशित्वेऽपि न प्रतियोग्युन्मज्जनप्रसङ्गः तद्विनाशपरम्परायामपि तद्विनाशत्वाभ्युपगमात्, एवं च स्वप्रतियोगिकविनाशस्वरूपत्वेनोत्तरक्षणात्मकनिर्वाणं जन्मवत् पूर्वक्षणसंस्कृतम् जन्मवत् पूर्वक्षणं चोत्तरक्षणस्वरूपनिर्वाणप्रतियोगित्वेनोत्तरक्षणस्वरूपनिर्वाणसंस्कृतं, न हि ध्वंसात्मकाभावं विना प्रतियोग्यमित्येवं निरूपयितुं शक्यः; कस्य प्रतियोगीत्येवमाकाङ्क्षायाः सद्भावात्, एव प्रतियोगिनमन्तरेण ध्वसोऽपि न निरूपयितुं शक्य., कस्य ध्वंस इत्याकाङ्क्षायाः सद्भावान्निराकाङ्क्षोभयप्रतीतेरन्योऽन्यसंस्कारादेवोपपत्ते., 'अस्मादुक्तिः' इत्यस्य स्थाने 'यस्माद् भुक्तेः' इति पाठो युक्तः।

यस्मात् सर्वधर्माणां क्षणे क्षणेऽविकल्पं निर्वाणमिति व्यवस्थापनतः, **निर्वाणमनसां** मोक्षाभिलाषिणा, **भुक्तेः** भोगस्य, **विप्रतिषेधनात्** निराकरणात् स्थिरे आत्मनि ममेय स्त्री ममायं पुत्र इत्यादि ममत्वाभिमानजनितरागादितो भोगो भवति न तु क्षणिके इति नैरात्म्यभावन श्रेय इत्यर्थः ॥१८॥

यथा सर्वधर्माणां जन्मवता क्षणे क्षणे निर्वाणं तथा विज्ञानस्यापि विषयतो जन्मवत इत्याह—

धर्मवद् विषयेऽन्योऽपि यदा विज्ञानसंभवः ।
सत्कारेभ्यस्तदा जन्म किं तस्य कुरुते क्षमा ॥१९॥

धर्मवदिति । 'विषयेऽन्योऽपि' इत्यस्य स्थाने 'विषयेभ्योऽपि' इति पाठः, 'सत्कारेभ्यः' इत्यस्य स्थाने संस्कारेभ्यः' इति पाठश्च युक्तः । **धर्मवद्** धर्माणा यथा जन्म तथा, **यदा विषयेभ्योऽपि विज्ञानसम्भवः** विज्ञानस्योत्पत्ति, **तदा संस्कारेभ्यः** पूर्ववासनाभ्य· विषयनिरपेक्षेभ्यः, **तस्य** विज्ञानस्य, **जन्म** उत्पत्ति, **किं क्षमा कुरुते** अत्र क्षमा किं करोतु, मा वासनाभ्यो ज्ञानं जायतामित्येवं निवारणे न क्षमायाः सामर्थ्यमित्यर्थ· ॥१९॥

ननु 'नित्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इति वाक्यत· त्रिकालवृत्तिज्ञान मिध्यतीति न तस्य जन्म-विनाशौ भवत इत्यत आह—

न पूर्वा न परा कोटिः विद्यते वाक्फलं मतेः ।
पूर्वविप्रतिषेधस्तु हेतुप्रत्ययसम्भवात् ॥२०॥

न पूर्वेति । **मतेः** ज्ञानस्य, **न पूर्वा कोटिः विद्यते** प्रागभावलक्षणा पूर्वा कोटि न विद्यते, तेन ज्ञानस्य जन्म न भवतीत्यनादिज्ञानं, **परा** कोटित्वं सलक्षणा न विद्यते; तेन ज्ञानस्य नाशो न भवतीत्यनन्तं ज्ञानम्, **वाक्फलं** वाचा विलसितं वाग्मात्रम्, तत्र युक्तेरभावात् अपौरुषेयतयैव वेदस्य प्रामाण्यं परैरुद्घुष्यते तच्च न सम्भवतीति, ननु स्थिरात्मप्रतिषेधोऽपि भवतो वाक्फलमेवेत्यत आह- **पूर्वविप्रतिषेधस्त्वि**ति सर्वधर्मक्षणिकत्वव्यवस्थापनेन

स्थिरात्मप्रतिषेध पुनरित्यर्थः, न वाङ्मात्र, किन्तु **हेतुप्रत्ययसम्भवात्** कारण-ज्ञानसद्भावादित्यर्थ. ॥२०॥

हेतु-प्रत्ययरहितमपि परमतमुररीकृत्य पूर्वापरकोटिविवर्जितं ज्ञान किमिति नाश्रीयते इत्याह—

अहेतु-प्रत्ययनयं पूर्वापरसमाभवम् ।
विज्ञानं तत्समुत्थं कः संव्यवस्येद् विचक्षणः ॥२१॥

अहेतु-प्रत्ययनयमिति । **अहेतु-प्रत्ययनयं** न विद्यते हेतु-प्रत्ययौ यत्र सोऽहेतुप्रत्ययः अहेतुप्रत्ययश्चासौ नयश्चाहेतुप्रत्ययनयस्तं, **पूर्वापरसमाभवं** पूर्वा-परसमाया पूर्वापरकाले भव. सद्भावो यस्य स पूर्वापरसमाभवस्तं, एतादृशं **तत्समुत्थं** वचनसमुद्भूतं, **विज्ञानं को विचक्षणः** पण्डित, **संव्यवस्येत्** सम्यग् निश्चिनुयात् काका न कोऽपि सव्यवस्येदित्यर्थ. ॥२१॥

न चैवं वचनं प्रमाणं न भवेत् न भवेदेव, निर्विकल्पकप्रत्यक्षमेव प्रमाणं, परम्परया निर्विकल्पकविषयत्वलक्षणसमुत्थत्वेनानुमानमपि प्रमाणं न तु शब्द-स्तथा, तर्हि वचनप्रभव विज्ञानं कीदृशमित्याकाङ्क्षायामाह—

दर्पणस्थमिव प्रज्ञामुखबिम्बमतन्मयम् ।
तत्समुत्थं च मन्यन्ते तद्वत्प्रत्ययजन्मनः ॥२२॥

दर्पणस्थमिवेति । **तत्समुत्थं** वचनप्रभवम्, **प्रज्ञामुखबिम्बं** प्रज्ञैव मुख प्रज्ञामुखं तस्य बिम्ब प्रतिबिम्बम्, **अतन्मयं** प्रज्ञामयं यथार्थज्ञानं नेत्य-तन्मयमयथार्थज्ञान, तदुक्तम्—

"विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पा शब्दयोनयः ।
कार्य-कारणता तेषां नार्थं शब्दा. स्पृशन्त्यमी ॥१॥"

इति, **दर्पणस्थमिव** यथा दर्पणस्थं मुखबिम्बं न मुखमयं किन्तु मुखा-भासस्वरूपमेव, **तद्वत्** तथाविधज्ञानवत्, **प्रत्ययजन्मनः** स्वलक्षणज्ञानजन्य-विकल्पस्यातन्मयं प्रज्ञाप्रतिबिम्बस्वरूपं, **मन्यन्ते** सौगता अभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः ॥२२॥

समग्र्या एवैष स्वभावो यदुत काचित् सामग्री निर्विकल्पकं जनयति काचित् सविकल्पकं जनयति, एवं च शब्दप्रभवमपि विज्ञानं नातन्मयं किन्तु विकल्पस्वरूपमपि तद्यथार्थज्ञानमेवेत्यत आह—

न सामग्रीस्वभावोऽयमतो नाज्ञानभेदतः ।
स्वप्नोपलब्धस्मरणं निवृत्तिश्च न नेत्यपि ॥२३॥

न सामग्रीस्वभावोऽयमिति । **न सामग्रीस्वभावोऽयं** सर्वस्यापि वस्तुनः स्वस्वकार्यं प्रति तत्तत्कार्यं कुर्वन्नैव कारणत्वात् प्रत्येकस्यैव कुर्वद्रूपात्मनः कार्यजनकत्वे सामग्र्यं वै जनिकेति नियमानभ्युपगमात् कस्याश्चिन्निर्विकल्पकजनकत्वं कस्याश्चित् सविकल्पकजनकत्वमित्येवं सामग्रीस्वभावो न, ततश्च न यथार्थज्ञानरूपत्वं विकल्पस्य सिध्यतीति, **अतः** सामग्रीस्वभावनिराकरणात्, **अज्ञानभेदतः** ज्ञानभिन्नवस्तुविशेषतः, **न** नैव, **स्वप्नोपलब्धस्मरणं** स्वप्नाकलितपदार्थस्य स्मरणम्, **नेत्यपि** नेत्याकारिकाऽपि, **निवृत्तिः** निर्वाणं, **च** पुनः, **न** अज्ञानविशेषतो नैव, किन्तु तत्तत्कुर्वदात्मककारणादेव तत्तत् कार्यमुपजायत इति निगर्व. ॥ २३ ॥

नन्वेवं सामग्रीस्वभावानुपगमे विषयसंप्रयोगादिनाऽज्ञानविशेषेण यत् किमप्यभीष्टं भवति तन्न स्यात् सामग्र्यन्तर्गततयाऽज्ञानविशेषस्य तत्कार्यकारित्वाभावादित्यत आह—

न चानिष्टप्रयोगो नः कुशलप्रतिपत्तिवत् ।
मन्यमानो हि दोषं वा गुणं वा परिकल्पयेत् ॥२४॥

न चानिष्टप्रयोग इति । **नः** अस्माकं, क्षणिकवादिनां बौद्धनाम्, **अनिष्टप्रयोगः** अरिष्टप्रसङ्ग, **न** नैव, **कुशलप्रतिपत्तिवत्** यथा कुशलप्राप्तिर्न भवति तथाऽकुशलप्राप्तिरपि न भवति, कुशलप्राप्तिनिमित्तस्य रागस्येवाकुशलप्राप्तिनिमित्तस्य द्वेषस्याप्यभावात्, तत् किं कुशलप्राप्त्यकुशलप्राप्ती लोकानामनुभूयमाने अपलप्येते भवद्भिः ? न वस्तुनिबन्धने ते, यस्य स्थिरस्यात्मनस्ते स्यातां तस्यैवाभावात् ? कल्पनानिमित्ते ते कल्पना च दोष-गुणानां वारयितुमशक्येत्याशयेनाह—**मन्यमानः**

होति हि यतः, इष्टमनिष्टं वा मान्यमान, **दोषं गुणं वा परिकल्पयेत्** न तु मन्ता पुरुष· मन्तव्यौ दोष-गुणौ च वस्तुत· समस्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

लोकाना प्रवृत्तिः कल्पनामेवोपजीवति न वस्तुस्थितिमित्याह—

पटहध्वनिवल्लोकः कल्पनामनुवर्तते ।
यतः स्वभावो भावो वा तस्य वक्तुं न युज्यते ॥२५॥

पटहध्वनिवद्िति । **पटहध्वनिवत्** दूरे स्थितिस्य पटहस्य ध्वनिमुपश्रुत्य यथा विभिन्नदेशस्थिता बाला यत्रायं पटहध्वनिस्तत्रोत्सव इत्येव परिकल्प्य पटहध्वनिमनुसरन्ति तत्रोत्सव, भवतु मा वा, यत्रोत्सवस्तत्र पटहध्वनिरित्येव कल्पना तु समस्त्येव, तथा **लोकः** व्यवहारपरायणो जनः, **कल्पनामनुवर्त्तते** यथा यथा कल्पना भवति तथा तथा प्रवर्त्तते, कथं व्यवहृतिविषयस्य स्वतत्त्वमालोच्यैव न लोकव्यवहृतिरित्यत आह—यत इति, **यत**· यस्मात् कारणात्, तस्य व्यवह्रियमाणस्य, **स्वभावः** असाधारणधर्मः, **वा** अथवा, **भावः** सामान्यतः सत्त्व, अकारप्रश्लेषे अभाव· असत्त्वं, **वक्तुं** निर्वक्तुम्, **न युज्यते**—न घटते सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयो व्यवहर्त्तव्य इत्याशय· ॥ २५ ॥

ननु सर्वस्य व्यवहर्त्तव्यस्य सत्त्वासत्त्वाभ्या सामान्य-विशेषाभ्या वा निर्वक्तुमशक्यत्वे सुगतस्योपदेशस्वरूपं शास्त्रमपि निष्प्रयोजनं स्यादित्यत आह—

न चोपदेशवैफल्यं रूपं विज्ञानजन्मवत् ।
दुःखमुत्पद्यते तस्य स्वार्थहानमयुक्तिवत् ॥२६॥

न चोपदेशवैफल्यमिति । **उपदेशवैफल्य** सर्वं क्षणिकं सर्वं विज्ञानं सर्वमनिर्वचनीयं सर्वं शून्यमित्येव सुगतवचनलक्षणोपदेशस्य निष्प्रयोजनत्वम्, **न च** नैव, उपदेशकुर्वद्रूपस्वभावतयोत्पन्नस्य क्षणिकसर्वज्ञानस्वरूपस्य भगवतो बुद्धस्य क्षणिकतथाविधोपदेशरूपार्थक्रियाकर्तृत्वत एवार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वं नान्यथेति यत् सत् तत् क्षणिकमिति नियमोऽपि स्वस्मिन्नुपदेशरूपकार्यकरणत एवेति भवत्युपदेशस्य साफल्यम्, एव भगवदुपदेशतः सौत्रान्तिकादीना शिष्याणामन्येषां च श्रोतृणा नैरात्म्यभावनासन्तानतो निरुपप्लवविज्ञानसन्ततिलक्षणापवर्गस्याप्युदय इति परम्परया परमपुरुषार्थसाधनस्य सुगतोपदेशस्य न भवति वैफल्यम्, अर्थक्रिया-

कारित्वलक्षणसत्त्वसम्पादकतयोपदेशसाफल्यं द्रढयितुं निदर्शनमाह—"रूपं विज्ञान-जन्मवद्" इति अत्र "रूपविज्ञानजन्मवद्" इति पाठो युक्तः । **रूपविज्ञानजन्मवत्** यथाऽस्य भगवतः सुगतस्य क्षपगकमुनिवेपादिलक्षणं सत्त्वप्रकर्पादियोगि देदीप्यमानकान्त्यादिलक्षणं वा रूपं सर्वपदार्थविभासकं विज्ञानं मायादेवीगर्भाविर्भावलक्षणं जन्म च न विफलं तथोपदेशोऽपि न विफल., रूपादिष्वपि गद्धाशीलाना शङ्का स्यादेव किमर्थमस्य रूपमीदृशं किं चास्य सर्वज्ञानस्य प्रयोजनम्, किमर्थमस्य मायादेवीतो जन्मेति, उपदेशकरणात् प्रागेव तु रूपादिकमस्याभवदेव. तत्र यथा साफल्यं तथा शास्त्रलक्षणोपदेशोऽपीत्यर्थः, ननु राग द्वेष-मोहाभिभूतानपारससार-सागरनिमग्नान् दुःखितान् जीवान् दृष्ट्वा दुःखितः सन् कारुणिकस्तदुद्धाराय मोक्षसाधनमुपदेष्टुमर्हति कृतकृत्यस्य तु भगवत. सुगतस्य दुःखितजनदर्शनतो दुःखं न भविष्यत्येवेति नोपदेशकरणप्रवृत्तिः सम्भवति, प्राणिजनदुःखदर्शनेन सोऽपि दुःखितो यदि तदा तदुपदेशेन तत्त्वं ज्ञात्वाऽपि तद्वदेव जनाः दुःखिता एव स्थास्यन्तीति विफले तदुपदेशेन जनानां ग्रहणप्रवृत्तिरित्यत आह—**दुःखमुत्पद्यते तस्येति** तस्य सुगतस्य सर्वज्ञत्वे सत्यपि, दुःखं दु.खितजनदर्शनप्रभवं जन्मान्तरोपात्तस्वदुष्कृतप्रभवं वा दुःखम् उत्पद्यते, तदानीमप्युपजायते, एतदर्थमेव वर्त्तमानार्थकाख्यातप्रयोगः, स्वजनवर्त्तमानकालीनदुःखस्वीकारश्च सुगतस्य भिक्षार्थमटतश्चरणे कण्टके लग्ने—

"इत एकनवतेः कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः । ॥३॥"

इति वचनेनावगम्यते, अत्र प्रथमचरणे 'इत एकनवतेः कल्पे' तृतीयचरणे 'तेन कर्मविपाकेन' इति स्याद्वादमञ्जर्या पाठः, कर्मग्रन्थे तु 'इत एकनवतौ कल्पे' इत्येवं पाठभेदो दृश्यते, तथा च तदपि कर्म बुद्धसन्ताने सम्भावनापथमवतरति यत् कर्मफलदुःखं सदुपदेशपरिश्रमत एवोपजायत इति तदर्थकत्वमुपदेशस्य युक्तमेवेति भावः । नन्वेवं परदुःखप्रहाणेच्छयोपदेशपरिश्रमप्रभवदुःखमात्मन्यनुभवतोऽस्य सुख-दुःखाभावान्यतरात्मकस्वार्थस्य हानिः स्यात् नहि रथ्यापुरुषादिरपि स्वार्थहानाय यतते, तत. स्वार्थरक्षणार्थं प्रेक्षावतोऽस्योपदेशाकरणमेव वरमित्यतः आह—**स्वार्थहानमयुक्तिवदिति** युक्तिर्योग. प्राणेन्द्रियशरीरादिभि संयोगो

जन्मेति यावत्, न युक्तिरयुक्तिर्वियोगः प्राणेन्द्रियशरीरादिभिर्वियोगो मरणमिति यावद् रूपविज्ञानजन्मवदिति जन्मपदोपादानस्वारस्याद् वियुक्तिपदेन मरणस्य ग्रहणम्, आयुःकर्मक्षयाद् यथा सुख-दुःखाभावान्यतरभिन्नमपि मरणं सुगतस्य भवत्येव, तथा निरुक्तदुःखमपि पूर्वकर्मविपाकतः स्यादेव तदेतत्स्वार्थहानापादनमिष्टापादनरूपत्वान्न दोषावहमिति भावः ॥ २६ ॥

ननु निरन्वयचित्सन्ततिरूपे आत्मनि बुद्धाभ्युपगते कर्त्तुरभोक्तृत्वं भोक्तुश्चाकर्तृत्वमिति वस्तुस्थितौ निन्दितकर्माचरणतो विविधनरकगतिप्रभवः संक्लेशो भविष्यतीत्येवमागन्तुकसक्लेशभयस्य कर्तृभूतज्ञानस्याभावान्निन्दितकर्मनिवृत्तिर्न भवेत्, विहितकर्मकर्तुर्ज्ञानस्य कर्मक्षयादिलक्षणाया विशिष्टयोगप्राप्त्यादिलक्षणाया वा चित्तशुद्धेरभावात् तत्र प्रवृत्तिरप्यनुपपन्नेत्यत आह—

न चास्यागन्तुसंक्लेशः शुद्धिर्वा भक्तयस्त्विमाः ।
स्मृतिसङ्गसमः किन्तु तेजस्यरणिवृत्तिवत् ॥२७॥

न चास्यागन्तुसंक्लेश इति । **अस्य** वर्तमानक्षणैकसत्त्ववादिनो बुद्धस्य, मते इति शेषः, **आगन्तुसंक्लेशः** अतीतानागतकालयोरभावात् आगामिकालभाविनरकयातनादिः, **न च** नास्त्येव, किन्तु यद् यद् कुर्वद्रूपात्मकं यज्ज्ञानं भवति तत् तज्ज्ञानानन्तरं तद् भवतीत्येव नियमः एवं चाधाराधेयभावाभावात् कर्त्तरि तद् भवति, भोक्तरि तद् भवतीत्येव नियम, एवं चाधाराधेयभावाभावात् कर्तरि तद् भवति, भोक्तरि तद् भवतीत्येव नेष्यते, किन्तु सक्लेशजननकुर्वद्रूपात्मकाज्ज्ञानात् संक्लेशविज्ञानक्षण उपजायत इत्यवोररीक्रियत इति, **शुद्धिर्वा** कर्त्रादिगता शुद्धिर्वा न च, आगामिकालगता शुद्धिरपि नास्ति, किन्तु निरुपप्लवचित्तसन्ततिलक्षणशुद्धिकुर्वद्रूपात्मकाज्ज्ञानादनन्तरक्षणे निरुक्तशुद्धिरुपजायते इत्येव वस्तुस्थितिः । नन्वेवं तत्तत्कार्यं प्रति तत्तज्जननकुर्वद्रूपत्वेनैव यदि कारणत्वं तदा एतस्मात् कर्मणः संक्लेशः एतस्माच्च शुद्धिरित्याद्युपदेशः, कथमुपपद्यतामित्यत आह- **भक्तयस्त्विमा** इति । 'स्मृतिसङ्गसमः' इत्यस्य स्थाने 'स्मृतिसङ्गसमाः' इति पाठो युक्तः । किन्तु स्मृतिसङ्गसमास्तु इमा भक्तय इत्यन्वयः । **किन्त्विति** यद्यागन्तुक संक्लेशो नैव, शुद्धिर्वाऽऽगामिनी नास्ति तर्हि तदुपदेशस्य का गतिरिति,

पृच्छार्थः, उत्तरयति—**स्मृतिसङ्गसमास्त्विव**ति, तु पुनः, स्मृतिं स्मरणात्मकविज्ञानं तच्चार्थानामभावेऽप्युदयति तया सह योऽर्थानां प्रतिनियतविषयाणा सङ्ग इयमस्य स्मृतिरियं त्वस्येत्येवरूपः, स कल्पनानिर्मितवपुरेव यस्याः स्मृतेर्यो विषयः सोऽपि तदानीं नास्तिऽन्योऽप्यर्थस्तदानीं नास्तीत्येवमसत्त्वाविशेषेऽपि वासनाविशेषात् कल्पितविषयविषयिभावादेव व्यवहारवीथीमवतरति सः कल्पितत्वेन तत्सदृशाः **इमाः** उपदेशत. प्रत्यक्षीक्रियमाणा इव, **भक्तयः** एतस्मात् कर्मणः सक्लेशो भविष्यति, एतस्माच्च शुद्धिर्भविष्यतीति विभजना. प्रतिनियतकार्य-कारणभावविभागरूपाः, यथा वह्निं प्रति तृणत्वेनारणित्वेन मणित्वेन च कारणत्व व्यभिचारान्न सम्भवति किन्तु तृणारणि-मणीना वह्निजननकुर्वद्रूपत्वेनैव कारणत्वमथापि कुर्वद्रूपत्वविशेषस्याभिव्यञ्जकतया तृणत्वादीना जनकतावच्छेदकत्वं परिकल्प्य तार्णो वह्निरारणेयो वह्निरित्येव विशिष्य व्यवहारस्तथा प्रकृतेऽपि विशिष्योपदेशः काल्पनिक इत्याह—**तेजस्यरणिवृत्तिवदि**ति, अरणीति तृण-मण्योरप्युपलक्षणम् ॥२७॥

ननु सौगतमते निरन्वयविनाशिन एव पूर्वोत्तरविज्ञानक्षणाः तेषामन्योऽन्यसम्बन्धाभावात् प्रतिनियतैका सन्ततिर्न घटते, इति विज्ञानसन्ततिरात्मस्थानीया कथ, तदन्तरेण यस्मिन् सन्ताने अनुभवकर्मवासनास्तस्मिन् सन्ताने स्मृतिकर्मफलोपभोगादय इत्यादि कल्पनाऽपि कथम्, येन काल्पनिको व्यवहारः स्यादित्यत आह —

चित्तचारवशात् सङ्गः स्मृतिवन्न विरुध्यते ।
संस्कारायतनापेक्षं निरोधापत्त्यनन्तरम् ॥२८॥

चित्तचारवशादिति । अथवा यस्मिन् विज्ञानसन्ताने अनुभववासनास्तस्मिन्नेव सन्ताने स्मृतिरित्येवं स्मृतिसङ्गोऽपि कथ येन स्मृतिसङ्गसमा भक्तय इति युज्येतेत्यत आह—**चित्तचारवशादि**ति चित्तस्य मनस्कारस्य यश्चारः प्रतिक्षणं तत्तज्ज्ञानजननकुर्वद्रूपतयोत्पत्तिस्तद्बलादित्यर्थः, **सङ्गः** पूर्वोत्तरविज्ञानक्षणयोरेकसन्तानानुस्यूतत्वलक्षणसम्बन्धः स्मृतेर्वा सन्तानविशेषे विषयविशेषे वा सम्बन्धविशेषः, **स्मृतिवत्** यथाचित्तचारविशेषात् कदाचिदेव, क्वचिदेव स्मृतिर्भवति तथा, **न विरुध्यते** नासम्भवी, अचिन्त्यः खलु मनस्कारस्य महिमा यः

कार्यविशेषबलादेवोन्नेतुं शक्यते यथा यथा यद् यत् कार्यमुपजायमानं दृश्यते तथा तथा तदनुगुण एव मनस्कारचारः कल्पयितुं शक्य इति न चैवं मनस्कारस्य वासनालक्षणवशादेव स्मृतिसञ्ज्ञादिभावे मोक्षलक्षणपरमपुरुषार्थोऽपि तत एव भविष्यतीत्येवमेव सुगतदर्शनाकूतमास्थेयमुत तत्रास्ति किञ्चिद् वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—**संस्कारायतनापेक्षमिति** बुद्धस्य शास्त्रलक्षणोपदेशे आर्यसत्यनामधेया दुःख-समुदय मार्ग-निरोधाश्चत्वारः पदार्था उपदिष्टाः तत्र विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपभेदात् पञ्चविध दुःखम्, विज्ञानादयश्च चयापचयरूपत्वात् स्कन्धशब्देन व्यपदिश्यन्ते तत्र सर्वक्षणिकत्वज्ञानं विज्ञानस्कन्धः पूर्वभवपुण्य पापपरिणाम बद्धसुख-दुःखानुभवलक्षणो वेदनास्कन्धः, सर्वमिदं सांसारिक सचेतनाचेतनस्वरूपं नाममात्र संज्ञास्कन्धः, इहभव-परभवविषयः सन्तानः पदार्थनिरीक्षणरूपप्रबुद्धपूर्वभवानुभूतसंस्कारस्य प्रमातुः स एवायं देवदत्तः सैवेयं दीपकलिकेत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्ति संस्कारस्कन्ध, परमाणुप्रचयो रूपस्कन्ध इति राग-द्वेष-मोहकारणीभूतः आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्याकारिका ज्ञानसन्तानरूपा वासना मार्ग इत्युच्यते। अपवर्ग-मोक्षपदाभिधेयो वस्तुमात्रक्षणिकत्व-वस्तुमात्रनैरात्म्यवासनारूपो निरोध इति कथ्यते, एवमार्यसत्यरूपतया दुःखादीनां चतुर्णां यथोपदिष्टता, तथा द्वादशायतनत्वेनापि तत्त्वप्ररूपणा, तत्र स्पर्शनादीनि पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्याः पञ्चविषयाः मानसं धर्मायतनं चेति द्वादशायतनानि, एवमन्यान्यपि द्वादशायतनानि यथा जाति-जरा-मरण-भव-उपादान तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतननाम-विज्ञान-संस्कार-अविद्यारूपाणीति, तत्र यत् संस्कारायतनं तदपेक्ष तदधीनं संस्कारायतनस्य पूर्वभावे सत्येव सर्ववस्तुक्षणिकत्ववस्तुमात्रनैरात्म्यवासनारूपो विरोध-इत्याह—**निरोधापत्त्यनन्तरमिति** भावप्रधानो निर्देशोऽयम्, तथा च निरुक्तस्वरूपस्य निरोधस्य या आपत्तिः प्राप्तिः, तस्या अनन्तरत्व नैरन्तर्यं विजातीयज्ञानान्तर्यरहितत्वं, वासनाऽपि ज्ञानविशेष एव तेन विजातीयज्ञानानन्तरितवस्तुमात्रक्षणिकत्ववस्तुमात्रनैरात्म्यज्ञानविशेषसन्तानलक्षणो निरोध संस्कारायतनाधीनो भवतीत्यर्थः, निरुक्तनिरोधश्च निरुपप्लवचित्तसन्ततिस्वरूपपर्यवसित एव, स च तत्कुर्वद्रूपात्मकसोपप्लवज्ञानविशेषरूपसंस्कारायतनतो भवन्न विरुध्यत इति भावः ॥२८॥

ननु निरुपप्लवचित्तं प्रति सोपप्लवचित्तं तत् कुर्वद्रूपात्मकं कारणमिति भवतु प्रथम निरुपप्लवचित्तं सोपप्लवचित्ताद् द्वितीय-तृतीयादिनिरुपप्लवचित्तोत्पत्तिस्तु कथम्, प्रथमा निरुपप्लवचित्तादिकाले सोपप्लवचित्ताभावात्, अदृष्टकल्पना तु दृष्टविरोधान्न सम्भवत्येव, येन निरुपप्लवचित्तस्यापि निरुपप्लवचित्तकुर्वद्रूपत्वमुररीकृत्य ततो निरुपप्लवचित्तोत्पत्तिः स्वीक्रियेतापि तथा च निरुपप्लवचित्तसन्तानाभावात् तद्रूपो निरोधो न सम्भवतीत्यत आह—

अङ्कुरव्यक्तिनिष्पत्तिश्चेतःसत्त्वस्य तत् कथम् ।
अविद्या-तृष्णयोर्यद्वन्न नानात्वं न चैकता ॥२९॥

अङ्कुरव्यक्तिनिष्पत्तिरिति । चेतःसत्त्वस्य चित्तस्वरूपस्यात्मनः, निरुपप्लवचित्तस्येति यावत्, **तत्** तस्मात् सोपप्लवविज्ञानात्, **अङ्कुरव्यक्तिनिष्पत्तिः** उत्तरोत्तरनिरुपप्लवविज्ञानव्यक्त्युत्पत्तिः द्वितीय-तृतीयादिनिरुपप्लवज्ञानस्य प्रथमनिरुपप्लवज्ञानानन्तरोद्गतत्वादङ्कुरत्वेनोत्कीर्त्तनं तत्सन्तानलक्षणमोक्षतरोस्तत एवात्मलाभात्, **कथं** कथं भवेत् तदव्यवहितपूर्वक्षणे सोपप्लवचित्तस्याभावात् निरुपप्लवचित्तस्य निरुपप्लवचित्तं प्रति कारणत्वस्यादृष्टचरत्वेन कल्पयितुमशक्यत्वादिति प्रष्टुर्गूढाभिसन्धिः, कार्य-कारणभावकल्पनाया साजात्यं वैजात्यं वा न तन्त्रम् किन्तु यद् यत् कुर्वद्रूपात्मकं तत् तत् सजातीयं विजातीयं वा भवतु उभयथाऽपि तदन्वयव्यतिरेकानुपपत्त्या तत्कारणतया कल्प्यते, अदृष्टवैमत्यस्यान्यथानुपपत्त्यैव प्रतिक्षिप्तत्वात्, यथाऽविद्यया विद्याऽप्युपजायते, अविद्यापि, तृष्णया तृष्णाऽपि भवति वैतृष्ण्यमपीत्युत्तरयति–**अविद्या-तृष्णायोर्यद्व**दिति यथाऽविद्या-तृष्णयोस्तत्सजातीयात् तद्विजातीयाच्चाङ्कुरव्यक्तिनिष्पत्तिस्तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः, स्वलक्षणमेव वस्तुस्वरूपं साजात्य-वैजात्यादिकं तु न निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्मकप्रमाणगोचरः, विकल्पस्य तु न प्रामाण्यमिति वस्तुस्थितौ यत्कुर्वद्रूपात्मकं तत् ततस्तदुत्पत्तिरित्येव प्रमाणगोचर इति प्रथमस्य निरुपप्लवचित्तस्य सोपप्लवचित्ताद् द्वितीयादेश्च निरुपप्लवचित्तस्य निरुपप्लवचित्तादुत्पत्तिरित्यभ्युपगमे दोषाभावात् । ननु साजात्य-वैजात्यादेरनङ्गीकारे नानात्वैकत्वादिकमपि न कस्यचिद् रूपादिति सन्तानभेदः

सन्तानैकत्वं च न स्यादिति चेद् न स्यादेव किं न छिन्नमित्याह—**न नानात्वं न चैकते**ति तद्व्यवहारस्तु काल्पनिक एव, न पारमार्थिक इत्यभिसन्धिः ॥२९॥

ननूक्तोक्ति एतदप्यायाति यथाऽविद्या-तृष्णयोर्न नानात्वं नाप्यभेदः तथा सन्तानानामपि न नानात्व नाप्येकत्व सोपप्लवचित्तानुपप्लवचित्तयोरपि न नानात्वं नाप्येकत्व, विकल्पमात्रगोचरयोस्तयोरभावात्, एव सति समानविषयकज्ञानयोरपि विषये एकत्व नानात्वं न भवेत् , कल्पितत्वस्य तत्राप्यविशेषादित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—

समविज्ञानयोस्तद्वद् वेद्ये कान्तमतः शिवम् ।
श्रोतःप्राप्त्यादिरस्यास्तु विकल्पोऽरणिवह्निवत् ॥३०॥

समविज्ञानयोरिति । **समविज्ञानयोः** समानविषयकविज्ञानयोरित्यर्थः, **तद्वत्** पूर्वेऽपि दर्शितवत्, **वेद्ये** ग्राह्ये, न नानात्व न चैकतेत्यनुवर्त्तते, इत्थं भावनातः कि भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—कान्तमिति, **अतः** एतस्माद् विचारात्, **कान्तं** मनोज्ञम्, **शिवं** कल्याणम्, भवतीति शेष. तच्च पूर्वोपवर्णितं निर्वाणमेवेति, ननु तस्य नानात्वैकत्वादिरहितस्य भवनदीपारप्राप्तिविसभागपरिक्षयशिववर्त्मध्रुवाध्वादिरूपकल्पना कथमित्याकाङ्क्षायामाह—**श्रोतःप्राप्त्यादि**रिति आदिपदाद् विसभागपरिक्षयादेरुपग्रह , **अस्य** शिवस्य, **विकल्पः** मतभेदेन कल्पितनामभेदः, **अस्तु** भवतु, नैतावता वस्तुतत्त्व स्वलक्षणात्मकं भिद्यत इति निगर्व , अत्र दृष्टान्तमाह-**अरणिवह्निव**दिति अरणिद्वयसङ्घर्षोद्गतवह्निर्यथाऽरणीना तत्कारणानां वैचित्र्यात् तत्तत्काष्ठनाम्ना सङ्कलितनाम्ना व्यपदिश्यते तादृशव्यपदेशलक्षणो विकल्पो न दोषावहस्तथेत्यर्थ ॥३०॥

ननु साकारविज्ञानवादो बुद्धशिष्यस्यैव योगाचारस्यानुमतः तत्राकारो ज्ञानादभिन्न एव ज्ञानविषय इति ज्ञान-ज्ञेययोस्तदात्म्यमेव सम्बन्ध, तथा च ज्ञानविशेषस्वरूपो बुद्धो यान् पदार्थान् घट-पटादीन् शिष्यश्रोतृप्रभृतीन् वादिव्रातांश्च पश्यति ते सर्वेऽपि बुद्धज्ञानविषया बुद्धज्ञानाकारा एकं बुद्धचित्तमेवेति दुःखितान्

नानाविधान् प्राणिनोऽवलोकनमेव नास्ति स्वभिन्नस्योपदेष्टव्यादेरभावात् तद्दुःख-प्रहाणेच्छादेरप्यभावाच्छास्त्रप्रणयनमकिञ्चित्करमेव तस्येत्यत आह—

एकचित्तेऽपि वा कृत्स्नदुःखज्ञानोपपत्तितः ।
ग्रामोहक्षमोदर्कः शासनप्रणयो मुनेः ॥३१॥

एकचित्तेऽपि वेति । **एकचित्तेऽपि वा** वाकारोऽभ्युपगमवादसूचकः, नानात्वैकत्वादिकं कल्पितमेव न वास्तविकमित्युद्घोषितमेव, एवमप्यापाततः एकत्वं स्वीकृत्य बुद्धस्यैकचित्तेऽपि सर्वविषयकज्ञानात्मके, **कृत्स्नदुःखज्ञानोपपत्तितः** अशेषप्राणिदुःखज्ञानसम्भवतः, **मुनेः** सुगतस्य, **शासनप्रणयः** प्रणयनं रचनं प्रणयः शासनं धर्मशिक्षात्मकं शास्त्रं तस्य प्रणयनम्, कीदृशः शासनप्रणयः इत्याकाङ्क्षायामाह-**ग्रामोहक्षमोदर्कः** इति, ग्रामः पञ्चस्कन्धद्वादशायतनादिकः, मोहः निरन्वयविनाशिनि क्षणिके वित्त-पुत्र-कलत्रादिकेऽनात्मीये स्थैर्यभ्रान्त्याऽऽत्मीयत्वबुद्धिः, क्षमा क्षणिकाः सर्वसंस्कारा उत्पत्त्यनन्तरं स्वयमेव विनश्यति न कोऽपि कस्यापि नाशक इति परकृतं दुःखाद्युत्पातस्य सहनम्, उदर्कः उत्तरकाले सर्वक्षणिकत्वनैरात्म्यभावनातः कल्याणम्, विषयेण विषयिण उपलक्षणमिति एतद्विषयकः शासनप्रणय इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

[द्वात्रिंशत्तमपद्यमत्र त्रुटितं प्रतिभाति ।]

येयं द्वात्रिंशिका बुद्धमततत्त्वावबोधिका ।
सिद्धसेनकृता गूढभावान्वयसमुज्ज्वला ॥ १ ॥
तत्रैषा योजिता वृत्तिर्मया लावण्यसूरिणा ।
संक्षिप्ता सरला भक्त्या गुरोरेव सतां मुदे ॥ २ ॥

इति बौद्धसन्ताननाम्न्याः पञ्चदश्या द्वात्रिंशिकाया कृता विवृतिः ॥

षोडशी नियतिद्वात्रिंशिका ।

नियतिकृतनियमकलिता स्वभाववादादिसंमिश्रा ।
वाणी जयति सुरम्या येषां तान् जिनवरान् नौमि ॥

नियतिवादमुपवर्णयति—

नित्यानन्तरमव्यक्तिसुख-दुःखाभिजातयः ।
स्वभावः सर्वसत्त्वानां पयःक्षीराङ्कुरादिवत् ॥१॥

नित्येति। 'नित्यानन्तरमव्यक्ति०'' इत्यस्य स्थाने ''नित्यानन्तरताव्यक्ति०'' इति पाठो युक्तः। **नित्यानन्तरताव्यक्तिसुख-दुःखाभिजातयः** भावप्रधाननिर्देशान्नित्यपदेन नित्यत्वस्य ग्रहणं, इदं सर्वदैव भवितव्यमिति नियतिबलान्नित्यत्वं सत्त्वस्य स्वभावः, अनन्तरता आनन्तर्यम्, एकानन्तरमपरस्य भावो यथा मनुष्यभवानन्तरं देवभवभावः, देवभवानन्तरं मनुष्यभवभावः, मनुष्योऽयं देवो भविष्यत्येव देवोऽयं मनुष्यो भविष्यत्येव, एतदनन्तरमनेन भवितव्यमित्येवं नियतिबलादानन्तर्यं सत्त्वस्य स्वभावः प्राप्तव्यः, 'नियतिबलेन योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा' इत्यादिवचनात्, एवं वह्नेरनन्तरं धूमेन भवितव्यमिति नियतिबलादेव वह्निधूमादीनामानन्तर्यं स्वभाव इति, व्यक्तिः व्यक्तता आविर्भाव उत्पत्तिरिति अनेनास्मिन्नेव समये, अस्मिन्नेव देशे उत्पत्तव्यमिति नियतिबलादेव सत्त्वाना प्रतिनियतदेश-कालोत्पादस्वभावः, अकारप्रश्लेषादव्यक्तिः तिरोभावो विनाश इति यावत्, सोऽपि **स्वभावः सर्वसत्त्वानाम**नेनास्मिन् समयेऽस्मिन् देशे विनष्टव्यमिति नियतिबलादेव भवति, सुखेति कश्चित् प्राणी यावज्जीवं सुखी भवति, अनेन यावज्जीवं सुखमेवानुभवितव्यमिति नियतिबलादेव यावज्जीवं सुखस्वभावः प्राणिनः कस्यचित्, कस्यचित् पुनः प्राणिनः अस्मिन् समये अस्मिन् देशे सुखमनुभवितव्यमनेनेति नियतिबलेन प्रतिनियतकाल-देशसुखस्वभावः सत्त्वानाम्, दुःखेति दुःखमपि कस्यचित् प्रतिनियतदेश-कालमेव भवति तदपि अनेन यावज्जीवं दुःखमेवानुभवितव्यम्, अनेन पुनः अमुकस्मिन् कालेऽमुकस्मिन् देशे दुःखमनुभवितव्यं, नान्यस्मिन् काले देशे वेति नियतिबलादेव विलक्षणदुःखस्वभावाः सत्त्वानाम् अभिजातिरुच्चकुल-गोत्रादिः उपलक्षणत्वान्नीचकुल-गोत्रादे-

रपि ग्रहणम्, अनेनोच्चकुल-गोत्रादिना भवितव्यमनेन नीचकुल-गोत्रादिना भवितव्यमिति नियतिबलत उच्चकुल-गोत्रादिर्नीचकुल-गोत्रादिः, **स्वभावः सर्वसत्त्वानाम्** स्वभाव इत्यनेन स्वयमेव जीवो नियत्येदृशो भवति न तु धर्माधर्मादिवशान्नवा पुरुषकारबलान्नापि कालमाहात्म्यादिति बोध्यते, सर्वसत्त्वानां सर्वप्राणिनाम् अपेक्षाभेदेन नित्यत्वादिक जीवमात्रे सम्भवति, आत्मस्वभावेन नित्यतावतामपि प्राणिना देवादिभावेनानन्तर्यादिभाव इत्यस्यार्थस्य दार्ढ्यायानुगुण दृष्टान्तमाह—**पयःक्षीराङ्कुरादिवदि**ति पयः पानीयं खलु शीतस्वभावं भवति स्वात्या शुक्तिमान्तर्गत मुक्तास्वरूपमुपजायते एवं तत्तद्देश-कालविशेषमघानक्षत्रादिपतितं विषादिविभिन्नस्वभावं भवति, तदेतन्नियतिबलादेव क्षीरं मधुरस्वभावं भवति, गोक्षीरं माहिषमजाक्षीरादिक च विभिन्नस्वभावं नियतिविशेषत एव भवति, अङ्कुरोऽपि तत्तद्बीजपरमाणुसमुद्भूतो नियतिबलादेव वटवृक्षादिरूपेण परिणतो भवति, तथा सत्त्वानां स्वभावो नित्यतादिर्बोध्यः यद्यप्ययं सर्वोऽप्युद्गारः स्वभाववादमनुसरति -यतः स्वभाववादिन इयमुक्तिः—

"नित्यसत्त्वा भवन्त्येके नित्यासत्त्वाश्च केचन ।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः ॥१॥
"वह्निरुष्णो जल शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः ।
केनेद रचितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः ॥२॥"

इति, तथापि ईदृशस्वभाव एव नाकस्मात् किन्तु अस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमिति नियतिबलादेवेति स्वभावनियामिकाऽपि नियतिरेवेति नियतिवादव्यवस्थितिरिति ॥१॥

ननु जन्मान्तरसञ्चितौ धर्माधर्मौ दैवमिति कथ्येते दैवमेव च प्राणिना सुख-दुःखादिनिमित्तमाविर्भाव-तिरोभावादिनिमित्तं, किमिति नियतिवादाश्रयणेनेत्यत आह—

धर्माधर्मात्मकत्वे तु शरीरेन्द्रियसंविदाम् ।
कथं पुरुषकारः स्यादिदमेवेति नेति वा ॥२॥

धर्माधर्मात्मकत्वे त्विति। **धर्माधर्मात्मकत्वे तु** सर्वसत्त्वानामित्यनुवर्त्तते धर्म-धर्मिणोस्तादात्म्यमिति सत्त्वानां धर्मिणां धर्माधर्मात्मकधर्मतादात्म्ये

त्वित्यर्थः, तथा च धर्माधर्मावेव पूर्वसञ्चितौ दैवसंज्ञकौ सर्वप्राणिनां स्वभावविशेषस्य परस्परविलक्षणस्य प्रयोजकौ किं नियतिकल्पनयेति यदीति भावार्थः, तदा **शरीरेन्द्रियसंविदामिदमेव स्याद् नेति वा** इदं स्याद् इदं च न स्यादिति वा पुरुषकारः कथमित्यन्वयः, यद्यपि **पुरुषकारः** प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः प्रयत्नः स आत्मधर्मो न शरीरेन्द्रियसंविदाम्, तथापि शरीरधर्मश्चेष्टालक्षणस्तत्तत्कार्यानुगुणः प्रयत्नसाध्यत्वात् पुरुषकारः तथा तत्तद्विषयसन्निकर्षानुकूलेन्द्रियक्रियाऽपि पुरुषप्रयत्नसाध्यत्वात् पुरुषकारः तत्प्रभवा संविदपि तत्तद्विषयावगाहनस्वभावा पुरुषकारः, धर्माधर्मावात्मनि वर्त्तेते, चेष्टादिश्च पुरुषकारः शरीरादौ वर्तते इति व्यधिकरणत्वाच्च धर्माधर्मलक्षणदैवतः पुरुषकारस्य सम्भवः परम्परया कथञ्चित् सामानाधिकरण्येऽपि नियतेरनभ्युपगमे इदं कर्त्तव्यं नेदं कर्त्तव्यमित्येवं पुरुषकारः **कथम्** अदृष्टतो नियमितुं शक्यः, नियतपुरुषकाराभावे च जगदान्ध्यमेव स्यादतो दैवस्यापि तत्तत्पुरुषकारद्वारा तत्तत्कार्यजनकत्वं नियमितमस्य दैवस्यैतादृशपुरुषकारद्वारैतादृशकार्येण भवितव्यमिति नियतिबलादेव नान्यथेति नियतेरनभ्युपगमे पुरुषकारविशेषद्वारा दैवादपि न सुख-दुःखादिव्यवस्थोपपत्तिः पुरुषकारमद्वारीकृत्य दैवमात्रेण च कार्यसम्पादनं दुष्करमेवेत्याशयः ॥२॥

ननु नियतिकृतनियमनविकलौ दैव-पुरुषकारौ मा भवत आनन्तर्यादिनियामकौ, कर्त्ता तु स्वतन्त्रः कारकः सर्वं सम्पादयिष्यतीत्यत आह—

शरीरेन्द्रियनिष्पत्तौ यो नाम स्वयमप्रभुः ।
तस्य कः कर्तृवादोऽस्तु तदायत्तासु वृत्तिषु ॥३॥

शरीरेन्द्रियनिष्पत्ताविति । **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, **यः** अक्षपादतनयादिः, **शरीरेन्द्रियनिष्पत्तौ** अन्यस्य का कथा, स्वशरीरस्यातिसन्निहितस्यात्यन्तोपकारिणः, इन्द्रियस्य च तथाभूतस्य चक्षुरादेः, निष्पत्तौ अविकलावयवाङ्गप्रत्यङ्गस्वरूपोत्पत्तौ, **स्वयम्** ईश्वरकालादृष्टादिनिरपेक्षः, **अप्रभुः** असमर्थः, किन्तु शुक्रशोणितसंयोगसमुद्भूतबुद्बुदकललाद्यवस्थादिपरिणतहस्त-पाद-मस्तकाद्यङ्गप्रत्यङ्गनिष्पत्तितोऽनेनेत्थमेव भवितव्यमिति नियतिबलादेव मनुज-देव-पशु-पक्ष्यादिविलक्षणजातीयस्वभावं शरीराद्युत्पद्यते, **तस्य** अक्षपादतनयादेः, **तदायत्तासु** शरीरेन्द्रिया-

यधीनासु, **वृत्तिषु** चेष्टादिव्यापारेषु, **कर्तृवादः** आत्मैवेदं सर्वं करोतीति आत्मन एव शरीरेन्द्रियवृत्तितत्प्रभवसुख-दुःखादिषु स्वातन्त्र्येण कारणत्वमिति वादः, **कोऽस्तु** न कोऽपीत्यर्थ ॥३॥

किञ्च, कर्तृवादे प्राधान्येन कर्तुरेव कारणत्व, कर्त्ता च न कोऽपि स्वस्य दुःखमिच्छति नवा नीचकुल-गोत्रादिकमिच्छति, किन्त्वतिशयितसुखमेवेच्छति उच्चकुल गोत्रादिकमेवेच्छतीति सुखमेवोच्चकुल-गोत्रादिकमेव स्यादिति जगद्वैचित्र्यं न स्यात्, अतो धर्मेण गमनमूर्ध्वम् अधोगमनमधर्मेण, धर्मातिशयेन सुखातिशयः अधर्मेण दुःखं अधर्मातिशयेन दुःखातिशय इत्याद्युपपत्तये धर्माधर्मयोरेव सुख-दुःखाद्युत्पत्तौ विभिन्नदेश-कालाद्यपेक्षया च सुखातिशयादिकारणत्वमेव तयोरेव वक्तव्यमिति कर्तुं प्रावीण्याभावात् कथं कर्तृवादसम्भव इत्याह—

धर्माधर्मौ तदाऽन्योऽन्यनिरोधातिशयक्रियौ ।
देशाद्यपेक्षौ च तयोः कथं कः कर्तृसम्भवः ॥४॥

धर्माधर्माविति । **तदा** शरीरेन्द्रियनिष्पत्तावात्मनः स्वयमप्रभुत्वे शरीरेन्द्रियाधीनवृत्तिषु कर्तृवादासम्भवे च, सुख-दुःखादिवैलक्षण्योपपादकौ **धर्माधर्मौ अन्योऽन्यनिरोधातिशयक्रियौ** धर्मोऽधर्मं निरुणद्धि धर्मोदये सति तत्कार्यमेव सुखादिकं भवति न तु तदवरुद्धो धर्मो दुःखादिकं स्वकार्यं करोति, एवमधर्मो धर्मं निरुणद्धि अधर्मोदये सति तत्कार्यमेव दुःखादिकमुपजायते न तु तदवरुद्धो धर्मः स्वकार्यं सुखादिकं निष्पादयतीत्येवमन्योऽन्यनिरोधक्रियौ, तथाऽतिशयक्रियौ एकस्य जीवनस्य धर्ममतिशेतेऽपरस्य जीवस्य धर्मः यतस्तज्जन्यसुखापेक्षयोत्कृष्टतरं सुखादिकमपरस्य जीवस्यातिशयितधर्मनिबन्धनं भवति, एवमेकस्य जीवस्याधर्ममतिशेतेऽपरस्य जीवस्याधर्मः, यतस्तज्जन्यदुःखाद्यपेक्षयोत्कृष्टतरं दुःखादिकमपरस्य जीवस्यातिशयिताधर्मनिबन्धनं भवतीत्येवमन्योऽन्यातिशयक्रियौ न चैतादृशौ तौ देश-कालादिभेदमन्तरेणेति, **देशाद्यपेक्षौ चे**ति तयोरुक्तस्वभावयोर्धर्माधर्मयोः, **कथं** केन प्रकारेण, **कः** कीदृशः, **कर्तृसम्भवः** कर्तृवादोपपत्तिः, धर्माधर्मौ न प्रत्यक्षेणानुभूयेते, तथा चेदृशौ तौ नान्यादृशाविति कर्तुं न कर्त्ता प्रभुः, नियतिवादाभ्युपगमे तु अस्य धर्मस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमस्य धर्मस्यानेन स्वभावेन भवितव्यमिति नियत्या नियमनं सम्भवतीति भावः ॥४॥

कारणान्तरेण समीचीनाभीष्टसुखादेरसमीचीनानभीष्टदुःखादेरुपपादने कर्तृ-प्रधानवादस्य व्याहतिरित्याह—

यत्प्रवृत्त्योपमर्देन वृत्तं सदसदात्मकम् ।
तद्वेतरनिमित्तं वेत्युभयं पक्षघातकम् ॥५॥

यत्प्रवृत्त्येति । **यत्प्रवृत्त्या** यत्कारणस्य कार्यनिष्पत्त्यनुकूलव्यापारेणेत्यर्थः, **उपमर्देन** अन्योऽन्यसवलनेन, **वृत्तं** निष्पन्नं कार्यम्, कीदृशमित्याकाङ्क्षायामाह—**सदसदात्मकम्** शोभनाशोभनस्वरूपम्, **तद्वेति** तत्पदं तन्निमित्तपरं तन्निमित्तकं वेत्यर्थः, **इतरनिमित्तं वा** अथवा परिदृश्यमानव्याप्रियमाणकारकातिरिक्तकारक-निमित्तकं वा, न तु कर्तृव्यापारमात्रनिष्पाद्यम्, **इत्युभयम्** उक्तस्वरूपोभयम्, **पक्षघातकं** कर्तृप्राधान्यवादस्य विघातकम्, यतः यत्कारकव्यापारेण निष्पादितं तत्कर्तृव्यतिरिक्तमिति तन्निमित्तकत्वे कर्तैव कारणमिति पक्षो नोपपद्यते, अथ च येन नियत्यादिना नियमितं सदभिमतकार्ये व्याप्रियते तदेव नियत्यादितत्कार्य-निमित्तम्, एवमपि निरुक्तकर्तृवादो व्याहन्येतेत्याशयः, सदसदात्मकमित्यस्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः सद्रूपं परद्रव्यक्षेत्र-कालभावैरसद्रूपमित्यादिरप्यर्थोऽवसेयः ॥५॥

ननु यथा ग्रामाध्यक्ष-देशाध्यक्ष प्रधानसेनापत्यादिपरिकरोपेतो भूपतिः राज्य-प्रशासनादिकार्ये स्वतन्त्रः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थस्तथा जीवोऽपि दृष्टादृष्ट-कारणचक्रोपेतः सन् सुखादिकार्यं करोतीति स्वतन्त्र एवेति कर्तृप्राधान्यवादो निर्वहतीत्यत आह—

न दृष्टान्ता कृताशक्तेः स्वातन्त्र्यं प्रतिपिध्यते ।
अनिमित्तं निमित्तानि निमित्तानीत्यवारितम् ॥६॥

न दृष्टान्तेति । 'दृष्टान्ता कृताशक्तेः' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टान्तकृतासक्तेः' इति पाठो युक्तः । **दृष्टान्तकृतासक्तेः** दृष्टान्ते कृता दृष्टान्तकृता, दृष्टान्तकृता आसक्तिर्यस्य स दृष्टान्तकृतासक्तिस्तस्य, आसक्तिरावेशः, दृष्टान्तमात्रेण दार्ष्टान्तिकमभ्युपच्छतो वादिन इत्यर्थः, **अनिमित्तं** निमित्तरहितं वाङ्मात्रप्रभावितं **स्वातन्त्र्यं** कर्तुः स्वातन्त्र्यं, राजादिदृष्टान्तेन निर्युक्तिकं कर्तुः स्वातन्त्र्यं वाद्य

भ्युपगतमित्यर्थः, **न प्रतिषिध्यते** नियतिवादिना न निराक्रियन्ते, न हि वाङ्मात्रेण किमपि वस्त्वभ्युपगच्छतो वक्तुः वक्त्रं वक्रीभवति, न च तथा साधितं वस्तु सिद्धि-कोटिमुपढौकते अतो वस्तुगत्याऽसिद्धस्य तस्य निषेधो न युज्यत इति जीवस्य कर्तुः स्वातन्त्र्याभावे, **निमित्तानि** यान्युपदर्शितानि, न तानि वाङ्मात्रप्रभावितानि, किन्तु **निमित्तानि** वस्तुतो निमित्तानि, एतत् **अवारितम्** वादिनाऽप्रतिषिद्ध-मित्यर्थः, अथवा 'दृष्टान्ता कृताशक्तेः' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टान्तीकृता शक्तेः' इति पाठः । **दृष्टान्तीकृता शक्तेः** शरीरेन्द्रियनिष्पत्तौ यो नाम स्वयमप्रभुरित्यनेन दृष्टान्तीकृता अशक्तिः शरीरेन्द्रियनिष्पत्त्यसामर्थ्यं यस्य स दृष्टान्तीकृता शक्तिस्त-स्यात्मनः, स्वातन्त्र्यं सुख-दुःखाद्युत्पत्तावन्यानपेक्षकर्तृत्वं, **अनिमित्तं** अनिमित्तं यथा स्यात् तथा, न प्रतिषिध्यते किन्तु सनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते, तत्स्वातन्त्र्य-प्रतिषेधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह–**निमित्तानी**ति धर्मादर्माद्यदृष्टापेक्षस्यै-वात्मनः सुख-दुःखाद्युत्पत्तौ सामर्थ्यं न तन्निरपेक्षस्येत्यादीनि निमित्तानि यानि पूर्वमुपदर्शितानि नियतिवादोपोद्वलकानि, तानि निमित्तानि नियत्या नियमितानि कारणानि इत्यवारितम् इत्येतदप्रतिषिद्धं वादिनेत्यर्थः ॥६॥

कीदृशो नियतिवाद इत्याकाङ्क्षायामाह—

विश्वप्रायं पृथिव्यादिपरिणामोऽप्रयत्नतः ।
विषयस्तत्प्रबोधस्ते तुल्ये यस्येति मन्यते ॥७॥

विश्वप्रायमिति । विश्वप्रायं विश्वव्यापकम्, **अप्रयत्नतः** पुरुषकार-मन्तरेण, **पृथिव्यादिपरिणामः** भू-जल-तेजो-वायुस्वरूपपरिणामाः, **विषयः** ज्ञानग्राह्यः, **तत्प्रबोधः** पृथिव्याद्यवगाहि ज्ञानं, **ते** विषयज्ञाने, **तुल्ये** समाने यावान् विषयः तावज्ज्ञानं, **यस्य** विश्वस्य, **इति** एवं, **मन्यते** स्वीकरोति नियति-वादीत्यर्थः ॥७॥

नियतिवादे सर्वस्य विषमत्वं वैचित्र्यादित्याह—

नोक्ताभ्यां सह नोत्पादात् सममध्यक्षसंपदि ।
विनाशानुपपत्तेश्च भोज्य-भक्ष्यविकल्पतः ॥८॥

नोक्ताभ्यामिति। अथवा सुदूरमपि ते गत्वा हेतुवादो निवर्त्स्यतीत्यग्रेऽभिधास्यति तदुपपादनायाह—**नोक्ताभ्यामिति**। प्रत्यक्षप्रमाणेनैव सर्वप्रमाणज्येष्ठेन वस्तुसिद्धिर्भवति न च हेतौ तत्सम्भवः, कारणत्वस्यैव नियतिवादाश्रयणमन्तरेणानुपपत्तौ तद्विशेषस्य कर्तृत्वादेरनुपपत्त्या कर्तृप्राधान्यवादादिक सुतरामसम्भवीत्याशयेनाह—**अध्यक्षसंपदि** अध्यक्षस्य प्रत्यक्षस्य स्पष्टविषयावभासनलक्षणसपदि, **उक्ताभ्यां** पृथिव्यादिपरिणामलक्षणविषयतत्प्रबोधाभ्याम्, **सह न** हेतुरिति शेषः, कार्येण पृथिव्यादिविषयेण तद्विषयकज्ञानेन वा समं हेतुः प्रत्यक्षप्रमाणेनावभासत इत्यर्थ एवं च प्रत्यक्षप्रमाण पृथिव्यादिपरिणामलक्षणविषयं तज्ज्ञानलक्षणविषयिणं वा कार्यं यदाऽवगाहते तदा तत्कारणं कर्त्रादिक नावगाहते यदा कर्त्रादिकं कारणमवगाहते तदा कार्यं पृथिव्यादिक तद्विषयकज्ञानं वा नावगाहत इति न प्रत्यक्षप्रमाणेन कार्य-कारणभावसिद्धिरिति भाव, **नोत्पादात् सममिति** यदा कार्यमुत्पद्यते तदा कारणमुत्पद्यते इति तयोरेककालमुत्पदात् कार्येण सम कारणमध्यक्षसंपदि प्रत्यक्षे चकास्तीत्यपि नेत्यर्थः, पूर्वापरभावे सत्येव कार्य-कारणभाव इति कार्य-कारणयोरेककाले उत्पत्त्यभावादित्यर्थः, ननु कार्यकाले कार्योत्पादकाले वा कारणं विनश्यत्येवातो न कार्येण समं कारणमध्यक्षविषय इत्यत आह—**विनाशानुपपत्तेश्चेति** कार्यकाले कार्योत्पादकाले वा कारणविनाशानुपपत्तेश्चेत्यर्थः, तत्र हेतु **भोज्य-भक्ष्यविकल्पतः** इति भोज्य सुख-दुःखाद्युपभोगक्षमं कामिन्यादिकं तज्जनकमदृष्टमपि भोज्य तच्च सुखाद्युपभोगेन विनश्यति, एवं भक्ष्यमोदनादिकं गलबिलाध.संयोगानुकूलव्यापारलक्षणभक्षणेन विनश्यति, न च कारणं कार्यस्य भोज्य नवा भक्ष्यमिति भोग-भक्षणभिन्नं कार्य भोज्यभक्ष्यभिन्नं कारण न विनाशयितुमलमिति निर्निष्टत्वात् कारण कार्यकाले न प्रत्यक्ष विषय इति वक्तुमशक्य इति भावः ॥८॥

किञ्च, कर्तृत्व नात्मगुण· किन्तु ज्ञानादय एवात्मगुणास्तेषामहमित्यभिमानतः कर्तृत्वारोपेऽप्यात्मन. नान्यथाभाव इति स्वतोऽकर्तुरात्मनः सुख-दु.खादिजनकत्वलक्षणकर्तृत्व न स्वाभाविकमिति कर्तृप्राधान्यवादो न सम्भवतीत्याशयेनाह—

पृथिव्या नावरुध्येत यथा वा राजतक्रियाः ।
गुणानां पुरुषे तद्वदहं कर्त्रेत्यदःकृते ॥९॥

पृथिव्या इति । **वा** अथवा, **यथा राजतक्रिया** रजतस्येदं राजतं तस्य क्रिया तत्परिणामः रजतस्य वलय-कटक-केयूरभावलक्षणः परिणामः, **पृथिव्या** तथाभावनिमित्तलोहादिरूपया पृथिव्या, **नावरुध्येत** अवरुद्धो न भवति, राजतपरिणामः पृथिवीनिमित्तकोऽपि पार्थिवो न भवतीति यावत्, **तद्वद्** तथा, **अहं कर्त्तेत्यदःकृते** अहं कर्त्तेत्यभिमानपल्लविते, **पुरुषे** आत्मनि, **गुणानां** ज्ञानादिगुणानाम्, **तद्व**दितिपदसमन्वयत अवरोधो न भवतीति, स्वाभाविका आत्मनो ज्ञानादिगुणा नान्यथा भवन्तीति न कर्तृतया कारकत्वमात्मनो भाविकमिति भावः ॥९॥

यदा च प्रत्यक्षप्रमाणेनैव सिद्धः सिद्धो भवति तदा यावत्पर्यन्तं प्रत्यक्षप्रवृत्तिस्तावत्पर्यन्तं हेतु-हेतुमद्भावसिद्धावपि ततः परं प्रत्यक्षप्रवृत्त्या हेतुर्न सिद्ध्येदित्याह—

सुदूरमपि ते गत्वा हेतुवादो निवर्त्स्यति ।
न हि स्वभावानध्यक्षो लोकधर्मोऽस्ति कश्चन ॥१०॥

सुदूरमपीति । **ते** तव, **हेतुवादः** आत्मादेः कर्तृत्वादिवादः, **सुदूरमपि गत्वा** यत्र प्रत्यक्षं न प्रवर्त्तते तत्र गत्वा, **निवर्त्स्यति** निवृत्तो भविष्यति, ननु कार्य-कारणभावो वस्तुधर्मो नापलपनीय, प्रत्यक्षाभावेऽपीत्यत आह—न हीति, **स्वभावानध्यक्ष** इति न अध्यक्षः प्रत्यक्षगोचरः अनध्यक्षः, स्वभावोऽनध्यक्षो यस्य स स्वभावानध्यक्षः प्रत्यक्षाविषयस्वभावकः प्रत्यक्षविषयस्वभावरहित इति यावत् एवंविधः, **लोकधर्मः** लोक्यते प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते इति लोकः प्रत्यक्षविषयः पदार्थः तस्य धर्मः, **कश्चन** कोऽपि, **न ह्यस्ति** न हि न विद्यते, तथा च कार्य-कारणभावोऽपि लोकः प्रत्यक्षप्रमाणागोचरस्वभावको न भवितुमर्हतीति तवाभिमतो हेतुवादो निवृत्तो भविष्यत्येवेत्याशयः ॥१०॥

ननु यदि हेतुवादो नास्ति तदा कश्चित् कार्यं प्रति कस्यचित् कारणत्वाभावेनेष्टसाधनताज्ञानाभावाल्लोकानां क्वचिदपि प्रवृत्तिर्न स्यात्, एवं तत्त्वज्ञानस्य मोक्षं प्रति कारणत्वाभावान्मुक्त्यर्थिनो मुक्त्युपाये प्रवृत्तिरपि दुर्घटा, सांसारिक-

विषयादेरनित्यत्वभावनया वैराग्यमपि निर्निमित्तं नादरणीयं स्यात् मुक्तिलक्षणा सिद्धिरपि हेतुमन्तरेण न सम्भवतीति तदर्था प्रवृत्तिरपि न युक्ता स्यादित्यत आह—

प्रवर्तितव्यमेवेति प्रवर्तन्ते यदा गुणाः ।
अथ किं संप्रमुग्धोऽसि ज्ञान-वैराग्यसिद्धिषु ॥११॥

प्रवर्त्तितव्यमेवेति । सांसारिकोपभोगसाधनतयाऽऽपातरमणीयेषु कामिनी-काञ्चनादिषु विषयेषु परमपुरुषार्थमुक्तिसाधनेषु च ज्ञान-वैराग्यादिषु, **प्रवर्त्तितव्यमि**ति नियतिबलात्, **यदा** स्वभावतः, **गुणाः प्रवर्त्तन्ते**, तत एव चेष्टमनिष्टं च भवितव्यं भवत्येव, **अथ** स्वभावतो गुणानामिदमित्थमेव भवितव्यमिति नियतितो नियमितत्वेऽनन्तरं, **ज्ञान-वैराग्यसिद्धिषु** अवश्यभविताऽऽलिङ्गितासु, हे वादिन्—

"यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयम् अगदः किं न पीयते ? ॥३॥"

इति वचनार्थभावनाया निर्भरमास्थामास्थाय सुखासिकामवलम्बस्व **किं संप्रमुग्धोऽसि** ज्ञानं भविष्यति न वा, वैराग्यं फलिष्यति न वा ज्ञान-वैराग्यादि-सम्पत्तावपि मुक्तिर्भविष्यति नवेत्येव चित्तवैकल्यलक्षणसंमोहवान् भवसि, नियतिरेव तव यद् यथा भवितव्यं तत् तथा भावयिष्यति अलं सम्मोहेनेति भावः ॥११॥

नियतिनियमितैरेव गुणैर्बुद्धेर्धर्माद्यष्टाङ्गताऽपि न विरोधमावहतीत्याह—

धर्माद्यष्टाङ्गता बुद्धेर्न विरोधकृते च यैः ।
वक्तुराद्यनिमित्तत्वाद् वितथप्रत्ययादपि ॥१२॥

धर्माद्यष्टाङ्गतेति । **बुद्धेः** साङ्ख्याभ्युपगतमहत्तत्त्वस्य, **यैः** नियतिनियमितैः सत्त्वादिगुणैः, **धर्माद्यष्टाङ्गता** धर्मादयोऽष्टौ अङ्गानि यस्याः सा धर्माद्यष्टाङ्गा तस्या भावो धर्माद्यष्टाङ्गता धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणामष्टानां मध्ये धर्मस्याधर्मेण सह विरोधो ज्ञानस्याज्ञानेन सह विरोधः वैराग्यस्यावैराग्येण समं विरोधः ऐश्वर्यस्यानैश्वर्येण सह विरोध इत्येवमेकस्या बुद्धेर्धर्माद्यष्टाङ्गता विरोधान्न स्यात् किन्तु यैः सत्त्व-रजस्तमोभिर्गुणैर्नियतिनियमितैः धर्माद्यष्टाङ्गता,

विरोधकृते विरोधाय, न न भवति, अतो धर्मादीनां विरोधपरिहाराय सत्त्वादयो गुणा नियतिनियमिताः स्वीकरणीया इति, पूर्वपक्षे युक्तमुक्तं प्रवर्त्तितव्यमेवेति प्रवर्त्तन्ते यदा गुणा इति, तत्र गुणपदेन सत्त्वादिगुणत्रयात्मकत्वात् पदार्थानामपि ग्रहणमिति, चक्षुरादीन्द्रियत एव धर्माद्येकस्याविरोधिनोऽपरस्यते, जिनप्रतिमादिकं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा वा धर्मो भवति, पराङ्गनादिकं दृष्ट्वाऽधर्मो भवति गुणसहकृत-चक्षुरादीन्द्रियादितो ज्ञानमुपजायते दोषसहचक्षुरादितो विपर्यय-संशयादिस्वरूप-मज्ञानमुपजायते दुःखितान् सङ्कटगतान् प्राणिनो दृष्ट्वा वैराग्यमुपजायते विषय-लोलुपतासव्यपेक्षचक्षुरादिजनितदर्शनतोऽवैराग्यं भवति एवं साधुदर्शन-तत्सेवादितो ऽष्टविधैश्वर्यं भवति, दुष्टजनदर्शन-स्पर्शनादितोऽनैश्वर्यमुपजायत इत्येवमपि कारण-वैचित्र्यतो धर्मादिविरोधपरिहारः सम्भवतीति किमिति नियतिकृतगुणनियमेनेत्यत आह—'वक्तुराद्यनिमित्तत्वाद्' इति, एतत्स्थाने 'चक्षुराद्यनिमित्तत्वाद्' इति पाठो युक्तः । **चक्षुराद्यनिमित्तत्वात्** चक्षुरादिनिमित्तकत्वाभावादिति तदर्थः भव्य-जिनप्रतिमादेश्चक्षुरादिना ज्ञाने जातेऽपि कस्यचिद् भक्त्युद्रेके सति धर्मो भवति, भक्त्युद्रेकश्च सत्त्वगुणोद्रेकाद् भवति, कस्यचित् पुनस्तत्रैव द्वेषोद्रेके सत्यधर्मो भवति, द्वेषोद्रेकश्च रजोगुणोद्रेकादुपजायते, कस्यचित् पुनर्मोहोद्रेकः स च तमो-गुणोद्रेकात्, सत्त्वादिगुणोद्रेकादिश्च नियतिबलादेवेति एवं ज्ञानादिरपि परम्परया नियतेरेवेति न चक्षुरादिनिमित्तका धर्माद्यष्टाङ्गतेति भावः, वादिकल्पितनिमित्ततो धर्माद्यष्टाङ्गतादिकल्पने तु वादिनामन्योऽन्यं वाग्युद्ध एव स्यान्न तु तत्त्वनिर्णय इत्यत आह—**वितथप्रत्ययादपीति** मिथ्याज्ञानादपीत्यर्थः, अस्याग्रेतनेन प्रति-सन्धावित्यनेनान्वयः ॥१२॥

बुद्धेर्धर्माद्यष्टाङ्गता भ्रान्तिप्रत्ययादपि भवितुमर्हति, न तु सम्यग् ज्ञानादेवे-त्यत आह—

> असतो हेतुतो वेति प्रतिसन्धौ च विग्रहः ।
> अमंस्तु हेतुर्धीमात्रं करोति च विशिष्यते ॥१३॥

असत इति । वा अथवा, **असतः हेतुतः** अपकृष्टकारणात् इति, एवं **प्रतिसन्धौ** वादिप्रतिवादिनोः प्रतिसन्धाने च, **विग्रहः** वाग्युद्ध एव

स्यात्, यतः **असँस्तु** असत् पुनः, **हेतुः** कारणम्, एतच्च न सम्भवति यत् कुत्रापि कदापि न वर्त्तते तदसदित्युच्यते, हेतुश्च कार्याधिकरणे अव्यवहित-पूर्वकालावच्छेदेन वर्त्तमान एव चासद्धेतुरिति व्याहतत्वादसम्भवद्, **धीमात्रं** कल्पनामात्रम्, तदेव च **कर्त्तेति** कर्त्ता इत्येवंरूपेण, **विशिष्यते** कर्त्ताऽयमिति गीयते, वस्तुतो न कोऽपि कर्त्ता काल्पनिक एवाय कर्तृवाद इत्याशयः ॥१३॥

ननु असतो हेतुत्वासम्भवादसन् हेतु कल्पनैकशिल्पिनिर्मितत्त्वाद् धीमात्रं भवतु नाम, तच्च कर्त्तेत्येवं न विशिष्यते, यतः कर्त्ता व्यापको नित्य आत्मा स सन्नेव हेतु तस्य कर्तृत्वलक्षणकारकत्वविशेषो वास्तविक एव न काल्पनिकः इति न धीमात्रस्वरूप. स इति कर्तृत्वादो युक्त एवेत्यत आह—

भङ्गुरश्रवणाद्यर्थसंविन्मात्रे निरात्मके ।
रागादिशान्तौ यत्नस्ते कथं कस्य किमित्ययम् ॥१४॥

भङ्गुरेति । **भङ्गुरश्रवणाद्यर्थसंविन्मात्रे** भङ्गुर क्षणिकं **यत्** श्रवणादि श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि, तदेवार्थसवित् अर्थज्ञानं, तन्मात्रे तन्मये, मात्रपदव्यवच्छेदमाह– **निरात्मके** इति स्थिरात्मरहित इत्यर्थ., **विज्ञान-सन्ततिरेवात्मा** न तु तद्व्यतिरिक्तः स्थिर आत्मा समस्ति, आत्मन **अभावे** तदिष्टस्याभावे तत्साधनत्वस्याप्यभावान्न कश्चित् पुत्र-कलत्रादि स्थिरः कस्यचिदा-त्मनः स्थिरस्य समस्तीति विषयाभावादेव न रागः, एवं स्थिरस्यात्मनोऽभावे तद्द्विष्टस्याप्यभावे तत्साधनत्वमपि न कुत्रापि समस्तीति न स्थिर कश्चित् कस्यचिच्छत्रुरिति विषयाभावादेव न द्वेष., इत्येवं **रागादिशान्तौ** काम-क्रोधादिनिवृत्तौ, हे वादिन् **ते** तव, **यत्नः** प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, **कथं** प्रवृत्ति-कारणस्येष्टसाधनताज्ञानस्य निवृत्तिकारणस्य द्विष्टसाधनताज्ञानस्य चाभावान्न कथञ्चित् सम्भवतीति, **कस्य यत्नः** खलु स्थिरात्मन सम्भवति यदा खलु स्थिरात्मैव नास्ति तदा न कस्यचिद् यत्न इत्यर्थः, **अयं** यत्नः, **किमिति** किं-स्वरूपः धर्मो वा स्याद् धर्मी वा स्यात्, कस्यचित् कारण वा स्यात् कस्यचित् कार्यं वा स्यादित्येवं बहुविधविकल्पग्रस्तत्वान्न विज्ञानव्यतिरिक्तस्वरूप उपपद्यते,

आत्मा स्थिरः कश्चिद् यद्याश्रयः स्यात् तदा तद्धर्मो यत्नो भवेत्, यदा त्वात्मैव नास्ति तदा कथं धर्मः प्रयत्नः स्यात्, यदा प्रयत्नः स्वयं क्वचिन्नावतिष्ठते तदा धर्मोऽपि तत्रास्थिरे कश्चित् कथ न धर्मिप्रयत्न इत्यनया दिशा कारणादिस्वरूपत्वमपि तस्य निरसनीयमिति युक्तमसस्तु हेतुर्धीमात्र कर्त्तेति च विशिष्यत इति ॥१४॥

ननु कर्मणा दृष्टमुत्पद्यते ततो धर्मात्मकाददृष्टात् सुखसाधनविषयादिसप्रयोगत. सुखमुत्पद्यते अधर्मात्मकाददृष्टाद् दु·खसाधनविषयादिसम्प्रयोगतो दुःखमुत्पद्यते, यज्जातीयाद् वस्तुन· सुख तज्जातीयत्वज्ञानतः सुखसाधनताज्ञानं ततः प्रयत्न· तत सुखसाधनवस्तूत्पत्ति· तत पुनः सुखम्, एवं यज्जातीयाद् वस्तुनो दु.ख तज्जातीयत्वज्ञानतो दु खसाधनताज्ञानं ततो दु.खसाधनवस्तुनि निवृत्तिः ततो न दु·खमित्येवं कर्मादृष्टप्रयत्नपरम्परा यत्र स आत्मा कर्त्तेति कर्तृवादः सुसङ्गत इत्यत आह—

कर्मजः प्रत्ययो नाम कर्म च प्रत्ययात्मकम् ।
तत्फलं निरयाद्यश्च न च सर्वत्र विस्मृतः ॥१५॥

कर्मज इति । हे वादिन् ! अत्र प्रक्रिया जानीहि–**कर्मजः** कर्मजन्यः, **प्रत्ययः** ज्ञानविशेषः, **च** पुनः, **कर्मप्रत्ययात्मकं** ज्ञानविशेषात्मकम्, **तत्फलं** कर्मजप्रत्ययफलम्, **निरयाद्यश्च** नरकादिकश्च, संसारस्य दु खबहुलत्वात् तत्र रागो न विधेय. किन्तु ततो विरक्तेन भाव्यमित्यवगतये निरयग्रहणम्, आदिपदात् सुकृतकर्मफलस्य स्वर्गादेर्ग्रहणम् तदपि फलं ज्ञानविशेषात्मकमेवेति चकारोपादानतो लभ्यते, सर्व वस्तु वैज्ञानिकं विज्ञानस्वरूपमेवेत्यावेदनाय, **न च सर्वत्र विस्मृतः** इति, अत्र 'विस्मृत.' इत्यस्य स्थाने 'विस्मृतम्' इति पाठो युक्तः । **विस्मृतम्** एवं सर्वस्मिन् विषयेऽवधेय न तु विस्मर्तव्यमिति भावः ॥१५॥

ननु ज्ञानधारैव समस्ति न तु तदाश्रयः कश्चित् स्थिर आत्मेति नियतिमन्तव्यं न सम्भवति, य एवाव्यभिचारी प्रबोध स एव ज्ञानम्, तदन्यज्ज्ञानमज्ञानमेव, अर्थाव्यभिचारि ज्ञानं च राग-द्वेषजेतॄणामेव सम्भवति

नान्येषामिति राग-द्वेषापनुत्तये यत्नो विधेय एवेति यत्नवानात्माऽभ्युपेय इति कर्तृवाद आयात्येवेत्यत आह—

ज्ञानमव्यभिचारं चेज्जिनानां मा श्रमं कृथाः ।
अथ तत्राप्यनेकान्तो जिताः स्मः किन्तु को भवान् ॥१६॥

ज्ञानमव्यभिचारं चेद्िति । **जिनाना**मिति राग-द्वेषादीन् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां, **चेद्** यदि, **ज्ञानमव्यभिचारं** व्यभिचाररहितम्, तदा ये जिनास्तेषामेवाव्यभिचारि ज्ञानम्, नान्येषामिति, यदि जिना भवन्त-स्तदा यत्नमन्तरेणैव भवतामव्यभिचारिज्ञानम्, यदि च न जिना भवन्तः तदा यत्ने कृतेऽपि न ज्ञानमव्यभिचारीति तदर्थम्, **श्रमं** यत्नम्, **मा** नैव, **कृथाः** कुर्याः, **अथ** यदि, **तत्रापि** जिनेष्वपि, **अनेकान्तः** ज्ञानं भवत्येवेति न नियमः, एवं तर्हि **जिताः स्मः** अनेनाव्यभिचारिज्ञानेन भवितव्यं व्यभिचारिणा चानेन भवितव्यमिति नियतिबलात् कस्यचिदव्यभिचारिज्ञानं कस्यचिच्च व्यभि-चारिज्ञानमित्यभ्युपगच्छन्तो वयं जिताः स्मः, तावता किमिति पृच्छति–**किन्त्वि**ति, उत्तरयति–**को भवा**निति कर्तृवादे निरस्ते सति न भवान् कर्ता नियतेरङ्गी-कारान्न नियतिवादीत्यर्थः ॥१६॥

स्थिरस्यात्मनोऽभावाद् यथा न कर्तृत्वादि तथा संसारोऽपि न सम्भव-तीत्याह—

एकेन्द्रियाणामव्यक्तेरजात्यन्तरसङ्गतौ ।
व्यक्तानां च तदादौ का रागादिप्रविभक्तयः ॥१७॥

एकेन्द्रियाणामिति । **एकेन्द्रियाणां** जीवनाम्, **अव्यक्तेः** स्पष्टज्ञाना-भावात्, **अजात्यन्तरसङ्गतौ** जन्मान्तरसङ्क्रमणाभावे सत्यपि जन्मान्तरसङ्क्रमणे अहं पूर्वभवाद् भवान्तरमागतोऽस्मि भवान्तरं गमिष्यामीत्यादि ज्ञानस्यानुमानादि-रूपस्याप्यभावाज्ज्ञानाविषये तत्र सत्त्वस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वादेकेन्द्रियाणां भवाद् भवान्तरगमनलक्षणसंसारो नास्तीति भावः, **व्यक्तानां च** स्पष्टज्ञानवतां जीवानां पुनः, **तदादौ** स्पष्टज्ञानप्रथमसमये, **का रागादिप्रविभक्तयः** अस्मिन् विषये रागः, अस्मिन् विषये द्वेषः, अस्मिन् विषये मोह इति अयं

रागः अयं च द्वेषोऽयं मोह इत्यादिस्वरूपा विभजनाऽऽत्र क्वः न काश्चित् तत्पूर्वमिष्टसाधनताज्ञान-द्विष्टसाधनताज्ञानादेरभावादेकस्य जीवस्य पूर्वापरभवसंसर्गनिर्णयाभावादित्यर्थः ॥१७॥

बलवत्तरप्रमाणाभावात् पूर्वापरभवानुगामिन एकस्यात्मनः सिद्ध्यभावे किं सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह—

न संसरत्यतः कश्चित् स्व-परोभयहेतुकम् ।
अभिजातिविशेषात् तु मिथ्यावादमुखो जनः ॥१८॥

न संसरतीति । **अतः** अनन्तराभिहितात् कारणात्, **कश्चित्** कोऽपि जीवः, **स्वपरोभयहेतुकम्** स्वहेतुकं परहेतुकं तदुभयहेतुकं वा, संसरणरूपक्रियाविशेषणत्वात् तद्वाचिनो द्वितीया, **संसरति न** संसारणक्रियावान् न भवति, न कस्यापि जीवस्य स्वहेतुकः परहेतुकस्तदुभयहेतुको वा संसार इत्यर्थं, नन्वेतादृशलक्षणोऽयं पूर्वमनुष्यभवादस्मिन् मनुष्यभवे आगतः, अयं च देवभवादागत इत्यादिर्वदति जनः, कथानके च तस्य तस्य जीवस्य पूर्वोत्तरभवादिवर्णनमपि धीधनैः कृतमस्ति तस्य कथमुपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह-**अभिजातिविशेषात्** **त्विति** अभिजातिः स्वर्ग-नरकाद्यभ्युपगन्तृजनवंशसमुत्पत्तिः तद्विशेषात् तत्प्रयुक्ताभिमानादितः ततो लाभ-पूजा-ख्यात्यादितो वा पुनः, **मिथ्यावादमुखः** मिथ्यावदनं मिथ्यावादः स मुखे यस्य स मिथ्यावादमुखः मिथ्यावल्गनस्वभावः, **जनः** लोकः तद्वचनस्यानाप्तोक्तत्वेनाप्रमाणत्वान्न ततः संसरणसिद्धिरिति भावः ॥१८॥

ननु आत्मैव स्थिरो भवन्मते नास्ति तर्हि को मिथ्यावदनस्वभावः कस्य तत्तज्जात्याभिमानः तज्जनितसंस्कारो वा तत्प्रभवा मिथ्यावादपरम्पराऽपि कथं लोकव्यापिनी स्यादित्यत आह—

चैतन्यमपि नः सत्त्वो मोहादिज्ञानलक्षणः ।
तदादि तद्वत्संकल्पो मिथ्याराशिः प्रवर्तते ॥१९॥

चैतन्यमपीति । **नः** नियतिवादिनामस्माकम्, **चैतन्यमपि** अपिरत्रैव-कारार्थः चैतन्यमेव, **सत्त्वः** आत्मा, ननु नित्यं चैतन्यमात्मेति स्थिरात्मवादिभिरपि कैश्चिदुपेयत एवेति तद्रूपस्यात्मनोऽभ्युपगमे तस्य संसारोऽपि पूर्वापरभवगमन-लक्षण उपपत्स्यत इत्यत आह—**मोहादिज्ञानलक्षणः** इति नातिरिक्त-नित्यचैतन्यस्वरूप आत्माऽस्माभिरपेयते, किन्तु मोह-काम-क्रोध-लोभादिकं यज्ज्ञानं तल्लक्षणं स्वरूपं यस्य स मोहादिज्ञानस्वरूपः सत्त्वश्चैतन्यमेवेत्यर्थः, **तदादि** चैतन्यमादिकारणं यस्य तत्तदादिपूर्वपूर्वचैतन्यकारणकम्, एवभूतं सत्, **तद्वत्** तत्सदृशं तज्जातीयं, तस्य **सङ्कल्पः** सं समीचीनतया पूर्वापरभावेन कल्पना रचना यत्र स तदादितद्वत्संकल्पः मोहादिज्ञानस्वरूपं पूर्वपूर्वचैतन्यं तथा-भूतोत्तरोत्तरचैतन्यकारणमितिकृत्वा पूर्वापरसकलनास्वरूपः एकचैतन्यस्वरूपः, **मिथ्याराशिः** मोहादिविषयस्य वास्तविकस्याभावात् तद्विषयकमोहादेर्मिथ्यात्वात् तत्परम्परारूपः, **प्रवर्त्तते** जायते ॥१९॥

ननु यथैकः कर्त्ता कारणं न सम्भवति तथा चैतन्यस्य नानास्वरूपस्यात्मत्वा-भ्युपगमेऽपि तत्सन्तानस्यैकस्याभ्युपगमादेककर्तृपक्षदोषस्यात्रापि सम्भव एवेत्यत आह—

तुल्यप्रसङ्गो नानात्वे तुल्यनैकेन बाध्यते ।
अकस्मात् कारणावेशौ हेतुधर्माविशेषतः ॥२०॥

तुल्यप्रसङ्ग इति । **नानात्वे** आत्मनो नानाज्ञानलक्षणचैतन्यस्वरूपत्वे, **तुल्यप्रसङ्गः** एकात्मपक्षदोषसमदोषप्रसङ्ग, प्रसङ्गोऽपि मम मते ज्ञानस्वरूप एव, स च **तुल्येन** ज्ञानत्वेन स्वसमानेन, **एकेन** केनचिज्ज्ञानेन, **बाध्यते** सर्वस्य विषयविकल्पस्य ज्ञानस्य बाधाया अवश्यम्भावेन प्रसङ्गलक्षणमपि ज्ञानं बाधकज्ञानेन बाधितं भवति, बाध्य-बाधकभावोऽपि कल्पित एवेति, तथा चायं प्रसङ्गो बाधितत्वादेव न क्षतिमावहतीति भावः, ननु पूर्वपूर्वमपि मोहादि-विज्ञानमुत्तरोत्तरविज्ञानकाले नानुवर्त्तते, कारणेऽव्यवहितपूर्ववर्तित्वं कार्ये चाव्यवहितोत्तरवर्त्तित्वं यथैकसन्तानीयतयाऽभिमतज्ञानेन, तथा भिन्नसन्ता-नीयतयाऽभिमतज्ञानेनापि, तथा च प्रतिनियतज्ञानान्येवोपादेयैकसन्तानव्यवहृति-

रित्येतत् कथमित्यत आह—**अकस्मादिति** नियतिव्यतिरिक्तनियामकाभावादित्यर्थः, **कारणावेशः** तत्तत्सन्ताने तत्तत्कारणप्रवेशः, कथमकस्मादित्याकाङ्क्षायामाह— **हेतुधर्माविशेषतः** इति अव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वस्य हेतुधर्मस्य तत्संतानगतेऽन्यसन्तानगते च साधारणतया विशेषाभावात्, तथा चायं हेतुरस्मिन् सन्ताने प्रविष्ट इत्यत्र नियामिका नियतिरेवेति भावः ॥२०॥

अतः परं समाप्तिं यावन्नियतिवादमन्तव्यमेवोपदर्शयति—

स्पर्शनादि-मनोऽन्तानि भूतसामान्यजातिमान् ।
मनोहन्नियतं द्रव्यं परिणाम्यनुमूर्ति च ॥२१॥

स्पर्शनादीति । **स्पर्शनादि-मनोऽन्तानि** स्पर्शन-नयन-रसन—घ्राण-श्रवण-मनांसि, एतानीन्द्रियाणि, **भूतसामान्यजातिमान्** भूतत्वलक्षणजातिमान् पृथिव्यादिर्विषयः, तत्र **मनः अहन्नियतम्** अहं सुख्यहं दुःखीत्याद्यहङ्कारापराभिधानाभिमाननियतं, **द्रव्यं** पूर्वापरपर्यायानुगामि, **परिणामि** परिणमनशीलम्, **अनुमूर्ति च** मूर्त्तिः शरीरम्, मूर्त्तिमनुसरतीति अनुमूर्त्ति, प्रतिशरीरनियतं यावन्ति शरीराणि तावन्ति मनांसीत्यर्थः ॥२१॥

मनसोऽहन्नियतत्वादिधर्मवत्त्वेन स्पर्शनादिभ्यो वैलक्षण्ये स्पर्शनादीनां ततो वैलक्षण्यं तद्धर्मराहित्यात् सिद्धमेव, किन्तु स्पर्शनादीनां परस्परवैलक्षण्यं किं निबन्धनमित्याकाङ्क्षायामाह—

स्पर्शैकविषयत्वादिस्तत्त्वान्ताः क्रमजातयः ।
अरूपादनभिव्यक्तभेदाः कृष्णाभिजातयः ॥२२॥

स्पर्शैकविषयत्वादिरिति । **स्पर्शैकविषयत्वादिः** स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-शब्दानां मध्यात् स्पर्शैकविषयत्वलक्षणो धर्मः स्पर्शनेन्द्रियस्य, रूपैकविषयत्वलक्षणो धर्मो नयनेन्द्रियस्य, रसैकविषयत्वलक्षणो धर्मो रसनेन्द्रियस्य, गन्धैकविषयत्वलक्षणो धर्मो घ्राणेन्द्रियस्य, शब्दैकविषयत्वलक्षणो धर्मः श्रवणेन्द्रियस्येत्येव परस्परविरुद्धधर्माध्यासात् तेषां वैलक्षण्यमित्यर्थः पृथिव्यादीनां भूतत्वलक्षणानुगतजातिमतां परस्परवैलक्षण्यप्रयोजिका जातयः का इत्याकाङ्क्षायामाह—**तत्त्वान्ताः क्रमजातयः** इति तस्य भावस्तत्त्वं तदन्ते यासां तास्तत्त्वान्ताः, यद्यपि जातिवाचकशब्दस्या-

न्तत्वशब्दो न जातिरूपार्थस्य, तथापि वाच्य-वाचकयोरभेदोपचाराज्जातीना तत्त्वान्तत्वम्, तथा च पृथिवीत्व-जलत्व-वायुत्वाद्यास्तत्त्वान्ताः, क्रमजातयः अवान्तरजातय· पूर्वं महासामान्यं बुद्धौ स्फुरति तदन्तरमवान्तरसामान्यमतः क्रमिकत्वम्, नित्याना जातीनामुत्पत्तित· क्रमिकत्वासम्भवात्, अभिव्यक्तितस्तु क्रमिकत्वं सम्भवति महासामान्यज्ञानानन्तरमवान्तरसामान्यज्ञानात्, क्रमजातय इत्यनेन पृथिवीत्वादिजातीनामिव तदवान्तरजातीना घटत्वादीनामपि ग्रहणम्, तथा च ताभिर्जातिभि. पृथिव्यादीना तज्जातीयाना घटादीना च वैलक्षण्यमिति भावः, **अरूपादि**ति भावप्रधानो निर्देश इति रूपरहितत्वात्. **अनभिव्यक्तभेदः** अभिव्यक्तभेदो येषां न तेऽनभिव्यक्तभेदाः ते, **कृष्णाभिजातयः** अनेकसङ्कीर्णजातीनां ग्रहणम्, अनेन किमुक्तं साङ्केतिकत्वादागमैकगम्यत्वान्न ज्ञायत इति विचारणीयं सुधीभिः ॥२२॥

सामान्येनानन्तराभिहिता नियतिनियमितवस्तुस्थिति विशेषतो निदर्शनेन भावयति—

यथा दुःखादिनिरयस्तिर्यक्षु पुरुषोत्तमाः ।
रक्तायामजनायां तु सुखजा न गुणोत्तराः ॥२३॥

यथेति । **दुःखादिनिरयः** अतिशयितासह्ययातनापरिकलितोऽन्योऽन्याभिभवकदर्थितो दुःखातिदुःखातिदु.खतमकाम-क्रोध-मोहातिरेकशालिनरकस्थानं नियत्यैव तथाविधं नान्यथाभूतं, **तिर्यक्षु** तिर्यग्योनिषु, **पुरुषोत्तमाः** विशिष्टातिशयशालिनः पुरुषाः, **रक्तायां** भूमौ नियत्यैव तथाविधा, **अजनायां तु** अजनायां भूमौ पुनः, **सुखजाः** सुखसमुत्पन्नाः सुखैकभागिनः, किन्तु **न गुणोत्तराः** एतदपि नियतिमाहात्म्यमिति भाव· ॥२३॥

अन्यान्यपि वस्तूनि पूर्वाद्यागमोक्तानि नियतिनियमितानीत्युपदर्शयति—

हिंसाविद्याभिचारार्थः पूर्वान्ते मध्यमः शमः ।
सम्यग्दर्शनभावान्ताः प्रतिबुद्धस्त्वयोजितः ॥२४॥

हिंसेति । **पूर्वान्ते** पूर्वनामप्रसिद्धागमान्ते, **हिंसाविद्याभिचारार्थः मध्यमः शमः सम्यग्दर्शनभावान्ताः** येऽभिहितास्ते सर्वेऽपि नियति-

वादोपबृहका, **तु** पुन, **अयोजितः** कारणान्तरासङ्कलितोऽध्ययनाद्यन्तरेणैव सञ्जात., **प्रतिबुद्धः** नियतित इत्यर्थः ॥२४॥

उपदेशमन्तरेण ज्ञानासम्भवात् कथ प्रतिबुद्ध इत्यत आह—

न चोपदेशो बुद्धः स्याद् रवि-पङ्कजयोगवत् ।
तत्त्वं च प्रतिबुद्ध्यन्ते तेभ्यः प्रत्यभिजातयः ॥२५॥

न चोपदेश इति । **रवि-पङ्कजयोगवत्** यथा सूर्य-कमलयोग. उदिते सूर्ये पङ्कज प्रफुल्लितो भवति, न च तत्र कोऽपि हे सूर्य ! त्वं कमल विकाशय, कमल ! त्व सूर्योदयतो विकसितो भवत्येवमुपदिशति, तथा **बुद्धे** ज्ञानस्य, **उपदेशः** तत्तद्विषयकथनलक्षण., **न च स्यात्** न च भवेत्, तर्हि ज्ञान कथ प्रतिबुद्धस्य भवतीत्याकाङ्क्षायामाह-**तत्त्वं चेति प्रत्यभिजातयः** विशिष्टजातिमन्तः, तेभ्यः पूर्वागमादिभ्य. अस्य वाक्यस्यायमर्थोऽय चास्याभिप्राय इति कस्यचिदुपदेशमन्तरेणैव तत्त्व वस्तु, **प्रतिबुध्यन्ते** जानन्ति, अयं च स्वभावो नियतिबलादेवेति भाव. ॥२५॥

कीदृक्स्वभावास्ते प्रत्यभिजातय इत्याकाङ्क्षायामाह—

समानाभिजनेष्वेव गुरुगौरवमानिनः ।
स्वभावमधिगच्छन्ति न ह्यग्निः सममिध्यति ॥२६॥

समानाभिजनेष्वेवेति । समानाभिजनेष्वेव समानकुल-वंशसमुद्भूतेष्वेव, एवकारेणासमानकुल-वंशादीना व्यवच्छेद., **गुरुगौरवमानिन.** गुरोर्धर्माभ्युपदेशकर्त्तुर्यद् गौरव महनीयचरित्रत्वपूज्यत्वादिक तन्मानिनस्तदभ्युपगन्तार., **स्वभावमधिगच्छन्ति** स्वभावं प्राप्नुवन्ति, अथवा समानाभिजनेष्वेव गुरुगौरवस्य महद्गौरवस्य मन्तु स्वभावमधिगच्छन्ति, ननु समाना समानाभिजनेषु सत्सु समभावेन वर्त्तनमेव युक्तं तथैव समदृष्टित्वस्वभावः स्यादन्यथा विषमदृष्टित्व स्यादित्यत आह- **ह्यग्निरिति** हि यतः अग्नि पावक दाहकस्वभाव, **समं** तुल्यम्, **न** नैव, **इध्यति** प्रज्वलितो भवति दाह्यादाह्यवस्तुसमुदायेष्वेकत्रावस्थितेषु दाह्यमेवेन्धनं दहति न च सन्निहितमप्यदाह्य दहति तथा प्रकृतेऽपि स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वादित्यपि नियतिवादोपोद्बलकमेवेत्याशयः ॥२६॥

प्रवृत्त्यन्तरिकेत्यादिसप्तविंशतितमपद्यस्य शुद्धयशुद्धयोः सम्यगनवगमादर्थोऽपि यथावन्न ज्ञायते तथाप्यशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते—

प्रवृत्त्यन्तरिका व्याजविभङ्गस्वप्नसंभवात् ।
न जात्यः संस्मृतेरुक्तं सङ्करोऽन्तरिकान्तजाः ॥२७॥

प्रवृत्त्यन्तरिकेति । **प्रवृत्त्यन्तरिका** कस्यचित् कार्यस्यानुकूलायाः प्रवृत्तेरपर्यवसानायामेव कार्यान्तरप्रवृत्तिरादृता प्रवृत्त्यन्तरिका, **व्याजविभङ्गस्वप्नसंभवात्** व्याजः कपटक्रिया वाक्च्छलादिः, विभङ्गो भ्रमात्मकावधिज्ञान, स्वप्नः स्वप्नवहनाडीप्रविष्टमनोज्ञान तेषां सम्भवात् भावात, **जात्यः** स्वाभाविकः, **संस्मृतेः** सम्यक्स्मरणस्य, **न** नैव, **सङ्करः** अन्येन ज्ञानेन सह मिश्रीभावः, 'उक्तम्' इत्यस्य स्थाने 'उक्तः' इति पाठो युक्त । **उक्तः** कथित., कीदृशः सङ्करः ? **अन्तरिकान्तजा** अन्तरिका स्मृति. स्मृत्यन्तरिका वा अन्तजा स्मृतिरित्येवं संस्मृतेः सङ्करो नोक्त इत्यर्थः, अथवा 'संस्मृते.' इत्यस्य स्थाने 'संसृतेः' इति पाठः एवाग्रिमपदसंदर्भेनो युक्तो भाति, **संसृतेः** ससारस्य, एतदनुसारेणान्यद् व्याख्येयम् ॥२७॥

सृष्टिक्रमः कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह—

सुरादिक्रम एकेषां मानसा ह्युत्क्रमक्रमात् ।
सुख-दुःखविकल्पाच्च खण्डियानोऽभिजातयः ॥२८॥

सुरादिक्रम इति । **सुरादिक्रमः** पूर्वं सुरास्ततोऽसुरा इत्येव सृष्टिक्रमः, **एकेषां** केषाञ्चिदाचार्याणाम् ,-मते इति शेषः, अस्य च पूर्वेणोत्तरेण चान्वयः, **मानसा** मनोद्भवा पूर्वं मानस्य. प्रजाः ब्रह्मणो मनसा जाताः प्रजा इति, **हि** यतः, **उत्क्रमक्रमात्** क्रममुल्लङ्घ्य क्रमाः ब्रह्मा यथेच्छति तथा प्रजा समुत्पद्यत इति मानस्या सृष्टौ क्रमो नास्तीति भावः, सुराणा सुखमेव भवति नारकाणा दुःखमेव भवति मनुष्यादीना च सुख-दु खोभयं भवतीत्यतः **सुख-दुःखविकल्पाच्च खण्डिः** विभाग इमे सुरा इमे नारका इमे मनुष्या इत्यादि विभजनम्, **यानः** विभिन्नविमानयानस्थितिकः, **अभिजातयः** उच्चकुल-नीचकुलाद्युत्पत्तिका इत्यर्थः ॥२८॥

नियतिवादाभिमतान् पदार्थानुपदिशति—

व्योमावकाशो नान्येषां कालो द्रव्यं क्रिया विधिः ।
सुख-दुःखरजोधातुर्जीवाजीव-नभांसि च ॥२९॥

व्योमावकाश इति । **व्योमावकाशः** व्योम्न आकाशस्यावकाश· स्वभावः, **अन्येषाम्** आकाशभिन्नानाम्, **न** नैव, **अवकाशः** स्वभावः अस्य नियामिका नियतिरेवेति भाव·, क्षण लव-विरल-पल-दण्ड-मुहूर्त्तादिभेदैर्व्यवहियमाणः, **कालः** समय·, **द्रव्यं** न तु सूर्यपरिस्पन्दादि, तस्य कालोपाधित्वेन कालत्वोपचारात्, **क्रिया** नोत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा, नापि धात्वर्थसामान्यं नापि प्रतिषेध, किन्तु **विधिः** यजेत कुर्यादित्यादिलिङादिप्रतिपाद्य· प्रवर्त्तको विधिः, **सुख-दु·खरजः-धातुः** सुख-दु·ख-रजोलक्षणो धातु· न तु कफ-पित्त-वाय्वात्मतया प्रसिद्ध·, **जीवाजीव-नभांसि च** उपयोगलक्षणो जीव·, उपयोगरहितोऽजीवः, **नभः** गगनम्, तस्याजीवत्वेऽपि पृथक्कथनं जीवाजीवोभयाधारत्वस्वभावप्रतिपत्त्यर्थम् ॥२९॥

प्रमाणाभ्युपगन्तृभिः सर्वैरेव वादिभि· प्रत्यक्ष प्रमाणमिन्द्रियप्रभवमभ्युपगत-मेवेति तदनुपदर्शनेऽपि तस्य सत्त्वमायातमेव, अनुमाने तु विवाद इति तत्स्वरूपं नियतिवादमन्तव्यमुपदर्शयति —

अनुमानं मनोवृत्तिरन्वयनिश्चयात्मिका ।
त्रैकाल्याङ्गदिवृत्तान्ता हेतुरव्यभिचारतः ॥३०॥

अनुमानमिति । "त्रैकाल्याङ्गादिवृत्तान्तान्वयनिश्चयात्मिका मनोवृत्तिरनु-मानम्" इत्यन्वयः । त्रैकाल्यं भूत-भविष्य-वर्त्तमानकालसम्बन्धि, अङ्गादिवृत्तस्य द्वादशाङ्गगणिपिटकाद्यागमोपदर्शिततत्त्व तस्यान्तं विषयविधया पर्यवसानं यस्या सा **त्रैकाल्याङ्गादिवृतान्ता अन्वयनिश्चयात्मिका** अन्वयस्य यत्र यत्र हेतुस्तत्र साध्यमित्येव सर्वोपसंहारेण साध्यहेतुसहचारलक्षणाविनाभावस्य निश्चयस्तदभाव-प्रकारकताज्ञानं तदात्मिका तद्रूपा, **मनोवृत्तिः** मनोजन्या मति अनुमानमित्यर्थः, **अनुमानं** ज्ञायमानलिङ्गमनुमितिकरणमिति पक्षे हेतुरेव, अविनाभूतहेतुज्ञानमनुमिति-करणमिति पक्षे हेतुज्ञानं तत्र हेतुः क इत्याकाङ्क्षायामाह—**हेतुरव्यभिचारतः**

इति यत्र साध्यस्य स्वाभावद्वृत्तित्वरूपो व्यभिचारो नास्ति स हेतुः, एतेन यत्र व्यभिचारो विद्यते स हेत्वाभास इत्यर्थः ॥३०॥

संज्ञासामान्यपर्यायशब्दद्रव्यगुणक्रियाः ।
एतेनोक्ताः पृथक् चेति व्यवहारविनिश्चयः ॥३१॥

संज्ञासामान्येति । **संज्ञासामान्यपर्यायशब्दद्रव्यगुणक्रियाः** संज्ञासामान्यं सर्वनामशब्दः, पर्यायशब्द एकार्थवाचकाः शब्दाः एकप्रवृत्तिनिमित्तका अनेके शब्दा इति यावत्, द्रव्य-गुण-क्रियाः द्रव्याणि गुणाः क्रियाश्च, **एतेन** नियतिवादिना, **उक्ताः** कथिताः, द्रव्य-गुण-कर्मणा नाभेदः, किन्तु **भेद** इत्याह–**पृथक् चे**ति, **इति** एवं, **व्यवहारविनिश्चयः** नियतिवादे व्यवहारव्यवस्था भवति इत्थमुपगमे व्यवहारविलोपो न भवतीति ॥३१॥

नियतिवादेऽपि स्याद्वादयोजनां करोति—

न नाम तत्त्वमेवैतन्मिथ्यात्वापरबुद्धयः ।
न वार्थप्रतिषेधेन न सिद्धार्थश्च कथ्यते ॥३२॥

न नामेति । **नामे**ति कोमलामन्त्रणे, हे वादिन् ! एवमत्रावधारय, **एतत्** अनन्तराभिहितं सर्वं **तत्त्वमेवे**ति एकान्तं न, किन्तु कथञ्चिदेव तत्त्वम्, **न** चैकान्तावगाहिनो निर्णया बहवः सन्ति येभ्य एकान्ततत्त्वं सुव्यवस्थितं भविष्यतीत्यत आह — **मिथ्यात्वापरबुद्धय** इति अपरेषामेकान्तवादिना बुद्धयोऽपरबुद्धयः मिथ्यात्वस्यापरबुद्धयो मिथ्यात्वापरबुद्धयः मिथ्यात्वविषयकैकान्तबुद्धय इत्यर्थः । अत्रैव हेतुमाह-'न वार्थप्रतितिषेधेन' इत्यत्र 'न चार्थप्रतिषेधेन' इति पाठो युक्तः । चकारो हेत्वर्थः, यतः **अर्थप्रतिषेधेन** प्रतिषेधस्वरूपेण, **न कथ्यते च** पुनः, **सिद्धार्थः** सिद्ध एव प्रमाणान्तरप्रसिद्ध एवार्थः न कथ्यते, किन्तु विधिनिषेधोभयरूपेणार्थः प्रतिपादित भवति तथा प्रतिपादनं च स्याद्वादेनैवेति नियतिवादोऽपि स्याद्वादाकलित उपयात इति भावः ॥३२॥

वादी श्रीसिद्धसेनो नवनवघटनां नव्यमार्गानुगम्यां
शास्त्रार्थोद्बोधदक्षां बुधगणसुगमां संविधातुं पटिष्ठः ।
तस्यैषा गूढभावा नियतिविषयगा षोडशी नव्ययुक्त्या
लब्धा द्वात्रिंशिकाऽस्या विवृतिरभिनवाऽऽनन्ददेयं प्रपूर्णा ॥

इति षोडश्या नियतिद्वात्रिंशिकाया विवृतिः ॥

सप्तदशी द्वात्रिंशिका ।

श्रीमन्त• सूरिवर्या नवनवविषयोद्बोधनैकप्रगल्भा
नव्यन्यायादियुक्त्या कलनपरिचिता नेमिसूरीश्वरा ये ।
तेषा लावण्यसूरिर्वचनमननतो लब्धतर्कादिमार्गो
वृत्तिं द्वात्रिंशिकाया· सुसरलवचना सप्तदश्यास्तनोति ॥

स्याद्वादानुगमनं सर्वत्र भावयितुमाह—

न दुःखेन विरुध्येते धर्माधर्मौ सुखेन वा ।
प्रत्ययाव्यभिचारित्वात् स्व-परोभयवृत्तिषु ॥१॥

न दुःखेनेति । **धर्माधर्मौ** पुण्यापुण्ये. **दु.खेन** सचेतसां प्रतिकूलवेदनीयेन दुःखात्मकफलेन. **न विरुध्येते** विरुद्धे न भवतः, **वा** अथवा, **सुखेन** अनुकूलवेदनीयेन सुखात्मकफलेन, धर्माधर्मौ न विरुध्येते इत्यस्यात्रापि सम्बन्धः, ननु अधर्मो नरकादिदुःखहेतुर्दुःखेन विरुद्धो मा भवतु, धर्मस्तु स्वर्गादिसुखहेतुर्दु.खं प्रतिबध्नात्येवेति कथ न तस्य दुःखेन विरोधः, एव धर्मस्य सुखसाधनस्य सुखेन विरोधाभावेऽपि दुःखनिदानस्याधर्मस्य सुखेन विरोधोऽस्त्येवेत्यत आह— **प्रत्ययाव्यभिचारित्वादिति, स्व-परोभयवृत्तिषु** स्वपरिणाम-परपरिणाम-स्वपरोभयपरिणामेषु प्रत्ययस्य विश्वासस्य, अव्यभिचारित्वान्नियतत्वात्, अश्रद्धामलकलङ्कितो धर्मोऽपि दुःखमुत्पादयति तस्य धर्मे धर्मबुद्धिर्नास्ति किन्तु भूयस्तिरस्कृतोऽप्ययं याचक पुनरायात्येव वारंवारं याचते एवेत्येव क्रोधान्धो भूत्वा यद् ददाति तस्य दानधर्मो दुःखायैव भवति यश्च धर्मं धर्मबुद्धया चरति तस्य धर्म. पर्यन्ते सुखमेवातनोति न दु.खमिति विशिष्टाध्यवसाय एव धर्मस्यापेक्ष. सुख-दुःखसाधन, तथाऽधर्मोऽपि परोपकारबुद्धयाचरितो भवति सुखसाधनमिति न तस्य सुखेन विरोधः, एवं मूढः कश्चिदेव वस्तुगत्या धर्ममपि स्वाशयदोषादधर्मं मत्वा भविष्यति ममाप्यतो दु.खं परस्यापि तु दु.खमुत्पादयिष्यतीत्याकलय्याध्यवसायदोषकलुषित धर्ममाचरति स च धर्मो दु·खमुत्पादयतीत्येवं न धर्मस्य विरोधो दुःखेन, एव स्वपरोभयोपकारबुद्धयाऽधर्ममपि धर्ममेवाभिमानो विशुद्धाशयः कश्चिद-

धर्ममाचरति स चाधर्मो न दुःखमुत्पादयति किन्तु सुखमिति न तस्य सुखेन विरोध., अत एव पुण्यमपि पुण्यानुबन्धिपुण्यं पापानुबन्धिपुण्यमिति द्विविधम्, एवमपुण्यमपि पुण्यानुबन्ध्यपुण्यानुबन्धिभेदेन द्विविधमिति गीयते, अथवा प्रत्ययशब्दोऽत्र कारणवचनः तेन प्रत्ययाव्यभिचारित्वादित्यस्य कारणव्यभिचारित्वादित्यर्थः, स्वपरोभयवृत्तिष्वित्यस्यानन्तरं फलेष्विति विशेषः, किञ्चित् कारणं स्वगत फलं करोति यथा तत्तद्रूपक्रियादिसमवायिकारण, किञ्चित् परगत फल जनयति यथाऽसमवायिकारणनिमित्तकारणादिकम्, कपालद्वयसंयोगादिकं दण्डादिक च घटादिकार्यं करोतीति समवायिकारणमेव स्वपरोभयगतसयोगादिकार्यं जनयतीति, स्वपदं च स्वसम्बन्धिवाचकमपीति धर्माधर्मलक्षणकारणयोः स्वाश्रयात्मगतं सुख-दु खकारणयोरव्यभिचारित्वं सङ्गृहीतं भवति, तथा च धर्मस्य सुखरूपफलेऽव्यभिचारित्वादधर्मस्य दु.खरूपफलेऽव्यभिचारित्वाद् धर्मात् सुखं भवति अधर्माद् दुःखं भवति, धर्मस्य दुःखं प्रतिकारणत्वाभावेन, धर्माद् दु.ख मा भवतु नाम तथापि धर्मे सत्यपि तत्राधर्मसद्भावे दु.खं भवत्येवेति न धर्मस्य दु.खं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति न दुःखेन सह धर्मस्य विरोधः, अधर्मस्तु दुःख जनयत्येवेति नाधर्मस्यापि दु.खेन सह विरोध., एवमधर्मे सत्यपि तत्र धर्मसद्भावे सुख भवत्येवेति नाधर्मस्य सुखं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति न सुखेन सहाधर्मस्य विरोधः, धर्मस्तु सुखं जनयत्येवेति न तस्यापि तेन सह विरोध इति सुप्टूक्त न दुःखेन विरुध्यते इत्यादीति, अनुकूलवेदनीयत्वप्रतिकूलवेदनीयत्वस्वभावयोर्विरोधात् सुख-दु.खयोर्विरुद्धता, विरुद्धस्वभावजनकत्वस्वभावविरोधाद् धर्माधर्मयोर्विरोधो यदा धर्मस्योदयावलिकाप्रवेशलक्षणफलाभिमुख्यं न तदाऽधर्मस्योदयावलिकाप्रवेशलक्षणफलाभिमुख्यमित्येवं दुःखेन समं धर्मस्य सुखेन सममधर्मस्यापेक्षाभेदमाश्रित्यैव भवति स्याद्वादसाम्राज्यमत्रेत्यवधेयम् ॥१॥

देश-कालनिमित्तानि निमित्तान्यनियोगतः ।
नियोगतो वा तत्सिद्धौ न वाऽध्यात्मविशेषतः ॥२॥

देश-कालनिमित्तानीति । तत्तत्कार्यस्य तत्तद्देशनियम. दैशिकसम्बन्धविशेषेण तत्तत्कार्यं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन तत्तद्देशस्य कारणत्वमिति कार्य-कारण-

भावबलादेव, एवं किञ्चित् कार्यं वसन्तर्त्तौ भवति किञ्चित् कार्यं ग्रीष्मर्त्तावित्येवं तत्तत्कार्यस्य तत्तत्कालनियमः कालिकविशेषणताविशेषेण तत्तत्कार्यं प्रति तादात्म्येन तत्तत्कालस्य कारणत्वमिति कार्य-कारणभावबलादेव, एवं दण्डादीनां सत्त्वे घटादीना सत्त्वं दण्डादीनामभावे घटादीनामभाव इत्येवमन्वय-व्यतिरेकाभ्या तत्तत्कार्यस्य तत्तत्कारणनियम. समवायादिसम्बन्धेन घटादिकार्यं प्रति स्वजन्यचक्रभ्रमिजन्यत्वादि-सम्बन्धेन दण्डादिक कारणमिति कार्य कारणभावबलादेवेति **देश-कालनिमित्तानि निमित्तानी**ति, अन्वय व्यतिरेकसिद्धे च **कार्य-कारणभावे न** कस्यचिद् राज्ञ ईश्वरस्य वा नियोगो नियामक इत्याह—**अनियोगत** इति, **वा** अथवा, **नियोगत स्तत्सिद्धौ** अस्मिन् देशे एतत्समये अस्मात् कारणादिदं स्यादितीश्वरादि-नियोगतो देश-कालनिमित्ताना सिद्धौ. **नवाऽध्यात्मविशेषतः** फलवैलक्षण्यं स्यादिति शेष., प्रतिविशिष्टतत्तत्पुरुषीयनित्यत्वाशुचित्वादिभावनाप्रकर्षादितोऽध्यात्म बन्धशैथिल्यादिफलवैलक्षण्यं पुरुषकारादिनिष्पाद्यं यद् भवति तत् तस्य स्वतन्त्र-पुरुषनियोगतोऽविशेषेणैव सर्वस्य फलसिद्धिः स्यादित्यर्थः, अतोऽध्यात्मविशेषतः फलविशेषोपपत्तये नियोगपक्षमनादृत्य देश-कालनिमित्तान्यन्वय-व्यतिरेकबला-न्निमित्तानीत्यभ्युपेयम् , तथा च यद्वस्तु यत्प्रतिनियतदेश कालनिमित्ततः प्रतिनियत-स्वरूप भवति तदन्यदेशकालनियमतस्तथा न भवतीति स्याद्वादोऽत्राप्यायात्येवे-त्याशयः ॥२॥

मुक्तिमार्गसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदृढीकरणाय मुनीनां कर्त्तव्यं स्याद्वादा-गमपरिभावितमुपदर्शयति—

सुव्रतानि यमं वृत्तं यथाऽध्यात्मविनिश्चयम् ।
दीक्षाचारस्तु शैक्षाणां वर्त्मस्थैर्यानुवृत्तये ॥३॥

सुव्रतानीति । **सुव्रतानि** सविधिकानि मासोपवासादीनीत्यर्थः, 'यमम्' इत्यस्य स्थाने 'यमाः' इति पाठो युक्तः । **यमाः** अहिंसा-अस्तेयापरिग्रहादत्तादान-ब्रह्म-चर्याख्याः पञ्च महाव्रता , **वृत्तम्** आचरण, **यथाऽध्यात्मविनिश्चयं** आत्मा देहादिभिन्नोऽयमुपयोगलक्षणः परमानन्दैकस्वभावो राग-द्वेषादिविनिर्मुक्त इत्येवमा-

त्मानमाश्रित्य विनिश्चयोऽध्यात्मविनिश्चयस्तमनतिक्रम्य यथाऽध्यात्मविनिश्चयं वृत्तं शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनादिलक्षणमाचरणमित्यर्थः, **तु** पुनः, **शैक्षाणां** शिक्षाग्रहणशीलानां योग्यानामन्तेवासिनाम्, **दीक्षाचारः** दीक्षाग्रहणम्, **वर्त्मस्थैर्यानुवृत्तये** वर्त्म मुक्तिमार्गः सम्यग्दर्शनादिस्तस्य यत् स्थैर्यमविचलनं तस्यानुवृत्तये उत्तरकालव्याप्तये भवतीति शेषः ॥३॥

सुव्रतानीत्युक्तं तत्र किं व्रतमित्याकाङ्क्षा समुल्लसति यद्यपि मासोपवासादीनि व्रतानीति सुप्रसिद्धं तथापि तत्र व्रतत्वं किं, तदपरिज्ञाने व्रतत्वेन व्यवहारोऽशक्य इत्यत आह—

अपुण्यप्रतिषेधो वा व्रतं पुण्यागमोऽपि वा ।
युगपत् क्रमशो वेति विपक्षोरुभयं भयम् ॥४॥

अपुण्येति । **अपुण्यप्रतिषेधः** अपुण्यस्य पुण्यविरोधिनः पापकर्मणः प्रतिषेधः पुण्य सया नाचरितव्यमित्येवं नियमः, **वा व्रतं** वा अथवा, **पुण्यागमः** पुण्यस्य प्राप्तिराचरणम्, **युगपत्** यदैवापुण्यस्य प्रतिषेधस्तदैव पुण्यस्याचरणं, **वा** अथवा, **क्रमशः** क्रमेण प्रथमपुण्यप्रतिषेधस्तदनन्तरं पुण्याचरणम्, अथवा पूर्वं पुण्याचरणम्, ततोऽपुण्यप्रतिषेधः तदेतद्द्वयं किमित्युपादेयमित्यत आह— **विपक्षेति । विपक्षोरुभयं** विपक्षस्य अपुण्याचरणस्य पुण्यानाचरणस्य वा उरुभयं महद्भयस्वरूपं भयम् यथा व्याघ्रादिभयान्मृगादि पलायते तथा अपुण्यप्रतिषेधात् पुण्याचरणं पुण्याचरणाच्च पुण्यानाचरणं च पलायत इति ॥४॥

एवं च शुद्धः परिणाम आश्रणीय इत्याह—

व्रताभ्युपगमः शुद्धः परिणामो न नेष्यते ।
तदानन्तर्यवृत्तिस्तु मिथ्यादृष्टिर्निवार्यते ॥५॥

व्रताभ्युपगम इति । अपुण्यप्रतिषेधलक्षणस्य पुण्याचरणस्य वा, **व्रतस्याभ्युपगमः** स्वीकारः, **शुद्धः** निर्मलः परिणामः चित्तस्य वृत्तिविशेषः, **न** नैव, **इष्यते** स्वीक्रियते इति न किन्तु व्रताभ्युपगमलक्षणः चित्तस्य शुद्धः परिणाम इष्यत एवेत्यर्थः, ततः किं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—**तदेति** तदा व्रताभ्युपगम-

लक्षणशुद्धपरिणामदशायाम्, **आनन्तर्यवृत्तिः** आनन्तर्येण निरन्तरतया वृत्ति-र्वर्त्तनं यस्य स आनन्तर्यवृत्तिः, **तु** पुनः, एवम्भूत **मिथ्यादृष्टिः, निवर्यते** निवारितो भवति निरुक्तशुद्धपरिणामे सति अविच्छिन्नप्रवाहरूपेण परिणमन-शीलो मिथ्यादृष्टिर्निवर्त्तत इत्यर्थः ॥५॥

जैनदर्शनेऽशुद्धस्य चित्तवृत्तिविशेषलक्षणपरिणामस्य पापजनकत्व न मिथ्यादर्शनस्य शुद्धस्य च चित्तवृत्तिविशेषलक्षणपरिणामस्य पुण्यजनकत्व न सम्यग्दर्शनस्येत्येव परिणामविशेषस्य प्राधान्यमुपदर्शयितुमाह—

न मिथ्यादर्शनात् पापं न सम्यग्दर्शनाच्छुभम् ।
न च नेति कषायाणां तद्वृत्त्यव्यतिरेकतः ॥६॥

न मिथ्यादर्शनादिति । मिथ्यादर्शनात् एकान्तवादाभिसन्धानजन्या-तत्त्वज्ञानात्, **न** नैव, **पापम्** अशुभ भवतीति शेषः, एवमग्रेऽपि **सम्यग्द-र्शनात्** यज्जिनैरुक्त तदेव सत्यमिति रुचितः, **न शुभं** शुभं भवत्येवेति न नियमः किन्तु मिथ्यादर्शिनः सम्यग्दर्शिनो वा यस्य कस्यचिदशुद्धः परिणाम-स्तस्य पाप यस्य तु शुद्धः परिणामः तस्य शुभमिति निगर्वः । ननु काम क्रोधादितः पापं भवति तत्परित्यागतः शुभं भवति, नात्र परिणामविशेषापेक्षेत्यत आह—**न चेति, कषायाणां** काम क्रोधादीना, 'तद्वृत्त्यव्यतिरेकतः' इत्यस्य स्थाने 'तद्वृत्त्यव्यतिरेकता' इति पाठो युक्तः । **तद्वृत्त्यव्यतिरेकता** तद्वृत्त चित्तवृत्ति-विशेषलक्षणपरिणामस्य, अव्यतिरेकता अभिन्नता, **न** नैव, **इति न च** किन्तु काम-क्रोधादीना कषायाणा चित्तवृत्तिविशेषलक्षणपरिणामाभिन्नतैव, काम-क्रोधादिपरि-त्यागस्यापि चित्तवृत्तिविशेषलक्षणपरिणामरूपतैव, अत एव काम-क्रोधादिपरिणामतार-तम्यादशुभतारतम्यम्, तत्परित्यागतारतम्याच्च शुभतारतम्यमित्यभिसन्धिः ॥६॥

कषायलक्षणपरिणामविशेषाणा वैचित्र्यादेव च ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मबन्ध-तदुदयादिवैचित्र्यमित्याह—

क्षयवृद्धिः कषायाणां मिथ्यादृष्टिरसंक्रमात् ।
वैषम्यलक्षणो बन्धस्तदाद्यस्तु विकल्पतः ॥७॥

क्षयवृद्धिरिति । 'मिथ्यादृयाष्टिः' इत्यस्य स्थाने 'मिथ्यादृष्टेः' इति पाठो युक्तः । **मिथ्यादृष्टेः** मिथ्यादर्शनवतः पुंसः, **कषायाणां** कामादीनाम्, **असंक्रमात्** एकस्यान्यस्मिन् संक्रमणाभावेन, **क्षयवृद्धिः** एकस्य कषायस्य क्षयो ह्रासोऽन्यस्य कषायस्य वृद्धिः स एव, **वैषम्यलक्षणः** वैषम्यस्वरूपः, **बन्धः** कर्मणो जीवप्रदेशेन जलक्षीरान्योऽन्यमिश्रणवत् मिश्रीभवनम्, **तदाद्यस्तु** तत्प्रभृतिस्तु, **विकल्पतः** भेद-प्रभेदतोऽनेकप्रकार., तत एव नानाविधदुःखमयः सुखकणिकानुस्यूतो नानाक्लेशमयः संसारो नरमर-नारक-तिर्यग्भेदाः प्राणिन इत्यर्थः ॥७॥

मिथ्यादृष्टेः पञ्चेन्द्रियद्वारकवृत्तिविशेषतो मनस आश्रवे कायिक-वाचनिकादिव्यापारसमुल्लासः पापमेवेत्युपदिशति—

मिथ्यादृष्टेरभिन्नायाः पञ्च चैकक्षणाश्रवे ।
कायिकादिक्रियाचारः पापमेवेत्यसंशयम् ॥८॥

मिथ्यादृष्टेरिति । 'अभिन्नायाः' इत्यस्य स्थाने 'अभिप्रायाः' इति पाठो भवितुमर्हति । अभिन्नाया इति पाठस्य सङ्गमनं तु नास्मच्चित्ते प्रतिभातीति चिन्त्यम्, **अभिप्रायाः पञ्च च** च पुन॰, अभिप्रायस्य पञ्चविधत्वं पञ्चेन्द्रियविषयविषयकत्वेन भावनीयम्, **एकक्षणाश्रवे** एकक्षणावर्त्तिनि कर्मपुद्गलादानफलके योगत्रयान्यतमलक्षणे आश्रवे, **कायिकादिक्रियाचारः** कायिक-वाचिक-मानसिकव्यापार॰, **पापमेव मिथ्यादृष्टेः** शुभयोगाभावादेवकारेण पुण्यप्रतिषेधः, **इति** एवमेतत्, **असंशयं** सुनिश्चितम् ॥८॥

मिथ्यादृष्टेः परिणामवैलक्षण्यं भावयति—

नान्योऽन्यमनुवर्तेत कृताभ्युपगमेतरौ ।
तुल्यदोषगुणस्थानौ न कषायक्रमोऽप्यतः ॥९॥

नान्योऽन्यमिति । **कृताभ्युपगमेतरौ** कृताभ्युपगमकृतानभ्युपगमौ, **अन्योऽन्यं** परस्परम्, **न** नैव, 'अनुवर्त्तेत' इत्यस्य स्थाने 'अनुवर्त्तेते' इति पाठो युक्तः । सम्यग्दृष्टेः केनचिद्रूपेण कृताभ्युपगमः केनचिद्रूपेण कृतानभ्युपगमोऽपीत्यन्योऽनुवर्त्तनं तयोर्भवितुमर्हति, मिथ्यादृष्टेस्त्वेकान्त एव परिणाम इति कृताभ्यु-

पगमः कृताभ्युपगम एव कृतानभ्युपगमः कृतानभ्युपगम एवेति परस्परम्, **नानुवर्तेते,** तौ कथम्भूतौ **तुल्यदोष-गुणस्थानौ** समानदोष गुणस्थानौ, **अतः** अस्मात् कारणात् , **कषायक्रमोऽपि** नेत्यर्थ. ॥९॥

स्वगतं कषायादिक्रमेण युगपद्वेति ज्ञातुं शक्यते परगतं कषायादि कथं परेण ज्ञातुं शक्यम् ? युगपत् क्रमेण वाऽस्य कषायादीति, किमर्थं च तस्योपदेशः शास्त्रे इत्याकाङ्क्षायामाह—

कषायचिह्नं हिंसादि प्रतिषेधस्तदाश्रयः ।
अपायोद्वेजनो बालो भीरूणामुपदिश्यते ॥१०॥

कषायचिह्नमिति । कषायचिह्नं काम-क्रोधादिज्ञापकम्, **हिंसादि** हिंसा-स्तेय-मैथुन-परिग्रहादत्तादानादि, **तदाश्रयः** तदधीन., **प्रतिषेधः** हिंसादिप्रति-षेध. अहिंसादि., **भीरूणां** काम-क्रोधाद्याकलितजनेभ्यो भीतानां, **अपायोद्वेजनः** काम-क्रोधादिविघ्नाशङ्काकारी, **बालः** अनेनायं क्रुद्धो भविष्यति अयमिदं कामयति अयं चास्मिन् विषये लुब्ध. इत्यादिपरिज्ञानशून्यः, **उपदिश्यते** शास्त्रेण तत्त्व-मावेद्यते इत्यर्थः ॥१०॥

शास्त्रे कीदृगुपदेश. येन भीरूणामपायोद्वेजनो बालो न भवेदित्याकाङ्क्षायां तदुपदेशमेवोपदर्शयति—

हिंसादिवत् कषायेभ्यो न जन्म-मरणापदः ।
निमित्तान्तरहेतुत्वाद् गुणतस्तूपचर्यते ॥११॥

हिंसादिवदिति । हिंसादिवत् यथा हिंसादिभ्यः, **जन्म-मरणापदः न** भवन्ति तथा, **कषायेभ्यः** काम-क्रोधादिभ्य , **जनममरणापदः** नरामराद्युत्तरभव-प्रतिलम्भो जन्म, पूर्वशरीरादिसम्बन्धविनाशो मरणम्, आधिभौतिकाधिदैविकाध्या-त्मिकदुःखत्रयप्राप्तिरापत् ते जन्म-मरणापदः, **न** भवन्ति, अतो बालजनदुश्चेष्टित-क्रियाकलापादितोऽपायोद्वेगो न विधेयः, यदि कषायेभ्यो न जन्म-मरणापदस्तर्हि जन्म-मरणापद्धेतुत्वेन कषायाणा लोके व्यवहारः कथमित्यत आह—**निमित्तान्तर-**

हेतुत्वादिति जन्म-मरणापदां यन्निमित्तान्तरं कारणान्तरं तत्तद्दुष्टाध्यवसायप्रभवादृष्टं तद्धेतुत्वात् तत्कारणत्वाद्, **गुणतः** उक्तकारणत्वलक्षणगुणभावतः, **उपचर्यते** कषायेभ्यो जन्म मरणापदो भवन्तीत्येवमुपचर्यते, मुख्यवृत्त्या तु तत्तददृष्टविशेषत एव जन्म-मरणापदो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥

यतो निमित्तान्तरत एव जन्म-मरणापदो भवन्ति, अतोऽन्योपदेशः परीक्षणमेवेत्याह—

कल्पाकल्पमतो द्रव्यमचिन्त्यं सर्पिरादिवत् ।
दोषप्रचयवैषम्यादातुरस्तु परीक्ष्यते ॥१२॥

कल्पाकल्पमिति । **अतः** अनन्तरयुक्तितः, कल्पानामकल्पानां समाहारः, **कल्पाकल्पम्** आचारानाचारलक्षणम्, **द्रव्यं** कारणम्, **अचिन्त्यं** शास्त्रोपदेशमन्तरेण चिन्तयितुमशक्यम् अयं परिशुद्ध आचारः शुभपरिणामहेतुरयं पुनः अपरिशुद्ध आचारोऽशुभपरिणामनिदानमिति शास्त्रैकगम्यमित्याशयः, तदचिन्त्यत्वे निदर्शनमाह–**सर्पिरादिवदिति** घृतादिवदित्यर्थः, यथा–'आयुर्वै घृतम्' इति धातुपुष्टिनिमित्तत्वादायुर्हेतुत्वमारोप्य घृतमायुरित्युपचरितं, किन्तु विज्वरस्य पुनस्तद्धातुपुष्टिनिमित्तं ज्वरग्रस्तस्य तु तदहितमिति विज्वरेण तदादेयं ज्वरग्रस्तेन च तदनादेयमिति शास्त्रमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वादचिन्त्यं तथेत्यर्थः । सर्पिरादिः कस्यचिद्धितं कस्यचिदहितमित्येव कुत इत्याकाङ्क्षायामाह–**दोषप्रचयवैषम्यादिति** दोषाणां वात-पित्त-श्लेष्मणां प्रकर्षेण चयो वृद्धिः प्रचयः वैषम्यं कस्यचिद्ध्रासः कस्यचिद्वृद्धिस्तस्माद्दोषप्रचयवैषम्याद् घृतादीनां केनचित् पुरुषेणादानं केनचित् पुरुषेण परित्यागः, **तु** पुनः, एतदवगतये अस्मिन् पुरुषे कस्य दोषस्योपचयः कस्य चापचय इत्यस्य सम्यगवगमाभावः, **आतुरः** रोगाभिभूतः पुरुषः, **परीक्ष्यते** भिषग्वरैः परीक्ष्यते इत्यर्थः ॥१२॥

परीक्षणप्रकारमेवोपदर्शयति—

एकमूर्तिः परीणामः शुद्धिराचारलक्षणम् ।
गुणप्रत्येकवृत्तानां पुरुषाशयशक्तितः ॥१३॥

एकमूर्त्तिरिति । क्रोध-जिह्मेति पद्याभ्याम्, **पुरुषाशयशक्तितः** पुरुषाभिप्रायसामर्थ्यात्, **गुणप्रत्येकवृत्तानां** गुणानां प्रत्येकं ये परीणामास्तेषां सर्वेषाम्, **एकमूर्तिः** एकस्वरूपः, **परीणामः** क्रोधादिलक्षणः अनन्तरमेवाभिधीयमानः, **आचारलक्षणम्** आचारात्मकम्, **शुद्धिः** ॥१३॥

परिणामस्वरूपकीर्त्तनम्—

क्रोध-जिह्म-परिष्वङ्ग-मान-वेदाम्बुमक्षयाः ।
युगपद् वा तमो विद्याद् यावद् यत्रानुषिध्यते ॥१४॥

क्रोधेति । **क्रोध-जिह्म-परिष्वङ्ग-मान-वेदाम्बुमक्षयाः** क्रोधः द्वेषः प्रसिद्धः, जिह्म कौटिल्यम्, परिष्वङ्गः परस्परालिङ्गनलक्षणः, मानः प्रसिद्धः, वेदः पुंवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदाः वेदाम्बुमक्षयाः इत्यस्यार्थश्चिन्त्यः, यद्यत्र 'वेदादिकान् क्रमाद्' इतिपाठः तदा युगपद् वेत्युत्तरेण सङ्गतिरर्थोऽपि सुसङ्गतः यथा श्रुतपाठे 'युगपद्वातमो' इत्यस्य स्थाने 'युगपद् वा क्रमात्' इति पाठो ज्ञेयः । **विद्याद्** जानीयात्, 'यावद् यत्रानुषिध्यते' इत्यस्य स्थाने 'यावद्यत्रानुविध्यते' इति पाठो युक्तः । **यावद् यत्रानुविध्यते** क्रोधादिपरीणामानां मध्ये यावतो यत्रानुवेधः सम्बन्ध तावतो युगपत् क्रमतो वाऽपि विद्यात् इत्यर्थः ॥१४॥

क्रोधादिपरीणामा अवश्यं परित्याज्याः न च विनाशमन्तरेण परित्यागः सम्भवति तेषामतो विनाशस्तेषां परीणामानामवश्यं त्यागः स कथमित्याकाङ्क्षायामाह—

क्षयो नाप्रशमस्यास्ति संयमस्तदुपक्रमः ।
दोषैरेव तु दोषाणां निवृत्तिर्मारुतादिवत् ॥१५॥

क्षयो नाप्रशमस्यास्तीति । **अप्रशमस्य** प्रशमरहितस्य पुंसः, **क्षयः** प्रक्रान्तत्वात् क्रोधादीनां क्षय इति गम्यते, **नास्ति** न भवति, अतः प्रशमः क्रोधादिक्षयकारणतयोपादेयः स कथमत आह—**संयम** इति तदुपक्रमः प्रशमस्यारम्भः, ननु शुद्धस्यात्मनः संयमोऽपि परीणामरूपतया विकारोऽशुद्धतापादकत्वेन हेय एवेत्यत आह—**दोषैरेव** त्विति, **मारुतादिवत्** यथा कफ-पित्त-मरु-

तामेकस्योपचयोऽपरस्य निवृत्तिं करोति तथाऽशुद्धतापादकत्वेन वस्तुगत्या दोषभूतैरेव संयमादिभिर्दोषाणां क्रोधादीनां निवृत्तिर्भवति यथा च वातादयोऽन्यनिवृत्तिं विधाय स्वयं निवर्त्तन्ते तथा संयमादयोऽपि, शुद्धश्चात्माऽन्तेऽवतिष्ठते इत्यर्थः ॥१५॥

दोषेभ्यः प्रव्रजन्त्यार्या गृहादिभ्यः पृथग्जनाः ।
परानुग्रहनिम्नास्तु सन्तस्तदनुवृत्तयः ॥१६॥

दोषेभ्य इति । **आर्याः** संसृतिपयोनिधिपारं गन्तुकामाः पुरुषोत्तमाः, **दोषेभ्यः** क्रोध-जिह्म-परिग्रह-मानादिभ्यः, **प्रव्रजन्ति** पृथग् भवन्ति, जैनीं प्रव्रज्यां गृह्णन्ति, **पृथग्जना** आर्यभिन्ना नराः, **गृहादिभ्यः** गृह-बान्धव-दारादिभ्यः प्रव्रजन्तीति सम्बध्यते गृहादीन् परित्यज्य तीर्थयात्रादिकं कुर्वन्ति, **तुर्विशिनष्टि, सन्तः** साधुसेवादिपरायणा नराः कथंभूतास्ते इत्याकाङ्क्षायामाह—**परानुग्रहनिम्ना** इति परानुग्रहैकनिरता इत्यर्थः, **तदनुवृत्तयः** परो यत्र यत्र स्वसमीहिते वर्त्तते तत्र सर्वत्र साहाय्यमनुतिष्ठन्तीत्यर्थः ॥१६॥

कर्मणो वैचित्र्यात् तत्कर्तुः फलोपभोगवैचित्र्यं भवति, कर्मणस्तु निमित्तमाश्रवः, स च योगस्वरूपः, योगस्तु काय-वाङ्-मनःकर्म अर्थात् कायिकं कर्म वाचिकं कर्म, मानसं कर्म, उक्तकर्मत्रैविध्याद् योगलक्षण आश्रवोऽपि त्रिविधः, तथा च कायात्मप्रदेशपरीणामो गमनादिक्रियाहेतुः काययोगलक्षण आश्रवः, भाषायोग्यपुद्गलात्मप्रदेशपरिणामो वाग्योगलक्षण आश्रवः मनोयोग्यपुद्गलात्मप्रदेशपरीणामो मनोयोगलक्षण आश्रवः, स त्रिविधोऽप्याश्रवः शुभोऽशुभश्चेत्येवं द्विविधः, तत्र हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि अशुभः कायिक आश्रवः सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिक आश्रवोऽशुभः अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानस आश्रवोऽशुभः अतो विपरीतः आश्रवः शुभ इति तद्रूपनिमित्तवैचित्र्यात् कर्मवैचित्र्यं भवतीत्येतदुपदर्शयति—

तुल्यातुल्यफलं कर्म निमित्ताश्रवयोगतः ।
यतः स हेतुरन्वेष्यो दृष्टार्थो हि न तप्यते ॥१७॥

तुल्यातुल्यफलमिति । कर्म अदृष्टं पुण्यं पापं च, **तुल्यातुल्यफलं** सदृशफलं विसदृशफलं यादृशं कर्मैकस्य कर्त्तुः सुखं दुःखं वा जनयति तादृशमेव

कर्मापरस्यापि कर्तुः तत्सुखसदृशमेव तद्दुःखसदृशमेव वा दुःखं जनयतीति सदृशफलम्, अथ च यादृशं कर्मैकस्य कर्तुं यादृशं सुखं दुःखं वा जनयति तादृगमेव कर्मपरस्य कर्तुं तत्सुखविसदृशं तदपेक्षयाऽपकृष्टमुत्कृष्टं वा सुखं दुःखमेव वा जनयति एवं तद्दुःखविसदृशं तदपेक्षयाऽपकृष्टमुत्कृष्टं वा दुःख-सुखमेव वा जनयतीति विसदृश-फलम्, ईदृशं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—**निमित्ताश्रवयोगतः** इति निमित्तकारणीभूताश्रवस्वरूपकायिक-वाचिक मानसकर्मलक्षणयोगादित्यर्थः, **यतः** इति पूर्वान्वयि यस्मान्निमित्ताश्रवयोगात् कर्म तुल्यातुल्यफलं भवतीति शेषः, **स** काय-वाङ्-मनःकर्मात्मकयोगलक्षणः आश्रवः, **हेतुः** तुल्यातुल्यफलकर्मणः कारणम्, अन्वेष्यः जैनागमाम्बुध्यन्तर्गतः स जैनागमनिरन्तराभ्यसनविधिना तत्रैव गवेषणीयः, तद्गवेषणतो निरुद्धाश्रवेऽवगते किं भविष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—**दृष्टार्थो हीति** हि यतः, दृष्टार्थः एतस्मादाश्रवाद् बद्धस्य कर्मणः ईदृशं फलं भवतीत्येवं दृष्टः शास्त्रतः सम्यगवलोकितोऽर्थो येन स दृष्टार्थः प्रमाता, **न तप्यते** यादृक्कर्मणोऽन्यस्य सुखं तादृशादेव कर्मणः स्वस्य दुःखं भुञ्जमानोऽपि पीडितो न भवतीत्यर्थः ॥१७॥

अपगततापः किमवस्थो भवति प्रमातेत्याकाङ्क्षायामाह—

मनसोऽपैति विषयान् मनसैवातिवर्तते ।
किमेवं बहुरल्पं वा शरीरे बहिरेव वा ॥१८॥

मनसोऽपैतीति । 'विषयान्' इत्यस्य स्थाने 'विषयात्' इति पाठो युक्तः । **मनसः** विषयाद् मनःकल्पितपदार्थात्, **अपैति** दूरीभवति, मनःकल्पितमेवैतत् कर्म तेन मम कृत्यं सर्वथा परिहरणीयमेवेति भावयन् न मानसिकसङ्कल्पतः परिभूतो भवतीत्यर्थः, तत् किं मनोव्यापारमेव किमपि न करोतीत्यत आह—**मनसैवेति** स्ववशीभूतमनसैवेत्यर्थः, **अतिवर्त्तते** अतिक्रम्य वर्त्तते, ननु प्रवृत्ति-निवृत्तिविषयमतिक्रम्य वर्त्तनमेव यद्यतिवर्त्तनं तर्हि तदुभयथा स्यात् प्रवृत्ति-विषयेन प्रवर्त्तेत निवृत्तिविषयेन निवर्त्तेत, निवृत्तिविषये प्रवर्त्तेत प्रवृत्तिविषये च निवर्त्तेत, स्वयं सति नायं लौकिको नापि परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्षितव्यः स्यादिति चेन्न अतिवर्त्तनस्यात्रोपेक्षणरूपत्वाद् मनसः खलु प्रवर्त्तनं निवर्त्तनमुपेक्षणं चेति

त्रिविधो व्यापारः, प्रवर्त्तनं निवर्त्तनं च तापकारणं ततस्ताभ्यां तपत एवेति तापरहितस्य तु पुरुषस्य मनसो व्यापार उपेक्षैवेत्याशयेनाह—**किमेवमि**ति किमेवं यथा प्रतिभासते तथा किम्, किमोऽग्रे सर्वत्रान्वयः, तथा च किं **बहुः** बहुप्रकारोऽयम् किम्, **वा** अथवा, **अल्पं** न्यूनं किम्, किं वा **शरीर** एवेदम्, **वा** अथवा, **बहिरेव** शरीराद् बाह्यभूतमित्येवं विचारप्रवृत्तमनसैव अतिवर्त्तते उपेक्षावान् भवतीत्युपेक्षावान् पुरुषो न क्वचित् रक्तो द्विष्टो वा भवतीत्यर्थः ॥१८॥

एवमुपेक्षावतः पुरुषस्य क्वचिदपि ममत्वं नास्ति तद्धेत्वाहङ्कारोऽपि नास्ति तदभावान्न पुनर्ममता नवा सङ्कल्पादिरित्यशिवाभावात् कल्याणमुपतिष्ठते इत्याह—

न ममत्वादहङ्कारस्तस्मात् तु ममता मता ।
संकल्पाव्यभिचारित्वात् तस्मिन्नेवाशिवास्पदम् ॥१९॥

न ममत्वादिति । **न ममत्वाद्** मम जातिरुत्तमा मम कुलमभ्युन्नतमित्यादि ममभावादहङ्कारो नोपेक्षादृष्टिमतः ममत्वस्यैवाभावात्, पूर्वमहङ्कारस्याभावे ममतैव न सम्भवति, यतः **तस्मात् तु** अहङ्कारात् पुनः, **ममता मता** अभ्युपगता, ममेदं भवतु मम शत्रुर्म्रियतां ममायुषः क्षयो मा जायतामित्यादिमनोवृत्तिरूपः संकल्पो ममत्वादिव्यापकस्तस्याभावे उपेक्षकस्य सुतरां व्याप्यीभूताहङ्काराद्यभाव इत्याह—**संकल्पाव्यभिचारित्वादि**ति सङ्कल्पव्याप्यत्वादित्यर्थः यदा चोपेक्षकस्य सङ्कल्प एव नास्ति तदा तस्य सर्वथा कल्याणमेव, अकल्याणस्य सम्भावनैव नास्तीत्याह—**तस्मिन्नेवे**ति मनसः सङ्कल्प एवेत्यर्थः, **अशिवास्पदम्** अशिवस्याकल्याणस्यास्पदं स्थानमित्यर्थः ॥१९॥

ननु सर्वथा कल्याणप्राप्तौ संसाराभावो भवतीति सुप्रसिद्धमतः स क इति पृच्छायामाह—

नाहमस्मीत्यभावो वा भावो वाऽभ्युपगम्यते ।
प्रपञ्चोपरमः शान्तिरव्युच्छित्तेरशून्यता ॥२०॥

नाहमस्मीत्यभावो वेति । **प्रपञ्चोपरमः** प्रपञ्चस्य संसारस्योपरमोऽभावः वेति विकल्पो नास्त्यत्राग्रह इति द्योतनाय, **नाहमस्मीत्यभावः**

अहमहङ्कारास्पद, नास्मि न भवामीत्याकारकाभावस्वरूपः प्रपञ्चोपरम, **वा** अथवा, **भावः** अखण्डानन्दस्वरूपेण केवलोपयोगात्मना वाऽवस्थानम्, **अभ्युपगम्यते** पूर्वसूरिभि· सर्वाभ्रियते, अयमेव प्रपञ्चोपरम· **शान्तिः**, तत्र हेतुः **अव्युच्छित्तेः** विशेषेणोच्छित्तिरभावो व्युच्छित्तिर्न व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः तस्मादत्यन्तोच्छेदाभावात् सर्वदा स्वस्वरूपावस्थानस्यैव भावात्, अत एव च **अशून्यता** शून्यत्वाभावः, एतेन शून्यतैव परमं निर्वाणमिति सर्वशून्यतावादिनो माध्यमिकस्य मतमपहस्तितं भवतीति ॥२०॥

इत्थमुपेक्षालक्षणमाध्यस्थ्यं परमानन्द-केवलोपयोगस्वरूपपरमनिर्वाणससिद्धिफलवत्त्वेनोपादेयमित्युपपाद्यापि भूयस्तद्वदर्यायोपदिशति—

द्वेषोद्वेगफलं दुःखं सङ्गस्वादुफलं सुखम् ।
माध्यस्थ्यं तत्प्रतीकारः किन्तु दुःखेन यत् सुखम् ॥२१॥

द्वेषोद्वेगफलमिति । द्वेषोद्वेगफलं द्वेषः क्रोध उद्वेग· इदमिदानीमपि न निष्पन्न सम्पत्स्यते वा नवेत्यादिचिन्ताप्रभवो मानस· सन्तापः, तयो· फलं कार्यं द्वेषोद्वेगफलम्, **दुःखं** प्रसिद्धम्, **सगस्वादुफलम्** पुत्र-मित्र-कलत्राद्यभिष्वङ्गः तस्य स्वादुफलं आस्वादनजन्यम् **सुखं** वैषयिकसुखमनित्यं परिणामविरसम्, **माध्यस्थ्यम्** मध्यस्थभाव· न मे कश्चिदनिष्टं करोतीति, न कश्चिन्मम शत्रुरिति नास्ति कुत्रापि मे द्वेष·, नाकाले किञ्चिद् भवति यदा यस्य कालस्तदा स भविष्यत्येवालमुद्वेगेनेति कारणाभावान्न दुःखं, रागप्रभव· सङ्गो अरक्ते मयि कुत तदा स्वादनाभावात् तल्लक्षण वैषयिकसुखमपि नास्तीति भावनातस्तदुपेक्षणं माध्यस्थ्यम्, तदेव **तत्प्रतीकारः** सुख-दुःखनिवृत्तिसाधनम्, ननु माध्यस्थ्ये सत्यपि दुःखकारणाद् दुःख सुखकारणात् सुखं स्यादेवेति कथ माध्यस्थ्य तत्प्रतीकार इत्याशयेन पृच्छति—**किन्त्विति**, माध्यस्थ्यमवतिष्ठमानस्याहङ्कारममताविमुक्तस्य क्रोधादिकं दुःखकारण नास्तीति कारणाभावादेव न दुःख, सुख तु वैषयिकं दुःखमेवेति दुःखाभावे तस्याप्यभाव, पारमार्थिकं तु यदात्मस्वरूप परमानन्दलक्षणं सुख तदिष्टतमत्वान्न परिहरणीयमात्मस्वरूपत्वादेव च परिहर्तुमशक्यमिति न तत्प्रतिकारो माध्यस्थ्यमित्याशयेनोत्तरयति—**दुःखेन यत् सुखमिति**, 'शरीरं

षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धय॰ सुख दु॰ख चेत्येकविंशति॰'' इति गौतमसूत्रे सुखस्यापि वैषयिकस्यैकविंशतिदु खान्तर्गतत्वेन दुःखत्वमेव, यत् यस्म त् सुखं पारमार्थिकानन्दलक्षणं दु.खे दु॰खमध्ये न, अतस्तत्प्रतीकाराभावेऽपि न न. किञ्चिदपचीयते, यत् तु वैषयिकं सुखं तद्दु ख एवान्तभूतमिति दु खप्रतीकारे तस्यापि प्रतीकार इति गूढाभिसन्धि॰ अथवा दुःखे इति सप्तम्यन्त निषेधार्थको नकार इतिकृत्वा दुःखे न इति च्छेदो नाभिप्रेत किन्तु दु.खेनेति तृतीयान्तमेव, सुखमित्यनन्तरं भवतीति शेषः तथा च दुःखनिवृत्तिरेव वैषयिक सुख, क्षुत्पीडितो भक्तादिभोजनेन क्षुत्प्रभवदुःखनिवृत्तिलक्षणमेव सुखमासादयति प्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वसलक्षणनिवृत्ति प्रति च तादात्म्यसम्बन्धेन प्रतियोगिन कारणत्वमिति, यत् यस्मात् दुःखेन दु.खात्मकप्रतियोगिना सुख दु खनिवृत्तिलक्षण सुख भवतीति माध्यस्थ्ये सति द्वेषाद्यभावाद् दुःखानुत्पादे दु खनिवृत्तिलक्षणसुखस्यानुत्पादोऽयत्नोपनत इति भवति माध्यस्थ्यं तत्प्रतीकार इत्यर्थ ॥२१॥

यदा च माध्यस्थ्यमेव दु.खादिप्रतीकारस्तदा कारणान्तरमुपादाय लोकव्यवहारोऽस्मिन् विषये मोहविजृम्भित एवेत्याशयेनाह—

न दुःखकारणं कर्म तदभावाय वोद्यमः ।
दृश्यते व्यभिचारश्चाप्यहो मोहविभूतयः ॥२२॥

न दुःखकारणमिति । स्याद्वादावलम्बनेनैव सर्व सुस्थ नान्यथेत्यवगतिपाटवार्थमित्थमुपक्रम एकान्तमाध्यस्थ्यावलम्बनस्यायुक्तत्वप्रतिपत्तये, **कर्म दुःखकारणं** न तदभावाय दुःखाभावार्थम् , **उद्यमः** प्रयत्न पुरुषकार नेति सम्बध्यते, यत **व्यभिचारश्चापि दृश्यते** कश्चिद् दुष्टप्रकृतिः पुमान् ब्रह्महत्यादिकर्म करोति दुःखभागी च न भवतीति कर्मसत्त्वेऽपि दुःखाभाव इत्येवमन्वयव्यभिचारो दृश्यते, एवं दु.खं मा भवत्विति प्रतिसन्धाय दुःखाभावार्थ कश्चित् प्रयत्नं करोति, अथापि तस्य दु.खं भवतीति प्रयत्नरूपकारणसत्त्वेऽपि दु॰खाभावरूपकार्याभाव इत्येवमन्वयव्यभिचारो दृश्यते तथा शुद्धाशय कश्चित् ब्रह्महत्यादिकर्म न करोति, अथापि तस्य दुःख भवतीति व्यतिरेकव्यभिचारो दृश्यते एव कश्चिद् दु.खाभावार्थमुद्यमं

न करोति, अथापि तस्य दुःखाभाव इत्येव व्यतिरेकव्यभिचारः, **अहो** आश्चर्यम्, **मोहविभूतयः** अज्ञानविजृम्भणानीत्यर्थः ॥२२॥

अन्या अपि मोहविभूती रूपं दर्शयति—

पुण्यं सुखात्मकं जन्म तद्विशेषो विशिष्यते ।
कृतार्थेनापि चोपेयमवश्यं नार्तिहेतवः ॥२३॥

पुण्यमिति। **सुखात्मकं** सुखैकफलभाजनतया सुखस्वरूपम्, **जन्म** धनादिसमृद्धनृपादिगृहे उत्पत्ति, **तद्विशेषः** सुखात्मकजन्मविशेषः, **विशिष्यते** अन्यजन्मनः सकाशाद् विशिष्टो भवति, यतो विशिष्यते तस्मात् कारणात्, **कृतार्थेनापि** कृतकृत्येनापि पुरुषोत्तमेन, **च** पुनः, **उपेयं** स्वीकरणीयम्, तत्र हेतुः **अवश्यं** निश्चितम्, **नार्तिहेतवः** पीडाहेतवः न भवन्ति, जन्मवतः पीडा भवत्येवेति नियमाभावाद् विशिष्टतरं जन्म न पीडाजनकमिति कृतार्थोऽपि जन्म गृह्णीयादित्यपि मोहविलसितमित्यर्थः ॥२३॥

अन्यदपि मोहविजृम्भितमुपदर्शयति—

प्रीत्यर्था विषया जातिः सात्मकं कल्पशोभना ।
तेषामर्थवशात् साम्यमिति धर्मोऽप्यधर्मवत् ॥२४॥

प्रीत्यर्थेति । **विषयाः** कामिनी-काञ्चनादयः, **प्रीत्यर्थाः** प्रीतिप्रयोजनकाः प्रीतिजनका इति यावत्, **जातिः** ब्राह्मणत्वादिः, **सात्मकं** सात्मकं यथा स्यात् तथा **कल्पशोभना** स्वस्वाचारमनोहरा, इति जातिविशेषणम्, **तेषां** विषयादीनाम्, **अर्थवशात्** प्रयोजनवशात्, **साम्यं** तुल्यत्वम्, यदा यस्य विषयस्य प्रयोजनमपेक्षितं तदा स विषय आदरणीयो भवति अन्यस्तु प्रीत्यर्थोऽपि तदानीमुपेक्षितो भवति यया जात्या यत् कार्यमावश्यकं सम्पादनीयं तदानीं सैव जातिरत्यादृता भवति, अन्या जातिः सदाचारशोभनाऽपि न पुरस्कृता भवति, **इति** एतस्मात् कारणात्, **धर्मोऽपि** पुण्यमपि, **अधर्मवत्** अपुण्यमिव प्रयोजनवशादनादरणीयं भवतीत्यर्थः ॥२४॥

अनभिज्ञतोऽभिज्ञस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति—

पुण्यमेव निबध्नन्ति श्वादयोऽप्यविशेषतः ।
आहारादिषु तद्वृत्तेरभिज्ञस्तु विशिष्यते ॥२५॥

पुण्यमेवेति । **श्वादयोऽपि** कुक्कुरप्रभृतयोऽपि प्राणिनः, **अविशेषतः** मनुष्यादितो विशेषाभावतः पुण्यमेव पुण्यकर्मैव, स्वस्वसुतादिपरिपालनक्रियादिभिः निबध्नन्ति, **तु** पुनः **आहारादिषु** भक्ष्याभक्ष्य-पेयाऽपेयादिषु, **तद्वृत्तेः** श्वाद्याचारतः **अभिज्ञः** इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिदं पेयमिदमपेयमित्यादिविवेक-ज्ञानवान् पुरुषः, **विशिष्यते** श्वादितो विशिष्टो भवतीत्यर्थः ॥२५॥

प्रतिमाभिग्रहास्तीव्राः परिज्ञानविरोधिनः ।
प्रपञ्चाचारवादस्तु मिथ्यामानादिवृत्तयः ॥२६॥

प्रतिमेति । **तीव्राः प्रतिमाभिग्रहाः परिज्ञानविरोधिनो** भवन्ति, **तु** पुनः, **मिथ्यामानादिवृत्तयः प्रपञ्चाचारवाद** इति ॥२६॥

चारित्रसहितमेव ज्ञानं फलदं, न केवलमित्याह—

यथा गदपरिज्ञानं नालमामयशान्तये ।
अचारित्रं तथा ज्ञानं न बुद्ध्यध्यवसायतः ॥२७॥

यथेति । **गदपरिज्ञानमामयशान्तये यथा नालं** न समर्थम्, **तथा अचारित्रं** चारित्ररहितं, **ज्ञानं** "बुद्ध्यध्यवसायतः" इत्यस्य स्थाने "बुद्ध्यवसाय-मात्रेण" इति पाठः सम्भवेत्, **बुद्ध्यध्यवसायमात्रेण** फलायालम्, **न** भवति ॥२७॥

अरण्युष्माग्निविज्ञानं वैराग्यमुपजायते ।
तदभ्यासफलो योगो न पापाय न संवरः ॥२८॥

अरण्युष्मेति । **अरण्युष्माग्निविज्ञानम्** अरणिः शुष्ककाष्ठविशेषतः यन्निर्मन्थनतोऽग्निरुत्पद्यते अरणावुष्माग्निविज्ञानं न शीतापनोदाय प्रभवति, एतादृशं **वैराग्यमुपजायते**, **तदभ्यासफलः** तादृशवैराग्याभ्यासः फलं यस्य स तदभ्यासफलः, **योगः** कायिक-वाचिक-मानसकर्मलक्षणः, **न पापाय** पापार्थं न, पापकारणं न भवति, **संवरः** आश्रवनिरोधलक्षणः संवरोऽपि न भवति ज्ञानविकलत्वात्, तथा च चारित्रविकलं ज्ञानं यथा न फलायालं तथा ज्ञानविकलं कर्मलक्षणचरित्रमपि न फलायालमित्यर्थः ॥२८॥

कर्माश्रवविपाकार्थं वर्ण्यन्ते जीवजातयः ।
तुल्यं ह्यधिगतार्थस्य जीवाजीवप्रयोजनम् ॥२९॥

कर्मेति । **कर्माश्रवविपाकार्थं** कायिकादिकर्मलक्षणाश्रवस्य यो विपाकस्तदर्थम्, कस्मिन् कस्य विपाक इत्यवगतये इति यावत्, **जीवजातयः** जीवप्रभेदाः, **वर्ण्यन्ते** आगमे निरूप्यन्ते, **हि** यत, **अधिगतार्थस्य** ज्ञातार्थस्य प्रमातुः, **जीवाजीवप्रयोजनं तुल्यं** समम् ॥२९॥

निदानाभ्याससाफल्यं जन्मान्तरगतस्य चेत् ।
ज्ञानैश्वर्यसुखाभ्यासे निदानेभ्यस्तपःश्रमः ॥३०॥

निदानेति । **चेत्** यदि, **जन्मान्तरगतस्य** अन्यजन्मगतस्य, **निदानाभ्याससाफल्यं** स्यात् अस्मिन् जन्मनि निदानाभ्यासः कृतः तत्फलं जन्मान्तरे भविष्यति इति यदि, तदा **निदानेभ्यः ज्ञानैश्वर्यसुखाभ्यासे** सति, **तपःश्रमः** श्रममात्रं निष्प्रयोजनमित्यर्थः ॥३०॥

न धर्मार्थौ विशिष्येते कर्त्राऽपायोपभोगतः ।
धर्मस्तु ज्ञानहेतुत्वाद् विशिष्टेषु विशिष्यते ॥३१॥

न धर्मार्थाविति । **अपायोपभोगतः** अपायो विनाशः उपभोगस्तत्फललाभः ताभ्याम्, **कर्त्रा** जीवेन प्रमात्रा, **धर्मार्थौ न विशेष्येते**, यतः धर्मस्यार्थस्य चाविनाशो भवति उपभोगश्च भवति, किन्तु **धर्मस्तु** धर्मः पुनः, **ज्ञानहेतुत्वाद्**–ज्ञानकारणत्वात्, **विशिष्टेषु** धर्माद्याचरणवत्सु पुरुषेषु, **विशिष्यते** अर्थतो विशिष्टो भवति ॥३१॥

इत्थमन्ते कल्याणमुपजायते इत्युपसंहरति—

विषयेन्द्रिय-बुद्धीनां मनश्चोपक्रमः क्रमः ।
तमोमूलाभिघाताद्धि निर्विकल्पशिवं शिवम् ॥३२॥

विषयेन्द्रियबुद्धीनामिति । "मनश्चोपक्रमः" इत्यस्य स्थाने "मनसोपक्रमः" इति पाठो युक्तः । उपक्रम्यते आरभ्यत **इत्युपक्रमः** आरम्भः प्रकृते सम्बन्ध-

विषयेन्द्रियबुद्धीनां मनसा सम्बन्धः, **क्रमः** क्रमेण भवनात् क्रम इत्युच्यते, प्रथमं बुद्धि-मनसोः सम्बन्धः तत. इन्द्रिय-मनसोः सम्बन्ध ततो विषय-मनसोः सम्बन्ध इत्येव क्रमः, तत किं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—तमोमूलेति । **हि** यतः, **तमोमूलाभिघातात्** क्रोध-जिह्मादिदोषाणा तमोमूलस्य अज्ञानलक्षण-तमःस्वरूपादिकारणस्याभितः सर्वतो घाताद् विनाशात्, **शिवं** परमानन्द-लक्षण कल्याण निर्वाणादिशब्दाभिधेयं, भवतीति शेषः, कीदृश तदित्याकाङ्क्षा-यामाह—**निर्विकल्पशिवमिति** विविधः कल्प उत्तमाधमभावादिलक्षणो विकल्पः निर्गतो विकल्पो यस्मात् तन्निर्विकल्प सर्वोत्कृष्टं यच्छिव कल्याण तदात्मकं निर्विकल्पशिवमित्यर्थः ॥३२॥

इय सप्तदशी गूढा स्याद्वादपरिकर्मिता ।
द्वात्रिंशिकाऽस्तु मोदाय लावण्यपरिभाविता ॥

इति श्रीसप्तदश्या द्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ॥

अष्टादशी द्वात्रिंशिका ।

लावण्येन विभाविताऽऽगमलसत्स्याद्वादतत्त्वप्रथा ।
प्राग्भारेण गुरूपदिष्टसुनयाक्षेपोत्तरज्ञानिना ।
अष्टादश्यतिसुन्दरार्थघटना द्वात्रिंशिका धीमतां ।
मोदायाप्तदिवाकरेण रचिता व्याख्यायते सूरिणा ॥

शासनं देश-कालाद्यनुसारेण कृत स्यादुपादेयं भवतीत्याशयेनाह—

देश-कालान्वयाचारवयःप्रकृतिमात्मनाम् ।
सत्त्वसंवेगविज्ञानविशेषाच्चानु शासनम् ॥१॥

देशेति । "देश-कालान्वयाचारवयःप्रकृतिमनु सत्त्व-संवेग-विज्ञानविशेषाच्चात्मनां शासनं भवति" इत्यन्वयः । **देश-कालान्वयाचार-वयःप्रकृतिम् अनु** अन्वित्यनेन देशादीनां प्रत्येक सम्बन्धः, तथा च यस्मिन् देशे आर्यावर्त्तादौ कृतं शासनं धर्माद्युपेक्षात्मकशिक्षणं योग्यफलायालं तं देशमनु आश्रित्यात्मना प्राणिना शासन युक्तं भवतीत्यर्थः, एव यस्मिन् काले अतिशीतात्युष्णवातादिविरहिते क्रियमाण शासन ग्रहणयोग्य त कालमाश्रित्य प्राणिनां हितशासनं युक्तम्, एव यस्मिन्नन्वये वंशे श्रद्धादिगुणवन्तः पुरुषाः कदाचिज्जैनदीक्षादिपरिपालनमतिकष्टतममप्यकुर्वन् कुर्वन्ति तमन्वयमाश्रित्य प्राणिना शासनं विधेयम्, एवं तप.-स्वाध्यायाध्ययनाध्यापनादिसदाचारमाश्रित्य प्राणिनां शासन कर्त्तव्यम्, वयः बाल्युवावस्थाया यच्छासन योग्यं तामवस्थामाश्रित्य तच्छासनं कर्तव्यपद्धतिमञ्चति, प्रकृतिमनुप्रकृतिः स्वभावः कश्चिद्वामप्रकृतिः कश्चिद्दक्षिणप्रकृति. कश्चित् क्रूरप्रकृति· कश्चित् सरलप्रकृतिरित्येवं स्वभावभेदे यस्य स्वभावस्य यद्युचित तच्छासनमुपदेष्टव्यमित्यर्थ., **च** पुनः, **सत्त्व-संवेगविज्ञानविशेषात्** सत्त्वानां प्राणिना यः सवेग· तस्य यो विज्ञानविशेषः अनेन कारणेनास्य प्राणिनः ईदृशः संवेगः अस्य पुनः एतस्मात् कारणाद् विलक्षणः सवेग इत्येव सम्यगवधारणात्मकं ज्ञान तस्मादात्मना शासनं भवतीत्यर्थः ॥१॥

सम्यगुपदेष्टा कः स्याद् यत्कर्तृकं शासनमुपादेयमित्याकाङ्क्षायामाह—

वाह्याध्यात्मशुचिः सौम्यस्तेजस्वी करुणात्मकः ।
स्व-परान्वर्थविद् वाग्मी जिताध्यात्मश्च शासिता ॥२॥

वाह्याध्यात्मशुचिरिति । **वाह्याध्यात्मशुचिः** वाह्यं शरीरादितो बहिर्वस्त्रासन शयनान्नपानस्थानादिक अध्यात्मं शरीरेन्द्रियादिकं तयोः शुचिः शौचो यस्य स वाह्याध्यात्मशुचिः अथवा वाह्यं शरीरेन्द्रिवस्त्रोपकरणादिकं सर्वम्, अध्यात्मं आत्म-मनस्तयोः शुचिः शोचो यस्य स तथेत्यर्थः, **सौम्यः** अक्रूरस्वभावः, **तेजस्वी** प्रतापशाली, **करुणात्मकः** जीवमात्रे दयावान्, **स्वपरान्वर्थवित्** स्व-पराभीष्टार्थज्ञानवान्, **वाग्मी** सुमधुरव्यक्तवचनप्रगल्भः, **जिताध्यात्मश्च** जित स्ववशे स्थापितं निगृहीतमिति यावत, अध्यात्मं मनो यस्य स जिताध्यात्मः अथवा आत्मानमधिकृत्य यज्जायते काम-क्रोध-लोभ-मोहादिक तदध्यात्मम् , जितं पराजितं निर्मूलमुन्मीलितं काम-क्रोधादिलक्षणमध्यात्म येन स तथा, **चः** समुच्चये एवंभूत., **शासिता** शासकर्त्ता भवतीत्यर्थः ॥२॥

शासनं कीदृशमित्याकाङ्क्षायामाह—

तुल्यप्रकोपोपशमा रागाद्या मारुतादिवत् ।
विषयेन्द्रियसामान्यात् सर्वार्थमिति शासनम् ॥३॥

तुल्यप्रकोपोपशमेति । **रागाद्याः** राग-द्वेष-मोहाद्याः, **तुल्यप्रकोपोपशमाः** सर्वेषा प्राणिना तुल्यौ समानौ प्रकोपोपशमौ वृद्ध्युपशान्ती येषा ते तुल्यप्रकोपोपशमाः, न ह्यस्ति ससारे कश्चित् प्राणी यस्य रागाद्या आन्तरशत्रवः तुल्यप्रकोपोपशमा न भवन्ति, तत्र निदर्शनमाह—**मारुतादिवदि**ति यथा सर्वेषा प्राणिनां वायु-पित्त-श्लेष्माण· प्रकुपिता उपशमिताश्च भवन्ति तथा रागादयोऽपीत्यर्थः, तत्र किं कारणमित्याकाङ्क्षायामाह—**विषयेन्द्रियसामान्यादि**ति इष्टकामिनी-काञ्चन-पुत्रादिभि सममिन्द्रियसम्बन्धे सति रागवृद्धिर्यथैकस्य ससारिणो भवति तथाऽपरस्यापि संसारिण एवमनिष्टशत्रुसर्पादिभि. सममिन्द्रियसम्बन्धे सति द्वेषवृद्धिर्यथैकस्य ससारिणो भवति तथाऽन्यस्यापि, इष्टानिष्टभिन्नतयोपेक्षणीये विषये इन्द्रियसम्बन्धेऽपि न कस्यापि ससारिणो भवति राग-द्वेषवृद्धिः प्रत्युत यत्रैव विषये यस्यैवेन्द्रियस्य ससर्गे पूर्व राग-द्वेषादयो वृद्धिमुपगताः तस्मिन्नेव

विषये तद्गतेन्द्रियस्य संसर्गे सति ज्ञानमभिजनस्य सुखादिको जायन्ते तत्रात्मा भवन्तीत्येव सर्वप्राणिनां विषयेन्द्रियसंयोगः साधारणोऽभिप्रायः, इति पुरस्कर्तुं शासनं, सर्वोऽपि सर्वप्राणिनो हितसंस्पर्शः ॥३॥

शासनविशेषमुपदर्शनमुपदर्शयति —

हीनानां मोहभूयस्त्वाद् बाहुल्याच्च विरोधिनाम् ।
विशिष्टानुप्रवृत्तेश्च कल्याणाभिजनो मतः ॥४॥

हीनानामिति । हीनानां हीनकुलोत्पन्नत्वादिनाऽऽचरणाप्रकर्षेण च कुत्सितकार्यकरणादिना च सद्गुणादिविहीनानां जनानाम् **मोहभूयस्त्वाद्** अज्ञानबाहुल्यात्, **विरोधिनाम्** अकारणविद्वेषविरोधित्वादिनाऽपकारकारित्वेन विरोध-भाजां शत्रूणाम्, **बाहुल्याच्च** बहुविधत्वाच्च, एतेभ्यो न कस्यापि हीनजनस्य कल्याणमस्ति विरोधिजनसद्भावमनतश्च कल्याणं न भवतीति तस्मिन् मत्रानैव कल्याणभागीति सूचितम्, **विशिष्टानुप्रवृत्तेश्च** सदाचारादिना स्वतो विशिष्टा ये पुरुषास्तेषा-मनुवर्तनाच्च तदाचरणमनुसृत्याचरणाच्च, **कल्याणाभिजनः** कल्याणाभिजन्म-भाग्, **मतः** पूर्वसूरिभिः सम्मतः अनेन सत्पुरुषाचरणमनोऽनुसरणेन सत्सानु-सेवापरेण सन्मार्गेऽन्वे गमनशालिना जनेन भाव्यमिति शिक्षणमुपदर्शितमिति ॥४॥

येषामात्मना शासनशिक्षणं क्रियते ते शैक्षाः बहुविधा इत्युपदर्शयति—

उत्पन्नोत्पाद्यसंदेहा ग्रन्थार्थोभयशक्तयः ।
भावना-प्रतिपत्तिभ्यामनेकाः शैक्षभक्तयः ॥५॥

उत्पन्नोत्पाद्यसंदेहा इति । **उत्पन्नोत्पाद्यसंदेहाः** केचिच्छैक्षाः साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानासाधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानविप्रतिपत्तीनां त्रयाणां मध्यात् केनचित् कारणेन स्वत एवोत्पन्नः सन्देहो विरोधिभावाभावोभयप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधो येषां ते उत्पन्नसन्देहाः शैक्षाः, येषां पुनः शिक्षकोपदर्शितयुक्तिनिकरतः शिक्षाकाल एव प्राप्तः सन्देहस्ते उत्पाद्यसंदेहाः शैक्षाः इत्येवमुत्पन्नोत्पाद्यसंदेहाः, तथा **ग्रन्था-र्थोभयशक्तयः** केचित् ग्रन्थशक्तयः शब्दस्वरूपावधारणानुकूलसामर्थ्यवन्तः निर-न्तरशब्दाभ्यासपटवः, केचित् अर्थशक्तयः ग्रन्थस्यार्थं सम्यगवधारयितुं प्रगल्भाः केचिच्छब्दमर्थं चावधारयितुं प्रभविष्णव इत्येवं ग्रन्थार्थोभयशक्तयः, शैक्षाणामित्यं

विचित्र्यं कि निबन्धनमित्याकाङ्क्षायामाह—**भावना-प्रतिपत्तिभ्यामिति** ये निरन्तरमनुलोम-प्रतिलोमाभ्या यत्र कुत्रापि कार्ये व्यापृतो ग्रन्थमेव भावयन्ति तमेवेत्थमेवात्र पाठो गुरुमुखान्मया श्रुत इत्येवमभ्युपगच्छन्ति ते भावना-प्रतिपत्तिभ्यां ग्रन्थशक्तयो भवन्ति, ये पुनः शब्दो यथा तथा भवतु विषयः स्वयमेवेत्येवेत्येवं निरन्तरं भावयति तथैव चार्थं प्रतिपद्यन्ते नान्यथा तेऽर्थशक्तयो भवन्ति, ये पुनः ईदृश एव शब्दोऽमुमर्थं प्रतिपादयतुं शक्त', अयमेव चार्थोऽस्य शब्दस्य योग्यो नान्य इत्येवं शब्दमर्थं च निरन्तरं भावयन्ति तथैव प्रतिपद्यन्ते ऊहापोहाभ्यां ते ग्रन्थार्थोभयसमर्था भवन्तीत्यर्थः, इत्थम् **अनेकाः** अनेकप्रकाराः, **शैक्षभक्तयः** शैक्षाणा विभागा इत्येवं शिक्षण न्याय्यमित्यर्थः ॥५॥

तेषामाचारशासनमुपदर्शयति—

कर्तृप्रयोजनापेक्षस्तदाचारस्त्वनेकधा ।
चिकित्सितवदेकार्थप्रतिलोमानुलोमतः ॥६॥

कर्तृप्रयोजनापेक्ष इति । **तु** पुनः, **तदाचारः** शैक्षपुरुषस्याचारः आचरणम्, **कर्तृप्रयोजनापेक्षः** अस्याचारस्येदृश एव कर्त्ता यदि भवेत् तदैवायमाचारः समीचीनो भवितुमर्हति नान्यथेत्येव, कर्तृविशेषापेक्षः, तथेदमेव प्रयोजन कर्तुरभीष्टं फलमेतादृशाराचाराद् युक्त नान्यादृशमितीदृशाप्रयोजनेच्छावत एवायमाचार उचित इत्येव प्रयोजनविशेषापेक्ष इति कर्तृप्रयोजनापेक्षः तथा च विभिन्नकर्तृविभिन्नप्रयोजनापेक्षत्वात्, **अनेकधा**ऽनेकप्रकार' शैक्षाचार इत्यर्थ., न केवलं कर्तृप्रयोजनभेदादेव शैक्षाचारस्यानेकप्रकारत्वं किन्तु **एकार्थप्रतिलोमानुलोमतः**. एकस्मिन्नेवार्थे, प्रतिलोमेन आचारो भवति अनुलोमेनाप्याचारो भवति, तत्र प्रतिलोमकृततद्विषयाचारादन्या एवानुलोमकृततद्विषयाचार इत्येवमेवार्थप्रतिलोमानुलोमतोऽनेकधा तदाचारः, तत्र दृष्टान्तमाह—**चिकित्सितव**दिति, व्याध्युपशमार्थं क्रियमाणमौषधाद्यासेवनं चिकित्सित तद्यथैव तदौषधोपयोगानन्तरमेतदौषधोपयोगे क्रियमाणेऽयं व्याधिर्विनश्यति, तत्रैव पूर्वस्य पश्चादुपयोगः उत्तरस्य पूर्वमुपयोग इत्येवकरणेन स व्याधिर्नश्यति किन्तु वर्धत एव अन्यो वा व्याधिरुत्पद्यते तथोपयोगे, तथेत्येवं शैक्षाचारशासनमित्यर्थः ॥६॥

शरीरस्य मनसश्च गुणे उपकारिणि दोषेऽपकारिणि च समैव प्रवृत्ति-र्दृश्यते स्वस्वकारणोपनिपातादतो दोषस्य कारणं किं येन दोषे प्रवृत्तिस्तज्ज्ञाने सति तत्परिहारोपायाश्रयणतस्तत्परिहारो भविष्यति गुणकारणज्ञानतश्च तदुपाया-श्रयणतस्तत्रैव नितरां शरीर-मनसो· प्रवृत्तिरिति तच्छासन न्याय्यमित्याशयेनाह—

शरीर-मनसोस्तुल्या प्रवृत्तिः गुण-दोषयोः ।
तस्मात् तदुभयोपायान्निमित्तज्ञो विशिष्यते ॥७॥

शरीरेति । शरीरग्रहणेनेन्द्रियग्रहणमप्युपलक्षितम्; **तुल्या** समा, **गुण-दोषयोः** विषयत्वलक्षणसम्बन्धश्च षष्ठ्यर्थ· शरीरप्रवृत्तिश्चेष्टा यद्यपि न सविषया तथापि तज्जनकस्यात्मगुणस्य प्रयत्नस्य सविषयत्वात् तत्रापि सविषयत्व-मुपचारेण व्यवह्रियते, मनसः प्रवृत्तिस्तु ईश्वराद्युपासनादिविषयकेच्छाविशेषलक्षणः सङ्कल्पः परदारादिरत्यादिविषयक· सङ्कल्पो वाऽऽत्मगुणः सविषयक एव, **शरीर-मनसोः** शरीरस्य मनसश्च, तत्र शरीरसम्बन्ध· समवायोऽन्यमते, स्वमते त्वविष्वग्भाव·, **तस्मात्** गुणदोषोभयप्रवृत्तिजनकात्, **तदुभयोपायात्** शरीरमयो लक्षणोभयकारणात्, **निमित्तज्ञः** तत्तन्निमित्ताविशेषविवेकज्ञानवान् **विशिष्यते**—विशिष्टो भवतीत्यर्थः ॥७॥

निमित्तज्ञस्य शरीर-मनोभ्यां विशिष्टत्वं दृढयितुं निदर्शनमाह—

भेषजोपनयश्चित्रो यथामयविशेषतः ।
छन्नप्रकाशोपहितः सुविधिज्ञान-यन्त्रयोः ॥८॥

भेषजोपनय इति । **यथे**तिशब्दोऽनन्तरमभिधीयमानस्य निदर्शनत्वं गमयति, **आमयविशेषतः** वातोद्रेक-कफोद्रेक-पित्तोद्रेकप्रभवदोषविशेषमधिकृत्य, **भेषजो-पनयः** भेषजस्यौषधस्योपनयः समीपे नयनं आमयसन्निधौ प्रापणमिदमौषधमस्य रोगस्य एतच्चास्येत्येवं विवेकेन व्यवस्थापनमिति यावत्, एतद्योगेनैतन्मितमेत-दौषधमेन व्याधिमुपशमयतीत्येवं ज्ञात्रा भिषग्वरेण व्याधिविशेषमधिकृत्य यो भेष-जस्योपनय, स **चित्रः** अनेकप्रकार इत्यर्थ·, कीदृशो भेषजोपनय· ? **सुविधि-ज्ञानयन्त्रयोः छन्नप्रकाशोपहितः** सुविधिरौषधस्य शतपुट-सहस्रपुटादि-

भस्मादिरूपविशेषविधान, ज्ञानं एतावन्मात्रमिदमेनं व्याधिमुपशमयति नान्यथेति भिषग्वरस्य व्याध्यौषधविशेषपरिज्ञानं तद्द्वयात्मक-यन्त्रयोर्यो छन्नो भिषग्वरातिरिक्तजनावगत्यविषयः प्रकाशस्तेनोपहितः, भिषग्वरा एव शतपुटीकरणादिविशेषपरिकर्मितमौषधं ज्ञातुं समर्था नान्ये इत्येतच्छन्नप्रकाशोपहितः तद्विशेषविध्यादिज्ञानशालिनो भिषग्वरो यथा विशिष्यते तथा निमित्तज्ञ इत्यर्थः, उपनयशब्दो निदर्शनेऽपि वर्त्तते तेन उक्तार्थे भेषजदृष्टान्तोऽपि चित्रोऽनेकप्रकार आश्चर्यजनको वेत्याद्यर्थोऽपि विभावनीयः सुधीभिः ॥८॥

प्राणिना मुक्तिफलकस्य चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणस्य संप्रज्ञातसमाध्यसंप्रज्ञात समाधिभेदभाजो योगस्य शासनमुपदर्शयति—

वपुर्यन्त्रजिता दोषाः पुनरभ्यासहेतवः ।
प्रसंख्याननिवृत्तास्तु निरन्वयसमाधयः ॥९॥

वपुर्यन्त्रजिता इति । **दोषाः** वात-पित्त-श्लेष्माणः परस्परविरोधिनश्चित्तवृत्तिनिरोधविघातका एव, किन्तु **वपुर्यन्त्रजिताः पुनः** वपुषः इन्द्रिय-प्राण-मनोऽनवरतव्यापारावगुण्ठितस्य शरीरस्य यो यन्त्रः नियन्त्रणमिन्द्रियवृत्तिनिरोधासनप्राणायामादिकं तेन जिताः परस्परविरोधपरिहारपूर्वकस्वस्वनिश्चितावस्थानावस्थानस्वरूपपराजयशालिनः पुन, **अभ्यासहेतवः** अभ्यासस्य बाह्येन्द्रियविषयेभ्यो व्यावृत्तस्य सतो मनस एकाग्रीकरणाभ्यासस्य हेतव. कारणानि भवन्तीति शेषः, ततः कियत्कालमेकस्मिन् विषये चित्तवृत्तिसजातीयप्रवाहलक्षण ध्यातृध्येयभेदावभाससमन्वितं प्रसख्यानं भवति तदेव सप्रज्ञातसमाधिरभिधीयते ततो निवृत्ताः, **प्रसङ्ख्याननिवृत्ताः तु** पुन., **निरन्वयसमाधयः** निरन्वयध्यानान्वयरहिता ध्यातृध्यानावभासविकला इति यावत्, एवभूता. समाधयः ध्येयैकमात्रगोचरवृत्त्यविरक्ताखिलचित्तवृत्तिनिरोधलक्षणनिर्विकल्पकसमाधयः, तदुक्तम्—

"ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥१॥"

इति तदानीं ध्येयैकगोचरवृत्त्यवस्थानमदृष्टसहकृताभ्याससस्कारसव्यपेक्षप्रथमप्रयत्नादेव भवति, तदुक्तम्—

"वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद् भवेत् ॥२॥" इति ॥९॥

वातादीनां रागादीनां च साम्यस्यानुशासनमुपदर्शयति—

यथा निर्दिश्य संयोगाद् वाताद्या रोगभक्तिषु ।
तथा जन्मसु रागाद्या भावना-दरमात्रयोः ॥१०॥

यथा निर्दिश्येति । **यथा** येन प्रकारेण, **वाताद्याः** वात-पित्त-श्लेष्माणः, **निर्दिश्य** संयोगात् यत्र यत् सहकारित्वं तदुद्दिश्य तत्परस्परसम्बन्धात्, **रोग-भक्तिषु** वातप्रभव-पित्तप्रभव-श्लेष्मप्रभव-द्वन्द्वजसन्निपातादिलक्षणरोगप्रकारेषु हेतवो भवन्तीति शेषः, **तथा** तेन प्रकारेण, **रागाद्याः** काम-क्रोध मोह-लोभादयः, **भावना-दरमात्रयोः** अस्येदं मयाऽवश्यं कर्त्तव्यमनेन मय्यनुचितमनुष्ठितम् , अयं पुनर्मयि सम्यगाचरितमाचरिष्यति च, अयं मम मित्रम् , अयं च मम शत्रुरित्यादि-विचारणलक्षणा भावना दरो भयम् , तन्मात्रयोः अशेषभावनामययोः, **जन्मसु** देव-नारक तिर्यग्-मनुष्यभवग्रहणेषु, हेतवो भवन्तीत्यर्थः ॥१०॥

यथा सदाचरणतो रागादिभावशत्रु पराभूतो न भवति तथा पुरुषविशेष-स्वरूपशासनं निर्दिशति—

यात्रामात्राशनोऽभीक्ष्णं परिशुद्धनिभाशयः ।
विविक्तनियताचारः स्मृतिदोषैर्न बाध्यते ॥११॥

यात्रामात्राशन इति । यात्रा यथा कथञ्चित् सुभक्ष्यभक्षणेनोदरपूरणादि-प्रभवशरीरेन्द्रियाद्यविकलभावस्तन्मात्रं तदेकफलकमशनं भोजनं यस्य स **यात्रा-मात्राशनः** परिमितान्नभोजीत्यर्थः, **अभीक्ष्णं** सततम् , **परिशुद्धनिभाशयः** परितः सर्वतः शुद्धः निर्मलः परिशुद्धः तन्निभः तत्सदृशः आशयोऽन्तःकरणं यस्य स परिशुद्धनिभाशयः राग-द्वेषादिमलरहितान्तःकरण इति यावत् , **विविक्तनियता-चारः** योग्यदेश-कालादिनियतः आचारः आचरणं नियताचारः विविक्तोऽन्योन्या-सङ्कीर्णो नियताचारो यस्य स विविक्तनियताचारः, एवम्भूतः पुमान् , **स्मृतिदोषैः** स्वप्नादौ परदारादिस्मरणदुष्टभावनाप्रभवशत्रुस्मरणाद्युपजातवीर्यस्खलनक्रोधादिभिः, **न बाध्यते** पीडितो न भवति, उक्तं च—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःसह ॥३॥" इति ॥११॥

नियोज्यादिकं योग्यं परिभाव्यादेशादयो यथा विधेयास्तथा शासनमुपदर्शयति—

आदेश-स्मरणाक्षेपप्रायश्चित्तानुपक्रमाः ।
यथारसं प्रयोक्तव्याः सिद्ध्यसिद्धिगतागतैः ॥१२॥

आदेशेति । **आदेश-स्मरणाक्षेपप्रायश्चित्तानुपक्रमाः** इदं मा कुर्याः एतत्करणेन नवेष्टसिद्धिर्न भविष्यति असिद्धिरेवैतस्मादभीष्टनिकुरुम्बस्य, स्मरणम् स्मराम्यहं यद्गुरुणोपदिष्टमेतद्विषये अनुलङ्घनीयो गुरूणामुपदेशः एतस्मात् सर्वाभीष्टसिद्धिस्तव एव समापन्ने त्वयि सिद्धिरेव शत्रुव्यापारस्य, आक्षेपो यः स्व करणीयस्त्वया तदाप्त्यै कुरु, इदानीमेव कुरु, विघ्ना बहवो भवन्ति शेषकर्मणि, अतस्तस्य करणे विलम्बो एव न विधेयः एतावान् समयो योगत न स पुनरागमिष्यति, इत्थमभीष्टकरणेऽविलम्बेन प्रवर्त्तमानस्य तव कल्याणनिकुरुम्बः शीघ्रमागत एव, प्रायश्चित्तम्—

"प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो-निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥४॥"

इति वचनाद् निन्दितक्रियाजन्यपापनिवृत्तिसाधनत्वेनागमबोधितमुपवासादिकं प्रायश्चित्तमेतत् पापनिवृत्तिभावनम्, यदि नाम पापस्य निश्चयो नास्ति तथापि तत् कर्तव्यं पापरूपप्रतियोगिनोऽभावे तन्निवृत्तेर्यद्यप्यसिद्धिस्तथापि शास्त्रविहितं कर्म निष्फलं न भवतीति पुण्यफलसिद्धिः स्यादेव, निश्चिते तु पापे तन्निवृत्तिसिद्धिः स्यादेव, यद्यपि तत्करणयोग्यः कश्चित् कालो गतः तथापि तादृश एवान्यः काल आगत इति नात्र प्रमादो विधेयः, अनुपक्रमः अनारम्भः स च गृहादेरनेकजीवोपघातहेतोः, एते च **यथारसं** यथाकामम् इच्छामनतिक्रम्येति यावत्, **प्रयोक्तव्याः** अनुष्ठातव्याः, कैः प्रकारैरितीति कर्तव्याकाङ्क्षायामाह—**सिद्ध्यसिद्धिगतागतैरि**ति एतत्समनुगमनं च आदेशादिस्वरूपोपदर्शनमेव विहितमिति ॥१२॥

विनयोन्नयमकलिङ्गामनुशासनमाह—

परप्रशंसास्वक्षेपो विपरीतमुपेक्षितः ।

उत्कर्षापकर्षौ चैता विनयोऽन्नयजातयः ॥१३॥

परप्रशंसास्विति । **परप्रशंसासु** स्वभिन्नजनगुणवर्णनादिषु, **अक्षेपः** विलम्बाभाव. परकीयगुणानुपश्रुत्य यथाकथञ्चिज्ज्ञात्वा वा शीघ्रमेवाहो अस्याध्ययन-मध्यापनं शास्त्रपर्यालोचन शील तप इत्यादि गुणकीर्त्तनं कर्त्तव्यमिति यावत्, **विपरीतं** परप्रशंसाविलम्बादिकं परनिन्दोपवर्णनादिक वा यदकर्तव्यं तत् करणम्. **उपेक्षितः** यदा योऽवसरप्राप्तस्तदा स गजनिमीलिकान्यायेनोपेक्षाविषयीकृतः गुणप्रशंसोपेक्षणं न न्याय्यं निन्दोपेक्षणं तु न्याय्यमित्येवं विवेके सत्यप्युभयत्रोपे-क्षणमिति यावत्, **च** पुनः, **उत्कर्षापकर्षौ**, न्यूनगुणस्याप्यधिकगुणत्व यत्किञ्चि-दपेक्षयोत्कर्षः अधिकगुणत्वस्यापि यत्किञ्चिदपेक्षया न्यूनगुणत्वमपकर्षः एतद्दिशा गुणातिरिक्तगतावप्युत्कर्षापकर्षौ भावनीयौ, **एता** अनन्तरमुपदर्शिता अक्षेपादयः, **विनयोन्नयजातयः** विनयो नम्रीभावः. उन्नय. नयमुल्लङ्घ्य प्रवृत्तः तज्जातयः तत्स्वभावा विनयस्वभावा उन्नयस्वभावाः तत्र यो विनय स्वभाव; स आदरणीयः उन्नयस्वभावश्च परिहरणीय इति शिक्षणपर्यवसितमेतच्छासनमित्यर्थः ॥१३॥

विनयफलमुपदर्शयति—

स्वास्थ्यात् पदत्रयावृत्त्ययोनयः स्थानवर्त्मनः ।

शैक्षदुर्बलगीतार्थगुरूणामर्थसिद्धये ॥१४॥

स्वास्थ्यादिति । **स्थानवर्त्मनः** निवासस्थानमार्गात्, **स्वास्थ्यात्** शरीरादिकरणगतस्वस्थतात., न तु सम्भावितपतनादिफलकवेगादित . **पद-त्रयावृत्त्ययोनयः** पदत्रयस्य पदत्रयगमनस्य आवृत्त्यमावर्त्तनं पदत्रयं गत्वा पुनः परावर्त्तनम्, तद्योनयस्तद्धेतवः विनया इति हृदयम्, गुरुर्यदि अन्तेवास्यवस्थान-सन्निहितवर्त्मना कुत्रापि गच्छेत् तदानीमन्तेवासिभिस्तदनुगमनं पदत्रयगमनलक्षणं विनयफल विधेयमिति, एवम्भूता विनयाः, **शैक्षदुर्बलगीतार्थगुरूणाम्**, शैक्षः ग्रहणयोग्यशैक्षोऽन्तेवासी, दुर्बल· शारीरक-वाचिक मानसविशिष्टबलरहितः, गीतार्थ बहुविधागमार्थविज्ञः गुरुरध्यापक तेषाम्, **अर्थसिद्धये** भवन्ति, शिष्याणां

गुरुवाससन्निहितावासस्थितानामेवोक्ता विनयाः तथा सति च रात्रावपि शास्त्राभ्यासे यः कश्चित् संशयः समुन्मिषति तस्य निराकरणं सन्निहितगुरुपार्श्वगमनेन तदुपदिष्टवचनतः शीघ्रमेव भवितुमर्हति, दुर्बलोऽपि शिष्यो गुरुर्वा सान्निध्यं प्राप्य न तत्रालस्यपरिगृहीतो भवति, शिष्यस्यापि गुरुसेवा नितरां संपद्यते, गीतार्थश्च गुरुरक्लेशेनैव शिष्यसंशयादिकमुच्छेत्तुं प्रभवति आकस्मिकाधिभौतिकाद्युपद्रवाश्चारात्रावपि तेषामेकस्याप्युपस्थितस्तत्कालमेव समुचितोपचारतो निवृत्तो भवतीति सर्वेषामभीष्टसिद्धिरयत्नोपनतैवेति भाव- ॥१४॥

कायिक–वाचिक–मानसकर्मयोगत्रयरूपस्याभिनवकर्मादानफलकस्यास्तवस्य निरोधलक्षणः संवरो गुप्ति–समिति–धर्माऽनुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः षड्भिर्भवति तथा तपसा स भवति, तत्र संवरार्थं षोढव्यानां परीषहानां शासनमाह–

आसेवनपरीहारपरिसंख्यानशान्तयः ।
परीषहा वपुर्बुद्धिनिमित्तासमकल्पकाः ॥१५॥

आसेवनेति । आसेवनं क्षुत्पिपासादिनिवृत्त्यर्थं वपुर्वृद्ध्यर्थं विषयाद्युपभोगफलकबुद्ध्युपबृंहणार्थं सुस्वादुनानाविधानल्पान्नपानादिपरिभोगलक्षणसेवनम्, परीहारः यत् किमपि यत्किञ्चिद् दुःखलेशस्यापि जनकं तस्य परित्यागः, परिसंख्यान परितो गणनं एतावत्संख्यका विषया मयोपभुक्ताः, एतावन्तश्चावशिष्टा इत्येवं गणनमिति यावत् शान्तिः इत्यमभीष्टसम्पत्तौ सत्यां चित्तस्याव्याकुलीभावः, एवं प्ररूपितस्वरूपाः- **आसेवन-परीहार-परिसंख्यान-शान्तयः परीषहा** ज्ञातव्याः, परितः समन्तादापतन्तः क्षुत्पिपासादयो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षाः षोढव्याः सहितव्याः, परीषहा उच्यन्ते– क्षुत्परीषहः १, पिपासापरीषहः २, शीतपरीषहः ३, उष्णपरीषह- ४, दंशमशकपरीषहः ५, नाग्न्यपरीषहः ६, अरतिपरीषहः ७, स्त्रीपरीषहः ८, चर्यापरीषहः ९, निषद्यापरीषहः १०, शय्यापरीषह- ११, आक्रोशपरीषहः १२, वधपरीषहः १३, याचनपरीषहः १४, अलाभपरीषहः १५, रोगपरीषहः १६, तृणस्पर्शपरीषह- १७, मलपरीषहः १८, सत्कारपुरस्कारपरीषहः १९, प्रज्ञापरीषहः २०, अज्ञानपरीषहः २१, अदर्शनपरीषहः २२–इत्येवं द्वाविंशतिभेदाः परीषहाः, एते परीषहा विजेतव्याः, तथा सत्येव

सवर परिपुष्टो भवति, तेषा जयप्रकाराः क्रमेणेत्थमुपपादिता अन्यत्र, तथाहि शेषवेदनातिशायिनीमुदिता क्षुद्वेदना सम्यग्विषहमानस्य जरान्त्रविदाहिनीभागमविहितेन विधिना क्षुधा शमयतोऽनेषनीय च परिहरत· क्षुत्परीषहजयो भवति। एव पिपासापरीषहजयो भावनीय. । महत्यपि पतति शीते जीर्णवसनोऽपि परित्राणवर्जित शीतापनोदार्थं नाकल्पानि वस्त्राणि गृह्णाति, किन्तु आगमविहितेन विधिना एषणीयमेव कल्पादि गवेषयेत् अथवा परिभुञ्जीत, शीतार्त्तोऽग्निर्न प्रज्वालयेत् अन्यज्वालित वा नासेवेत, एवमनुतिष्ठतः शीतपरीषहजयो भवति । एवमुष्णपरितप्तोऽपि जलावगाहन-स्नान-व्यजनवातादिकर्माभयारितच्छायादिकं च वर्जयन् आपतितमुष्णं सम्यक् सेवेत, उष्णवारणायातपत्रादिक नाददीतेति भवति उष्णपरीषहजय. । दशमशकादिभिर्दश्यमानोऽपि न तत स्थानादपसृतो भवेत् न वा तदपनयनार्थं धूमादिक कुर्वीत, व्यजनादिना च न निवारयेत् एवकृते दंशमशकपरीषहजयो भवति । नाग्न्यपरीषहोऽत्र दिगम्बरभौतादिवन्निरुपकरणतालक्षणो नादरणीय, एतद्विषयमाश्रित्य जिनकल्प-स्थविरकल्पभेदेन कल्पद्वैविध्यप्रभृतिविषयकविचारः पल्लवितोऽन्यत्र स ग्रन्थगौरवभयान्नात्रोपदर्श्यते. किन्तु अमहार्घमूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च बिभ्रत. साधवोऽपि श्रुतोपदेशाद् धर्मबुद्ध्या नाग्न्यभाज एवेति तथाविधनाग्न्यपरीहाराय महार्घमूल्याऽखण्डिताऽजीर्णवस्त्रधारण परिहरतो नाग्न्यपरीषहजयो भवति, सूत्रोपदेशेन विहरतस्तिष्ठतो वा कदाचिदरतिरुत्पद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि सम्यग्धर्मारामरतेनैव भवतिव्यम् एवं सति अरतिपरीषहजयो भवति । कदाचिदपि स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसस्थान-हसितललितविभ्रमादिचेष्टा न चिन्तयेत् मोक्षमार्गार्गलासु तासु कामबुद्ध्या चक्षुरपि न निवेशयेद् एवंकृते स्त्रीपरीषहजयो भवति । तर्जितालस्यो ग्राम-नगर-कुलादिष्वनियतवसतिनिर्ममत्वः प्रतिमास चर्यामाचरेदित्येव चर्यापरीषहजयः कृतो भवति । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्यास्थानं स्त्री-पशु-पण्डकविवर्जितं, तत्रेष्टानिष्टोपसर्गजयिनाऽनुद्विग्नेन भाव्यमेवंकृते निषद्यापरीषहजय कृतो भवति । शय्यासंस्तारकादिः प्रतिश्रयो वा तत्र मार्दवकाठिन्यादिपांसूत्करप्राचुर्यादितोऽनुद्विग्नतामासाद्य निविशता शय्यापरीषहजय. कृतो भवति । आक्रोशोऽनिष्टवचनं तत्सत्य चेदलं कोपेन, शिक्षयोपकरोत्येव माम्, असत्यं चेन्न किञ्चिदनेनेत्युभयथा कोप-

मकुर्वता आक्रोशजयः सम्पादितो भवति । पाणिपार्ष्णि-लता-कशादिभिस्ताडन वधः, शरीरमवश्यंतया विद्ध सत एवेति मत्वा तदपि सम्यग् सहितव्यम् आत्मनोऽन्यदेवेदमस्मिन् विनष्टेऽपि नात्मा विनश्यत इत्यादि सम्यग् भावयता वधपरीषहजयः कृतो भवतीति अकिञ्चिनस्य सतः परत एव लब्धस्य वस्त्र-पात्राऽन्नपान-प्रतिश्रयादेर्मार्गणं याचनम्, शालीनतया च न याञ्चा प्रत्याद्रियते, प्रागल्भ्यभाजा तु साधुना याचनमवश्यमेव कार्यमित्येव याञ्चापरीषहजयः कर्त्तव्य., याचिते सति प्रत्याख्यानमलाभः तस्मिन् सत्यपि समचेतसैवाधिकृत-स्वान्तेनैव भवितव्यमित्येवं कृते अलाभपरीषहजय· सम्पद्यत इति । ज्वरातीसार-कास-श्वासादिः रोगः, तस्याविर्भावे सत्यपि न गच्छनिर्गताश्चिकित्सायां प्रवर्त्तन्ते, गच्छवासिनस्त्वल्पबहुत्वालोचनया सम्यक् सहन्ते प्रवचनोक्तेन विधिना प्रति-क्रियामाचरन्तीत्येव रोगपरीषहजय. । अशुषिरतृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो गच्छनिर्गतानां गच्छवासिना च तत्र येषा शयनमनुज्ञात निशाया ते तान दर्भान् भूमावस्तीर्थ संस्तारकोत्तरपट्टकौ च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते, चौरापहृतोप-करणो वा प्रतनुकसस्तारकादिपट्टो वाऽत्यन्तजर्णत्व त् तथापि त परुषकुशदर्भादि-तृणसस्पर्श सम्यगधिसहते यस्तस्य तृणस्पर्शपरीषहजयो भवति । स्वेदवारि-सम्पर्ककाग्नीभूते वपुषि स्थिरतामितो ग्रीष्मोष्मसम्पातजनितघर्मजलार्द्रता गतो दुर्गन्धि मलः स महान्तमुद्वेगमुत्पादयति तदपनोदाय न कदाचिदभिषेकाद्यभिलाषं करोतीत्येव मलपरीषहजय. सम्पद्यते । परतो भक्तपान-वस्त्र-पात्रादिना योग· सत्कारः, सद्भुतगुणोत्कीर्त्तन वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादिव्यवहारश्च पुरस्कार·, तत्रासत्कारितोऽपुरस्कृतो वा न द्वेषं यायात्, न दूषयेत् मनोविकारेणात्मान-मित्येवं सत्कारपुरस्कारपरीषहजय· । प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञाबुद्ध्यतिशय. तत्प्राप्तौ न गर्वमुद्वहत इति प्रज्ञापरीषहजयः प्रज्ञाप्रतिपक्षेणाल्पबुद्धिकत्वेन परीषहो भवति नाहं किञ्चिज्जाने मूर्खोऽहं सर्वपरिभूत इत्येवं परितापमुपागतस्य परीषह, तद-करणात् कर्मविपाकोऽयमिति प्रज्ञापरीषहजय. । ज्ञानं तु श्रुताख्यं चतुर्दशपूर्वाण्ये-कादशाङ्गानि समस्तश्रुतधरोऽहमिति गर्वमुद्वहते, तत्रागर्वकरणात् ज्ञानपरिषह-जयः, ज्ञानप्रतिपक्षेणाज्ञानेनागमशून्यतया परीषहो भवति, ज्ञानावरणक्षयोपशमो-दयः विजृम्भितमेतदिति, स्वकृतकर्मफलपरिभोगादपैति तपोऽनुष्ठानेन वेत्येव

मालोचयतोऽज्ञानपरीषहजयो भवति । अदर्शनपरीषहस्तु सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसङ्गश्चाहं तथापि धर्माधर्मात्मदेव-नारकादिभावान् नेक्षे, अतो मृषा समस्तमेतदिति अदर्शनपरीषहः, तत्रैवमालोचयेत्-धर्माधर्मौ पुण्य-पापलक्षणौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानतमधिगम्यत्वम्, अथ क्षमा-क्रोधादिकौ धर्माधर्मौ, ततः स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपत्वात् प्रत्यक्षाविरोधः, देवास्त्वत्यन्तरतसुखासक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावात् दुष्प्रानुभावाच्च न दर्शनगोचरमायान्ति, नारकास्तु तीव्रवेदनार्त्ताः पूर्वकृतकर्मोदयनिगडबन्धनवशीकृत-त्वादस्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतः अदर्शनपरीषहजयो भवतीति । इत्थं तत्त्वार्थसूत्रभाष्यवृत्त्युपपादिताः परीषहा विजिताः सन्तः संवरस्याऽऽकूलतानानुवन्ति, अविजिताः पुनस्ते क्षुत्-पिपासाद्युपशमनार्थं सुस्वाद्वन्नपानादि-रत्नमाला-कामिन्या-द्युपभोगपरिपोषिताः संवरप्रतिकूलतामासादयन्तीत्याह-वपुर्बुद्धीति, **वपुर्बुद्धि-निमित्तासमल्पकाः** वपुषः शरीरस्य बुद्धेर्ज्ञानस्य निमित्तानि कारणानि यैर्निमित्तैः शरीरं ज्ञानं च परिपुष्टिं नीयते तेषां वपुर्बुद्धिनिमित्तानामसमकल्पकाः यत्तुल्यो द्वितीयो न भवति एतादृशाः कल्पका इत्यर्थः ॥१५॥

अन्तेवासिसाधुनिन्दितप्रवृत्तिनिवारणं गुरुकर्त्तव्यमनुशास्ति—

असूया-क्षेप-कौकुच्य-परीहास-मिथःकथाः ।
स्वैरस्वापासनाहारचर्याः पश्यन् निवारयेत् ॥१६॥

असूयेति । असूयाक्षेप-कौकुच्य-परीहासमिथःकथाः परगुणेषु दोषारोपणमसूया, क्षेपः धूली-लोष्ठप्रक्षेपादिः आक्षेपो वा, किं त्वं जानासीत्यादि-वचनव्यापारः कौकुच्यम्, अत्र "कन्दर्प-कौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभो-गाधिकत्वानि" (७।२७) इति तत्त्वार्थसूत्रे कौत्कुच्येति पाठः, वृत्तौ तद्व्याख्यान-मेवम्-कौत्कुच्यं कुत्सितसङ्कोचनादिक्रियायुक्तः, कुत्कुचः तद्भवः कौत्कुच्यम्, अनेकप्रकारा भाण्डादिविडम्बनक्रियाः, कुदिति कुत्साया निपातो निपातानामान-न्त्यात् अन्ये पठन्ति कौकुच्यमिति तेषां कुत्सितः कुचः सङ्कोचनादिक्रिया-भाक् तद्भावः कौकुच्यम्, भाष्ये-"कौत्कुच्यं नाम एतदेवोभयं दुष्टकायप्रचार-

सयुक्तम्' इति तद्व्याख्यानं च कौत्कुच्य नामेत्यादि, नामशब्दोऽलङ्कारार्थः, एतदेव च वाचो व्यापारणं हसनं चोभय द्वयमपि, दुष्टकायप्रवीचारसयुक्तमिति दुष्टः कायप्रवीचारो मोहनीयकर्मोदयसमावेशाद् तद्युक्त तत्सम्बद्धमुभयमपि वाग्व्यापारोपसर्जन कायव्यापारप्रधानं कौत्कुच्यमिति, परीहासः त्वया पूर्वावस्थायामिदं जुगुप्सितमाचरितं मया त्वेवमाचरितमित्यादि पूर्वकृतकर्मकलापस्मरणादिजनितो हास्यरसव्यञ्जकवचनसन्दर्भो दन्तादिप्रकटनात्मको मुखचेष्टाविशेषो वा, मिथःकथा वैषयिकसुखाद्याविर्भावको मिथ आलपनम, **स्वैरस्वापासनाहारचर्याः** स्वैरमेकान्ते, एतच्च स्वापादौ सर्वत्रान्वितम, स्वाप· शयनम्, आसनमुपवेशनम्, आहार भोजनम्, चर्या आचरणम् एकान्तशयनाचरणैकान्तोपवेशाचरणैकान्तभोजनाचरणानि अन्तेवासिन इति दृश्यम्, **पश्यन्** अवलोकयन् गुरुः, **निवारयेत्** निराकुर्यादित्यर्थः ॥१६॥

शिष्यैः स्वगुरोर्यच्च विधेयं तदनुशास्ति—

विनीतैर्भावविज्ञान-नानारसकथासुखैः ।
विश्रंसनमनिदिष्टमनर्थः साध्य-साधयोः ॥१७॥

विनीतैरिति । विनीतैः गुरुसेवादिकरणलक्षणविनयशालिभि शिष्यैः, कथम्भूतैस्तैरित्याकाङ्क्षायामाह-**भावविज्ञान नानारसकथासुखैरिति** भावविज्ञान नानारसश्च भावविज्ञान-नानारसौ तयो कथा भावविज्ञाननानारसकथा तस्या सुखं येषा ते भावविज्ञान-नानारसकथासुखास्तैः, भावा विभावानुभावसञ्चारिभाव(व्यभिचारिभाव)स्थायिभाव, गुर्वादिविषयका शिष्यादिप्रीतिरपि व्यज्यमाना भाव इत्युच्यते, तेषा विशेषेण अयमत्रालम्बनविभावोऽय चोद्दीपन इत्यादि विशेषधर्मेण ज्ञानम् । भावविज्ञानम्, नाना अनेकप्रकार शृङ्गार-करुण-शान्त-वीभत्स-हास्य रौद्र वीर-भयानकाद्भुतभेदेन नवविध· रस· विभावानुभावसञ्चारिभावैर्व्यक्त स्थायिभाव रसः तयो., कथाऽस्मिन् पक्षे इमे विभावादयो भावा अय च स्थायिभावरतैरभिव्यक्तो रस इत्यादिका विचारणा, तस्याः सुखैस्तत्प्रभवविच्छित्तिविशेषै., **विश्रंसनं** प्रस्तुततत्त्वोपदेशविसस्थूलीकरणम्—**अनि-**

दिष्टम् आप्तैः शास्त्रकृद्भिरनुपदिष्टम्, **साध्य-साधयोः** शिष्याध्यापकयोः, **अनर्थम्** अहितावहम् अत एतन्न कर्त्तव्यमुपदेशपरायणैरिति गुरोः शासनम्, अथवा विनीतैरित्यस्य विशेषेण प्रापितैः अवश्यतयोपनीतैरिति यावत्, अन्यत् पूर्ववदेव व्याख्येयमित्यर्थः ॥१७॥

गुरु-शिष्योभयशासनमाह—

उत्क्षेपासंगविक्षेपाः शब्दादित्याग-भोगयोः ।
तयोरनियमः श्रेयान् पुरुषाशयशक्तितः ॥१८॥

उत्क्षेपेति । **शब्दादित्याग-भोगयोः** शब्द-स्पर्श रूप रस-गन्धादिव्यादिव्यभेदेन द्विविधा शब्दाद्यास्तेषा त्यागोऽनिष्टाना परिहारः, भोगः अभीष्टानामुपादानम् तयोः, **उत्क्षेपासङ्गविक्षेपाः** उत्क्षेप. कस्याप्युपरि कटुभाषणासहेन स्पर्श-कुरूपत्वानादेयरसास्वाद-दुर्गन्धाद्यारोपणम् कटु-मिथ्याप्रलापादिकर्त्ताऽयम्, रोगसङ्क्रामकोऽयमस्य संस्पर्शः, कुरूपोऽय द्रष्टुर्नेत्रपीडादिक जनयति, अयं च लशुन-गृञ्जन-मदिरासवपानलोलुपः, एतत्संपर्काद् वातोऽपि दुर्गन्धो वातीत्यादि स्वरूपम्, **आसङ्गः** समन्तात् सम्बन्धः वीणा-मृदङ्गादिशब्द-सुशीतलचन्दनविविधतैलादिस्पर्श-मनोज्ञरूपसुस्वादुरस-सुगन्धादिनिरन्तरसम्बन्धः, **विक्षेपः** शब्दादिश्रवणाद्यर्थं चित्तस्य व्याकुलीभाव.—एते उत्क्षेपासङ्गविक्षेपाः शब्दादित्याग-भोगयोः भवन्तीति शेषः, किन्तु तयोः साध्य-साधयोः शिष्याचार्ययोः, **पुरुषाशयशक्तितः** पुरुषाभिप्रायसामर्थ्यमाश्रित्य, **अनियमः** उत्क्षेपादीनामिति सान्निध्याद् गम्यते, **श्रेयान्** श्रेष्ठतमः, यद्यपि शिष्यस्य यथावदभ्यासाभिमुखीकरणार्थं क्रोधाविर्भावकपरुषवचनादिकमपि गुरुणा विधीयते तथापि कदाचिदेव कञ्चन योग्यशिष्यमुद्दिश्यैव न तु नियमतस्तस्योपादनम्. कदाचित् कञ्चन योग्यशिष्यं प्रति कठोरवचनाद्युत्क्षेपो युक्त एव, एतदुपोद्बलकं च—

"गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणा न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥५॥"

इत्यादिवचनम् । आसङ्गोऽपि कदाचित् कुत्रचिद् युक्त एव, प्रेरयन्ति च गुरवः शिष्यान् देवस्तुतिवचन-देवमूर्त्तिस्पर्शन-देवमूर्त्यादिरूपदर्शन-तत्पूजोपकरण-

सुस्वादुरसफलारोपण-तदर्चनोपयुक्तकुसुमगन्धाद्यासङ्गो एव विक्षेपोऽपीत्यतोऽनियम इत्युक्तम् इति गुरु-शिष्योभयगाासनोपदेशः ॥१८॥

यद्यद् धर्माराधनोपयुक्तं तद् यतिनाऽपि न प्रथमत एव त्यक्तव्यं किन्तु क्रमेण यद् विनाऽपि धर्मो व्यवस्थितः सुरक्षितो भवति, तस्य परित्यागोऽतो दिक्पटाना परिधानवस्त्रादिपरित्यागो नोचित इत्याशयेनोपदिशति—

प्रागेव साधनन्यासः कष्टं कृतमतेरपि ।
कृच्छ्रोपार्जनभिन्नं हि कार्पण्यं भजते जनः ॥१९॥

प्रागेवेति । **प्रागेव** प्रथमत एवेत्यर्थः, **साधनन्यासः** धर्मोपकरण-परित्याग. कृतमतेरपि विदुषोऽपि, **कष्टं** दुष्करम् धर्मविलोपभयात् कर्त्तुमशक्य-मिति यावत् . उक्तमर्थं दृढयितुमाह-कृच्छ्रेति, **हि** यतः, **जनः** लोक', **कृच्छ्रो-पार्जनभिन्नं** कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेनोपार्जन यस्य धनस्य स्वसम्बन्धितया व्यवस्थापनं तद्धन कृच्छ्रोपार्जनं तेन भिन्नं सम्भिन्नं, **कार्पण्यं** कृपणत्वमन्यस्मै दातु स्वय भोक्तुं चासामर्थ्यं दीनत्वम्, **भजते** सेवते, अतिकष्टोपार्जितं धनं नृप-चौरादिभयाग्निभिः कारणैर्विनाशशङ्कया सतत सुरक्षित विदधाति, कपर्दिका मात्र-मपि न ततोऽन्यस्मै प्रयच्छति, कष्टतरं खलु जीवनोपायत्वेनावधृतस्य यः क्षयित्वं न जानाति तस्य तत्परित्यागे कष्टं भवतु नाम, योऽपि विद्वान् क्षयि-त्वमस्य जानाति तस्याप्यहो भवति तत्परित्यागः, कष्टमिति मोहमाहात्म्यमिति सूचनाय कृतमतेरपीत्यत्रापेरुपादानम् । कथमप्यन्यथानिर्वहणसम्भवे यतिभि परि-त्याज्यं साधनं क्रमेण अत एव यतिधर्मस्य दुष्करत्वं समये प्रतिपाद्यत इति ॥१९॥

सकलजनहितशासनमुपदर्शयति—

पिपासाविषयोत्सेधो मृदूत्तानरया वरम् ।
न संमिथ्यादिगम्भीरं चपलायति यादसात् ॥२०॥

पिपासेति । **पिपासाविषयोत्सेधः** पातुमिच्छा पिपासा तस्या विषयो जलपानादिस्तत्सम्बन्धित्वाज्जलादिरपि पिपासाविषयः तस्योत्सेध उच्चत्वमूर्धदेशव्याप्तिः, सः, **मृदूत्तानरया** मृदु कोमलमवगाहनाविरोधि उत्तानं स्पष्टमनतिगम्भीर रयो

वेगो यस्य एवम्भूत. सुलभावगाहनानतिगम्भीरवेगवान् पिपासाविपर्योत्सेधः, **वरम्** यत्र पिपासोपशमनार्थं कूपादिजल न विद्यते तत्र श्रेष्ठम् , किन्तु **चपलायति यादसात्** अत्र "चपलायति यादसाम्" इति पाठो युक्त· । चपला कदाचिद् वर्धते कदाचिद्धीयते इत्येव चञ्चला आयति· परिणाहो विस्तारो येषां तानि चपलायतीति यादांसि जलानि चपलायति यादांसि तेषा चपलायति यादसाम्, **न संसिथ्यादिगम्भीरं** नवरमित्यनुवर्तते, तेषामवगाहन दुश्शकम् तदमुल्लङ्घ्यापि गच्छतां तेषा तीरस्थापि तदावर्त्ततयाऽतिपिच्छलत्वेन जलपानार्थं तत्रोपसर्पणे पतनमपि सम्भावित तदानीमेव च दैववशात् पूरे सञ्जाते तदाकृष्टितोऽतिगम्भीरजलसमूहान्तर्गमने मरणमपि नासम्भावितमिति तन्निकटसगमनमेव वरम्, (न ससिथ्यादीत्यस्यार्थस्तु चिन्तनीय) ॥२०॥

यद्यप्यराग-द्वेषस्य भगवतो न कुत्रापि रागो न वा द्वेष·, तथापि प्रसीदतु भगवानिति भगवत्प्रसादेच्छया भगवदर्चनादिक कुर्वन् जनो भगवत्प्रसादमाकाङ्क्षतीति लौकिक व्यवहारस्तमवलम्ब्य सवर एव भगवत्प्रसादार्जनोपाय इत्युपदर्शयति—

अज्ञातकरणं जन्म वपुःसंवित्प्रकारयोः ।
त्वत्प्रसादार्जनोपायो विषयेन्द्रियसंवरः ॥२१॥

अज्ञातकरणमिति । वपु शरीरम, सविदो ज्ञानस्य प्रकारः प्रभेद प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणः, वपुश्च सवित्प्रकारश्च वपुस्संवित्प्रकारौ तयो· **वपुःसंवित्प्रकारयोः, जन्म** उत्पत्तिः, **अज्ञातकरणम्** अज्ञात करणमसाधारणकारणं यस्य तदज्ञात-करण शरीरं तावदौदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणभेदेन पञ्चविधं तस्य यत्पूर्व-कृतपुण्य-पापविशेषादिलक्षणं करण तच्चर्मचक्षुषाऽज्ञातमेव, तथा मतिश्रुतावधि-मन·पर्याय-केवलभेदेन पञ्चविध **ज्ञानं** तस्याप्यावरणं क्षयोपशमावरणक्षयादिलक्षणं करणमस्मादृशामज्ञातमेव, ततो विशिष्टशरीरादिद्वारा कायिक-वाचिक-मानस-स्तुत्यादिना श्रवण-मनन-निदिध्यासनलक्षणज्ञानविशेषेण च भगवत्प्रसादो नाहृत्य-कर्त्तु शक्यः किन्तु हे भगवन् ! **त्वत्प्रसादार्जनोपायः** त्वत्प्रसादस्यातिविस्तीर्णागाधभवाम्बुधिपारगमनोत्पादनप्रत्यलभवत्प्रसादस्य यदर्चन सञ्चयन तस्योपायः

साधनम्, **विषयेन्द्रिय-संवरः**, विषयेन्द्रिययो· कर्मादानलक्षणव्यापारस्य निवारणं स्थगनं संवरः, "आस्रवनिरोधः सवरः" (९।१) इतितत्त्वार्थसूत्रम्, अस्य टीका—आस्रूयते समादीयते यैः कर्माष्टविधमास्रवांस्ते कर्मणां प्रदेशवीचयः शुभाशुभलक्षणा· कायादयस्त्रयः इन्द्रिय कषायाऽव्रतक्रियाश्च पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशतिसंख्यास्तेषा निरोधो निवारण स्थगन सवरः, उक्तसूत्रभाष्यं यथा—"यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्यास्रवस्य निरोधः सवरः' इति, एतट्टीका यथा षष्ठेऽध्याये—कायादिरास्रवोऽभिहितोऽनेकप्रकारः तस्य काययोगादेरास्रवस्य द्व्यधिकचत्वारिंशद्भेदस्य निरोधो य. संवरः, आत्मन. कर्मोपादानहेतुभूतपरिणामाभावः संवर इत्यभिप्राय., अतो यावत्किञ्चित् कर्मागमनिमित्तं तस्याभावः सवरः, स च सर्व-देशभेदाद् द्विधा, बादर-सूक्ष्मयोगनिरोधकाले सर्वसंवर·, शेषकाले चरणप्रतिपत्तेरारभ्य देशसवरपरिणतिभागात्मा भवति, अत्राह—यदि सकलास्रवद्वारस्थगनलक्षण. सवरस्ततः सर्वकर्मनिमित्तास्रवच्छिद्रसवुवूर्षा कतिपयपुरुषसाध्यैव प्रसज्यति, अशेषस्य परिस्पन्दस्य निराचिकीर्षितत्वात्, अत समचतुरस्रसस्थान-वज्रर्षभनाराचसहननादिभाजामाहितपराक्रमाणा कर्माणि निर्जिजीर्षता परिपूर्णशक्तिकाना परिस्पन्दस्वभावयोगत्रयनिग्रहः क्रमते, प्रागुपचितकर्मनिवृत्तिश्च न पुनरैदंयुगीनपुरुषाणा, यथोक्तसवराभावादिति उच्यते, सवरद्वैविध्ये सति सर्वसंवराभाव साम्प्रतिकानामित्यनुमनुमहे, देशसवरस्तु सामायिकादिचारित्रवतां सत्यपि परिस्पन्दवत्त्वे विदिततत्त्वाना ससारजलधेरुत्तरीतुमभिवाञ्छता प्रधानसवराभावेऽपि व्यस्त-समस्तप्रमादस्थानाना देशसवर. समस्त्येवेति, सवरोपायप्रतिपादकश्चेदम् "स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परिषहजयचारित्रैः" (९।२) इति तत्त्वार्थसूत्रम्, गुप्त्यादिस्वरूप च तत एवावसेय विस्तरभयान्नात्रोपदर्श्यते ॥२१॥

नित्यज्ञानवतो निष्क्रियस्य सतो न बन्धनिवृत्त्यात्मकमोक्षलक्षणकल्याणसम्भवः बन्धे सति तन्निवृत्तेर्भावादिति नित्यमुक्तस्वभाव ईश्वर इत्यङ्गीकारो न युक्तिमार्गानुगत इत्याशयेनाह—

यद्यज्ञान-क्रिये स्यातां स्याद् ज्ञान-समयोः शिवः ।
न हि मानादिवृत्तित्वात् पृथक् संवित्क्रमकथाः ॥२२॥

यद्यज्ञान-क्रिये इति । **यद्यज्ञान-क्रिये** अज्ञानं च क्रिया चाज्ञान-क्रिये यदीति सम्भावनायाम्, **स्याताम्** भवेताम्, तदेति यदिपदोपसन्दानाल्लभ्यते, **ज्ञान-समयोः** ज्ञानेन समौ ज्ञान-समौ तयोर्ज्ञान-समयोः, **शिवः** सर्वातिशायिबन्ध-निवृत्त्यात्मककल्याणलक्षणो मोक्षः, **स्यात्** भवेत्, अज्ञानमिह बन्धनिमित्त मिथ्याज्ञान, क्रिया च चारित्रस्वरूपा, एतेन मोक्षानुशासनं तदैव युक्त यदि पूर्वमास्रवानुशासनं संवरानुशासनं च कृतं भवेत्, एवमनुशासने नित्यज्ञानवान् निष्क्रियो न मुक्तः सम्भवतीत्यप्यनुशासित भवति, उभयोर्ज्ञानसाम्येऽपि यस्यैव सम्यक्चारित्रलक्षणा क्रिया तस्यैव शिवो न ज्ञानसम्पन्नस्यापि चारित्रहीनस्येति केवलज्ञानवाद-केवलक्रियावादयोरयुक्तताऽऽवेदिता ज्ञान-समयोरित्यनेन, या चास्रव-बन्ध-संवरादिनिरूपणमकृत्वैव प्रमाण-प्रमेयादिनिरूपणप्रवणा कथा सा वस्तुत· कथैव न भवतीत्याशयेनाह—न हीति, "संवित्क्रमकथा" इत्यस्य स्थाने 'संवित्क्रमा कथा" इति पाठो युक्तः । **हि** यतः, **संवित्क्रमाः** संविदो ज्ञानस्य क्रमो विभजनाद्यनुक्रमेण वर्णन यासु ताः संवित्क्रमा, **कथा** वाद-जल्प-वितण्डाद्यन्यतम-रूपवाग्व्यवहारा, **मानादिवृत्तित्वात्** मान-लोभ-मोह-क्रोधाश्रितत्वात् तदेक-पर्यवसितत्वात्, **पृथक्** विभिन्ना वस्तुस्वरूपनिरूपणप्रवणा, **न** नैव भवन्ति, अत एवादृश्या· कथा कथा एव न भवन्तीति वस्तुस्वरूपपरीक्षकैरुपेक्षणीया एव इति गूढाभिसन्धि ॥२३॥

मान-लोभादीना जन्मविशेषत· क्रमश· प्रवृत्तिर्युगपद्वा प्रवृत्तिरित्युपदर्शयति—

ममेदमहमस्येति समानं मान-लोभयोः ।
चतुष्टं युगपद् वेति यथा जन्मविशेषतः ॥२३॥

ममेदमिति । 'चतुष्ट' इति स्थाने 'चतुष्क' इति पाठो युक्त· । **मान-लोभयोः** जातिमान-कुलमान-पाण्डित्यमानादिभेदेन मानोऽभिमानगर्वादिशब्द-वाच्योऽनेकविध स्वापचित्यमहनप्रयुक्तक्रोधाविर्भावक इति मानेन क्रोधोऽप्युप-लक्षितो भवति, लोभ· योग्यादयोग्याद् वा दातु· सकाशाद् येन केनापि निन्दितेन विहितेन वा कर्मणा निरन्तरं द्रव्यग्रहणलोलुपत्वम् अनेन च स्वोपष्टम्भक· कामोऽपि सङ्कल्पप्रभव उपलक्षितो भवति, तयोर्मान-लोभयो·, ममेदं मन्निष्ठ-

स्वामितानिरूपितस्वत्ववदिदं धन-पुत्र-कलत्रादिकम् , ततश्च भावि नश्यत्विदमुत्तरोत्तरं वर्धतामित्यभिनिवेशः समुल्लसति, अहमस्य एतन्निष्ठस्वत्वनिरूपितस्वामितावानहम् एतदुपकर्तुमपकर्तुमन्यथाकर्तुमहमीष्टे इत्यभिमान इतः समुल्लसति, इति एव स्वरूपं प्रवर्त्तनं व्यवहरणम्, **समानं** तुल्यम् मानस्यापीत्थं भवितुमर्हति, लोभस्यापि क्रोधस्यापि ममेदमहमस्येति प्रवर्त्तनं किन्तु ममेदं धनमयमपहर्त्तुमिच्छतीति, मारयाम्येनमित्याद्यावेशः समुल्लसति, क्रोधाविष्टः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविकलः समुपजायते, कामस्य तु ममेदं भवतु अहमस्य स्वामी स्यादित्येवं प्रवृत्तिः संकल्पादुपजायते तत्रापि ममेदमहमस्येत्यंशो वर्त्तत इति क्रमेण प्रवृत्तिरर्थतः आयाति, **वा** अथवा, **चतुष्कं** प्रसिद्धत्वान्मानादिचतुष्टयम्, **युगपत्** समकालमेव स्वस्वाध्यवसायजननसमर्थं भवति, इदमित्थं कथमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह-**यथे**ति येन प्रकारेण, **जन्मविशेषतः** स्वस्वकारणसामग्रीप्रभवैककालोत्पत्तिविशेषादित्यर्थः, अथवा समानप्रवर्त्तनोपदर्शनेन युगपदेव मान-लोभयोः सम्भव उपदर्शितः पूर्वार्धेन, तस्यैवोपोद्बलनार्थमुत्तरार्धेन निदर्शनमाविष्कृतम्, यथा जन्मविशेषतो युगपदेव मानादिचतुष्टयं नासम्भवि तथा युगपन्मान-लोभद्वयाविर्भावो नासम्भवीति दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोजनेति, एतावता भवनिदानमोहसाम्राज्योपवर्णनेन तदुच्छेदेऽप्रमत्तेन यत्नवता पुरुषेण भाव्य येन शिवप्राप्तिः स्यादिति गूढाभिप्रायो व्यञ्जित इति ॥२३॥

रागो भवनिदानं, वैराग्यं शिवनिदानमिति रागो हेयः, वैराग्य चादेयमिति वस्तुस्थितौ स्याद्वादे क्वचिद् रागोऽप्युपादेयो भवति क्वचिद् वैराग्यमपि त्याज्यं भवतीत्यनेकान्त एव ज्यायानिति भावयति—

ममेदमिति रक्तस्य न नेत्युपरतस्य च ।
भाविकौ ग्रहण-त्यागौ बहुसाराल्पफल्गुषु ॥२४॥

ममेदमिति । **रक्तस्ये**ति बहुसाराल्पफल्गुषु येषु येषु वस्तुषु बहूनि साराणि इष्टसाधनानि अल्पानि च फल्गूनि निष्प्रयोजनानि तेषु, **ममेदं** इद मदानन्दजनकत्वात् मत्कार्यकारित्वादस्मत्स्वामिकम् इति एवं, **रक्तस्य** रागयुक्तस्य, **अस्य** ग्रहण-त्यागौ इत्यत्र ग्रहणेऽन्वयः, **च** पुनः, **न नेत्युपरतस्य** "मोक्षे भवे च

सर्वत्र निःस्पृहो मुनिपुङ्गवः” इति वचनाद् बहुसाराल्पफल्गुष्वपि वस्तुषु इदं न ममेदं न ममेत्येवमुपरतस्य सर्वतो निवृत्तस्य, अस्य त्यागेऽन्वयः, तथा च **बहुसाराल्पफल्गुषु** वस्तुषु ममेदमिति रक्तस्य ग्रहणं न ममेदं न ममेदमित्युपरतस्य त्याग इति **ग्रहण-त्यागौ** तत्तदुपादान-तत्तत्परित्यागौ, **भाविकौ** स्वाभाविकौ अत एव नवौ नियोग-पर्यनुयोगार्हावित्यर्थः, अथवा व्यवहारे यः कश्चित् पुमान् बहुसाराल्पफल्गुषु वस्तुषु ममेदमिति रक्तस्तस्य व्यवहर्तुं योग्योऽयमनेन सह व्यवहारो योग्य इतिकृत्वा व्यवहारिभिर्ग्रहणं, यः पुनः न ममेदं न ममेदमित्येवमुपरतः पुमान्, तस्य नायं व्यवहारे सामुख्यं भजति, नानेन सह व्यवहारे किमप्यभीष्टं सिद्ध्यति किमनेन व्यवहारपराङ्मुखेनेतिकृत्वा त्यागः, तौ ग्रहणत्यागौ भाविकौ स्वाभाविकौ न निरोद्धुं शक्यौ, नैतावता विरक्तस्य कापि क्षतिः मुक्तेः पर्यन्तेऽवश्यंभावादित्याशयः ॥२४॥

रक्तोपरतयोर्विशेषमुपदर्शयति—

अभिषिक्तस्य संन्यासक्रमात् पाश्चात्यदर्शनम् ।
शून्यैकविकृताभ्यासो रागिणां तु यथाश्रयम् ॥२५॥

अभिषिक्तस्येति । **अभिषिक्तस्य** गुरुणा मन्त्रादिनाऽन्तर्मलापनोदनार्थं स्नातस्य विरक्तस्य साधोः, **सन्न्यासक्रमात्** तत्तदापातभावेष्टविषयसुखपरित्यागक्रमात्, **पाश्चात्यदर्शनं** उत्तरकालिकं मोक्षसाधनं सम्यग् जिनमतश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमुपजायत इति शेषः, ततोऽवश्यं मोक्षो भवतीति भावः, **रागिणां** तु धन-पुत्र-कलत्रादिविषयासक्तचित्तानामागारिणामनागारिणामपि स्व-परिधान-स्वावासस्वशिष्य-स्वपरिव्राजिकादिरागविसंस्थुलान्तःकरणानां पुनः **यथाश्रयं** शून्यागारमन्दिरोपवनादिस्थानमाश्रित्य, **शून्यैकविकृताभ्यासः** एकान्तनिर्जनस्थानैकम्यमानकुत्सिताचरणानवरतव्यापारसन्ततिः भवतीति शेषः, एतादृशोक्तोभयविशेषोपदर्शनेन रागस्यानुपादेयत्वमुपरमस्य चोपादेयत्वमनुशासितमिति ॥२५॥

षड्विंशतितम-सप्तविंशतितमपद्याभ्यामुपदेष्टृकर्तव्यमनुशास्ति—

अनावातास्पदं द्विष्टमनुकूलैः प्रसादयेत् ।
निमित्तफलदारुण्यविवेकेभ्यश्च रक्षयेत् ॥२६॥

अनाघातास्पदमिति । **अनाघातास्पदम्** आघातश्च पेटा लगुड-प्रहारादिस्तदास्पद तद्योग्यमाघातास्पदम् ऊनषोडशवर्षं पुत्र-शिष्यादिकं सेवक-किङ्कर-शूद्रादिकं, न अघातास्पदमनाघातास्पद वयोवृद्धमातृ-मातुलादिकम्, एतादृशं **द्विष्टं** स्वविषयकद्वेषशालिन शत्रुम **अनुकूलैः** यद् यत तस्य रुचित भवति तथाविधवचनैः यं यं मित्रमाप्तं स्वहितकर मन्यते सः तैर्मित्रादिभिः तदिष्टा-च्छादन भोजनादिसम्पादनैश्च, **प्रसादयेत्** प्रसन्नं कुर्यात् येन स द्वेष परित्यज्य मैत्रीमेव वितनुयात, **च** पुनः, एवंकृतेऽपि यदि स्वस्वभावं द्विष्टत्वं न परित्यजेत् तथापि **निमित्तफलदारुण्यविवेकेभ्यः** एतान्निमित्तेनाय मा प्रति क्रुद्ध इति स्वयं परिभाव्य द्विष्ट प्रति तत्क्रोधनिमित्तस्य स्वरूपतो दारुण्यं पूर्वकृतकर्मप्रभाव-सहनशीलत्वोत्कटत्वं क्रोधफलस्य भर्त्सन-परुषवचन तर्जन-ताडनादेर्दारुण्यमेतद्भवीय-तत्प्रतीकारस्य रूपभर्त्सनादिकं भवान्तरे तदुपार्जितपापविरोधप्रभवासह्यनारकीय-यातनादिक तद्विविको विविच्य तत्स्फुटीकरणं तेभ्यः, **रक्षयेत्** परिपालयेत्, भवति हि दारुणक्रोधनिमित्ततत्फलादिश्रवणेन क्रोधोपशान्तितो द्विष्टसरक्षणमिति नोपदेशवैयर्थ्यमिति भावः ॥२६॥

द्विष्टगृह गत्वा द्विष्टस्य प्रसादनं रक्षण चाशक्यं यतो द्विष्टस्तदानीमेवमभि-मन्येत—अयं मां प्रबल ज्ञात्वा येन केनचिदुपदेशप्रकारेण प्रतारणासमक्षेण प्रसाद-यितुमिच्छति, नाह मूढ येनैतद्वचनेन प्रतारितो भवेयमिति स्वस्थाने आहूयापि तत्प्रसादनमशक्यम्, तत्रापि तस्यैवमध्यवसिति. स्यात द्विष्टं मां ज्ञात्वा तत्प्रती-कारासमर्थोऽयं यद्वा तद्वा प्रलपिष्यति असहाय एकाकी तत्राह किं कुर्यामिति न गन्तव्यमेवेत्यतः प्रसादने प्रकारान्तरमुपदर्शयति—

सुख-दुःखरसैर्भेद्यं व्यक्तोपनतकारणैः ।
प्रसादयेदुपाख्यानैः स्वैरासनमुखागतैः ॥२७॥

सुख-दु खरसैरिति । **सुख-दु खरसैर्व्यक्तोपनतकारणैः**, स्वैरासन-मुखागतैरुपाख्यानैः भेद्य प्रसादयेदित्यन्वयः, सुख च दु ख च सुख-दुःखे तयो रसश्चर्वण विभावानुभावसञ्चारिभावैरास्वादन येषु तानि सुख-दु.खरसानि तैः सुख-दु.ख-रसैः, व्यक्तं स्पष्टम् उपनतं प्रमाणतः प्राप्त कारणं सुख-दु खसाधनं व्यक्तोपनतं

कारण येषु तानि व्यक्तोपनतकारणानि तैः **व्यक्तोपनतकारणैः**, वरमासनं येषां ते स्वैरासना. स्वैरासनानां मुखानि स्वैरासनमुखानि स्वैरासनमुखेष्वागतानि स्वैरासनमुखागतानि तैः **स्वैरासनमुखागतैः**, **उपाख्यानैः** कथानकैः, **भेद्यं** स्वसमानद्विष्टनिकरात् पृथक्कर्तुं शक्यो भेद्यस्तम्, **प्रसादयेत्** प्रसन्नं कुर्यात् द्विष्टभावं पराणुद्यमित्रभावमानयेदिति यावत्, अत्र सुख-दुःखरसैरित्यनेन चमत्कृतिविशेषलक्षणकाम्यसाधनत्वेन तथाविधकथानकश्रवणे स्वत एव प्रवृत्तिरिति तच्छ्रवणार्थं नाह्वानापेक्षा, व्यक्तोपनतकारणैरित्यनेन कथान्तर्गतवचनत एव तत्कारणपरिज्ञानात् कथानकाभिनीयमानपुरुषादिषु कथं तेषां सुखं दुःखं वाऽभवदित्याशङ्काकलुषितचित्ततासाऽऽनन्दपरिपन्थिनी श्रोतुरपाकृता, स्वैरासनमुपागतैरित्यनेन यद्यच्छोतव्यतया भेद्यस्याप्यभिमतं तदप्यत्र सन्निविष्टमित्यनायास एवानन्दकन्दोल्लासनेन सुप्रसन्नता भेद्यस्यापि श्रोतुरवश्यम्भावनीत्याविष्कृतेत्ययं श्रेयान् प्रसादनप्रकार इति ॥२७॥

ननु स्वकपोलकल्पितकथानकेन किमिति प्रसादनं विधेयं, यावता शास्त्रे एव दर्शितः प्रसादनप्रकारः श्रावणीय इत्यत आह—

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् ।
दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे ॥२८॥

अप्रशान्तमताविति । **अप्रशान्तमतौ** अप्रशान्ता क्रोधाद्याविष्टत्वेन प्रकृष्टशान्तिरहिता मतिः बुद्धिर्यस्य स अप्रशान्तमतिः पुरुषः तस्मिन् अप्रशान्तमतौ, **शास्त्रसद्भावप्रतिपादनं** सन्तश्च समीचीनाश्च ते भावाः पदार्थाः सद्भावाः, शास्त्रे आगमे सद्भावाः शास्त्रसद्भावाः, शास्त्रसद्भावानां प्रतिपादनं शास्त्रे एते पदार्था इत्थं व्यवस्थिता इत्येव प्ररूपणम्, **दोषाय** क्रोधादिदोषोत्पत्तये, भवतीति शेषः तथा च दोषपोषकत्वादीदृगुपदेशस्त्याज्य एवेति भावः, अत्र निदर्शनमाह—**अभिनवोदीर्णे** इति तात्कालिकोत्पन्नेऽत्यन्ततरुण इत्यर्थः, **ज्वरे** वातपित्तश्लेष्माद्यन्यतमदोषसमुद्भवे ज्वराख्यरोगे, **शमनीयं** तन्निवृत्तिनिदानमौषधम्, **इव** यथा—

"ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम् ।
ज्वरान्ते रेचनं दद्याद् .... ॥६॥"

इति वचनादादावुपवास एव विधेयो न तु ज्वरोपशमनार्थमौषधं देयमिति तदानीं दीयमानमौषधं ज्वरप्रकोपायैव भवति, न तु तच्छान्तये तथा प्रकृतमपीत्यर्थः ॥ २८ ॥

उपदेशप्रकारमेवोपदर्शयति—

यदनासेवितं यस्य सेवितं वा स साधयेत् ।
तच्छेषानुपरोधेन प्रतिरूपार्पितं तपः ॥२९॥

यदनासेवितमिति । यस्य यत्पुरुषविशेषस्य, स्वगतदोषोपशान्तये स्वबलाद्याधानाय वा, यत् यत्किमपि साधनं, **अनासेवितं** पूर्वमननुष्ठितं, स पुरुषः **साधयेत्** तमेव साधनमुपयुञ्जीत, साधनान्तरं तु पूर्वमुपयुक्तं न तु तत्फलं किमपि लब्धमतस्तद्वदेवेदमपि निष्फलं भविष्यतीति किमस्यासेवनेनेति बुद्धया न तदुपेक्षेतेति भावः, **वा** अथवा, **सेवितं** यत् साधनं पूर्वमनुष्ठितं किन्तु तदासेवनप्रकारोऽपथ्यं परिवर्जनादि सम्यक्कृतः, तस्मात् कारणान्न सम्यक् फलप्रदं तदभूदिदानीं तु सम्यगुपयोगोऽत्र विधेय इति बुद्धया साधयेत् सम्यगनुतिष्ठेत्, साङ्गे कर्मणि चिकित्सादिकेऽनुष्ठिते फलं भवति, निरङ्गं तदनुष्ठितं तत्प्रतिरूपकं, न तु तदेवातस्तस्य निष्फलत्वं न दोषावहमित्याह—तच्छेषेति, **तच्छेषानुपरोधेन** तदङ्गानासेवनेन, **तपः** उपवासादिकम्, **प्रतिरूपार्पितम्** प्रतिनिधिस्थानीयम् तत् सम्पूर्णं फलमदत्त्वाऽपि यत्किञ्चित्फलांशप्रदानेन तदाचरणमिव भवतीत्यर्थः ॥२९॥

यत्र नातिचारादिदोषोपनिपातस्तत्पूर्वं परित्यक्तमपि पुनरासेवनीयमित्याह—

यदुत्सृष्टमयत्नेन पुनरेष्यं प्रयत्नतः ।
तत्साधनं वा तादृक्षं न हि सोपधयो बुधाः ॥३०॥

यदुत्सृष्टमिति । यत् किमपि सम्भावितं कर्म, **अयत्नेन** सम्यक् तत्कर्मसम्पादनानुगुणप्रयत्नाकरणेन, **उत्सृष्टं** परिपूर्णस्वरूपमसम्पाद्यैव परित्यक्तम्, यदि तदानीमनिष्पन्नं तदंशनिष्पादने प्रयत्नवान् भवेत् तदा तत्फलमासादयेदेवेत्यभिसन्धि, **पुनः** तत्फलेच्छाप्राबल्ये पुनः, **प्रयत्नतः** महत्तरप्रयासतः, **एष्यम्** उत्तरकाले सम्भाव्यमानोत्पत्तिकम्, **वा** अथवा, **तत्साधनं** तत्कर्मानुगुणोपायसाधनम्, **तादृक्षं** पूर्वं बह्वंशनिष्पादितमप्यालस्यादितो विशिष्टप्रयत्नाकरणेन परित्यक्तं पुनस्तत्फलेच्छाप्राबल्यान्महता प्रयासेनोत्तरकाले सम्भाव्यमानोत्पत्तिकम्, हितं कर्म तत्साधनं वा परित्यक्तमपि पुनरासेवितव्यमेव, न तु तत्रोपेक्षाकर्त्तव्ये-

त्यत्र हेतुमाह—**न** हीति, **हि** यतः, **बुधाः** पण्डिताः, **सोपधयः** उपधिर्ग्रन्थिः नानाविधाभिलषितवस्तुसञ्चयनम् इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाबाहुल्यं वा, तेन सहिता, **न** भवन्ति, किन्तु यत्साधनेन हितनिर्वहणं भवति तदेवैकं साधयन्ति तद् यावता कालेन सम्पद्यते तावत कालं तदुपायं न परित्यजन्ति तदेकलीनचित्ता महताऽपि प्रयत्नेन तत् साधयन्त्येव, यद्येकजन्मसाध्यं तन्न भवेत् तथाप्यामरणं तत्प्रयत्नतो न विचलन्ति धीरा, एवं जन्मान्तरे तत्संस्कारबलात् पुनस्तत्प्रयत्नसम्भारेण तत् सम्पादयन्त्येव, तदुक्तमन्येनापि — "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इति ॥३०॥

यो यस्मिंस्तीर्थे वर्त्तते तस्य तत्तीर्थपरिपालनमवश्यं कर्त्तव्यमित्युपदिशति—

नातिकृच्छ्रतपःसक्ता मनश्छागवदुत्सृजेत् ।
कुशीलान् वा विदग्धांश्च तीर्थं तच्छेषपालनम् ॥३१॥

नातिकृच्छ्रेति । 'तपःसक्ता' इत्यस्य स्थाने 'तपःसक्तः' इति पाठो युक्तः । कृच्छ्रातिकृच्छ्रादिकं तपः शास्त्रविहितं यद्यपि कर्त्तव्यं भवति तथापि तीर्थसंरक्षणं विधायैव तत् कर्त्तव्यमन्यथा तीर्थोच्छेदे तीर्थकर्तुराशातना कृता भवेदित्याशयेनाह— **अतिकृच्छ्रतपःसक्तः** अतिकृच्छ्रतपसि सक्तः आसक्तिमान् तत्रार्पितकरणोपकरणः पुरुषः, **छागवत्** अजमिव, **मनः** मानसं, **न उत्सृजेत्** न परित्यजेत्, यत्र तत्र मनो गच्छतु किं तेनेत्येवमुपेक्षां न विदधीत, **कुशीलान्** कुत्सितं निन्दितं शीलमाचरणं येषां ते कुशीलास्तान्, **वा** अथवा **विदग्धांश्च** पण्डितान्, चकारादन्यान् पुनः, **तीर्थं** चतुर्विधसङ्घान्तर्गतत्वेन तीर्थं परिपालयेदिति शेषः, यतः **तच्छेषपालनम्** तीर्थाङ्गरक्षणं शास्त्रविहितम् एतदर्थं तीर्थे मनसः स्थिरीकरणमावश्यकमित्याशयः ॥३१॥

इत्थं शासनमनुतिष्ठतोऽन्ते निर्वाणमवश्यमेव भविष्यतीत्युपदिशति—

यावदुद्वेजते दुःखान्निर्वाणं चाभिमन्यते ।
तावन्मोहसुखारूढाः स्वयं यास्यन्त्यतः परम् ॥३२॥

यावदुद्वेजते इति । 'सुखारूढाः' इत्यस्य स्थाने 'सुखारूढः' इति, 'यास्यन्त्यतः' इत्यस्य स्थाने 'यास्यत्यतः' इति पाठो युक्तः । **यावत्** यावत्कालं, **दुःखाद्**

उद्विजते दुःखादुद्विग्नो भवति, **च** पुनः, **निर्वाणं** मोक्षम्, **अभिमन्यते** स्वीकरोति, दुःखं मा भवतु मोक्षसुखं च जायतामिति यावत्पर्यन्तं भवतीत्यर्थः, **तावन्मोहसुखारूढः** तावत्कालपर्यन्तं मोहप्रभववैषयिकसुखारूढो जनः यतः तस्य दुःखादुद्वेगो जातः वैषयिकसुखवितृष्णा तु समुद्भूता, तस्यां सत्यां तु वैषयिकसुखादप्युद्वेगोऽस्य भवेत्, अतः परं एतदनन्तरं यत् प्राप्तव्यं, **निर्वाणं** तत्, **स्वयं** स्वव्यापारप्रभवकेवलज्ञान-केवलदर्शन-चारित्रात्मकमोक्षमार्गप्राप्तित, **यास्यति** निर्वाणस्थानमुपेष्यति, **अतः परं** किञ्चित् कर्त्तव्यमवशिष्यत न इति भावः ॥३२॥

अष्टादशी शासनमञ्जुलेयं द्वात्रिंशिका गूढरहस्यतत्त्वा ।
लावण्यसूरेर्गुरुभक्तिमात्राद् व्याख्या प्रकृत्याऽस्तु मुदे बुधानाम् ॥

इति अष्टादश्या द्वात्रिंशिकाया व्याख्या समाप्ता ॥

एकोनविंशतितमी निश्चयद्वात्रिंशिका ।

यद्बोधो न विशेषतत्त्वकलने कुत्रापि मन्दः प्रभो !
सो सामान्यविभावनेऽपि निखिले तत्त्वे मर्मे कुण्ठितः ।
तं तीर्थङ्करमिष्टदं च सकलं नत्वा तनोत्यादराद्
व्याख्यां जैनमतार्थसार्थविमलां लावण्यसूरिर्वराम् ॥

ज्ञानमेकं मोक्षसाधनमित्येके, दर्शनमात्रं मोक्षनिदानमित्यपरे, चारित्रमात्रमपवर्गसाधनमित्यन्ये इत्येवं बहवो मतभेदा एतद्विषये सन्ति, किन्तु स्याद्वादनिष्णाता ज्ञान-दर्शन-चारित्राणां त्रयाणां परस्परसहकृतानां मोक्षसाधनत्वं नैकैकस्येति व्यवस्थापितवन्तस्तेषां स्वरूपलक्षणविभजनानि कृतवन्तश्च, वाचकप्रवराः श्रीमन्त उमास्वातिभगवन्तो ज्ञानादीनां त्रयाणां समकक्षतया मोक्षसाधनत्वप्रतिपत्तये 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः.' इति सूत्रं सूत्रयामासुः । धर्मार्थ-काम-मोक्षेषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्षस्यैव परमपुरुषार्थत्वमिति तत्साधननिरूपणमेव प्रथमत आवश्यकमिति मत्वा तन्निरूपणमेव प्रथमतः कृतवन्तः इति प्रकृते एकोनविंशतितमीं द्वात्रिंशिकामारभमाणः सूरिप्रवरः श्रीसिद्धसेनदिवाकरो भगवान् मोक्षमार्गज्ञानादिप्रतिपत्तये इदमाद्यं पद्यमाह—

ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः ।
अन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वाच्छुद्धावगमशक्तयः ॥१॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्राणीति । उपयोगलक्षणो जीवः, उपयोगश्च बोधः स च सामान्य-विशेषोभयात्मकं वस्तुस्वरूपं गृह्णन्नेवात्मलाभं लभते, तत्र वस्तुनो यो देश-कालाद्यननुगतः स्वभावः स सामान्यं तद्ग्राहक उपयोगो दर्शनमुच्यते तत्र ज्ञानं मति-श्रुतावधि-मनःपर्यव-केवलज्ञानभेदेन पञ्चविधम्, चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शन-केवलदर्शनभेदेन दर्शनं चतुर्विधम् मनःपर्यवोपयोगो विशेषविषयक एवेति मनःपर्यवज्ञानमेव न तु मनःपर्यवदर्शनम्, चारित्रं संयमः सामायिकसंयम-छेदोपस्थाप्यसंयम–परिहारविशुद्धिसंयम– सूक्ष्मसंपरायसंयम – यथाख्यातसंयमभेदेन पञ्चविधं चारित्रम्, एतत्स्पष्टीकरणं तत्त्वार्थवृत्तावित्थम्–'सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं

सामायिकम्, तद्विशेषा एव छेदोपस्थाप्यादय, विशुद्धतराध्यवसायविशेषा· सावद्ययोगविरतेरेव, तत्र शब्दनिर्भेद·-राग-द्वेषविरहित· सम·, अयोगमनम् सकल-क्रियोपलक्षणमेतत्, सर्वैव क्रियासाधोररक्तद्विष्टस्य निर्जराफला, समस्याय· समायः समाय एव सामायिकमिति स्वार्थिक· ठक्, समये वा भव सामायिक समायेन निर्वृत्तं सामायिकम्, समायस्य वा विकार· तन्मयः समायः स प्रयोजनमस्येति वा, सर्वत्र यथाऽभिप्रेतेऽर्थे ठक्, तच्च सामायिक द्विप्रकारम्—इत्वरकाल, यावज्जीविकं च, तत्राद्यं प्रथमान्त्यतीर्थकरतीर्थयो· प्रव्रज्याप्रतिपत्तावारोपितं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनविदः श्रद्दधतः छेदोपस्थाप्यसंयमारोपणविशिष्टतरत्वाद् विरते सामायिक-व्यपदेशं जहातीत्यत इत्वरकालम् ।

मध्यमतीर्थकृता विदेहक्षेत्रवर्त्तिना च यावज्जीविकं प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्य—आप्राणप्रयाणकालादवतिष्ठते, प्रथमान्त्यतीर्थकरशिष्याणां सामान्यसामायिक-पर्यायच्छेदोविशुद्धतः सर्वसावद्ययोगविरताववस्थानं विविक्ततरमहाव्रतारोपणं छेदोपस्थाप्यसंयमः, छेदोपस्थापनमेव छेदोपस्थाप्यम्, पूर्वपर्यायच्छेदे सति उत्तरपर्याये उपस्थापनं भावे यतो विधानात् तदपि द्विधा निरतिचार-सातिचारभेदेन तत्र शिक्षकस्य निरतिचारमधीत—विशिष्टाध्ययनविदः मध्यमतीर्थकरशिष्यो वा यदोपसम्पद्यते चरमतीर्थकरशिष्याणामिति, सातिचारं तु भग्नमूलगुणस्य पुनर्व्रतारोपणात् छेदोपस्थाप्यम्, उभयं चैतत सातिचारं निरातिचारं च स्थितकल्प एव, आद्यन्ततीर्थकरयोरेवेत्यर्थः, परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धं परिहारविशुद्धिक चेति तदपि द्विधा—निर्विश्यमानकं निर्विष्टकायिक च, तत्र निर्विश्यमानकमासेव्यमानकम् परिभुज्यमानकमित्यर्थः निर्विष्टकायिकमासेवितमुपभुक्तम्, तत्सहयोगात् तदनुष्ठायिनोऽपि निर्विश्यमानका, ताच्छील्ये शक्तौ वा चानश्, निर्वेशः उपभोग, निर्विश्यमानकास्तद् उपभुञ्जानाः, निर्विष्टकायिकास्तु निर्विष्ट कायो येषामस्ति ते निर्विष्ट-कायिकास्तत्सहयोगात् तेनाकारेण तपोऽनुष्ठानद्वारेण परिभुक्तः कायो यैरिति परिभुक्तादृग्विधतपस· निर्विष्टकायिका इत्यर्थः ।

परिहारविशुद्धिक च तपःप्रतिपन्नाना नवको गच्छः । तत्र परिहाराचारिणश्चत्वारोऽनुपरिहारिणोऽपि चत्वार·, कल्पस्थित एक· वाचनाचार्य इत्यर्थः । सर्वेऽपि ते श्रुताद्यतिशयसम्पन्नाः तथापि रूढ्या कल्पस्थित एक· कश्चिदवस्था-

प्यते, तत्र ये कालेमेऽन विहिन तपोऽनुतिष्ठन्ति ते परिहारिणः । नियताचाम्लभक्तास्त्वनुपहारिणस्तेषामेवाभिसारा· तपोम्लानाना परिहारिणा सहायके वर्त्तन्ते, कल्पस्थितोऽपि नियताचाम्लभक्त एव, तच्च तप· परिहारिणां ग्रीष्मे चतुर्थषष्ठाष्टमभक्तलक्षण जघन्य-मध्यमोत्कृष्टं क्रमेणैव, शिशिरकाले षष्ठाष्टमदशमानि जघन्य-मध्यमोत्कृष्टानि, पारणाकालेऽप्याचाम्लमेव पारयन्ति, उक्तविधानं तपः षण्मास कृत्वा परिहारिणोऽनुपरिहारित्वं प्रतिपद्यन्ते अनुपरिहारिणश्च परिहारिणो भवन्ति, तेऽपि षण्मासान् विदधते तत् तप·, पश्चात् कल्पस्थित एकाक्येव षण्मासावधिक परिहारतप प्रतिपद्यते, तस्य चैकोऽनुपरिहारी भवति, तन्मध्येऽपरश्चैकः कल्पस्थित इत्यादि, एवमेव परिहारविशुद्ध· सयमोऽष्टादशभिर्मासै परिसमाप्तिमुपयाति, परिसमाप्ते तु तस्मिन् पुनस्तदेव केचित् परिहारतप· प्रतिपद्यन्ते, स्वशक्त्यपेक्षा, केचिद् वा जिनकल्पम्, अपरे तु गच्छमेव वा विशन्तीति । परिहारविशुद्धिकाश्च स्थितकल्प एव प्रथम-चरमतीर्थकरतीर्थयोरेव, न मध्यमतीर्थेष्विति ।

सूक्ष्मसंपरायसयमस्तु श्रेणिमारोहत· प्रपततो वा भवति, श्रेणिरपि द्विप्रकारा:- औपशमिकी क्षायिकी च, तत्रौपशमिकी अनन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्वादित्रयं नपुंसक-स्त्रीवेदौ हास्यादिषट्कं पुंवेद·, अप्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति, अस्याश्चारम्भकोऽप्रमत्तसंयत, अपरे तु ब्रुवते—अविरतदेश-प्रमत्ताप्रमत्तविरतानामन्यतम प्रारभते स चानन्तानुबन्धिनश्चतुरोऽपि समकमेव शमयति अन्तर्मुहूर्त्तेन, ततो दर्शनत्रिकं ततोऽनुदीर्ण पुमानारोहन् नपुंसकवेदं, तत· स्त्रीवेदम्, योषिदारोहन्ती प्राग् नपुसकं वेद, ततः पुरुषवेद, ततोऽपि हास्यादिषट्क, तत· (नपुसक) पुंवेद, ततोऽप्रत्याख्यानाना प्रत्याख्यानावरणाना च युगपदेव द्वौ क्रोधौ संज्वलनक्रोधान्तरितौ शमयति, पश्चात् संज्वलनक्रोधम् पुनर्द्वौ मानौ, पश्चात् सज्वलनमानम्. पुनर्द्वे माये, तत सज्वलनमायाया पुनर्द्वौ लोभौ, पश्चात् संज्वलनलोभम्, सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा क्रमेण चोपशमय्य पश्चिमखण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, ततः प्रतिसमयमसङ्ख्येयभागमुपशमयन् समस्तमन्तर्मुहूर्त्तेन शमयति, तांश्चासङ्ख्येयभागान् शमयन् सूक्ष्मसपरायसंयमी भवति, अत्यन्तविशुद्धाध्यवसायो दशमगुणस्थानवर्त्ती, श्रेण्यारोहे च वर्धमानविशुद्धाध्यवसायस्य विशुद्धभवतरतः संक्लिष्टम् सूक्ष्मः श्लक्ष्णावयवः सपराय· कषायः ससारभ्रान्तिहेतुर्यत्र तत्सूक्ष्म-

संपरायम्, स चोपशान्तकषायोऽपि स्वल्पप्रत्ययलाभात् दवदग्धाङ्गनद्रुमवदु-दकासेचनादिप्रत्ययलाभादङ्कुरादिरूपेण भस्मच्छन्नादिवद् वा वाय्विन्धनादि-प्रत्ययतः स्वरूपमुपदर्शयति, तद्वदसौ मुखवस्त्रिकादिषु ममत्वसमीरणेन सन्धुक्षमाणः कषायाग्निश्चरणेन्धनमामूलतो दहन् प्रच्याव्यते प्रतिविशिष्टा-ध्यवसायादिति, क्षायिकी तु श्रेणिरनन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानि अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणाः नपुंसक-स्त्रीवेदौ हास्यादिषट्कं पुंवेदः संज्वलना-नाश्च, अस्याश्चारोहकः अविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्ताविरतानामन्यतमो विशुद्धयमाना-ध्यवसायः स चानन्तानुबन्धिनो युगपदेव क्षपयत्यन्तर्मुहूर्त्तेन, ततः क्रमेण दर्शनत्रिकं, ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणांश्च, युगपदेव क्षपयितुमारभते, विमध्यभागे चैषामिमाः षोडशप्रकृतीः क्षपयति नरक-तिर्यग्गती एतदानुपूर्व्यौ एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातीया तपोद्द्योत-स्थावर-साधारण-सूक्ष्मनामानि, ततो निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिः ततोऽष्टाना शेषं, ततोऽनुदीर्ण, वेदजघन्यं पूर्ववत् हास्यादिषट्क ततोऽभ्युदित वेदं, ततः संज्वलनानामैकैकं क्रमेण क्षपयति, सावशेषे च पूर्वसंज्वलनकषाये उत्तरं क्षपयितुमारभते, सर्वत्र पूर्वशेष चोत्तरेणैव सह क्षपयति, यावत् सज्वलनलोभसख्येयभागः तमपि सङ्ख्येयभागमसङ्ख्यानि खण्डानि कृत्वा प्रतिसमयमेकैकं खण्ड क्षपयति तदा सूक्ष्मसपरायसयमी भवति ।

समस्तमोहनीयोपशमे तु एकादशगुणस्थानप्राप्त उपशान्तकषायो यथाख्यात-संयमी भवति, क्षपकस्तु सकलमोहार्णवमुत्तीर्णो निर्ग्रन्थो यथाख्यातसयमी जायते । अथशब्दो यथाशब्दार्थे यथाख्यातसयमो भगवता तथाऽसावेव कथं च ख्यातः? अकषायः स चैकादश-द्वादशयोर्गुणस्थानयोः उप-शान्तत्वात् क्षीणत्वाच्च कषायाभाव इति एवं पञ्चविधं चारित्रमष्टविधकर्म च परिक्तिकरणादिति, एतानि पञ्चापि चारित्राणि सवरविशेषा. निर्ग्रन्थानां भवन्ति, पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकभेदेन पञ्चविधा निर्ग्रन्थाः, एतेषामवगम आकरवो विधेयः । अथ प्रकृतम् निरूपितस्वरूपाणि-**ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि उपायाः** अष्टविधकर्मक्षपणोपायाः, तत्र चारित्रस्य पञ्चविधस्योपदर्शनतो निरुक्त-कर्मक्षपणोपायत्वं भवित, ज्ञान-दर्शनयोस्तूपयोगविशेषरूपयोरनुपयोगप्रभवावरणक्षय-

निदानत्वम्, यत्र ज्ञान न तत्राज्ञानमिति परस्परविरोधादेव सम्भवति । 'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इति गौतमसूत्रे मिथ्याज्ञानस्य बन्धनिदानस्य तत्त्वज्ञानतः प्रथमतो विनाशो विरोधादेव भावितः, यद्यपि जैनमते ज्ञान-दर्शनयोः स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमक्षयप्रभवत्वमिति प्रथमं ज्ञानावरणादिकर्मक्षयोपशमक्षयान्यतमसमुत्पत्तौ तदनन्तरं ज्ञान-दर्शनयोरुत्पत्तिस्तथापि घातिकर्मचतुष्टयक्षयसमुत्थः केवलोपयोगोऽघातिकर्मचतुष्टयं विनाशयति ततश्चाष्टविधकर्मक्षयलक्षणस्तदुत्थपरमानन्दस्वभावो वा मोक्ष उपजायत इति भवति अनर्थनिवृत्तिनिदानत्व केवलोपयोगस्येति, ज्ञानसामान्यं दर्शनसामान्यं चरणसामान्यं च न मोक्षसाधन किन्तु सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यग्चारित्र च तथा तान्येव चानर्थाष्टविधकर्मक्षयोपाया इति ज्ञान-दर्शन-चारित्राणीत्यनेन सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्राणि ग्राह्याणि इत्येतदर्थमेवोपाया इति ज्ञान-दर्शन-चारित्राणीत्यस्य विशेषणतयोपात्तम्, अन्यथा उपायशब्दः साक्षात्परम्परा-कारणवचनः, कारणत्वं च स निरूपकमिति, कस्यैतानि साक्षाद् वा परम्परया वा कारणानीति जिज्ञासाया **शिवहेतव** इति वाक्यसन्निधानाच्छिवस्योपायाः शिवस्य हेतवः इत्यर्थतः पौनरुक्त्य प्रसज्येतेति, शिवहेतवः शिवस्य परमकल्याणस्वरूप-मोक्षस्य जनकाः ननु एकैकस्य सम्यग्ज्ञानादेः सत्त्वेऽपि न मोक्ष इत्यन्वय-व्यभिचारान्न सम्यग्ज्ञानत्वादिना प्रत्येकरूपेण तेषा मोक्षकारणत्वं, किन्तु सम्यग्-ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रैतत्त्रितयपर्याप्तसमुदायत्वं विशेषरूपेण, कारणतावच्छे-दकैक्याच्च कारणताया ऐक्यमिति शिवहेतुत्वगतैकत्वविवक्षया शिवसाधनमित्येव वक्तुमुचितं न तु शिवहेतव इति अत एव तत्त्वार्थे "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इति सूत्रं मोक्षजनकप्रतिपादकैकवचनान्तमोक्षमार्गपदघटितं सूत्रयामासु-रुमास्वातिवाचकप्रवराः अभेदान्वयस्थले विशेष्य-विशेषणवाचकपदयोः समानवचनत्व-नियमस्य तथापि न व्याघातः, वेदाः प्रमाणम्, शतं ब्राह्मणाः—

"शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यपेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ १ ॥"

इति श्लोकव्याख्यानगत इति त्रयः समुदिता हेतुर्न ते हेतव इति काव्यप्रकाशादिदर्शनानुरोधेन यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याया

अविवक्षितत्वं तत्र विशेष्य-विशेषणवाचकपदयोः समानवचनत्वमित्यत्रैवोक्त-नियमस्य पर्यवसानात् यथा च 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यत्र प्रमाणत्वगतमेकत्वं विवक्षितम्, 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यत्र शतत्वगतमेकत्वं विवक्षितं त्रयः समुदिता हेतुरित्यत्र हेतुत्वगत-मेकत्वं विवक्षितमिति विशेष्य-विशेषणवाचकपदयोरसमानवचनत्वेऽपि नोक्तनियम-व्याहतिस्तथा प्रकृतेऽपीति चेत्, सत्यम्, स्वातिरिक्तप्रकृतकार्यसकलकारणसमवधाने सति तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयस्तदभावे तदभावो व्यतिरेक इत्येवमन्वय-व्यतिरेकौ सहकारिवादरक्षणार्थं स्वीकृत्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरो नव्यतार्किकप्रधानः शिवहेतव इति बहुवचनान्तमेव विशेषणपदमुक्तवान् अन्यथा दण्ड-सलिल चक्रमृत्पिण्डकुला-लादीनामप्येकैकस्य तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमित्येतावन्मात्रान्वयव्यभिचाराद् दण्डादिसकल-कारणपर्याप्तसमुदायत्वविशेषेणैव कारणत्वमिति सहकारिवाद उच्छिद्येत, किञ्च समुदायत्वमप्येकविशिष्टापरत्वमेव नातिरिक्तमिति सम्यग्ज्ञानविशिष्ट-सम्यग्दर्शन-विशिष्ट-सम्यक्चरणत्वं, सम्यग्दर्शनविशिष्ट-सम्यग्ज्ञानविशिष्ट-सम्यक्चरणत्वं, सम्यक्-चरणविशिष्ट-सम्यक्ज्ञानविशिष्ट-सम्यक्दर्शनत्वं नोक्तसमुदायत्वमित्यत्र विनिगमना-विरहेण विशेषण-विशेष्यभावभेदाद् भेदस्य चावश्यकत्वेन सर्वेषामेवोक्तविशिष्ट-रूपाणा समुदायत्वाना शिवहेतुत्वावच्छेदकत्वमित्येव तत्राप्यवच्छेदकभेदेन हेतुत्वं विभिन्न न त्वेकान्तेनैक्यमितिवद् गतसङ्ख्याविवक्षायामपि बहुवचनमावश्यकमिति शिवहेतव इति बहुवचनान्तं वचन युक्तमेवेति, ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणा उपायाः शिवेहतव इत्येव कथमित्याकाङ्क्षायामाह—**अन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वाद्** इति ज्ञानस्य विषया विशेषा अननुगता व्यावृत्तस्वरूपाः दर्शनस्य विषयः सामान्य-मनुवृत्तिबुद्धिहेतुरनुगतस्वरूपं तयोर्विरुद्धधर्मालिङ्गितत्वेन परस्परप्रतिपक्षत्व तद-वगाहनस्वभावयोर्ज्ञान-दर्शनयोरपि परस्परप्रतिपक्षत्वम् तदवगाहनस्वभावयोर्ज्ञान-दर्शनयोरपि परस्परप्रतिपक्षत्वम् एतौ चाक्रियारूपौ, क्रियारूपं च चरणमिति तदु-भयप्रतिपक्षत्वं चरणस्य चरणप्रतिपक्षत्वं च तयो स्वरूपतः ज्ञानावरणीयकर्म-क्षयोपशम-क्षयकारणकत्वं ज्ञानस्य दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमादिनिमित्तत्वं दर्शनस्य, मोहनीयादिक्षयोपशमादिनिमित्तकत्वं चरित्रस्येति कारणानामन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वात् तत्कार्याणामपि परस्परप्रतिपक्षत्वमित्येवं परस्परप्रतिपक्षत्वात्, **शुद्धावगम-शक्तयः** शुद्धस्य ज्ञानावरणीयादिमललक्षणाशुद्धिरहितस्यात्मनः योऽवगमः स्वस्व-

रूपावस्थानलक्षणा प्राप्तिः तदनुकूलशक्तिमन्त, यदि चैषामन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वं न भवेत् तदा ज्ञानकर्णाये ज्ञानावरणीयक्षयोपशमादौ साहाय्यमेव दर्शनेन चारित्रेण च करणीय स्यान्न तु स्वातन्त्र्येण यत् कर्त्तव्य दर्शनावरणीयक्षयोपशमादिकं समुद्घात च तन्न स्यात्, ज्ञानस्य यत्कर्तृकार्यविशेषकरणस्वरूपं तदेव दर्शनादेरपीति आत्मनो विशेषांशे आवरणमलापगमलक्षणविशुद्धेर्भावेऽपि सामान्यांशे आवरणमलदिग्धत्वलक्षणाशुद्धेरेव भावात् य एवमेव दर्शनादिकरणीये दर्शनावरणीयक्षयोपशमादौ ज्ञानादेरपि सहायकत्वस्यैवावाप्त्या साधारणकार्यविशेषाकरणं प्रसज्येतेति, सा च शक्तिर्नैकोक्तत्रितयसाधारणी, किन्तु विभिन्नैवेति न तल्लक्षणावच्छेदकैक्यात् तत्स्वरूपत्वाद् वा शिवहेतुत्वस्यैक्य किन्तु विभिन्नत्वमेवेति शक्तिमत्वेन कारणत्वं शक्तिरेव वा कारणत्वमिति पक्षयोरपि न शिवहेतुत्वमेकमित्यतोऽपि शिवहेतव इति बहुवचनान्तमेव युक्तमिति ॥१॥

ज्ञानस्याप्यवान्तरबहुभेदशालित्वात् तच्छक्तीनामनेकत्वमिति भावयन् ज्ञानस्वरूपं निरूपयति—

ज्ञानं देहादिविषयं व्यक्तिमात्रमविग्रहः ।
मनसः संशयापायस्मृतिदर्शनशक्तयः ॥२॥

ज्ञानमिति । "अविग्रह." इत्यस्य स्थाने "अवग्रह." इति पाठो युक्तः । **ज्ञानम् अवग्रहः** अवग्रहेहावाय-धारणाभेदेन मतिज्ञानं चतुर्विधम्, तत्र **देहादिविषयं** शरीरादिविषयकम्, अन्धकारे स्थितस्य पुरुषस्य घटादिविषयकचक्षुरादिज्ञानाभावेऽपि त्वगिन्द्रियेण स्वशरीरज्ञान भवति एव घटादयो न नियताः शरीर तु यत्र कुत्रापि गतस्य पुरुषस्य सन्निहितमेवेत्यतस्तस्योपादानं आदिपदाद् घटादेर्ग्रहणम्, **व्यक्तिमात्रम्** अभिव्यक्तिमात्र किञ्चिदस्तीति सत्तासामान्यमात्रावगाहि ज्ञान देहादिकं यद्यप्यतिसन्निहितं स्फुटावभासनयोग्यं तथापि प्रथमतस्तज्ज्ञानं महासत्तासामान्यमात्रावग्राह्येवोपजायते, तदवग्रह. व्यञ्जनावग्रहार्थावग्रहभेदेनावग्रहो द्विविध तत्राप्राप्यकारिणोश्चक्षुर्मनसोर्व्यञ्जनावग्रहो न भवति तयो. प्रथमत एवार्थावग्रहो भवति प्राप्यकारिणा त्वगादीन्द्रियाणां तु प्रथमतो व्यञ्जनावग्रहस्ततोऽर्थावग्रह इति विवेक, एतदवग्रहज्ञानानन्तर चक्षुरादीन्द्रियाणामपि संशयदिज्ञानं भवति किन्तु संशये कोऽप्यन्तरस्य मानं न

मनोव्यापारमन्तरेण, तस्मिन्नसन्निहिते साक्षाच्चक्षुर्व्यापारासम्भवाद् अत आह–**मनस** इति मति-श्रुतावधि मनःपर्यवकेवलज्ञानभेदेन ज्ञानं पञ्चविधम्, तत्र इन्द्रियजमनिन्द्रियजमिति द्विविध मतिज्ञानम्, तत्र इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च, तज्जन्यं ज्ञानमिन्द्रियजम्, अनिन्द्रिय मनस्तज्जन्य ज्ञानमनिन्द्रियजम्, तदुभयं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्, निश्चयतस्तु परोक्षमेव, परोक्षापरोक्ष-भेदेन प्रमाणं द्विविधम्, तत्र मति-श्रुते परोक्षे, अवधि-मनःपर्यवज्ञानानि प्रत्यक्षाणीति, तत्र द्विविधस्य मतिज्ञानस्यावग्रहेहावाय-धारणाभेदेन चतुर्विधत्वम्, एवमपि बहिरिन्द्रियजज्ञानेऽपि मनसोऽस्ति व्यापार इति तस्य प्राधान्यख्यापनार्थं मनस इत्युपादानं चक्षुरादीनामपि संशयादिशक्तय. सम्भवन्त्येवेति बोध्यम्, अवग्रहाव्यवहितोत्तरकालमीहाव्यवहितपूर्वसमये संशयो भवत्येव, एव च सशय-मुपादाय पञ्चविधत्वं मतिज्ञानस्य, किन्तु प्रमाणतया मतिज्ञानोपदर्शने सशयस्य निश्चयात्मकप्रमाणविरोधिस्वभावत्वेन न परिगणनम्, सामान्यग्रहणादिलक्षणाव-ग्रहादीनां न प्रमाणविरोधिस्वभावतेति तेषां तत्र परिगणनम्, अवग्रहमारभ्य धारणापर्यन्तं दीर्घ एकोपयोगो मतिज्ञानमित्यभ्युपगमेन तस्य प्रामाण्ये तदंशानामवग्रहादीनामपि प्रामाण्यमितिकृत्वा तेषा तत्र प्रवेशः, वस्तुतोऽवायस्यैव स्व-परव्यवसायिज्ञानत्वलक्षणालिङ्गितत्वात् प्रामाण्यमिति, स्तुतिकारेण तु उत्कटैककोटिसंशयलक्षणसंभावनारूपाया ईहाया सशयत्वमस्त्येवेति संशयशक्त्य-न्तर्गतैवेहाशक्तिरिति न तस्या विशिष्योपादान कृतमिति, अत्र अवग्रहादिचतु-ष्टयलक्षणावगतये "विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शना-ज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः" । "अवगृहीतार्थविशेषाका-ङ्क्षणमीहा ।" "ईहितविशेषनिर्णयोऽवाय." । "स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा" इति सूत्रचतुष्टयं परिशीलनीयम्, संशयलक्षणप्रतिपादकं चेदं सूत्रम् "साधक-बाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिस्पर्शिज्ञान सशयः" इति, अवायस्यैवा-पाय इति नामान्तरं, धारणैव भावनाख्यसस्कार. दृढतमावस्थापन्नापायपरि-णामोऽन्ते स्मृतिरूपेण परिणमन इति, स्मृतिर्धारणायामन्तर्भवति, ज्ञाननिरू-पणप्रस्तावे संशयापायस्मृतीना ज्ञानविशेषत्वात् तच्छक्तीना मन सम्बन्धितया कथनमुचितं, दर्शनशक्त्यभिधानं तु नोचितमिति न शङ्क्यम्, स्तुतिकारेण

दर्शनस्य ज्ञानाभिन्नतयैव स्वीकारात् एक एवोपयोगो विशेषविषयकत्वाज्ज्ञानमित्युच्यते सामान्यविषयकत्वाद् दर्शनमिति कथ्यते, तथा च संशयापायस्मृतिदर्शनशक्तिमता मनसा जायमानं ज्ञानं संशयापायस्मृतिदर्शनरूपं भवतीत्यर्थः ॥२॥

अनिन्द्रियस्य मनसः इन्द्रियस्य च चक्षुरादेः केनचिद् धर्मेण साम्यम्, केनचिद् धर्मेण वैलक्षण्यमिति दर्शयति—

सर्वार्थानन्तरचरं नियतं चक्षुरादिवत् ।
त्रिकालविषयं रेतो वर्तमानार्थमिन्द्रियम् ॥३॥

सर्वार्थानन्तरचरमिति । सर्वेषामर्थानामवगृहीतानामनन्तरसंशयापायाद्युत्पादने चरति व्यापृतं भवतीति सर्वार्थानन्तरचरं, **नियतम्** अवश्यंतया तथा भवति, सर्वेष्वर्थेषु अवग्रहेहादिक्रमेण ज्ञानमुत्पादयति नाक्रमेण, नहि पूर्वमवायमुत्पाद्येहामुत्पादयति ईहामनुत्पाद्यैवावायमुत्पादयतीत्येवमनियतम्, अत्र अर्थपदोपसन्दानादर्थस्यैवावग्रहानन्तरमीहादिकं भवति व्यञ्जनस्य तु अवग्रह एव नेहादिकमिति ध्वनितम्, चक्षुरादिवत् यथा चक्षुरादीनां स्वस्वविषयेष्ववग्रहेहादिक्रमेण ज्ञानजननस्वभावत्व न व्युत्क्रमेण न वाऽवग्रहादिकमनुत्पाद्यैवावायादिजननव्यापारत्वमित्येवं नियत चक्षुरादिकं तथा मनोऽपीति, यद्यपि सर्वार्थविषयकत्वं मनोज्ञानस्य नास्ति केवलस्यैव सर्वार्थविषयकत्वात् तथापि स्वयोग्यसर्वार्थानन्तरचरत्व मनस. एतावता चक्षुराद्यपेक्षयाऽधिकविषयकज्ञानजनकत्व मनसः इति विशिष्टतैव न समानत्व किन्तु नियतत्वं समानधर्म इति, वैलक्षण्यमुपदर्शयति—**त्रिकालविषयमिति** । "रेतो" इत्यस्य स्थाने "चेतो" इति पाठो युक्तः । **चेतः** मन', त्रिकालविषय अतीतानागत वर्त्तमानकालत्रयगतवस्तुविषयकज्ञानजनकम्, इन्द्रियं चक्षुरादिकं, वर्त्तमानार्थं वर्त्तमानकालगतार्थमात्रविषयकज्ञानजनकम् ॥३॥

वर्त्तमानमपि रूपादिकं योग्याश्रयगतमव्यवहितं गृह्णातीन्द्रिय न त्वन्यादृशमित्युपदर्शयति—

यदेव चक्षुषो रूपं तदेवान्याश्रयान्तरम् ।
तस्मादविषयो रूपाद्यभिधानानपाश्रये ॥४॥

यदेवेति । **चक्षुषः** इति त्वगादीन्द्रियाणामप्युपलक्षणम्, **रूपमिति** च स्पर्शादीनामपि, यदेव रूपं रूपादिकं चक्षुषः चक्षुरादीन्द्रियाणां, विषय इति शेषः तदेव चक्षुरादिग्रहणयोग्यरूपादिकमेव, **अन्याश्रयान्तरं** अन्यः आश्रयो यस्य तदन्याश्रयम् अन्तरमित्यादि द्रव्यव्यवहितम्, अन्याश्रय च तदन्तरं चान्याश्रयान्तरम् अथवाऽन्याश्रयेणान्तरमन्तरितमन्याश्रयान्तरम्, अन्यत्वं च योग्याश्रयापेक्षया, **तस्माद्** योग्याश्रयभिन्नाश्रयतत्वाद् व्यवहितत्वाद् वा, **अविषयः** चक्षुरादीन्द्रियविषयो न भवति, उक्तकारणात् सदपि रूपादिकं चक्षुरादिविषयो न भवतीत्याकाङ्क्षायामाह— **रूपाद्यभिधानानपाश्रये** इति, अत्र "रूपाद्यभिधानानुपाश्रये" इति पाठो युक्तः । रूपादीत्यत्रादिपदात् स्पर्शादिपरिग्रहः, इदं रूपम्, अय स्पर्श इत्याद्याभिधानस्यो- पाश्रयो निमित्तं यद् द्रव्यं न भवति अनुद्भूतरूपस्पर्शादिमत्त्वात् तस्मिन् द्रव्ये सदपि रूपादिकं चक्षुरादिविषयो न भवतीत्यर्थः ॥४॥

रूपादयः सामान्यतोऽप्यभिधीयन्तेऽतोऽवग्रहविषया दर्शनविषयाश्च, विशेष- तोऽप्यभिधीयन्ते अत ईहादिविषयास्तत एव ज्ञानविषयाश्च, प्रथमतस्तेषां सामा- न्येनोपक्रमः ततो विशेषतः, एतदर्थं सङ्ग्रहादिनया अप्याश्रयितव्या इत्याह—

अस्त्याद्याः संग्रह-व्यासनिमित्तास्तदुपक्रमाः ।
तदात्वोपनिधानाभ्यां रूपाद्यप्युपचर्यते ॥५॥

अस्त्याद्या इति । नयो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदेन द्विविधः, तत्र द्रव्या- र्थिकनयो नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारभेदेन त्रिविधः, पर्यायार्थिकनयश्च ऋजुसूत्र-शब्द- समभिरूढैवम्भूतभेदेन चतुर्विधः तत्रैतत्स्तुतिकारः सामान्याभ्युपगमात्मकनैगमस्य सङ्ग्रहे विशेषाभ्युपगमात्मकनैगमस्य च व्यवहारेऽन्तर्भावादतिरिक्तं नैगमनयं नाभ्युप- गच्छति, ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वं नाभ्युपगच्छति, तस्मादेतन्मते द्वौ द्रव्यार्थिकौ चत्वारः पर्यायार्थिकाः, सैद्धान्तिकास्तु नैगममतिरिक्त स्वीकुर्वन्ति, ऋजुसूत्रं द्रव्यार्थिकतयोररीकुर्वन्ति तन्मते चत्वारो द्रव्यार्थिकाः त्रयः पर्यायार्थिकाः, अत्र परसङ्ग्रह एवम्भूतश्च शुद्धद्रव्य-शुद्धपर्यायविषयकत्वान्निश्चयनयः, अन्ये चाशुद्ध- द्रव्याशुद्धपर्यायविषयकत्वाद् व्यवहारनय इत्येवं नयस्य निश्चय-व्यवहारौ द्वौ भेदौ, नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राः प्राधान्येनार्थाभ्युपगन्तृत्वादर्थनयाः शब्द-समभिरूढैवम्भू-

ताभ्च प्राधान्येन शब्दाभ्युपगन्तृत्वाच्छब्दनया इत्येवमर्थनय-शब्दनयभेदेन नयस्य द्वैविध्यम्, तत्र **अस्त्याद्या** अस्ति सन् द्रव्यं गुणः पृथ्वीरूपं घटो नीलमित्यादयः सामान्य-विशेषाभिधायिनः शब्दाः, **सङ्ग्रहव्यासनिमित्ताः** सत्त्वेन महासामान्येन द्रव्यत्वादिनाऽवान्तरसामान्येन विशेषाणामेकतया प्रतिपत्त्यात्मको यः सङ्ग्रहः सङ्ग्रहनयः यश्च सतो द्रव्यादेश्च विभजनात्मकः परस्परभेदप्रतिपत्तिलक्षणो व्यासो व्यवहारादिस्तन्निमित्तास्तन्निमित्तकाः, **तदुपक्रमाः** अस्ति द्रव्यमित्यादिक्रमेण प्रथमतो व्यवहारार्थमुच्चारणलक्षणारम्भाः; **तदात्वोपनिधानाभ्यां** यत्काले यस्य शब्दप्रयोगप्रत्ययादिलक्षणव्यवहारस्तत्कालित्वलक्षणं तदात्वं सम्बन्ध्यन्तरसमवधानलक्षणमुपनिधानं ताभ्याम्, **रूपाद्यपि** रूप-रसादिकमपि, **उपचर्यते** उपचरितो भवति, इदानीमयं घटो नीलो रक्तः पीतः, मधुरमिदानीमाम्रफलम्, इदानीं रक्तः स्फटिकः, कुण्डिका स्रवति, पन्था गच्छतीत्यादयो बहव उपचाराः परस्परनययोजनप्रयुक्तपदार्थमिश्रणेन सम्भवन्ति प्रत्येकमविशिष्टस्य विशेष-विशेष्यभावोपढौकनेन विशिष्टतापादनमप्युपचार एवेति ध्येयम् ॥५॥

अनेकान्तात्मके वस्तुन्यनन्तधर्मालये सामान्य-विशेषात्मकाः सर्वेऽपि धर्माः स्वस्वनिमित्तापेक्षया वर्त्तन्ते एव परमार्थत इति न कस्यापि कुत्राप्युपचारः, किन्तु निमित्तभेदमनाश्रित्य यदि कोऽपि धर्मः स्वप्रतिपक्षीभूतधर्माश्रिते उपादीयते, तदा तत्रैकस्य सत्त्वेऽपरस्य न सत्त्वमित्यसन् धर्म एकान्ततया कलित उपचरित एव भवति स्याद्वादाश्रयणे तु कथञ्चिदर्थप्रवेशाद् विरोधपरिहृतौ तादृशधर्मद्वयस्यापि परमार्थत एकत्रावस्थानं प्रमितमित्येवमुपचारेऽप्यनुपचार इति स्यादुपचरितं स्यादनुपचरितमिति स्याद्वादो बाह्येऽध्यात्मनि चान्योऽन्यापेक्षयाऽवतिष्ठते इत्याह—

नानेकमेकोपचारमेकं नानेति वा न वा ।
यथा बहिस्तथाऽध्यात्ममन्योऽन्यप्रभवं हृदः ॥६॥

नानेकमिति । नानेकमेकोपचारं नानाऽनेकस्वरूपं जगत् सदेव सर्वमद्वितीयमिति स एवमेकमिति सङ्ग्रहनयेन यत् कथ्यते तद् एकोपचारम्, एकस्योपचारो यत्र तदेकोपचारमिति, यदि जगद् वस्तुतो नाना तदा तत्र नानात्वे परमार्थतो व्यवस्थिते एकत्वमुपचर्यत एवेति भवत्येकत्वस्यैकस्य सङ्ग्रह-

विषयस्य तत्रोपचारः, यदि च सवृति सदेव नानात्वमुद्दिश्यतावच्छेदकीकृत्य पारमार्थिकमेकत्वं विधेय संग्रहस्य, तथापि वस्तुतोऽसदेव नानात्वमुपचर्यत इति एकस्य नानात्वस्य तत्रोपचार इत्येकोपचारम्, **एकं नानेति वा** अत्र वाकारश्चार्थकः एकं सिद्धिविशेषरूपमेवेति विशेषाणा परस्परविरुद्धधर्माध्यासेन भिन्नत्वमिति एक नानेति यद्वयवहारादिपर्यायार्थिकनयेन कथ्यते तत्रापि पूर्वोक्तदिशैकोपचारं भावनीयम्, यदि च स्वस्वनिमित्तापेक्षयैकत्वं नानात्वं चाभ्युपगम्यं नानेकमिति एकं नानेति च प्रमाणत उच्यते तदा नवा एकोपचारं न भवति अनुपचरितधर्मप्रतिपादकमेव, पूर्वोक्तवचनद्वयम्, यथा वहिः—बाह्य यथा रूपादिकमुपचरितैकानेकस्वरूपमनुपचरितैकानेकस्वरूपं वा, तथाऽध्यात्मम् आत्मधर्मतयाऽन्तर्व्यवस्थितसुख-दु.खादिकमप्युपचरितैकानेकस्वरूपमनुपचरितैकानेकस्वरूपं वा, **हि** यतः, **अदः वहिरध्यात्मं च, अन्योऽन्यप्रभवम्**, बहिरर्थतः सुख-दुःखज्ञानादिकमुपजायते इष्टसाधनताज्ञानप्रवृत्तिचिकीर्षागुणवदात्मन. वहिः पदार्थोऽप्युपजायत इत्यन्योऽन्यप्रभवत्वं, ततश्च वाह्य **यथा**विध **तथा**विधमेवाध्यात्ममित्यर्थः ॥६॥

ज्ञानादीनामवगमशक्तिः सामान्यतः शुद्धावगमशक्तय इत्यनेनोपदर्शिता तानेव कारण-कार्योपदर्शनेन विशदयति—

निष्पत्तिरुदयाच्छक्तिस्तद्विघातिसमक्षयात् ।
अनावरणहेतोर्वा शक्तिरभ्युदयात्मिका ॥७॥

निष्पत्तिरिति । "तद्विघातिसमक्षयात्" इत्यस्य स्थाने "तद्विघातितम.क्षयात्" इति पाठो युक्तः । **तद्विघातितमःक्षयात्** तद्विघातिनोऽवगमशक्तेर्विघातिनः तमसः ज्ञानावरणादिकर्मणः क्षयात् विनाशात् क्षयश्च क्षयोपशमस्याप्युपलक्षणभूतेन क्षायोपशमिकज्ञानावगमशक्तेरपि लाभः, **उदयाद्** आविर्भावात्, **शक्तिः** पूर्वंतिरोहितभावेनावस्थिता शक्तिः, उदयत **निष्पत्तिः** उत्पत्तिर्ज्ञानादेरभिधीयते पूर्वं शक्तिरूपेणावस्थितमेव ज्ञान विघातिकर्मक्षयादित आविर्भूतं समुत्पन्नमित्युच्यते, न तु पूर्वं शक्तिरूपेणाप्यनवस्थितस्योत्पत्तिः सम्भवति सर्वथाऽसत उत्पादासम्भवात् अन्यथा शशशृङ्गादिरप्युत्पद्येतेत्यर्थः, एतेन प्रथममावरणक्षयादिस्ततः शक्तेरुदयस्ततो

ज्ञाननिष्पत्तिरित्यावरणक्षयादनन्तरमेव ज्ञाननिष्पत्तिरिति न स्यादतः पक्षान्तरमाह- **अनावरणहेतोर्वेति** वा अथवा, अनावरणहेतोः अनावरणमावरणक्षयादिस्तस्य हेतुः कारणं तस्मात् यस्मात् कारणादावरणक्षयादिरुत्पद्यते तस्मादेव कारणादित्यर्थः, **अभ्युदयात्मिका शक्तिर्भवति** तथा च यस्मिन् क्षणे स्वकारणत आवरणक्षयादिस्तस्मिन्नेव क्षणे तत्कारणतोऽवगमशक्तेरुदयस्तदनन्तरक्षण एव ज्ञाननिष्पत्तिरिति न क्षणविलम्ब इत्यर्थः ॥७॥

एक एवोपयोगः सामान्यविषयकत्वाद् दर्शनं, विशेषविषयकत्वाच्च ज्ञानं, न तु युगपदुपयोगद्वयं क्रमिकोपयोगद्वय वेति दर्शयति—

चक्षुर्दर्शनविज्ञानं परमाण्वौक्ष्ण्यमोक्षवत् ।
तदावरणमित्येकं न वा कार्यविशेषतः ॥८॥

चक्षुर्दर्शनविज्ञानमिति । **चक्षुर्दर्शनविज्ञानं** चक्षुर्जन्यं दर्शन सामान्यज्ञानं, विज्ञान विशेषज्ञानं चेत्यर्थः, तदेकसमयत्वे निदर्शनम्, **परमाण्वौक्ष्ण्यमोक्षवदिति** अत्र समकालीनपरमाणुगतगुणद्वयप्रतिपादकेन पाठान्तरेण भाव्यम्, यथाश्रुतपाठार्थस्तु न सम्यग्तयाऽवधार्यते, उत्तरार्धपर्यालोचनतश्चक्षुर्दर्शनविज्ञानैक्यमवसीयते, **तदावरणमित्येकं** चक्षुर्दर्शनविज्ञानोपयोगस्यैक्ये चक्षुर्दर्शनविज्ञानावरणमेकमिति यदेव चक्षुर्दर्शनस्यावरण तदेव चक्षुर्विज्ञानस्याप्यावरणम्, **वा** अथवा, **न** ऐक्य न, **कार्यविशेषतः** दर्शनावरणस्य कार्यं सतोऽपि सामान्यविषयकत्वस्य तिरोधानं विज्ञानावरणस्य कार्यविशेषविषयकत्वस्य तिरोधानं तयोर्विशेषाद् भेदात् इत्थमेवाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शन-केवलदर्शनेष्वपि तन्न ज्ञानैक्यं तदावरणैक्यं तद्भिन्नत्व वा विभावनीयम् ॥८॥

इयं प्रक्रिया सर्वोपयोगेषु परिशीलनीयेत्याह—

अर्थ-व्यञ्जनयोरेवमर्थस्तु स्मृति-चक्षुषोः ।
सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम् ॥९॥

अर्थव्यञ्जनयोरिति । **अर्थ-व्यञ्जनयोः** अर्थोपयोग-व्यञ्जनोपयोगयोरित्यर्थः, **एवम्** उक्तदिशा दर्शनविज्ञानस्वरूपत्वम् , तत्र व्यञ्जनस्यावग्रह-

लक्षण एवोपयोगो भवति न त्वीहादिलक्षणः तत्रैवोक्तदिशा दर्शनविज्ञानस्वरूपत्वं सङ्गमनीयम्, अर्थस्य तु अवग्रहेहादयः सर्वेऽप्युपयोगा भवन्ति तेषूक्तप्रक्रिया योजनीया, **अर्थस्तु** अर्थावग्रहः पुनः, **स्मृति-चक्षुषोः**, स्मृतिशक्तिमनस इति स्मृतिपदेन मनसो ग्रहणम् स्मृतिपदेनैव मनस उपादान धारणाभेदरूपायाः स्मृतेरर्थविषयकत्वमेवं न व्यञ्जनविषयकत्वमिति तत्पूर्वपूर्वज्ञानपरम्पराया अपि तथैव विषयनिबन्धनमिति स्मृतिशक्तिकस्य मनसस्तत्सुग्रहमित्येतदर्थम्, एवं सति किमित्याकाङ्क्षायामाह—**सर्वोपयोगद्वैविध्यमि**ति, **अनेन** उक्तप्रकारेण सामान्यविषयकत्व-विशेषविषयकत्वलक्षणेन सर्वोपयोगद्वैविध्यं सर्वेषामुपयोगानां ज्ञान-दर्शनभेदेन द्वैविध्यम्, मनःपर्यवज्ञानस्य विशेषमात्रविषयकत्वमेव, न तु सामान्यविषयकत्वमिति विज्ञानत्वमेव, तस्य न दर्शनत्वम्, अत एव चक्षुर्दर्शन-मचक्षुदर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनमित्येवं चतुर्विधत्वमेव समये प्रतिपादितमिति यदि विभाव्यते तदा सर्वोपयोगे मनःपर्यवोपयोगभिन्नत्वं विशेषण देयम्, उक्त-प्रकारेणैतदुक्तमर्थादेव प्रतिपादितं न तु शब्दादित्याह—**अनक्षरमि**ति ॥९॥

सर्वेषां विशिष्टज्ञानविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानोपलक्षितवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानानां सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपाणामिन्द्रियजानिन्द्रियजाना परोक्षाणां च स्मृति-तर्क-प्रत्यभि-ज्ञानानुमानागमजानां मतिज्ञानानामेकमुपपादनप्रकारमुपदर्शयति—

प्रकाश-मनसोश्चक्षुस्तुल्यमाप्तगतार्थवत् ।
विकृष्टेतरयोर्व्यक्तिर्गम्यते चार्थशक्तितः ॥१०॥

प्रकाश-मनसोरिति। **प्रकाश-मनसोः** प्रकाशपदेनात्रोपयोगस्य ग्रहणम्, उपयोगो भावेन्द्रियमिति भावेन्द्रियत्वेन तस्य कारणत्वम्, मनसस्तु पञ्चेन्द्रियाणां मतिज्ञाने कारणत्व सुप्रसिद्ध तयोः ज्ञानमिति शेषः, तथा चाप्योगेन्द्रियमनोजन्य-ज्ञानमित्यर्थः, **चक्षुस्तुल्यम्** चक्षुरिति बहिरिन्द्रियजज्ञानपरं तेन तुल्य सदृशम्, सादृश्यप्रयोजकं साधारणधर्ममुपदर्शयति-**आप्तगतार्थवदि**ति आप्त साम्मुख्यादिना प्राप्तः, गतः पूर्वोत्पन्नविशेषणादिज्ञानविषयोऽर्थः विषयितया तद्वत् चाक्षुषादिज्ञानं भवति मनोजन्यप्रत्यक्षमपोदृशम्, स्मृत्यादिपरोक्षज्ञानेषु प्रकाशः मनोजन्येषु आप्त-गतार्थवत्त्वमित्थम् आप्तोऽनुभवेन प्राप्तोऽनुभूत इति यावद् अथवाऽनुभवजन्य-

संस्कारेण स्मृत्यव्यवहितपूर्वक्षणविद्यमानेन प्राप्तः गतः कालान्तरगतो देशान्तरगतोऽतीतो वा योऽर्थो विषयितया तद्वत्त्वं स्मृतौ वर्तते, ऊहापरनामके तर्के आप्तः कार्य-कारणभाव-वाच्यवाचकभावादिना प्राप्त गतः अन्वय व्यतिरेकाभ्यां ज्ञातो योऽर्थः साध्यसाधनागताविनाभावशब्दार्थगतवाच्य-वाचकभावसम्बन्धादिर्विषयितया तद्वत्त्व वर्त्तते, सङ्कलनात्मके प्रत्यभिज्ञाने आप्तः प्रत्यक्षप्रमाणविषय. गतः पूर्वानुभवविषयो योऽर्थो विषयितया तद्वत्त्वं समस्ति, उपमानं तु प्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भूतम्, अनुमाने आप्तः अन्वय-व्यतिरेकाभ्या सर्वोपसहारेणाविनाभावितया प्राप्त· गतः तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्यान्यतराकलितज्ञानजनितज्ञानविषयो योऽर्थो विषयितया शब्दप्रभवज्ञाने आप्तः लौकिको लोकोत्तरो वा वक्ता पुरुष तेन गतोऽवगतो योऽर्थो तद्वत्त्वं वर्त्तते, आगमे विषयितया तद्वत्त्वं वर्त्तते इति सर्वमतिज्ञानविषयेषु आवरणकर्मक्षयोपशमलक्षणलब्धीन्द्रियात्मकाप्तिविषयत्वेनाप्याप्तत्वमवसेयम्, **विकृष्टेतरयोः** दूरस्थान्तिकस्थयो·, **व्यक्तिः** अभिव्यक्तिर्ज्ञानमिति यावत्, **अर्थशक्तितः** अर्थगतावरणक्षयोपशमविशेषविषयत्वलक्षणयोग्यतातः, **गम्यते च** अवसीयते पुन, कस्यचिद्विपुलशरीरवृक्षादेर्दूरस्थत्वेऽपि आवरणक्षयोपशमविषयत्वलक्षणयोग्यताबलाद् ग्रहणमुपजायते, कस्यचित् केशादेरतिसूक्ष्मस्यातिनिकटस्थत्वे इत्येव ग्रहण भवति सूक्ष्मोऽपि दूरस्थोऽपि चाग्निकणादिरुक्तयोग्यताविशेषादवलोक्यते, अर्थगतोक्तयोग्यताविशेषोऽपि प्रमातृवैलक्षण्यमधिकृत्य वैचित्र्यमासादयति यतो मार्जारादीनामालोकमन्तरेणैव रात्रावपि मूपकाद्यर्थस्यावगतिरुपजायते, न मनुष्यादे. एवं गृध्रादेरतिदूरस्थपदार्थग्रहणं भवति न मनुष्यादेरिति ॥१०॥

प्रकारान्तरेणार्थशक्ति भावयति ।

परस्परस्पृष्टगतिर्भावनापचया ध्वनिः ।
बद्धस्पृष्टगमद्व्यादि स्नेहरौक्ष्यतिशायनात् ॥११॥

परस्परेति । "भावनापचया ध्वनि." इत्यस्य स्थाने "भावनाचयाध्वनि" इति पाठो युक्त । **भावनापचयाध्वनि** भावनया औषधान्तरमिश्रणेन शतसहस्रपुटपाकादिना च पारदादीनां लोह-रजत-सुवर्णादीना च अपचयः पूर्वशक्तिह्रासः स्वभावान्तरगमन च भवतीत्येवं भावनापचयस्य अध्वनि मार्गे चरक-सुश्रुतादि-

विभाविते, **स्नेहरौक्ष्यतिशायनात्** पुटपाकादिना स्निग्धतरत्व-स्निग्धतमत्व-रूक्षतरत्व-रूक्षतमत्वभवनात्, **परस्परस्पृष्टगतिर्बद्धस्पृष्टगमद्व्यादि** पारदाद्यर्थस्य भवतीत्येवमर्थशक्तिरवगन्तव्या ॥११॥

एतावता मतिज्ञानं प्रपञ्चितम्, श्रुतं किमित्याकाङ्क्षायामाह—

वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम् ।
सर्वेभ्यः केवलं चक्षुस्तमःक्रमविवेकवत् ॥१२॥

वैयर्थ्येति । **श्रुतं वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्याम्** श्रुतं मतिपूर्वकमिति श्रुतज्ञानाद् प्रागवश्यक्लृप्तस्य मतिज्ञानस्यैव श्रुतज्ञानकार्यकारित्वमिति श्रुतज्ञानस्य वैयर्थ्यम् एवमपि मतिज्ञानभिन्नतया श्रुतज्ञानमुररीक्रियते चेदूहादिज्ञानमपि मतिज्ञानभिन्नतयाऽभ्युपगम्यतामिति ज्ञानस्य षड्विधत्व-सप्तविधत्वादिप्रसङ्ग-लक्षणोऽतिप्रसङ्ग इति, **मत्यभ्यधिकं** मतिज्ञानभिन्नं श्रुतज्ञानम्, **न** सम्भवति, उपयोगलक्षणो जीव इति निरुपयोगतः कदापि न भवति, उपयोगश्च ज्ञान-दर्शनात्मकः स्वभावादेव सर्वसामान्य-विशेषोभयात्मकवस्तुग्राही, स सत्त्वांशभेदेन तत्तद्विचित्र-कर्मपटलावृतो वस्तुतः सन्नप्यसन्निव भवति तत्तत्प्रतिनियतकर्मावरणक्षयोपशमे मतिज्ञानाद्यावृतज्ञानरूपेण व्यपदिश्यते, अशेषावरणात्यन्तक्षये च सर्वथाऽनावृतज्ञान-रूपत्वात्, **केवलमि**ति कथ्यते इति सर्वेषां मतिज्ञानादिकारणानां तत्तदावरण-क्षयोपशमानां केवलावरणात्यन्तक्षयस्य च केवलं प्रति कारणत्वमिति तेभ्यः केवलमुत्पद्यत इत्याह—**सर्वेभ्य** इति, **चक्षुः** ज्ञानम्, **तमःक्रमविवेकवत्** तमसः आवरणीयकर्मणः, क्रमविवेकः मतिज्ञानावरणं, श्रुतज्ञानावरणं, अवधिज्ञानावरणं, मनःपर्यवज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणमित्येवं भेदः तद्वद् आवरणीयत्वेन केवलं भवतीत्यर्थः ॥१२॥

यद्यपि केवलोत्पादाव्यवहितपूर्वसमये मत्यादिकारणीभूता मत्याद्यावरणक्षयो-पशमा न सन्ति, मत्याद्यावरणात्यन्तक्षयस्यैव तदानीं भावात् तथापि मत्यादि-कारणतावच्छेदकतया क्लृप्तस्य मत्याद्यावरणक्षयोपशमत्वस्य मत्याद्यावरणलयेष्वपि

कयाचिदपेक्षया सत्त्वं समाश्रित्य, मत्यादिकारणत्वं स्वरूपयोग्यतालक्षणं प्रकल्प्य तथोक्तिः मत्यादिकार्याभावे केवलपूर्वसमये तेषामावरणानां कथं क्षयः आवरणीभूत-कर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेभ्यो विभक्तानां तदानीमपि सद्भावादित्याकाङ्क्षायामाह—

नश्यन्ति विषयाख्याते योक्तव्या दोषता न चेत् ।
त्रितया नियतादेकसामान्याद् वा वहुष्वपि ॥१३॥

नश्यन्तीति । "विषयाख्याते योक्तव्या" इत्यस्य स्थाने "विषयाख्याति-र्योक्तव्या" इति पाठो युक्तः । मतिज्ञानाद्यावरणकर्मसु **दोषता** मतिज्ञानाद्युत्पादप्रति-बन्धकतारूपा, तदानीं **न चेत्** न यदि, तदेति दृश्यं तदा मतिज्ञानादिविष-याणां सर्वेषा केवलज्ञानलक्षणख्यातिसद्भावाद्, **विषयाख्यातिर्योक्तव्या** विषया-ख्यातिनिबन्धनप्रयोगविषया मतिज्ञानावरणादयः, **नश्यन्ति** तत्कालीननाश-प्रतियोगिनो भवन्ति, **वा** अथवा, **बहुष्वपि** अपिना व्यक्तिरूपेण प्रत्येकमेका-त्मकेषु अनन्तधर्मात्मकत्वस्वाभाव्याद् वहुस्वरूपेष्वित्यर्थोऽवगम्यते, यत्र बहुत्वं तत्र चतुष्ट्वादिसख्या न भवत्यपि त्र्यात्मकवहुषु चतुष्ट्वादेरसम्भवात् त्रित्व-सङ्ख्या तु स्यादेव ततो न्यूनस्यैकस्य द्वयोर्वा वहुत्वाभावात् चतुःपञ्चादिषु सर्वत्र त्रयाणा भावेन त्रित्वस्य सर्वत्र भावात्, एव च मतिज्ञानावरणादिषु अनन्तधर्मा-त्मकेषु प्रत्येकं त्रित्वमवश्यमङ्गीकरणीयं तच्च त्रित्वमुत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मकत्वेन, तथा च **त्रितया** त्रयाणां भाव. त्रिता तया त्रितया उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षण-त्रिस्वरूपत्वेन, **नियतात्** यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणत्रिस्वरूप-त्वमित्येवमविनाभूतात्, **एकसामान्यात्** अनेकानुगतमेकं सामान्यमिति सामान्य-लक्षणबलात् सर्वस्य सामान्यस्यैकत्वं प्राप्तमेव तथाप्येकेति यदुपात्तं तेन सकलपदा-र्थानुगतत्वं तेन सर्वानुगतसत्त्वलक्षणमहासामान्यादित्यर्थः, "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सल्लक्षणप्रतिपादकतत्त्वार्थसूत्रेण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वं सत्त्वमिति-एवं च यदि मतिज्ञानाद्यावरणाना विनाशो न भवेत् तर्हि निरुक्तलक्षणसत्त्वमेव तेषा न स्यादिति निरुक्तसत्त्वान्यथानुपपत्त्या मतिज्ञानावरणादयो नश्यन्ती-त्यर्थः ॥१३॥

आवरणकर्मविनाशः कस्माद् भवति केवलस्य किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—

दोषपङ्क्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात् ।
तमःप्रवया निःशेषविशुद्धिः फलमेव तत् ॥१४॥

दोषपङ्क्तिरिति । "तमःप्रवया निःशेषविशुद्धिः फलमेव तत्" इत्यस्य स्थाने "तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत्" इति पाठो युक्तः । **दोषपङ्क्तिः** केवलोत्पादप्रतिबन्धककाम-क्रोधादिदोषप्रयोजकज्ञानावरणीयादिकर्मपरिशाटः मतिज्ञानात्, अत्र श्रुतज्ञानानुपादानबीजं स्वमते श्रुतस्य मतिज्ञानान्तर्भूतत्वमेव, **न किञ्चिदपि केवलात्** उत्तरोत्तरकेवलोपयोगधारासिद्ध्यर्थपूर्वपूर्वकेवलोपयोगस्योत्तरोत्तरकेवलोपयोग प्रति कारणत्वमित्युत्तरकेवलोपयोग एव पूर्वकेवलोपयोगस्य फलं भवति किन्तु विजातीयं किञ्चिदपि फल केवलान्न भवतीत्यर्थः, अन्यथा कार्यमात्रजनकत्वनिषेधे अर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभावाच्छशशृङ्गादिवदलीकत्वं तस्य स्यात्, **तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिः फलमेव तत्** तमसो ज्ञानावरणीयादिकर्मणो यः प्रत्ययः आत्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरमिश्रणन्यायेनैकीभूयावस्थितः सङ्घात· तस्य नि·शेषेण सामस्त्येन या विशुद्धि· आत्मप्रदेशेभ्यः पृथक्करणं सैव ज्ञानावरणीयादिकर्मणामात्यन्तिकक्षयोऽभिमतः तत्फलमेव तत् केवलज्ञानमित्यर्थः, अष्टसहस्रीविवरणे द्वितीयपरिच्छेदे श्रीयशोविजयोपाध्यायेन हरिभद्रसूरिमते केवलस्य सफलत्वं दर्शितम्, तथा च तद्ग्रन्थः श्रीहरिभद्रसूरयस्तस्यापि परममुक्तिरूपफलमधिकृत्य परापरफलत्वं स्वीचक्रुः, तदुक्तं षोडशकप्रकरणे—

"एतद् योगफलं तत् परापर दृश्यते परमनेन ।
तत् तत्त्वं यद् दृष्ट्वा निवर्त्तते दर्शनाकाङ्क्षा ॥२॥" इति ॥१४॥

ननु केवलज्ञानं सकलविषयकं यदभ्युपगम्यते तद्वान् सर्वज्ञ इति चाभ्युपेयते तदेतन्निष्प्रमाणकं, न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, प्रत्यक्षं हि इन्द्रियजन्यमनीन्द्रियजन्यं वा तत्र न तावदिन्द्रियजं प्रत्यय सर्वज्ञं विषयीकरोति रूप-रस-गन्ध-स्पर्शशब्दानामुद्भूतरूपादिमता द्रव्याणां तद्गतक्रियासामान्यानामेव तत्तदिन्द्रिययोग्यानां ग्राहकत्वेनैव चक्षुरादीन्द्रियजप्रत्यक्षप्रवृत्तेः सर्वज्ञस्य तु तत्तदिन्द्रियग्रहणयोग्यताविरहेण तद्ग्राहकतया बहिरिन्द्रियजप्रत्यक्षप्रवृत्त्यसम्भवात् नाप्यनिन्द्रियजप्रत्यक्षं सर्वज्ञग्राहकं,

तत्तत्पुरुषीयमनसां तत्तत्पुरुषात्मतद्गतगुणादिप्रत्यक्षजनकानामप्यन्यात्मकतद्गतसर्वविषयादिकज्ञानप्रत्यक्षजनकत्वासम्भवात् बाह्यविषये मनसो बहिरिन्द्रियद्वारैव प्रवृत्तिः न तु स्वातन्त्र्येणेति सर्वज्ञानविषयत्वेनाभिमतानां सर्वेषां बहिरिन्द्रियायोग्यत्वे, मनसोऽप्ययोग्यतया तद्विषयकज्ञाने प्रत्यक्षजनकत्वेन मनसः प्रवृत्त्यसम्भवात्, एतेन सर्वज्ञस्य मनः सर्वज्ञसाक्षात्कारं जनयत् तद्गत सर्वविषयकज्ञानसाक्षात्कारमपि जनयतीति मानसप्रत्यक्षं सर्वविषयकज्ञाने तद्वति च प्रमाणमिति निरस्तम् . सर्वेषां विषयाणां मनसा ग्रहणाभावे तद्विषयकज्ञानस्यापि मनसः ग्रहणासम्भवात्, यादृशं स्वस्य स्वरूपं तादृशमेव स्वसंवेदनप्रत्यक्षं गृह्णाति सर्वविषयकज्ञानं तु नाद्यापि सर्वविषयकज्ञानत्वेनासाधारणरूपेण केनापि प्रमाणेन सिद्धमिति स्वसंवेदनप्रत्यक्षं तथा गृह्णातीति कथङ्कारमवधारयितुं शक्यमिति न स्वसंवेदनप्रत्यक्षमपि तत्र प्रमाणम्, सर्वज्ञानेन सह कस्यचिदपि हेतोः प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाविनाभावग्रहणाभावात्, ततोऽनुमानस्य सर्वविषयकज्ञानविषयकस्यासम्भवादनुमानं सर्वविषयकज्ञाने प्रमाणमित्यपि न वक्तुं शक्यम्, सर्वविषयकज्ञानत्वादिसाधारणधर्मेण सर्वज्ञानसदृशं न किमपि ज्ञानमद्यापि प्रतिपन्नं येन सादृश्यग्रहणमुपमानं सर्वविषयकज्ञाने तद्वति प्रवर्त्ततेत्युपमानमपि न सर्वविषयकज्ञाने प्रमाणम्, आगमस्त्वनाप्तप्रणीतो न प्रमाणम्, आप्तप्रणीतवस्तु सर्वज्ञानादिप्रतिपादकं भवेदपि तत्र प्रमाणं यदि प्रणेतुराप्तत्वं सिद्धं स्यात्, सर्वज्ञानवत्त्वेनैवाप्तत्वसिद्धौ च सर्वज्ञानवत्त्वादाप्तत्वं सिद्धिराप्तोक्तत्वादागमस्य प्रमाणतया प्रसिद्धिस्ततश्च सर्वविषयकज्ञानवत्त्वप्रसिद्धिरित्येवं चक्रकापत्त्या नागमोऽपि तत्र अर्थापत्तिस्त्वनुमानान्तर्भूताऽनुमाननिराकरणेनैव निराकृता, तस्या अतिरिक्तत्वेऽपि तस्याः सर्वज्ञानेन विना कश्चिदर्थोऽनुपपन्नः स्यात्, तेन चानुपपद्यमानोपपादकस्य सर्वविषयकज्ञानस्य कल्पना भवेत्, न चैवं सर्वविषयकज्ञानेन विना कश्चिदर्थोऽनुपपन्नतयाऽवगत इत्यतोऽपि नार्थापत्तिरत्र प्रमाणम्, किञ्च, सर्वविषयकं ज्ञानं यदि कुत्रापि प्रत्यक्षादौ ज्ञानविशेषेऽन्तर्भूतं भवेत् तदा तत्र प्रमाणगवेषणा युज्येत, न च तत् सम्भवति तथाहि सर्वविषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षं भवदिन्द्रियजन्यमनिन्द्रियजन्यं वा भवेत्, न तावच्चक्षुरादीन्द्रियजन्यम्, चक्षुरादीन्द्रियाणां योग्यवर्त्तमानप्रतिनियतरूपादिविषयकज्ञानमात्रजनकानां विप्रकृष्टसन्निकृष्टव्यवहिताव्यवहितातीतानागत-वर्त्तमानसकलार्थज्ञानजनने सामर्थ्याभावात्, नाप्य-

निन्द्रियजन्यम्, मनसोऽन्तर्गतात्मतद्गुणज्ञानादितद्गतजात्यादिप्रत्यक्षजनन एव स्वातन्त्र्येण सामर्थ्यात्, नापि तदनुमानम्, अशेषेण वस्तुना समं कस्यचिल्लिङ्गस्य प्रत्यक्षेणाविनाभावाग्रहेऽनुमानात्मकसर्वविषयकज्ञानासम्भवात्, तत्रानुमानेन व्याप्तिग्रहणमपि वक्तुमशक्यम्, व्याप्तिग्राहकानुमानस्यापि स्वविधेयाविनाभावाविनाभूतलिङ्गज्ञानपूर्वकपूर्वकत्वेन तादृशलिङ्गज्ञानासम्भवेऽसम्भवात्, तादृशलिङ्गज्ञानस्यानुमानात्मकत्वेऽनवस्थानात्, उपमान तु प्रतिनियतसादृश्यादिविषयकं न सम्भवत्येव सकलविषयकम्, सकलविषयकज्ञानसंभवे सत्येव, तद्वत्पुरुषप्रणीतागमप्रभवं सकलज्ञानं सम्भवति वक्तु: सकलविषयकज्ञानाभावे तत्प्रभवागमस्य सकलपदार्थप्रतिपादकस्यागमस्यासम्भवेन, तज्जन्यसकलपदार्थविषयकज्ञानस्यासभवाद् बहूनां शब्दानभिधेयानामपि वस्तूनां सत्त्वेन तदसाधारणधर्मेण तदभिलापकस्य शब्दस्यैवाभावेन तद्घटितस्यागमस्यैवाभावेन तज्जन्यस्य सर्वविषयकज्ञानस्यासम्भवात् । सकलार्थानामन्तरेण यदि किमप्यनुपपन्नं ज्ञायेत तदा तदुपपादकसर्वार्थकल्पना लक्षणार्थापत्तिरूपं सकलज्ञानं भवेत् न चैवमिति नास्त्येव सर्वविषयकं ज्ञानमित्यत आह—

समग्रविषयं ज्ञानमवश्यं यस्य कस्यचित् ।
तस्य वृत्त्यन्तरापत्तेर्नान्यदावरणं क्षयात् ॥१५॥

समग्रविषयमिति । "वृत्त्यन्तरापत्तेः" इत्यस्य स्थाने "वृत्त्यन्तरापत्तिः" इति पाठ:, "वरणं क्षयात्" इत्यस्य स्थाने "वरणक्षयात्" इति च पाठो युक्तः । **यस्य कस्यचित्** जिनस्य बुद्धस्य, कपिलादेर्वा, **अवश्यं** नियमेन, **समग्रविषयं** सकलवस्तुविषयकं, **ज्ञानम्** उपयोग:, तेन सकलविशेषविषयकं ज्ञानं सकलसामान्यविषयकं दर्शनं न त्वेकं ज्ञानं सकलवस्तुविषयकं तस्य सामान्यविषयकत्वाभावादिति दोषस्य नावकाश, अथवा स्वमते ज्ञानं दर्शनं चैकमेवेति ज्ञानस्य सकलविषयकत्ववत् सकलसामान्यविषयकत्वमप्यस्त्येवेति ज्ञानपदस्योपयोगपरत्वानाश्रयणेऽपि नोक्तदोष, सर्वस्थविषयस्य ज्ञेयस्वभावत्वं ज्ञानस्य च विनिगमनाविरहात् सर्वविषयावगाहनस्वभावत्वम् एवं सत्यपि यन्मतिज्ञानादिकं न सर्वं विषयमवगाहते तत्प्रतिबन्धकज्ञानावरणीयकर्मणा प्रतिबन्धात् तस्यात्यन्तिकक्षये च

प्रतिबन्धकाभावात् सर्वविषयकं ज्ञानं स्यादेव, यथा दाह्ये तृणादौ सति, दाह-प्रतिबन्धकमण्यादिसमवधाने वह्निना दाहो न जन्यते प्रतिबन्धमण्याद्यपगमे तु दाहोऽवश्यं भवत्येव तथा प्रकृतेऽपि, तदुक्तम्—

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि ।
सत्येव दाह्येन ह्यग्निः क्वचिद् दृष्टो न दाहकः ॥३॥" इति ।

तच्च ज्ञानं सकलविषयकप्रत्यक्षरूपमुपेयते, तत्र प्रमाणं तु सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षज्ञानविषया ज्ञेयत्वाद् वह्न्यादिवदित्यनुमानम्, सर्वविषयकज्ञानं तु सर्वशब्दादितो जायमानं नापलपितुं शक्यते, प्रत्येकमेकैकविषयकाणि यानि ज्ञानानि तद्विषयकत्वमादायापि सर्वेषु पदार्थेषु ज्ञेयत्वं समस्तीत्यतो नात्र हेतुः स्वरूपासिद्धिकलङ्कितः सकलविषयकज्ञानस्येन्द्रियजत्वानिन्द्रियजत्वस्वसंवेदनप्रत्यक्ष-त्वापाकरणेन प्रत्यक्षत्वं यत् खण्डितं परेण, तज्जैनमतानवबोधविलसितम्, जैन-मत चैवम्—प्रत्यक्ष द्विविधं साव्यवहारिकं पारमार्थिकं च, तत्रेन्द्रियजानिन्द्रियज-भेदेन सांव्यवहारिकं द्विविधं मतिज्ञानेऽन्तर्भवति, पारमार्थिकमपि विकल-सकल-भेदेन द्विविधम्, तत्र विकलं पारमार्थिकप्रत्यक्षमवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानभेदेन द्विविधम्, तत्रावधिज्ञानमित्थं निरूपित प्रमाण-नयतत्त्वालोके "अवधिज्ञाना-वरणविलयविशेषसमुद्भव भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमर्यविज्ञानम्" अस्य सूत्र-स्यायमर्थो दर्शितो रत्नप्रभसूरिणा-"अवधिज्ञानावरणस्य विलयविशेषः क्षयोपशमभेदः तस्मात् समुद्भवति यत् मनः सुर-नारकलक्षण. गुणः सम्यग्दर्शनादि, तौ प्रत्ययौ हेतू यस्य तत् तथा, तत्र भवप्रत्ययं सुर-नारकाणां, गुणप्रत्ययं पुन-र्नर-तिरश्चाम्, रूपिद्रव्यगोचर रूपिद्रव्याणि पृथिवीपाथ-पावक पवनान्धकार-च्छायाप्रभृतीनि तदालम्बनमवधिज्ञानं ज्ञेयम्," मन-पर्यवज्ञानं त्वेवं लक्षितम्—"सयमविशुद्धिनिबन्धनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मन.-पर्यायज्ञानम्" तद्व्याख्यानमित्थम्—"विशिष्टचारित्रवशेन योऽसौ मनःपर्यायज्ञाना-वरणक्षयोपशमः तस्मादुद्भूतं मानुषक्षेत्रवर्तिसंज्ञिजीवगृहीतमनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्-कारि यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमिति, अनयोः प्रतिनियताल्पार्थविषयकत्वाद् विकलप्रत्यक्षत्वम्, चक्षुरादीन्द्रियाणा मनसश्च नात्र व्यापार इतीन्द्रियानिन्द्रिय-

अन्यत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षत्वमक्ष आत्मा तं प्रतिगतत्वादवसेयम्", पारमार्थिकं सकल-प्रत्यक्षं तु केवलज्ञानम्, तन्निरूपणमित्थम्–"सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूत-समस्तावरणक्षयापेक्षं निखिलद्रव्य-पर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्" एतद्विवरण-मिदम्–"सामग्री सम्यग्दर्शनादिलक्षणाऽन्तरङ्गा, बहिरङ्गा तु जिनकालिकभवादि-लक्षणा, ततः सामग्रीविशेषात्, प्रकर्षप्राप्तसामग्रीतः समुद्भूतो यः समस्तावरण-क्षयः सकलघातिसंघातनिघातस्तदपेक्षं ससकलवस्तुप्रकाशस्वभावं केवलज्ञानं ज्ञात-व्यम्, अत्र च चक्षुरादीन्द्रियाणां मनसश्च व्यापारो नास्ति, अथापि प्रत्यक्षत्वम्, प्रत्यक्षत्वेऽस्यानुमानं प्रमाणमुपदर्शितमेव, सकलवस्तुविषयकत्वमेवास्य साकल्यम् केवलत्वं च समस्तावरणरहितत्वमिति, एतच्च ज्ञान जिनस्यैव नान्यस्य बुद्धा-देरेतत् समर्थनपरं प्रमाणनयतत्त्वालोकगतं सूत्रत्रयम् "तद्वानर्हन् निर्दोषत्वात्" "निर्दोषोऽसौ प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात्" "तदिष्टस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् तद्वाच-स्तेनाविरोधसिद्धिः" इति, तद्व्याख्यानं क्रमेणेत्थम्–तत् केवलं नित्यमस्या-स्तीति नित्ययोगे मतुप्, निष्क्रान्तो दोषेभ्यो राग-द्वेषाज्ञानलक्षणेभ्यो निर्दोष-स्तद्भावस्तत्त्वं तस्मात्, प्रयोगः–'अर्हन् सर्वज्ञो निर्दोषत्वात्, यस्तु नैवं स नैवं यथा रथ्यापुरुषः, तथा चार्हन्, तस्मात् सर्वज्ञः' इति, प्रयोगः–'अर्हन् निर्दोषः प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात्, यस्तु न निर्दोषः स न तथा, यथा रथ्यापुरुषः, प्रमाणाविरोधिवाक् चार्हन्, ततो निर्दोषः' इति, तस्यार्हतः इष्टस्य प्रतिपाद्यतया संमतस्यानेकान्ततत्त्वस्य, तद्वाच इत्यर्हद्वाचः, अर्हन् सर्वत्र प्रमाणाविरोधिवाक्, तत्र प्रमाणाबाध्यमानाभिमततत्त्वत्वात्, यस्याभिमतं तत्त्वं यत्र प्रमाणेन न बाध्यते, स तत्र प्रमाणाविरोधिवाग्, यथा रागादौ भिषग्वरः, न बाध्यते च प्रमाणेनार्हतोऽभिमतानेकान्तादितत्त्वम्, तस्मात् तत्रासौ प्रमाणाविरोधिवाक् इति सिद्धमर्हन्नेव सर्वज्ञ इति । यद्युक्तदिशा जिनस्यैव, समग्रविषयकं ज्ञानं तदा तथैव वक्तव्यं किमिति विशेषानवधारणात्मकं यस्य कस्यचिदिति, नैवं शङ्क्यम् स्वस्य निराग्रहत्वप्रतिपत्त्यर्थमेवमभिधानात् अथवा प्रथमतः सामान्यतो दृष्टानुमानमेवा-दरणीयं, ततः सामान्यतः साध्यप्रसिद्धावितरबाधानुमान ततः परिशेषानुमानेन विवक्षितसाध्यविशेषप्रसिद्धिरित्यभिप्रायेण सकलविषयकज्ञानं तदाश्रयतया पुरुष-धौरेयो निष्टङ्कितः । ननु भवतूक्तनीत्या समग्रविषयकं ज्ञानं तस्य पुनरुत्तरकालं

मतिज्ञानादिरूपेण परिणाम कुतो न भवतीत्याशङ्कानिवृत्तये त्वाह—**तस्येति** समग्रविषयकज्ञानस्येत्यर्थः, **अन्यदा** उत्तरकाले, **वृत्त्यन्तरापत्तिः** मतिज्ञानादिलक्षणपरिणामान्तरापत्तिः, **न** नैव, **आवरणक्षयात्** ज्ञानाद्यावरणकर्मण सर्वथा विलयात् आवरणक्षयोपशमजन्यं च मत्यादिज्ञानं सावरणमिति किञ्चिद्देशे आवरणे सत्येवोत्पद्यत इति तदभावे कारणाभावादेव नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥१५॥

आगमादपि बहुविधान्न समग्रार्थस्य सर्वथा विज्ञानमतस्तथावभासके केवलज्ञान-दर्शने ततो विलक्षणे अभ्युपगन्तव्ये इत्याह—

वृक्षाद्यालोकवत् कृत्स्नं स्तोकाख्यानमनेकधा ।
अत्यन्तानुपलब्धिर्वा विशिष्टे ज्ञान-दर्शने ॥१६॥

वृक्षाद्यालोकवदिति । **वृक्षाद्यालोकवत्** यथा दूरस्थितस्य वृक्षादेरालोको ज्ञानं किञ्चिदस्तीति सामान्यतः, ततो नातिदूरस्थितस्य शाखामात्रपरिज्ञान ततः किञ्चित् सन्निहितस्य स्कन्धादिविज्ञानं ततोऽपि सन्निहितस्य पत्र-फल-पुष्पादिविशेषज्ञानतः सहकारतरुरयमित्यादिवृक्षविशेषादिपरिज्ञानं, तथापि यावन्तोऽनुवृत्ति-व्यावृत्तिबुद्धिफलका वृक्षादिगताः सामान्य-विशेषधर्मास्तावद्धर्मविशिष्टतया वृक्षादिपरिज्ञान न भवति, तथा **कृत्स्नं** समग्रम्, **अनेकधा** अनेकप्रकारेण, **स्तोकाख्यानम्** अल्पधर्मविशिष्टवस्तुकथन लक्षणया तज्जन्यज्ञानं न सम्पूर्णवस्तुस्वरूपविषयकम्, इयं च जैनागमतज्जन्यज्ञानविषयिणी चर्चा, **वा** अथवा, **अत्यन्तानुपलब्धिः** एकान्तवाद्यागमतोऽर्थानामत्यन्तानुपलब्धिः अत्यन्तपरिज्ञानाभावः, यतः एकान्तवाद्यागमा एकान्तमेवार्थं प्रतिवादयन्ति एकान्तश्च कोऽप्यर्थो नास्तिकस्य तत उपलब्धि-कल्पितं तु ज्ञानं वस्तुतोऽज्ञानमेव, न हि शशश्रृङ्गादेरसतो ज्ञानं परमार्थतो ज्ञान भवति, 'जे एगं जाणइ से सव्व जाणइ' इति,

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः ।
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा.
एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥४॥"

इति वचनतो जैनागमजन्यमपि ज्ञानं सर्वथा वस्त्वप्रकाशकत्वादनुपलब्धिरेव तथापि सर्वमनेकान्तात्मकमित्येवं सामान्यतो वस्तुनो ज्ञानं कथञ्चिदुपलब्धिरपि विशेषतश्चानुपलब्धिरपि, एतादृशानुपलब्धित्वं च केवलज्ञानेऽपि समस्त्येव सर्वमनेकान्तात्मकमित्यनेन सर्वान्तर्गतस्य केवलस्य यद्रूपापेक्षयोपलब्धित्वं तदन्यरूपापेक्षयाऽनुपलब्धित्वमपि, न त्वत्यन्तं, एकान्तवादिज्ञानं त्वत्यन्तानुपलब्धिरेवेति युक्तमनुपलब्धेरत्यन्तेति विशेषणम् , अत इति दृश्यभूतस्यास्मात् कारणादित्यर्थः, **ज्ञान-दर्शने** केवलज्ञान-दर्शने, **विशिष्टे** ज्ञानान्तरविलक्षणे, स्याद्वादकेवलज्ञाने सकलार्थविभासने इत्यत्र स्याद्वादजन्यज्ञानस्य सकलार्थविभासित्व यदुक्तं तत्सकलादेशमहिम्नेति विभावयन्तु सुधियः ॥१६॥

विचित्रकर्मनिमित्तकनिमित्तवैचित्र्यप्रयुक्तजीवगतफलवैचित्र्योपदर्शनायाह—

प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां वेद्यन्ते द्वीन्द्रियादयः ।
मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न वाऽन्यथा ॥१७॥

प्रार्थनाप्रतिघाताभ्यामिति । प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां भवता मह्यमिदं देयमिति याचना प्रार्थना, प्रतिघातः परस्पराभिमुखगत्यैकगत्या वा गतिप्रतिप्रतिबन्धकः संयोगविशेषस्ताभ्यां प्रार्थना-प्रतिघाताभ्याम्, **द्वीन्द्रियादयः** द्वीन्द्रियप्रभृतयो जीवा, "**वेद्यन्ते**" इति "वेष्टयन्ते" इत्यनयोः कः पाठः समीचीन इति स्तुतिकाराभिप्रायापरिज्ञानात् किमनेनोक्तमिति सन्देहाच्च नावधारितो मया, सम्यग् विचिन्त्य पाठावधारणं कर्त्तव्यम् , **अन्यथा** एवमनभ्युपगमे, **तेषु** द्वीन्द्रियादिजीवेषु, **न** च नैव, **मनःपर्यायविज्ञानं** पूर्वोपदर्शितस्वरूपम् , **युक्तं** समीचीनम् येन ततो द्वीन्द्रियादीनां फलविशेषा प्रार्थना-प्रतिघातावन्तरेणोपपद्येतेत्यर्थः ॥१७॥

फलवैचित्र्यप्रयोजकज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मोपदर्शयति—

निमित्तमन्तरायस्तं चतुष्कमपरं फलम् ।
मनुष्य-तिर्यग्भवयोः कर्मायुष्कपुरःसरम् ॥१८॥

निमित्तमिति । "अन्तरायत्त" इत्यस्य स्थाने "अन्तरायात्त" इति पाठो युक्त । **निमित्तं** दु खादिकारणराग-द्वेषादिनिमित्तम् , **अन्तरायात्त** अन्तरायस्य कर्मणोऽधीनम् , **चतुष्कं** काम-क्रोध-लोभ मोहचतुष्टयम् , **अपरं** अन्यत् , **फलं** कर्मफलम् , **मनुष्य-तिर्यग्भवयोः** मनुष्यगति-तिर्यग्जातयोर्जीवयो·, **कर्म आयुष्कपुरस्सरं** आयुष्कर्मपूर्वक कर्म निश्चितमित्युत्तरपद्यगतेन सम्बन्धः॥१८॥

निश्चितं मोहवेद्ये वा प्रसङ्गानुपपत्तितः ।
एकं नैकानुभावं वा बीजाद्यर्थप्रकारवत् ॥१९॥

निश्चितमिति । **वा** अथवा, **मोह-वेद्ये** मोहनीय-वेदनीयकर्मणी, भवत इति शेषः, तत्र हेतु· **प्रसङ्गानुपपत्तितः** इति दार-पुत्रादि-शिष्यादि-मणिकाञ्चनादिना प्रकर्षेण सङ्गस्य सम्बन्धस्य मोहनीय-वेदनीयकर्मणी विनाऽनुपपत्तेरित्यर्थः, फलभेदान्याथानुपपत्त्या निमित्तभेदोऽवश्यमुपेय इत्याह—**एक**मिति, एकं एकमेव कर्म, न त्वष्टविधम् , **एकानुभावं वा** अथवा, एकानुभावमेव कर्म नानेकानुभावम् , इति **न** नैव, उक्तमर्थं दृष्टान्तोपष्टम्भेन दृढयति, **बीजाद्यर्थप्रकार·वदि**ति बीजाद्यर्थस्य प्रकारो यथाऽनेकस्तथा कर्मणोऽपीत्यर्थ , न हि शालिबीज-गोधूमबीज-यवबीजादिकमेक न वा शालिबीज-गोधूमबीज-यवबीजादिप्रभ·वाणामङ्कुराणामैवय तथा प्रकृतेऽपीति भाव ॥१९॥

परिणाम-कर्मणोरप्यैक्य परस्परसादृश्य चेत्युपदर्शयति—

परिणामफलं कर्म परिणामस्तदात्मकः ।
तयोरन्योऽन्यसादृश्यं युक्तं नानेकधर्मतः ॥२०॥

परिणामफलमिति । **परिणामफल** परिणामः फल यस्य तत्परिणामफलमिति, बहुव्रीह्यादरे परिणामकारण कर्मेत्यर्थ , परिणामस्य फलं परिणामफलमिति तत्पुरुषाभ्युपगतौ परिणामकार्यम् , **कर्मे**त्यर्थ· एतद्द्वयमपि सम्भवति कर्मणः परिणामविशेषो भवति, परिणामविशेषाच्च कर्म भवतीति, तथा **परिणामः तदात्मकः** कर्मात्मकः परिणामः, कार्य-कारणयो· कथञ्चित् तादात्म्यात् परि-

णामि-परिणामिनोरपि कथञ्चिदभेदात्, तयोः कर्मपरिणामयोः, "नानेकधर्मतः" इत्यस्य स्थाने "नानैकधर्मतः" इति पाठो युक्तः । **नानैकधर्मतः** तस्य नानाधर्मतः एकधर्मतश्चेत्यर्थः, **अन्योऽन्यसादृश्यं** परस्परसादृश्यम्, **युक्तम्** समीचीनम्, नानेकधर्मत इति पाठस्यैवादरे तु काकुर्नकारः, तथा च अनेकधर्मतः सादृश्यं न युक्तमपि तु युक्तमेवेत्यर्थः ॥२०॥

आयुःकालफलं सौम्यः परिणामान्न विद्यते
गत्याद्यर्थपृथग् नाम मूलोत्तरनिबन्धवत् ॥२१॥

आयुरिति । "सौम्यः परिणामान्न विद्यते" इत्यस्य स्थाने "सौम्यपरिणामान्न भिद्यते' इति पाठो युक्तः । **आयुःकालफलं** आयुःकर्मणः यत्काले यावत् कालिकमायुःकर्म निबद्धं तावत्काल **एव** नोनाधिककाले फलमुपभोगः, **तत्सौम्यपरिणामात्** आयुःकर्मण एव यथाऽवस्थितपरिणामात् परिणाम एव स तादृशः येन युक्तसमय एव तत्फलम्, तस्माद् **न भिद्यते** न भिन्नं भवति, **गत्याद्यर्थपृथग् नामेति** गत्याद्यर्थं मनुष्यगति-तिर्यग्गत्याद्यर्थकं, पृथग् नाम नामकर्म विभिन्नम्, नामेत्युपलक्षणं गोत्रकर्मणोऽपि, तत्र "गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्गनिर्माण-बन्धन-सङ्घात–संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-वर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात-पराघातातपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्त-स्थिरादेय-यशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च" (८–१२) इति तत्त्वार्थसूत्रप्रतिप्राप्तं द्विचत्वारिंशद्विधं नामकर्मावसेयम्, उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विविधं गोत्रम्, एतावताऽष्टविधकर्मप्रकृतिः सूचिता, सा च मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभेदेन द्विविधेति सूचयति **मूलोत्तरनिबन्धवदिति** अष्टविधकर्मबन्धस्य प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्धाऽनुभावबन्ध-प्रदेशबन्धभेदेन चतुर्विधत्व तत्राद्यः प्रकृतिबन्धः सूचित इत्यर्थः ॥२१॥

स्थितिबन्धं दर्शयति—

स्थित्यन्तमन्यवैफल्याद् यथार्थप्रतिबोधकम् ।
तदौदारिकदेहाभ्यामन्यच्चातिप्रसङ्गतः ॥२२॥

स्थित्यन्तमिति । **स्थित्यन्तं** स्थितिपर्यन्तं कर्मणः प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्धोभयम्, **यथार्थप्रतिबोधकम्** कर्मणः प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्धौ सम्यग् विजानन् पुरुषः प्रतिबुद्धः सन् मोक्षाय घटत इति तदुभयं यथार्थप्रतिबोधकम्, **अन्यवैफल्यात्** अन्यस्य प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्धभिन्नस्य अनुभावबन्ध-प्रदेशबन्धद्वयस्य वैफल्यात्, यथार्थप्रतिबोधनप्रयोजनानुपयुक्तत्वात्, स्थितिश्चैवं कर्मप्रकृतीनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः, कर्मप्रकृतेर्मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः, नाम-गोत्रप्रकृत्योः विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः; कर्मण आयुष्कप्रकृतेः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः; उत्तरप्रकृतीनां स्थितिवैचित्र्यं तत्त्वार्थसूत्रभाष्यादितोऽवसेयम्, कर्मणामुदयावलिकाप्रवेशलक्षणो विपाकोऽनुभावबन्धः, प्रदेशबन्धस्तु "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशाः" (८–२५) इति तत्त्वार्थसूत्रतोऽवसेयः; उक्तस्वरूपं स्थित्यन्तं **तदौदारिकदेहाभ्यां** भवतीति शेषः, तत्पदेन कार्मणशरीरस्य ग्रहणम्, "अन्यच्चातिप्रसङ्गतः" इत्यस्य स्थाने "अन्यथाऽतिप्रसङ्गतः" इति पाठो युक्तः । औदारिक-वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणभेदेन शरीरं पञ्चधा, यत्र कार्मणं तत्र तैजसं नियतमिति कार्मणग्रहणेनैव तैजसं गृहीतं भवति, तत्र **अन्यथा** औदारिकमुपादायानुपादायापि वा वैक्रियस्याहारकस्य वोपादानेन स्थित्यन्तव्यवस्थत्यभ्युपगमे, **अतिप्रसङ्गतः** अतिप्रसङ्गापत्तेरित्यर्थः ॥२२॥

निर्ग्रन्थसंयता रागान्यनुबन्धस्थितिक्रमात् ।
द्विविधा एव सामर्थ्यादनन्ता वाऽपि सिद्धवत् ॥२३॥

निर्ग्रन्थसंयता इति । **निर्ग्रन्थसंयताः** निर्ग्रन्था ग्रन्थरहिताः संयताः साधवः निर्ग्रन्थाश्च ते संयताश्च निर्ग्रन्थसंयताः, पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकभेदेन पञ्चविधा निर्ग्रन्थाः, ग्रन्थः कर्माष्टप्रकारं मिथ्यात्वाविरति(कषाय)-दुष्प्रणिहितयोगाश्च, तज्जये प्रवृत्तानि निर्ग्रन्थानि निर्गच्छद्ग्रन्था निर्ग्रन्था धर्मोपकरणादृते परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरोपधयो निर्ग्रन्थाः, तत्र सततमप्रतिपातिनो

जिनोक्तादागमान्निर्ग्रन्थपुलाकाः, नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्त्तिनः ऋद्धि-यशस्कामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराः छेदशवलयुक्ता निर्ग्रन्था बकुशाः, कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः, कषायकुशीलाश्च, तत्र प्रतिसेवनाकुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियमितेन्द्रियाः कथञ्चित् किञ्चिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः, येषां तु संयताना सतां कथञ्चित् संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः ये वीतरागछद्मस्था ईर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्थाः, ईर्यायोगः पन्था· संयमः योगसंयमप्राप्ता इत्यर्थः, सयोगाः शैलेशिप्रतिपन्नाश्च केवलिनः स्नातका इत्येवं निर्ग्रन्थसंयता आकरे प्रतिपादिताः, "रागान्य°" इति स्थाने "रागाद्य°" इति पाठो युक्तः, ते निर्ग्रन्थसंयता **रागाद्यनुबन्धस्थितिक्रमाद् द्विविधा एव वा** अथवा, **सामर्थ्यात्** अवान्तरस्वस्वासाधारणक्रियालक्षणधर्मयोगाद् , **अनन्ता अपि** अनन्तसङ्ख्यका अपि भवन्ति, **सिद्धवत्** मुक्तवत् अष्टविधकर्मक्षयलक्षणसिद्धिमत्त्वेन सर्वेषां मुक्तानामैक्येऽपि एकसमयसिद्ध-द्विसमयसिद्धेत्यादिभेदेन यथा सिद्धा अनन्तसङ्ख्यकास्तथेत्यर्थः ॥२३॥

सिद्धान्ते धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकाय-पुद्गलास्तिकाय-जीवास्तिकायभेदेन पञ्चास्तिकायाः प्ररूपिताः, तत्र निश्चयनयतो जीव-पुद्गलयोरेव परिग्रहपरिशुद्ध इत्युपदर्शयति—

प्रयोगविश्रसा कर्म तदभावस्थितिस्तथा ।
लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माधर्मयोः फलम् ॥२४॥

प्रयोगेति । **प्रयोग-विश्रसाकर्म** प्रयोगः पुरुषप्रयत्नः, विश्रसा स्वभावपरिणामः ताभ्यां प्रयोग-विश्रसाभ्यां यद्गतिलक्षणं कर्म यच्च केवलप्रयत्नसाध्यं कर्म, यच्च केवलस्वभावजनितं कर्म, एतत् कर्मत्रयं गतिलक्षणं प्रयोगविश्रसा कर्मेत्यनेनोक्तं, **तथा** तद्वत्, **तदभावस्थितिः** पुरुषप्रयत्नेन गतिप्रविरोधकेन क्वचित् स्वभावतश्च गत्यभावलक्षणा स्थितिः, इत्येवं गति-स्थिती एव, लोकानुभाववृत्तान्तः लोकाकाशस्य कार्यप्रकारः, किं एतद्व्यतिरिक्त किं धर्माधर्मयोः धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकाययोः फलं कार्यम् न किञ्चित् फलमित्यर्थः, धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाभ्या परिच्छिन्नमाकाशमेव लोकः, धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकाय-

विकलमाकाशमेवालोकः, एवं च गत्युपष्टम्भकारी धर्मास्तिकायः, स्थित्युपष्टम्भकारी चाधर्मास्तिकायो न भवेतां तदा तत्परिच्छिन्नाकाशस्वरूपस्य लोकस्य, तदभावविशिष्टाकाशस्वरूपस्यालोकस्य व्यवस्थैव न भवेत् तथा सति गतिमतोः स्थितिमतोश्च जीव-पुद्गलयोः सर्वेष्वाकाशप्रदेशेषु गमनं स्थितिश्च तावतामेव प्रदेशानां तयोर्निमित्तत्वमेकानुगमकधर्ममन्तरेण सम्भवति, तेषामनन्तानां स्वस्वासाधारणधर्मेण निमित्तत्वाभ्युपगमे त्वनन्तकार्य-कारणभावप्रसङ्ग इत्यभ्युपगन्तव्यौ धर्माधर्मास्तिकायावित्यभिसन्धिः ॥२४॥

अवगाहकानां जीव-पुद्गलानामवगाहप्रदानफलक आकाशास्तिकायोऽभ्युपेय इत्याह—

आकाशमवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा ।
तावप्येवमनुच्छेदात् ताभ्यां वाऽन्यमुदाहृतम् ॥२५॥

आकाशमिति । **आकाशमवगाहायेति** भवतीति शेषः, दूरत्वान्तिकत्वादिधीनिमित्तमप्याकाशमेव तत एव दैशिक-परत्वापरत्वयोः प्राची-प्रतीच्यादिव्यवहारस्य चोपपत्तिरित्याकाशाव्यतिरिक्तैव दिगित्याह—**तदनन्येति** आकाशादभिन्नेत्यर्थः, **दिग्** दिशा, अवगाह्यतया क्लृप्तस्याकाशस्य दिक्कार्यकारित्वाभ्युपगमे गत्युपष्टम्भकतया क्लृप्तस्य धर्मस्य स्थित्युपष्टम्भकतया क्लृप्तस्याधर्मस्य च दिक्कार्यकारित्वमस्त्वित्येवं विनिगमनाविरहेऽस्त्वतिरिक्ता दिगित्यत आह—**अन्यथेति** आकाशाव्यतिरिक्ततया दिशोऽनभ्युपगमे आकाशव्यतिरिक्ततयैव दिशोऽभ्युपगमे इति यावत्, **तावपि** लोकालोकावपि, **एवं** दिग्वत् आकाशव्यतिरिक्तौ प्रसज्येते इति शेषः, यथा चाकाशवदनुच्छेदान्नित्या दिगुपेयते परैस्तथालोकालोकावपि सर्वदा व्यवस्थितावनुच्छेदान्नित्यावित्याह—**अनुच्छेदादिति**, **वा** अथवा, **ताभ्यां** लोकालोकाभ्यां धर्माधर्माभ्यां वा, **अन्यम्** अतिरिक्तम् , **उदाहृतम्** उपदिष्टं स्यादिति शेषः, न चैवमुदाहृतमतो निश्चीयते यथा सोपाधिकाकाशस्वरूपावेव लोकालोकौ धर्माधर्मौ, तदभावो चोपाधी, एवमेवाकाशस्वरूपैव दिक् पृथक्तया समयेऽनुदाहृतेरित्यर्थः ॥२५॥

नूनं नव्ययुक्तिसूत्रणसूत्रधारेण भवता समयेऽनुदाहृता अपि पदार्था कथं न प्रतिपाद्यन्ते इत्यत आह—

प्रकाशवदनिष्टं स्यात् साध्ये नार्थस्तु नः श्रमः ।
जीव-पुद्गलयोरेव परिशुद्ध परिग्रहः ॥२६॥

प्रकाशवदिति । **प्रकाशवद्** लोकैराकाशे निर्मले स्वच्छे-प्रकाशोऽयमिति व्यवह्रियते किन्तु प्रकाश उद्भूतानभिभूतरूपवत्तेजोविशेष एव तस्योपचार एवाकाशे, वस्तुतस्तस्य तत्राभ्युपगमे पौद्गलिकत्वमनिष्टमापद्येत, तथा **साध्ये** साधयितुं शक्ये समयानुपदिष्टे वस्तुनि, **अनिष्टं स्यात्** यदि सप्रयोजनः स पदार्थो भवेत् तदा युज्येताऽपि तत्साधनं, किन्तु तदर्थोऽन्यत एव भावयितुं शक्य इति **नार्थः** अन्यतोऽलभ्यस्तदर्थो नास्ति येन तदर्थं समयानुपदिष्टोऽपि युक्तियुक्तः स्यात्, **तु** पुनः तथा प्रसाधने, **नः** अस्माकम्, **श्रमः** श्रम एव केवलम्, अतो नैगमादिनयावलोकिता अपि केचन पदार्था नात्र निश्चयनये भाविताः, धर्माधर्माकाशानामपि निश्चयनये परिग्रहोऽपरिशुद्ध एव किन्तु **जीव-पुद्गलयोरेव परिग्रहः परिशुद्धः** इत्यर्थः ॥२६॥

ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयरहितानां साद्यनन्तसर्वविषयोपयोगभाजा जिनानामिन्द्रियरहितत्वमुपदर्शयति—

इन्द्रियाण्यात्मलिङ्गानि त्वगादिनियमः पुनः ।
निकामविषया व्याला जिनाश्चैवमतीन्द्रियाः ॥२७॥

इन्द्रियाणीति । **इन्द्रियाण्यात्मलिङ्गानि** इन्द्रस्यात्मनः सम्बन्धीनि इन्द्रियाणि, अत एवात्मनो ज्ञापकत्वेनात्मलिङ्गानि आत्मचिह्नानि इन्द्रियात्मकलिङ्गेनाऽऽत्माऽनुमीयते, एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजीवेत्येव विभजनाय, **पुनः**, **त्वगादिनियमः** स्पर्शनेन्द्रियादिनियमः, तेषां स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-शब्दलक्षणाः, **निकामविषया व्यालाः** सर्पा इव सम्बन्धमात्रेण जीवान् मूर्च्छयन्तीति, **जिनाश्च** राग-द्वेषजेतारः केवलिनः पुनः, **एवम्** इन्द्रियविषयकृतमोहरहितत्वेन, **अतीन्द्रियाः** इन्द्रियातिक्रान्ता इत्यर्थः ॥२७॥

मुक्तिगमनायोग्यादभव्यजीवाद् भव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यजीवस्य वैलक्षण्यमुपदर्शयति—

बुद्ध्यापोहतमःसत्त्वं जातु गव्ये न युज्यते ।
तीव्रमोहानुबन्धस्तु स्यात् कश्चित् कस्यचित् क्वचित् ॥२८॥

बुद्ध्येति । "बुद्ध्यापोहतम" इत्यस्य स्थाने "बुद्ध्यपोहत्तमः" इति पाठो युक्तः, "गव्ये" इत्यस्य स्थाने "भव्ये" इति पाठ समीचीनः । **भव्ये** अनादिभव्यत्वपरिणामशालिनि जीवे, **बुद्ध्यापोहत्तमःसत्त्वं** बुद्धेः अह भव्यो नवा अहं मुक्तिगमनयोग्यो नवेत्यादि सशयात्मकबुद्धेः अपोहत् प्रथमत एवोत्पादप्रतिरोधकारि यत्तम· ज्ञानावरणलक्षणकर्मांशस्वरूपान्धकारस्तस्य सत्त्व सद्भावः, **जातु** कदाचिदपि, **न युज्यते** न सम्भवति, भव्यजीवस्यैवाहं भव्यो न वा अहं मुक्तिगमनयोग्यो न वेति संशयः सभवति, यस्य नैवंविधा बुद्धिः सोऽभव्य एवेत्यर्थ·; **क्वचित्** दारादिविषये, कस्यचिद् भव्यजीवस्य, **कश्चित् तीव्रमोहानुबन्धस्तु** पुन·, **स्याद्** भवेदित्यर्थः ॥२८॥

ननु मुक्त्यर्थं तदुपायस्य सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूपस्य निरूपण न कर्त्तव्यम् मुक्तेरेवाकाम्यत्वात्, कालस्यानाद्यनन्तत्वेन यदा कदाचिदप्येकैकजीवस्य मुक्तत्वे सर्वेषामेव जीवाना क्रमेण मुक्तिप्राप्तौ प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणस्य जगतो व्यवहारस्य व्यवहर्तॄणामभावे सर्वथोच्छेद एव प्रसज्येतेत्येतद्भयान्न मुक्तिः काम्येति तदुपायगवेषणं न कर्त्तव्यम्, आवरणकर्मपुद्गलाना चानन्त्येन केषाञ्चिज्जीवप्रदेशेभ्यः सर्वथाऽपासारणेऽप्यन्येषा पुनर्जीवप्रदेशै· सम परस्परानुविद्धत्वसम्भवेन मुक्तस्यापि कर्मक्लेशादिदोषाघ्रातजन्मसम्भवो वारयितुमशक्य एवेत्यत आह—

सत्त्वोच्छेदभयं तुल्यमनुक्तेऽप्यपवर्गतः ।
न च जन्ममहादोपमानन्त्यात् तु न वध्यते ॥२९॥

सत्त्वेति । **सत्त्वोच्छेदभयमिति** सत्त्वाना जीवानामशेषाणा मुक्तिप्राप्तितो जगति तदभावलक्षणोच्छेदस्य सम्भावितस्य भयमित्यर्थ·, **तुल्यं** पर-

वादिनोऽपि समानम्, तत्र हेतुः **अनुक्तेऽप्यपवर्गतः** इति आत्मनो जीवेश्वरभेदेन द्वैविध्यमभ्युपगच्छन्तो नैयायिकादय', ईश्वरस्यानादिमुक्तत्व स्वीकुर्वन्ति, एवं चेश्वरेऽनुक्तेऽपि आवरणकर्मलक्षणाञ्जनलेपरहितेऽप्यपवर्गभावात् सर्वे जीवात्मानोऽपवृज्यन्ते आत्मत्वादीश्वरात्मवदित्यनुमानेन सर्वमुक्तिसिद्धेः सत्त्वोच्छेदभयं तेषामपि स्यादेव, एवं क्षणिकविज्ञानसन्ततिस्वरूपात्मवादिनां बौद्धानामपि चरमस्य विज्ञानक्षणस्यानुक्तस्यैव मुक्तेस्तद्दृष्टान्तेनान्यस्यापि विज्ञानक्षणस्याशेषस्य मुक्तिप्राप्तौ विज्ञानसन्ततिलक्षणसत्त्वोच्छेदभयतुल्यमेवेत्यर्थः एतच्चाभ्युपगमवादेनोक्तम्, वस्तुतो जैनमते सर्वे आत्मानो मुक्तिं गमिष्यन्तीति सम्भावनैव नास्ति कुतः सत्त्वोच्छेदभयं, तत्र आत्मनो मुक्तिगमनस्वरूपयोग्यत्वं नात्मत्वेन किन्तु भव्यत्वेन, य एव भव्यो जीवः स एवापवृज्यते, भव्या अपि जीवा अनन्ता इति येषामेव भव्यानां सम्यग्ज्ञानादिसमवधानं तेषामेवापवर्गो नान्येषामिति न सर्वभव्योच्छेदभयमपीति ध्येयम्, मुक्तस्य पुनर्जन्मलक्षणमावर्त्तनमपि न सम्भवतीत्याह—**न च जन्ममहादोषमि**ति महान् दोषो यत्र तन्महादोषम्-एवम्भूतं जन्म, न च न भवति, बन्धकारणस्यास्रवस्याभावादावरणकर्मपुद्गलाना विसकलितानामनन्तानां सद्भावेऽपि न बन्ध इत्याह—**आनन्त्यात् तु न बध्यते** इति ॥२९॥

आनन्त्यस्य बन्धनेऽकिञ्चित्करत्वमेव निदर्शनावष्टम्भेन द्रढयति—

नेन्धनानन्त्यतो वह्निश्चीयते नावचीयते ।
तन्मात्रं वा तथाऽन्योऽन्यगतयः स्कन्धपुद्गलाः ॥३०॥

नेन्धनानन्त्यत इति । **इन्धनानन्त्यतः** जगति-वह्निदहनस्वरूपयोग्यान्यनन्तानीन्धनानि काष्ठादीनीत्येवमिन्धनानन्त्यतः, **वह्निः** कतिपयकाष्ठादिदाह्योपजातोऽग्नि', **न चीयते** न पूर्वपरिमाणाधिकपरिणामो भवति, **अवचीयते** यावत्परिमाणक' समुत्पन्नस्ततो न्यूनपरिणामः, **न** नैव भवति, **वा** अथवा, **तन्मात्रं** नञोऽनुकर्षः यावन्मात्रं वह्निरुत्पन्नः तन्मात्र तत्प्रमाणक एव निर्वाणं यावन्नावतिष्ठते किन्तु मध्ये तत्रेन्धनान्तरस्य प्रचुरस्याल्पस्य वा प्रक्षेपे तदनुगुणपरिमाणको भवति, इन्धनान्तरस्याप्रक्षेपे च क्षीण-क्षीणतरप्रमाणो भूत्वा स्वयमेवोपशाम्यति तथा अनेनैव प्रकारेण, **स्कन्धपुद्गला अन्योऽन्यगतयः** भवन्ति ॥३०॥

तत्त्वसाधनप्रक्रियामुपसंहरति —

प्रतीत्य प्रतिसंख्याय द्रव्यव्यञ्जनपर्ययात् ।
समग्रविकलादेश-निषेधाभ्यां च साधयेत् ॥३१॥

प्रतीत्येति । "द्रव्यव्यञ्जनपर्ययात्" इत्यस्य स्थाने "द्रव्य-व्यञ्जनपर्ययान्" इति पाठो युक्तः । **द्रव्य-व्यञ्जनपर्ययान्** द्रव्यं पूर्वोत्तरपर्यायानुगतं मृत्सुवर्णादिकमूर्ध्वतासामान्यं, व्यञ्जनं शब्दप्रवृत्तिनिमित्त विभिन्नदेशानुगतं समानाकारपरिणामस्वरूपं घटत्वादितिर्यक्सामान्यं, पर्ययो विशेषः घट-शरावोदञ्चनादिः कटक-केयूरादिश्च सहभावि-क्रमभाविभेदेन पर्ययो द्विविधः तत्र सहभाविपर्ययो गुण इत्यभिधीयते, क्रमभाविपर्ययं पर्याय इत्येवोच्यते, तान् द्रव्य-व्यञ्जनपर्ययान्, **प्रतीत्य** अपेक्षया, **परिसंख्याय** सर्वतोभावेन निश्चित्य, इदमेतदपेक्षयोर्ध्वतासामान्यमिदमेतदपेक्षया तिर्यक्सामान्यमयमेतदपेक्षया पर्यायि इत्येवं प्रतीत्य परिसंख्याय स्वस्वनिमित्तापेक्षया स्वस्वासाधारणस्वरूपेण निर्णयेनेति यावत्, द्रव्य-व्यञ्जनपर्ययानित्यस्य, **साधयेदि**त्यनेनान्वयः, साधनस्य कथ भावाकाङ्क्षानिवृत्तये त्वाह–**समग्रविकलादेश-निषेधाभ्यां चेति** समग्रश्च विकलश्च समग्रविकलौ-आदेशश्च निषेधश्चादेश-निषेधौ समग्र-विकलयोरादेश-निषेधौ समग्रविकलादेश-निषेधौ ताभ्या समग्रस्यानन्तधर्मात्मकानेकान्तस्वरूपस्य द्रव्यादेरादेश. स्यात्पदघटितवाक्येन सप्तभङ्गयात्मकेन प्रतिपादन, विकलस्य स्वस्वनिमित्तानपेक्षैकान्तद्रव्यादिस्वरूपस्य निषेधः एवम्भूत द्रव्यादिकं नास्त्येवेति प्रतिषेध. ताभ्यां स्वपक्षस्थापनपरपक्षखण्डनाभ्यां द्रव्य-व्यञ्जनपर्यायाणा साधनं सुदृढं भवतीत्यर्थ. ॥३१॥

[अतः परमेकं पद्यं त्रुटितं प्रतिभाति ।]

एकोनविंशतितमी दुरूहार्थैकबोधिका ।
द्वात्रिंशिकेयं व्याख्याता लावण्येनास्तु मोददा ॥

इति एकोनविंशतितमीद्वात्रिंशिकायाः व्याख्या समाप्ता ।

विंशतितमी दृष्टिप्रबोधद्वात्रिंशिका ।

नानानयसमुद्गारानेकान्तवचनामृतम् ।
यस्मादुद्गतमाप्तं त वीरं नौमि जिनेश्वरम् ॥१॥

सर्वदर्शनसाम्राज्याधारं स्याद्वादसेवकम् ।
सूरीशं नेमिसूर्याख्यं गुरुं नौमीष्टसिद्धये ॥२॥

गूढार्था विंशतितमी येयं द्वात्रिंशिका वरा ।
सूरिर्लावण्यसंज्ञस्ता विवृणोति यथामति ॥३॥

प्रमाणमूर्द्धाभिषिक्तं स्याद्वादलक्षणं वीरस्य शासन सर्वतत्त्वोपदेशरूपतया सर्ववादेभ्यः प्रकृष्टतममिति दर्शयति—

उत्पाद्-विगम-ध्रौव्य-द्रव्य-पर्यायसंग्रहम् ।
कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥१॥

उत्पादेति । "श्रीवर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य उत्पाद-विगम-ध्रौव्य-द्रव्य-पर्यायसग्रहं कृत्स्नं शासनम्" जयतीतिक्रियाध्याहारेणान्वयः । **श्रीवर्धमानस्य** ज्ञानादिलक्ष्म्या जन्मत उत्तरोत्तरं वृद्धयैकभाजनस्य, **वर्धमानस्य** वर्धमाननाम्नोऽपश्चिमतीर्थङ्करस्य वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः, **उत्पाद्-विगम ध्रौव्य-द्रव्य-पर्यायसंग्रहम्** इति यद्यपि नैयायिकादिभिरपि प्रथमक्षणे घटादिरुत्पद्यते द्वितीयादिक्षणेऽवतिष्ठते मुद्गरपातादिकारणसम्पत्तौ सत्या विनश्यतीत्येवमुत्पादविगमध्रौव्यसङ्कलनं परमतेऽप्यस्ति तथापि यस्मिन् क्षणे यस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्य विलयस्तथा कालत्रयवृत्तित्वलक्षणं ध्रौव्य चेत्येव वस्तुमात्रे प्रतिक्षणमुत्पाद-विगम- ध्रौव्यसङ्घटन नैकान्तवादे श्रीवीरजिनवरदर्शितेऽनेकान्तवादे स्याद्वादे तु यस्मिन्नेव क्षणे पृथुबुध्नोदराद्याकारसमानपरिमाणादिलक्षणतिर्यग्सामान्यघटत्वादिरूपेण घटादिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे कपालादिपूर्वपर्यायात्मना विनश्यति तदानीमेव च मृत्पुद्गलादिस्वद्रव्यात्मनाऽवतिष्ठत इत्येवमपेक्षाभेदेनैकदाऽप्येकत्रापेक्षाभेदेनोत्पाद-विगम-ध्रौव्यसङ्गमनं भवति, परमते तु घटादिप्रतिनियतवस्तुन्येव काल-

भेदेनाप्युत्पादादित्रयसम्भवो न वस्तुमात्रे, यतोऽनादिस्थितिकोऽपि प्रागभावो विनश्यत्येव प्रतियोग्युत्पादत· न तु तदुत्तरकालमवतिष्ठते, उत्पद्यते तु न कदाचिदपि, एवं ध्वंसः पूर्वमसन्नेवोत्पद्यते, न च कदाचिदपि विनश्यति नित्यद्रव्य-नित्यगुणसामान्य-विशेष-समवाया भावा अभावावत्यन्ताभावान्योऽन्याभावौ नोत्पद्यन्ते नापि विनश्यन्ति केवलं सदाऽवतिष्ठन्त्येव, ननु कपालादेर्विनाशोऽन्य एव मृद्रूपावस्थानमपि घटादन्यदेव, घटस्य तु प्रथमक्षणे उत्पाद एव केवलमिति स्याद्वादेऽपि नोक्तत्रयाणामेकत्र सङ्घटनमिति चेत् स्याद्वादानवबोधविजृम्भितमेवैतत्, यतः सदसत्कार्यवादे स्याद्वादे द्रव्यमुत्तरोत्तराखिलपर्यायानुगतं तदविष्वग्भूतं वस्तु भवति यथा मृत्पिण्डकपालिकाकपालघटमृच्छकलचूर्णादिसकलपर्यायैः सह भिन्नाभिन्नाऽनुगता मृद्द्रव्यमिति स्वाभिन्नमृद्द्रव्यरूपेणोत्पत्तित· पूर्वकाले विनाशानन्तरं च घटोऽवतिष्ठन्नेव पृथुबुध्नादराद्याकारोत्पादकालेऽप्यवतिष्ठत इति मृद्द्रव्यरूपेण ध्रौव्यरूपता तस्य, विनाशो नातिरिक्ताभावात्मा, किन्तूत्तरोत्तरपर्याय एव पूर्वपूर्वपर्यायविनाश इति घटात्मकपर्याय एव कपालपर्यायध्वंस इति भवति कपालात्मना घटो विनाश इति तेषा चोत्पाद-विगम-ध्रौव्याणां तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेनोत्पादाभिन्नघटाभिन्नत्वेन विगम-ध्रौव्ययोरुत्पादाभिन्नत्व विगमाभिन्नघटाभिन्नत्वेनोत्पाद-ध्रौव्ययोर्विगमभिन्नत्वं ध्रौव्याभिन्नघटाभिन्नत्वेनोत्पाद-विगमयोर्ध्रौव्याभिन्नत्वमित्येवं परस्पराभिन्नत्वमुत्पादत्व-विगमत्व-ध्रौव्यात्वधर्मैश्च परस्परभिन्नत्वमिति ये चात्माकाशपरमाण्वादयो नित्यास्तेषामपि स्वस्वरूपद्रव्यरूपेण नित्यत्व स्वस्वपर्यायस्वरूपेणोत्पाद-विगमरूपत्वादनित्यमित्येवं वस्तुमात्रस्य जैनमते प्रतिक्षणमुत्पाद-विगम-ध्रौव्यरूपत्वम् । ननु भवतूक्तदिशा जैनमते मातान्तरतो विशेषः, सन्ति बहवो विशेषास्तत्र, तान् विशेषान् प्रथमतोऽनुपदर्श्योत्पाद-विगम-ध्रौव्याणामेव प्रथमत उपदर्शनं विपर्ययमिति चेत्, इदमत्र समाधानम्— प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्थिति· सदेव प्रमाणं सत्येव वस्तुनि प्रवर्त्तते, नासत् प्रमाणं नासति प्रवर्त्तत इति एवं च सत्त्वस्य प्रथमोपदर्शनव्यवस्थितौ नैयायिकाद्यभिमतसत्तासामान्यस्वरूपं तन्न वाच्यं, यतो द्रव्यगुणकर्मस्वेव साऽङ्गीकृता न सामान्यादिपदार्थान्तरेषु, कथ च तथा स्यात्, सत्सदित्यनुगतप्रतीतिर्हि सत्ता, निमित्तकासत्ता विषयिणीसत्ता साधिका सा यथा द्रव्यादिषु त्रिषु तथा सामान्या-

दिष्वपि, द्रव्यादिषु समवायेन वृत्तेर्मुख्या सा, सामान्यादिषु स्वाश्रयसमवायादि-परम्परासम्बन्धेन वृत्तेरुपचरिता सेति तु सामान्यादिषु समवायेन वृत्तेर्मुख्या सा, द्रव्यादिषु स्वाश्रयवत्त्वसम्बन्धेन वृत्तेरुपचरितेत्येवमपि वक्तुं शक्यतया विनिगमनाविरहात् कल्पना दुष्कल्पनैव, समवायो द्रव्यादिष्वेव त्रिषु वर्त्तत इत्यत्र च न किञ्चन्नियामकम्, अविष्वग्भावव्यतिरिक्तं च समवायः सम्मतिवृत्त्याद्याकरग्रन्थेषु प्रतिषिद्ध एव। वेदान्तिना च पारमार्थिक-व्यावहारिक-प्रातीतिक-भेदेन त्रिविधं सत्त्वमुक्तं, तत्र ब्रह्म सदितिप्रतीतौ कालत्रयाबाध्यत्वलक्षणं पारमार्थिकसत्त्वं विषयः, घटः सन् पटः सन्नित्यादिप्रतीतौ व्यवहारकालाबाध्यत्वलक्षणं सत्त्वं विषयः, प्रातीतिकशुक्ति-रजतादिविशेष्यकसत्त्वप्रकारकप्रतीतौ, प्रतीतिकालाबाध्यत्वलक्षणं प्रातीतिकसत्त्वं विषय इत्युपगमे एका सर्वानुगता सत्तैव नास्ति, अननुगतानां च तासां नानुगतसत्सदितिप्रतीतिनिमित्तत्वविषयत्वे इति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वमेव सत्त्वम्, तदभिसन्धानेनैव भगवता श्रीउमास्वातिना "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सत्त्वलक्षणप्रतिपादकं सूत्रं निबद्धमिति युक्तं सत्त्वलक्षणभावमुपगतानामुत्पाद-विगम-ध्रौव्याणां प्रथमत उपदर्शनम्, तत्रोत्पाद-विगमौ पर्यायौ पर्यायार्थिकनयाभिमतौ ध्रौव्यं च द्रव्यमिति द्रव्यार्थिकनयाभिमतमित्यभिसन्धानेनोत्पाद-विगमयोर्ध्रौव्यस्य चाभिधानमुत्पाद-विगम-ध्रौव्ये-त्येवंरूपेण, न तु उत्पाद विगमयोर्मध्ये ध्रौव्यस्योक्तिः, द्रव्यं पूर्वापरपर्यायानुगतमेकं नित्यम्, गुण-पर्यायवत्त्वं द्रव्यस्य लक्षणम्, यद्यपि गुणोऽपि पर्याय एव, तथापि सहभावी धर्मो गुणः क्रमभावी पर्याय इत्येवं पर्यायस्य द्वैविध्यमाश्रित्य द्रव्यलक्षणे तयोः पार्थक्येनाभिधानम्, पर्यायो नाम धर्मः, स द्विविधः सहभावी क्रमभावी च, तत्र सहभावी गुणः, जीवस्य उपयोगादिः अजीवस्य पुद्गलादेर्वर्ण-स्पर्शादिः क्रमभावी क्रियादिः पर्यायसामान्यशब्देनैवाभिधीयते, उपयोगस्य मत्यादयो वर्णादेश्च नीलादयः क्रमभाविनः पर्याया एव, द्रव्यं च जीवाजीवभेदेन द्विविधम्, तत्र जीवः संसारी मुक्तश्च, अजीवो धर्माधर्माकाश-पुद्गल-कालभेदेन पञ्चविधः, आद्याश्चत्वारोऽस्तिकायाः जीवोऽप्यस्तिकायः कालस्त्वस्तिकायो न भवति, सामान्य-विशेषौ न पदार्थान्तरं, किन्त्वनुगतबुद्धिविषयत्वाद् व्यावृत्तबुद्धिविषयत्वाच्च जीवादय एव सामान्य-विशेषोभयस्वभावाः, उक्तं च हेमसूरिणा—

"स्वतोऽनुवृत्ति-व्यतिवृत्तिभाजो
भावा न भावान्तरनेयरूपा. ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्वाद्
द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥१।" इति ।

सामान्यं चोर्ध्वतासामान्य-तिर्यक्सामान्यभेदेन द्विविधम्, तत्र पूर्वोत्तर-पर्यायप्रवाहानुगतं मृदादिद्रव्यमेवोर्ध्वतासामान्यं, विभिन्नदेशव्यवस्थितानेकघटादि-व्यक्तिगतसमानपरिणामलक्षणं घटत्वादिक तिर्यक्सामान्यं पर्याय एवेति, तथा च उत्पादश्च विगमश्च ध्रौव्यश्च द्रव्यं च पर्यायाश्चोत्पाद-विगम-ध्रौव्यद्रव्यपर्याया-स्तेषा सङ्क्षेपेण ग्रहणं निरूपणं सङ्ग्रहो यत्र शासने तत् **उत्पाद-विगम-ध्रौव्यद्रव्यपर्यायसंग्रहम्**, निरूपणं चोद्देशलक्षणपरीक्षात्मकम्, तत्र नाममात्रेण वस्तुकथनमुद्देशः, असाधारणधर्मो लक्षणं, तच्च व्यवहृतिफलकं, इतरभेदानुमिति-फलकं वा, अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसभवदोषनिराकरणपरमिदं सम्भवति नवेति शङ्का-समाधानस्वरूपविचार. परीक्षा अथवा परमतनिराकारणपूर्वकस्वमतव्यवस्थापनं परीक्षा, अतिविस्तृतमपि वर्धमानजिनशासनं वस्तुष्वनन्तानामनभिधेयपर्यायाणां सद्भावान्न विशेषतस्तदभिधानप्रगल्भमिति, संक्षिप्तग्रहणमेवेति सङ्ग्रहमित्युक्तम् यावतांशेनोत्पादादिग्रहणप्रवणं शासनं तावतांशेन परिपूर्णमेव तत् एवंविधत्वं च न शासनैकदेशस्येति, **कृत्स्नमिति** सम्पूर्णमित्यर्थः, **शासनं** मुक्तिमार्गोप-दर्शकं शास्त्रम् अध्याहृतस्य जयतीति, क्रियापदस्य सर्वाण्यागमातिशायित्वेन सर्वो-त्कर्षेण वर्त्तत इत्यर्थः ॥१॥

वर्धमानजिनशासनस्यानेकान्तवादस्याभिधेयमुत्पादादिलक्षणमुक्त्वा तत्प्रयोजन-मुपदर्शयति—

अपायापोहतोऽन्योऽन्यं हन्यतो वा तदेव वा ।
ग्रन्थार्थः स्व-परान्वर्थौ विध्युपायविकल्पतः ॥२॥

अपायापोहत इति । "अन्योऽन्यं हन्यतोऽपायापोहतो वा ग्रन्थार्थः, तदेव वा ग्रन्थार्थ. विध्युपायविकल्पतः स्व-परान्वर्थः" इत्यन्वयः । **अन्योऽन्यं** पर-स्परपक्ष, 'हन्यतः' इत्यस्य स्थाने 'निघ्नतः' इति पाठो युक्तः । **निघ्नतः**

प्रतिक्षिपत एकान्तवादिन इति तदर्थः, **अपायापोहतो वा** सत्कार्यवादोऽसत्कार्यवादो नित्यत्ववादोऽनित्यत्ववादो अस्तित्ववादो नास्तित्ववाद इत्येत्र बहुविधो वा वादिवाद स्वरूपतः प्रतिक्षेप्तुमशक्यः, सर्वस्यापेक्षाभेदेनोपपन्नत्वात् किन्तु अपायस्य सद्बोधप्रतिबन्धकत्वेन विघ्नरूपस्यापेक्षाविनिर्मोकलक्षणैकान्तस्य, अपोहतो निराकरणतः, वेति विकल्पे, **ग्रन्थार्थः** एकान्तत्वापगम एव स्याद्वादरूपस्यापेक्षाभेदेन सदसत्कार्यादिप्रतिपादकग्रन्थस्यार्थः प्रयोजनम्, **वा** अथवा, **तदेव** सापेक्षमन्योऽन्यमेव, **ग्रन्थार्थः** कीदृशो ग्रन्थार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह—**विध्युपायविकल्पतः** सत्कार्यत्वादेर्यो विधिरस्तित्वेन स्थापन तस्य यः उपायो निमित्तं तस्य यो विकल्प. विविधः कल्पः एतदपेक्षयोत्पत्तितः प्राक् कार्यस्य सत्त्वमित्यादिस्तस्मात्, स्व-परान्वर्थः स्वस्य वादिनः परस्य प्रतिवादिनोऽन्वर्थः मतमाश्रित्यानुकूलोऽर्थस्तत्त्वम्, यादृशाभ्युपगमेन स्व-परपक्षावुभावप्युपपद्येते तादृशः स्याद्वादाकलितसत्कार्यत्वादिर्ग्रन्थार्थ इति मुकुलितोऽर्थः, अथवा मीमांसक-नैयायिकौ बौद्ध-कापिलौ चैत्र-मैत्रौ शास्त्रार्थं कुरुतः, त्वमनेन सह शास्त्रार्थं कुरु, कृतश्चानेन शास्त्रार्थ इत्यादिर्व्यवहारो भवति, तत्र कः शास्त्रार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह—अपायापोहत इति, यस्य कस्यापि निश्चयोऽपायो भवति, प्रकृते स्वपक्षनिश्चय, अपोहो निषेधः प्रकृते परपक्षनिराकरण ततः स्वपक्षस्थापन-परपक्षनिराकरणाभ्यां, अन्योऽन्यं वादि-प्रतिवादिस्वरूपकथाकर्तुः परस्परं निघ्नतः प्रतिक्षिपत, वा ग्रन्थार्थः शास्त्रार्थो भवति, **वा** अथवा, तदेव परस्परकर्तृकस्वपक्षस्थापन-परपक्षखण्डनमेव ग्रन्थार्थ, स विध्युपायविकल्पतः विधेः परपक्षस्वरूपस्य उपायस्य तद्विधाननिमित्तस्य च ये विकल्पाः अवान्तरप्रकाराः सम्भावनापथमुपनीताः इदं वा कार्यस्य सत्त्वमिदं वा अयमस्योपायोऽय वेत्यादय. ततस्तेभ्य, **स्वपरान्वर्थाः** स्व परग्रन्थाभ्युपेयार्थाः स्वसिद्धान्त-परसिद्धान्तानपेतार्थः अपसिद्धान्तादिदोषरहित इत्यर्थः ॥ २ ॥

समानार्थानामपि शास्त्राणा विन्यासवैचित्र्येण वैचित्र्यमुपदर्शयति—

वाक्चिकित्सितमानाध्वमणिरागादिभक्तिवत् ।
नानात्वैकत्वोभयानुक्तिर्विषमं सममर्थतः ॥३॥

वागिति । **वाक्चिकित्सितमानाध्वमणिरागादिभक्तिवत्** वागादीना भक्त्या सहान्वयः, भक्तिर्विभजन, इय वाक् सत्या, मिथ्या चेयमित्येवंवाग्विभजन, इयमस्य रोगस्य चिकित्सा अनया चिकित्सयाऽस्य रोगस्यापनयनमित्येवं चिकित्सितविभजनम् अस्मिन्नर्थे इद प्रमाणमिदं चात्रार्थे इति, अङ्गुलमानमिदं रत्निमानमिदमिति वा मानविभजनम्, अयं मार्गः स्वर्गस्यायं च नरकस्येत्यादि काश्या गमनेऽय पन्था प्रयागगमने चायं पन्था इत्यादि वाऽध्वविभजन, अयं मणिराग: पद्मरागमणिश्चाय नीलमणिश्चायमित्येव मणिरागादिविभजनं यथाप्रयोजनादिभेदेन तथा क्वचिच्छास्त्रे अन्यशास्त्रोक्तनानात्वसत्त्वेऽप्यर्थे नानात्वस्यानुक्तिः, क्वचित् पुन. शास्त्रान्तरप्रतिपादितैकत्ववत्यपि वस्तुन्येकत्वस्याकथनं, क्वचिच्च ग्रन्थान्तरप्रतिपाद्यनानात्वैक्यो भवत्यपि च तदुभयानुक्तिरित्येवम् **नानात्वैक्योभयानुक्तिः** भवति, **विषम** किन्तु, **अर्थतः** स्याद्वादाकलितानेकान्तात्मकार्थत', **समं** तुल्यम्, सर्वेषा शास्त्राणामभिधेया नानेकान्ततामन्तरेणोपपन्ना इति किं क्वचिद्विधिरपेक्षितैव यत्र नानात्वस्यैवोक्तिस्तत्र कथञ्चिदर्थप्रवेशावश्यम्भावे तद्बलादनुक्तमप्येकत्वमायात्येव, एवं नानात्वानुक्त्युभयानुक्तिस्थलेऽपीत्यर्थ ॥३॥

प्रस्थानभेदाच्छास्त्राणा भेदोऽभिप्रायादिभेदाच्च वादिनामन्योऽन्यं विवाद इत्याह—

प्रमाणान्यनुवर्तन्ते विषये सर्ववादिनाम् ।
संज्ञाभिप्रायभेदात् तु विवदन्ति तपस्विनः ॥४॥

प्रमाणानीति । "सर्ववादिना विषयेऽनुवर्त्तन्ते प्रमाणानि, तपस्विनस्तु संज्ञाभिप्रायभेदाद् विवदन्ति" इत्यन्वय । **सर्ववादिनां** कपिल-पतञ्जलि-कणभुगक्षपाद-जैमिनि-द्वैपायन-बुद्ध-बृहस्पति-जिनानुयायिना वादिना, **विषये** स्वस्वाभ्युपगतशास्त्राभिधेयतत्त्वे, **प्रमाणानि** प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिसम्भवैतिह्यचेष्टाद्यन्यतमप्रमाणानि तत्तद्वादिमतप्रतीतानि अनुवर्त्तन्ते प्रसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तन्ते यो विषयो यत्प्रमाणगोचरस्तस्मिन् विषये तत्प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण सत्तैव न सिद्ध्यति, प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरित्यविगानेनोपयन्ति प्रामाणिकाः, शून्यवादिनोऽपि प्रामाणिकाना परिषदि प्रवेश सांवृत्तमपि प्रमाणसत्त्वमभ्युपेत्यैव, अन्यथा पूर्णतैव विश्वस्य

किं न सिद्धयेत्, एवं च प्रमाणं प्रमाणाभासं वा प्रमाणतयोररीकृत्यैव प्रमेयसिद्धयर्थं वादे प्रयुञ्जते वादिनः, न चैवं प्रमाणसिद्धं वस्तु सर्वसिद्धमेव भवतीति तत्र प्रामाणिकानां विवादो निर्निबन्धन एव स्यादित्यत आह–सञ्ज्ञेति, **तपस्विनस्तु** शास्त्रनिरन्तराभ्यासाध्यापनादिलक्षणतपोनिरता विद्वांसः पुनः, **संज्ञाऽभिप्रायभेदात्** संज्ञाभेदात् मुक्तेः शिववर्त्म-ध्रुवाध्वेत्यादिनामभेदाज्जगतो मूलकारणस्य प्रकृतिप्रधानसहकारिशक्तिमायाऽविद्याऽपूर्वादृष्टेत्यादिनामभेदात् सदेव जगत्प्रकृत्योपजायते असदेव कार्यं कारणसामग्रीतो भवति, अनिर्वचनीयमेव विश्वमनिर्वचनीयया मायया भवतीत्यादितात्पर्यभेदात्, **विवदन्ति** परस्परं स्वपक्ष-स्थापन-परपक्षखण्डनात्मकविचारं कुर्वन्ति केवलं नाम्नि विवादात् तात्पर्यमात्रे विवादाद् वस्तुनो न किञ्चिदपचीयते नोपचीयते वा प्रमाणराजस्याद्वादतः सर्वस्यैव पक्षस्यानेकान्तात्मके वस्तुन्युपपन्नत्वादित्यर्थः ॥४॥

परस्परमतविद्वेषलक्षणप्रकोपादेव विवादो भवति तादृशप्रकोपशान्तिश्च विवादाभावहेतुर्न यथार्थज्ञानमन्तरेणेति यथार्थपरिज्ञानार्थं मुमुक्षुभिर्यत्नो विधेय इत्याशयेनाह—

न यथार्थपरिज्ञानाद् दोषशान्तिर्न वाऽन्यथा ।
प्रकोपसमसामान्याव्यभिचाराच्च तद्वताम् ॥५॥

न यथार्थेति । "यथार्थपरिज्ञानात्" इत्यस्य स्थाने "यथार्थापरिज्ञानात्" इति पाठो युक्तः । "दोषशान्तिर्यथार्थापरिज्ञानान्न, अन्यथा तद्वता प्रकोपसम-सामान्याव्यभिचाराच्च न वा" इत्यन्वयः । **यथार्थापरिज्ञानाद्** वस्तुगत्या यथाविधं वस्तु तथा तद्वस्तुनः परितः सर्वप्रकारेण ज्ञानं यथार्थपरिज्ञानं तदन्त-रेण, **दोषशान्तिः** दोषाणां काम-क्रोध-लोभ मोहानां शान्तिर्विनाशः, **न** नैव भवति, **चकारो** हीत्यस्यार्थे, हि यतः, **अन्यथा** यथार्थपरिज्ञानाभावे, **तद्वतां** यथार्थापरिज्ञानवतां पुरुषाणाम्, **प्रकोपसमसामान्याव्यभिचारात्** प्रकोपस्य समः तुल्यो यः सामान्याव्यभिचारः यत्र प्रकोपस्तत्र यथार्थापरिज्ञानं, यत्र यथा-र्थापरिज्ञानं प्रकोपः इत्येवं तत्र सामान्यतोऽव्यभिचारो नियमो व्याप्तिरिति यावत्, तस्मात् यथार्थापरिज्ञानवतां पुंसां, **न वा** नैव दोषशान्तिः ततश्च दोषमूलक-

विवादावश्यम्भावेन मुक्त्यङ्गनालिङ्गनप्रभवसुखमित्यर्थः, अथवा यथार्थपरिज्ञानवता-मयाययथार्थपरिज्ञानवता च दोषा सम्भवन्त उपलभ्यन्त इति न यथार्थपरिज्ञानतोऽयथार्थपरिज्ञानतश्च दोषशान्तिः किन्त्वन्यत एवेत्याह–न यथार्थपरिज्ञानादिति, यथोपलब्ध एवायं पाठ आदरणीयः, यथार्थपरिज्ञानाद् दोषशान्तिर्न भवति, अन्यथा अयथार्थपरिज्ञानाद् दोषशान्तिर्न वा नैवेत्यर्थः, हि यतः, तद्वता यथार्थपरिज्ञान-वतामयथार्थपरिज्ञानवता च, प्रकोपसामान्याव्यभिचारात् प्रकोपेन सह समस्तुल्यः सामान्याव्यभिचारः सामान्यतोऽव्यभिचारः प्रकोपसमसामान्याव्यभिचारस्तस्मात् कस्मिंश्चिद् यथार्थपरिज्ञानवति पुरुषविशेषे कस्मिंश्चिदयार्थपरिज्ञानवति पुरुष-विशेषे च प्रकोपस्याभावे विशेषतोऽव्यभिचारेऽपि सामान्यतो न व्यभिचार इत्यावेदनायाव्यभिचारे सामान्येति विशेषणमित्यर्थः ॥५॥

कीदृशेन यथार्थपरिज्ञानेन दोषशान्तिः, अथवा सामान्यतो यथार्थपरिज्ञान-मयथार्थपरिज्ञानं वा यदि न दोषशान्त्युपायस्तर्हि कस्तदुपाय इत्याकाङ्क्षायामाह–

येन दोषा निरुध्यन्ते ज्ञानेनाचरितेन वा ।
स सोऽभ्युपायस्तच्छान्तावनासक्तमवेद्यवत् ॥६॥

येनेति । 'येन ज्ञानेन येनाचरितेन वा दोषा निरुध्यन्ते तच्छान्तौ स सोऽभ्युपायोऽनासक्तमवेद्यवत्' इत्यन्वयः । **येन** यादृशेन, **ज्ञानेन** इष्टसाधनेऽनिष्ट-साधने च शत्रौ मित्रे च न किञ्चिद्धितमहितं वाऽनेन मम कृतं यत् किञ्चिदुप-नतं मम सुखं दुःखं वा तत्पूर्वजन्मकृतेन स्वकीयेन पुण्येन पापेन वा कर्मणेत्या-द्याकारकज्ञानेन, **वा** अथवा, यादृशेन **आचरितेन** हिताहितशत्रुमित्रादिष्व-विशेषेण हितोपदेशादिदानादिलक्षणप्रवृत्त्यादिना, **दोषाः** काम-क्रोध-लोभ-मोहाः, **निरुध्यन्ते** निरुद्धा भवन्ति, **तच्छान्तौ** दोषशान्तौ, **स सोऽभ्युपायः** तत् सर्वं ज्ञानमाचरणं च निमित्तम्, **अनासक्तमवेद्यवत्** वेदनीयकर्मफलसुख-दुःखादिकं भुञ्जानस्यापि पुरुषधौरेयस्य कामिनी-काञ्चनादिविषयेष्वनासक्तमासक्ति-रहितं चित्तं वेद्यरहितमिवेत्यर्थः ॥६॥

संसारकारणदोषोपशान्तौ निर्वाणकारणस्य तद्विपर्ययस्य लाभतोऽवश्यं निर्वा-णावाप्तिरित्युपदिशति—

यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः ।
तावन्तस्तद्विपर्यासा निर्वाणावाप्तिहेतवः ॥७॥

यथेति । अत्र यथाऽनुपूर्व्या पदानां विन्यासस्तथैवान्वयः । **यथाप्रकाराः** संसारोपचयानुकूलयादृशप्रकारवन्तः, **यावन्तः** यावत्संख्यकाः, **संसारावेशहेतवः** संसारावश्यम्भावसाधनभूता राग-द्वेषादयः, **तावन्तः** तावत्सङ्ख्यका, **तद्विपर्यासाः** ससारावेशनिवन्धनविपरीता वैराग्याद्वेष-मैत्री-करुणादयः, **निर्वाणावाप्तिहेतव** मोक्षप्राप्तिजनका इत्यर्थः ॥७॥

पूर्वं संसारी सन्नेव मुक्तो भवति जीवो न तु नित्यमुक्त कश्चिदिति सादेर्मोक्षस्य कारणमवश्यमुपादेयमित्यभिसन्धाने सामान्यं संसारकारणमुपदर्शयति—।

सामान्यं सर्वसत्त्वानामवश्यं जन्मकारणम् ।
शरीरेन्द्रियभोगानामविशिष्टं सद् विशिष्यते ॥८॥

सामान्यमिति । "सर्वसत्त्वानामवश्यं जन्मकारण सामान्यं शरीरेन्द्रिय-भोगानामविशिष्ट सद्विशिष्यते" इत्यन्वय. । **सर्वसत्त्वानां** सर्वप्राणिनाम्, **अवश्यं** नियमेन, **जन्मकारणम्** अपूर्वदेहेन्द्रियादिसम्बन्धलक्षणस्य जन्मनो निमित्तम्, **सामान्यम्** अनुगतस्वरूपसदोषजीवत्वादिक, **शरीरेन्द्रियभोगानामविशिष्टं सद्विशिष्यते** कस्यचिज्जन्तोः शरीरं मन्महत्तर-महत्तमपरिमाणवद् भवति कस्यचित् पुनः ह्रस्व-ह्रस्वतर-ह्रस्वतमपरिमाणवद् भवति एवं कस्यचिद् विकृतं कस्यचिदविकृतमित्यादि नानाप्रकारमुपलभ्यते, एवं कस्यचिज्जन्तोरेकमेवेन्द्रियम्, कस्यचिद् द्वे इन्द्रिये, कस्यचित् त्रीणीन्द्रियाणि, कस्यचिदिन्द्रियचतुष्टयम्, कस्यचित् पुन. पञ्चेन्द्रियाणीत्येवं नानाप्रकारमुपलभ्यते, देवगतौ यादृशो भोगस्ततोऽन्यादृशो भोगो नरकगतौ, ताभ्यामन्यादृशो भोगस्तिर्यग्गतौ तेभ्योऽप्यनादृशो भोगो मनुष्य-गतावित्येवं नानाप्रकारो भोगो भवति तद्वैचित्र्यनिबन्धनविचित्रकर्मसम्बन्धतः सामान्यमपि जन्मकारणं विशिष्यते विशिष्ट भवतीत्यर्थः ॥८॥

ननु मनुष्यगतिः जन्मकारणविशेषाद् भवति ततोऽन्यत् तिर्यग्गत्यादि जन्म-विशेषास्तत्तत्कारणविशेषेभ्यो भवन्तीति विशिष्यकार्य-कारणभावविश्रान्तौ सामा-

न्यस्य कारणत्वं किमिति कल्पनीयम्, कश्चित् सत्त्वः कारणविशेषाभावादलब्ध-जन्माप्यनादिमुक्तो नित्यज्ञानादिमानीश्वरोऽसंसार्येव सर्वदेति सर्वसत्त्वानामवश्यं जन्मकरणं सामान्यमित्ययुक्तमित्यत आह—

विकल्पप्रभवं जन्म सामान्यं नातिवर्तते ।
हेतावपचिते शेषं किं परिज्ञाय वा न वा ॥९॥

विकल्पप्रभवमिति । यथापाठमेवान्वयः । **विकल्पप्रभवं** विकल्पो विशेष-स्तत्प्रभव तज्जन्यम्, **जन्म** मनुष्यादिसत्त्वजन्म, **सामान्यं** जन्मसामान्यम्, **नाति-वर्त्तते** अतिक्रम्य न वर्त्तते, न हि विशेष- सामान्यपरिहीनः, सामान्य वा विशेषविकलम्, तयोरन्योऽन्यप्रतिबद्धत्वात्, यद्विशेषयोः कार्य-कारणभावस्तत् सामान्ययोरपीति न्यायोऽप्यसुमर्थमुपोद्वलयति, एवं च जन्मविशेषं प्रति सत्त्व-विशेषस्य वस्त्वन्तरविशेषस्य च कार्य-कारणभावे जीवजन्मसामान्यं प्रति जीव-सामान्यस्य तन्नियत-तदन्यकारणसामान्यस्य वा कारणत्वमवश्यं स्वीकरणीयमित्य-लब्धजन्मा नित्यमुक्तो न सम्भवतीति जन्मकारणसामान्यदोषापक्षतौ मुक्तिरवश्य-म्भाविनीति यावद्भिः कारणैर्दोषक्षयस्तावन्त एव मुमुक्षुभिरुपादेयास्तदन्यगवेषणा वृथेत्याशयेनाह-**हेता**विति ससारवरावेशकारणदोषादावित्यर्थः, **अपचिते** क्षीणे सति, **शेषं** दोषापचयप्रयोजकव्यतिरिक्तं, **परिज्ञाय वा** ज्ञात्वा वा, **न वा** अपरिज्ञाय वा, कि न किञ्चिन्न हि निष्प्रयोजने मन्दोऽपि प्रवर्त्तते इत्यर्थः ॥९॥

शेष किं परिज्ञाय वा नवेति यदुक्तं तत्र तत्तद्बुधपरिकल्पितमनेकविधं शेषमित्युपदर्शयति—

गुरु-लाघव-संदिग्धविपरीताः प्रतिक्रियाः ।
लब्धसंदिग्धविज्ञानं त्वास्यदुष्टस्य सिध्यति ॥१०॥

गुरु-लाघवेति । दशमपद्यमारभ्य शेषमित्युपपादितमित्यन्तद्वाविंशतितम-पद्यकदम्बकेन-**गुरु-लाघव संदिग्धविपरीताः प्रतिक्रिया** गुरुभूता प्रतिक्रिया -ससारावेशहेतुदोषनाशकोपायालोचना, लाघवप्रतिक्रिया लघुभूतोक्तदोषनाशकोपाय--परिभावना, सदिग्धप्रतिक्रिया अनेनोक्तदोषनाशो भविष्यति न वेत्येव संदिह्यमान-

स्वरूपोक्तदोषनाशकोपायविचारणा, संदिग्धो विपरीतोऽसन्दिग्ध इत्यसन्दिग्धप्रति-क्रिया भविष्यत्येवानेनोक्तदोषहानिरित्येवं निर्णयात्मिकोक्तदोषाय परिचिन्तना, वादिभिः स्वस्वमतसमुल्लासकग्रन्थे सुप्रतिष्ठापिताः सन्त्येव, तन्मध्ये **तु** पुनः, **आस्यदुष्टस्य** मुखगतवागुच्चारणाद्यसामर्थ्यदोषभाजनस्य वक्तुः यावन्मात्रसंक्षिप्तो-च्चारणतः श्रोतुर्मोहपोषोपायावबोधो भवति तावन्मात्रोच्चारणबद्धपरिकरस्य, **लघ्वसंदिग्धविज्ञानं सिद्ध्यति** लघुविज्ञानमसन्दिग्धविज्ञानमुक्तदोषापोहो-पायविज्ञानस्वरूपं सिध्यति किन्तु स्वासामर्थ्यवशात् तथाश्रयणं नोक्तदोषविमो-कायलमित्येवम्भूत शेषं विज्ञायाविज्ञाय वा न किञ्चिदित्यत्रेदम्पर्यमिति ॥१०॥

शेषान्तरमुपदर्शयति—

द्रव्यसत्त्वादिनानात्वं नानेतिसममात्मनः ।
विषयेन्द्रियचेतस्यमनेनाहमनीतवान् ॥११॥

द्रव्येति । द्रव्यसत्त्वादिनानात्वं नाना द्रव्यनानात्वं नानामूर्त्तं द्रव्यं, तत्र पृथिव्यप्-तेजो-वायु-मनासि मूर्त्तं आकाश-काल दिगात्मानोऽमूर्तमिति नानात्वं, पृथिव्यप्-तेजोवाय्वाकाश-काल-दिगात्म मनांसि नव द्रव्याणि तत्र गन्धवती पृथिवी, शीतस्पर्शवत्य आप इत्येवमपरं नानात्वम् तथा जीवाजीवभेदेन द्रव्यं द्विविधं, तत्र जीवः संसारो मुक्तश्चेत्येव नानात्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलात्मकाला पञ्चद्रव्या-णीत्यादिदिशा द्रव्यनानात्वं नानाविधम् , एव सत्त्वनानात्वं नानासत्त्वमात्मा तस्य जीवेश्वरभेदेन द्वैविध्यम् , तत्र जीवो जन्यज्ञानावान् नित्यज्ञानवानीश्वरः, जीवोऽपि संसारी राग-द्वेषादिमान् बद्धो मुक्तश्चेत्येवं नानात्वम् , तथैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिभेदेन नानात्वमित्येव सत्त्वनानात्वं नाना, आदिपदात् पदार्थनानात्व नानाभावाभावभेदेन पदार्थो द्विविधः, तत्र द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायभेदेन भावः षड्विधः प्रागभावध्वंसात्यन्ताभावान्योऽन्याभावभेदेनाभावश्चतुर्विध इति नानात्व तथा जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा मोक्षभेदेन तत्त्वानि सप्त, तत्रैव पुण्य-पापयोः पृथक्तया प्रवेशेन नवतत्त्वानीत्येवंदिशा पदार्थनानात्वं नानाविधम् ' विषयेन्द्रिय-चेतस्यम्" इत्यस्य स्थाने "विषयेन्द्रियचेतःस्थम्' इति पाठो युक्त. । **आत्मनो विषयेन्द्रियचेतस्थं** नानात्वम् , **नानेतिसमम्** तत्रोपभोगसाधनानि विषयाः

स्रग्-चन्दन-वधू-वस्त्रादयो नानात्वेन सुप्रतीतास्तेषां नानात्वं प्रियाप्रियोऽपेक्ष्यभेदेन प्रत्येकं त्रैविध्यं, य एवेष्टसाधनत्वादेकस्य प्रियः स एवानिष्टसाधनत्वादन्यस्याप्रियः कस्यचित् पुनः इष्टसाधनत्वाभावानिष्टसाधनत्वाभावोभयवत्त्वादुपेक्ष्यः एकस्यापि पुंसो य एवैकदा प्रियः स एवान्यदाऽप्रियः कदाचित् पुनरुपेक्ष्योऽपि, एवं य एवैकस्य पिता स एवान्यस्य पितामहादिरेवं यैव स्त्री एकस्य माता सैवान्यस्य भार्या स्नुषा ननन्दा चेत्येवंदिशा विषयनानात्वं नानाविधम्, इन्द्रियनानात्वं नानाइन्द्रियस्य ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियभेदेन द्वैविध्यं, तत्र चक्षुर्घ्राण-रसन-त्वक्-श्रोत्राणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक् पाणि-पाद-पायूपस्थानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणीति दशविधत्वं, तेषामहङ्कारिकत्वं भौतिकत्वमाविद्यकत्वमित्येवमिन्द्रियनानात्वं नानाविधम्, चेतसो मनोलक्षणस्यान्त करणस्याणोर्नित्यस्य मनस्त्वमेवेत्येकविधत्वम्, बुद्ध्यहङ्कार-मनो-भेदेन त्रिविधत्वं, मनो-बुद्ध्यहङ्कार चित्तभेदेन चतुर्विधत्वं महत्त्वं चेत्येव चेतसोऽपि नानात्वं नानाविधम्, अनेन द्रव्यादिनानानात्वनात्वप्ररूपणेन, **अर्हं** तत्प्ररूपण-कर्तृत्वेनाहन्त्वाभिमानी पुरुषविशेषः. **अनीतवान्** ग्रन्थान्तरादर्शितविचारेभ्य आनीतः न नीतोऽनीत· अनन्यपरिशीलितो मार्गस्तद्वान् इदमपि शेष परिज्ञाया-परिज्ञाय वा न किञ्चित् एतादृशविचारणया संसारकारणदोषहानेरभावेन निर्वाण-लक्षणपरमपुरुषार्थाभावादित्यर्थः ॥११॥

अन्यदपि शेषमुपवर्णयति——

बौद्धमध्रुवमद्रव्यसांख्यं काणादमन्यथा ।
लोकः पुरुष इत्येतदवक्तव्यं शरीरवत् ॥१२॥

बोद्धमिति । **अध्रुवं** ध्रुवं स्थिरं न ध्रुवमध्रुवमस्थिरं स्वोत्पत्तिद्वितीय-क्षणेऽपि न वर्त्तत इति क्षणिकं, **बौद्धं** बुद्धस्य सुगतस्याभिमतम्, 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति व्याप्तेरर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वेन हेतुना सर्ववस्तूना क्षणिकत्वं साधयन्ति बौद्धाः, "अद्रव्यमाङ्ख्यम्' इत्यस्य स्थाने "अद्रव्य साङ्ख्यम्' इति पाठः सम्यगाभाति । **अद्रव्यं साङ्ख्यं** सत्त्व-रजस्तमांसि त्रीणि गुणाः उक्तगुणत्रयाणां समादया प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका तस्य साक्षात् परम्परया वा परिणामस्वरूपं महद-हङ्कारादिकं सर्वं त्रिगुण, पुरुषस्तु न द्रव्यं नापि गुण इति पञ्चविंशतत्त्वतिम्

न द्रव्यमद्रव्य द्रव्यभिन्न साङ्ख्यं कपिलमतानुयाय्यनुमतम्, **अन्यथा** अन्यप्रकारं द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाः सप्तपदार्थाः तत्र द्रव्यं नवविधं, तत्र पृथिव्यप्-तेजोवायवो नित्या अनित्याश्च आकाशादयश्च नित्यद्रव्याण्येव, गुणाश्च केचिन्नित्या· केचिदनित्याः, कर्म च सर्वमनित्यम्, सामान्य-विशेषसमवायाश्च नित्या एव, अत्यन्ताभावान्योऽन्याभावौ नित्यावेव, प्रागभावो ध्वंसप्रतियोगित्वाद-नित्यः ध्वसश्च प्रागभावप्रतियोगित्वादनित्य इत्येवम्, **काणादं** कणादमुन्यनुमतम्, **लोकः** चतुर्दशविधः लोकः, **पुरुषः** कर्तृभोक्तृरूपः, **इत्येतत्** उक्तप्रकारं सर्वम्, **अव्यक्तम्** मोक्षोपायचिन्तायां वक्तुमनर्हम्, एतैः प्ररूपितैः संसारावेशहेतूनां दोषाणां हानेरभावात्, तत्र दृष्टान्तमाह–**शरीरवदिति** शरीरं यथा पाञ्च-भौतिकं त्रैभौतिकं पार्थिवं जलीयं तैजसं वायवीयमित्येकभौतिकमिति न वक्तुमर्हं मोक्षानुपयुक्तत्वात् तथेत्यर्थः ॥१२॥

शेषान्तरं दर्शयति—

निमित्तेश्वरकर्तारः प्रकाशनृपशिल्पिवत् ।
यथेष्टसाधनोत्कर्षविशेषापायवृत्तयः ॥१३॥

निमित्तेश्वरकर्त्तार इति । 'यथेष्टसाधनोत्कर्षविशेषापायवृत्तय निमित्ते-श्वरकर्त्तार· प्रकाशनृपशिल्पिवत्' इत्यन्वय । **यथेष्टसाधनोत्कर्षविशेषापाय-वृत्तयः** यथेष्टं स्वेच्छानुसारि न तु कार्य-कारणनियमपरतन्त्र यत् साधन तस्य य उत्कर्षविशेष कारणान्तरत उत्कर्षवैलक्षण्यं तेनान्यकारणानामन्यथासिद्धत्वादिना योऽपायानिरासस्तद्वृत्तयस्तदाचरणशीलाः, **निमित्तेश्वरकर्त्तारः** निमित्तेश्वरकर्तृ-वादिनः, उत्तरोत्तरकार्यकुर्वद्रूपात् पूर्वपूर्वनिमित्तकारणादेव कार्यमुपजायते किमुपादा-नादिकारणान्तरकल्पनयेति निमित्तवादिन·, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थादी-श्वरादेव सर्वं कार्यमुपजायते नान्यत् किञ्चन कारणमितीश्वरवादिन, यो यत् फलमुपभुङ्क्ते सुखी दुःखी च भवति स एव कर्त्ता कारणमिति कर्तृवादिन, अत्र दृष्टान्तमाह–**प्रकाशनृपशिल्पिवदिति** प्रकाशवत् नृपवत् शिल्पिवच्चेत्यर्थः प्रकाशयतीति प्रकाश. सूर्यादि स च प्रकाशकत्वस्वाभाव्यादेव लोकं प्रकाशयति न त्विद चाण्डलगृहमिदं शूकराद्यपकृष्टयोनिस्थानमिति न प्रकाशनीयमिति परिज्ञाय

न प्रकाशयतीति, नृपो राजा यद् यदिच्छति स्वराज्ये तत् तत् करोति स्वतन्त्रत्वात् अथवा नृपपालनीयनियमरक्षणैकपरो निजजनं परजनं वाऽविशेषेण पालयति, शिल्पी चित्रकरः चित्रकर्मणि स्वतन्त्रो यद् यद् मनोहराकृत्यादिकं स्वमनोऽधिरूढं विभावयति तत् तत् पट-भित्यादौ चित्रयति तथेतीदमपि शेषं मुक्तौ नोपयोगीत्यर्थः ॥१३॥

शेषस्यैव प्रकारान्तरं दर्शयति—

स्वभावोऽर्थोऽन्तराभावानियमाव्यभिचारतः ।
इष्टतोऽन्यदनेनोक्ता देश-कालसमाधयः ॥१४॥

स्वभाव इति । "भावानियमाव्यभिचारतः" इत्यस्य स्थाने "भावनियमाव्यभिचारत" इति पाठो युक्तः । **अर्थः** पदार्थः, **स्वभावः** स्वभावात्मकः, यस्यार्थस्य यः स्वभावः सोऽर्थस्तत्स्वभावात्मक एवेति, तत्र हेतु-**अन्तराभावनियमाव्यभिचारतः** इति अन्तरास्वभावमन्तरेण अभावोऽर्थस्याभावः स चासौ नियमोऽविनाभावलक्षणव्याप्तिस्तस्याव्यभिचारतोऽवश्यम्भावतः, येन स्वभावेन विना योऽर्थो नोपपद्यते सोऽर्थस्तत्स्वभावरूपः, एवं चोपयोगस्वभावमन्तरेण जीवो नोपपद्यत इत्युपयोगस्वभावो जीवः, रूपादिमत्त्वस्वभावमन्तरेण पुद्गलो नोपपद्यते इति रूपादिमत्त्वस्वभावः पुद्गल इत्यादि सिध्यति, कथं तर्हि स्वभावव्यतिरिक्तोऽप्यर्थ इत्याकाङ्क्षायामाह-**इष्टतोऽन्यदि**ति इष्टमिष्टिरभ्युपगमस्तस्मादन्यत् स्वभावभिन्नमपि अर्थः, **अनेन** उक्तप्रकारेण वचनेन, **देशकालसमाधयः** यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यद् वस्तु भवितुमर्हति स देशः, स कालः, चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणसमाधिश्च उक्ताः भवन्ति, शाल्यादिप्रभवयोग्योऽयं देशः, आम्रादिफलपरिपाकयोग्योऽयं समयः, अयं च सविकल्पकसमाधिरस्मिन् देशेऽस्मिन् काले कर्तुं योग्यस्तदनन्तरकाले तत्रैव देशे निर्विकल्पकसमाधिरपि भवितुमर्हति तदङ्गानि चासन-प्राणायामादीनि अस्मिन्नेव देशेऽस्मिन्नेव काले सम्पादयितुं शक्यानीत्येव देश-काल-समाधय उक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥१४॥

अतिदिशति—

लक्ष्य-लक्षणयोरेवं देश-धर्मविकल्पतः ।
सदादिप्रतिभेदाच्च निह्नवप्रतियोजनाः ॥१५॥

लक्ष्य-लक्षणयोरिति । **एवम्** स्वाभ्युपगममात्रेण, **निह्नवप्रतियोजनाः** निह्नवानां लक्ष्य-लक्षणादिभावापलापिनां प्रतियोजनाः लक्ष्य-लक्षणभावाभ्युपगन्तृवादिविरुद्धप्ररूपणाः, तत्र हेतु लक्ष्य-लक्षणयोरित्यादिः, **लक्ष्य-लक्षणयोः** यल्लक्ष्यत्वेनाभिमतं यच्च लक्षणत्वेनाभिमतं तयोः, **देश-धर्मविकल्पतः** देश-धर्माभ्यां यद्विकल्पनं तस्मात्, यल्लक्ष्यं तदेकदेशेन सर्वदेशेन वा, यद्येकदेशेन तदादेशान्तर तस्य न तल्लक्षणतोऽन्यतो व्यावृत्तमित्यन्यतो व्यावृत्तदेशस्याव्यावृत्तदेशाद् भेदे एकमेव वस्तु लक्ष्यालक्ष्योभयस्वरूपमापद्येत, सर्वदेशेन लक्ष्यं चेल्लक्षणं ततो भिन्नमापतितभिन्नत्वाविशेषात् तदन्यदपि लक्षण किं न भवेत्, एव यद्धर्मेण लक्ष्यं भवति स धर्मो लक्ष्यतावच्छेदक, स चालक्ष्यावृत्तित्वेनावगतो न वा, अवगतश्चेत् तेनैव लक्ष्यमलक्ष्याद् व्यावृत्तं प्रतीतमिति, किं लक्ष्यतावच्छेदकातिरिक्तेन लक्षणेन, अथ नावगतस्तदा लक्ष्य-तदितरसाधारणतया निर्णीतेन सन्दिग्धेन वा तेनालक्ष्यमपि पक्षकुक्षिसन्निविष्टं न च तत्र प्रकृतलक्षणमिति भागासिद्धिदोषसदेहकवलितं तन्न लक्ष्येतरभेदानुमितिं जनयेत्, न वा लक्ष्यव्यवहृति कुर्यात्, एवं लक्षणमप्येकदेशेन सर्वं लक्ष्यं व्याप्नोति कार्त्स्न्येन वा, आद्ये तद्देशमात्रं लक्षण भवेत देशान्तर तु तस्य लक्ष्यमव्याप्नुवदलक्षणमिति लक्षणालक्षणोभयस्वरूपमेव तद्वत् कथ लक्षणम्, द्वितीयस्तु न सम्भवत्येव यतः कृत्स्नं तदेकत्र परिसमाप्त कथमन्यत्र तदेवावतिष्ठेत, एवं यद्रूपेण लक्षण क्रियते स धर्मो लक्षणतावच्छेदक, स लक्षणमात्रवृत्तित्वेनावगतो लक्षणतानियामको लक्षणालक्षणसाधारण्येन वा, आद्ये तल्लक्षणान्तर तदवगतिनिबन्धनं वाच्यं तत्राप्येवमित्यनवस्था, द्वितीयपक्षेऽलक्षणमपि निरुक्तलक्षणतावच्छेदकधर्माक्रान्तत्वेन लक्षणं स्यात्, तच्चालक्ष्यवृत्तित्वात् सकललक्ष्यावृत्तित्वाद् वा न लक्ष्येतरभेदानुमापकं लक्ष्यव्यवहृतिजनकं वेति तत्साधारणलक्षणतावच्छेदकधर्मेणाभिमत लक्षणमपि कथं तथा स्यात्, एवं लक्षणं लक्ष्येतरसाधारण्येनावगतं नेतरभेदानुमापकमिति तस्य लक्ष्येतरव्यावृत्ततयाऽवगतिरावश्यकी, सा यदि लक्षणान्तरमन्तरेण तदा प्रकृतलक्ष्यस्यापि लक्षणमन्तरेणैवेतरव्यावृत्त्यधिगतिरस्तीति

किं लक्षणगवेषणया, लक्षणान्तरेण प्रकृतलक्षणस्य लक्ष्येतरव्यावृत्त्यधिगमाभ्युपगमे तु ततः प्रकृतालक्ष्यस्यैव तथावगतिरस्तु किं प्रकृतलक्षणेन लक्षणान्तरेण तथाऽभ्युपगमे त्वनवस्था न निरोद्धुं शक्येत्येवं देशधर्मविकल्पतः, **च** पुनः, **सदादिप्रतिभेदात्** सदादिरूपविरोधिविशेषात्, लक्ष्यं यदनुमतं तत्सद्रूपमसद्रूपं वा तदुभयमनुभयं वा, यदि सद्रूपं तदा सर्वप्रकारेण सर्वप्रमाणाबाध्यमभ्युपेयं यत्केनापि प्रमाणेन केनापि रूपेण न बाध्यते तदेव सदिति सर्वैरपि वादिभिरविगानेन प्रतीतेः तथा चैवम्भूतसद्रूपं लक्ष्यं तदैव भवेद् यदितरव्यावृत्तस्वरूपं तदवधारितं भवेत् अन्यतो व्यावृत्तस्यासाधारणस्वरूपस्यानावधारणे कथमिदमबाधितमित्येवं ज्ञातुं शक्यम् तथा च येनैव सत्त्वनिर्णयस्तेनैवातद्व्यावृत्तेरपि निर्णय इति निष्प्रयोजनमेव लक्षणम्, यद्यसद्रूपमेवमपि लक्षणं निष्प्रयोजनम् सतो लक्षणस्यासति लक्ष्ये सम्बन्धासम्भवादसम्बद्धस्यातद्व्यावर्त्तकत्वाभावादन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, असतामपि गगनकुसुम-शशशृङ्ग-खरविषाणादीनां परस्परव्यावृत्तस्वरूपावधारणपुरस्सरमेव बाधितत्वावधारणं भवति, तथा च तत्रापि बाधितत्वावगतिनिबन्धनमन्यतो व्यावृत्तिज्ञानं पूर्वमेव जातमिति न लक्षणप्रयोजनं किञ्चित्, "प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनात् प्रत्येकपक्षदोषाघ्रातत्वादेव सदसदुभयरूपं लक्ष्यं न सम्भवति, अनुभयरूपत्वसम्भवदुक्तिकम् सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वस्यासत्त्वनिषेधे सत्त्वस्यावश्यम्भावात् परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति वचनात्, एवं लक्षणमपि सदादिपक्षचतुष्टयकवलितमेव, यतो लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्म एव लक्षणं, तस्य लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं तदाऽवधारितं भवेद् यद्यभिमतलक्ष्यातिरिक्तावृत्तित्वेन लक्ष्यतावच्छेदको निश्चितो भवेत् अन्यथा लक्ष्यतावच्छेदकस्य लक्ष्यातिरिक्तेऽपि सत्त्वे तत्रावर्त्तमानस्य लक्षणस्य लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं न भवेत्, एवं चोक्तरूपतयाऽवधारिते लक्षणस्वरूपे सत्येव तत्र सर्वप्रकारेण सर्वप्रमाणाबाधितत्वलक्षणं सत्त्वं सुनिश्चितं भवति तथा च सत्त्वेन लक्षणनिश्चयस्य प्रागेव लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोः सामनैयत्याधिगतये लक्ष्येतरभिन्नत्वेन लक्ष्यं गृहीतमिति निष्प्रयोजनं लक्षणम्, पूर्वोक्तप्रकारेणासदपि लक्षणं निष्प्रयोजनम्, एवं तदुभयानुभयपक्षयोरपि पूर्वोक्तदोषकवलितत्वमित्येवं सदादिप्रतिभेदाल्लक्ष्यलक्षणयोः **निह्नवप्रतियोजना** भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

निह्नवप्रतियोजनातो यदन्यदुपदिष्टं भवति तदुपदर्शयति—

चैतन्य-बुद्ध्योर्विच्छेदः परिणामेष्वसंश्रयात् ।
न विकल्पान्तरं भोक्तुरनेनोक्तं सुखादिवत् ॥१६॥

चैतन्यबुद्ध्योरिति । चैतन्यबुद्ध्योः चैतन्यं कर्तृत्वादिरहितः कूटस्थनित्यः पुष्करपलाशवन्निर्लेपश्चेतनः पुरुषः, बुद्धिः सत्त्व-रजस्तमोगुणत्रयसमावस्थालक्षणायाः प्रकृतेः सत्त्वगुणोद्रेकात् प्रथमः परिणामः कर्तृस्वरूपो महान् यतोऽनन्तरमहङ्कारादिलक्षणः परिणाम उपजायते, तयोः, **विच्छेदः** विविक्तरूपता, यतः **परिणामेषु** बुद्धिपरिणामेष्वहङ्कारादिषु; **असंश्रयात्** चैतनस्यासङ्क्रमणात्, बुद्धिः परिणमतेऽतः कर्तृत्वादिमद्भवतिपुरुषस्तु न कस्यचित्कार्यं न वा कस्यापि कारणमिति केवलं ज्ञानरूपत्वाद् युक्तैवात्मा, **भोक्तुः** तस्य, **विकल्पान्तरं** काम-क्रोध-लोभ-मोहादिकं, **न** नैव समस्ति, **सुखादिवत्** सुख-दुःखादिकं यथाकर्तृरूपाया बुद्धेरेव नात्मनस्तथा, इति **अनेन** निह्नवप्रतियोजनप्ररूपणेन, **उक्तम्** एतदप्येकान्तकापिलादिमतं निह्नवप्रतियोजनैवेत्यर्थः ॥१६॥

अन्यदपि कापिलकल्पितं निह्नवप्रभावितमुपदर्शयति—

शरीरविभुतातुल्यमानन्त्यगुण-दोषतः ।
संसारप्राप्त्यभिव्यक्तिर्विकल्पाः कारणात्मनः ॥१७॥

शरीरविभुतेति । "शरीरविभुताऽतुल्यमानतागुणदोषतः" इत्येव पाठो युक्तः । **कारणात्मनः** कारणं परिणामित्वाद् बुद्धिस्तया सह भेदाग्रहात् तादात्म्याभिमानतस्तदात्मनश्चैतन्यस्य, गुणदोषतः सत्त्व-रजस्तमोरूपगुणानामुपचयापचयलक्षणदोषात्, **शरीरविभुता** वस्तुतो जगद्व्यापिनोऽपि तस्य शरीरव्यापिता भवति, **अतुल्यमानता** कृमि-कीटादिभावमापन्नस्यातिसूक्ष्मपरिमाणत्वं हस्त्यादिभावमापन्नस्य महत्परिमाणत्वमित्येवमसमानमानत्वम्, वस्तुतो विभुत्वात् सर्वेषां समानमानतैव, **संसारप्राप्त्यभिव्यक्तिः** यद्यपि नानाश्रया प्रकृतिरेव संसरति बध्यते नापि मुच्यते किन्तु गुणदोषतः संसृतिप्राप्त्याविर्भाव इति, **विकल्पाः** पर्यायाः सम्भवन्ति, अतो वस्तुस्थितिमाश्रित्य न विकल्पान्तरं भोक्तुरिति पूर्वमुक्तं न

विरुद्धम् यद्यपि जैनमतेऽपि कार्मणशरीरेण सह क्षीरनीरसम्बन्धवदन्योऽन्यसम्ब-न्धाच्छरीरविभुतादिकं सामस्त्यात्मनस्तथापि न गुण-दोषत इति विशेषः ॥१७॥

शेषमेव दृष्टयन्तरमुपदर्शयति—

गुणप्रचयसंस्कारवृत्तयः कर्मवृत्तयः ।
अनाद्यन्तरावश्ययथा चेतरयोगतः ॥१८॥

गुणप्रचयेति । "°वश्य°" इत्यस्य स्थाने "°वस्था°" इति पाठो युक्तः । **गुणप्रचयसंस्कारवृत्तयः** गुणाना सत्त्व-रजस्तमसा यः उपचयापचयनिबन्धन. प्रचय. समुदायभेदः तस्य य· संस्कारो विविक्तपरिणामजननाभिमुख्य पूर्वपूर्वगुण-परिणामानुस्यूतं सर्वेषां गुणानामपचितानामपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेव संस्कारस्त· द्वृत्तयः तत्प्रभवाः परिणामविशेषास्ते, **कर्मवृत्तयः** शुभाशुभफलकपुण्य-पापलक्षण सञ्चितकर्मपरिणामाः, ते कथम्भूता· ? **अनाद्यनन्तरावस्थाः** अनादिकालीन-पूर्वापराव्यवधानलक्षणानन्तर्यशालिन्यवस्था यासा तथाभूताः अनादिकालतोऽवि-च्छेदेन समागता इति यावत्, एवंविधावस्थाने को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह—**यथा चेतरयोगतः** यथा च येन प्रकारेण च इतरस्योपोद्बलकस्य सहकारिणो योग. समवधानं तत· इत्यर्थः ॥१८॥

समानादपि कारणात् सहकारिविशेषसमवाधानवैलक्षण्यात् कार्यवैलक्षण्यं भवतीत्युपदर्शयति—

भूतप्रत्येकसंयोगसामान्यार्थान्तरात्मकम् ।
पञ्चधा बहुधा वाऽपि कार्यादेकादिवेन्द्रियम् ॥१९॥

भूतेति । "कार्यादेकादिवेन्द्रियम्" इत्यस्य स्थाने "कायाद्येकादिवेन्द्रियम्' इति पाठो युक्तः । **भूतप्रत्येकसंयोगसामान्यार्थान्तरात्मकम्** भूतानां भूम्यादीना, प्रत्येकं यः संयोग. तद्रूपसामान्यतोऽर्थान्तरात्मकं विभिन्नविशेषस्वरूपं भूतप्रत्येकसंयोगसामान्यार्थान्तरात्मकम् अथवा भूतप्रत्येकसयोगसामान्यं चार्थान्तरं च भूतप्रत्येकसंयोगसामान्यार्थान्तरे तदात्मकं तदुभयात्मकं सामान्य-विशेषोभयस्व-रूपमित्यर्थ., **पञ्चधा** औदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणभेदेन पञ्चविधं, **वा** अथवा, **बहुधाऽपि** पार्थिव-जलीयादिभेदेन जरायुजाण्डजादिभेदेन बहुप्रकारमपि,

कायादि शरीरादि, आदिपदात् तदवयवादीनामुपग्रहः, इन्द्रियम् इन्द्रियस्यात्मनो लिङ्गम्, एकादि एकेन्द्रियं इन्द्रियमित्यादि, एतद्वैलक्षण्यं कारणसामान्यस्याविशिष्टत्वेऽपि सहकारिसमवधानविशेषस्य वैलक्षण्यादित्यर्थः ॥१९॥

दृष्टान्तर दर्शयति—

जाति-प्रत्यय-सामान्य-चर-स्थिरचरं मनः ।

उभयं विभवा देह-लोकयोरनुगामि च ॥२०॥

जातिप्रत्ययेति । जातिप्रत्यय—सामान्य—चर—स्थिरचरं जातिरुत्पत्तिः, प्रत्ययः कारणः, तयोः सामान्यं साधारण विषयीकरणेन, मनः जातिमुत्पत्तिं भावयति इदमित उत्पन्नमिति परिभावयति । इदं चेतस्यकारणमिति चिन्तयति च चर चञ्चलस्वभावमयोगिना, पुनः स्थिरचरं ध्यानावस्थाया कञ्चित् कालं स्थिरीभूय व्युत्थितो पुनः चञ्चलं भवति, उभयं चरस्वभावं स्थिर-चरस्वभावोभयात्मकम्, मनः देह-लोकयोः देहे-लोके, चानुगामि "विभावा" इत्यस्य स्थाने 'विभवौ' इति पाठो युक्तः । विभवौ विशेषेण भासते इति तदर्थः जातिप्रत्ययादिकं सर्वं मनोऽधीनं यथा यथा मनश्चिन्तयति तथा तथा तत्कल्पितं वस्तु प्रसरति, उक्तं च—

"मन एव मनुष्याणा कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥२॥"

इति चेत्याशयः ॥२०॥

पर्यायवादिदृष्टि भावयति—

रूपादिमात्रं द्रव्यं च पिण्ड एकविकल्पवान् ।

समस्त-व्यस्तवृत्तिभ्यासमर्थपरिणतेरपि ॥२१॥

रूपादिमात्रमिति । रूपादिमात्रं द्रव्यं रूप—रस—गन्ध—स्पर्शस्वरूपमेव द्रव्य, न तु रूपादिगुणानामधिकरणं द्रव्यमतिरिच्यते, "पिण्ड एक" इत्यस्य स्थाने "पिण्ड एको' इति पाठः समुचित. । पिण्ड एकः एकतयाऽवभासमानः पिण्डः, विकल्पवान् रूप—रस—गन्ध—स्पर्शादिलक्षणविशेषवान्, कथमेकोऽनेकविशेषरूप

इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह–समस्त-व्यस्तवृत्तिभ्यां समस्तरूपेण वृत्तिः परिणामः व्यस्तरूपेण वृत्तिः परिणामः ताभ्यां समस्त-व्यस्तवृत्तिभ्याम्, अर्थपरिणतेरपि अर्थस्य तथाविधपरिणामाच्च, पिण्ड एको विकल्पवान् भवितुमर्हतीत्यर्थः ॥२१॥

माध्यमिकदृष्टिमुपदर्शयति––

सदसत्सदसन्नेति कार्य-कारणसंभवः ।

अनित्य-नित्यशून्यत्वे शेषमित्युपपादितम् ॥२२॥

सदिति । सदसत्–सदसन् विश्वं सदिति पक्षे न कार्य-कारणसंभवः यतः कारणं यथा सत् सर्वकालवृत्ति नित्यमिति यावत् तथा कार्यमपि सर्वकालवृत्तित्वान्नित्यमिति कार्य-कारणभावप्रयोजकस्य पौर्वापर्यनियमस्याभावादिदं कार्यमिदं कारणमिति न स्यात्, विश्वमसदिति पक्षेऽपि गगनकुसुम–शशशृङ्गादीनामिव न कार्य-कारणसंभवः, कारणं सत् कार्यमसदिति सदसत्पक्षे सदसतोः सम्बन्धासंभवाद्–न कार्य-कारणसम्भवः एतेन कारणमसत् कार्यं सदितिपक्षेऽपि कार्य-कारणसंभवो नेत्यावेदितं भवति, कार्य-कारणोभयं, सदसदितिपक्षस्तु विरोधाघ्रातत्वादेव न सम्भवति, प्रत्येकपक्षदोषस्तूभयपक्षे जागर्त्येव, अनेन अनित्य–नित्यशून्यत्वे अनित्यं च नित्यं च शून्यं चेत्यनित्य–नित्यशून्यानि तेषां भावोऽनित्य-नित्य-शून्यत्वं तत्र इति उक्तस्वरूपं, शेष शेषं किं परिज्ञाय वा नवेत्यत्राभिमतं शेषम्, उपपादितं निरूपितं भवतीति शेषः ॥२२॥

स्याद्वाददृष्टिमधिकृत्याह––

अवस्थितं जगत् सत्त्वाद् धात्वसत् प्रक्रियात्मकम् ।

धर्माधर्मस्वभावेष्टिपुरुषार्थनिमित्ततः ॥२३॥

अवस्थितमिति । जगत् विश्वम्, सत्त्वात् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकत्व-लक्षणसत्त्वात्, अवस्थितं सर्वदैव स्थितिमत् सत्त्वलक्षणप्रविष्टस्य ध्रौव्यस्य सर्वदा स्थितिमन्तरेणानुपपत्तेः, "धात्वसत्" इत्यस्य स्थाने "हेत्वसत्" इति पाठो युक्तः, हेत्वसत् हेतुना कारणेनासद् भवतीत्येतस्मात् कारणाद्धेत्वसत्, कथं हेत्वसदित्याकाङ्क्षायामाह– प्रक्रियात्मकमिति प्रतिक्षणं यद्विलक्षणस्वरूपा क्रिया परिणति-

स्तदात्मकं तत्स्वरूपं जगत्, एतेनानित्यत्वं भावितं, तस्माद्धेतोरेवं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—**धर्माधर्मस्वभावेष्टिपुरुषार्थनिमित्ततः** पूर्वंकृतं धर्मस्वरूपमधर्मस्वरूपं वा कर्म दैवमिति व्यपदिश्यते इति धर्माधर्मेत्यनेन दैवस्य ग्रहणम्—

"वह्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः ।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थितिः ॥३॥"

इति वचनाभिमतस्य स्वभावरूपकारणस्य स्वभावपदेन ग्रहणम्, एतच्च नियतिरूपकारणस्याप्युपलक्षणम्, नियतिश्चेदमस्मिन्नेव समयेऽस्मिन्नेव देशेऽनेनैव रूपेण भवितव्यमिति नियमकारणं भवितव्यताशब्देन व्यपदिश्यते, तन्मूलकं च-

"यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥४॥
तन्न भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति शिवशिवभवितव्यता विषमा ॥५॥
अवश्यंभाविभावाना प्रतीकारो भवेद् यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नल-राम-युधिष्ठिराः ॥ ६ ॥

इत्यादिवचनम्, अनुमन्यन्ते च नियतेः कारणत्वमालङ्कारिकाः, यतः—

"नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ ७ ॥

इति पद्ये विधिसृष्टितो भारतीसृष्टेर्वैलक्षण्यप्रतिपादनाय नियतिकृतनियमरहितामित्युक्तिरिति दृष्टिरभ्युपगमस्तेन कालविध्यादीना मध्ये यस्याभ्युपगमो यन्मते तस्य तन्मते ग्रहणम्, पुरुषार्थः पुरुषप्रयत्नः पुरुषकारशब्दव्यपदेश्यः, तथा च धर्माधर्मस्वभावेष्टिपुरुषार्थस्वरूपनिमित्ततः प्रक्रियात्मकं हेत्वसदिति सदसदात्मकमपेक्षाभेदेन विश्वमिति स्याद्वादराद्धान्तं कान्तमित्यर्थः ॥२३॥

ननु यदि वस्तु सदसन्नित्यानित्य-भिन्नाभिन्नाद्यनेकान्तात्मक तदा तथैव तत्प्ररूपणं कर्तुमुचितमिति वादिना विभिन्नकथा, तद्विषयकः शिष्यान् प्रति शिक्षकस्योपदेशोऽपि न समीचीनतामञ्चतीत्यत आह—

समग्रविकलादेशत्यागाभिप्रायतत्कथा ।
सामान्या व्यासतः शैक्ष्यविपक्षाचार्यशक्तितः ॥२४॥

समग्रेति । समग्रविकलादेशत्यागाभिप्रायतत्कथा अनन्तधर्मात्मकं वस्तु समग्रं सकलं एकैकधर्मस्वरूपं वस्त्वंशत्वाद् विकलमसम्पूर्ण, तयोरादेशत्यागौ समग्रस्यादेशे विकलस्य त्याग· विकलस्यादेशे समग्रस्य त्यागः, प्रमाणतः समग्रस्यानन्तधर्मात्मकवस्तुन आदेश· स्यादस्त्येव घट इत्येवंरूपस्तत्र––

"कालात्मरूपसम्बन्धाः संसर्गोपक्रिये तथा ।
गुणिदेशार्थशब्दाश्चेत्यष्टौ कालादयः स्मृताः ॥८॥"

इतिवचनपरिगणितै· कालादिभिरष्टभिर्य एवैकस्य धर्मस्य कालः स एवाशेषाणा धर्माणामपीति कालैक्येन सर्वधर्माणामभेदप्राधान्यविवक्षया स्यात्पदाङ्कितास्त्यादिपदेनास्तित्वाद्येकधर्मप्रतिपत्तौ तदभेदमापेजानामशेषाणामपि धर्माणामवगतिरित्येवं प्रतिभङ्गसप्तभङ्गीतोऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तिः प्रमाणात्मिका भवतीति सा सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तङ्गीति गीयते, य एकस्य धर्मकालस्ततो भिन्न एवान्यधर्मस्य कालः एवामात्मरूपादिरपीत्येव कालादिभिरष्टभिरशेषधर्माणा भेदप्राधान्यविवक्षया स्यात्पदाङ्कितेनाप्यस्त्यादिपदेनैकधर्मप्रतिपत्तौ तद्भेदमेवात्मसात् कुर्वता· मन्यधर्माणा न प्रतीति. किन्त्वैकस्यैव धर्मस्य वस्त्वंशस्यावगतिरिति सेयं वस्त्वंशावगतिर्नयात्मिकेति प्रतिभङ्ग नयात्मिका प्रतिपत्तिं जनयन्ती सप्तभङ्गी नयसप्त· भङ्गीति कथ्यते इति तथा, विज्ञानाभिप्रायतो वस्तु तदंशविषयिणी कथा समग्रविकलादेशत्यागाभिप्राय-तत्कथा भवति सा च "सामान्या व्यासतः" इत्यस्य स्थाने "सामान्यव्यासतः" इति पाठो युक्त· । सामान्यव्यासतः सामान्यतो व्यासतश्चेति तदर्थ., सामान्यतः स्यादस्त्येव वस्तु स्यान्नास्त्येव वस्त्वित्यादिसप्तभङ्गात्मका, व्यासतोऽवान्तरघटत्व पटत्वादिविशेषतः स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिसप्तभङ्गात्मिका; सा कथ प्रभवतीत्याकाङ्क्षायामाह–शैक्ष्यविपक्षाचार्यशक्तितः इदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यमिदमित्थमवबोद्धव्यमित्यादिशिक्षणयोग्याः शैक्ष्याः परस्परविरुद्धमतव्यवस्थानुकूलविचारनिपुणा विपक्षाचार्यास्तेषा या शक्तिरुपदिश्यमानार्थविधारणसामर्थ्यरूपा तत्तदर्थप्रतिपादनसामर्थ्यरूपा च ततो निरुक्तकथा सम्पद्यत इत्यर्थ· ॥२४॥

केचिज्जीवा बहुविधभोगविभूतीरनुभवन्ति, केचित् सुखविशेषात्मकस्वर्गफलभागिनो भवन्ति, केचित् पुनर्नारकीया यातनामनुभवन्ति एतद्वैचित्र्यं स्वस्वाश्रितागमप्रतिपादितविधि-निषेधविषयविहितनिषिद्धाचरणनिमित्तकमित्युपदर्शयति––

द्वीपवेलोदधिव्याससंख्या भोगविभूतयः ।
स्वर्गापायानुभागाश्च सनिमित्ता यथेष्टतः ॥२५॥

द्वीपेति । **द्वीपवेलोदधिव्याससंख्याः** द्वीपवेलोदधीनां व्यासतो याः सख्यास्तत्समसङ्ख्यको द्वीपवेलोदधिव्याससङ्ख्याः, **भोगविभूतयः** सुखानुभवनैश्वर्याणि, **स्वर्गापायानुभागाश्च स्वर्गो** देवेन्द्राद्यावासस्थानप्राप्तिजनितसुखविशेषः अपायो नारकादिजन्मानुभवनीयो यातनादिदुःख, तदनुभागस्तत्रैवाधिपत्य-किङ्करत्वादिविशेषजनितोपभोगान्तरप्रकार इत्येवं स्वर्गापायानुभागा अपि, **यथेष्टतः** स्वस्वानुमतकारणतः, **सनिमित्ताः** निमित्तवन्तः, कादाचित्कानां प्रतिनियतदेशानां तेषां प्रतिनियतकारणमन्तरेणोत्पादसम्भवादित्यर्थः ॥२५॥

शास्त्रानुपदिष्टाभिनवयुक्त्युपढौकितज्ञानाचारविशेषौ परमपुरुषार्थेननुकूलावपि तदनुकूलत्वबुद्ध्याऽऽश्रयन् जनो वृद्धपरम्परायाताचारविकलो यत् सुख दुःखसंपृक्तमिति कल्पनया परित्यजति तत्सुख-दुःखोभयवैकल्यमहितमेव दुःखाननुषक्तस्य स्वात्मरूपस्य सुखविशेषस्य परित्यक्तुमशक्यत्वादित्याशयेनाह—

ज्ञानाचारविशेषाभ्यामाचाराद् ह्रियते जनः ।
स नात्युत्तानगम्भीरः सुख-दुःखात्ययोऽहितः ॥२६॥

ज्ञानाचारविशेषाभ्यामिति । **ज्ञानाचारविशेषाभ्यां** वैशेषिकाद्येकान्तवाद्युपगततत्त्वज्ञानसन्ध्यावन्दनादिनित्यकर्माचरणाभ्यां, **आचाराद्** आप्तपरम्परागतसम्यक्चारित्रादितः, **ह्रियते** परिभ्रष्टो भवति, **जनः** विवेकशून्यो रथ्यादिपुरुषसदृशो मनुष्यः, जन इत्युक्त्या तत्त्वातत्त्वविवेकविकलत्वेन मनुष्यमात्रता लभ्यते, एतदवमतये त्वाह–**स नात्युत्तानगम्भीर** इति स जनः अत्युत्तानगम्भीरो अत्युच्चतरगाम्भीर्यादिगुणवान्, न नैव, अत्युत्तानगम्भीरत्वे वैशेषिकाद्येकान्तवादिभिः प्रतारितो न भवेत्, ननु वैशेषिकाद्युपगताशेषविशेषगुणोच्छेदलक्षणपरमपुरुषार्थमोक्षप्राप्त्याशावशीकृतो जनस्तादृशमोक्षकारणज्ञानविशेषाचारविशेषाववलम्बते इत्यत आह—**सुख-दुःखात्ययोऽहित** इति–अशेषविशेषगुणोच्छेदे दुःखस्योच्छेदवत् सुखस्याप्युच्छेद इति दुःखोच्छेदमात्रस्येष्टत्वेऽपि सुख-दुःखोभयोच्छेदोऽहितोऽनिष्ट इति न भवत्यशेषगुणोच्छेदः, परमपुरुषार्थ इति

तत्समीहया प्रवर्तनमपि दुश्चेष्टितम्, ननु दुःखात्ययस्य हितत्वमविगानेन सर्ववाद्य-नुमतं, दुःखं च शरीर षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखं चेत्येक-विंशतिविधमिति दुःखासम्भिन्नतया दुःखस्वरूपस्य सुखस्य हेयत्वमेवेति तदत्य योऽपि हित एवेति चेत्, न वैषयिकसुखस्य दुःखमध्ये परिगणितस्याहितत्वेऽपि आत्मस्वरूपस्य तस्यात्यन्तहितत्वेन तदुच्छेदस्य हितत्वासम्भवादित्यर्थः ॥२६॥

यदा च शास्त्रोपदर्शितमहापुरुषादिभूतपूर्वानेकदृष्टान्तानुस्यूतचरित्राणि जैनधर्मप्रभावकसूरिप्रवरादिभ्यः श्रुत्वा संसारनिर्विण्णो लोकशब्दार्थहिताहितालोकन-समर्थो जनो लोकशब्दव्यपदेश्यो मुमुक्षुर्भवति तदाऽस्य परमपुरुषार्थासीमा नन्दस्वरूपमोक्षावाप्तिरवश्यं भवतीत्याह—

दृष्टान्तश्रविकैर्लोकः परिपक्तिशुभाशुभैः ।
सुखार्थ-संशयप्राप्तिप्रतिषेधमहाफलैः ॥२७॥

दृष्टान्तश्रविकैरिति । अत्र "दृष्टान्तश्राविकैः" इति पाठो युक्तः । दृष्टान्तश्राविकैः दृष्टान्तं निदर्शनं श्रावयन्तीति दृष्टान्तश्राविकाः, तैर्व्याख्या-तृभिराचार्यादिभिः, परिपक्तिशुभाशुभैः कर्मपरिपाकप्रभवशुभाशुभरूपैर्दृष्टान्तैः किं फलकैस्तैः ? सुखार्थ-संशयप्राप्तिप्रतिषेधमहाफलैः सुखरूपो योऽर्थः परमपुरुषार्थः संशयश्च तयोः प्राप्ति-प्रतिषेधौ सुखार्थप्राप्तिसंशयप्रतिषेधौ महाफले उत्कृष्टप्रयोजने येषु ते सुखार्थ-संशयप्राप्तिप्रतिषेधमहाफलास्तैः, लोकः हिताहिता-लोकनसमर्थः, भवतीति शेषः ॥२७॥

इत्थं लोकभावमापन्नस्य पुंसः कल्याणं सम्पद्यत इत्याह—

ज्ञानात् कृत्स्नेष्टधर्मात्मपरमेश्वरतः शिवम् ।
कर्मोपयोगवैराग्यं धामप्राप्तिश्च योगतः ॥२८॥

ज्ञानादिति । ज्ञानाद् लोकालोकादिसकलपदार्थविषयकाज्ज्ञानावरणीयकर्मा-त्यन्तक्षयसमुत्थात् केवलज्ञानात्, कथम्भूतात् कृत्स्नेष्टधर्मात्मपरमेश्वरतः सम्पूर्णेष्टधर्मस्वरूपपरमेश्वररूपात् ज्ञानस्य धर्मस्वरूपत्वं गीतावचनतोऽप्यायाति, तद्वचनं च "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" इति अत्र धर्मपदेन परब्रह्मस्वरूपज्ञानस्यैव ग्रहणम्, परमेश्वरः केवली स च केवलज्ञानोपयोगेन

भिन्नभिन्न इति भवति परमेश्वररूपं ज्ञानम्, शिवं कल्याणं, **कर्मोपयोगवैराग्यं** कर्मफलस्पृहाशून्यत्वं **धामप्राप्तिश्च** लोकान्तोपलक्षितसिद्धशिलोपरिस्थमोक्षस्थानावाप्तिश्च, **योगतः** भवतीति शेषः, ऊर्ध्वगमनैकस्वभावो जीवः शैलेशीकरणप्रयत्नलक्षणयोगतोऽशेषकर्मक्षपणं कृत्वा स्वस्वभावादेव लोकान्तं गच्छतीत्यर्थः ॥२८॥

अतः परं त्रिंशत्तम–द्वात्रिंशत्तमसमाप्तिं यावद् भगवतो वर्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीवर्द्धमानस्य वचसोऽन्योऽन्यं युक्तत्वं चतुर्भिः पद्यैरुपमहन्ति —

पृथक् सहाविनिर्भागैर्दया-वैराग्य-संविदाम् ।
ऐश्वर्यमोक्षोपशमसमावेशविकल्पतः ॥२९॥

पृथगिति । **दया-वैराग्य संविदां** सर्वप्राणिनां सुखाभिकाङ्क्षणं दया, 'सर्वे जीवाः सुखिनो भवन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवतु' इत्येवं शुभाशंसनमिति यावत्, वैराग्यं सर्वविषयवैतृष्ण्यं, संवित् सम्यगवबोध इत्येवंस्वरूपाणाम् **अविन-र्भागैः** विभागरहितत्वेन, अस्यायमंशः ऐश्वर्येऽन्तर्भवति अयं पुनरंशो मोक्षस्वरूपान्तर्गत इत्येवंविभागाभावेनेति यावत्, **पृथक्** दयाया ऐश्वर्ये समावेशः, ईश्वरो हि दयावान् भवतीति वैराग्यस्य मोक्षे समावेशः मुक्तो हि नाशतो विषयतृष्णावान् सर्वथा वितृष्ण एवेति ज्ञानस्योपशमे समावेशः, उपशान्तः खलु ज्ञानी भवति, **सह** युगपद्, **ऐश्वर्यमोक्षोपशमसमावेशविकल्पतः** सर्वेषां दया-वैराग्य-संविदां युगपदेव परस्पराविनिर्भागवर्त्तित्वेनैश्वर्यमोक्षोपशमेषु समावेश इत्येवं विकल्पतो भगवतस्तीर्थभक्तिमुपबृंहयेत् द्रव्यार्थिकनयेन सर्वेषां द्रव्यात्मनैक्यं दया-वैराग्य-संविदामैश्वर्य–मोक्षोपशमानां चेति सह समावेशविकल्पनम्, पर्यायार्थिकेन विभिन्नकारणविभिन्नस्वरूपत्वेन चोक्तानां भेद एवेति पृथक् समावेशविकल्पनमिति जैनतीर्थ एवेत्थं समाश्रयणं सम्भवतीति तीर्थभक्तिरुद्भूता भवतीत्यर्थः ॥२९॥

आगमाभ्युदय-ज्ञान-योगाध्याहार-धारणा ।
भावना-प्राणसंरोध-कृच्छ्रयत्नव्रतानि च ॥३०॥

आगमेति । **आगमाभ्युदय-ज्ञान-योगाध्याहार-धारणा** आगमाभ्युदयः जैनागमास्यान्यागमतोऽबाधितार्थकत्वादिना वैशिष्ट्यपरिभावनं तदध्यापनादिकं

चेत्येवमागमोन्नतिः, ज्ञानं सम्यगज्ञानम्, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ज्ञानयोग एव वा, अध्याहारः वाह्येन्द्रियाणा मनसश्च स्वस्वविपयेभ्यः परवर्तनम्, धारणा चितस्यैकस्मिन् विपये ध्येये स्थिरीकरणं, भावना-प्राणसंरोध-कृच्छ्रयत्न-व्रतानि च भावनाविपयेऽनित्यत्वाशुचित्वादिपरिभावना, प्राणसंरोधः रेचक–पूरक-कुम्भकस्वरूपः प्राणायामः, कृच्छ्रयत्नः कृच्छ्रं प्रजापत्यं द्वादशदिनसाध्यं तत्राद्यदिन-त्रये प्रातर्भोजनं ततस्त्रिपु दिवसेपु सायंभोजनं, ततो दिनत्रयमयाचितभोजन, ततः परं दिनत्रयमनशनमिति तद्विषयको यत्नः व्रतानि पञ्चमहाव्रतदेशव्रतैकोपवास-प्रभृतीनि च तीर्थोन्नतिकराणि परिशीलयेदित्यर्थः ॥३०॥

दोपव्यक्ति-प्रसंख्यान-विपयातिशयात्ययैः ।
परमैश्वर्यसंयोग-ज्ञानैश्वर्यं विकल्पयेत् ॥३१॥

दोपेति। 'दोपव्यक्ति०' इत्स्य स्थाने 'दोषपक्ति' इति पाठो युक्तः । दोषपक्ति-प्रसंख्यान-विषयातिशयात्ययैः दोषाणा ससारबीजभूताना काम-क्रोधादीना विगलनं पक्तिः परिपाकः, पक्वं हि फलं झटित्येव विगलितं भवति तथा काम-क्रोधादीना विगलनं, प्रसङ्ख्यानं निर्विकल्पकसमाधिः, विषयातिशयात्ययः ज्ञाने विषयातिशय एकज्ञानापेक्षयाऽन्यज्ञानस्याधिकविषयः तदपेक्षया ज्ञानान्तरस्याधिको विषयः, एवंविधविषयातिशयस्यात्ययोऽभावः स च सर्वज्ञज्ञाने सम्भवति तैः दोषपक्तिप्रसङ्ख्यानविपयातिशयात्ययैः, अस्य विकल्पयेदित्यनेनान्वयः, किं विकल्प-येदित्याकाङ्क्षायामाह– परमैश्वर्यसंयोग-ज्ञानैश्वर्यमिति परमैश्वर्यं परम-प्रभुत्वं, सयोगः सम्यग्योगः ज्ञानैश्वर्यं परमप्रकृष्टज्ञानवत्त्वं परमैश्वर्यसयोगज्ञानैश्व-र्याणां समाहारः परमैशज्ञानैश्वर्यं तत् दोषाणा सर्वथोच्छेदलक्षणपरिपाके सति परमैश्वर्यं परिपूर्णं भवति दोषोच्छेदतारतम्यादैश्वर्यतारतम्यमिति दोषपक्त्या परमैश्वर्यम्, विकल्पयेत् विशेषरूपेण परिकल्पयेत्, निर्विकल्पकसमाधिलक्षणप्रसंख्या-नस्य न्यूनाधिककालाद्यवस्थानतः संयोगस्यापि तथा तथावस्थानलक्षणविकल्पनमिति प्रसख्यानेन सयोग विकल्पयेत्, अशेषविषयकत्वलक्षणविषयातिशयात्ययतो ज्ञानै-श्वर्यं परिपूर्णं सम्पद्यत इति विषयातिशयात्ययेन ज्ञानैश्वर्यं विकल्पयेदित्यर्थः ॥३२॥

प्रसिद्धप्रातिभास्येति कामतस्तीर्थभक्तयः ।
ननु श्रीवर्धमानस्य वाचो युक्तः परस्परम् ॥३२॥

प्रसिद्धेति । "प्रसिद्धप्रातिभास्येति" इत्यस्य स्थाने "प्रसिद्धप्रातिभस्येति" इति पाठो युक्तः । इति विंशतितमद्वात्रिंशिकापरिसमाप्तौ, क्षयोपशमविशेषतोऽनागतविज्ञानमाकस्मिकं यद् भवति यथा कस्याश्चित् कन्यकायाः श्वो मे भ्राता आगमिष्यतीति, प्रसिद्धप्रातिभस्य प्रसिद्धं प्रातिभं यस्य स प्रसिद्धप्रातिभस्तस्य प्रसिद्धप्रातिभस्य प्रमातुः, कामतः स्वेच्छया न तु परप्रेरणया, **तीर्थभक्तयः** तीर्थयात्रा तीर्थतीर्थकृता विमलोच्चशिखरमन्दिरनिर्माणं तत्र भगवता मूर्त्तिप्रतिष्ठापनं स्वामिवात्सल्यं नित्यं तीर्थप्रभावकसूरिप्रवरकृतव्याख्यानश्रवणसाधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकेति चतुर्विधतीर्थपूजनजिनोदितसूत्रपूजनादिकास्तीर्थभक्तय समुल्लसन्ति, **ननु** निश्चितम्, **श्रीवर्धमानस्य** श्रिया युक्तस्यापश्चिमतीर्थप्रवर्तकस्य वर्धमानस्वामिनः, **वाचो** वचनानि, 'युक्तः' इत्यस्य स्थाने 'युक्ताः' इति पाठो युक्तः । **युक्ताः** मुक्त्युपसन्ना इति तदर्थः, **परस्परं** अन्योऽन्यं न किमपि केनापि वचनेन विरोधमावहतीत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यामूलसुगूढविंशतितमा द्वात्रिंशिकाया वरा
स्पष्टार्था स्वसमन्वयेन परितो निस्संशयं कुर्वती ।
लावण्यास्यसमुद्गता मतिमतामानन्ददानक्षमा
श्रीसूरीश्वरनेमिपादकमले स्ताद् भृङ्गभावार्पिता ॥

इति विंशतितमी द्वात्रिंशिकायाः व्याख्या समाप्ता ॥

एकविंशतितमी श्रीवर्धमानद्वात्रिंशिका ।

जिनेन्द्रं सर्वज्ञं सुरनरपतिस्तव्यमवरं
कृपापारावारं सकलनयगर्भागमवरम् ।
महावीरं योगाभ्यसनरतगम्यामलपदं
नमामो विघ्नौघापहरणनिदानं विभुवरम् ॥१॥

सूरीणां प्रवरं गुणालिनिलयं व्याख्यानवाचस्पतिं
तीर्थोन्नत्यपरायणं जिनमतप्रोद्बोधदक्षं सताम् ।
शास्त्रागाधविचाररञ्जितबुधग्रामं सुभक्त्या गुरुं
श्रीनेमिं प्रणमामि विश्वविदितं कीर्तिप्रतापालयम् ॥२॥

स्याद्वादामृतसारपाननिरतो यो नव्यभङ्ग्योक्तितो
ग्रन्थव्रातमबाधितं रचितवान् प्राचीनयुक्त्यञ्चितम् ।
तं श्रीन्यायविशारदं बुधगणैरुद्गीयमानं यशोऽ-
भिख्यं जैनमतप्रचारनिरतं कुर्वे हृदिस्थं सदा ॥३॥

यद्द्वात्रिंशिकयाऽपि सद्रचनया सद्बोध्य वीराप्तता
बौद्ध-न्यायमुखप्रसिद्धमतगा चर्चा मुहुश्चर्चिता ।
तं वादीन्द्रदिवाकरं मतिनिधिं श्रीसिद्धसेनं स्मृतिं
नव्योद्बोधसुपानये नयविदामग्र्यं कथाकोविदम् ॥४॥

हैमं व्याकरणं परिश्रमबलात् स्वाधीनमानीय यो
धातूनां सुगमं च रूपजलधिं कृत्वा बुधानां मुदे—
लावण्यो जिनभक्तिचान्तहृदयो वीरस्तुतिव्याख्यया
साफल्यं जनुषः करोति सुमतिः सोऽयं परार्थोद्यतः ॥५॥

श्रीसिद्धसेनदिवाकरः सर्वविघ्नप्रशमिनीं मङ्गलमयीं वर्द्धमानद्वात्रिंशिकाख्यां परमकल्याणकारिणीं भगवतो महावीरस्य स्तुतिं ग्रथ्नाति—

सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाशः ।

त्रिलोकीशवन्द्यस्त्रिकालज्ञनेता
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१॥

सदेति । "स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिः, [तच्छब्दस्य यच्छब्द-साकाङ्क्षत्वादनुक्तोऽपि यच्छब्द आक्षिप्यते] यः सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाशः, त्रिलोकीशवन्द्यः त्रिकालज्ञनेता" इत्यन्वयः । स इति—आक्षिप्तसमानाधिकरणयच्छब्दसमभिव्याहृत-सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः इत्यादिस्वरूपः, एकः अद्वितीयः—सजातीयद्वितीयरहितः यद्यपि जिनत्व-केवलित्व-मुक्तत्वादिलक्षणस्वगतजातिविशिष्टस्य स्वभिन्नस्य सद्भावात् सजातीय-द्वितीयराहित्यं न सम्भवति तथापि यावन्तो धर्मा भगवति महावीरे पूर्वापरीभावापन्नास्तावद्धर्मविशिष्टतापन्नमहावीरत्वलक्षणवैजात्यविशेषो नान्यत्र कुत्रापीति तद्रूपेण सजातीयद्वितीयरहितो भवत्येव भगवान् महावीरः यदि चेत्थंदिशा सजातीयद्वितीयरहितत्वलक्षणमेकत्वं प्रत्येकं सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि सम्भवतीति न स्तव्योत्कर्षाधायकमिति विभाव्यते, तदा व्यवहारनिश्चययोर्मध्ये निश्चयनयस्यैवाश्रयणं कुर्वन्ति स्तुतौ स्तुतिकर्त्तार इति शुद्धपरसङ्ग्रहरूपनिश्चयनयेन सर्वेषामात्मना सच्चिदानन्दपरब्रह्मस्वरूपेणैक्यमेव, व्यवहारतस्तु भेद इत्यैक्यस्य निश्चयनयमतविषयस्यादरणादेक इति नानुपपन्नम् । परात्म-जिनेन्द्रयोर्मध्ये परात्मनो विशेष्यत्वं जिनेन्द्रस्य वेति विमर्शे जिनेन्द्रस्य विशेष्यत्वे तदुत्तरविशेषणवाचक-पदाभवात् समाप्तपुनरात्तत्वदोषो न भवत्येव, परात्मनश्च विशेष्यत्वे तदुत्तर-विशेषणावाचकजिनेन्द्रपदसद्भावादुक्तदोषाशङ्का स्यादतो न तस्य विशेष्यत्व, जाति-तदन्यप्रवृत्तिनिमित्तकपदयोर्मध्ये जातिप्रवृत्तिनिमित्तकस्यैव पदस्य विशेष्यवाचक-त्वमिति विनिगमकं चात्र नास्त्येवेत्येकपदमिव परात्मपदमपि विशेषणवाचकमिति पूर्वं तन्निर्वचनं न्याय्यं व्याख्याते च तस्मिन्नैवंभूत' क इत्याकाङ्क्षाया तन्नि-वृत्तये, जिनेन्द्र इति विशेष्यवाचकपदावतरणात् अथवा गौतम-कणाद-कपिल-पतञ्जलि-जैमिनि-व्यास-बुद्ध-जिनेषु मध्ये एक एव जिनेन्द्रो मे गतिः, न तु गौतमादय इत्येव वक्तुं शक्यते, न तु तत्र एक एव परात्मा मे गतिरि-त्यभिधातुं शक्यं, परात्मनो दर्शनप्रणेतॄणां मध्येऽपरिगणनात्, समासा-ऽसमा

सयोर्नव्ये समासस्य स्वस्वरूपसन्निविष्टपदप्रतिपाद्यविशेषणविशिष्टतथाभूतपदप्रतिपाद्यविशेष्यप्रतिपादकत्वेनाखण्डार्थत्वाभावान्न विशेष्यवाचकत्वं किन्त्वखण्डार्थस्यासमासस्य तत्त्वमिति विनिगमकमपि नात्र क्रमते, यतः परः प्रकृष्ट आत्मा यस्य स परात्मेत्येवमस्य बहुव्रीहिसमासरूपत्वात्, जिनेषु इन्द्र इव इन्द्रो जिनेन्द्र इत्येवं जिनेन्द्रशब्दस्यापि समासरूपत्वात्, समासरूपत्वाविशेषेऽपि चान्यपदार्थप्रधानकत्वान्न परात्मशब्दस्य विशेष्यपरत्वं, किन्तु स्वघटकपदार्थप्रधानकत्वाज्जिनेन्द्रशब्दस्यैव तत्त्वमिति ध्येयम् । **परात्मेति**–प्रकृष्टात्मस्वरूपः, परात्मस्वरूपाविर्भावान्तरं न तदवस्थस्योत्तरकालं कदाचिदपि विनाश इत्यविनाशित्वमेव प्रकृष्टत्वम् । न चात्मनो द्वैविध्यं जिनेश्वरभेदेन, नैयायिकादिभिरीश्वरवादिभिरुपगतमिति परात्मा-परमात्मा शक्तिरीश्वरः परसम्मत एवेति वाच्यम्, तथाविभागस्य जगत्कर्तृभावेनेश्वरस्य पूर्वसूरिभिरपाकृतत्वेनासम्भवात्, किन्तूपयोगलक्षणस्य जीवस्यैवात्मनः संसारी मुक्तश्चेत्येवं विभागो जैनराद्धान्ते, अवस्थाभेदतो जीवस्यैव पुनस्त्रेधा विभागः बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्मेति, तेषां चेत्थं नन्दीटीकागतेन–

अवस्थाभेदतो जीवः पुनस्त्रेधा प्रचक्षते ।
बहिरात्माऽन्तरात्मा च परमात्मेति तत्त्वतः ॥१॥
हेयोपादेयवैकल्यान्न यो वेत्ति हिताहितम् ।
निमग्नो विषयाक्षेपु बहिरात्मा स मूढधीः ॥२॥
अन्तरात्मा त्रिधा क्लिष्ट-मध्यमोत्कृष्टभेदतः ।
अयं तयोर्जघन्यः स्यान्मध्यमौ द्वौ तदुत्तरौ ॥३॥
अप्रमत्तादयः सर्वे यावत् क्षीणकषायकाः ।
उत्तमा यतयः शान्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥४॥
परमात्मा द्विधा सूत्रे सकलो निष्कलः स्मृतः ।
सकलः केवली प्रोक्तो निष्कलो मुनिनायकः ॥५॥

इति पद्यकदम्बकेन स्वरूपमवसेयम् । अत्र परमात्मा सिद्ध एव, बहिरात्मा-ऽन्तरात्मानौ संसारिणाविति न द्वैविध्येन विभजनस्य पूर्वोदितस्यानुपपत्तिः, सकलस्वरूपस्य परमात्मनस्तीर्थकृत्त्वावस्थायां सत्त्वेऽपि निष्कलस्य तस्य सिद्धावस्थायामेव सत्त्वं, तदानीं च सर्वेषामेव जिनेन्द्राणां साम्यमिति तद्रूपेण स्तुतिर्नैकस्यैव

श्रीवर्द्धमानस्य, वर्द्धमानत्वधर्मस्यान्येभ्यो जिनेन्द्रेभ्यो व्यवच्छेदकस्य भवस्थावस्थायामेव सद्भावात्, एवमपि न काचित् क्षतिः, त्रिविधं हि व्यवच्छेदकं विशेषमुपाधिरुपलक्षणं च, तत्र वर्तमानं सद् विशिष्टस्वरूपप्रविष्टमन्येभ्यो व्यावर्तकं विशेषणमुच्यते तद्वच्च विशिष्टमभिधीयते, यच्च वर्तमानं सद् विशिष्टस्वरूपाप्रविष्टमेवान्येभ्यो व्यावर्तकं तदुपाधिः कथ्यते, तद्वच्चोपहितमिति गीयते यच्चावर्त्तमानं स्वरूपाप्रविष्टमेवान्यतो व्यावर्त्तकं तदुपलक्षणमिति वर्ण्यते तद्वच्चोपलक्षितमित्यभिधीयते, एवं च भवस्थतीर्थकृत्त्वाकलितकेवलालिङ्गितस्य जिनेन्द्रस्य वर्धमानस्य निष्कलस्वरूपपरमात्मत्वमुपलक्षणमेव व्यावर्तकमिति तदुपलक्षितस्य वर्द्धमानस्यान्यतो व्यावर्तनं समस्त्येवेति तदसाधारणगुणवर्णनलक्षणा तत्स्तुतिरुपपन्नैवेति। विशेष्यस्वरूपं निर्दिशति–जिनेन्द्र इति रागद्वेषादीनन्तरातीन् जितवन्त इति जिनाः सामान्यकेवलिनोऽपि, तेषु इन्द्र इवेन्द्रः, तीर्थङ्करत्वलक्षणैश्वर्ययोगात्, स मे श्रवण-मनना-ऽभ्यसनेन तत्स्वरूपध्याननिमग्नस्य मम, गतिः गम्यते–प्राप्यते–बुध्यते-ज्ञायते स्वरूपतत्त्वमनयेति गतिरिति व्युत्पत्त्या गतिर्ध्येयस्य परात्मस्वरूपस्य ज्ञापकः प्रापकश्च; भवेदिति शेषः, इदं तुरीयचरणमग्रिमपद्येष्वपि समानमित्येतद्व्याख्यानेनैव व्याख्यातमवबोद्धव्यम्, तच्छब्दोपादानाक्षिप्तयच्छब्दाभिधेयं स क इत्याकाङ्क्षानिवर्तकमुपदर्शयति–सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः सदा–सर्वस्मिन्नुत्तरकाले, योगानां ज्ञान-दर्शन-चारित्रादीनां क्षयिकाना,सात्म्यं तदात्म्यं तस्मात्, उद्भूतं प्रकटीभूतं साम्यं तुल्यत्वं यस्य स उद्भूतसाम्यः तुल्यत्वं सप्रतियोगिकं कस्यचित् केनचित् भवतीति प्रकृते सिद्धैः समं तदवसेयम्, आगमे सर्वसिद्धानां तुल्यत्वप्रतिपादनात्, भगवानपि नियमतो ज्ञान-दर्शन-चारित्रादियोगतादात्म्यमनुभवन्नेव सिद्धो भविष्यतीति तत्तुल्यत्वं सुसङ्गतम्, एवंभूतासाधारणगुणकीर्तनरूपेयं स्तुतिर्भगवतः स्वार्थसम्पदभिधायिनी, पुनः किंभूतो जिनेन्द्रः ? प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाशः प्रभया केवलज्ञान-दर्शनलक्षणकान्त्या, तदुत्थानेकान्तताकलितविहितनिषिद्धकाम्यनित्यनैमित्तिकोत्सर्गाऽपवादभ्राजिष्णुक्रियाकलापप्रतिपादकश्रुतलक्षणप्रभया च, उत्पादितः जनितः, प्राणिनां संसारिणां, पुण्यप्रकाशः महाव्रताऽणुव्रतादिसाधु-श्रावकादिकर्तव्यधर्मोद्द्योतो येन सः; इयं च परार्थसंपदभिधायिनी असाधारणगुणो-

त्कीर्तनरूपा स्तुतिः, स्वार्थसम्पत्तिमानेव पुरुषः परार्थसम्पत्तिकरणे समर्थो भवत्यभिसन्धानेन प्रथमचरणेनस्वार्थसम्पत्तिमत्त्वमुपदर्श्यानन्तर द्वितीयचरणेन परार्थसम्पत्तिरुपदर्शिता। पुनः किंभूतो जिनेन्द्रः ? त्रिलोकीशवन्द्यः त्रयाणां लोकाना समाहारः त्रिलोकी, तस्या ईशाः देवेन्द्र-भूमीन्द्र-चमरेन्द्रादयः, तैर्वन्द्यः वन्दितुं योग्यः, पुनः कीदृशो जिनेन्द्रः ? त्रिकालज्ञनेता त्रिकालं जानन्तीति त्रिकालज्ञाः, मतिश्रुताऽवधि-मनःपर्यायज्ञानिन , तेषा नेता स्वामी, अत्र राग-द्वेषादीन् शत्रून् जितवन्त इति जिनाः, तेषु इन्द्र इति व्युत्पत्तिलभ्यार्थकजिनेन्द्रशब्देनापायापगमातिशयः प्रतीयते, अपायः ज्ञान-दर्शनात्मकोपयोगलक्षणात्मस्वरूपप्रतिबन्धकराग-द्वेषनिदानज्ञानावरणीयादिघातिकर्मचतुष्टयं, तदत्यन्तक्षय एव ज्ञान-दर्शनाविर्भावं इति केवलज्ञान–दर्शनोत्पत्त्यव्यवहितप्राक्काल एव वर्द्धमानस्वामिनोऽपायापगमातिशयोऽभिमत इति तस्य जिनेन्द्रशब्दतः प्रतीतिरेव युक्ता "सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः" इति प्रथमचरणेन सिद्धतुल्यत्वप्रतीत्या सकलावरणक्षयो यथाऽर्थादवगम्यते तथा क्रमिककेवलज्ञान-केवलदर्शनाविच्छिन्नानन्तधाराऽप्यवगम्यत इति। किञ्च, केवली भगवान् भवस्थावस्थाया चतुर्विधातिशयसम्पन्नः, तत्र ज्ञानातिशयस्तस्यापायापगमातिशयादुपजायत इत्यविगानेन प्रतीतं, सिद्धतादृशावस्थस्य चापायापगमातिशयो न ज्ञानातिशयप्रयोजकः किन्तु तत्प्रयोज्य इति तदुपदर्शनमकिञ्चित्करम् , वस्तुतः "सदा योगसात्म्यात्०" इत्यनेन ज्ञानातिशय एव प्रकटीकृतो भवतीति "प्रभोत्पादित" इति तृतीयचरणेन वचनातिशयलाभः, तदा यदि प्रभापदं तीर्थकृन्नामकर्मसचिवकेवलज्ञानसमुद्भूतश्रुतपरं यदि वा "पुण्यप्रकाशः" इत्यस्य पुण्यस्य प्रकाशो यस्मादिति व्युत्पत्त्या श्रुतपरत्व भवेत्, अन्यथा नाक्लेशततल्लाभत्वं तस्येति "त्रिलोकीशवन्द्यः" इत्यने पूजातिशयः प्रकटितः। यो हि यस्य नेता स तद्गुणोत्कृष्टगुणो भवतीति नियमतो मति-श्रुता–ऽवधि- मनःपर्यायज्ञानिभ्यस्त्रिकालज्ञेभ्यस्तन्नेतुर्महावीरस्य विशिष्टगुणशालित्व "त्रिकालज्ञनेता"; इत्यनेन प्रतीयते, किन्तु केवलज्ञानत्वेन एव तथाभाव इति नावधारयितुं शक्यते, तीर्थकृत्त्वादिगुणयोगादपि तत्त्वस्य सम्भवादिति "त्रिकालज्ञनेता" इत्यनेन ज्ञानातिशयलाभ इत्यतो वर "सदा योगासात्म्यात्" इत्यनेन ज्ञानातिशयलाभः, ततस्तस्य स्पष्ट प्रतीतेरिति ।

इदं भुजङ्गप्रयातं वृत्तम्, तल्लक्षणं च "चतुर्भिर्यकारैर्भुजङ्गप्रयातम्" इति अग्रेऽप्येवम् ॥१॥

प्रकारान्तरेण जिनेन्द्रं महावीरं स्तौति—

शिवोऽथादिसङ्ख्योऽथ बुद्धः पुराणः
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्यथैकः ।
प्रकृत्याऽऽत्मवृत्त्याप्युपाधिस्वभावः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२॥

शिव इति । शिवः यं शिव इत्युपासते शैवाः सोऽनल्पभवभ्रमणादिमूलाष्टविधकर्मरहितत्वान्निरुपद्रवः शिवो जिनेन्द्रः, अथ पुनः आदिसङ्ख्यः यं जगतो जन्यमात्रस्य कर्तृत्वेन जगदादिमुपासते नैयायिकादयो जगज्जनकेश्वरवादिनः स आदिसङ्ख्यः स्वतीर्थप्रणेता जिनेन्द्रस्तीर्थादिसङ्ख्यः, जगज्जनकेश्वरविग्रहेषु ब्रह्म-विष्णु-महेशेषु जगदुत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा प्रथमसङ्ख्यः, जगत्स्थितिकर्त्ता विष्णुर्द्वितीयः जगत्संहारकर्त्ता शिवस्तृतीयः, स कथमादिसङ्ख्यः इति विरोधोऽप्यर्थकेनाथशब्देन प्रथमतः स्फुरति, स चानन्तरोपदर्शितव्याख्यानेन परिहृत इति विरोधाभासालङ्कारः एवमग्रेऽपि, अथ पुनः, बुद्धः य क्षणिकसर्वज्ञो बुद्ध इति, सौत्रान्तिकादयश्चत्वारः सौगता उपासते अवगम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति बुद्धो ज्ञाततत्त्वो भवति जिनेन्द्रः सर्वज्ञत्वात्, पुराणः यं पितुरपि पिताऽतिप्राचीनत्वात् पितामहः पुराण इति पौराणिका उपासते स जिनेन्द्रः, आत्मस्वरूपद्रव्यात्मकस्य तस्यानादिकालवृत्तित्वेनातिप्राचीनत्वलक्षणपुराणत्वस्य सम्भवात्, अथशब्दस्यात्राप्यर्थकत्वे बुद्धोऽपि पुराण इति विरोधः, बुद्धः खलु बौद्धदर्शनप्रवर्त्तको न्यायादिदर्शनाभिमतस्थैर्यवादखण्डनप्रवणः, तत्तद्दर्शनकर्तृगौतम-कणाद-कपिलादिभ्यो नूतनो मायादेवीसूनुः पुराणो न भवितुमर्हतीत्यामुखे विरोधोऽवभासते, स चाभिहितव्याख्यानतः परिहृत इति विरोधाभासालङ्कारः, पुमानपि अपिः पुनरर्थे "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादिश्रुतिवचनाद् य पुरुष एव सर्वस्य कर्त्तत्येवमुपासते पुरुषकारणिकाः स सर्वान् सत्त्वान् धर्ममार्गोपदर्शनेनाधर्मप्रभवनरकाद्यवटपातात् पाति रक्षतीति पुमानित्येवंस्वरूपो जिनेन्द्रः, अलक्ष्योऽपि अपि पुनः अलक्ष्यः यं वाङ्-

मनसोर्मार्गमतीत्य वर्त्तमानत्वेन सर्वप्रमाणागोचर आत्मा ब्रह्माद्वैतमित्येवमद्वैत-वादिन उपासते, स रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वरहितत्वान्द्रियजन्यज्ञानविषयो न भवतीत्यतो लक्षयितुमशक्यत्वादलक्ष्यो जिनेन्द्र', यः पुमान् स पुंश्चिह्नै लक्ष्य एवेति कथमलक्ष्य इत्यपिना विरोधो भासते, स चोक्तव्याख्यानेन परिहृत इति विरोधा-भासः, अनेकोऽपि अपि पुन', अनेकः—

"ईश सूत्रविराट्-वेधो-विष्णु-रुद्रेन्द्र वह्नयः ।
विघ्नभैरव-मैराल-मरिका-यक्ष-राक्षसाः ॥६॥
विप्र-क्षत्रिय-विट् शूद्रा गवाऽश्व-मृग-पक्षिणः ।
अश्वत्थ-वट-चूताद्या यव-व्रीहि-तृणादयः ॥७॥
जल-पाषाण-मृत् काष्ठ-वास्या-कुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिता फलदायिनः ॥८॥
यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥९॥

इत्यादिवचनात् यं स्वस्वाभीष्टसिद्धिकामा 'अयमीश्वरः, अयमपीश्वरः' इत्येव-मनेके ईश्वरा इत्येवं ये ये विभूतिमन्तस्ते सर्वेऽपीश्वरा इत्यभ्युपगन्तार उपासते स प्रतिक्षणमेकस्यापि केनचिद्रूपेणोत्पादः केनचिद्रूपेण व्ययः केनचिद्रूपेणावस्थिति-रित्येवमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वयोगोऽस्तीत्यनेकः, यद्वाऽनन्तपर्याया-त्मकवस्तुज्ञातृत्वेनानेक', कथञ्चित् तादात्म्यस्य राद्धान्ते सर्वसम्बन्धव्यापकत्वेना-भ्युपगततया जिनेन्द्रस्वरूपोपयोगस्यानन्तपर्यायात्मकानन्तवस्तुविषयकस्य तथाविध-वस्त्वभिन्नस्यानेकत्वेन तदात्मकस्य जिनेन्द्रस्याप्यनेकत्वमित्यनेको जिनेन्द्रः, अथैकः अथ पुनः, यं क्षित्यादिकर्तृत्वेनानुमितस्येश्वरस्य लाघवादेकत्वेमेव, लाघवलक्षण-तर्कसहकारेणानुमानमेकमेवेश्वरं विषयीकरोति, अनेकतया तत्कल्पने एकस्मिन् कार्येऽनेकेषा तेषामिदमित्थं करणीयमिदमेव करणीयं न त्वेवमित्येवमन्योऽन्यकलहं कः समादध्यादित्येक एवेश्वर इत्येवमीश्वरकारणिका उपासते स एको जिनेन्द्रः, द्रव्यार्थिकनयात्मकपरसङ्ग्रहरूपनिश्चयनयेनैकत्वस्योपपत्तेः अनेकत्वैकत्वयोर्विरोधाद् योऽनेकः स एको न संभवतीत्येवं विरोधो भासमानोऽप्युक्तदिशा परिहृत इति विरोधाभासालङ्कार', प्रकृत्यात्मवृत्त्याऽप्युपाधिस्वभावः अपि पुनः, यं सत्त्व-

रजस्तमोगुणत्रयात्मकप्रकृतिपरिणामभूतधर्माधर्म ज्ञानाज्ञान-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्या-द्यष्टविधधर्मैर्बुद्धिगतैस्तद्भेदाग्रहत: कलुषित आत्मा स्वत: कूटस्थनित्य एव बुद्धिसम्बन्धासम्बन्धप्रयुक्तबन्ध-मोक्षाकलितो न तु स्वतो बध्यते मुच्यते इत्येवं कापिला उपासते कपिल एव सर्गादावादिविद्वान् प्रादुर्बभूवेति मन्वाना, स प्रकृत्या कर्मप्रकृत्या क्षीरनीरन्यायेनैकीभावापन्नया तत्तत्परिणामलक्षणसंसृत्याद्युपाधि-तादात्म्याध्यासतस्तदुपाधिस्वरूपः, आत्मवृत्त्या-उपयोगात्मकस्वस्वरूपानुस्यूतपरमा-नन्दस्वभाव इति कृत्वोपाधिस्वभावोभयात्मकत्वेनोपाधिस्वभावो जिनेन्द्रः, अत्र य उपाधि· परसम्बन्धप्रयुक्तधर्मः स न स्वभाव इति विरोधोऽपेक्षाभेदेन परिहृत इति विरोधाभासः ॥२॥

जुगुप्सा-भया-ऽज्ञान-निद्रा-ऽविरत्य-
ङ्गभू-हास्य-शुग्-द्वेष-मिथ्यात्व-रागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायैः सिषेवे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३॥

जुगुप्सेति । "जुगुप्सा-भया-ऽज्ञान-निद्रा-ऽविरत्यङ्गभू-हास्य-शुग्-द्वेष-मिथ्यात्व-रागै., रत्यरत्यन्तरायैर्यो न सिषेवे स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः" इत्यन्वयः। स जिनेन्द्रो मे मम, गति., स कः ? इत्याकाङ्क्षायामाह–**जुगुप्सा-भया-ऽज्ञान-निद्रा-विरत्यङ्गभू-हास्य-शुग्-द्वेष-मिथ्यात्व-रागैः** जुगुप्सा-निन्दा, सा परविषयिणी स्वकृता ज्ञेया, तस्या एव सम्बन्धाभावो जिनेन्द्रेऽभि-मतः, तेन अज्ञै-एकान्तवादिभि., कृताया निन्दाया जिनेन्द्रे विषयतया सत्त्वेऽपि न क्षतिः; भयः भीतिः अय मा मारयिष्यति ताडयिष्यतीत्यादितश्चित्त-वैक्लव्यविशेषो न सम्भवत्येव जिनेन्द्रे, भवस्थावस्थायामपि घातिकर्मात्यन्तविगमे-ऽवशिष्टाघातिकर्मवशादवश्यम्भाविनो दुःखादे· स्वकृतकर्मजनितत्वस्यैवावलोकनात्, किन्तु परगताया भीतेरुत्पादकत्वम्, अज्ञानं न ज्ञानसामान्यभाव·, स जडगत एव न तु कस्मिन्नपि जीवे, तथा सत्युपयोगलक्षणभावे जीवत्वमेव न स्यात्, अत एव निगोदजीवेऽपि किञ्चिदंशेऽनावृत्तं ज्ञानं स्वीक्रियते, किन्तु स्व परानवबोध-

कत्वम्, निद्रा दर्शनमोहनीयोदयात स्वपनं हिताहितोपेक्षणीयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाफल्क- ज्ञानविशेषाभाव., विषयाननुभवनमिति यावत्, न च जडे अतिव्याप्तिः, तद्गत- विषयाननुभवनस्य स्वतः सिद्धस्य दर्शनमोहनीयोदयप्रभवत्वाभावात्; विरतिर्नाम- ज्ञात्वाऽभ्युपेत्य प्राणिवधाद्यकरणम्, तस्या देशविरति-सर्वविरतिभेदेन द्वैविध्यम्, आद्या श्रावकादीनाम्, अन्त्या साध्वादीनाम्; तदभावोऽविरतिः, विरत्यविरती चेतन- धर्माविव, ज्ञात्वाऽभ्युपेत्येति विशेषणोपादानादेव विरतिलक्षणं जडे मा भूदति- प्रसक्तं, तदभावस्वरूपमविरतिलक्षण तु जडेऽतिप्रसज्येत इत्यप्रत्याख्यानादिकषायो- दयात् त्रस-स्थावरादिप्राणिवधनिवृत्त्यभावोऽविरति', जडे प्राणिवधनिवृत्तेरप्रत्या- ख्यानादिकषायोदयप्रभवत्वाभावान्नातिप्रसङ्गः; अङ्गात् प्रभवतीति व्युत्पत्त्याऽङ्गभू:- स्त्री-पुरुषादिगताऽवस्थाविशेषान्योऽन्यदर्शनालिङ्गादिजनितः कामाभिलापो न त्विच्छा- मात्रम्; मुखाद्यवयवविकारविशेषो हास्यं, यद्दर्शनेनायं हसतीति व्यवहारो लोकानां, चन्द्रशोभा हसतीयमङ्गनामुखशोभेत्यादि व्यवहारोऽपि दृश्यते, इत्यतो हास्यमोह- नीयोदयप्रभवत्व तत्र विशेषणमिति नातिप्रसङ्गः, शोचतीति व्यवहारसिद्धं शोचनं- शोक', नवीनपत्रादिकं दृष्ट्वा जीर्णपत्रादिक स्वात्मान शोचत्यहमीदृश• संवृत्त इत्य- चेतनेऽप्युपचरित शोचन समस्तीत्यत शोकमोहनीयोदयाच्छोचनं शोकः, जडे तादृश- शोचनाभावादतिप्रसङ्गाभावः, परानिष्टकरणाद्यनुकूलः क्रोधापरपर्यायो द्विष्टसाधनता- ज्ञानजन्यो द्वेष', अनेकान्तानात्मकस्य वस्तुनोऽभावात् तद्विषयकमेकान्ताभिनि- वेशशालिना श्रद्धान मिथ्यात्वम्, राग -दार-धनादिविषयकः स्नेह., **रत्यरत्यन्त- रायैः यो न सिषेवे** सुखप्राप्तौ प्रफुल्लितहृदयत्वं रतिः. दुःखप्राप्तौ विषण्ण- हृदयत्वमरतिः; अन्तराय यादृशकर्मोदयादभीष्टं दानादिकं नैवाप्यते तादृश कर्म, दानादिप्रतिबन्धकविशेष इति यावत्, स च दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तरायो- पभोगान्तराय-वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधः, एतैरष्टादशदोषैर्यो न सिषेवे-न सेवितः, **स एकः परमात्मा गतिः मे जिनेन्द्रः** निरुक्ताष्टादशदोषरहितो जिनेन्द्रः परात्मा मम गतिरित्यर्थः ॥३॥

सत्त्वादित्रिगुणविकाररहितत्व-सर्वप्राणिरक्षकत्वाभ्यां भगवन्तं महावीरं स्तौति—

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्न-
स्तमोभिर्न नो वा रजोभिः प्रणुन्नः ।

त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

न यो बाह्यसत्त्वेनेति । "यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं न प्रपन्नः, यस्तमोभिर्न प्रणुन्नः, वा रजोभिर्योनो प्रणुन्नः, यस्त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः, स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिः" इत्यन्वयः । नैयायिकाद्यभिमत ईश्वरो विष्णु-रुद्र-ब्रह्मभेदेन त्रिविधः, तत्र विष्णुः सत्त्वगुणसहकारेण जगद् रक्षति, सत्त्वगुणो लघुप्रकाशकस्वभावो मायाया न तु विष्णोरिति बहिरङ्ग एव सः, यदि च सुखजनकमदृष्टं तदापि जीवस्य विष्णोरिति बाह्य एव, तत्सचिवतैव मैत्रीं तां प्रपन्नः-प्राप्तो विष्णुः; रुद्रश्च तमोगुणचोदितो जगत् संहरतीति, तमोभिः तमोगुणैर्गुरुवरणकस्वभावैः, जीवगतैर्वा संहरणजनकादृष्टैः प्रेरितः, ब्रह्मा चोपष्टम्भकचलस्वभावैः, तत्तद्वस्तूपजनकादृष्टरूपैर्वा रजोगुणैः प्रेरितो जगत् सृजति, जिनेन्द्रस्तु तेभ्यो विलक्षणो बाह्यसत्त्वेन लोकव्यवहारोपयोगिलौकिकसत्त्वगुणेन अथवा सत्त्वम्-आत्मा, स एव बाह्यो बहिरात्मा—

"हेयोपादेयवैकल्यान्न यो वेत्ति हिताहितम् ।
निमग्नो विषयाक्षेषु बहिरात्मा स मूढधी ॥१०॥"

इति **यः** वचनोक्तलक्षणलक्षितः, तेन **बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं** पुद्गलरागदशात्वं तदात्मस्वरूपता वा, **न प्रपन्नो** न प्राप्त, **तमोभिः** अज्ञानान्धकारैः, **न प्रणुन्नो** न प्रेरितः, **वा** अथ च, **रजोभिः** राजसगुणै., **न प्रणुन्नः** न प्रेरितः, एतादृशो जिनो भक्तानुग्रहकारित्वाभावादनुपास्य एव लोकैरित्यत आह— **त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः** त्रयाणा लोकाना समाहारः त्रिलोकी, तस्याः परित्राणे रक्षणे, निस्तन्द्रा आलस्यरहिता, मुद्रा-मूर्तिर्यस्य स., यस्य भीतिजनकशस्त्राद्यनालिङ्गितहस्तादिपरिकलितध्यानैकनिमग्नाकारमूर्तिदर्शनमात्रेणैवाहमपीदृशो— भवेयमिति शुभाशी परिगता जनाः सन्मार्गासेवनतो नरकादिगर्त्तातिपाततो विमुक्ता भवन्तीति, एतादृशो जिनेन्द्र. परात्मा मम गतिरित्यर्थः ॥४॥

अनन्तरश्लोकेण विष्णु-शिव-विरञ्चिभेदोऽवधृतोऽपि नैकान्ततः, कथञ्चिदेकशब्दाभिलप्यत्वादिना तैरभेदोऽपि जिनेन्द्रस्येत्याशयेन पञ्चम-षष्ठ-सप्तमश्लोकैः क्रमेण विष्णु-शिव-ब्रह्माभिन्नत्वं प्रतिपादयन् जिनेन्द्रं भगवन्तं महावीरं स्तौति—

हृषीकेश ! विष्णो ! जगन्नाथ ! जिष्णो !
मुकुन्दाऽच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप ! ।
अनन्तेति संबोधितो यो निराशैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥

हृषीकेशेति । 'निराशै', हृषीकेशेत्यादिशब्दसम्बोधितो यः स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गति" इत्यन्वय । **निराशैः** आशा—फलाभिलाषा तया विमुक्ताः-निराशा., तैर्निराशै', फलकामनारहितैर्निष्कामैर्भव्यजीवै., य. हृषीकेश ! विष्णो ! इत्यादिसम्बोधनेन सम्बोधित, सम्बोधन नाम वक्तुरव्यवहितशब्दजन्यबोधाश्रयत्वेनेच्छा, तस्या. सबोधनप्रथमाविभक्त्यर्थभूताया' संख्याया इव प्रकृत्यर्थे विशेषणतयैवान्वय, विशेषणतावच्छेदकसम्बन्धश्च विषयत्वं, तथा च प्रकृते वक्तु स्तुतिकर्तृसिद्धसेनादिवाकरोपस्थापितनिराशभव्यनिकुटम्बस्य अव्यवहित:-पुरुषान्तर-व्यवधानरहित., अर्थात् साक्षादेव, उक्तस्तुत्यात्मकशब्दजन्यबोधाश्रयत्वेनेच्छा 'निरुक्तबोधाश्रयो हृषीकेशो भवतु' इत्याकारिका, तद्विषयहृषीकेश इत्यर्थ., एवं विष्णो ! इत्यादिसबोधनान्तरेऽपि बोध्यम् । परमते-'हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ, जिष्णु, मुकुन्द, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप' इति विष्णुनामानि प्रसिद्धानि स्वमते वर्धमानजिने चेत्थ घटना—हृषीकाणाम्-इन्द्रियाणाम्, ईम्—अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा लक्ष्मीं, स्यति—तनूकरोति खण्डयतीति हृषीकेशः, केवलज्ञानस्य सकललोकालोकप्रकाशकस्योत्पत्तौ सत्यामिन्द्रियाणि भगवतोऽकिञ्चित्कराण्येव भवन्तीति, तत्सम्बोधने—हे **हृषीकेश** इति । वेवेष्टि—ज्ञानात्मना लोकालोक व्याप्नोतीति 'विषेः किन्' [उणा० ७६९] इति किति णुकि—विष्णुर्व्यापक, तत्संबोधनम् **हे विष्णो** इति । जगताम्-अशेषभव्यसत्त्वाना योग-क्षेमकारित्वेन नाथः-स्वामी, तत्संबोधने **हे जगन्नाथ** इति । राग-द्वेपादीनन्तररातीन् जयतीत्येवंशीलो जिष्णुस्तत्सम्बुद्धौ **हे जिष्णो** इति । मोचयति पापादिति "मुचेः०" [उणा०२५०] इति उकुन्द-प्रत्यये-मुकुन्दः-पापविमुक्तिकर्ता, तस्यामन्त्रणं-**हे मुकुन्द** इति कुत्रापि कस्मादपि स्वस्वरूपतः, न च्यवते स्खलतीत्यच्युतोऽविनाशी, तत्सम्बोधनं **हे अच्युत !**

इति । केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपायाः, श्रिय -शोभायाः पति.-स्वामी, तत्सम्बोधने **हे श्रीपते** इति । ज्ञानावरणीयकर्मात्यन्तापगमसमुत्थ केवलज्ञानं विश्वविषयकमिति सम्बन्धमात्रव्यापकस्तादात्म्यसम्बन्धो भेदाभेदरूपो विषय-विषयिणोर्विश्व-केवलज्ञानयोरिति केवलज्ञानरूपो जिनेन्द्रोऽपीति, तत्सम्बोधन–**हे विश्वरूप** इति । न विद्यते देशतः कालतः स्वरूपतश्चान्तो यस्य सोऽनन्त इति, ज्ञानात्मना सर्वविषयलक्षणदेशव्यापित्वाद् देशपरिच्छेद्यत्वलक्षणो देशतोऽन्तो नास्ति, उत्पन्नस्य केवलज्ञान-केवलदर्शनात्मकोपयोगरूपस्य जिनेन्द्रस्योत्तरकालं सर्वदैवावस्थानाद् विनाशाभावेन कालपरिच्छेद्यत्वलक्षणः कालान्तो नास्तीति, स्वरूपतश्च द्रव्यरूपेण वर्तत एवेति स्वरूपतश्चानन्त इति, यद्वा-न विद्यते गुणानामन्तो यस्य सोऽनन्तः तत्सम्बुद्धौ-**हे अनन्त इति** । एव **सम्बोधितः** सम्बोधनविषयीकृतो यः स **एकः** परात्मा जिनेन्द्रो **मे** मम गतिरित्यर्थः ॥५॥

विष्णुप्रतिपादकप्रसिद्धानेकनामप्रतिपाद्यतया विष्णुना सममभेदं प्रतिपाद्य शिवप्रतिपादकप्रसिद्धानेकनाममप्रतिपाद्यत्वेन शिवाभेदेन भगवन्त जिनेन्द्र वर्द्धमानं स्तौति—

> **पुरा-ऽनङ्ग-कालारिराकाशकेशः**
> **कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः ।**
> **मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो भूतनाथः**
> **स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥**

पुरेति । "य. पुराऽनङ्ग-कालाऽरिः, आकाशकेशः, कपाली, महेशः, महाव्रती, उमेशः, अष्टमूर्ति., शिव., भूतनाथ., मतः, स एक· परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिः" इत्यन्वयः। अत्र पराभ्युपगतः **पुरा-ऽनङ्ग-कालारिः** पुरश्चानङ्गश्च कालश्च पुरानङ्गकालाः, पुरानङ्गकालानामरिः पुरानङ्गकालारिः, अत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यारि-शब्दस्य प्रत्येक पुरादिशब्देनाभिसम्बन्धात्–पुरारिः अनङ्गारिः कालारिः तत्र पुरस्य त्रिपुरासुरस्य, अरिः-शत्रु., शम्भोराग्नेयबाणेन त्रिपुरस्य प्लुष्टत्वात्; अनङ्गस्य-कन्दर्पस्य, अरिः-शत्रुः, शम्भोस्तृतीयनेत्राग्निना कामस्य दग्धत्वात् कालस्य-यमस्य अरिः

शत्रुः दक्षमखध्वंसे यमस्य जितत्वात्, आकाशके मूर्धनि शेतेऽस्य स **आकाशकेशः** परसम्मतो महेशो व्यापकत्वात् त्रिभुवनं व्याप्यावतिष्ठत इत्यूर्ध्वलोक एव तस्य मूर्द्धाभिषिक्तः, **कपाली** कपालमस्यास्तीति कपाली, मुण्डमाला गले धारयति भिक्षार्थं करे कपालं बिभ्रति वा, **महेशः** महांश्चासावीशो महेशः, महोदधिवद् रूढः, **महाव्रती** महाव्रतं-कापालिकलिङ्गः विद्यतेऽस्येति-महाव्रती, **उमेशः** उमायाः-पार्वत्याः, ईश -स्वामी, **अष्टमूर्तिः** अष्टौ मूर्त्तयो यस्य सोऽष्टमूर्तिः पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाश-यजमान-सूर्य-चन्द्राख्याष्टमूर्तिमान्, **शिवः** शिवं-कल्याणं तद्धेतुत्वात् शिवः, शेते वसति प्रलये जगदस्मिन्निति वा "शीङापो ह्रस्वश्च वा" [उणा० ५०६] इति वः, **भूतनाथः** भूताना-प्राणिना नाथः-स्वामी प्रकृते वर्द्धमान-स्वामी, **पुरानङ्गकालारिः** पुरा-क्षपकश्रेण्यारूढसमये, अनङ्ग-कामः, स एव मलिन-वैरित्वात् कालः-कृष्ण, तस्य शुक्लध्यानबलेन हन्तृत्वादरिः शत्रुः, पुनः **आकाशःकेशः** आकाशश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकपुरुषाकारो लोकाकाशः, तस्य, के-मूर्ध्नि-सिद्ध-शिलायामुपरि योजनस्य षष्ठे भागे शेत इति, सिद्धाना लोकाग्रस्थितौ 'अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गपइट्ठिया" [अलोके प्रतिहता सिद्धा लोकाग्रप्रतिष्ठिताः] "तिलोयमत्थयत्था" [त्रिलोकमस्तकस्था] इत्याद्यागमवचनं मानम्, पुनः **कपाली** कं-ब्रह्मचर्यं पालयतीति, पुनः महेशः महांश्चासावीशश्च परमैश्वर्यभोक्तृत्वात्, पुनः **महाव्रती** महद् व्रतमस्मिन्नस्तीति, पुनः **उमेशः** उमायाः-कीर्त्याः, केवल-ज्ञानदर्शनरूपाया कान्त्या वा ईशः-स्वामी, पुनः **अष्टमूर्तिः** ज्ञानावरण दर्शनावरण-मोहनीयान्तराय-वेदनीया-ऽऽयुर्नाम-गोत्रकर्माष्टकक्षयप्रभवानन्तकेवलज्ञानानन्तकेव--लदर्शन--क्षायिकशुद्धसम्यक्चारित्रा-ऽनन्तसुख वीर्या-ऽक्षयस्थित्यनन्तावगाह [अगुरु-लघुता]लक्षण ष्टगुणरूपत्वादष्टमूर्तिः, उक्तं च—

"अनन्तं केवलज्ञानं ज्ञानावरणसंक्षयात्।
अनन्तं दर्शनं चापि दर्शनावरणक्षयात् ॥११॥
क्षायिके शुद्धसम्यक्त्व-चारित्रे मोहनिग्रहात्।
अनन्तसुख-वीर्ये च वेद्य-विघ्नक्षयक्रमात् ॥१२॥
आयुषः क्षीणभावत्वात् सिद्धानामक्षया स्थितिः।
नाम-गोत्रक्षयादेवामूर्तानन्तावगाहता ॥१३॥" इति।

पुनः **शिवः** शिव-कल्याणं, तदात्मकत्वात् लोकानां कल्याणकारित्वाच्च, पुनः **भूतनाथः** भूतानां-सर्वप्राणिनां योग-क्षेमकारित्वान्नाथः, एवभूतो यो **मतः** स एक परात्मा जिनेन्द्रो मम, गतिः शरणम् ॥६॥

ब्रह्मप्रतिपादकप्रसिद्धानेकनामप्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्माभेदं प्रतिपादयन् स्तौति—

विधि-ब्रह्म-लोकेश-शम्भु-स्वयम्भू—
चतुर्वक्त्र-मुख्याभिधानां विधानम् ।
ध्रुवोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतुः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥७॥

विधोति । **विधि-ब्रह्म-लोकेश-शम्भु स्वयम्भू चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां** परमते—ब्रह्मा हि रजोगुणविशिष्टः सन् "विधत् विधाने" विधति—सृजति जगदिति **विधिः**, इष्टसाधनताप्रतिपादक-'कुर्यात्' इत्यादि-लिङादि[यात् प्रभृति]प्रतिपाद्यविधिरिष्टसाधनत्वं, तच्च जगत्कर्तरि ब्रह्मणि विद्यते, धर्म धर्मिणोश्च कथञ्चिदभेद इति दृष्ट्याऽपि ब्रह्मा विधिः, बृहन्ति—वर्धन्ते चराचराणि भूतान्यत्रेति **ब्रह्मा** पुं-क्लीबलिङ्ग; भूरादीन् सप्तलोकानीष्टे इति—**लोकेशः**, श—सुख, तत्र भवतीति—**शम्भुः**, स्वयम्—आत्मना भवतीति **स्वयम्भूः**, एतावता कारणान्तरानपेक्षसत्ताकत्वमस्य प्रतिपादितम्; चतुर्षु दिक्षु वक्त्राणि मुखान्यस्येति—**चतुर्वक्त्रः**; लोकानामिष्टानिष्टादिक चतुर्वेदद्वारा प्रतिपादक इति चत्वारो वेदा अस्य मुखमिति वा—चतुर्वक्त्रः; विधातृविरञ्च्यादीन्यन्यानि नामान्यपि सन्ति, तेभ्यः प्रसिद्धत्वाद् विधि-ब्रह्मादिनामानि मुख्यानीति 'विधि—ब्रह्म-लोकेश-शम्भु-स्वयम्भू-चतुर्वक्त्रः' इति मुख्याभिधानां-प्रधानानां नाम्ना, **विधानं** कारणम्, अभिधेये सति अभिधान प्रवर्तत इति भवति अभिधेयोऽर्थोऽभिधानस्य कारणम्, **अथो** पुनः, **यः जगत्सर्गहेतुः** विश्वोपत्तिकारणं; **ध्रुवः** सर्वदा स्थिरः, **ऊचे** अभिधीयते इति । स्वपक्षे तु किंविशिष्टो जिनेन्द्रः ? **विधि-ब्रह्म लोकेश-शम्भु-स्वयम्भू-चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां** मुक्तिगमनयोग्येभ्यो जीवेभ्यो विधति-ज्ञान-दर्शन-चारित्रादिलब्धि करोतीति विधि, भव्यानां ज्ञान-दर्शन चारित्रादिलक्षणस्वतत्त्वं बृंहयति वर्धयतीति ब्रह्मा; पुनः लोकेशः

लोकस्य चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य, ईश-स्वामी, शम्भु· श-सुख भवतीति यस्मादिति व्युत्पत्त्या सुखसाधनम्, अथवा शं-कल्याणं, भवते-प्राप्नोतीति शम्भुः, भूधातुः प्राप्त्यर्थे आत्मनेपदी वर्तते, यद्वा श-शाश्वतसुखं, तत्र भवतीति "शं-स-स्वयं-वि-प्राद् भुवो डुः" (५.२.८४) इति डुः; तथा स्वयम्भूः स्वयम् आत्मना तथाभव्यत्वादिसामग्रीपरिपाकवशात, न तु परोपदेशादितो भवतीति; तथा चतुर्वक्त्र समवसरणावस्थाया देशनासमये चतुर्षु दिक्षु श्रोतॄणां सुखावगतये चत्वारि वक्त्राण्यस्य भवन्तीति, एवं च 'विधि-ब्रह्म-लोकेश-शम्भु-स्वयम्भू चतुर्वक्त्र' इत्यादि मुख्यानां-प्रधानानाम्, अभिधानां-नाम्ना, **विधानं** कारण, यः, **जगत्सर्ग-हेतुः** जगता-भव्याना भवमार्गान्मोक्षमार्गस्य सर्जने-प्रदाने हेतुः, **ऊचे** उच्यते इत्यर्थः ॥७॥

पराभिमतदेवेभ्यो जिनेन्द्रस्य वैशिष्ट्य भावयति—

न शूलं न चापं न चक्रादि हस्ते
न हास्यं न लास्यं न गीतादि यस्य ।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकारः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥८॥

न शूलमिति । **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **हस्ते** करे, **शूलं** त्रिशूल, **न** न विद्यते, पराभिमतमहादेवस्य तु शत्रुवधाद्यर्थं हस्ते त्रिशूलमिति क्रोधाविष्टस्य कुतो महत्त्वम् ?, **न चापं** शार्ङ्ग धनुर्न, **न चक्रं** सुदर्शनाख्य न, पराभिमतदेवस्य विष्णोश्चाप-चक्रे हस्ते शत्रुपरिभवार्थं विद्येते इति द्वेषाभिभूतस्य तस्य कुतो देवत्वम् ?, किन्तु चाप चक्रादिशून्यकरस्यात्यन्तद्वेषमुक्तस्य जिनेन्द्रस्यैव महादेवत्वमिति व्यज्यते, **चक्रादि** इत्यादिपदात् पिनाक-डमरुक-मण्डलुप्रभृतिर्हस्ते नास्ति स जिनेन्द्रो महादेव. काम-क्रोधादिरहितः, तथा **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **न हास्यं** हसनं न, **न लास्यं** नृत्य न, **न गीतादि** रासोत्सवादि न, पराभिमतदेवस्य विष्ण्वादेरेतत् सर्व विद्यते रागादिप्रभवम्; तथा **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **नेत्रे** नयने, भ्रूविक्षेपादिलक्षणः, **विकारो न** विकृतिर्न, तथा **गात्रे न** शरीरे रोमाञ्चादिलक्षणो

विकारो न, तथा **वक्त्रे न** मुखे स्मितादिचेष्टालक्षणविकारो न, परदेवस्य पुनरेतत् सर्वं कुचेष्टितम्; स जिनेन्द्रो मम, **गतिः** शरणमित्यर्थः ॥८॥

अन्यदेवेभ्योऽन्यदपि वैशिष्ट्यनिबन्धनं महत्त्वं जिनेन्द्रे दर्शयति—

न पक्षी न सिंहो वृषो नापि चापं
न रोष-प्रसादादिजन्मा विडम्बः ।
न निन्द्यैश्चरित्रैर्जने यस्य कम्पः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥९॥

न पक्षीति । यस्य जिनेन्द्रस्य, वाहनार्थं, **न पक्षी** गरुडो न, **न सिंहः** केशरी न, **वृषो न** वृषभो न, कामिजनविमोहनार्थं, **नापि चापं** कुसुमधनुः, परोत्त्रासनार्थं शार्ङ्गधनुरादि वा न, **रोष-प्रसादादिजन्मा** द्विजवधूविध्वंसनादिसमुत्थाक्रोशादिलक्षणदोष गोपाङ्गनाक्रीडादिप्रभवप्रफुल्लितचित्ततादिलक्षणप्रसादाऽऽदिपदग्राह्यहर्ष-शोक-मोहजन्म-मरणादिजन्मा, **विडम्बः न** विडम्बना यस्य नास्ति, **निन्द्यैः** लोकगर्हितैः, **चरित्रैः** पूतनास्त्रीमारण-गोपीजनचीरहरणादिभिः, **जने कम्पः न** गात्राकुञ्चनादिलक्षणो न पराभिमतमहादेव-विष्णु-दुर्गादीनां तु नैवंविधत्वमिति तद्वैलक्षण्यनिबन्धनं महत्त्वं स्फुटम्, स एकः परात्मा जिनेन्द्रो **मे** मम, **गतिः** शरणमित्यर्थः ॥९॥

मोहैकविलसितवैषयिकानन्दजनकाङ्गनासम्बन्धभाजनपराभिमतदेवविलक्षणो मुक्त्यङ्गनालिङ्गनैकतानपरमानन्दस्वरूपनिमग्नो जिनेन्द्र एव परात्मेति स्तौति—

न गौरी न गङ्गा न लक्ष्मीर्यदीयं
वपुर्वा शिरो वाप्युरो वा जगाहे ।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१०॥

न गौरीति । यदीयं यज्जिनेन्द्रसम्बन्धि, **वपुः** शरीरं, **गौरी** पार्वती, **न जगाहे** नावगाहं करोति, पराभिमतदेवस्य तु शिवस्य वामाङ्गं गौरीशरीरं, दक्षिणाङ्गं स्वशरीरमित्येवं शरीरद्वयापन्नं शरीरमिति तच्छरीरं गौरीशरीरावगाहि-

तमेवेति; **वा** अथवा, यदीयं **शिरोऽपि** मस्तकमपि, **गङ्गा** सुरसरित्, **न जगाहे** नालिङ्गितवती, शिवस्य तु मूर्ध्नि गङ्गाऽवतिष्ठत एव; **वा** अथ च, यदीयम् **उरो** हृदयप्रदेश, **लक्ष्मीः** कमला, **न जगाहे** नावगाहितवती, पराभिमतदेवस्य तु हरेरुर:स्थले सदा तिष्ठत्येव कमला; **इच्छाविमुक्तं** इच्छया-रागेण, विशेषेण सर्वथा, मुक्तं-रहित, सर्वथा निःस्पृहं **यं** जिनेन्द्रं, **शिवश्रीः** मोक्षलक्ष्मीः परमानन्दलक्षणा, **भेजे** आलिलिङ्ग, स जिनेन्द्रो मम शरण-मित्यर्थः ॥१०॥

ईश्वरो जगत उत्पादयिता पालयिता संहर्त्तेति परे मेनिरे, तन्न समी-चीनम्-ईश्वरे जगत्कर्तृत्वस्य **रत्नाकरा**द्याकरग्रन्थे विस्तरतो निराकृतत्वात् , एवं च महेशप्रयत्नप्रयोज्यत्वं जगदुत्पत्ति-स्थिति-विनाशेषु वस्तुगत्या नास्त्येव, अथापि तादृशैरुत्पत्ति-स्थिति-विनाशैरिन्द्रजालसमै कुयुक्तिविभावितै प्राणिनां महामोहमये भवकूपे निक्षेपकत्वेन परैर्भावितो महादेवो नाथो न भवितुमर्हति, किन्त्वनैव-म्भूतो जिनेन्द्र एव नाथोऽस्माक गतिरिति स्तौति—

जगत्सम्भव-स्थेम-विध्वंसरूपै-
रलीकेन्द्रजालैर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथ !
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥११॥

जगत्सम्भवेति । यः जिनेन्द्र , **जीवलोकं** भव्यप्राणिसमूहं, **महामोह-कूपे** महामोहनीयाद्यष्टकर्मावटे, **न निचिक्षेप** न पातयामास, कैर्न निचिक्षेपे-त्याकाङ्क्षायामाह–**जगत्सम्भव-स्थेम-विध्वसरूपैः** जगता संम्भवः-उत्पत्तिः, स्थेमा-स्थिरत्वं, विध्वसः-तै , कथम्भूतैस्तै ? **अलीकेन्द्रजालैः** अलीकानि च तानीन्द्रजालानि-अलीकेन्द्रजालानि तै:; अस्वतन्त्रा खलु प्राणिन ईश्वरप्रेरिता स्वर्गे नरके मनुष्यगतौ तिर्यग्गतौ वोत्पद्यन्ते, कञ्चिन् कालं तत्र स्थितिमनुभवन्ति, ततो विनश्यन्ति चेतीश्वरपरवशा एवैते यथा यथेश्वरश्चिकीर्षति तथा तथा भवन्ति जीवा इत्येव प्ररूपिता जगदुत्पत्ति-विनाशा अलीकशशविषाणादितुल्या एवेति तैरन्धश्रद्धा-

परिगृहीतैर्महामोहकूपे प्रपातः, न चैवमुपदिशति जिनेन्द्र इति तदुपदिष्टमार्गगतानां भव्यानां महामोहकूपे प्रपातो न भवति, योग-क्षेमकारित्वान्नाथ स जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः ॥११॥

ननु यदीश्वराधीना जगतामुत्पत्ति-स्थिति-प्रलया अलीकेन्द्रजालकल्पा एव तदा तत्कार्यभेदकल्पनोपकल्पितभेदभाजो ब्रह्म-विष्णु-महेशा अपीश्वरमूर्तयस्त्रयो न सन्त्येव वस्तुत इत्यापामरसिद्धोत्पादादिव्यवहारा ब्रह्मादिव्यवहाराश्च व्यवहर्त्तव्याभावान्मिथ्याभूताः स्युरिति चेत् ? न, यतो **नैयायिका**दिस्वीकृता सत्ता जाति, सद् द्रव्यं, सन् गुणः, तत् कर्मेति प्रतीतिविषयस्तत्सम्बन्धश्च समवायो न व्यवस्थिति लभेते, **जैना**चार्यैः स्वस्वग्रन्थेषु युक्तिनिकुरम्बेण निराकृतत्वात्, अद्वितीयसच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मभिन्नाखिलवस्त्वनिर्वचनीयत्वलक्षणमिथ्यात्ववादि—वेदान्तिपरिकल्पितपारमार्थिक-व्यवहारिक-प्रातीतिकसत्त्वैतद्भेदत्रयकलिता सत्ताप्यनिर्वचनीयतावदखण्डनयुक्तिखण्डिता दूरापसारितैव किन्तु "उप्पेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इति जिनेन्द्रवर्धमानस्वामिमुखोद्गतत्रिपदी प्रमाणकान्तश्रीमदुमास्वातिपरिभाविता-"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" इति तत्त्वार्थसूत्रोपदर्शितोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वलक्षणा विश्वव्यापिनी सत्तैव 'सद् द्रव्यं, सन् गुण' इत्यादिप्रतीतिविषयः, तत्स्वरूपसन्निविष्टाश्चोत्पादादयो न 'सर्वथा प्रागसत. सत्त्वमुत्पादः, एकान्तिकावस्थानं स्थितिः, उत्तरभावभूतपर्यायानात्मकोऽत्यन्तव्यतिरिक्ताभावस्वरूपो विनाश.' इत्येव परपरिकल्पितलक्षणलक्षिता., येन तेषामलीकत्वे तत्समूहात्मिकाया सत्ताया अप्यलीकत्वं स्यात्, किन्तु द्रव्यात्मना प्राक् सतोऽसतश्च पर्यायात्मनेत्येवं सदसद्रूपस्य पर्यायात्मना सत्त्वमुत्पादः कथञ्चिदुत्पादपदव्यपदेश्यः, एव कञ्चित् कालं प्रतिलक्षणमन्यान्यभावेऽपि द्रव्यात्मकाभिनवपर्यायावस्थानं स्थिति कथञ्चित् स्थितिपदव्यपदेश्या, द्रव्यात्मना स्थितस्यैवोत्तरपर्यायात्मना भवनं विनाश कथञ्चित् विलयपदव्यपदेश्यः, एषा चाबाधितत्वात् तदात्मिका सत्ताऽप्यबाधिता, इति तद्व्यवहारोऽपि सत्यः, तत्प्रतिपादिका च भगवन्मुखनिर्गता त्रिपदी ज्ञातभावेनोत्पादजनकत्वाद् विधिर्ब्रह्मा भवति, ज्ञातभावेन विध्वंसजनकत्वाद् हरो महादेवश्च भवति, ज्ञातभावेन स्थितिजनकत्वाद् हरिर्विष्णुश्च

भवतीति सैव विध्यादिरूपेण व्यपदिश्यते, इति तद्व्यवहारा अप्युपपन्ना इति तादृशत्रिपदीप्रणेता स्तुत्यो जिनेन्द्र इत्याशयेनाह—

समुत्पत्ति-विध्वस-नित्यस्वरूपा
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्वं प्रपेदे स्वभावैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१२॥

समुत्पत्तीति । **यदुत्था** यज्जिनेन्द्रास्यप्रकटीभूता, **त्रिपद्येव** "उप्पेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इत्येवंस्वरूपा पदत्रयसमाहारात्मिका, **समुत्पत्ति-विध्वंस-नित्यस्वरूपा** समुत्पत्तिः-उत्पादः, विध्वसः-विनाशः, नित्यत्वं ध्रौव्यं, तत्स्वरूपा, अर्थतः स्वरूपतश्च शब्दा-ऽर्थयोः कथञ्चित् तादात्म्यादर्थानामुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वात् तत्प्रतिपादकशब्दस्वरूपा त्रिपद्यपि तथा, यथा चार्थानां प्रत्येक प्रतिक्षणमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपत्व, तदन्तरेण सत्त्वमेव न भवेत्, तथा त्रिपद्यपि, सा भव्येभ्यो ज्ञानादिरत्नत्रयाविर्भावकारणत्वेन, **लोके** जगति, **विधित्वं** ब्रह्मत्वं, **प्रपेदे**, विभावपरिणतिविनाशकत्वेन **हरत्वं** शिवत्वं, प्रपेदे, नित्यस्वरूपेण मूलवस्तुस्वभावधर्माचलत्वेन **हरित्वं** विष्णुत्वं, प्रपेदे, इत्येतावता यदुक्तिस्त्रिदेवस्वरूपा स किमिति न त्रिदेवस्वरूपो भवेत् ! वचसा समं वक्तुः सम्बन्धानुरोधेन कथञ्चित् तादात्म्यमपि, कथञ्चित्तादात्म्यस्य सर्वसम्बन्धव्यापकत्वादिति तथाभूतैः **स्वभावैः** स्वरूपै कृत्वा, त्रिदेवत्व जिनेन्द्रस्य सुप्रतिपदमिति स त्रिदेवस्वरूपो जिनेन्द्र एको मे गतिरित्यर्थः ॥१२॥

त्रिसंख्यासम्पादितपरस्परविलक्षणानेकधर्मसम्बद्धानेकवस्तुव्यापनोपजातवैशिष्ट्यालिङ्गितत्रिपदीसम्बन्धेन भगवन्तं जिनेन्द्र स्तौति—

त्रिकाल-त्रिलोक-त्रिशक्ति-त्रिसन्ध्य-
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः ।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१३॥

त्रिकालेति । **यदुक्ता** यज्जिनेन्द्रमुखनिर्गता, **त्रिपद्येव, विश्वानि** जगन्ति, **वव्रे** स्वालिङ्गितान्यकरोत , कैः ? **त्रिकाल-त्रिलोक-त्रिशक्ति-त्रिसन्ध्य-त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः** तत्र त्रिकालं भूत-भवद्-भविष्य-लक्षणम् , न हि जगति किमपि वस्तु एतादृशं समस्ति यन्नोक्तकालत्रयान्यतमेन सम्बद्धम् , त्रिलोकं स्वर्ग-मर्त्य-पातालक्षणम्, यत् किमपि वस्तु यत्र कुत्रापि समस्ति स देशो लोकत्रयान्यतमान्तर्गत एव, त्रिशक्तित्वं प्रभुत्वोत्साहत्वमन्त्रजत्वादिलक्षणं, तदन्यतमाकलितमेव विश्वं, यस्योक्तशक्त्यान्यतमानाक्रान्तत्वं तस्य सामर्थ्याभावादर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभावे वस्तुत्वमेव न स्यादिति यस्य यत् किमपि सामर्थ्यं तदुक्तशक्त्यन्यतमान्तर्गतमेषितव्यमिति, अथवा सत्त्वानु-रोधेनोत्पादशक्तिः स्थैर्यशक्तिर्विलयशक्तिरित्येवं त्रिशक्तिस्वरूपमुपादाय सर्व-वस्तुव्यापकत्वमुपपादनीयम् , त्रिसन्ध्यं प्रातर्मध्याह्न-सन्ध्याकाललक्षणं तत्र "प्रातः सन्ध्या सनक्षत्रा, सायं सन्ध्या सभास्करा०" इति वचनात् सन्ध्ययो रात्रिदिनो-भयसम्बन्धित्वमिति रात्रिसम्बन्धोऽप्यनेनोपलक्षितो भवति, तथा च य एकस्यामेव रात्रावुत्पद्य विनष्टः सोऽपि निरुक्तकालान्यतमसम्बन्धी भवतीति तद्भावाकलि-तत्वं तस्य निर्वहति, त्रिवर्गत्वं धर्मा-ऽधर्म-कामलक्षणं, तदपि साक्षात् परम्परया वा सर्वमालिङ्गति, त्रिदेवत्वं ब्रह्म-विष्णु-महेशत्वं, तत्र ब्रह्मणः स्वजन्योत्पत्तिद्वारा, विष्णोः स्वजन्यपालनात्मकस्थितिद्वारा, महेशस्य च स्वजन्यविनाशद्वारा सर्ववस्तु-व्यापकत्वम् अनन्तरश्लोके च त्रिपद्येव त्रिदेवस्वरूपा, तस्याश्च सर्ववस्तु व्यापकत्वं समस्त्येवेति भावितमिति पराभिमतब्रह्मादित्रिदेवस्य वस्तुभूतस्या-भावेऽपि न क्षतिः, त्रिरत्नं सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चरित्रादिरूपम् , तत्र सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शनयोः समस्तविशेष-सामान्यावगाहिनोर्विषयतया सामान्य-विशेषोभयात्मकाखिलवस्तुव्यापकत्वम्, आदिशब्दात् त्रिपुष्करादीनां ग्रहणम्, त्रित्वसंख्यावाचकत्रिशब्दघटिता यथा त्रिपदी तथा त्रिकालादिशब्दा अपीति त्रित्वसंख्यावाचकत्रिशब्दघटितस्वरूपेण सर्वेषां त्रिकालादिशब्दानां त्रिपद्यभिन्न-त्वमिति त्रिकालत्वादिस्वभावैर्विश्ववरणं त्रिपद्या उपपन्नं, तथाभूतत्रिपदीनायकः **स एको जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥१३॥

प्रकारान्तरेण त्रिपदीसम्बन्धेन जिनेन्द्र स्तौति—

यदाज्ञा त्रिपद्येव मान्या ततोऽसौ
तदस्त्येव नो वस्तु यन्नाधितष्ठौ ।
अतो ब्रूमहे वस्तु यत् तद् यदीयं
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१४॥

यदाज्ञेति । यदाज्ञा यस्य जिनेन्द्रस्य, आज्ञा-अवश्यस्वीकर्तव्यत्वावबोधन-प्रवणा मुद्रा, **त्रिपदी एव, मान्या** शिरोधार्या, **ततः** तस्मात् कारणात्, **असौ** त्रिपदीलक्षणाज्ञा, **यत्** यद् वस्तु, **न** नैव, **अधितष्ठौ** आलिङ्गितवती, अर्थात् त्रिपदीप्रतिपाद्योत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं यन्न भवति, **तद् वस्तु, नोऽस्त्येव** नास्त्येव, पराभ्युपगतमेकान्तोत्पादादिकलितं शशशृङ्गकल्पत्वाद् वस्त्वेव न भवति, किन्तु यत् त्रिपदीप्रतिपाद्यकथञ्चिदुत्पादत्रयाकलित तदेव वस्तु, **अतः** अस्मात् कारणात् त्रिपदीलक्षणजिनाज्ञापरिपालनपरत्वात्, **ब्रूमहे** वय जैना वच्मः, **यदीयं** यज्जिनेन्द्राज्ञाकलितं, **यद्** भवति, **तद् वस्तु,** स एको जिनेन्द्रो मे गति-रित्यर्थ. ॥१४॥

भवस्थस्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादिगुणवत्कार्मणशरीरेण नीर-क्षीरवदन्योऽन्य-प्रोतस्य शब्दादियुक्तत्वेऽपि मुक्त्यङ्गनालिङ्गितस्योक्तशरीरसम्बन्धात्यन्तापगमे न शब्दादिमत्त्वमिति निष्कलङ्कसच्चिदानन्दस्वरूपो जिनेन्द्रो ध्येय· सन् स्वस्वरूप-तावाप्तिसपादनेन भक्त मामुपकरिष्यतीत्याभिप्रायेण मुक्त तं स्तौति—

न शब्दो न रूपं रसो नापि गन्धो
नवा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिङ्गम् ।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१५॥

न शब्द इति । यस्य जिनेन्द्रस्य, **न शब्दोऽस्ति** पुद्गलगुणस्य श्रोत्र-ग्राह्यस्य तस्य पुद्गलात्यन्तभिन्ने जिनेन्द्रेऽसम्भवात्, **न रूपं** चक्षुर्ग्राह्य शुक्ल-

नीलादिकं यस्यास्ति, पुद्गलभिन्नत्वादेव; **वैशेषिक**नये शब्दरहितोऽपि रूपवान् भवतीति न शब्दनिषेधेन रूपनिषेध आयातीति पृथक् प्रतिषेधः, शब्दनिषेधाच्छोत्रग्राह्यत्वनिषेधः, रूपनिषेधान्नयनेन्द्रियग्राह्यत्वनिषेधः, **नापि रसः** रसनेन्द्रियग्राह्यो मधुराम्लादिरसो यस्य, नापि-नैव, **अस्ति** विद्यते, यद्यपि वैशेषिकादिमतेऽपि रूपस्य रसव्यापकत्वमिति व्यापकस्य रूपस्याभावाद् व्याप्यस्य रसस्याभाव आयात्येव, तथापि तन्मते रस-रसवतोर्भेदाद् रसनेन्द्रियस्य च द्रव्याग्राहकत्वं, **जैन**मते तु रस-तद्वतोः कथञ्चित् तादात्म्याद् रसस्य रसनग्राह्यत्वे तद्वतोऽपि रसग्राह्यत्वं रसाभावे तु न रसनग्राह्यत्वमिति जिनेन्द्रे रसनेन्द्रियग्राह्यत्वाभावप्रतिपत्तये रसस्य पृथग् निषेधः; **नवा** नैव, **गन्धो** घ्राणेन्द्रियग्राह्यः सुरभिरसुरभिश्च, यस्यास्ति, अत्रापि जिनेन्द्रस्य घ्राणेन्द्रियग्राह्यत्वाभावावगतये गन्धनिषेधस्य पृथगुक्तिः, **स्पर्शलेशः** त्वगिन्द्रियग्राह्याष्टविधस्पर्शानां मध्ये कोऽपि स्पर्शो यस्य नास्ति, **जैन**मते स्पर्शस्य रूपादिसमनियतत्वेन रूपादिनिषेधात् स्पर्शनिषेध आयाति, किन्तु **वैशेषिक**मते रूपादिशून्येऽपि वायौ स्पर्शो विद्यत इति तन्मतसाधारण्येन तत्प्रतिपत्तये पृथगुक्तिः, ततश्च जिनेन्द्रस्यापि त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वनिषेधः; एतेषां पञ्चेन्द्रियविषयाणां सिद्धस्वरूपे जिनेन्द्रे निषेधे कार्मणशरीरसम्बन्धाभाव एव निमित्तम्, यत्तु सिद्धानामतीन्द्रियत्वादेते न सन्तीति तद् विचारणीयम्, परमाणूनां सङ्घातभावमनापन्नानामतीन्द्रियाणामपि रूपादिमत्त्वादेवं सिद्धानामतीन्द्रियत्वे प्रत्यक्षयोग्यरूपाद्यभावेऽपि तदयोग्यरूपादिमत्त्वं स्यादेवेति; तथा यस्य **वर्णो नास्ति** अत्र वर्णपदेन श्वेतादिपञ्चप्रकारस्योपादानं न सम्भवति, **न रूप**मित्यनेन रूपनिषेधे तत्प्रकारस्य श्वेतादेरपि निषिद्धत्वात्, किन्तु वर्णः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्रस्वरूपचतुर्वर्णः, स शरीरसम्बन्धनिबन्ध इत्यशरीरे जिनेन्द्रे नास्ति, **लिङ्गं** पुं-स्त्री-नपुंसकलक्षणम्, जिनेन्द्रस्य मुक्तत्वेनावेदकस्य नास्तीति; वस्तुतो ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्न्यासानां चतुर्णामाश्रमाणां, सन्न्यासिनामपि **जैन-बौद्ध-वैष्णव शैवा**दिप्रस्थानभेदानां तदवान्तरभेदभाजां च परस्परव्यावर्त्तकं विभिन्नं लिङ्गं-चिह्नं भवति, जिनानामपि भवस्थावस्थायां विभिन्नं लिङ्गं-लाञ्छनं भवति, तच्च सर्वं शरीरसम्बन्धनिबन्धनमशरीरस्य मुक्तस्य जिनेन्द्रस्य नास्तीति;

यस्य जिनेन्द्रस्य **पूर्वापरत्वं** पूर्वापरीभावः अयमस्मात् पूर्वः-प्रथमः, अयं चास्मादपरः-द्वितीय इत्येवंस्वरूपा सज्ञा नास्ति, अनाद्यनन्तत्वात्, स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः ॥१५॥

अच्छेद्यत्वा-ऽभेद्यत्वा-ऽक्लेद्यत्वादिधर्मवैशिष्ट्येन वैशिष्ट्यं भगवतः स्तौति—

छिदा नो भिदा नो न क्लेदो न खेदो
न शोषो न दाहो न तापादिरापत् ।
न सौख्यं न दुःखं न यस्यास्ति वाञ्छा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१६॥

छिदेति । **यस्य** जिनेन्द्रस्य, शस्त्रादिभिः, **छिदा** छेदन-प्रदेशद्वैधीभावः, **नो** न भवति; **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **भिदान्ते** क्रकचपत्रादिभिर्विदारणम्-अन्तर्व्यवस्थितप्रदेशानामपि बहिर्निस्सारण, **न** नास्ति, यस्य **क्लेदः** जलादिभिः क्लेदनम्-आर्द्रीकरणं, **न** नास्ति; यस्य **खेदः** गत्यागतिप्रयुक्तपरिश्रमप्रभवं दुःख, नास्ति; यस्य **शोषः** शोषणं-प्रदेशापचय., **न** नास्ति, यस्याग्न्यादिना **दाहः** दहनं-भस्मीभवनलक्षण, **न** नास्ति; यस्य **तापादि**· दिनकरकरावमर्शप्रभवः तापः, शीतकिरणनिपातप्रभव शैत्यं, तदेव दुःखजनकत्वाद् **आपत्** कष्ट, **न** नास्ति, यस्य **सौख्यं** कामिनीमुखाद्यवलोकन-तदालिङ्गनादीन्द्रियसम्पर्कप्रभव च सौख्यं वैषयिकानन्दलक्षणमापान्तरमणीयं, **न** नास्ति, **दुःखं** विषयेन्द्रियविकारप्रभवं शत्रुव्याघ्रादिजनितमरणसम्भावनाकातरमनःप्रभव च दुःखं यस्य **न** नास्ति; यस्य **वाञ्छा** अभिनवविषयप्राप्तिस्पृहा, **न** नास्ति, स एको जिनेन्द्रः परात्मा मे गतिरित्यर्थः ॥१६॥

न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगाः
स्थितिर्नो गतिर्नो न मृत्युर्न जन्म ।
न पुण्यं न पापं न यस्यास्ति बन्धः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१७॥

न योगा इति। **यस्य** जिनेन्द्रस्य, सिद्धावस्थां गतस्यायोगित्वेन, **योगाः** काय-वाङ्-मनोलक्षणा आस्रवाः, **न** न विद्यन्ते; **रोगाः** कास-श्वास-ज्वरा-ऽतिसारादयो

यस्य नास्ति; यस्य **न उद्वेगवेगाः** उद्वेगस्य चित्तोद्वेजनस्यौदासीन्यादिलक्षणस्य, वेगाः त्वरातिशया न सन्ति; **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **न स्थितिः** आयुषोऽवस्थानलक्षणा नास्ति, **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **न गतिः** भवभ्रमणं-पूर्वभवादुत्तरभवगमनं नास्ति, सिद्धिशिलोपलक्षितदेशे लोकाग्रे व्यवस्थितस्योर्ध्वं स्थित्युपष्टम्भकस्वभावाधर्मास्तिकायाभावान्नस्थितिः, गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावान्न गतिरिति वाऽर्थः; **यस्य** जिनेन्द्रस्य, **न मृत्युः** प्राणादिवियोगलक्षणो नास्ति, वियोगस्य संयोगपूर्वकत्वेन सिद्धावस्थायां प्राणादिसंयोगाभावे तदपगमलक्षणवियोगासम्भवात्; यस्य चतुरशीतिलक्षजीवयोनिषु गर्भावतरणलक्षणं, **न जन्म** नास्ति, कार्मणशरीरसम्बन्धबलादेव तस्य तथाविधं जन्म, तदभावात् तदभावः; यस्य **न पुण्यं** सातावेदनीयलक्षणं नास्ति; यस्य **न पापम्** असातावेदनीयलक्षणं नास्ति, तत्कारणस्य-वेदनीयकर्मणोऽत्यन्तापगमेन साताऽसातावेदनीयकर्मोदयस्याभावात्; यस्य **न बन्धः** अभिनवकर्मादानलक्षणो नास्ति, समस्तकर्मणामत्यन्तक्षयेनाभिनवकर्मादानहेतोरास्रवस्यैवाभावात्, **स एको जिनेन्द्रः परात्मा मे गति**रित्यर्थः॥१७॥

सर्वोपादेयतपःसंयमादिदशविधधर्मोपदेशकत्वलक्षण जिनेन्द्रस्य वैशिष्ट्यं स्तौति—

> **तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं**
> **मृदुत्वार्जवाकिञ्चनानि मुक्तिः ।**
> **क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः**
> **स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥**

तप इति । **यदुक्तः** येन जिनेन्द्रेणापश्चिमतीर्थङ्करमहावीरेण प्रोक्तः दशविधः **धर्मो जयत्येव** सर्वोत्कर्षेण वर्तत एव, पृथक् प्रथग् नामकीर्तनेन दशविधं धर्मं दर्शयति-**तप** तपो द्विविध बाह्यम् आभ्यन्तरश्च तत्र "अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तप." इति तत्त्वार्थसूत्रतो बाह्यं तपः षड्विधम्, आभ्यन्तरमपि "प्रायश्चित्त-विनय-

वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्" इति तत्त्वार्थसूत्रतः पड्विधं मिलित्वा द्वादशविधम्, अन्यच्च तत्त्वार्थनवमाध्याये षष्ठसूत्रव्याख्याने भाष्ये उक्तम्–"तपो द्विविध तत् परस्तात् (अ.९-सू १९-२०) वक्ष्यते, प्रकीर्णक चेदमनेकविधम्, तद्यथा–"यववज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे नवरत्नमुक्तावल्यस्तिस्रः सिंहविक्रिडिते द्वे· सप्तसप्तधर्मकाद्याः प्रतिमाचतस्रः, भद्रोत्तरमाचाम्लवर्धमान सर्वतोभद्रमित्येवमादि, तथा द्वादशभिक्षुप्रतिमा मासिकाद्या आसप्तमासिक्य सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्या-स्तिस्र, अहोरात्रिकी, एकरात्रिकी चेति" एतस्य स्पष्टीकरणं वृत्तौ, **संयमः** योगनिग्रह. स सप्तदशविध. पृथिवीकायिकसयम . अप्कायिकसयमः, तेजस्कायिक-संयमः, वायुकायिकसयम·, वनस्पतिकायिकसयम , द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसयम., चतुरिन्द्रियसंयम , पञ्चेन्द्रियसयम , प्रेक्ष्यसयम , उपेक्ष्यसयमः, अपहृतसंयमः, प्रमृज्यसयम , कायसयम , वाक्सयम , मन.सयमः, उपकरणसयमः इति, **सूनृतं** सत्यं, तच्च सदर्थे भव वच., सद्भ्यो वा हितं सत्यम् अपरुषमपिशुनमसभ्यमचपलमनाविलमविरलमसम्भ्रान्त मधुरमभिजातमसन्दिग्धं स्फुटम दार्ययुक्तमग्राम्यपदार्थाभिव्यवहारमसीभरणाद्वेषयुक्त सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थ-मर्थ्यमर्थिजनभावग्रहणसमर्थमात्मपरार्थानुग्राहक निरुपधं देश-कालोपपन्नमनवद्यम-र्हच्छा-सनप्रशस्त यत मित याचनप्रच्छन्नं प्रश्नव्याकरणमिति, **ब्रह्म** ब्रह्मचर्य मैथुन-निवृत्तिः, तत्परिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्म-चय, अस्वातन्त्र्यं गुर्वधीनत्व गुर्वानिर्देशस्थापित्वमित्यर्थश्च पञ्चाचार्या· प्रोक्ताः–प्रव्राजनक·, दिगाचार्य , श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा, आम्नायार्थवाचक इति, **शौचम्** अदत्तादानलक्षणमलोम इति यावत, शुचिभावः शुचिकर्म वा शौचम्, भाव-विशुद्धिर्निष्कल्मषता, धर्मसाधनमात्रास्वपि अनभिष्वङ्ग इत्यर्थ., अशुचिर्हि भाव-कल्मषसयुक्त इहामुत्रं चाशुभफलमकुशल कर्मोपचिनोति, उपदिश्यमानमपि श्रेयो न प्रतिपद्यत इति, **मृदुत्वार्जवाकिञ्चनानि** मृदुत्वं मानरहितत्वम्, नीचैर्वृत्त्य-नुत्सेको मार्दवमेव मृदुत्वम्, मृदुभावो मृदुकर्म वा मार्दवम्, मदनिग्रहो मान-विघातश्च, तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति, जातिः, कुलं, रूपम्, ऐश्व-र्यम्, विज्ञानं, श्रुतं, लाभः, वीर्यमिति एभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानैर्मत्तः परात्मनिन्दाप्रशंसाभिरतः तीव्राहङ्कारोपहतमतिरिहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोप-

चिनोति, उपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते, तस्मादेषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्मः, आर्जवं मायारहितत्वम्, भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम् ऋजुभावः ऋजुकर्म वाऽऽर्जवम् भावदोषवर्जनमित्यर्थः, भावदोषयुक्तो हि उपधिनिकृतिसंप्रयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोति, उपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते, तस्मादार्जवं धर्मः, अकिञ्चनत्वं निष्परिग्रहत्वम् शरीरधर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमिति यावत्, **मुक्तिः** निर्लोभता, त्यागशब्देनाप्युच्यते स च बाह्याभ्यन्तरोपधिशरीरान्नपानाद्याश्रयो भावदोषपरित्यागः, **क्षमा** क्रोधोपशान्तिः, क्षमा-तितिक्षा-सहिष्णुत्व क्रोधनिग्रह इत्येते शब्दा समानार्थकाः, क्षमाधर्मप्रतिपादनपरं तत्त्वार्थभाष्यमित्थम्—तत्कथं क्षमितव्यमिति चेदुच्यते—क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावचिन्तनात् परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावचिन्तनादभावचिन्तनाच्च क्षमितव्यम् भावचिन्तनात् तावद् विद्यन्ते मयि एते दोषाः किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम्, अभावचिन्तनादपि क्षमितव्यम् नैते विद्यन्ते मयि दोषाः या न ज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमितव्यम् किञ्चान्यत् क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्, क्रुद्धस्य हि विद्वेषासादनस्मृतिभ्रंशव्रतलोपादयो दोषा भवन्तीति, किञ्चान्यत् बालस्वभावचिन्तनाच्च परोक्ष-प्रत्यक्षाक्रोश-ताडन-मारण-धर्मभ्रंशानामुत्तरोत्तररक्षार्थम्, बाल इति मूढमाह—परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यमेव, एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति, दिष्ट्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षमिति लाभ एव मन्तव्यः, प्रत्यक्षमप्याक्रोशति बाले क्षमितव्यं, विद्यत एवैतद्बालेषु, दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति, एतदप्यस्ति बालेष्विति, लाभ एव मन्तव्यः, ताडयत्यपि बाले क्षमितव्य एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति, दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति एतदपि विद्यते बालेष्विति, प्राणैर्वियोजयत्यपि बाले क्षमितव्यं दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयतीति क्षमितव्यम् एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः, किञ्चान्यत्, स्वकृतकर्मफलाभ्यागमाच्च स्वकृतकर्मफलाभ्यागमो मम, निमित्तमात्रं पर इति क्षमितव्यम्, किञ्चान्यत् क्षमागुणांश्चानायासादीति, ननु स्मृत्या क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः, एवं दशविधो धर्मो" येन महावीरेणोक्तः, **स एको परात्मा जिनेन्द्रो** भगवान् महावीरो **मे गतिरित्यर्थः** ॥ १८ ॥

उत्कृष्टशक्तिमद्धर्मप्ररूपकत्वेन परात्मानं जिनेन्द्रं स्तौति—

अहो ! विष्टपाधारभूता धरित्री
निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते ।
अचिन्त्यैव यद्धर्मशक्तिः परा सा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१९॥

अहो इति । **यद्धर्मशक्तिः** यस्य जिनेन्द्रस्यानन्तराव्यवर्णितस्य दशविधधर्मस्य सकलशिष्टसमाराधितस्य शक्तिः तत्तन्निजफलाविर्भावना स्फूर्तिः, **अचिन्त्यैव** कथमित्थमित्येव चिन्तयितुमशक्यैव, अत एव **सा परा** सकलान्यधर्मेभ्य उत्कृष्टा जगति प्रद्योतते, **अहो** आश्चर्यं, यया शक्त्या **धरित्री** पृथ्वी, **विष्टपाधारभूता** त्रैलोक्यजनाधारभूता, **निरालम्बना** यत्किञ्चित् पदार्थावष्टम्भरहिता, **आधारमुक्ता** स्तम्भादिलक्षणाधिकरणनिरूपिताधेयत्वशून्या, **यत्** यस्मात्, **आस्ते** अवतिष्ठते, एतादृशः **सोऽनन्यसदृशः, एकः परात्मा** जिनेन्द्रो **मे** मम **गतिः** शरणम्, स्वध्यानोत्थाखिलकर्मपटलात् त्वन्तक्षयाविर्भूतपरमानन्दलक्षणमोक्षपदो भविष्यतीत्यर्थः ॥१९॥

यद्धर्मनियन्त्रितशक्तितः समुद्रादिकं वेलादिकमतिक्रम्य भूतादीनामवघातादिकमुपद्रवं न जनयतीति विशिष्टधर्मप्रवर्तकतया भगवन्तमभिष्टौति—

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतधात्रीं
समाश्वासयत्येव कालेऽम्बुवाहः ।
यदुद्भूतसद्धर्मसाम्राज्यवश्यः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

न चाम्भोधिरिति । **यदुद्भूतसद्धर्मसाम्राज्यवश्यः** यस्मादपश्चिमतीर्थङ्करान्महावीरादुद्भूतः प्रकटीभूतः अनादिकालतोऽनल्पभव्यपरम्परयाऽऽराधितत्त्वादवास्थितोऽपि एतावानीदृशशक्तिमान् विधि-निषेधविषयतयाऽपरिस्फुटरूप-

स्तथाऽऽविर्भूतस्वरूपो यः सद्धर्मः तपस्संयम-सूनृत-ब्रह्म-शौच-मृदुत्वार्जवाकिञ्चनत्व-निर्वाण-क्षमालक्षणः समीचीनो धर्मः, तस्य यत्साम्राज्य सकलजनसाधारणशिष्योपशिष्य-परिवृतापश्चिमतीर्थङ्करोपदेशसञ्जातसविध्यनुष्ठानलब्धाकालमृत्युपरीहारादिक तेन वश्यस्तदनुकूलकार्यैकपरितिष्ठतः यथा तथा स्वकीयजलाना मर्यादोल्लङ्घनेन नियमितदेशोत्सर्पणे क्रियमाणे जन्तूनामुपघातो धर्मसुरक्षितानां मा भूदिति नियमितः, **अम्भोधिः** समुद्रः, **भूतधात्रीं** पृथ्वीम्, **न च** नैव, **आप्लावयेद्** जलमयीं कुर्यात् अत एव 'धर्मो रक्षति रक्षितः' इतिवचन सङ्गतार्थं भवति, प्लावयेदेव, ततश्च जन्तूनामकालमरणादिकमनिवारितप्रसरं स्यादित्यर्थः, **अम्बुवाहः** मेघः, यदुद्भूतसद्धर्मसाम्राज्यवश्यः सन्, **काले** वर्षाकाले भूतधात्रीं, **समाश्वसयत्येव** समीचीनसाश्वासनभाजनां यथावदुप्तबीजाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्यतालक्षणां विदधात्येव, जिनोद्भूतसद्धर्मसाम्राज्यवशीभूतत्वाभावे तु कालेऽवर्षणमतिवर्षण वर्षाकालमतिक्रम्य वर्षणं वा कुर्वन् मेघो भूतधात्रीमङ्कुरादिप्रादुर्भावायोग्यतापादनेन भूतप्राणहरां जरोपद्रवाद्यनेकपीडाजननीमेव विदध्यादित्यर्थः, **स** एवंभूतधर्मप्रभाव, **एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे** मम **गतिरि**त्यर्थः ॥२०॥

"न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् न चोर्ध्वं वाति चानिलः ।
अचिन्त्यमहिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम् ॥१४॥"

इतिवचनस्तुतोऽपि धर्मविशेषो जिनोक्तातिशयितप्रतापशालिधर्म एवेति विशिष्टप्रतापधर्मोपदेशक भगवन्त स्तौति—

न तिर्यग् ज्वलत्येव यद् ज्वालजिह्वो
यदूर्ध्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् ।
स जागर्ति यद्धर्मराजप्रतापः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२१॥

न तिर्यग् ज्वलत्येवेति । **यद्धर्मराजप्रतापः** यस्य महावीरस्य यो धर्मराजः सर्वेषामन्यधर्माणां मूर्द्धाभिषिक्तत्वेन राजा नृपो धर्मविशेषस्तस्य प्रतापः प्रभावो महिमाविशेषः, **जागर्ति** सर्वदा स्फुटस्वरूप एव कार्योन्मुख एवावतिष्ठते,

कीर्त्या प्रतापेन च राज्ञो वर्णनं विच्छित्तिविशेषजनक भवति तत्र कीर्त्या सर्वजनप्रसिद्धिरूपग्राहिता भवति, प्रतापेन च तद्भीतितोऽर्न्यायाचरणं प्रजायां न भवति, प्रकृते धर्मप्रतापस्तद्भीतितः स्वस्वभावव्यवस्थिताः पदार्था अन्योपघातादिक न कुर्वन्तीत्याशयेनाह-**यदिति** यस्मादुक्तप्रतापादित्यर्थः, **ज्वालाजिह्वः** हुतं घृतादिकं ज्वालयाऽत्तीति ज्वाला जिह्वा यस्येति व्युत्पत्त्या ज्वालजिह्वो वह्निः, **तिर्यग्** तिर्यक्षु, **न ज्वलत्येव** न स्वशिखा प्रसारयति तथा सति तिर्यग्देशव्यवस्थितानामपि दाह्यानां दाहतस्तत्परम्परया लोकव्याकुलीभावः प्रसज्येत, किन्तूर्ध्वमेव ज्वलति, यत्प्रतापाद् भीतः, प्रचण्डः प्रबलोऽपि, **नभस्वान्** वायुः, **ऊर्ध्वं न वाति** किन्तु तिर्यगेव वाति, वह्नि-वायोर्द्वयोरप्यूर्ध्वगमनस्वभावत्वेऽन्योऽन्यसम्बन्धासम्भवात् परस्परसहकारिभावेन कार्यकरणमेव न स्यात, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे मम गतिः**, अत्र प्रतापवत्तया भगवत एव स्तुतौ विवक्षाया यस्य महावीरस्य भावधर्मनृपस्य प्रतापो जागर्तीत्यर्थ. मङ्गत इत्यर्थ· ॥२१॥

सूर्याचन्द्रमसो· प्रतिपदद्दिवसं लोकोपकारायोदयोऽपि जिनाज्ञापरिपालननियत इति सर्वशिरोधार्याज्ञावत्तया भगवन्त महावीरं स्तोति—

इमौ पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वो-
पकाराय दिष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरीकृत्य यत् तुर्यलोकोत्तमाज्ञां
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२२॥

इमाविति । यत्तुर्यलोकोत्तमाज्ञां यस्य तुर्यलोकोत्तमस्य भावतो लोकोत्तरस्य, आज्ञां विध्यपवादसङ्घटितानेकान्तत्वप्रतिपादकान्याबाध्यप्रमाणराजस्याद्वादागमलक्षणाम् अधमाधमाऽधम-विमध्यम-मध्यमोत्तमभेदेन पुरुषाणा षड्विधत्वमिति जिनेन्द्रस्तीर्थङ्कर उत्तमोत्तमः तस्य—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्य. परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५॥"

इति गीतावचनसङ्गतिं पुरस्कुर्वन् स्तुतिकारस्तुर्यलोकोत्तमत्वेन जिनेन्द्रं प्रतिपादयति । धार्यलोकत्रयविधारकस्य तुरीयलोकोत्तमत्वमलौकिकत्वं ख्यापयति, अत एव लौकिक-लोकोत्तरभेदेनाप्तस्य द्वैविध्यं तत्र जनकादिर्लौकिकतीर्थङ्करश्च लोकोत्तर इति विभजनमप्युपपद्यते, **उरीकृत्य** स्वीकृत्य, युक्तैवेयमाज्ञा कर्तव्यमेव तत्परिपालनमित्येवं स्वयमभ्युपगम्य न तु भीत्यादित इति यावत्, **वहन्तौ** तदर्थानुष्ठानेन परिपालयन्तौ, **इमौ** आपारमारलोकप्रत्यक्षविषयौ, **पुष्पदन्तौ** सूर्याचन्द्रमसौ, एकयोक्त्या पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ इति कोशात्, **अत्र जगति** अस्मिन् मर्त्यलोके, **विश्वोपकाराय** सर्वेषां जन्तूनां स्वस्वाभिमतकार्यभराविघ्नावाप्तिलक्षणोपकारार्थम्, दिष्टया अचिन्त्यस्वरूपभाग्यलक्षणादृष्टेन, **उदयेते** उदयं गच्छतः, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥२२॥

पुनर्विशिष्टाज्ञात्वेन भगवन्तं स्तौति—

अवत्येव पातालजम्बालपातात्
विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् ।
यदाज्ञा विधित्साश्रिताऽनङ्गभाजः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२३॥

अवत्येवेति । **यदाज्ञा** यस्य जिनेन्द्रस्याज्ञा, **सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान्** सर्वस्य सर्वविदो या लक्ष्मीः सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणा, तन्निवासान् तदाधारभूतान्, **विधायापि** कृत्वाऽपि, **पातालजम्बालपातात्** नरकनिगोदादिकर्दमपातात्, **अवत्येव** रक्षत्येव, एतावता सफलीभूताऽपि सा, **अनङ्गभाजः** अष्टविधकर्मलक्षणकार्मणशरीररहितान् मुक्त्यङ्गनालिङ्गितान् सिद्धान्, **विधित्साश्रिता** विधित्सा कर्तुमिच्छा तामाश्रिता, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चरित्रोत्पादनद्वारा नरकनिगोदादिकर्दमपातं समूलमुत्सार्य परमानन्दावाप्तिलक्षणमुक्त्यास्पदान् भव्यान् कुर्वती यदाज्ञोज्जृम्भते, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिः**, जिनाज्ञां सम्यक् परिपालयतामन्तेऽवश्यं परमानन्दावाप्तिलक्षणा मुक्तिरिति भवति जिनेन्द्रः शरणमित्यर्थः अथवा विधित्साश्रितानङ्गभाज इत्यत्र अङ्गभाजः शरीरिणः विधित्साश्रितान् किमपि स्वाभिमतं कार्यं कर्तुं समीहमानान् पुरुषार्थोद्यतान् भव्यान् यदाज्ञा

सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणसर्वजगल्लक्ष्मीनिवासान् विधाय नरकनिगोदादिकर्म-पाताद् रक्षत्येव, स्वगरिपालनतः, अन्यथा सर्वज्ञलक्ष्मीविधुरत्वेन नरकनिगोदादि-कर्मपातान्न मुच्यते जन्तव इत्यर्थ ॥२३॥

स्वोक्तपरमपुरुषार्थमोक्षभक्तिभाजा कल्पवृक्षादिप्रभावात सन्निहितान् कुर्वन् जिनेन्द्र कस्य न स्तुत्य इत्याशयेनाह—

सुपर्वद्रु-चिन्तामणि-कामधेनु-
प्रभावा नृणां नैव दूरे भवन्ति ।
चतुर्थे यदुत्थे शिवे भक्तिभाजां
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२४॥

सुपर्वेति । **यदुत्थे** यस्माज्जिनेन्द्रात् प्रकटीभूते, **चतुर्थे** धर्मार्थ-काम-मोक्षाख्येषु पुरुषार्थेषु चतुर्थस्थानाभिषिक्ते, **शिवे** कल्याणमये परमानन्दलक्षण-मोक्षे, **भक्तिभाजां** तदेकस्पृहावताम्, **नृणां** मनुष्याणाम, **सुपर्वद्रु-चिन्तामणी-कामधेनुप्रभावाः** 'चिन्तामणी'शब्द' सम्भाव्यते । सुपर्वद्रु कल्पवृक्षः चिन्तामणी-देवताधिष्ठितो रत्नविशेषः, कामधेनु सुरगवी एषा प्रभावाः सर्वाभिलषितार्थ-दातृत्वस्वभाव, **दूरे नैव भवन्ति** अपि तु सन्निहिता एव भवन्ति यथा कल्पवृक्षादयो निरुक्तस्वभावास्तथा जिनेन्द्रविर्भूतशिवभक्ता अपि, **स एकः परमात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरि**त्यर्थ ॥२४॥

स्वाज्ञापरायणयुगलधर्मिगताशेषविघ्नात्यन्तोच्छेदकत्वेन भगवन्तं स्तौति—

कलि-व्याल-वह्नि-ग्रह-व्याधि-चौर-
व्यथा-वारण-व्याघ्र-वीथ्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२५॥

कलि-व्यालेति । **यदाज्ञाजुषां** यस्य परमात्मनो जिनेद्रस्याज्ञापरायणानां जिनेन्द्रेण यथा यत्कर्तव्यत्वेनोपदिष्टं तत्तथैवाचरणीयमिति श्रद्धया तथैवाचरण-

शीलानाम् **युग्मिनां** युगलधर्मिणा, **जातु** कदाचिदपि, **कलि-व्याल-वह्नि-ग्रह-व्याधि-चौर-व्यथा-वारण-व्याघ्रवीथ्यादिविघ्ना न स्युः** कलिः परस्पर-क्रोधजनितो गालिप्रदान-दण्डादण्डि-युद्धादिजनितक्लेशः, व्यालः सर्पदंशाद्युद्भवमरण-भयादिः, वह्निः आकस्मिकघोरशत्रु-भूतादिकृतगृहदाहाद्युपद्रवः, ग्रह शनि-राहु-प्रभृतिदुष्टग्रहजनिता पीडा, व्याधिः कफ-पित्त-वायु-धातूद्रेकप्रयुक्ता शरीरजा ज्वरादिलक्षणा पीडा, चौर-पाटच्चरकृतधनापहारजनितं दुःखं, वारणः हस्तिशुण्डादि-गृहीतवादादिदूरोत्क्षेपादिप्रभवाकालमृत्त्वादिभयम्, व्याघ्र तरक्षुः व्याघ्रनाम्ना प्रसिद्धो हिंस्रकजन्तुस्तस्य वीथिस्तद्गमनागमनसञ्चारमार्गस्तत्र गमनेन तदुपनिपात-प्रभवस्वशरीरादिभक्षणभयं, तदादिविघ्नाः, न स्युर्न भवन्ति, तत्सर्वप्रतिबन्धक-जिनेन्द्रध्यानसातत्यात्, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥२५॥

विमूढात्मभिर्वेदान्तिभिर्बौद्धैश्चैकान्तवादिभिर्बद्धत्व-मुक्तत्वैकत्वानेकत्व-स्थितत्वास्थितत्व-क्षयित्वाक्षयित्व-सत्त्वासत्त्वाद्यनेकान्तयथार्थधर्मयुक्तत्वेनाविज्ञातमात्म—स्वरूपं भगवन्तं स्तौति—

अबन्धस्तथैकः स्थितो वाऽक्षयी वा-
ऽप्यसद् वा मतो यैर्जडैः सर्वथाऽऽत्मा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

अबन्ध इति । **यैः** अनिर्दिष्टनामभिः, **जडैः** स्वस्वनिमित्तापेक्षबद्धत्व-मुक्तत्वादिधर्मकलितात्मस्वरूपप्रकाशकसम्यग्ज्ञानादिरहितैरेकान्ताद्वैतवादिभिर्वेदान्तिभिरेकान्तक्षणिकत्ववादिभिः सौगतैश्च, **आत्मा** उपयोगलक्षणो जीवः, **सर्वथा** एकान्तेन, अबन्धस्तथैकः स्थितो वाऽक्षयी वेति वेदान्तिमतमाश्रित्य **अबन्धः** कर्मबन्धरहितः—

"न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता ॥१६॥"

इतिवचनात् अबन्धः आत्मा साङ्ख्यस्यापि मतः ।

'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न संसरति नापि मुच्यते कश्चित् ।
बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥१७॥"

इति वचनात्, अत आह–तथैक इति बन्ध-मोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्मत्वमिष्यते साङ्ख्यैः न त्वेक आत्मेति, यथा सर्वथाऽबन्धस्तथा सर्वथैकः अद्वितीयः–

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आराम तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ॥१८॥"

इत्यादि श्रुत्या सर्वथैकत्वेनैवात्मनोऽवगमात्, उक्तं च खण्डने श्रीहर्षेण– "एकमित्युपादाय यदेव कारणमभ्युपादत्ते" श्रुति एकमेवेदमितिरूपा तदैकान्तिमैक्य बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थन घट-पटादिभेदग्राहिप्रत्यक्षादि प्रामाण्यमिति" इति **स्थितो वाऽक्षयी वा** इत्युभयत्रैव वाकारश्चार्थकः, अथवा स्थितो वेत्येतत्पर्यन्त वेदान्तमत तस्य प्रस्थानान्तरत्वसूचनाय वाकारः स्थित इत्यस्य सर्वथा स्थितः अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव इत्यर्थः । सर्वथा स्थितत्वेनैवाक्षयित्व सर्वथा विनाशरहितत्वरूप लब्धमिति तावदेव वेदान्तिकमतम् क्षयी वापीति भूतचैतन्यवादिचार्वाकमतमाश्रित्य भू-जल-तेजो-वायूना चतुर्णा भूताना शरीरात्मको य परिणाम स एव ज्ञानवानात्मा स क्षयी विनाशी, वा शब्दोऽपिशब्दश्च मिलित्वा पक्षान्तरबोधकः, 'असद्वा' इत्यस्य स्थाने 'असन् वा' इति पाठो युक्तः । **सर्वथाऽसन्नात्मेति** बौद्धैर्मत, तन्मते यत् सन् तत् क्षणिकम् इति व्याप्तेरर्थक्रियाकारित्वलक्षण सत्त्व क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति नित्यस्यात्मनः सत्त्वव्यापकक्षणिकत्वनिवृत्त्या सत्त्व निवर्त्तते, किन्तु तन्मते क्षणिकविज्ञानमेवात्मा तस्या सत्त्वं नात्राभिमत स्थिरस्यैवात्मनः क्षणिकत्वनिवृत्त्या सत्त्वाभावलक्षणमसत्त्वमभिमतमिति, **विमूढात्मनाम्** अज्ञानतिमिरान्धाना लुप्तसम्यग्दृशा, **तेषाम्** उपदर्शितैकान्तवादिनाम्, **यः** जिनेन्द्र, **गोचरः** ज्ञानविषय **न** नैव, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥२६॥

स्वाज्ञानिलीनजनजनितपरम्परालक्षणभवोद्धारकत्वेन जिनेन्द्रं स्तौति—

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।

यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२७॥

नवेति । **वैराग्यतत्त्वे** वैराग्यं नाम शरीरभोगसंसारनिर्वेदोपशान्तस्य बाह्याभ्यन्तरेषूपधिष्वनभिष्वङ्गः, ईदृशं वैराग्य शरीरादिष्वशुचित्वानित्यत्वादिज्ञानाभ्यासतो भवतीति, **ज्ञानगर्भं** तच्च पुनर्जन्म-मरणप्रतिपन्थि भवतीत्युपादेयम्, विरागो रागरहितस्तस्य भावो वैराग्यं रागरहितत्व, एतच्च यदा स्त्री-भ्रातृ-पुत्र-किङ्करादिभिः सह कलहादितो दुःखादितो यदा जायते तदा दुःखगर्भं तत्पुनरुत्तरकालं स्त्री-भ्रातृ-पुत्रादीनामानुकूल्यादितः पुनः रागादिप्रादुर्भावे क्षीयत इति नोपादेयम्, एवं कस्मिंश्चिद् विषये मुग्धः सन् तद्विषयाप्राप्तौ मोहादनीशतां प्राप्य शोचन् निर्विण्णो भवति तदुत्पन्नं वैराग्यं मोहगर्भं तत्कञ्चित् कालमेवावतिष्ठते समीहितमोहविपयासादने सति निवर्त्तत इति नोपादेयतामञ्चतीत्याशयेनाह—**यदाज्ञानिलीना** यस्य जिनेन्द्रस्याज्ञाया व्यवस्थिताः पुरुषाः, **जन्मपारं** उत्तरोत्तरजन्मपरम्परानुस्यूतभवपारं मोक्षमिति यावत्, **ययुः** प्रापुः कीदृशाः सन्तस्ते इत्याकाङ्क्षायामाह—**दुःखगर्भे** वैराग्यतत्त्वे, **न वा स्थिताः**, **मोहगर्भे** वैराग्यतत्त्वे, **न वा स्थिताः** तेषामुत्तरकाले भवस्यावश्यम्भावात्, **तु** पुनः, **ज्ञानगर्भे** वैराग्यतत्त्वे स्थिताः, **स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः** ॥२७॥

स्वाज्ञाविशेषपरिपालनपरायणयोगिजनजीवन्मुक्तावस्थाप्रापकत्वेन भगवन्तं जिनेन्द्रं स्तौति —

विहायाश्रवं संवरं संश्रयैव
यदाज्ञा पराऽभाजि यैर्निर्विशेषैः ।
स्वकस्तैरकार्येव मोक्षो भवो वा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२८॥

विहायाश्रवमिति । **निर्विशेषैः** महावीरे पक्षपातः कपिलादिषु द्वेष इत्येवमाग्रहविशेषनिबन्धनविशेषरहितैः, तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥१९॥" इति ।

यथा—"आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।" पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेव विनिवेशम् इति, एवम्भूतैः **यैः** पुरुषैः, **यदाज्ञा पराऽभाजि** परा उत्कृष्टा यस्य तीर्थङ्करस्याज्ञा अभाजि असेवि, कीदृशी आज्ञेत्याकाङ्क्षायामाह—**विहायाश्रवं** कायिक-वाचिक मानसिकयोगलक्षण-माश्रवं त्यक्त्वा, **संवरं संश्रयैव** संवरं योगनिरोधलक्षणं संवरमेव संश्रयः आश्रयः इत्येवरूपा, **तैः** तीर्थकराज्ञा सेवकपुरुषैः, **स्वकः** स्वकीयः, **भवः** जन्म-मोक्षो वा, **वाकार** एवकारार्थकः मोक्ष एव, **अकारि** जन्मावस्थायामपि ते पुरुषा युक्ता एव **एवकारो** निश्चयार्थकः जीवन्मुक्ता एव ते इत्यत्र न संदेहः न **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ।२८॥

शुभध्यानं सदाचारपरायणं बुधकर्तृकशरीरान्तर्गतार्चाकर्मत्वेन भगवन्तं तीर्थकरं महावीरं स्तौति—

शुभध्याननीरैरुरीकृत्य शौचं
सदाचारदिव्यांशुकैर्भूषिताङ्गाः ।
बुधाः केचिदर्हन्ति यं देहगेहे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२९॥

शुभध्याननीरैरिति । **केचिद् बुधाः** सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणमोक्षमार्ग सञ्चारपरायणा मुनिप्रवराः ये बहिःस्थितचैत्यगतं जिनप्रतिमां परिशुद्धशीतल-जल-गन्ध-पुष्प-धूप नैवेद्यादिभिः स्वस्य बाह्यशौचजनकोदकस्नान स्वच्छवस्त्रपरिधानादि-पुरस्सरं पूजयितुमनधिकारिणः ते, **शुभध्याननीरैः** 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्' इति तत्त्वार्थसूत्रं, तस्य भाष्यम्—"उत्तमसंहननं वज्रर्षभ नाराचं, वज्रनाराचं नाराचम्, अर्धनाराचं च तद्युक्तस्यैकाग्रनिरोधश्च ध्यानम्" एतद्वृत्तिश्च—"उत्तमं प्रकृष्टं संहननं अस्थ्नां बन्धविशेषः, उत्तमं संहननमस्ये-त्युत्तमसंहननम् तदुत्तमसंहननं चतुर्विधं वज्रर्षभनाराचं, वज्रनाराचं, नाराचम्,

अर्धनाराचम्, वज्र कीलिका, ऋषभः पट्ट, नाराचो मर्कटबन्धः, प्रथम त्रितय-युक्तं द्वितीयसंहनने पट्टो नास्ति, तृतीये वज्रर्षभौ न स्तः, ततो वज्रर्षभमर्ध-वज्रर्षभं, नाराचं चेत्यनेन चत्वारो भेदाः प्रतिपाद्या उत्तमसहननवाच्याः, उत्तम-संहननग्रहण निरोधे कार्ये प्रतिविशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थ तस्योत्तमसहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्. अग्रम् आलम्बनं, एकं च तदग्रं चेत्येकाग्रम् एका-लम्बनमित्यर्थः, एकस्मिन्नालम्बने चिन्तानिरोधः, चल चित्तमेव चिन्ता; तन्निरोधस्तत्रैकत्रावस्थानमन्यत्राप्रचारो निरोध, अतो निश्चल स्थिर-मध्या-वसानमेकावलम्बनं छद्मस्थविषय ध्यानम्, केवलिना पुनर्वाक्-काययोगनिरोध एव ध्यानम्, अभावान्मनसः न ह्यवाप्तकेवलस्य मनोव्यापारः समस्ति सकल-करणग्रामनिरपेक्षत्वादिति, तद्युक्तस्येति तेन प्रतिविशिष्टेन संहननत्रयेणाद्येन चतुर्विधेन वा युक्तस्य सम्पन्नस्य, एकाग्रचिन्तानिरोध, चशब्दाद्वाक्-काय-निरोधश्च ध्यानम् अत्र च ध्याता ससाध्र्यात्मा ध्यानस्वरूपमेकाग्रचिन्तानिरोधः, ध्याति ध्यानमिति भावसाधन, कालतो मुहूर्त्तमात्र, चतुःप्रकारमार्त्तादिभेदेन ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञविषयसम्प्रयोगादय शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्त्तम्, उत्सन्नवद्धादिलक्षणं रौद्रम्, जिनप्रणीतभावश्रद्धानादिलिङ्ग धर्म्यम्, अबाधासम्मो-हादिलक्षणं शुक्लम्, फल पुनस्तिर्यङ्-नरक-देवगत्यादि मोक्षाख्यमिति क्रमेण, उत्तमसंहननपदार्थलभ्यो ध्याता अभिहितः, ध्यानस्वरूपं भावसाधनता च विज्ञेया'' इति आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लभेदेन चतुर्विधाना ध्यानानां मध्ये द्वे आर्त्त-रौद्रध्याने ससारहेतू, द्वे च धर्म्य-शुक्ले मोक्षहेतू, एवंस्थितौ शुभ-ध्यानपदेन मोक्षहेतु धर्म्यध्यान ग्राह्यं, शुभध्यानान्येव नीराणि जलानि शुभ-ध्याननीराणि तैः शुभध्याननीरैः, **शौचं** शुचित्व पवित्रत्वमिति यावत, **उरीकृत्य** अभ्युपगम्य शुभध्याननीरप्रक्षलितोऽहमतः शुचिरित्येवमङ्गीकृत्य, **सदाचारादिव्यांशुकैः** सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्येव सदाचाराणि तान्येव दिव्यांशुकानि प्रधानप्रावरणधौतवस्त्राणि तैः, **भूषिताङ्गाः** भूषितं शोभितम् अङ्गं शरीर येषा ते तथा, एवंभूता बुधा, **देहगेहे** शरीररूपगृहे, **यं** जिनेन्द्रं **अर्हन्ति** पूजयन्ति, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥२९॥

दयाद्यष्टविधपुष्पकरणकार्चापरायणपुरुषधौरेयसताष्टविधकर्मक्षयाविर्भूतपरमानन्दावाप्तिलक्षणमोक्षप्रदातृत्वेन भगवन्तं जिनेन्द्रं स्तौति—

दया-सूनृतास्तेय-निःसङ्गमुद्रा-
तपो-ज्ञान-शीलैर्गुरूपास्तिमुख्यैः ।
सुमैरष्टभिर्योऽर्च्यते धाम्नि धन्यैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३०॥

दयेति । दया-सूनृतास्तेय निःसङ्गमुद्रा-तपो-ज्ञानशीलैः दया परदुःखप्रहाणेच्छा तया यद्दरिद्रजनप्राणरक्षार्थं भूरिप्रदानं क्रियते तदपि दयाकार्यत्वाद् दयेत्यभिधीयते सूनृत सत्यभाषित्वं, अस्तेयं परवित्तानपहरणं, निःसङ्गमुद्रा अपरिग्रहत्व, तपः तपस्या, ज्ञानं सुतत्त्वावबोधनम्, शील ब्रह्मचर्यत्व, **गुरूपास्तिमुख्यैः** गुरूपास्तिः गुरुसेवा मुख्या एक प्रधानः येषु ते गुरूपास्तिमुख्याः तैः दयादिशीलान्तैः, **सुमैः** पुष्पैः, **अष्टभिः** अष्टसंख्यकैः, **धाम्नि** ज्ञानमयज्योतिषि, **धन्यैः** महात्मभिः, **यः** जिनेन्द्रः, **अर्च्यते** पूज्यते तथाविधपूजाकर्तृणा धन्यता तु उक्ताष्टपुष्पकरकजिनेन्द्रपूजातोऽष्टविधकर्मक्षयतोऽनन्तरं मुक्त्यङ्गनाश्लिङ्गितत्वम्, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरित्यर्थः** ॥३०॥

अन्वर्थगुणविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकनामप्रतिपाद्यत्वेन जिनेन्द्रं स्तौति—

महार्चिर्धनेशो महाज्ञामहेन्द्रो
महाशान्तिभर्त्ता महासिद्धसेनः ।
महाज्ञानवान् पावनीमूर्तिरर्हन्
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३१॥

महार्चिरिति । महार्चिः महत् सकललोकालोकप्रकाशकत्वेन चन्द्रसूर्यादिज्योतिर्भ्यो विशिष्टमर्चिर्ज्योतिर्यस्य स महार्चिः परमज्योतिस्स्वरूपः, **धनेशः** कुबेरः सुवर्ण-रजतादिबाह्यधनानामीशः स्वामी, अयं तु सम्यग्ज्ञान-दर्शनात्मकान्तरङ्गरत्नत्रयात्मकधनस्वामी, **महाज्ञामहेन्द्रः** महती आज्ञा कर्त्तव्याकर्त्तव्याहिताहितोपदेश

मयस्याद्वादलक्षणा महज्ञा तया महेन्द्रः महानिन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः स्वर्गाधिपप्रसिद्धेन्द्रतो विशिष्टः, **महाशान्तिभर्त्ता** परमशान्तिस्वामी, **महासिद्धसेनः** अष्टविधकर्मोन्मूलकत्वेनाविर्भूतसिद्धपर्यायानां सिद्धानां सेनासन्ततिर्यस्य स तथा, अथवा सिद्धसेनसंज्ञकः प्रकृतस्तुतिकर्ता महान् भक्तेषु महनीयगुणशाली यस्य स महासिद्धसेनः, **महाज्ञानवान्** लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानवान्, **पावनीमूर्त्तिः** स्वदर्शनपूजनादिना पवित्रकर्त्री मूर्तिः प्रतिमा यस्य स तथा, **अर्हन्** अन्यसत्त्वाना पूज्येभ्योऽपि मनुजेन्द्र-देवेन्द्रादिभ्य; पूजामर्हतीति अर्हन्, उक्तनामनिकरप्रतिपाद्यो य', **स एको जिनेन्द्रः परात्मा मे गतिरि**त्यर्थः ॥३१॥

महाब्रह्मयोनित्वाद्यनन्यसाधारणधर्मैः भगवन्तं जिनेन्द्र महावीरं स्तौति—

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्ति-
र्महाहंसराजो महादेवदेवः ।

महामोहजेता महावीरनेता
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३२॥

महाब्रह्मयोनिरिति । **महाब्रह्मयोनि**· सच्चिदानन्दस्वरूप कर्मपटलानावृत यन्मुक्त्यवस्थाया भवति तन्महाब्रह्म तस्य योनि· कारण महाब्रह्मण सर्वज्ञसत्त्वेऽपि निरावणतयाऽऽविर्भावो मुक्त्यवस्थायामेवेति तदात्मकपर्यायो जिनेन्द्रात्मरूपद्रव्यस्यैवेति भवति जिनेन्द्रो महाब्रह्मयोनि·, **महासत्त्वमूर्तिः** महासत्त्व महाधैर्यं तस्य मूर्ति प्रकृति भगवानेव महासत्त्वरूपेण परिणत , **महाहंसराजः** महाहसश्चैतन्यं यथा हसो नीरक्षीरविवेक करोति तथा चैतन्यमपि तेन राजते शोभत इति महाहसराज., **महादेवदेव**· कर्मोपाधिसहिताश्चतुर्विधदेवा महादेवा तेषामपि देवः पूजनीयत्वान्महादेवदेव., **महामोहजेता** महामोहस्य काम-क्रोधादिभावशत्रोर्जेता जयनशीलः, **महावीरनेता** कर्मलक्षणं प्रबलं शत्रुं समूलमुच्छेदितवन्तो ज्ञान-दर्शनादयस्सुभटा महावीरास्तेषा नेता स्वामी महावीरनेता, **स एकः परात्मा जिनेन्द्रो मे गतिरि**त्यर्थः ॥३२॥

उक्तस्तुतिं विशिष्टफलदायकतया स्तौति—

इत्थं ये परमात्मरूपमनिशं श्रीवर्धमानं जिनं
वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम् ।
तेषां सप्तभयः क्व सन्ति दलितं दुःखं चतुर्धाऽपि तै-
र्मुक्तैर्यत सुगुणानुपेत्य वृणते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ॥३३॥

इत्थमिति । **इत्थम्** उपदर्शितप्रकारेण, **ये** परमार्हता परमजिनभक्ताः, **अनिशं** सर्वदा, **त्रिभुवने** लोकत्रयेऽपि, **परमात्मरूपं** प्रकृष्टज्ञान-दर्शन-चारित्रालिङ्गितात्मस्वरूपम्, **श्रीवर्द्धमानं** श्रिया मुक्तिलक्ष्म्याऽऽलिङ्गित वर्द्धमानाभिधमपश्चिमतीर्थङ्करं, **जिनं** रागद्वेषजेतार, **शान्त** शान्तिमयं, **परम्** उत्कृष्टं, **दैवतं** देवानामपि देवम्, **वन्दन्ते** प्रणमन्ति, प्रकृतस्तुतिपाठपुरस्सरं तेषां भगवद्वन्दनपरायणानामार्हताना, **सप्तभयः क्व सन्ति** न भवन्त्येव सप्तभीतयः, **चतुर्धापि** चतु प्रकारमपि, **दुःखं दलितं तैः** आर्हतै, **मुक्तैः** मुक्तिमधिगतैः **यत्** यस्मात् कारणात्, **सुगुणान्** तान्, **उपेत्य** समीपमागत्य, **चक्रिशक्रश्रियः** चक्रिणश्चक्रवर्तिन. शक्रस्य इन्द्रस्य च, श्रियः लक्ष्म्य, **वृण्वते** वरण कुर्वन्ति ॥३३ ।

इति तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
जगद्गुरु-श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्करेण
व्याकरवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्नेति-
पदालङ्कृतेन विजयलावण्यसूरिणा
विरचिता किरणावलीनाम्नी
व्याख्या समाप्ता ।

व्याख्याकर्तुः प्रशस्तिः ।

*

व्याख्यानन्तरनिश्चितार्थविषयां बुद्धिवशं कुर्वेति
व्याख्येयं नवकल्पनाविधुरिता मान्या प्रमाणं कथम् ।
नैवं चोद्यमिह प्रभा स्व-परयोर्निर्णीतिरूपा मता
तस्या नावगतार्थता प्रमितितोच्छेदे पटिष्ठा यतः ॥१॥

प्रामाण्यं स्मरणेऽनुभूतविषये स्याद्वादिभिः स्वीकृतं
संवादस्तु परस्परं स्वविषये यट्टीकयोः साम्प्रतम् ।
तस्मादेव जिनस्तुतौ लघुतमा भक्त्येयमायोजिता
विज्ञानां मुदमादधातु सुचिरं सद्भावनाभाविता ॥२॥

वादीन्द्रः **सिद्धसेनो** निखिलमपि मतं भिन्नमार्गप्रयाणं
ज्ञात्वा हार्दं तु तत्तन्मतसमनुगतं कर्तुकामः स्फुटार्थम् ।
भक्तिं देवे जिनेन्द्रे भवनिधितरणोपायभूतां सुलोका-
मारूढो गूढभावस्तुतिचयमकरोदाप्ततीर्थङ्कराणाम् ॥३॥

नव्या द्वात्रिंशिकाख्या स्तुतिरिति विमलाऽनेकधाचित्रभावा
व्याख्याभावान्न शक्या मितिनयविकलैर्ज्ञातुमित्थं कलय्य ।
व्याख्यां **लावण्यसूरिः** सरलवचनतस्तत्र कृत्वा सुभक्त्या
सव्याख्यायाः स्तुतेरप्यनु ननु कृतवान् वृत्तिमेतां मितिर्थाम् ॥४

धीमन्तो विबुधालिसेवितपदाः **श्रीनेमिसूरीश्वरा**-
स्तीर्थोद्धारपरायणा गुरुवराः स्मृत्या हृदिस्थाः सदा ।
स्वीकुर्वन्तु समर्पितां स्तुतिगतां व्याख्यामिमां नूतनां
लावण्येन सुभक्तितो विनयिना कृत्वा मितां सूरिणा ॥५॥

अर्हम् ।

विक्रमादित्यनृपालप्रतिबोधकेन वादिवृन्दारकवृन्दवारणपञ्चाननेन
कमनीयतमकवितालतालवालकल्पेन तुलनातीतकल्पना-
शिल्पशिल्पिशेखरेण सूरिशेखरेण भगवता
श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण प्रणीता—

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाः ।

१. तत्र प्रथमा द्वात्रिंशिका ।

स्वयम्भुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्य-पापम् ॥१॥

समन्तसर्वाक्षगुणं निरक्षं स्वयम्प्रभ सर्वगतावभासम् ।
अतीतसंख्यानमनन्तकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥२॥

कुहेतु-तर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥३॥

[त्रिभिर्विशेषकम्]

न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥४॥

परस्पराक्षेपविलुप्तचेतसः
स्ववादपूर्वापरमूढनिश्चयान् ।
समीक्ष्य तत्त्वोत्पथिकान् कुवादिनः
कथं पुमान् स्याच्छिथिलादरस्त्वयि ? ॥५॥

वदन्ति यानेव गुणान्धचेतसः समेत्य दोषान् किल ते स्वविद्विषः ।
त एव विज्ञानपथागतः सतां त्वदीयसूक्तप्रतिपत्तिहेतवः ॥६॥

कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वत. कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥७॥

जनोऽयमन्यः करुणात्मकैरपि स्वनिष्ठितक्लेशविनाशकाहलैः ।
विकुत्सयंस्त्वद्वचनामृतौषधं न शान्तिमाप्नोति भवार्तिविक्लवः ॥८॥

प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनैः परप्रणेयाल्पमतिर्भवासनैः ।
त्वदीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः कथं नु न स्यात् सुचिरं जनोऽजनः ॥९॥

परस्परं क्षुद्रजनः प्रतीपगानिहैव दण्डेन युनक्ति वा नवा ।
निरागसस्त्वत्प्रतिकूलवादिनो दहन्त्यमुत्रेह च जाल्मवादिनः ॥१०॥

अविधया चेद् युगपद्विलक्षणं क्षणादि कृत्स्नं न विलोक्यते जगत् ।
ध्रुवं भवद्वाक्यविलोमदुर्नयांश्चिरानुगांस्तानुपगूह्य शेरते ॥११॥

समृद्धपत्रा अपि सच्छिखण्डिनो यथा न गच्छन्ति गतं गुरुत्मतः ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते मतं यातुमलं प्रवादिनः ॥१२॥

य एष षड्जीवनिकायविस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥

वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं परानुकम्पासफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञविनिश्चयं त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥

अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद् यशः ।
न तावदप्येकसमूहसंहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥१५॥

यदा न संसारविकारसंस्थितिर्विगाह्यते त्वत्प्रतिधाननोन्मुखैः ।
शठैस्तदा सज्जनवल्लभोत्सवो न कश्चिदस्तीत्यभयैः प्रबोधितः ॥१६॥

स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा
यथान्यशिष्याः स्वरुचिप्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो
न तत् तथा यत् तव कोऽत्र विस्मयः ? ॥१७॥

नयप्रसङ्गापरिमेयविस्तरैरनेकभङ्गाभिगमार्थपेशलैः ।
अकृत्रिमस्वादुपदैर्जनं जनं जिनेन्द्र ! साक्षादिव पासि भाषितैः॥१८॥

विलक्षणानामविलक्षणा सती त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभलो ।
मनांसि वाचामपि मोहपिच्छलान्युपेत्य तेऽत्यद्भुत ! भाति भारती ॥

असत् सदेवेति परस्परद्विषः प्रवादिनः कारणकार्यतर्किणः ।
तुदन्ति यान् वाग्विषकण्टकान्न तैर्भवाननेकान्तशिवोक्तिरर्दितः ॥२०॥

निसर्गनित्यक्षणिकार्थवादिनस्तथा महत्-सूक्ष्मशरीरदर्शिनः ।
यथा न सम्यङ्मतयस्तथा मुने ! भवाननेकान्तविनीतमुक्तवान् ॥२१॥

मुखं जगद्धर्मविविक्ततां परे वदन्ति तेष्वेव च यान्ति गौरवम् ।
त्वया तु येनैव मुखेन भाषितं तथैव ते वीर ! गतं सुतैरपि ॥२२॥

तपोभिरेकान्तशरीरपीडनैर्व्रतानुबन्धैः श्रुतसंप्रदापि वा ।
त्वदीयवाक्यप्रतिबोधपेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि ॥२३॥

न रागनिर्भर्त्सनयन्त्रमीदृशं त्वदन्यदृग्भिश्चलितं विगाहितम् ।
यथेयमन्तःकरणोपयुक्ता बहिश्च चित्रं कलिलासनं तपः ॥२४॥

विरागहेतुप्रभवं न चेत् सुखं न नाम तत् किञ्चिदिति स्थिता वयम् ।
स-चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति न त्वदन्यतः स त्वयि येन केवलः ॥

न कर्म कर्तारमतीत्य वर्तते य एव कर्ता स फलान्युपाश्नुते ।
तदष्टधा पुद्गलमूर्ति कर्मजं यथाऽऽत्थ नैवं भुवि कश्चनापरः ॥२६॥
न मानसं कर्म न देहवाङ्मयं शुभाशुभज्येष्ठफलं विभागशः ।
यदात्थ तेनैव समीक्ष्यकारिणः शरण्य ! सन्तस्त्वयि नाथबुद्धयः ॥
यदा न कोपादिवियुक्तलक्षणं न चापि कोपादिसमस्तलक्षणम् ।
त्वमात्थ सत्त्वं परिणामलक्षणं तदैव ते वीर ! विबुद्धलक्षणम् ॥२८॥
क्रियां च संज्ञानवियोगनिष्फलां क्रियाविहीनां च विबोधसंपदम् ।
निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥२९॥
सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥३०॥
शताध्वराद्या लवसप्तमोत्तमाः सुरर्षभा दृष्टपरापरस्त्वया ।
त्वदीययोगागममुग्धशक्तयस्त्यजन्ति मानं सुरलोकजन्मजम् ॥३१॥
जगन्नैकावस्थं युगपदखिलान्तविषयं
यदेतत् प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाचिन्त्यप्रकृतिरससिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद् द्वारं तव गुणकथोत्का वयमपि ॥३२॥

*

२. द्वितीया द्वात्रिंशिका ।

व्यक्तं निरञ्जनमसंस्कृतमेकविद्यं
विद्यामहेश्वरमयाचितलोकपालम् ।
ब्रह्माक्षरं परमयोगिनमादिसाङ्ख्यं
यस्त्वां न वेद न स वीर ! हितानि वेद ॥१॥

दुःखार्दितेषु न च नाम घृणामुखोऽसि
न प्रार्थितार्थसखिषूपनतप्रसादः ।
न श्रेयसा च न युनक्षि हितानुरक्तान्
नाथ ! प्रवृत्त्यतिशयस्त्वदनिर्गतोऽयम् ॥२॥
कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं
दत्याधिपः शतमुखभ्रकुटीवितानः ।
त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता
लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार ॥३॥
पीतामृतेष्वपि महेन्द्रपुरस्सरेषु
मृत्युः स्वतन्त्रसुखदुर्ललितः सुरेषु ।
वाक्यामृतं तव पुनर्विधिनोपयुज्य
शूराभिमानमवशस्य पिबन्ति मृत्योः ॥४॥
अप्येव नाम दहनक्षतमूलजाला
लक्ष्मीकटाक्षसुभगास्तरवः पुनः स्युः ।
न त्वेव नाथ ! जननक्लममूलपादा-
स्त्वद्दर्शनानलहताः पुनरुद्भवन्ति ॥५॥
उत्त्रासयन्ति पुरुषं भवतो वचांसि
विश्वासयन्ति परवादिसुभाषितानि ।
दुःखं यथैव हि भवानवदत् तथा तत्
तत्सम्भवे च मतिमान् किमिवाभयः स्यात् ! ॥६॥
स्थाने जनस्य परवादिषु नाथबुद्धि-
र्द्वेषश्च यस्त्वयि गुणप्रणतो हि लोकः ।

ते पालयन्ति समुपाश्रितजीवितानि
त्वामाश्रितस्य हि कुतश्चिरमेष भावः ॥७॥
चित्रं किमत्र यदि निर्वचनं विवादा
न प्राप्नुवन्ति ननु शास्तरि युक्तमेतत् ।
उक्तं च नाम भवता बहु नैकमार्गं
निर्विग्रहं च किमतः परमद्भुतं स्यात् ॥८॥
मां प्रत्यसौ न मनुजप्रकृतिर्जनोऽभू-
च्छङ्के च नातिगुणदोषविनिश्चयज्ञः ।
यस्त्वां जिन ! त्रिभुवनातिशयं समीक्ष्य
नोन्मादमाप न भवज्वरमुन्ममाथ ॥९॥
अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षा-
मभ्युत्थितास्त्वयि विरूढसमानमानाः ।
अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसाना-
स्त्वामेव वीर ! शरणं ययुरुद्वहन्तः ॥१०॥
तावद् वितर्करचनापटुभिर्वचोभि-
र्मेधाविनः कृतमिति स्मयमुद्वहन्ति ।
यावन्न ते जिन ! वचःस्वभिचापलास्ते
सिंहासने हरिणबालकवत् स्खलन्ति ॥११॥
त्वद्भाषितान्यविनयस्मितकुञ्चिताक्षाः
स्वग्राहरक्तमनसः परिभूय बालाः ।
नैवोद्भवन्ति तमसः स्मरणीयसौख्याः
पाताललीनशिखरा इव लोध्रवृक्षाः ॥१२॥

सद्धर्मवीजवपनाघकौशलस्य
यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु
सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१३॥

स्वच्छासनाधिगममूढदिशां नराणा-
माशास्महेऽपरुषमप्यनुपन्नमेव ।
उन्मार्गयायिषु हि शीघ्रगतिर्य एव
नश्यत्यसौ लघुतरं न मृदु प्रयातः ॥१४॥

तिष्ठन्तु तावदतिसूक्ष्मगभीरगाधाः
संसारसंस्थितिभिदः श्रुतवाक्यमुद्राः ।
पर्याप्तमेकमुपपत्तिसचेतनस्य
रागार्चिषः शमयितुं तव रूपमेव ॥१५॥

वैराग्यकाहलमुखा विषयस्पृहान्धा
ज्ञातुं स्वमप्यनधिपा हृदयप्रचारम् ।
नातः परं भव इति व्यसनोपकण्ठा
विश्वासयन्त्युपनतांस्त्वयि मूढसंज्ञाः ॥१६॥

सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि
वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा ।
अद्वारकं जिन ! तमस्तमसो विशन्ति
येषां न भान्ति तव वाग्द्युतयो मनस्सु ॥१७॥

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य
निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।

मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरः
त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१८॥
पापं न वाञ्छति जनो न च वेत्ति पापं
पुण्योन्मुखश्च न च पुण्यपथप्रतीतः ।
निःसंशयं स्फुटहिताहितनिर्णयस्तु
त्वं पापवत् सुगत ! पुण्यमपि व्यधाक्षीः ॥१९॥
सत्कार-लाभपरिपक्तिशठैर्वचोभि-
र्दुःखद्विषं जनमनुप्रविशन्ति तीर्थ्याः ।
लोकप्रपञ्चविपरीतमघोरदुर्गं
श्रेयःपथं त्वमविदूरसुख चकर्प ॥२०॥
दैत्याङ्गनातिलकनिष्ठुरवज्रदोष्णि
शक्रे सुरौघमुकुटार्चितपादपीठे ।
तिर्यक्षु च स्वकृतकर्मफलेश्वरेषु
तद्वाक्यपूतमनसां न विकल्पखेदः ॥२१॥
यैरेव हेतुभिरनिश्चयवत्सलानां
सत्त्वेष्वनर्थविदुषा करुणापदेशः ।
तैरेव ते जिन ! वचस्स्वपरोक्षतत्त्वा
माध्यस्थ्यशुद्धमनसः शिवमाप्नुवन्ति ॥२२॥
एकान्तनिर्गुण ! भवन्तमुपेत्य सन्तो
यत्नार्जितानपि गुणाञ्जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्बणानि
भुङ्क्ते चिरं गुणफलानि हि तापनष्टः ॥२३॥

कुर्वन् न मारमुपयाति न चाप्यकुर्वन्
नास्यात्मनः शिवमहर्द्ध्यचलं निधानम् ।
वेदन् त्वमेवमवसादितवेदमत्त्वाद्
भूयो न दुःखगहनेषु वनेषु शेते ॥२४॥

कर्त्ता न कर्मफलभुग् न च कर्मनाशः
कर्त्रन्तरेऽपि च न कर्मफलोदयोऽस्ति ।
कर्त्ता च कर्मफलमेव स चाप्यनाद्य-
स्त्वद्वाक्यनीतिरियमप्रगताऽन्यतीर्थ्यैः ॥२५॥

भीरोः सतस्तव कथं त्वमरेश्वरोऽसौ
वीरोऽयमित्यनवधाय चकार नाम ।
मृत्योर्न हस्तपथमेत्य बिभेति वीर-
स्त्वं तस्य गोचरमपि व्यतियाय लीनः ॥२६॥

नादित्यगर्वजमहस्तव किञ्चदस्ति
नापि क्षपा शशिमयूखशुचिप्रहासा ।
रात्रिंदिनान्यथ च पश्यसि तुल्यकालं
कालत्रयोत्पथगतोऽप्यनतीतकालः ॥२७॥

चन्द्रांशवः कमलगर्भविषक्तमुग्धाः
सूर्योऽप्यजातकिरणः कुमुदोदरेषु ।
वीर ! त्वमेव तु जगत्यसपत्नवीर-
स्त्रैलोक्यभूतचरिताप्रतिघप्रकाशः ॥२८॥

यश्चाम्बुदोदरनिरङ्कुशदीप्तिरर्क-
स्तारापतिश्च कुमुदद्युतिगौरपादः ।

ताभ्यां तमोगुपिलमन्यदिव प्रकाश्यं
कस्तं प्रकाशविभवं तव मातुमर्हः ॥२९॥

नार्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि नाप्यवेत्सी-
र्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैलोक्यनित्यविषमं युगपच्च विश्वं
पश्यस्यचिन्त्यचरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥३०॥

शब्दादयः क्षणसमुद्भवभङ्गशीलाः
संसारतीरमपि नास्त्यपरं परं वा ।
तुल्यं च तत् तव तयोरपरोक्षगाप्सु
त्वय्यद्भुतोऽप्ययमनद्भुत एव भावः ॥३१॥

अनन्यमतिरीश्वरोऽपि गुणवाक् समाः शास्वती-
र्यदा न गुणलोकपारमनुमातुमीशस्तव ।
पृथग्जनलघुस्मृतिर्जिन ! किमत्र वक्ष्याम्यहं
मनोरथविनोदचापलमिदं तु नः सिद्धये ॥३२॥

३. तृतीया द्वात्रिंशिका ।

अनन्यपुरुषोत्तमस्य पुरुषोत्तमस्य क्षिता-
वचिन्त्यगुणसात्मनः प्रभवविक्रियावर्त्मनः ।
प्रसादविजितस्मृतिर्गणयितुं मतिप्रोद्गमं
स्तवं किल विवक्षुरस्मि पुरुहूतगीतात्मनः ॥१॥

व्यलीकपथनायकैर्हतपरिश्रमच्छ्रमि-
र्निरागसि सुखोन्मुखे जगति यातनानिष्ठुरैः ।

अहो ! चिरमपाकृताः स्म शठवादिभिर्वादिभि-
स्त्वदाश्रयकृतादरास्तु वयमद्य वीर ! स्थिताः ॥२॥

अनादिनिधनः क्वचित् क्वचिदनादिरुच्छेदवान्
प्रतिस्वमविशेषजन्मनिधनादिवृत्त' पुनः ।
भवव्यसनपञ्जरोऽयमुदितस्त्वया नो यथा
तथाऽयमभवो भवश्च जिन ! गम्यते नान्यथा ॥३॥

जगत्यनुनयन् यथाभ्युदय-विक्रियावन्ति च
स्वतन्त्रगुण-दोषसाम्यविषमाणि भोज्यान्यपि ।
क्रियाफलविचित्रता च नियता यथा भोगिनां
तथा त्वमिदमुक्तवानिह यथा परे शेरते ॥४॥

अतीत्य नियतव्यथौ स्थिति-विनाशमिथ्यापथौ
निसर्गशिवमात्थ मार्गमुदयाय यं मध्यमम् ।
स एव दुरनुष्ठितोऽयमभिधानरूक्षाशया-
न्मघाविव महोरगो दशति दुर्गृहीतोद्धतः ॥५॥

जगद्धितमनोरथाः स्वयमनावृतप्रीतयः
कृतार्थनिवृत्तादराश्च विवृतोग्रदुःखे जने ।
गुणज्ञ ! परिमृग्यमाणलघवः स्वनीतेः परे
त्वमेव तु यथार्थवादशुचिरर्थविद्भिर्वृतः ॥६॥

प्रवृत्त्यपनयक्षतं जगदशान्तजन्मव्यथं
विरामलघुलक्षणस्त्वमकरोस्तदन्तःक्षणम् ।
जनानुमुखचाटवस्तरुणसत्कृतप्रातिभाः
प्रवृत्तिपरमार्थमेव परमार्थमाहुः परे ॥७॥

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः
स्वभावनियताः प्रजाः समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित् ।
स्वयंकृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विशदवाद ! दोषमलिनोऽस्यहो ! विस्मयः ॥८॥
परस्परविलक्षणाश्च न च नाम रूपादयः
क्रियापि च न तानतीत्य न च ते क्रियैकान्ततः ।
निरोधगतयस्त एव न च विक्रिया निश्चया
निमीलितविलोचनं जगदिदं त्वयोन्मीलितम् ॥९॥
न कश्चिदपि जायते न च परत्वमापद्यते
प्रतिक्षणनिरोधजन्मनियताश्च सर्वाः प्रजाः ।
य एव च समुद्भवः स विलयः प्रतिस्वं च तौ
तवापरमिदं मनःस्वलसैर्निस्वातं वचः ॥१०॥
पृथङ्न भवहेतुरस्ति न च भोक्तुरन्यो भवो
प्रसूतिरपि जायमानमतितोऽस्ति नान्या न च ।
स्थितिर्गमनमुन्नतिर्व्यसनमिष्टयो बुद्धय-
स्तथेत्यनवबद्धपूर्वमपरैः प्रबद्धं त्वया ॥११॥
स्वभावनियतस्त्वया जिन ! न कश्चिदात्मोदित-
स्त्वमेव च परं ललाम परमार्थतत्त्वार्थिनाम् ।
असम्भवमनाशमेकममितक्षयस्थानिनं
यथैनमवदस्तथैव परमात्मताऽस्यात्मनः ॥१२॥
पृथङ्न चयनादयो न च परस्परैकात्मका
न बुद्धिरपि तानतीत्य न च तद्गता बुद्धयः ।

अतोत्य न च वेदनाऽस्ति सुख-दुःखमोहोदया

न युक्तमिव नाम ते जिन ! विगाहधीरं वचः ॥१३॥

क्षमैव परुषं रुषं च न विजातिरभ्युन्नति-

र्न नाम मतिमार्दवं निकृतिर्न नामार्जवम् ।

ऋतं वितथमेव गुप्तिरथ वा तपः किल्बिषं

विमुक्तिमपि बन्धमात्थ न च तत् तथा नान्यथा ॥१४॥

न कश्चन करोति नापि परिभुज्यते केनचि-

न्न वेद्यमपि किञ्चिदस्ति न च न क्रियाभूतयः ।

भवन्न च भवान्तरं व्रजति कश्चिदभ्येति वा

गतिं न च विना भवोऽस्त्यभव ! निश्चितं ते वचः ॥१५॥

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते

शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते ।

वधाय नयमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि

त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्द्योतितः ॥१६॥

अपुण्यपथभीरवो वचनसत्य ! सत्यादराः

पतन्त्यशिवमेव सत्यवचनार्थमूढा जनाः ।

परप्रियहितैषिणश्च बहुयातनापाणयः

समन्तशिवसौष्ठवं तव न ये वचः संनताः ॥१७॥

य एव रतिहेतवः शमफलास्त एवार्थतो

न च प्रशमहेतुरेव मतिविभ्रमोत्पादकः ।

य एव च समुद्भवः स विलयः प्रतिस्वं च तौ

तवामृतमिदं वचः प्रतिहतैर्गदैः पीयते ॥१८॥

ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः
कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः ।
यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः
परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥१९॥

न दुःख-सुखकल्पनामलिनमानस. सिद्धचति
न चागमसदादरो न च पदार्थभक्तोश्वरः ।
न शून्यघटितस्मृतिर्न शयनोदरस्थो न वा
यथात्थ न ततः परं हितपरीक्षकैर्मन्यते ॥२०॥

त्वमेव परमास्तिकः परमशून्यवादो भवान्
त्वमुज्ज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुनः ।
परस्परविरुद्धतत्त्वसमयश्च सुश्लिष्टवाक्
त्वमेव भगवन्नकम्प्यसुनयो यथा कस्तथा ॥२१॥

न किञ्चिदुपलक्ष्यते गगन-काष्ठयोरन्तरं
न चापि न पृथक् तयोस्तदुपलक्षितं लक्षणम् ।
न चास्ति नियमो दिशां न च हितोचितैषा स्थिति-
स्त्वदोयमिव शासनं सुनयनिश्प्रकम्पाः स्थिताः ॥२२॥

व्ययोऽपि पुनरुद्भवे भवति कर्मणां कारण
चयोऽपि च परं ललाम भवनिर्जराबोधने ।
करोति मलमर्जयन्नपि च निष्कृति कर्मणां
न वा क्व तव तीर्णसङ्गनिकषे परीक्षा क्षमा ॥२३॥

न कर्मफलगौरवाद् व्रजति नाप्यकर्मा क्वचित्
न चापि मरणादपेत्य न च सर्वथैवामृतः ।

न चेन्द्रियगणं विहाय न तनुं न चैवान्यथा
मतं तव निरञ्जनं विशति भव्यधीरं जनम् ॥२४॥

चराचरविशेषितं जगदनेकदुःखान्तिक-
मनादिभवहेतुगूढदृढशृङ्खलाबन्धनम् ।
उदाहृतमिदं जिनेन्द्र ! सविपर्यय यत् त्वया
ह्यनेन भवशासनं तव स्मृता बुधाः शासनम् ॥२५॥

क्रिया भवति कस्यचिन्न च विनिष्पतत्याश्रयात्
स्वयं च गतिमान् व्रजत्यथ च हेतुमाकाङ्क्षते ।
गुणोऽपि गुणवच्छ्रितो न च तदन्तरं विद्यते
त्वयैष भजनोजितः सुगद ! सिंहनादः कृत. ॥२६॥

न जातु नरकं नरो व्रजति सागसोऽप्यन्तशः
न चापि नरकादपायमनवेत्य सवेद्यते ।
कदाचिदिह वैरमाप्य नरकोपगं मुच्यते
न चापि तव वीर ! वाक्यमतिपेशलं दोषलम् ॥२७॥

शयानमतिजागरूकमतिशायिनं जागरं
ससञ्ज्ञमपि वीतसंज्ञमथ मोमुहं सञ्ज्ञिनम् ।
विकत्थनमभाषिण वचनमूकमाभाषिणं
दुरुक्तमिव मन्यते न तव यो मतं मन्यते ॥२८॥

न मोहमतिवृत्त्य बन्ध उदितस्त्वया कर्मणां
न चैकमपि बन्धनं प्रकृतिबन्धभावो महान् ।

अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नासकृत्
त्वयाऽतिकुटिला गतिः कुशल ! कर्मणां दर्शिता ॥२९॥
इहैव परिपाकमेति विहितं परे वा भवे
भवोऽपि न भवेऽस्ति नैव न भवत्यसौ प्रागपि ।
क्वचिच्च कृतमन्यथा फलति सर्वथैवान्यथा
अवन्ध्यमिह चोदितं सुकृतमष्टसङ्ख्यं त्वया ॥३०॥
कृपाकृश इवोक्तवान् यदसि वीर ! घोरं तपो
भवार्तिपरिविक्लवैस्तदिति शान्तये सेव्यसे ।
असारभवबुद्धयस्तु भवरोगशान्तौ परे
निदानमिव दृष्टदोषमवधीरितास्त्वत्स्तुतैः ॥३१॥
अविदितगुण ! स्तोतुं कः स्यात् प्रमेयगुणानपि
त्रिभुवनगुरो ! किन्त्वेवाहं तव स्तवचापलः ।
न तु गणयितुं चान्यापातं नय स्वहितैषिणां
त्वयि समुदितानन्दं चेतो मयेत्यनुवर्तितुम् ॥३२॥

*

४. चतुर्थी द्वात्रिंशिका ।

परिचिन्त्य जगत् तव श्रिया न विरोधस्तिमितेन चेतसा ।
परुषं प्रतिभाति मे वचस्त्वद्दते वीर ! यतोऽयमुद्यमः ॥१॥
यदि वा कुशलोच्चलं मनो यदि वा दुःखनिपातकातरम् ।
न भवन्तमतीत्य रंस्यते गुणभक्तो हि न वञ्च्यते जनः ॥२॥
कुलिशेन सहस्रलोचनः सविता चांशुसहस्रलोचनः ।
न विदारयितुं यदीश्वरो जगतस्तद् भवता हृतं तमः ॥३॥

निरवग्रहमुक्तमानसो विषयाशाकलुषस्मृतिर्जनः ।
त्वयि किं परितोषमेष्यति द्विरदः स्तम्भ इवाचिरग्रहः ॥४॥
हितयुक्तमनोरथोऽपि संस्त्वयि न प्रीतिमुपैति यत् पुमान् ।
अतिभूमिविदारदारुणं तदिदं मानकलेर्विजृम्भितम् ॥५॥
भवमूलहरामशक्नुवंस्तव विद्यामधिगन्तुमञ्जसा ।
भवतेऽयमसूयते जनो भिषजे मूर्ख इवेश्वरातुरः ॥६॥
न सदःसु वदन्नशिक्षितो लभते वक्तृविशेषगौरवम् ।
अनुपास्य गुरुं त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्जितम् ॥७॥
वितथं कृपणः स्वगौरवाद् वदति स्वं च न तेऽस्ति किञ्चन ।
वितथानि सहस्रशश्च ते जगतश्चाप्रतिमोऽसि नायकः ॥८॥
भयमेव यदा न बुध्यते स कथं नाम भयाद् विमोक्ष्यते ।
अभये भयशङ्किनः परे यदयं त्वद्गुणभूतिमत्सरः ॥९॥
बलसाध्यमलं न दुर्बलः प्रतिषेद्धुं विनियोक्तुमेव वा ।
नियतेयमृषेर्व्यवस्थितिस्तव लोकस्य च नात्मवैरिणः ॥१०॥
यदि येन सुखेन रज्यते कुरुते रक्तमनाश्च यत् स्वयम् ।
प्रविचिन्त्य जनस्तदाचरेत् प्रतिघातेन रमेत कस्त्वयि ॥११॥
अविकल्पमनःस्विदं वचस्तव यैरेव मनःसु संभृतम् ।
समतीतविकल्पगोचराः सुखिनो नाथतयैव ते जनाः ॥१२॥
परिवृद्धिमुपैति यद् यथा नियतोऽस्यापचयस्ततोऽन्यथा ।
तमसा परिचीयते भवस्त्वदनाथेषु कथं न वर्त्स्यति ॥१३॥
यदि नाम जिगीषयापि ते निपतेयुर्वचनेषु वादिनः ।
चिरसंगतमन्यसंशयं क्षिणुयुर्मानमनर्थसंचयम् ॥१४॥

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥१५॥
वचनैर्विवदन्ति वादिनो भवता नोभगथापि तैर्भवान् ।
महता विपरीतदर्शनो वितथग्राहहतो विरुध्यते ॥१६॥
स्वयमेव मनुष्यवृत्तयः कथमन्यान् गमयेयुरुन्नतिम् ।
अनुकूलहतस्तु बालिशः स्खलति त्वय्यसमानचक्षुषि ॥१७॥
अविकल्पसुख सुखेष्विति ब्रुवते केवलमल्पमेधसः ।
त्वयि तत् तु यथार्थदर्शनात् सकलं वीर ! यथार्थदर्शनम् ॥१८॥
न महत्यणुता न चाप्यणौ विभुता सम्भवतोह वादिनाम् ।
भवतस्तु तया च तन्न च प्रतिबोधावहितैर्विनिश्चितम् ॥१९॥
सुख-दुःखविवेकसाधनं विहितं तीर्थमिदं जिन ! त्वया ।
न च सोऽस्त्यपयाति यस्तयोरथवाऽस्य प्रतिषिद्धशासनः ॥२०॥
तमसश्च न केवलस्य च प्रतिसंसर्गमुशन्ति सूरयः ।
त्वयि सर्वकषायदोषले जिन ! कैवल्यमचिन्त्यमुद्गतम् ॥२१॥
पुरुषस्य न केवलोदयः पशवश्चाप्यनिवृत्तकेवलाः ।
न च सत्यपि केवले प्रभुस्तव चिन्त्येयमचिन्त्यद् गतिः ॥२२॥
वपुषो न बहिर्मन क्रिया मनसो नापि बहिर्वपुःक्रिया ।
न च तेन पृथग् न चैकधा द्विषतां तेऽयमदृष्टिगोचरः ॥२३॥
न च दुःखमिदं स्वयं कृतं न परैर्नोभयज न चाकृतम् ।
नियत च न चाक्षरात्मकं विदुषामित्युपपादितं त्वया ॥२४॥
न परोऽस्ति न चापरस्त्वयि प्रतिबुद्धप्रतिभस्य कश्चन ।
न च तावविभज्य पश्यति प्रतिसंख्यानपदातिपूरुषः ॥२५॥

गतिमानथ चाक्रियः पुमान् कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते ।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने ! ॥२६॥
स्वत एव भव प्रवर्तते स्वत एव प्रविलीयतेऽपि च ।
स्वत एव च मुच्यते भवादिति पश्यस्त्वमिवाभवो भवेत् ॥२७॥
असमीक्षितवाङ्महात्मसु प्रचयं नैति पुमान् महात्मसु ।
असमीक्ष्य च नाम भाषसे परमश्वासि गुरुर्महात्मनाम् ॥२८॥
भवबीजमनन्तमुज्झितं विमलज्ञानमनन्तमर्जितम् ।
न च हीनकलोऽसि नाधिकः समतां चाप्यनिवृत्त्य वर्तसे ॥२९॥
सति चक्षुषि तत्प्रयोजनं न करोषीत्यभिशप्यते पुमान् ।
भवतस्त्वलमेष संस्तवो विदुषामन्यपथान्निवृत्तये ॥३०॥
जननं च यथा महद् भयं तदभावश्च यथोत्तमोऽभयम् ।
विमृशन्तु विनीतचक्षुषो यदि पश्यन्त्यनुपास्य ! ते वचः ॥३१॥
स्तवमहमभिधातुमीश्वरः क इव यथा तव वक्तुमीश्वरः ।
त्वयि तु भवसहस्रदुर्लभे परिचय एव यथा तथास्तु नः ॥३२॥

*

५. पञ्चमी द्वात्रिंशिका ।

आराध्यसे त्वं न च नाम वीर ! स्तवैः सतां चैष हिताभ्युपायः ।
त्वन्नामसङ्कीर्तनपूतयत्नः सद्भिर्गतं मार्गमनुप्रपत्स्ये ॥१॥
जाने यथाऽस्मद्विधविप्रलापः क्षेपः स्तवो वेति विचारणीयम् ।
भक्त्या स्वतन्त्रस्तु तथापि विद्वन् ! क्षमावकाशानुपपादयिष्ये ॥२॥
गम्भीरमम्भोनिधिनाऽचलैः स्थितं शरद्दिवा निर्मलमिष्टमिन्दुना ।
भुवा विशालं द्युतिमद् विवस्वता बलप्रकर्षः पवनेन वर्ण्यते ॥३॥

गुणोपमानं न तवात्र किञ्चिदमेयमाहात्म्य ! समञ्जसं यत् ।
समेन हि स्यादुपमाभिधानं न्यूनोऽपि ते नास्ति कुतः समानः ॥४॥
[युग्मम्]

अमोह ! यत्तां वसुधावधूं यन्मानानुरोधेन पितुश्चकर्ष ।
ज्ञानत्रयोन्मीलितसत्पथोऽपि तत्कारणं कोऽच्युत ! मन्तुमीशः ? ॥५॥

अनेकजन्मान्तरभग्नमानः
स्मरो यशोदाप्रिय ! यत् पुरस्ते ।
चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं
त्वमेव विद्याः सुनयज्ञ ! कोऽन्यः ॥६॥

अबुद्धखेदोपनतैरनेकैरसाध्यरागाविषमोपचारैः ।
नरेश्वरैरात्महितानुरक्तैश्चूडामणिव्यापृतपादरेणुः ॥७॥

स्वयं प्रभूतैर्निधिभिर्निवृत्तैः प्रत्येकमम्भोनिचयप्रसूतैः ।
आशासनं सर्वजनोपभोग्यैर्धनेश्वरः प्रीतिकरः प्रजानाम् ॥८॥

दिक्पालभुक्त्या वसुधां नियच्छन्
प्रबोधितो नाम सुरैः समायः ।
लक्ष्म्या निसर्गोचितसङ्गतायाः
सितातपत्रप्रणयं व्यनैत्सीत् ॥९॥

अपूर्वशोकोपनतक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि ।
विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि ॥१०॥

मुग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्टवाक्यसंदिग्धजल्पानि पुरःसराणि ।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि प्रलम्बवस्त्रान्तविकर्षणानि ॥११॥

अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घदीनेक्षणाः साश्रुमुखाश्च पौराः ।
संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो ! न भावशुद्धं जगृहुर्मनस्ते ॥१२॥
[त्रिभिर्विशेषकम्]

सुरासुरैर्विस्मृतदीर्घवैरैः परस्परप्रीतिविभक्तनेत्रैः ।
त्वद्यानधूःसधवहैर्बभासे संदिग्धसूर्यप्रभमन्तरिक्षम् ॥१३॥
संकीर्णदैत्यामरपौरवर्गमत्यद्भुतं तन्महिमानमीक्ष्य ।
भवाभवाभ्युत्थितचेतसस्ते यद्विस्मयो नाम स विस्मयोऽयम् ॥१४॥
प्रतीच्छतस्ते सुरपस्य केशान् क्षीरार्णवोपायनलब्धबुद्धेः ।
प्रसादसायामतरं तदाभूदक्ष्णां यथार्थानिमिषं सहस्रम् ॥१५॥
अज्ञातचर्यामनुवर्तमानो यद् दुर्जनाधृष्यवपुस्त्वमासीः ।
नानासनोच्चावचलक्षणाङ्कमूर्तेस्तदत्यद्भुतमीहितं मे ॥१६॥
शिवाशिवव्याहृतनिष्ठुरायां रक्षःपिशाचोपवनान्तभूमौ ।
समाधिगुप्तः समजागरूकः कायं समुत्सृज्य विनायकेभ्यः ॥१७॥
वन्ध्याभिमानं कृतवानसि ह्रीसंसर्गपात्रं जिन ! संगमं यत् ।
प्रीतत्रिनेत्रार्चित ! नृत्तपुष्पैस्तेनासि लोकत्रयवीर ! वीरः ॥१८॥
[युग्मम्]

आनन्दनृत्तप्रचलाचला भूः प्रत्युद्गतोद्वेलजलः समुद्रः ।
सौम्योऽनिलः स्पर्शसुखेऽभिजातः शुभाभिधाना मृगपक्षिणश्च ॥१९॥
सर्वावतारः सुरदैत्यनागगरुत्मतां प्रोषितमत्सराणाम् ।
बभूवुरन्यानि च तेऽद्भुतानि त्रैलोक्यविघ्नेश्वरमोहशान्तौ ॥२०॥
[युग्मम्]

उत्साहशौण्डीर्यविधानगुर्वी मूढा जगद्व्यष्टिकरी प्रतिज्ञा ।
अनन्तमेकं युगपत्त्रिकालं शब्दादिभिर्निष्प्रतिघातवृत्तिः ॥२१॥

दुरापमाप्तं यदचिन्त्यभूति ज्ञानं त्वया जन्म-जरान्तकर्तृ ।
तेनासि लोकानभिभूय सर्वान् सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥२२॥
[युग्मम्]

अन्ये जगत्संकथिकाविदग्धाः सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्याः ।
यथार्थनामा तु तवैव वीर ! सर्वज्ञता सत्यमिदं न रागः ॥२३॥

रविः पयोदोदररुद्धरश्मिः प्रबुद्धहासैरनुमीयते ज्ञैः ।
भवानुदारातिशयप्रवादः प्रणेतृवीर्योच्छ्रितरप्रयत्नैः ॥२४॥

नाथ ! त्वया देशितसत्पथस्था स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम् ।
नैवान्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां प्राचीं यियासुर्विपरीतयायी ॥२५॥

अपेतगुह्यावचनीयशाठ्यं सत्त्वानुकम्पासकलप्रतिज्ञम् ।
शमाभिजातार्थमनर्थघाति सच्छासनं ते त्वमिवाप्रधृष्यम् ॥२६॥

यथा परे लोकसुखप्रियाणि शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः ।
शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर्वक्तृत्वदोषास्त्वयि नैव सन्ति ॥२७॥

यथा भवांस्तेऽपि किलापवर्गमार्गं पुरस्कृत्य यथा प्रयाताः ।
स्वैरेव तु व्याकुलविप्रलापैरस्वादुनिष्ठैर्गमिता लघुत्वम् ॥२८॥

रागात्मनां कोपपराजितानां मानोन्नतिस्वीकृतमानसानाम् ।
तमोजलानां स्मृतिशोभिनां च प्रत्येकभद्रान् विनयानवोचः ॥२९॥

वाय्वम्बुशेवालकणाशिनोऽन्ये धर्मार्थमुग्राणि तपांसि तप्ताः ।
त्वया पुनः क्लेशचमूविनाशभक्तोऽपि धर्मो विजिताश ! दग्धः ॥३०॥

नानाशास्त्रप्रगममहतीं रूपणीं तां नियच्छन्
शक्रस्तावत् तव गुणकथाव्यापृतः खेदमेति ।

कोऽन्यो योग्यस्तव गुणनिधेर्वक्तुमुक्त्वा नयेन !
त्यक्ता लज्जा स्वहितगणनानिर्विशङ्कं मयैवम् ॥३१॥
इति निरूपमयोगसिद्धसेनः
प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः ।
दिशतु सुरपुरुस्तुतस्तुतो नः
सततविशिष्टशिवाधिकारिधाम ॥३२॥

*

६. षष्ठी द्वात्रिंशिका ।

यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः ।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः ॥१॥
पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥२॥
न खल्विदं सर्वमचिन्त्यदारुणं विभाव्यते निम्नजलस्थलान्तरम् ।
अचिन्त्यमेतत् त्वभिगृह्य चिन्तयेच्छुचः परं नापरमन्यदा क्रिया ॥३॥
बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधरूक्षाः कथमाशु निश्चयः ।
विशेषसिद्धयायियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजलस्य युज्यते ॥४॥
जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥५॥
विनिश्चयं नैति यथा यथाऽलसस्तथा तथा निश्चितवत् प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्ये गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥६॥
मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं गृहीष्यति ॥७॥

यदेव किञ्चिद् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पाठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः ॥८॥
न विस्मयस्तावदयं यदल्पतामवेत्य भूयो विदितं प्रशंसति ।
परोक्षमेतत् त्वधिरुह्य साहसं प्रशंसतः पश्यत किं नु भेषजम् ॥९॥
परीक्षितुं जातु गुणौघ ! शक्यते विशिष्य ते तर्कपथोद्धतो जनः ।
यदेव यस्याभिमतं तदेव तच्छिवाय मूढैरिति मोहितं जगत् ॥१०॥
परस्परान्वर्थितया तु साधुभिः कृतानि शास्त्राण्यविरोधदर्शिभिः ।
विरोधशीलस्त्वबहुश्रुतो जनो न पश्यतीत्येतदपि प्रशस्यते ॥११॥
यदग्निसाध्यं न तदम्भसा भवेत् प्रयोगयोग्येषु किमेव चेतसा ।
समेष्वरागोऽस्य विशेषतो नु किं विमृश्यतां वादिषु साधुशीलता ॥१२॥
यथैव दृष्टं तपसा तथा कृतं न युक्तिवादोऽयमृषेरिदं वचः ।
सुबुद्धमेवेति विशेषतो नु किं प्रशंसति क्षेपकथा किलेतरा ॥१३॥
कथं नु लोके न समानचक्षुषो यथा न पश्यन्ति वदन्ति तत्तथा ।
अहो न लोकस्य न चात्मनः क्षमां पुरातनैर्मानहतैरुपेक्षितम् ॥१४॥
वृथा नृपैर्भर्तृमदः समुह्यते धिगस्तु धर्मं कलिरेव दीप्यते ।
यदेतदेवं कृपणं जगच्छठैरितस्ततोऽनर्थमुखैर्विलुप्यते ॥१५॥
यदा न शक्नोति विगृह्य भाषितुं परं च विद्वत्कृतशोभमीक्षितुम् ।
अथाप्तसंपादितगौरवो जनः परीक्षकक्षेपमुखो निवर्तते ॥१६॥
त्वमेव लोकेऽद्य मनुष्य ! पण्डितः खलोऽयमन्यो गुरुवत्सलो जनः ।
स्मृतिं लभस्वारभ नेति शोभसे दृढश्रुतैरुच्छ्वसितुं न लभ्यते ॥१७॥
परेऽद्य जातस्य किलाद्य युक्तिमत् पुरातनानां किल दोषवद्वचः ।
किमेव जाल्मैः कृतमित्युपेक्षितुं प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति ॥१८॥

त्रयः पृथिव्यामविपन्नचेतसो न सन्ति वाक्यार्थपरीक्षणक्षमाः ।
यदा पुनः स्युर्बृहदेतदुच्यते न मामतीत्य त्रितयं भविष्यति ॥१९॥

पुरातनैर्यानि वितर्कगर्वितैः
कृतानि सर्वज्ञयशःपिपासुभिः ।
घृणा न चेत् स्यान्मयि न व्यपत्रपा
तथाहमथैव न चेद् धिगस्तु माम् ॥२०॥

कृतं न यत् किञ्चिदपि प्रतर्कतः
स्थितं च तेषामिव तन्न संशयः ।
कृतेषु सत्स्वेव हि लोकवत्सलैः
कृतानि शास्त्राणि गतानि चोन्नतिम् ॥२१॥

जघन्यमध्योत्तमबुद्धयो जना महत्त्वमानाभिनिविष्टचेतसः ।
वृथैव तावद् विवदेयुरुत्थिता दिशन्तु लब्धा यदि कोऽत्र विस्मयः ॥

अवश्यमेषां कतमोऽपि सर्वविज्जगद्धितैकान्तविशालशासनः ।
स एष मृग्यः स्मृतिसूक्ष्मचक्षुषा तमेत्य शेषैः किमनर्थपण्डितैः ॥

यथा ममाप्तस्य विनिश्चितं वचस्तथा परेषामपि तत्र का कथा ।
परीक्ष्यमेषां त्वनिविष्टचेतसा परीक्ष्यमित्यर्थरुचिर्न वञ्च्यते ॥२४॥

मयेदमभ्यूहितमित्यदोषलं न शास्तुरेतन्मतमित्यपोह्यते ।
तथापि तच्छिष्यतयैव रम्यते कृतज्ञतैषा जलताऽल्पसत्त्वता ॥२५॥

इदं परेषामुपपत्तिदुर्बलं कथञ्चिदेतन्मम युक्तमीक्षितुम् ।
अथात्मरन्ध्राणि च सन्निगूहते हिनस्ति चान्यान् कथमेतदक्षमम् ॥

दुरुक्तमस्यैतदहं किमातुरो
ममैष कः किं कुशलोज्झिता वयम् ।
गुणोत्तरो योऽत्र स नोऽनुशासिता
मनोरथोऽप्येष कुतोऽल्पचेतसाम् ॥२७॥

न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलाङ्गनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥२८॥

न गम्यते किं प्रकृतं किमुत्तरं
किमुक्तमेवं किमतोऽन्यथा भवेत् ।
सदस्सु चोच्चैरभिनीय कथ्यते
किमस्ति तेषामजितं महात्मनाम् ॥२९॥

समानधर्मोपहितं विशेषतोऽविशेषतश्चेति कथा निवर्तते ।
अतोऽन्यथा न प्रतरन्ति वादिनस्तथा च सर्वं व्यभिचारवद् वचः ॥
यथाधर्मं यस्तु साध्यं विभज्य गमयेद् वादो तस्य कुतोऽवसादः ।
यदेव साध्येनोच्यते विद्यमानं तदेवान्यत्र विजयं संदधाति ॥३१॥

मया तावद् विधिनाऽनेन शास्ता
जिन स्वयं निश्चितो वर्धमानः ।
यः सधास्यत्यास्तवत् प्रतिभानि
स नो जाड्यं भंस्यते पाटवं चेति ॥३२॥



७. सप्तमी द्वात्रिंशिका ।

धर्मार्थकीर्त्यधिकृतान्यपि शासनानि
नाह्वानमात्रनियमात् प्रतिभान्ति लक्ष्म्या ।

संपादयेन्नृपसभासु विगृह्य तानि
येनाध्वना तममिधातुमविघ्नमस्तु ॥१॥
साध्यादृते विजयः सुलभः सदस्सु
पार्श्वस्थितेषु हि जयश्च पराजयश्च ।
तस्मादविक्लवमनुल्वणसाधुकारं
सामप्रवीणगणनासमयेषु योज्यम् ॥२॥
प्राक् तावदीश्वरमनः सदसश्च चक्षु-
र्मन्तव्यमात्मनि परत्र च किं प्रकारम् ।
यद्यात्मनो हि परिहासजयोत्तरं स्या-
दुक्तोपचारचतुरप्रतिभोऽन्यथा तु ॥३॥
सौम्यः प्रभुर्यदि विपक्षमुखाः सदस्याः
स्युस्तत् साधुरेव गमयेत् परिभूय शेषान् ।
तस्मिन् स्वभद्रचरितेऽप्युचितः प्रसादः
सत्कृत्य विग्रहवचःस्तिमितं निहन्यात् ॥४॥
आभाष्य भावमधुरार्पितया कृतास्तान्
दृष्ट्याऽवसाद्य च निवर्तितया विनेयान् ।
ब्रूयात् प्रतीतमुखशब्दमुपस्थितार्थं
नोच्चैर्न मन्दमभिभूय मनः परस्य ॥५॥
वादास्पदं प्रतिवचश्च यथोपनीत-
मारोप्य यः स्मृतिपथः प्रतिसंविधत्ते ।
वैलक्ष्यविस्मृतमदान् द्विषतः स सूक्तैः
प्रत्यानयन् परिजनीकुरुते सदस्यान् ॥६॥

पूर्वं स्वपक्षरचनारभसः परस्य
वक्तव्यमार्गमनियम्य विजृम्भते यः ।
आपीड्यमानसमयः कृतपौरुषोऽपि
नोच्चैःशिरः स वहति प्रतिमानवत्सु ॥७॥

नावैमि किं वदसि कस्य कृतान्त एष
सिद्धान्तयुक्तमभिधत्स्व कुहैतदुक्तम् ।
ग्रन्थोऽयमर्थमवधारय नैष पन्थाः
क्षेपोऽयमित्यविशदागमतुण्डबन्धः ॥८॥

किंस्वित् कथंस्विदिति साध्यनिगूढवाचः
सिद्धान्तदुर्गमवतार्य विनोदनीयाः ।
धीरस्मितैः प्रतिकथागुणदर्शनैश्च
छद्मानवस्थितकथा हि पिबन्ति तेजः ॥९॥

दुर्नीतमुन्नयति सूक्ष्मपक्षपातैः
निस्तर्जयन् शठविदग्धमलङ्करोति ।
भग्नाभिसन्धिरपि यानि कथान्तराणि
प्रश्नच्छलप्रहरणोऽयमवन्ध्यविघ्नः ॥१०॥

उक्तं यथाक्षरपदं प्रतियोजयन्ति
प्रत्युद्वहन्त्यपि जनाचरणैर्वचोभिः ।
सद्भावरिक्तमनसश्च सुविस्मितस्तान्
वाक्यप्रयोजनजडानभिसंदधीत ॥११॥

मूर्खव्रजेष्वनुमतप्रतिभाविकारान्
विद्वत्सदस्सुनिरपेक्ष्य हताबिमानाः ।

उक्त्वा चिरं मदसमुच्छ्रयगर्वितानि
नाम्नाऽपि तस्य भयकुञ्चिममुच्छ्वसन्ति ॥१२॥

लोकप्रसिद्धमतयः श्रुतगूढवादैः
साध्याः श्रुतकरुचयस्त्वपि लोकचित्रैः ।
सामान्यदुर्बलविनिश्चितसंकथाभि-
र्मानप्रवासनमुदारमतेर्विधेयम् ॥१३॥

आस्फालयन् दुरितसूचनधीरहस्तैः
वाक्यान्तरेषु विकिरन् पुरुषः स्फुलिङ्गैः ।
स्वच्छभ्रुवा कृतकरूपितविस्मयेन
छिन्नस्मितैरविनयोत्तर एव कार्यः ॥१४॥

भूयिष्ठमुन्नदति यस्य कृतान्तदोषान्
यं वा जिगीषति तमुत्सहतेऽपि वा यः ।
ये चाप्यनेन मुषितप्रतिभाः कदाचित्
तेष्वस्य वाक्यमवतार्य विनोदनीयम् ॥१५॥

कृत्येषु नादरविषक्तविलोचनः स्यात्
तत्संकथाप्रणिहितोपहतास्तु साध्याः ।
युक्तोपनीतपरिहासमुखांश्च कुर्वन्
पक्षद्विषाः परुषयेत् सदसि प्रधानम् ॥१६॥

उद्भूतवाग्मियशसा जनसंप्रियेण
पूर्वं विसृष्टवचनप्रतिभागुणेन ।
वाच्यं सह प्रतिहतोऽपि हि तेन भाति
जित्वा पुनस्तमतिकीर्तिफलानि भुङ्क्ते ॥१७॥

वीरोत्तरं परमशक्यमवेत्य कार्यं
क्षेपं प्रमोहविकथासु परः प्रयत्नः ।
अन्यो हि धीरितकथाविधुरस्य शब्दः
संदिग्धतुल्यगुण-दोषपथस्य चान्यः ॥१८॥

शिष्येषु वाक्यखनयः प्रतिबोधनीयाः
सिद्धिस्तथाहि नियता नयवाददोषान् ।
अभ्युद्गतस्य हि कथाविषमाहिराहि-
तेजः सकृत् प्रतिहतं च न चाऽस्ति भूयः ॥१९॥

सिद्ध्यन्तरं न महतः परिभूय वादान्
स्यादर्जितस्तु विजयोऽपवाद एव ।
तस्मान्न वादगहनान्यभिलक्षितस्य
युक्तं विगाहितुमनुत्रसतः परेभ्यः ॥२०॥

आम्नायमार्गसुकुमारकृताभियोगा
क्रूरोत्तरैरभिहतस्य विलीयते धीः ।
नीराजितस्य तु सभाभटसङ्कटेषु
शुद्धप्रहारविधुरा रिपवः स्वपन्ति ॥२१॥

ग्रन्थाभिचारनिपुणे बहु न प्रयोज्यं
मत्वा विशेज्जनमनांसि सतामतीव ।
आशङ्कितानपि दिशः पुरुषस्य यातुः
कीर्त्यक्षमान् परिहरेदिति तत्प्रसक्तः ॥२२॥

एकान्वयोत्तरगतिः परिदृष्टपन्थाः
प्रत्याहतश्च चतुरस्रमपाहतश्च ।

तस्मात् परोत्तरगतौ प्रणिधानवान् स्या-
न्नानामुखप्रहरणश्च यतिद्विषत्सु ॥२३॥

शास्त्रोत्थितान् परिभवः स्खलतामुपैति
तान्येव तु स्मितगभीरमुपालभेत ।
अस्मद्गुरुं स हसतीति विदह्यमानं
व्युत्पादयन्ति हि यशांस्यत एव भूयः ॥२४॥

अज्ञाभिधानमफलं प्रकृतोपशान्तौ
वक्तारमन्ववसिता न हि शास्त्रदोषाः ।
सत्यं तु लाघवमनेन यथाऽभ्युपैति
तच्चेदवाप्तमरतिश्रुतिभिः किमत्र ॥२५॥

किं मर्म नाम रिपुषु स्थिरसाहसस्य
मर्मस्वपि प्रहरति स्ववधाय मन्दः ।
आशीविषो हि दशनैः सहजोग्रवीर्यैः
क्रीडन्नपि स्पृशति यत्र तदेव मर्म ॥२६॥

मन्दोऽप्यहार्यवचनः प्रशमानुयातः
स्फीतागमोऽप्यनिभृतः स्मितवस्तु पुंसाम् ।
तस्मात् प्रवेष्टुमुदितेन सभामनांसि
यत्नः श्रुताच्छतगुणः शम एव कार्यः ॥२७॥

आक्षिप्य यः स्वसमयं परिनिष्ठुराक्षः
पश्यत्यनाहतमनाश्च परप्रवादान् ।

आक्रम्य पार्थिवसभा स विरोचमानः
शोकप्रजागरकृशान् द्विपतः करोति ॥२८॥

किं गर्जितेन रिपुषु त्वभितो मुखेषु
किन्त्वेव निर्दयविरूपितपौरुषेषु ।
वाग्दीपितं तृणकृशानुवलं हि तेजः
कल्पात्ययस्थिरविभूतिपराक्रमोत्थम् ॥२९॥

किञ्चित् सुनीतमपि दुर्नयवद्विनेयं दुर्नीतमप्यतिशयोक्तमिव प्रशस्यम् ।
सर्वत्र हि प्रतिनिविष्टमुखोत्तरस्य सूक्तं च दुर्विगणितं च समं समेन ॥३०॥

तिर्यग् विलोकयति साध्वसविप्लुताक्षं
श्लिष्टाक्षरं वदति वाक्यमसंभृतार्थम् ।
दृष्ट्वाऽऽहतः स्खलति विश्रुतकक्षमेकं
कण्ठं मुहुः कषति चापि कथाभ्यरिष्टः ॥३१॥

परिचितनयः स्फुतार्थोऽपि श्रियं परिसंगतां
न नृपतिरलं भोक्तुं कृत्स्नां कृशोपनिषद्बलः ।
विहितसमयोऽप्येवं वाग्मी विनोपनिषत्क्रियां
न तपति यथा विज्ञातारस्तथा कृतविग्रहाः ॥३२॥

८. अष्टमी वादद्वात्रिंशिका ।

नरोपगतयोरेकामिषसङ्गजातमत्सरयोः ।
नपि शुनोः भ्रात्रोरपि वदिनोर्न स्यात् ॥१॥

क्व च तत्त्वाभिनिवेशः क्व च संरम्भातुरेक्षणं वदनम् ।
क्व च दीक्षाऽऽश्वसनीयरूपता क्व चाऽनृजुर्वादः ॥२॥
तावद् वकमुग्धमुखस्तिष्ठति यावन्न रङ्गमवतरति ।
रङ्गावतारमत्तः काकोद्धतनिष्ठुरो भवति ॥३॥
क्रीडनकमीश्वराणां कुक्कुट-लावकसमानबालेभ्यः ।
शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥४॥
अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥५॥
दृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं नः ।
वादिनि चपले मुग्धे च तादृगेवान्तरं गच्छेत् ॥६॥
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादवृपाः ।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥७॥
यद्यकलहाभिजातं वाक्छलरङ्गावतारनिर्वाच्यम् ।
स्वच्छमनोभिस्तत्त्वं परिमीमांसेन्न दोषः स्यात् ॥८॥
साधयति पक्षमेकोऽपि हि विद्वान् शास्त्रवित् प्रशमयुक्तः ।
न तु कलहकोटिकोट्योऽपि समेता वाक्यलालभुजः ॥९॥
आर्त्तध्यानोपगतो वादी प्रतिवादिनस्तथा स्वस्य ।
चिन्तयति पक्षनयहेतुशास्त्रवाग्बाणसामर्थ्यम् ॥१०॥
हेतुविदसौ न शाब्दः शाब्दोऽसौ न तु विदग्धहेतुकथः ।
उभयज्ञो भावपटुः पटुरन्योऽसौ स्वमतिहीनः ॥११॥
सा नः कथा भवित्री तत्रैता जातयो मया योज्याः ।
इति रागविगतनिद्रो वाङ्मुखयोग्यां निशि करोति ॥१२॥

अशुभवितर्कधूमितहृदयः कृत्स्नां क्षपामपि न शेते ।
कुण्ठितदर्पः परिषदि वृथात्मसंभावनोपहतः ॥१३॥
प्राश्निकचाटुप्रणतः प्रतिवक्तरि मत्सरोष्णाबद्धाक्षः ।
ईश्वररचिताकुम्भो भरतक्षेत्रोत्सवं कुरुते ॥१४॥
यदि विजयते कथञ्चित् ततोऽपि परितोषभग्नमर्यादः ।
स्वगुणविकत्थनदूषिकः त्रीनपि लोकान् खलीकुरुते ॥१५॥
उत जीयते कथञ्चित् परिषत्प्रतिवादिनं स कोपान्धः ।
गलगर्जेनाक्रामन् वैलक्ष्यविनोदनं कुरुते ॥१६॥
वादकथां न क्षमते दीर्घं निःश्वसिति मानभङ्गोष्णम् ।
रम्येऽप्यरतिज्वरितः सुहृत्स्वपि वक्रीकरणवाक्यः ॥१७॥
दुःखमहङ्कारप्रभवमित्ययं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।
अथ च तमेवारूढस्तत्त्वपरीक्षां किल करोति ॥१८॥
ज्ञेयः परसिद्धान्तः स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् ।
परपक्षक्षोभणमभ्युपेत्य तु सतामनाचारः ॥१९॥
स्वहितायैवोत्थेयं को नानामतिविचेतनं लोकम् ।
यः सर्वज्ञैर्न कृतः शक्ष्यति तं कर्तुमेकमतम् ॥२०॥
सर्वज्ञविषयसंस्थान् छद्मस्थो न प्रकाशयत्यर्थान् ।
नाश्चर्यमेतदत्यद्भुतं तु यत् किञ्चिदपि वेत्ति ॥२१॥
अविनिर्नयगम्भीरं पृष्टः पुरुषोत्तरो भवति वादी ।
परिचितगुणवात्सल्यः प्रीत्युत्सवमुत्तमं कुरुते ॥२२॥
विनयमधुरोक्तिनिर्ममसारमपि वाक्यमास्पदं लभते ।
सारमपि गर्वदष्टं वचनमपि मुनेर्वहति वायुः ॥२३॥

पुरुषवचनोद्यतमुखैः काहलजनचित्तविभ्रमपिशाचैः ।
धूर्तैः कलहस्य कृतो मीमांसानामपरिवर्तः ॥२४॥
परिनिग्रहाध्यवसितः चित्तैकाग्र्यमुपयाति यद् वादी ।
यदि तत् स्याद् वैराग्येण चिरेण शिवपदमुपयातु ॥२५॥
एकमपि सर्वपर्ययनिर्वचनीयं यदा न वेत्त्यर्थम् ।
मां प्रत्यहमिति गर्वः स्वस्थस्य न युक्त इति पुंसः ॥२६॥

*

९. नवमी वेदवादद्वात्रिंशिका ।

अजः पतङ्गः शबलो विश्वमयो धत्ते गर्भमचरं चरं च ।
योऽस्याध्यक्षमकलं सर्वधान्यं वेदातीतं वेद वेद्यं स वेद ॥१॥
स एवैतद् विश्वमधितिष्ठत्येकस्तमेवैतं विश्वमधितिष्ठत्येकम् ।
स एवैतद् वेद यदिहास्ति वेद्यं तमेवैतद् वेद यदिहास्ति वेद्यम् ॥२॥
स एवैतद् भुवनं सृजति विश्वरूपः
तमेवैतत् सृजति भुवनं विश्वरूपम् ।
न चैवैनं सृजति कश्चिन्नित्यजातं ।
न चासौ सृजति भुवनं नित्यजातम् ॥३॥
एकायनशतात्मानमेकं विश्वात्मानममृतं जायमानम् ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति यस्तं च वेद किमृचा करिष्यति ॥४॥
सर्वद्वारा निभृता मृत्युपाशैः स्वयंप्रभानेकसहस्रपर्वाः ।
यस्यां वेदाः शेरते यज्ञगर्भाः सैषा गुहा गूहते सर्वमेतत् ॥५॥
भावाभावो निःस्वतत्त्वः सतत्त्वो निरञ्जनो रञ्जनो निःप्रकारः ।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो विश्वेश्वरः सर्वमयो न सर्वः ॥६॥

सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुङ्क्ते सर्वश्चायं भूतसर्गो यतश्च ।
न चास्यान्यत् कारणं सर्गसिद्धौ न चात्मानं सृजते नापि चान्यान् ॥७
निरिन्द्रियश्चक्षुषा वेत्ति शब्दान् श्रोत्रेण रूपं जिघ्रति जिह्वया च ।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन् सर्वेण सर्वं कुरुते मन्यते च ॥८॥
शब्दातीतः कथ्यते वावदूकैर्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानविद्भिः ।
बन्धातीतो बध्यते क्लेशपाशैर्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्पः ॥९॥
नायं ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णुर्ब्रह्मा चायं शङ्करश्चाच्युतश्च ।
अस्मिन् मूढाः प्रतिमाः कल्पयन्ते ज्ञातश्चाय न च भूयो नमोऽस्ति ॥१०
आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताशः सत्यं मिथ्या वसुधा मेघयानम् ।
ब्रह्मा कीटः शङ्करस्तार्क्ष्यकेतुः सर्वः सर्वं सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥११॥
स एवायं निभृता येन सत्त्वाः शश्वद्दुःखादुःखमेवापियन्ति ।
स एवायमृषयो यं विदित्वा व्यतीत्य नाकममृतं स्वादयन्ति ॥१२॥
विद्याविद्ये यत्र नो संभवेते यन्नासन्नं नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन् मृत्युर्नेहते न तु कामः स सोऽक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम् ॥१३॥
ओतप्रोताः पशवो येन सर्वे ओतः प्रोतः पशुभिश्चैष सर्वैः ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्य तेषां चायमीश्वरः सवरेण्यः ॥१४॥
तस्यैवैता रश्मयः कामधेनोर्याः पाप्मानमदुहानाः क्षरन्ति ।
येनाध्याता पञ्चजनाः स्वपन्ति प्रोद्बुद्धास्ते स्वं परिवर्तमानाः ॥१५॥
तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति हिरणमयं व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मनःशयं शतशाखप्रशाखं यस्मिन् बीजं विश्वमोतं प्रजानाम् ॥१६॥
स गीयते वीयते चाध्वरेषु मन्त्रान्तरात्मा ऋग्-यजुः-सामशाखः ।
अध.शयो विततांङ्गो गुहाध्यक्षः स विश्वयोनिः पुरुषो नैकवर्णः ॥१७॥

तेनैवैतद् विततं ब्रह्मजालं दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम् ।
अस्मिन् मग्ना मानवा मानशल्यैर्विवेष्ट्यन्ते पशवो जायमानाः ॥१८॥

अयमेवान्तश्चरति देवतानामस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
अयमुद्दण्डः प्राणभुक् प्रेतयानैरेष त्रिधा वृषभो रोरवीति ॥१९॥

अपां गर्भः सविता वह्निरेष
हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयानः ।
एतेन स्तम्भिता सुभगा द्यौर्नभश्च
गुर्वी चोर्वी सप्त च भीमयादसः ॥२०॥

मनः सोमः सविता चक्षुरस्य घ्राणं प्राणो मुखमस्याज्यपिबः ।
दिशः श्रोत्रं नाभिरन्ध्रमब्दयानं पादाविला सुरसाः सर्वमापः ॥२१॥

विष्णुर्बीजमम्भोजगर्भः शम्भुश्चायं कारणं लोकसृष्टौ ।
नैनं देवा विन्दते नो मनुष्या देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च ॥२२॥

अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षुरस्मिन्नस्तं गच्छति चांशुगर्भः ।
एषोऽजस्रं वर्तते कालचक्रमेतेनायं जीवते जीवलोकः ॥२३॥

अस्मिन् प्राणाः प्रतिबद्धाः प्रजानामस्मिन्नस्ता रथनाभाविवाराः ।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूलाः प्रतन्ति प्राणाशंसाः फलमिव मुक्तवृन्तम् ॥२४

अस्मिन्नेकशतं निहितं मस्तकानामस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च ।
महान्तमेनं पुरुषं वेद वेद्यमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२५॥

विद्वानज्ञश्चेतनोऽचेतनो वा स्रष्टा निरीहः स ह पुमानात्मतन्त्रः ।
क्षराकारः सततं चाक्षरात्मा विशीर्यन्ते वाचो युक्तयोऽस्मिन् ॥२६॥

बुद्धिर्बोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा बाह्यश्चायं स परात्मा दुरात्मा ।
नासावेकं ना पृथग् नाभि नाभौ सर्वं चैतत् पश्यतो यं द्विषन्ति ॥२७॥

सर्वात्मकं सर्वगतं परीतमनादि-मध्यान्तमपुण्य-पापम् ।
बालं कुमारमजरं च वृद्धं य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२८॥

नास्मिन् ज्ञाते ब्रह्मणि ब्रह्मचर्यं
नेज्या जापः स्वस्त्ययो नो पवित्रम् ।
नाह नान्यो नो महान् नो कनीयान्
निःसामान्यो जायते निर्विशेषः ॥२९॥

नैनं मत्वा शोचते नाभ्युपैति
नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा ।
नास्मिँल्लोके गृह्यते नो परस्मिन्
लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०॥

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥३१॥

नानाकल्पं पश्यतो जीवलोकं
नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च ।
यस्मिन्नेवं सर्वतः सर्वतत्त्वे ।
दृष्टे देवे नो पुनस्तापमेति ॥३२॥

※

१०. दशमी द्वात्रिंशिका ।

अविग्रहमनाशंसमपरप्रत्ययात्मकम् ।
प्रोवाचामृतं तस्मै वीराय मुनये नमः ॥१॥

स्वशरीरमनोऽवस्थाः पश्यतः स्वेन चक्षुषा ।
यथैवाऽयं भवस्तद्वदतीतानागतावपि ॥२॥
किमत्राहं किमनहं किमनेकः किमेकधा ।
विदुषा चोद्यतं चक्षुरत्रैव च विनिश्चयः ॥३॥
मोहोऽहमस्मीत्याबन्धः शरीरज्ञानभक्लिषु ।
ममत्वविषयास्वादद्वेषात् तस्मात् तु कर्मणः ॥४॥
जन्मकर्मविशेषेभ्यो दुःखापातस्तदेव वा ।
आजस्रिकमपध्यानाद् नानात्मव्यक्तचक्षुषाम् ॥५॥
पिपासाऽभ्युदयः सर्वो भवोपादानसाधनः ।
प्रदोषापायापगमादार्त्तरौद्रे तु ते मते ॥६॥
आलम्बनपरीणामविशेषोद्भवभक्तयः ।
निमित्तमनयोराद्यं परिणामस्तु कारणम् ॥७॥
भवः प्रमादचिन्तादिप्रवृत्तिद्वारसंग्रहः ।
हिंसादिभेदोपचयः संवरैकपराभवः ॥८॥
परस्परसमुत्थानां विषयेन्द्रियसंविदः ।
पित्रादिवदभिन्नास्तु विषया भिन्नवृत्तयः ॥९॥
एकस्मिन् प्रत्ययेऽष्टाङ्गकर्मसामर्थ्यसंभवात् ।
नानात्वैकपरीणामसिद्धिरष्टौ तु शक्तितः ॥१०॥
नाहमस्मीत्यसद्भावे दुःखोद्वेगहितैषिता ।
न नित्यानित्यनानैक्यं कर्त्राद्येकान्तपक्षतः ॥११॥
उत्पत्तेरेव नित्यत्वमनित्यत्वं च गम्यते ।
प्रतीत्य संविद्भावस्तु कारकेष्वपनीयते ॥१२॥

जाति-लिङ्ग-परिमाण-काल-व्यक्तिप्रयोजना: ।
संज्ञा-मिथ्यापरा दृष्टाः परिक्षिण्यन्त्यचेतसः ॥१३॥
यथार्थं वा स्यात् संवन्धः शब्दादीन्द्रियचेतसाम् ।
तदस्य जगतः सत्त्वमात्मप्रत्ययलक्षणम् ॥१४॥
द्रव्य-पर्यायसंकल्पश्चेतस्तद्व्यञ्जकं वचः ।
तद् यथा यत्र यावच्च निरवद्येति योजना ॥१५॥
निषेकादिजरापाकपर्यन्तपौरुषं यथा ।
सम्यग्दर्शनभावादिप्रमादविधिस्तथा ॥१६॥
शब्दादिषु यथा लोकश्चित्रावस्थः प्रवर्तते ।
तद्वत् तमात्मप्रत्यक्षं त्याज्यमित्युभयो नयः ॥१७॥
घृणाऽनुकम्पापारुष्यं कार्पण्यं परिशुद्धये ।
व्रतोपव्रतयुक्तस्तु स्मृतिस्थैर्योपपत्तये ॥१८॥
उपधानविधिश्चित्रश्लेषाशयविशोधनः ।
न्याय्यो वातादिवैषम्यविशेषौषधकल्पवत् ॥१९॥
न विधिः प्रतिषेधो वा कुशलस्य प्रवर्तितुम् ।
तदेव वृत्तमात्मस्थं यत् कषायपरिपक्तये ॥२०॥
न दोषदर्शनाच्छुद्धं वैराग्यं विषयात्मसु ।
मृदुप्रवृत्त्युपायोऽयं तत्त्वज्ञानं परं हितम् ॥२१॥
श्रद्धावान् विदितापायः परिक्रान्तपरीषहः ।
भव्यो गुरुभिरादिष्टो योगाचारमुपाचरेत् ॥२२॥
शुचौ निष्कण्टके देशे समप्राणवपुर्मनाः ।
स्वरितकायासनजयं कुर्यादेकाग्रसिद्धये ॥२३॥

प्राणायामो वपुश्वित्रजाड्यदोषविशोधनः ।
शक्त्युत्कृष्टकलत्कार्यः प्रायेणैश्वर्यसत्तमः ॥२४॥
क्रूरक्लिष्टवितर्कात्मानिमित्तामयकण्टकात् ।
उद्धरेद् गतिशब्दादि वपुः स्वाभाव्यदर्शनात् ॥२५॥
चर-स्थिर-महत्-सूक्ष्मसंज्ञा-ज्ञानार्थ-सगतिः ।
यथासुखजयोपायमिति पायाज्जितं जिनम् ॥२६॥
इत्याश्रवनिरोधोऽयं कषायस्तम्भलक्षणः ।
तद्धर्म्यमस्माच्छुक्लं तु तमःशेषक्षयात्मकम् ॥२७॥
नेहारभणचारोऽस्ति केवलोदीरण-व्यये ।
अनन्तैश्वर्यसामर्थ्यात् स्वयं योगी प्रपद्यते ॥२८॥
तत् क्षीयमाणं क्षीणं तु चरमाभ्युदयेक्षणे ।
कैवल्यकारणं पङ्ककललाम्बुप्रसादवत् ॥२९॥
चक्षुर्वद् विषयाख्यातिरवधिज्ञान-केवले ।
शेषवृत्तिविशेषात् तु ते मते ज्ञान-दर्शने ॥३०॥
जगत्स्थितिवशादायुस्तुल्यवेद्यादपि त्रयम् ।
करोत्यात्मसमुद्घाताद् योगशान्तिरतः परम् ॥३१॥
सर्वप्रपञ्चोपरतः शिवोऽनन्त्यपरायणः ।
सद्भावमात्रप्रज्ञप्तिनिरुपाख्योऽथ निर्वृतः ॥३२॥
प्रदीपध्यानवद् ध्यानं चेतनावद् विचेष्टितम् ।
ते विकल्पवशाद् भिन्ने भव-निर्वाणवर्त्मनि ॥३३॥
जिनोपदेशदिङ्मात्रमितीदमुपदर्शितम् ।
यदवेत्य स्मृतिमतां विस्तरार्थो भविष्यति ॥३४॥

*

११. एकादशी गुणवचनद्वात्रिंशिका ।

समानपुरुषस्य तावदपवादयन् कीदृशः
किमेव तु महात्मनामपरतन्त्रधीचक्षुषाम् ।
अपास्य विनय-स्मृती भुवि यशः स्वयं कुर्वता
त्वयाऽतिगुणवत्सलेन गुरवः परं व्यंसिता ॥१॥

श्रीराश्रितेषु विनयाभ्युदयः सुतेषु
बुद्धिर्नयेषु रिपुवासगृहेषु तेजः ।
वक्तुं यथाऽयमुदितप्रतिभो जनस्ते
कीर्तिं तथा वदतु तावदिहेति कश्चित् ॥२॥

एकां दिशं व्रजति यद् गतिमद् गतं च
तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु ।
यातं कथं दशदिगन्तविभक्तमूर्तिं
युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते ॥३॥

सत्यं गुणेषु पुरुषस्य मनोरथोऽपि
श्लघ्यः सतां ननु यथा व्यसनं तथैतत् ।
यत् पश्यतः समुदितैरबला व्युपास्ता
कीर्तिस्तथा श्रुतिमुखानि वनानि याता ॥४॥

एतद् भो बृहदुच्यते हसतु मा कामं जनो दक्षिणः
स्वार्थारम्भपटुः परार्थविमुखो लज्जानपक्षो भवान् ।
योऽन्यक्लेशसमर्ज्जितान्यपि यशांस्युत्सार्य लक्ष्मीपथा
कीर्त्यैकार्णववर्षिणाऽपि यशसा नाद्यापि संतृप्यसे ॥५॥

चाटुप्रीतेन मुक्ता यदियमगणिता दीयते राजलक्ष्मी-
रन्योऽन्येभ्यो नृपेभ्यस्त्वदुरसि नृपते ! याऽपि विश्रम्भलीना ।
मा भूदेष प्रसङ्गो निरनुनयमतेरस्य मय्यप्यतस्ते
कीर्तिस्तेनाप्रमेया नु विनयचकिता सागरानप्यतीता ॥६॥

अवश्यं कर्तव्यः श्रियमभिलषता पक्षपातो गुणेषु
प्रसन्नायां तस्यां कथमिव च न ते लालनीया भवेयुः ।
किमेषां वृत्तान्तं न वहसि नृपते ! लालनीया त्वदाज्ञा
महेन्द्रादीनां यद्गुणपरितुलनादुर्विनीता गुणास्ते ॥७॥

अन्येषां पार्थिवानां भ्रमति दश दिशः कीर्तिरिन्दुप्रभावत्
त्वत्कीर्त्तेर्नास्ति शक्तिः पदमपि चलितुं किं भयात् सौकुमार्यात् ।
आ ज्ञातं नैतदेवं श्रुतिपथचकिता तेन गच्छत्यजस्रं
कीर्तिस्तेषां नृपाणां तव तु नरपते ! नास्ति कीर्तेरयातम् ॥८॥

अन्येऽप्यस्मिन् नरपतिकुले पार्थिवा भूतपूर्वा-
स्तैरप्येवं प्रणतसुमुखैरुद्धृता राजवंशाः ।
न त्वेवं तैर्गुरुपरिभवः स्पृष्टपूर्वो यथायं
श्रीस्ते राजन्नुरसि रमते सत्यभामासपत्नी ॥९॥

अगतिविधुरैर्लक्ष्मीं दृष्ट्वा चिरस्य सहोषितां
यदि किल परैरेकीभूतैर्गुणैस्त्वमुपाश्रितः ।
इति गुणजितं लोकं मत्वा नरेन्द्र ! सुरायसे
वदतु गुणवान् बुद्धयादीनां गुणः कतमस्तव ॥१०॥

गन्धद्विपो मधुकरानिव पङ्कजेभ्यो
दानेन यो रिपुगणान् हरसि प्रवीरान् ।

चित्रं किमत्र यदि तस्य तवैव राज-
न्नाज्ञां वहन्ति वसुधाधिपमौलिमालाः ॥११॥

एकेयं वसुधा बहूनि दिवसान्यासीद् बहूनां प्रिया
वेश्याऽन्योऽन्यसुखाः कथं नरपते ! ते भद्रशीला नृपाः ।
ईर्ष्यामत्सरितेन साऽद्य भवतैवात्माङ्कमारोपिता
शेषैस्त्वत्परितोषभावितगुणैर्गोपालवत् पाल्यते ॥१२॥

गुहाध्यक्षाः सिंहाः प्रमदवनचरा द्वीपि-शार्दूलपोताः
कराग्रैः सिच्यन्ते वनगजकलभैर्दीर्घिकातीरवृक्षाः ।
पुरद्वाराक्षा दिशि दिशि महिषा यूथगुल्माग्रशूराः
रुषानुध्यातानामतिललितमिदं जायते विद्विषां ते ॥१३॥

निर्मूलोच्छिन्नमूला भुजपरिघपरिस्पन्ददृप्तैर्नरेन्द्रैः
संक्षिप्तश्रीवितानाः मृगपतिपतिभिः शत्रुदेशाः क्रियन्ते ।
किन्त्वेतद् राजवृत्तं स्वरुचिपरिचयः शक्तिसंपन्नतेयं
भङ्क्त्वा यच्छक्रवंशानुचितशतगुणान् राष्ट्रलक्ष्म्याः करोषि ॥

सर्वेऽप्येकमुखा गुणा गुणपतिं मानं विना निर्गुणा
इत्येवं गुणवत्सलैर्नृपतिभिर्मानः परित्यज्यते ।
नान्यश्चैष तवापि किं च भवता लब्धास्पदस्तेष्वसौ
मत्तेनेव गजेन कोमलतरुर्निर्मूलमुन्मूल्यते ॥१५॥

यत् प्राप्नोति यशस्तव क्षितिपते ! भ्रूभेदमुत्पादयन्
किं तत् त्वच्चरणोपसन्नमुकुटः प्राप्नोति कश्चिन्नृपः ।
इत्येवं कुरुते स वल्लभयशास्त्वच्छासनातिक्रमं
दर्पासूचितसम्मुखो न हि मृगः सिंहस्य न ख्याप्यते ॥१६॥

प्रसादयति निम्नगाः कलुषिताम्भसः प्रावृषा
पुनर्नवसुखं करोति कुमुदैः सरःसङ्गमम् ।
विघाटयति दिङ्मुखान्यवपुनाति चन्द्रप्रभां
तथापि च दुरात्मनां शरदरोचकस्त्वद्द्विषाम् ॥१७॥

न वेद्मि कथमप्ययं सुररहस्यभेदः कृत-
स्त्वया युधि हतः परं पदमुपैति विष्णोर्यथा ।
अतः प्रणयसंसृतामविगणय्य लक्ष्मीमसौ
करोति तव सायकक्षममुरः सिषुत्सुर्नृप ! ॥१८॥

अन्योऽन्यावेक्षया स्त्री भवति गुणवती प्रायशो विष्णुता वा
लोकप्रत्यक्षमेतत् क्षितिविषमतया चञ्चला श्रीर्यथाऽसीत् ।
सैवान्यप्रीतिदानात् तव भुजवलयान्तःपुरप्राप्तमाना-
मुर्वीं दृष्ट्वा दयावत्स ! लघुसुचरिताहारसख्यं करोति ॥१९॥

प्रसूतानां वृद्धिः परिणमति निःसंशयफला
पुरावादश्चैष स्थितिरियमजेयेति नियमः ।
जगद्वृत्तान्तेऽस्मिन् विवदति तवेयं नरपते !
कथं वृद्धा च श्रीर्न च परुषितो यौवनगुणः ॥२०॥

अन्तर्गूढसहस्रलोचनधरं भ्रूभेदवज्रायुधं
कस्त्वां मानुषविग्रहं हरिरिति ज्ञातुं समर्थो नरः ।
यद्येते मघवन् ! जगद्धिततरास्त्वा वल्लभा स्वामिन-
स्त्वद्भ्रूदेशपटुप्रकीर्णसलिला न व्यापयेयुर्घनाः ॥२१॥

महीपालोऽसीति स्तुतिवचनमेतन्न गुणजं
महीपालः खिन्नामवनिमुरसा धारयति यः ।

यदा तावद् गर्भे त्वमथ सकलश्रीः वसुमती
किमेवायुष्मान् नवशिवमितां पश्यति महीम् ॥२२॥
शतेष्वेकः शूरो यदि भवति कश्चिन्नयपटु-
स्तथा दीर्घापेक्षी रिपुविजयनिःसाध्वसपरः ।
तदेतत् संपूर्णं द्वितयमपि येनाद्यपुरुषे
श्रुतं वा दृष्टं वा स वदतु यदि त्वा न वदति ॥२३॥
अयनविषमा भानोर्दीप्तिर्दिनक्षयपेलवा
परिभवसुखं मत्तैर्मत्तैर्घनैश्च विलुप्यते ।
सततसकला निर्व्यासङ्गं समाश्रितशीतला
तव नरपते ! दीप्तिः साम्यं तया कथमेष्यति ? ॥२४॥
को नामैष करोति नाशयति वा भाग्येष्वधीनं जगत्
स्वातन्त्र्ये कथमीश्वरस्य न वशः स्रष्टुं विशिष्टाः प्रजाः ।
लब्धं वक्तृयशः सभास्विति चिरं तापोऽद्य तेजस्विना-
मिच्छामात्रसुखं यथा तव जगत् स्यादीश्वरोऽपीदृशः ॥२५॥
गण्डेष्वेव समाप्यते विवदतां यद् वारणानां मदो
यद्वा भूमिषु यन्मनोरथशतैस्तुष्यन्ति तेजस्विनः ।
यत्कान्तावदनेषु पत्ररचना सङ्गश्च ते मन्त्रिणां
तत् सर्वं द्विषता मनोऽनुगतया कीर्त्याऽपराद्धं तव ॥२६॥
क्रमोपगतमपास्य युगभागधेयं कले-
रपर्वणि य एष ते कृतयुगावतारः कृतः ।
भवेदपि महेश्वरस्त्रिभुवनेश्वरो वाऽच्युतो
विधातुरपि नूनमद्य जगदुद्भवे संशयः ॥२७॥

गुणो नाम द्रव्यं भवति गुणतश्च प्रभवति
गुणापेक्षं कर्माऽप्यनुशयमारम्भविषयम् ।
विभु स्यात् किं द्रव्यं गुणजमुत वान्यः पदविधि-
र्दिशो दिक्पर्यन्तं तव किमिति शक्यं गमयितुम् ॥२८॥

*

१२. द्वादशी न्यायद्वात्रिंशिका ।

दैवखातं च वदनमात्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ? ॥१॥

अभिष्टुवन्ति यत् स्वैरं नृपगोष्ठ्यां नृपुङ्गवाः ।
असत्संदिग्धमुक्तानि कृषास्तेन कृपात्मकाः ॥२॥

प्रगद्वृत्तान्तगहनाद् विश्लिष्य प्रहृता गिरः ।
योजयत्यर्थगम्या यः शब्दब्रह्म भुनक्ति सः ॥३॥
प्रसिद्धशब्दार्थगतिर्ज्ञानं जात्यन्धपश्च यः ।
न स स्वयं प्रवक्तारमुपास्ते तन्त्रयुक्तिषु ॥४॥
दुरुक्तानि निवर्तन्ते सूक्ते नास्ति विचारणा ।
पुरुषो ब्राह्मणः विप्रः पुरुषो वेति वा यथा ॥ ५॥
न सामान्य-विशेषाभ्यामृतेऽन्याहेतु जायते ।
तद् विशेष-विघाताभ्यां हेत्वाभासोपजातयः ॥६॥
द्वितीयपक्षप्रतिघाः सर्व एव कथापथा ।
अभिधानार्थविभ्रान्तैरन्योऽन्यं तद् विप्रलभ्यते ॥७॥

समं संशय्यते यत्र सामान्यमलिनं धिया ।
विचारं पुनरुक्तार्थं विशेषाय स संशयः ॥८॥
प्रतिज्ञानिर्णयो हेतुर्दृष्टान्तं बुद्धिकारणम् ।
प्रमाणहेतुदृष्टान्तजातितर्कास्तदुक्तयः ॥९॥
लोकधर्मोऽभ्यनुज्ञात सिद्धान्तो वाग्नियामकः ।
अङ्गधर्मविकल्पाभ्यां प्रमेयोपचयाचयौ ॥१०॥
अविद्यार्थानवगमो विरूपाप्रतिपत्तित. ।
हेत्वाभासश्च निर्वादिष्वियमेव तु भूयसी ॥११॥
किञ्चित् सामान्य-वैशेष्यादयुक्तार्थोपपादनम् ।
छलं तदिति वैस्पष्ट्याद वाच्याभिप्रायभेदतः ॥१२॥
व्यभिचारात् परं नास्ति परपक्षप्रदूषणम् ।
हेतुपर्यन्तयोगाच्च तस्मात् पक्षोत्तरो भवेत् ॥१३॥
संशयः प्रतिदृष्टान्तविरोधापत्तिहानयः ।
प्रतिपक्षविकल्पौ च व्यभिचारार्थपर्ययाः ॥१४॥
अकारणत्वान्निर्देशा साध्यत्वाद्यनुयोगजः ।
हेत्वन्तराभ्युपगमः पुनरुक्तादतः परम् ॥१५॥
एकपक्षहता बुद्धिर्जल्पवाग्यन्त्रपीडिता ।
श्रुतसंभावनावैरि वैरस्यं प्रतिपद्यते ॥१६॥
तानुपेत्य वितण्डाऽस्ति नयस्येति विचारणा ।
सैव जल्पे विपर्यासो वितण्डैवेति लक्ष्यते ॥१७॥
न सिद्धान्ताभ्युपगमादितरः सार्वतन्त्रिकः ।
यस्येत्युक्तमनेकान्तादितरं नानुषज्यते ॥१८॥

विनिर्णयान्न सदेहः सर्वथोत्तरसभवात् ।
स एव हेतुश्चक्षुर्वन्नानिष्टप्रतिपत्तितः ॥१९॥
दृष्टान्तदूषणामोहो हानिपक्षाप्रसिद्धयः ।
वाचोयुक्त्युपपत्तिभ्यामत एव विपर्ययः ॥२०॥
अनभ्युपगमो लोक-शास्त्र-धर्मविकल्पितः ।
सामान्याभ्युपपत्तिभ्यां न समोऽनिष्टकल्पनात् ॥२१॥
अन्योऽन्योभयसामान्यसर्वसंगविशेषतः ।
सामान्यवाततसिद्धशास्त्रलोकोपपत्तितः ॥२२॥
अन्यथेति च वैधर्म्यमापत्तिव्यभिचारतः ।
प्रतिपत्तिविकल्पाच्च तत्सिद्धिः कृतसंभवात् ॥२३॥
पुनरुक्तमसंबद्धात् साम्यः सामर्थ्यदर्शनात् ।
मन्त्रवच्चेति नापार्थ्यप्रसङ्गानिष्टसिद्धयः ॥२४॥
पुनरुक्तवदायोज्यं हेतुवादान्तरोक्तये ।
समानोताङ्गसङ्कल्पं प्रश्नाकारणसिद्धयः ॥२५॥
तद्भावाच्चेत् प्रतिज्ञादि प्रत्येकं चानुपक्रमात् ।
कालप्राप्तिविकल्पाभ्यां सर्वसिद्धेश्च नार्थवत् ॥२६॥
क्वचित् किञ्चित् कथञ्चिच्चेत्यनुबन्धात् स लोपगः ।
कृताकृतविकल्पाभ्यां संशयप्रतिरूपतः ॥२७॥
न नाम दृढमेवेति दुर्बलश्चोपपत्तितः ।
वक्तृशक्तिविशेषात् तु तत् तद् भवति वा नवा ॥२८॥
तुल्यसामाद्युपायेषु शक्त्या युक्तो विशेष्यते ।
विजिगीषुर्यथा वाग्मी तथा भूयः श्रुतादपि ॥२९॥

सर्वपक्षकर्णैस्तुल्यं वादिनः सत्यतां विना ।
समानाभ्युपपत्तिं च जिह्व-रौक्षायुधा द्यमी ॥३०॥
प्राश्निकेश्वरसौमुख्य धारणा-क्षेपकौशलम् ।
सहिष्णुता परं धाष्टर्चमिति वादच्छलानि षट् ॥३१॥
किं परीक्ष्यं कृतार्थस्य किमेवेति च चक्षुषः ।
परानुग्रहसाधोस्तु कौशलं वक्तृकौशलम् ॥३२॥

*

१३. त्रयोदशी सांख्यप्रबोधद्वात्रिंशिका ।

सन्नित्यकर्तृनानात्वप्रतिपक्षोभयात्मकम् ।
गुणधर्ममृषिर्नाना पश्यन्नेवात्मनो भवम् ॥१॥
स्व-परानुग्रहद्वारमतिरासुरये स्वयम् ।
तमुपाख्यत् सुदेवाय तन्त्रार्थव्याससूरये ॥२॥
सत्त्वादिसाम्यं प्रकृतिर्वैषम्यं महदादयः ।
परस्परात्मकेनोष्णद्रवकार्कश्यवर्तिवत् ॥३॥
लाघवख्यातिसौख्यानि सत्त्वं दुःख-क्रिये रजः ।
ततोऽन्यद् बहिरन्तश्च तद्विकल्पोऽनिलादिवत् ॥४॥
श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमनुमानमनुस्मृतिः ।
कृत्स्नार्थसिद्धेर्नातोऽन्यच्छाब्दमात्मविशेषतः ॥५॥
आदिशब्दात् प्रवृत्तीनामर्थवत्त्वादनुग्रहात् ।
परिणामविशेषाच्च गुणचैतन्यवृत्तयः ॥६॥
गुणौदासीन्यमन्योऽन्यं चैतन्याद्धिकारतः ।
अभोक्तृत्वाच्च कर्तृत्वमङ्गाङ्गिपरिणामतः ॥७॥

ऐक्याादकर्ता पुरुषः कर्ताऽधिष्ठानशक्तितः ।
स्वातन्त्र्यादुपलब्धेश्च कार्यस्तु गुणभोजनात् ॥८॥
वैषम्यमात्रान्महतः कारणग्रामसंभवः ।
शब्दादयश्च व्योमादिविशेषास्तद्गुणात्मकाः ॥९॥
शब्दाद्यालोकसामर्थ्ये श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकम् ।
एतेनोक्ता विशेषाणां शब्दादिगुणभक्तयः ।१०॥
वाक्यादानगताऽऽनन्दत्यागान्यदुभयं विदुः ।
चैतन्यवद् देहवृत्तिः मनःसंवित्सुखादयः ॥११॥
प्राणादाकरणग्रामवृत्तिर्जीवनसंज्ञिका ।
तदभिव्यक्तिरन्यत्र बुद्ध्याशयवशाद् भवः ॥१२॥
शरीरे धृति-संश्लेष-पक्ति-व्यूहावकाशतः ।
पृथिव्यादिसमारम्भः परिणामस्तु पूर्वयोः ॥१३॥
श्रोत्रादीनां मनोवृत्तिः प्रतिपत्तिस्वयोगतः ।
शान्तादिविविधोदर्कः प्रत्ययार्थः प्रवर्तते ॥१४॥
सिद्धिरीहितनिष्पत्तिस्तुष्टिस्तद्देशवृत्तिता ।
अशक्तिः साधनादीनां वितथेष्टिर्विपर्ययः ॥१५॥
पुरुषार्थप्रवृत्तीनां निवृत्तीनां स्वभावतः ।
आविस्तिरोभाववती को गुणाना प्रमास्यति ॥१६॥
अनादिप्रचितं कर्म प्रलयान्त्यवपुर्मुखम् ।
प्रवृत्तौ तद्विधोपायं छिन्नवृक्षप्रमोदवत् ॥१७॥
अनभिव्यक्तविधस्य विदुषस्तद्भवाञ्चितम् ।
यथाविधोदयापायि प्रचितावपि सक्रमः ॥१८॥

ब्रह्माद्यष्टविधं दैवं सत्त्ववृत्तिविशेषतः ।
मानुष्यं च रजःशेषं स्वं वार्ततमसो जगत् ॥१९॥
अविवेकात्मको बन्धो गुणव्यापारलक्षणः ।
दक्षिणादिविकल्पस्तु बालिशप्रसभाङ्कुरः ॥२०॥
न ग्रहाः प्रतिबन्धाय नैकार्थ्ये वा प्रवृत्तये ।
तिर्यक्ष्वपि च सिद्ध्यन्ति व्यक्ता नानात्वबुद्धयः ॥२१॥
वैराग्यात् करणग्रामे तन्निरोधे परिश्रमः ।
न ह्यहेतोर्निमीलन्ति पुरुषार्थोत्थिता गुणाः ॥२२॥
ज्ञान-प्रसादौ वैराग्यमित्यविद्यातमोजितम् ।
को हि रागो विरागो वा कुशलस्य प्रवृत्तिषु ॥२३॥
यावद् रजस्तमोवृत्तिमहमित्यवमन्यते ।
परिष्वजति सत्त्वं च तावत् तेष्वेव गण्यते ॥२४॥
क्षुन्नद्रावणयोर्वृत्तमात्मभूतं विपश्चितः ।
न सम्यग्दर्शनोपायं तथाऽन्यदपि कोऽत्ययः ॥२५॥
सदाचारप्रवृत्तस्य क्रूरक्लिष्टक्रियस्य वा ।
सकृच्चाभ्युदिता ख्यातिर्न च किञ्चिद् विशिष्यते ॥२६॥
शेषवृत्ताशयवशात् साम्यप्रकृतिभेदवत् ।
समानप्रतिबोधानामसमानाः प्रवृत्तयः ॥२७॥
किमत्र शुद्धं श्लिष्टं वा किं वा कस्य प्रयोजनम् ।
कृतार्थता गुणेष्वेव गुणानामिति जायते ॥२८॥
भयं संबोधनं लिङ्गं किशोरप्राजनो यमः ।
न हि विज्ञान-चैतन्यनानात्वं प्राक् समिध्यते ॥२९॥

यस्तु केवलवाचादौ मायादृष्टार्थविक्रमैः ।
विकृष्टेषुरिव क्षिप्तः तमोऽम्भसि स नश्यति ॥३०॥
अहो दुर्गा गुणमतिः दुर्गं मोक्षाय नाम यत् ।
कथञ्चिदेव मुञ्चन्ति स्वपन् मन्दाभिसातिकः(?) ॥३१॥
चक्षुर्यत् पुरुषो भोक्ता बन्ध-मोक्षविलक्षणः ।
कृतार्थैः संप्रयुक्तोऽपि शून्य एव गुणैरिति ॥३२॥

*

१४. चतुर्दशी वैशेषिकद्वात्रिंशिका ।

धर्माधर्मेश्वरा लोकसिद्धयपायप्रवृत्तिषु ।
द्रव्यादिसाधान्नावेतौ द्रव्याद्या वा परस्परम् ॥१॥
द्रव्यमाधारसामर्थ्यात् स्वातन्त्र्यसंभवाद् गुणः ।
आनन्तर्याद् गुणेष्वेव कर्मेत्यारम्भनिश्चयः ॥२॥
संस्कारेण तदापेक्ष्यमेकद्रव्यक्षणस्थिति ।
कर्म कार्यविरोधि स्यादुभयोभयथा गुणः ॥३॥
अन्यतोऽन्येषु सापेक्ष्यस्तुल्यप्रत्ययदर्शनात् ।
द्रव्यादिभाव सत्तादिर्मध्यस्थावृत्तिलक्षणम् ॥४॥
प्रत्यक्षं विषयाख्यातिस्तत्संबन्धि विरोधि वा ।
अस्त्येवमिति तुल्यत्वेऽप्यनुमानं त्रिधा त्रिधा ॥५॥
संयोगजत्वात् कार्यस्य कारणं परमाणवः ।
दृष्टवान्नैकजातीयास्तेषां सन्त्येव पाकजाः ॥६॥
पृथिव्यादीनि खान्तानि वैशेषिकगुणार्पणात् ।
प्राणादियानायानेन तच्छेषगुणसंभव ॥७॥

वाय्वन्तानां न रूपादिजन्मधर्मविशेषतः ।
शब्दोऽनित्यस्तु साधर्म्यात् सर्वार्थत्वाच्च नार्थवत् ॥८॥
रूपादीनां स्वजातीयाः सामर्थ्याद् वसुधादयः ।
पृथक्शरीरजनका हेतुभेदात् त्वयोनिजम् ॥९॥
त्वक्चक्षुर्ग्रहणं द्रव्यं रूपाद्याश्चक्षुरादिभिः ।
संख्यादिभावकर्माणि यथोपाश्रययोगतः ॥१०॥
सेतरैर्युगपत्क्षिप्रपरत्वैः कालसंभवम् ।
इदमस्मादिति दिशो नानाकार्यविशेषतः ॥११॥
आत्मेन्द्रियादिसंयोगे बुद्ध्यभावाच्च मानसः ।
बुद्ध्यादेरात्मनः खादि शब्दादिविभवान्महत् ॥१२॥
प्रपञ्चादपि दीर्घं वा ह्रस्वं वा परिमण्डलम् ।
रूप-स्पर्शवदेकत्वपृथक्त्वे वृत्तिजन्मतः ॥१३॥
क्रियावतोर्वा तुल्य च संवियोगावुनस्थितौ ।
कारणं ध्वनिराभ्यां च सतानात् सलिलोर्मिवत् ॥१४॥
देश-कालविशेषाभ्यां परं च गुणकर्मणाम् ।
ऐक्यादाश्रयतद्वृत्ताभावे तद्बुद्धिधर्मत· ॥१५॥
द्रव-गौरव-सयोग-यत्न-सस्कारजा· क्रियाः ।
अदृष्टाच्चेति तत्सज्ञा-विकल्पौ व्यवहारतः ॥१६॥
संबन्धाद् बुद्ध्यपेक्षश्च कार्यं चाज्ञस्य बुद्धयः ।
सज्ञास्तु भाव-द्रव्यादिनिमित्ताः समयात्मिकाः ॥१७॥
निरुक्तार्थोपचाराभ्यामेता जातिविभक्तिषु ।
हिनोति हीयते वेति हेतु गृह्णन्त्यमी गृहाः ॥१८॥

अन्योऽन्यथा स द्रव्यादिसत्ताभावात् सदान्तरम् ।
अनारम्भाविनाशाच्च तेषु स्मृतिविरोधिनः ॥१९॥
अभूदभूताद् भवतीत्यपेक्षा चापि कारणात् ।
भविष्यतीति दृष्टत्वात् कार्यान्तरनियोगतः ॥२०॥
आत्ममानससंयोगविशेषादेव खादिषु ।
सामान्यात् संशयः स्वप्न. स्मृतीश्चादृष्टसंस्कृतैः ॥२१॥
संप्रबुद्धेषु विज्ञानमभिसन्धिविशेषतः ।
सतत्त्वव्यञ्जनं तेषां प्रदीपद्रव्ययोगवत् ॥२२॥
अभ्यूहादङ्कुरैः सौक्ष्म्यान्नैकदीपप्रकाशवत् ।
एतेनाक्ष-मनो-बुद्ध्याद्यसंकरविनिर्णयः ॥२३॥
अक्षप्रदोषाध्यारोपविद्यासुखप्रमाणतः ।
इच्छाद्वेषवतो यस्माद् धर्माधर्मविकल्पतयः ॥२४॥
शुद्धाभिसन्धिर्यः कश्चित् काय-वाङ्-मानसो विधिः ।
सर्वोऽदृष्टविशेषाय यस्य यत्र यदा यथा ॥२५॥
द्रव्यादीन्यक्षतार्थस्य प्रसादोदयसाधनम् ।
तत्सामान्यफलान्यैक्यादृते त्वक्षादिकल्पना ॥२६॥
यथापदार्थविज्ञानं विद्यादृष्टिविशेषतः ।
तत्स्थैर्यमेव वैराग्य ग्रन्थार्थप्रतिपत्तिवत् ॥२७॥
एवमात्मादिसंयोगेनाभिसन्धौ विपश्चितः ।
नवं न चीयते बीजं पुराणं चापचीयते ॥२८॥
प्राणायामादिसामर्थ्यादैश्वर्याच्चोपभोगतः ।
प्राणोत्थितौ मनोऽतन्त्रं न पुनः संप्रयुज्यते ॥२९॥

इहेदमिति संम्बन्धः समवायोऽस्ति भाववत् ।
संज्ञालक्षणतत्त्वार्थो नानैव तु जगद्विधेः ॥३०॥
नातिप्रसङ्गो घटवत् सशयानुपपत्तितः ।
तमभेदेन सस्थानादेकतश्चेतराविधिः ॥३१॥
संशयप्रश्नसमान्य-विशेषप्रविभागतः ।
स्व-परप्रत्यवस्थानवैशेषिकपदान्वयः ॥३२॥

*

१५. पञ्चदशी बौद्धसन्तानद्वात्रिंशिका ।

नाहंकृतस्य निर्वाण न सेत्स्यत्यनहकृतः ।
न चाविद्या विवेकाय न विद्या भवगामिनी ॥१॥
अन्योऽन्यविषयान् पश्यन् पुद्गलस्कन्धशून्यताः ।
न जानाति शमैकार्था बुद्धाना धर्मदेशनाः ॥२॥
संख्यादिभेदादन्यत्वं भवाच्चान्योऽन्यसङ्करः ।
स्कन्ध-पुद्गलयोर्यस्मात् स्कन्धमात्रागतः पुमान् ॥३॥
सेनावनवदेकान्तबुद्धेः प्रज्ञप्तिसौष्ठवात् ।
कीलवत् क्रियते मिथ्या मानकीला प्रवृत्तये ॥४॥
ममत्वाभिगमात् सत्त्वस्तच्च्युतो भ्रष्टराजवत् ।
भारहारादियोगास्तु व्याससग्रहणाङ्गवत् ॥५॥
अवक्तव्यमसद्भावात् प्रश्नार्थस्य खपुष्पवत् ।
संतान भावनार्थं वा सरित्प्रातप्रदीपवत् ॥६॥
महाभूतोच्छ्रयो रूप विज्ञानं विषयो नयः ।
देवनाटच्चपृथग्भावो नृजात्यादिविकल्पवत् ॥७॥

विपर्यासात्मकं मोहसङ्गात् तृष्णा स्मृतेर्मनः ।
संकल्पश्चेतनाकर्म चेतयित्वोपचारतः ॥८॥
चक्षूरूपादिसंस्कारसमुत्थं सर्वजातिषु ।
विज्ञानमिव ज्ञातीनां नानात्वमिति ज्ञातितः ॥९॥
चित्तवद् रूपकार्यस्य वैलक्षण्यं क्षणे क्षणे ।
तद्धि जात्यन्तरं तुल्य न वाध्यत्युपपत्तितः ॥१०॥
सत्त्वोपचारौ व्युच्छिन्नौ स्कन्धानां पञ्चकल्पवत् ।
शून्यता वा प्रतिष्ठत्वादेतदेव प्रपञ्चितम् ॥११॥
स्कन्धप्रकारं पश्यन्तो जगत्पुष्पोपकारवत् ।
किमस्तीत्युपगच्छेयु किमेव तु ममेति वा ॥१२॥
बाह्यमायतन नात्मा यथा नेत्रादयस्तथा ।
तद्विकल्पगतिश्चित्त-मनः कस्यात्र किं यथा ॥१३॥
हेतुप्रत्ययवैचित्र्यात् तानेवमिति भक्तयः ।
कथं हि संप्रधार्येत भावो भावविशेषतः ॥१४॥
समोहात् स्मरणात् तत्त्वकलाभावान्न कर्मणः ।
क्षणिकत्वादिशुद्धेश्च निर्वाणाच्च प्रदीपवत् ॥१५॥
निर्वाणं सर्वधर्माणामविकल्पं क्षणे क्षणे ।
हेतुप्रत्ययभेदात् तु तदन्त इव लक्ष्यते ॥१६॥
संसारे सति निर्वाणं क्षणिकस्य गतिः कुतः ।
जन्मवत् तेन चित्तस्य निर्वाणमपि संस्कृतम् ॥१७॥
यत् संस्कृतमनित्यं तद् भङ्गादन्योऽन्यसंस्कृतम् ।
निर्वाणमनसां यस्माद् मुक्तेर्विप्रतिषेधनात् ॥१८॥

धर्मवद् विषयेभ्योऽपि यदा विज्ञानसंभवः ।
संस्कारेभ्यस्तदा जन्म किं तस्य कुरुते क्षमा ॥१९॥
न पूर्वा न परा कोटिः विद्यते वाक्फलं मतेः ।
पूर्वविप्रतिषेधस्तु हेतुप्रत्ययसम्भवात् ॥२०॥
अहेतु-प्रत्ययनयं पूर्वापरसमाभवम् ।
विज्ञानं तत्समुत्थं कः संव्यवस्येद् विचक्षणः ॥२१॥
दर्पणस्थमिव प्रज्ञामुखबिम्बमतन्मयम् ।
तत्समुत्थं च मन्यन्ते तद्वत्प्रत्ययजन्मनः ॥२२॥
न सामग्रीस्वभावोऽयमतो नाज्ञानभेदतः ।
स्वप्नोपलब्धस्मरणं निवृत्तिश्च न नेत्यपि ॥२३॥
न चानिष्टप्रयोगो नः कुशलप्रतिपत्तिवत् ।
मन्यमानो हि दोषं वा गुणं वा परिकल्पयेत् ॥२४॥
पटहध्वनिवल्लोकः कल्पनामनुवर्तते ।
यतः स्वभावो भावो वा तस्य वक्तुं न युज्यते ॥२५॥
न चोपदेशवैफल्यं रूपविज्ञानजन्मवत् ।
दुःखमुत्पद्यते तस्य स्वार्थहानमयुक्तिवत् ॥२६॥
न चास्यागन्तुसंक्लेशः शुद्धिर्वा भक्तयस्त्विमाः ।
स्मृतिसङ्गसमाः किन्तु तेजस्यरणिवृत्तिवत् ॥२७॥
चित्तचारवशात् सङ्गः स्मृतिवन्न विरुध्यते ।
संस्कारायतनापेक्षं निरोधापत्त्यनन्तरम् ॥२८॥
अङ्कुरव्यक्तिनिष्पत्तिश्चेत सत्त्वस्य तन्न कथम् ।
अविद्या-तृष्णयोर्यद्वन्न नानात्वं न चैकता ॥२९॥

समविज्ञानयोस्तद्वद् वेद्ये कान्तमतः शिवम् ।
श्रोतःप्राप्त्यादिरस्यास्तु विकल्पोऽरणिवह्निवत् ॥३०॥
एकचित्तेऽपि वा कृत्स्नदुःखज्ञानोपपत्तितः ।
ग्राममोहक्षमोदर्कः शासनप्रणयो मुनेः ॥३१॥

*

१६. षोडशी नियतिद्वात्रिंशिका ।

नित्यानन्तरताव्यक्तिसुख-दुःखाभिजातयः ।
स्वभावः सर्वसत्त्वानां पयःक्षीराङ्कुरादिवत् ॥१॥
धर्माधर्मात्मकत्वे तु शरीरेन्द्रियसंविदाम् ।
कथं पुरुषकारः स्यादिदमेवेति नेति वा ॥२॥
शरीरेन्द्रियनिष्पत्तौ यो नाम स्वयमप्रभुः ।
तस्य कः कर्तृवादोऽस्तु तदायत्तासु वृत्तिषु ॥३॥
धर्माधर्मौ तदाऽन्योऽन्यनिरोधातिशयक्रियौ ।
देशाद्यपेक्षौ च तयोः कथं यः कर्तृसम्भवः ॥४॥
यत्प्रवृत्त्योपमर्देन वृत्तं सदसदात्मकम् ।
तद्धेतरनिमित्तं वेत्युभयं पक्षघातकम् ॥५॥
न दृष्टान्तकृतासक्तेः स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते ।
अनिमित्तं निमित्तानि निमित्तानीत्यवारितम् ॥६॥
विश्वप्राय पृथिव्यादिपरिणामोऽप्रयत्नतः ।
विषयस्तत्प्रबोधस्ते तुल्ये यस्येति मन्यते ॥७॥
नोक्ताभ्यां सह नोत्पादात् सममध्यक्षसंपदि ।
विनाशानुपपत्तेश्च भोज्य-भक्ष्यविकल्पतः ॥८॥

पृथिव्या नावरुध्येत यथा वा राजतक्रिया ।
गुणानां पुरुषे तद्वदहं कर्त्रेत्यदःकृते ॥९॥
सुदूरमपि ते गत्वा हेतुवादो निवर्त्स्यति ।
न हि स्वभावानध्यक्षो लोकधर्मोऽस्ति कश्चन ॥१०॥
प्रवर्तितव्यमेवेति प्रवर्तन्ते यदा गुणाः ।
अथ किं सम्प्रमुग्धोऽसि ज्ञान-वैराग्यसिद्धिषु ॥११॥
धर्माद्यष्टाङ्गता बुद्धेर्न विरोधकृते च यैः ।
चक्षुराद्यनिमित्तत्वाद् वितथप्रत्ययादपि ॥१२॥
असतो हेतुतो वेति प्रतिसन्धौ च विग्रहः ।
असंस्तु हेतुर्धीमात्रं कर्तेति च विशिष्यते ॥१३॥
भङ्गुरश्रवणाद्यर्थसंविन्मात्रे निरात्मके ।
रागादिशान्तौ यत्नस्ते कथं कस्य किमित्ययम् ॥१४॥
कर्मजः प्रत्ययो नाम कर्म च प्रत्ययात्मकम् ।
तत्फलं निरयाद्यश्च न च सर्वत्र विस्मृतः ॥१५॥
ज्ञानमव्यभिचारं चेज्जिनाना मा श्रमं कृथाः ।
अथ तत्राप्यनेकान्तो जिताः स्मः किन्तु को भवान् ॥१६॥
एकेन्द्रियाणामव्यक्तेरजात्यन्तरसङ्गतौ ।
व्यक्तानां च तदादौ का रागादिप्रविभक्तयः ॥१७॥
न संसरत्यतः कश्चित् स्व-परोभयहेतुकम् ।
अभिजातिविशेषात् तु मिथ्यावादमुखो जनः ॥१८॥
चैतन्यमपि नः सत्त्वो मोहादज्ञानलक्षण. ।
तदादि तद्वत्संकल्पो मिथ्याराशि प्रवर्तते ॥१९॥

तुल्यप्रसङ्गो नानात्वे तुल्यनैकेन बाध्यते ।
अकस्मात् कारणावेशौ हेतुधर्माद्विशेषतः ॥२०॥
स्पर्शनादि-मनोऽन्तानि भूतसामान्यजातिमान् ।
मनोहन्नियतं द्रव्यं परिणाम्यनुमूर्ति च ॥२१॥
स्पर्शैकविषयत्वादिस्तत्त्वान्ताः क्रमजातयः ।
अरूपादनभिव्यक्तभेदाः कृष्णाभिजातयः ॥२२॥
यथा दुःखादिनिरयास्तिर्यक्षु पुरुषोत्तमाः ।
रक्तायामजनायां तु सुखजा न गुणोत्तराः ॥२३॥
हिंसाविद्याभिचारार्थः पूर्वान्ते मध्यमः शमः ।
सम्यग्दर्शनभावान्ता प्रतिबुद्धस्त्वयोजितः ॥२४॥
न चोपदेशो बुद्धेः स्याद् रवि-पङ्कजयोगवत् ।
तत्त्वं च प्रतिबुद्धचन्ते तेभ्यः प्रत्यभिजातयः ॥२५॥
समानाभिजनेष्वेव गुरुगौरवमानिनः ।
स्वभावमधिगच्छन्ति न ह्यग्निः सममिध्यति ॥२६॥
प्रवृत्त्यन्तरिका व्याजविभङ्गस्वप्नसंभवात् ।
न जात्यः संस्मृतेरुक्तं सङ्करोऽन्तरिकान्तजाः ॥२७॥
सुरादिक्रम एकेषां मानसा ह्युत्क्रमक्रमात् ।
सुख-दुःखविकल्पाच्च खण्डिर्यानोऽभिजातयः ॥२८॥
व्योमावकाशो नान्येषां कालो द्रव्यं क्रिया विधिः ।
सुख-दुःखरजोधातुर्जीवाजीव-नभांसि च ॥२९॥
अनुमानं मनोवृत्तिरन्वयनिश्चयात्मिका ।
त्रैकाल्याज्ञादिवृत्तान्ता हेतुरव्यभिचारतः ॥३०॥

संज्ञासामान्यपर्यायशब्दद्रव्यगुणक्रियाः ।
एतेनोक्ताः पृथक् चेति व्यवहारविनिश्चयः ॥३१॥
न नाम तत्त्वमेवैतन्मिथ्यात्वापरबुद्धयः ।
न चार्थप्रतिषेधेन न सिद्धार्थश्च कथ्यते ॥३२॥

※

१७. सप्तदशी द्वात्रिंशिका ।

न दुःखेन विरुध्येते धर्माधर्मौ सुखेन वा ।
प्रत्ययाव्यभिचारित्वात् स्व-परोभयवृत्तिषु ॥१॥
देश-कालनिमित्तानि निमित्तान्यनियोगतः ।
नियोगतो वा तत्सिद्धौ न वाऽध्यात्मविशेषतः ॥२॥
सुव्रतानि यमाः वृत्तं यथाध्यात्मविनिश्चयम् ।
दीक्षाचारस्तु शैक्षाणां वर्त्मस्थैर्यानुवृत्तये ॥३॥
अपुण्यप्रतिषेधो वा व्रतं पुण्यागमोऽपि वा ।
युगपत् क्रमशो वेति विपक्षोरुभयं भयम् ॥४॥
व्रताभ्युपगमः शुद्धः परिणामो न नेष्यते ।
तदानन्तर्यवृत्तिस्तु मिथ्यादृष्टिर्निवार्यते ॥५॥
न मिथ्यादर्शनात् पापं न सम्यग्दर्शनाच्छुभम् ।
न च नेति कषायाणां तद्वृत्त्यव्यतिरेकतः ॥६॥
क्षयवृद्धिः कषायाणां मिथ्यादृष्टेरसंक्रमात् ।
वैषम्यलक्षणो बन्धस्तदाद्यस्तु विकल्पतः ॥७॥
मिथ्यादृष्टेरभिप्राया पञ्च चैकक्षणाश्रवे ।
कायिकादिक्रियाचारः पापमेवेत्यसंशयम् ॥८॥

नान्योऽन्यमनुवर्तेते कृताभ्युपगमेतरौ ।
तुल्यदोषगुणस्थानौ न कषायक्रमोऽप्यतः ॥९॥
कषायचिह्नं हिंसादि प्रतिषेधस्तदाश्रयः ।
अपायोद्वेजनो बालो भीरूणामुपदिश्यते ॥१०॥
हिंसादिवत् कषायेभ्यो न जन्म-मरणापदः ।
निमित्तान्तरहेतुत्वाद् गुणतस्तूपचर्यते ॥११॥
कल्पाकल्पमतो द्रव्यमचिन्त्यं सर्पिरादिवत् ।
दोषप्रचयवैषम्यादातुरस्तु परीक्ष्यते ॥१२॥
एकमूर्तिः परीणामः शुद्धिराचारलक्षणम् ।
गुणप्रत्येकवृत्तानां पुरुषाशयशक्तितः ॥१३॥
क्रोध-जिह्म-परिष्वङ्ग-मान-वेदाम्बुमक्षयाः (?) ।
युगपद् वा क्रमाद् विद्याद् यावद् यत्रानुविध्यते ॥१४॥
क्षयो नाप्रशमस्यास्ति संयमस्तदुपक्रमः ।
दोषैरेव तु दोषाणां निवृत्तिर्मारुतादिवत् ॥१५॥
दोषेभ्यः प्रव्रजन्त्यार्या गृहादिभ्यः पृथग्जनाः ।
परानुग्रहनिम्नास्तु सन्तस्तदनुवृत्तयः ॥१६॥
तुल्यातुल्यफलं कर्म निमित्ताश्रवयोगतः ।
यतः स हेतुरन्वेष्यो दृष्टार्थो हि न तप्यते ॥१७॥
मनसोऽपैति विषयाद् मनसैवातिवर्तते ।
किमेवं बहुरल्पं वा शरीरे बहिरेव वा ॥१८॥
न ममत्वादहङ्कारस्तस्मात् तु ममता मता ।
संकल्पाव्यभिचारित्वात् तस्मिन्नेवाशिवास्पदम् ॥१९॥

नाहमस्मीत्यभावो वा भावो वाऽभ्युपगम्यते ।
प्रपञ्चोपरमः शान्तिरव्युच्छित्तेरशून्यता ॥२०॥
द्वेषोद्वेगफलं दुःखं सङ्गस्वादुफलं सुखम् ।
माध्यस्थ्यं तत्प्रतीकारः किन्तु दुःखेन यत् सुखम् ॥२१॥
न दुःखकारणं कर्म तदभावाय वोद्यमः ।
दृश्यते व्यभिचारश्चाप्यहो मोहविभूतयः ॥२२॥
पुण्यं सुखात्मकं जन्म तद्विशेषो विशिष्यते ।
कृतार्थेनापि चोपेयमवश्यं नार्तिहेतवः ॥२३॥
प्रीत्यर्था विषया जातिः सात्मकं कल्पशोभना ।
तेषामर्थवशात् साम्यमिति धर्मोऽप्यधर्मवत् ॥२४॥
पुण्यमेव निबध्नन्ति श्वादयोऽप्यविशेषतः ।
आहारादिषु तद्वृत्तेरभिज्ञस्तु विशिष्यते ॥२५॥
प्रतिमाभिग्रहास्तीव्राः परिज्ञानविरोधिनः ।
प्रपञ्चाचारवादस्तु मिथ्यामानादिवृत्तयः ॥२६॥
यथा गदपरिज्ञानं नालमामयशान्तये ।
अचारित्रं तथा ज्ञानं न बुद्ध्यवसायमात्रेण ॥२७॥
अरण्युष्माग्निविज्ञानं वैराग्यमुपजायते ।
तदभ्यासफलो योगो न पापाय न संवरः ॥२८॥
कर्माश्रवविपाकार्थं वर्ण्यन्ते जीवजातयः ।
तुल्यं ह्यधिगतार्थस्य जीवाजीवप्रयोजनम् ॥२९॥
निदानाभ्याससाफल्यं जन्मान्तरगतस्य चेत् ।
ज्ञानैश्वर्यसुखाभ्यासे निदानेभ्यस्तपःश्रमः ॥३०॥

न धर्मार्थौ विशिष्येते कर्त्राऽपायोपभोगतः ।
धर्मस्तु ज्ञानहेतुत्वाद् विशिष्टेषु विशिष्यते ॥३१॥
विषयेन्द्रिय-बुद्धीनां मनसोपक्रमः क्रमः ।
तमोमूलाभिघाताद्धि निर्विकल्पशिवं शिवम् ॥३२॥

*

१८. अष्टादशी द्वात्रिंशिका ।

देश-कालान्वयाचारवयःप्रकृतिमात्मनाम् ।
सत्त्वसंवेगविज्ञानविशेषाच्चानु शासनम् ॥१॥
बाह्याध्यात्मशुचिः सौम्यस्तेजस्वी करुणात्मकः ।
स्व-परान्वर्थविद् वाग्मी जिताध्यात्मश्च शासिता ॥२॥
तुल्यप्रकोपोपशमा रागाद्या मारुतादिवत् ।
विषयेन्द्रियसामान्यात् सर्वार्थमिति शासनम् ॥३॥
हीनानां मोहभूयस्त्वाद् बाहुल्याच्च विरोधिनाम् ।
विशिष्टानुप्रवृत्तेश्च कल्याणाभिजनो मतः ॥४॥
उत्पन्नोत्पाद्यसंदेहा ग्रन्थार्थोभयशक्तयः ।
भावना-प्रतिपत्तिभ्यामनेकाः शैक्षभक्तयः ॥५॥
कर्तृप्रयोजनापेक्षस्तदाचारस्त्वनेकधा ।
चिकित्सितवदेकार्थप्रतिलोमानुलोमतः ॥६॥
शरीर-मनसोस्तुल्या प्रवृत्तिः गुण-दोषयोः ।
तस्मात् तदुभयोपायान्निमित्तज्ञो विशिष्यते ॥७॥
भेषजोपनयश्चित्रो यथामयविशेषतः ।
छन्नप्रकाशोपहितः सुविधिज्ञान-यन्त्रयोः ॥८॥

वपुर्यन्त्रजिता दोषाः पुनरभ्यासहेतवः ।
प्रसंख्याननिवृत्तास्तु निरन्वयसमाधयः ॥९॥
यथा निर्दिश्य संयोगाद् वाताद्या रोगभक्तिषु ।
तथा जन्मसु रागाद्या भावना-दरमात्रयोः ॥१०॥
यात्रामात्राशनोऽभीक्ष्णं परिशुद्धनिभाशयः ।
विविक्तनियताचारः स्मृतिदोषैर्न बाध्यते ॥११॥
आदेश-स्मरणाक्षेपप्रायश्चित्तानुपक्रमाः ।
यथारसं प्रयोक्तव्या. सिद्धचर्मिद्धिगतागतैः ॥१२॥
परप्रशंसास्वक्षेपो विपरीतमुपेक्षितः ।
उत्कर्षापकर्षौ चैता विनयान्नयजातयः ॥१३॥
स्वास्थ्यात् पदत्रयावृत्त्ययोनयः स्थानवर्त्मनः ।
शैक्षदुर्बलगीतार्थगुरूणामर्थसिद्धये ॥१४॥
आसेवनपरीहारपरिसंख्यानशान्तयः ।
परीषहा वपुर्बुद्धिनिमित्तासमकल्पकाः ॥१५॥
असूया-क्षेप-कौकुच्य-परिहास-मिथःकथाः ।
स्वैरस्वापासनाहारचर्याः पश्यन् निवारयेत् ॥१६॥
विनीतैर्भावविज्ञान-नानारसकथासुखैः ।
विश्रंसनमनिर्दिष्टमनर्थं साध्य-साधयोः ॥१७॥
उत्क्षेपासंगविक्षेपाः शब्दादित्याग-भोगयोः ।
तयोरनियमः श्रेयान् पुरुषाशयशक्तितः ॥१८॥
प्रागेव साधनन्यासः कष्टं कृतमतेरपि ।
कृच्छ्रोपार्जनभिन्नं हि कार्पण्यं भजते जनः ॥१९॥

पिपासाविपयोत्सेधो मृदूत्तानरया वरम् ।
न संमिथ्यादिगम्भीरं चपलायति यादसाम् ॥२०॥
अज्ञातकरणं जन्म वपुःसंवित्प्रकारयोः ।
त्वत्प्रसादार्जनोपायो विपयेन्द्रियसंवरः ॥२१॥
यद्यज्ञान-क्रिये स्यातां स्याद् ज्ञान-समयोः शिवः ।
न हि मानादिवृत्तित्वात् पृथक् संवित्क्रमाः कथाः ॥२२॥
ममेदमहमस्येति समानं मान-लोभयोः ।
चतुष्कं युगपद् वेति यथा जन्मविशेषतः ॥२३॥
ममेदमिति रक्तस्य न नेत्युपरतस्य च ।
भाविकौ ग्रहण-त्यागौ बहुसारालपफल्गुषु ॥२४॥
अभिपिक्तस्य संन्यासक्रमात् पाश्चात्यदर्शनम् ।
शून्यैकविक्तताभ्यासो रागिणां तु यथाश्रयम् ॥२५॥
अनाघातास्पदं द्विष्टमनुकूलैः प्रसादयेत् ।
निमित्तफलदारुण्यविवेकेभ्यश्च रक्षयेत् ॥२६॥
सुख-दुःखरसैर्भेद्यं व्यक्तोपनतकारणैः ।
प्रसादयेदुपाख्यानैः स्वैरासनमुखागतैः ॥२७॥
अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् ।
दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे ॥२८॥
यदनासेवितं यस्य सेवितं वा स साधयेत् ।
तच्छेषानुपरोधेन प्रतिरूपार्पितं तपः ॥२९॥
यदुत्सृष्टमयत्नेन पुनरेष्यं प्रयत्नतः ।
तत्साधनं वा तादृक्षं न हि सोपधयो बुधाः ॥३०॥

नातिकृच्छ्रतपःसक्तः मनश्छागवदुत्सृजेत् ।
कुशीलान् वा विदग्धांश्च तीर्थं तच्छेषपालनम् ॥३१॥
यावदुद्वेजते दुःखान्निर्वाणं चाभिमन्यते ।
तावन्मोहसुखारूढः स्वयं यास्यत्यतः परम् ॥३२॥

*

१९. एकोनविंशतितमी निश्चयद्वात्रिंशिका ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः ।
अन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वाच्छुद्धावगमशक्तयः ॥१॥
ज्ञानं देहादिविषयं व्यक्तिमात्रमवग्रहः ।
मनसः संशयापायस्मृतिदर्शनशक्तयः ॥२॥
सर्वार्थानन्तरचरं नियतं चक्षुरादिवत् ।
त्रिकालविषयं चेतो वर्तमानार्थमिन्द्रियम् ॥३॥
यदेव चक्षुषो रूपं तदेवान्याश्रयान्तरम् ।
तस्मादविषयो रूपाद्यभिधानानुपाश्रये ॥४॥
अस्त्याद्याः संग्रह-व्याससनिमित्तास्तदुपक्रमाः ।
तदात्वोपनिधानाभ्यां रूपाद्यप्युपचर्यते ॥५॥
नानेकमेकोपचारमेकं नानेति वा न वा ।
यथा बहिस्तथाऽध्यात्ममन्योऽन्यप्रभवं ह्यदः ॥६॥
निष्पत्तिरुदयाच्छक्तिस्तद्विघातितमःक्षयात् ।
अनावरणहेतोर्वा शक्तिरभ्युदयात्मिका ॥७॥
चक्षुर्दर्शनविज्ञानं परमाण्वौक्ष्ण्यमोक्षवत् ।
तदावरणमित्येकं न वा कार्यविशेषतः ॥८॥

अर्थ-व्यञ्जनयोरेवमर्थस्तु स्मृति-चक्षुषोः ।
सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम् ॥९॥
प्रकाश-मनसोश्चक्षुस्तुल्यमाप्तगतार्थवत् ।
विकृष्टेतरयोर्व्यक्तिर्गम्यते चार्थशक्तितः ॥१०॥
परस्परस्पृष्टगतिर्भावनापचयाध्वनि ।
बद्धस्पृष्टगमद्व्यादि स्नेहरौक्ष्यातिशायनात् ॥११॥
वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम् ।
सर्वेभ्यः केवलं चक्षुस्तमःक्रमविवेकवत् ॥१२॥
नश्यन्ति विषयाख्यातिर्योक्त्या दोषता न चेत् ।
त्रितया नियतादेकसामान्याद् वा वहुष्वपि ॥१३॥
दोषपक्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात् ।
तमःप्रचर्यानिःशेषविशुद्धिफलमेव तत् ॥१४॥
समग्रविषयं ज्ञानमवश्यं यस्य कस्यचित् ।
तस्य वृत्त्यन्तरापत्तिर्नान्यदावरणक्षयात् ॥१५॥
वृक्षाद्यालोकवत् कृत्स्नं स्तोकाख्यानमनेकधा ।
अत्यन्तानुपलब्धिर्वा विशिष्टे ज्ञान-दर्शने ॥१६॥
प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां चेष्टन्ते द्वीन्द्रियादयः ।
मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न वाऽन्यथा ॥१७॥
निमित्तमन्तरायात्तं चतुष्कमपरं फलम् ।
मनुष्य-तिर्यग्भवयोः कर्मायुष्कपुरःसरम् ॥१८॥
निश्चितं मोहवेद्ये वा प्रसङ्गानुपपत्तितः ।
एकं नैकानुभावं वा बीजाद्यर्थप्रकारवत् ॥१९॥

परिणामफलं कर्म परिणामस्तदात्मकः ।
तयोरन्योऽन्यसादृश्यं युक्तं नानैकधर्मतः ॥२०॥
आयुःकालफलं सौम्यपरिणामान्न भिद्यते ।
गत्याद्यर्थपृथग् नाम मूलोत्तरनिबन्धवत् ॥२१॥
स्थित्यन्तमन्यवैफल्याद् यथार्थप्रतिबोधकम् ।
तदौदारिकदेहाभ्यामन्यथातिप्रसङ्गतः ॥२२॥
निर्ग्रन्थसंयता रागाद्यनुबन्धस्थितिक्रमात् ।
द्विविधा एव सामर्थ्यादनन्ता वाऽपि सिद्धवत् ॥२३॥
प्रयोगविश्रसा कर्म तद्भावस्थितिस्तथा ।
लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माधर्मयोः फलम् ॥२४॥
आकाशमवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा ।
तावप्येवमनुच्छेदात् ताभ्यां वाऽन्यमुदाहृतम् ॥२५॥
प्रकाशवदनिष्टं स्यात् साध्ये नार्थस्तु नः श्रमः ।
जीव-पुद्गलयोरेव परिशुद्धः परिग्रहः ॥२६॥
इन्द्रियाण्यात्मलिङ्गानि त्वगादिनियमः पुनः ।
निकामविषया व्याला जिनाश्चैवमतीन्द्रियाः ॥२७॥
बुद्धयपोहृत्तमःसत्त्वं जातु भव्ये न युज्यते ।
तीव्रमोहानुबन्धस्तु स्यात् कश्चित् कस्यचित् क्वचित् ॥२८॥
सत्त्वोच्छेदभयं तुल्यमनुक्तेऽप्यपवर्गतः ।
न च जन्ममहादोषमानन्त्यात् तु न बध्यते ॥२९॥
नेन्धनानन्त्यतो वह्निश्चीयते नावचीयते ।
तन्मात्रं वा तथाऽन्योऽन्यगतयः स्कन्धपुद्गलाः ॥३०॥

प्रतीत्य प्रतिसंख्याय द्रव्यव्यञ्जनपर्ययान् ।
समग्रविकलादेश-निषेधाभ्यां च साधयेत् ॥३१॥

*

२०. विंशतितमी दृष्टिप्रबोधद्वात्रिंशिका ।

उत्पाद-विगम-ध्रौव्य-द्रव्य-पर्यायसंग्रहम् ।
कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥१॥
अपायापोहतोऽन्योऽन्यं निघ्नतो वा तदेव वा ।
ग्रन्थार्थः स्व-परान्वर्थो विध्युपायविकल्पतः ॥२॥
चाकूचिकित्सितमानाध्वमणिरागादिभक्तिवत् ।
नानात्वैक्योभयानुक्तिर्विषमं सममर्थतः ॥३॥
प्रमाणान्यनुवर्तन्ते विषये सर्ववादिनाम् ।
संज्ञाभिप्रायभेदात् तु विवदन्ति तपस्विनः ॥४॥
न यथार्थापरिज्ञानाद् दोषशान्तिर्न चाऽन्यथा ।
प्रकोपसमसामान्याव्यभिचाराच्च तद्वताम् ॥५॥
येन दोषा निरुध्यन्ते ज्ञानेनाचरितेन वा ।
स सोऽभ्युपायस्तच्छान्तावनासक्तमवेधवत् ॥६॥
यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः ।
तावन्तस्तद्विपर्यासा निर्वाणावाप्तिहेतवः ॥७॥
सामान्यं सर्वसत्त्वानामवश्यं जन्मकारणम् ।
शरीरेन्द्रियभोगानामविशिष्टं सद् विशिष्यते ॥८॥
विकल्पप्रभवं जन्म सामान्यं नातिवर्तते ।
हेतावपचिते शेषं किं परिज्ञाय वा न वा ॥९॥

गुरु-लाघव-संदिग्धविपरीताः प्रतिक्रियाः ।
लघ्वसंदिग्धविज्ञानं त्वास्यदुष्टस्य सिध्यति ॥१०॥
द्रव्यसत्त्वादिनानात्वं नानेतिसममात्मनः ।
विषयेन्द्रियचेतःस्थमनेनाहमनीतवान् ॥११॥
बौद्धमध्रुवमद्रव्यं सांख्यं काणादमन्यथा ।
लोकः पुरुष इत्येतदवक्तव्यं शरीरवत् ॥१२॥
निमित्तेश्वरकर्तारः प्रकाशनृपशिल्पिवत् ।
यथेष्टसाधनोत्कर्षविशेषापायवृत्तयः ॥१३॥
स्वभावोऽर्थोऽन्तराभावनियमाव्यभिचारतः ।
इष्टतोऽन्यदनेनोक्ता देश-कालसमाधयः ॥१४॥
लक्ष्य-लक्षणयोरेवं देश-धर्मविकल्पतः ।
सदादिप्रतिभेदाच्च निह्नवप्रतियोजनाः ॥१५॥
चैतन्य-बुद्धयोर्विच्छेदः परिणामेष्वसंश्रयात् ।
न विकल्पान्तरं भोक्तुरनेनोक्तं सुखादिवत् ॥१६॥
शरीरविभुतातुल्यमानतागुण-दोषतः ।
संसारप्राप्त्यभिव्यक्तिविकल्पाः कारणात्मनः ॥१७॥
गुणप्रचयसंस्कारवृत्तयः कर्मवृत्तयः ।
अनाद्यन्तरावस्था यथा चेतरयोगतः ॥१८॥
भूतप्रत्येकसंयोगसामान्यार्थान्तरात्मकम् ।
पञ्चधा बहुधा वाऽपि कायाद्येकादिवेन्द्रियम् ॥१९॥
जाति-प्रत्यय-सामान्य-चर-स्थिरचरं मनः ।
उभयं विभवा देह-लोकयोरनुगामि च ॥२०॥

रूपादिमात्रं द्रव्यं च पिण्ड एको विकल्पवान् ।
समस्त-व्यस्तवृत्तिभ्यामर्थपरिणतेरपि ॥२१॥

सदसत्सदसन्नेति कार्य-कारणसंभवः ।
अनित्य-नित्यशून्यत्वे शेषमित्युपपादितम् ॥२२॥

अवस्थितं जगत् सत्त्वाद् हेत्वसत् प्रक्रियात्मकम् ।
धर्माधर्मस्वभावेष्टिपुरुषार्थनिमित्ततः ॥२३॥

समग्रविकलादेशत्यागाभिप्रायतत्कथा ।
सामान्यव्यासतः शैक्ष्यविपक्षाचार्यशक्तितः ॥२४॥

द्वीपवेलोदधिन्याससंख्या भोगविभूतयः ।
स्वर्गापायानुभागाश्च सनिमित्ता यथेष्टतः ॥२५॥

ज्ञानाचारविशेषाभ्यामाचाराद्ध्रियते जनः ।
स नात्युत्तानगम्भीरः सुख-दुःखात्ययोऽहितः ॥२६॥

दृष्टान्तश्राविकैर्लोकः परिपक्तिशुभाशुभैः ।
सुखार्थ-संशयप्राप्तिप्रतिषेधमहाफलैः ॥२७॥

ज्ञानात् कृत्स्नेष्टधर्मात्मपरमेश्वरतः शिवम् ।
कर्मोपयोगवैराग्यं धामप्राप्तिश्च योगतः ॥२८॥

पृथक् सहाविनिर्भागैर्दया-वैराग्यसंविदाम् ।
ऐश्वर्यमोक्षोपशमसमावेशविकल्पतः ॥२९॥

आगमाभ्युदय-ज्ञान-योगाध्याहार-धारणा ।
भावना-प्राणसंरोध-कृच्छ्रयत्नव्रतानि च ॥३०॥

दोषपक्ति-प्रसंख्यान-विषयातिशयात्ययैः ।
परमैश्वर्यसंयोग-ज्ञानैश्वर्यं विकल्पयेत् ॥३१॥
प्रसिद्धप्रातिभस्येति कामतस्तीर्थभक्तयः ।
ननु श्रीवर्धमानस्य वाचो युक्तः परस्परम् ॥३२॥

*

२१. एकविंशतितमी श्रीवर्धमानद्वात्रिंशिका ।

सदा योगसात्म्यात् समुद्भूतसाम्यः
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाशः ।
त्रिलोकीशवन्द्यस्त्रिकालज्ञनेता
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१॥

शिवोऽथादिसङ्ख्योऽथ बुद्धः पुराणः
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्यथैकः ।
प्रकृत्याऽऽत्मवृत्याप्युपाधिस्वभावः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२॥

जुगुप्सा-भया-ऽज्ञान-निद्रा-ऽविरत्य-
ङ्गभू-हास्य शुग्-द्वेष-मिथ्यात्वरागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायैः सिषेवे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३॥

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्न-
स्तमोभिर्न नो वा रजोभिः प्रणुन्नः ।
त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

हृषीकेश ! विष्णो ! जगन्नाथ ! जिष्णो !
मुकुन्दाऽच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप ! ।
अनन्तेति संबोधितो यो निराशैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥
पुरा-ऽनङ्ग-कालारिराकाशकेशः
कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः ।
मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो भूतनाथः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥
विधि-ब्रह्म-लोकेश-शम्भु-स्वयम्भू-
चतुर्वक्त्र-मुख्याभिधानां विधानम् ।
ध्रुवोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतुः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥७॥
न शूलं न चापं न चक्रादि हस्ते
न हास्यं न लास्यं न गीतादि यस्य ।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकारः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥८॥
न पक्षी न सिंहो वृषो नापि चापं
न रोष-प्रसादादिजन्मा विडम्बः ।
न निन्द्यैश्चरित्रैर्जने यस्य कम्पः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥९॥
न गौरी न गङ्गा न लक्ष्मीर्यदीयं
वपुर्वा शिरो वाप्युरो वा जगाहे ।

यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१०॥
जगत्सम्भव-स्थेम-विध्वंसरूपै-
रलीकेन्द्रजालैर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथ !
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥११॥
समुत्पत्ति-विध्वंस-नित्यस्वरूपा
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्वं प्रपेदे स्वभावैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१२॥
त्रिकाल-त्रिलोक-त्रिशक्ति-त्रिसन्ध्य-
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः ।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१३॥
यदाज्ञा त्रिपद्येव मान्या ततोऽसौ
तदस्त्येव नो वस्तु यन्नाधितष्ठौ ।
अतो ब्रूमहे वस्तु यत् तद् यदीयं
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१४॥
न शब्दो न रूपं रसो नापि गन्धो
न वा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिङ्गम् ।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१५॥

छिदा नो भिदा नो न क्लेदो न खेदो
न शोषो न दाहो न तापादिरापत् ।
न सौख्यं न दुःखं न यस्यास्ति वाञ्छा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१६॥

न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगाः
स्थितिर्नो गतिर्नो न मृत्युर्न जन्म ।
न पुण्यं न पापं न यस्यास्ति बन्धः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१७॥

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं
मृदुत्वार्जवाकिञ्चनानि मुक्तिः ।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥

अहो ! विष्टपाधारभूता धरित्री
निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते ।
अचिन्त्यैव यद्धर्मशक्तिः परा सा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१९॥

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतधात्रीं
समाश्वासयत्येव कालेऽम्बुवाहः ।
यदुद्भूतसद्धर्मसाम्राज्यवश्यः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

न तिर्यग् ज्वलत्येव यद् ज्वालजिह्वो
यदूर्ध्वं न वातिप्रचण्डो नभस्वान् ।

स जागर्ति यद्धर्मराजप्रतापः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२१॥
इमौ पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वो-
पकाराय दिष्टचोदयेते वहन्तौ ।
उरीकृत्य यत् तुर्यलोकोत्तमाज्ञां
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२२॥
अवत्येव पातालजम्बालपातात्
विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् ।
यदाज्ञा विधित्साश्रिनाऽनङ्गभाजः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२३॥
सुपर्वद्रु-चिन्तामणि-कामधेनु-
प्रभावा नृणां नैव दूरे भवन्ति ।
चतुर्थे यदुत्थे शिवे भक्तिभाजां
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२४॥
कलि-व्याल-वह्नि-ग्रह-व्याधि-चौर-
व्यथा-वारण-व्याघ्र-वीध्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२५॥
अवन्धस्तथैकः स्थितो वाऽक्षयो वा-
ऽप्यसद् वा मतो यैर्जडैः सर्वथाऽऽत्मा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपार
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२७॥

विहायास्रवं संवर संश्रयैव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैर्निर्विशेषैः ।
स्वकस्तैरकार्येव मोक्षो भवो वा
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२८॥

शुभध्याननीरैरुरीकृत्य शौचं
सदाचारदिव्यांशुकैर्भूषिताङ्गाः ।
बुधाः केचिदर्हन्ति यं देहगेहे
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२९॥

दया - सूनृतास्तेय - निःसङ्गमुद्रा—
तपो - ज्ञान - शीलैर्गुरुपास्तिमुख्यैः ।
सुमैरष्टभिर्योऽर्च्यते धाम्नि धान्यैः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३०॥

महार्किंचनेशो महाशामहेन्द्रो
महाशान्तिभर्ता महासिद्धसेनः ।
महाज्ञानवान् पावनीमूर्तिरर्हन्
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३१॥

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्ति-
महाहंसराजो महादेवदेवः ।
महामोहजेता महावीरनेता
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३२॥

इत्थ ये परमात्मरूपमनिशं श्रीवर्धमानं जिनं
वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं पर दैवतम् ।
तेषा सप्तभयः क्व सन्ति दलितं दुःखं चतुर्धाऽपि तै-
र्मुक्तिर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ॥३३॥

इति विक्रमादित्यनृपालप्रतिबोधकेन वादिवृन्दवारणपञ्चाननेन कम-
नीयकवितालवालकल्पेन तुलनातीतकल्पनाशिल्पशिल्पिशेखरेण
सूरिशेखरेण भगवता सिद्धसेनदिवाकरेण
प्रणीता द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-
नाम ग्रन्थः समाप्तः ॥